आधुनिक विश्व का इतिहास

1871 से 1945 तक का राजनयिक इतिहास

(भारतीय विश्वविद्यालयों के लिए)

डॉ० दीनानाथ वर्मा

रीडर, इतिहास विभाग
पटना विश्वविधालय, पटना

ज्ञानदा प्रकाशन (पी० एण्ड डी०)
नई दिल्ली

दो शब्द

आधुनिक विश्व का इतिहास का नवीन संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए आज मैं अपार हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। यह पुस्तक विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के लिए लिखी गयी है। अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा देना प्रारम्भ हो गया है। किन्तु इसके लिए हिन्दी में अच्छी पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। 1871 से 1945 के काल के राजनियक इतिहास (diplomatic history) पर जहां तक लेखक का ज्ञान है, अभी कोई भी पुस्तक हिन्दी में उपलब्ध नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक लिखने का उद्देश्य इसी आवश्यकता की पूर्ति करना है। इस कार्य में मुझे कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय स्वयं पाठक करेंगे। फिर भी, मेरा यह विश्वास है कि मैंने इस पुस्तक को सब प्रकार से उपयोगी बनाने का प्रयास किया है। पुस्तक क़ी भाषा सरल है और हमारा विश्वास है कि पाठकों को कोई कठिनाई नहीं होगी।

मेरा यह दावा है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त है। लेकिन उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए अन्य पुस्तकों, विशेषकर अंग्रेजी में लिखे गये उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अध्ययन करना आवश्यक है। विषय के समुचित ज्ञान के लिए आवश्यक है कि छात्र अधिकाधिक ग्रन्थ पढ़ें। ऐसे ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध हैं। इसलिए मैंने स्थान-स्थान पर पाद-टिप्पणियों (Foot Notes) में ऐसे बहुत-से ग्रन्थों की ओर संकेत कर दिया है ताकि पाठक उनका समुचित उपयोग कर सकें। प्रस्तुत पुस्तक की इन विशेषताओं से यदि पाठकों विशेषकर विद्यार्थियों को कुछ भी लाभ हुआ तो मैं अपना प्रयत्न सफल मानूंगा। यह हमारे लिए सर्वाधिक सन्तोष की बात होगी।

इस पुस्तक को तैयार करने में मुझे अपने कई सहयोगियों और शुभचिन्तकों से बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। मैं उन सबों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ जिनकी पुस्तकों से मैंने सहायता ली है।

सम्भव है, पुस्तक में कुछ त्रुटियां रह गयीं हों। यदि उन त्रुटियों की सूचना मुझे मिली तो अगले संस्करण में मैं उन्हें दूर करने का प्रयत्न करूंगा। तबतक ऐसी सभी त्रुटियों के लिए मैं पाठकों से क्षमा मांगता हूँ।

—दीनानाथ वर्मा

विषय-सूची

1. **बिस्मार्क युग में जर्मनी की विदेश नीति** 1-22

फ्रांसीसी प्रशा युद्ध, बिस्मार्क के विदेश नीति के लक्ष्य, तीन सम्राटों का संघ, तीन सम्राटों के संघ की दुर्बलता, बर्लिन सम्मेलन और तीन सम्राटों का संघ, आस्ट्रों-जर्मन-सन्धि और द्विगुट का निर्माण, सन्धि की उत्पत्ति, आस्ट्रो-जर्मन सन्धि, द्विगुट का महत्व, तीन सम्राटों के संघ कीं पुनर्स्थापना, बर्लिन की सन्धि, सन्धि की व्यवस्थाए, सन्धि का महत्व, द्विगुट की स्थापना, त्रिगुट की उत्पत्ति, सन्धि का विशलेषण, जर्मन-रूस पुनर्स्थापन सन्धि, रूमानिया के साथ सन्धि, फ्रांस के साथ सम्बन्ध, बूलांजे आन्दोलन, च्नाबेल काण्ड, बिस्मार्क के विदेश नीति की समीक्षा, बिस्मार्क का पतन, त्रिगुट में अन्तर्विरोध, ब्रिटेन की उपेक्षा, नवीन पद्धति।

2. **फ्रांस और रूस का द्विगुट** 23-31

जर्मनी की नयी विदेश नीति, पुनराश्वासन सन्धि का अन्त, द्विगुट के निर्माण के कारण, फ्रांस द्वारा मित्र की तलाश, रूस द्वारा मित्र की तलाश, बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति, त्रिगुट का दुहराया जाना, फ्रांसीसी ऋण, सैनिक सहयोग, त्रिगुट सन्धि का नवीनीकरण, फ्रांसीसी जहाज की रूस यात्रा, सन्धि का प्रस्ताव, 1894 की सन्धि, द्विगुट का महत्व, फ्रांस और रूस पर प्रभाव, जर्मनी की कमजोर स्थिति, ब्रिटेन पर प्रभाव, जर्मनी की प्रतिक्रिया।

3. **शानदार पृथक्कता की नीति और आंग्ल-जर्मन सम्बन्ध** 32-41

पृथक्कता की नीति के परित्याग के कारण, दो गुटों में यूरोप का विभाजन, जर्मन विदेश नीति में परिवर्तन, तुर्की साम्राज्य पर जर्मनी का बढ़ता हुआ प्रभाव, अफ्रीकी संकट, बोअर युद्ध तथा फसोदा संकट, सबका खतरा, आंग्ल-जर्मन वार्त्तालाप और उसकी असफलता, जर्मनी की ओर झुकाव, वार्तालाप का प्रारम्भ, ब्रिटेन का दूसरा प्रस्ताव, ब्रिटेन का तीसरा प्रस्ताव, जर्मनी की शर्त, जर्मनी की गलत धारणा, बोअर युद्ध, कुछ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विरोध, वार्तालाप की असफलता के परिणाम।

4. **आंग्ल-फ्रांसी समझौता** 42-47

समझौते की पृष्ठभूमि, आंग्ल फ्रांसीसी समझौता की उत्पति, विदेश-मन्त्री दल्कासे के विचार, टामस बर्कले का प्रयास, व्यक्तित्व का प्रभाव, राज्याध्यक्षों की यात्रा, मध्यस्थता

का समझौता, ब्रिटेन और फ्रांस से समझौता, समझौता के प्रेरक तत्व, समझौता का महत्व, रोजबरी के विचार, औपनिवेशिक समझौता, फ्रांस के लाभ, इटली की स्थिति. सुदूर पूंर्व पर प्रभाव, जर्मनी पर प्रभाव।

5. मोरक्को का संकट 48-56

मोरक्को की स्थिति और मेदरिद कन्वेशन, फ्रांस का शान्तिपूर्ण प्रवेश, जर्मनी की प्रतिक्रिया, यूरोपीय महागुट की योजना, ब्जरको सम्मेलन, बूलो की मोरक्को नीति, टैंजीयर का प्रदर्शन, देल्कासे की नीति, संकट चरम सीमा पर, देल्कासे का पतन, फ्रांस द्वारा सम्मेलन के लिए राजी होने के कारण, अंलजीसरास सम्मेलन का महत्व, बूलो का सन्तोष, कूटनीति वर्त्तन बिन्दु, इटली की अभक्ति, आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता की अग्नि-परीक्षा, प्रतिशोध की भावना में तीव्रता, जर्मनी के घेरेबन्दी का प्रारम्भ।

6. आंग्ल-रूसी सन्धि 57-65

विषय प्रवेश, ब्रिटेन और रूस का विरोध, रूस की समाजवादी आकांक्षा, 1905 में रूस का पलायन, डोबर-बैंक की घटना, ब्जरको का सम्मेलन, वैचारिक भिन्नता, यहूदियों का प्रश्न, आंग्ल रूसी सन्धि, इस्वोल्सकी सन्धि की कठिनाइयां, ब्रिटेन और रूस का समझौता, सन्धि का महत्व, बाल्कन राजनीति पर प्रभाव, फ्रांस की सुरक्षित स्थिति, ब्रिटेन की चिन्ता से मुक्ति, जर्मनी का घाटा, दूरगामी परिणाम, कूटनीतिक समझौता का लेखा-जोखा।

7. इटली की विदेश-नीत्ति 66-70

त्रिगुट सन्धि में इटली, फ्रांस की ओर इटली का झुकाव, फ्रांस के साथ समझौता, समझौते का महत्व, जर्मनी की प्रतिक्रिया, बोस्निया संकट के समय इटली, रूस के साथ सन्धि, त्रिगुट सन्धि का नवीनीकरण।

8. सैनिकवाद और आंग्ल-जर्मनी नाविक प्रतिस्पर्धा 71-83

सैनिकवाद, सैनिकवाद की विशेषताएँ, हेग सम्मेलन, हेग के दो सम्मेलन, सम्मेलनों की असफलता, आंग्ल-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा का प्रारम्भ, ब्रिटिश प्रतिक्रिया, बोअर युद्ध का अनुभव, "जोखिम नौसेना" की धारणा का विकास, जर्मनी का प्रयास, ब्रिटिश प्रतिक्रिया, राजनीतिक तनाव, हाल्डेन मिशन, वार्तालाप का अन्त।

9. नवीन साम्राज्यवाद और उसके प्रेरक तत्व 84-92

नवीन साम्राज्यवांद के आधार, साम्राज्यवाद का महत्व, आर्थिक कारण, अतिरिक्त उत्पादन, अतिरिक्त पूंजी, यातायात के साधन, उष्ण-कटिबन्धीय वस्तुओं की मांग, आत्म-निर्भरता, साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ, व्यवसायी, वर्ग, अन्य निहित स्वार्थ, ईसाई

मिशनरियां, भौगोलिक और साहसिकों का वर्ग, उग्रराष्ट्रवाद, सम्राज्यवादी प्रचार, आत्म-रक्षा की आवश्यकता, आर्थिक राष्ट्रवाद और आर्थिक कल्याण, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा, अतिरिक्त जनसंख्या का प्रश्न, परोपकारिता और मानवता, नवीन साम्राज्यवाद का स्वरूप।

10. अफ्रिका का बँटवारा 93-100

अफ्रिका की स्थिति, अफ्रिका की लूट, बर्लिन सम्मेलन, अफ्रिका का बंटवारा, बोअर समस्या, मिस्र में ब्रिटेन, सूडान और फसोदा कांड।

11. अफ्रिका में साम्राज्यवादी संकट अगादीर संकट 101-107

अलजिसरास का समझौता, 1909 का समझौता, अगीदार संकट, पैन्थर, फ्रांसीसी जर्मन वार्तालाप, ब्रिटिश प्रतिक्रिया, मैन्शन हाउस का भाषण, समझौता, ट्रिपोली का युद्ध।

12. एशिया में नवीन साम्राज्यवाद 108-125

चीन की लूट-खसोट, जापान का उत्कर्ष; जापान का आधुनिकरण; जापानी साम्राज्यवाद का उद्‌भव, सैनिकवाद, आधुनिकीकरण, पश्चिमी साम्रज्यवाद का भय, समानता की आकांक्षा, प्रजातीय श्रेष्ठता, सैनिक परम्परा, आबादी, 1894-95 का चीन-जापान युद्ध, कोरिया की स्थिति, युद्ध और शिमोनोस्की की सन्धि, युद्ध के परिणाम, पूर्वी एशिया की समस्या, चीनी तरबूज का काटना, प्रभाव क्षेत्र, उन्मुक्त द्वार की नीति, बोक्सर विद्रोह, आंग्ल-जापानी सन्धि (1902)—सन्धि का पृष्ठाधार, संधि की शर्तें, सन्धि का महत्व, रूस जापान (1904-05)—युद्ध के कारण, रूस-जापान युद्ध, रूस-जापान युद्ध के प्रभाव, परिणाम, जापानी साम्राज्यवाद का विस्तार, चीन पर प्रभाव, रूस पर प्रभाव, यूरोपीय राजनीति पर प्रभाव, एशियाई राष्ट्रीयता पर प्रभाव, प्रशान्त महासागर में साम्राज्यवाद।

13. पूर्वीय समस्या और बर्लिन व्यवस्था 126-143

ओटोमन साम्राज्य, यूरोप का मरीज, पूर्वीय समस्या, रूस का स्वार्थ, बाल्कन देशों में राष्ट्रवाद, रूस की नीति, ब्रिटेन का विरोध, क्रीमिया का युद्ध, रूमानिया, अखिल-स्लाववाद का आन्दोलन, आस्ट्रिया का स्वार्थ, रूसी तुर्की युद्ध, (1877-78), बुल्गेरिया में विद्रोह, रूसी-प्रतिक्रिया, युद्ध और सन-स्टीफानों की सन्धि, बर्लिन की सन्धि, सन स्टीफानो का विरोध, बर्लिन-सम्मेलन, बर्लिन की सन्धि, बर्लिन व्यवस्था का मूल्यांकन, शक्ति संतुलन, राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की उपेक्षा, तुर्की का पतन, राष्ट्रीय आंदोलन, मेसिडोनिया, आर्मेनिया, यूनान, आस्ट्रिया और सर्बिया, प्रतिष्ठायुक्त शान्ति, बर्लिन सन्धि का प्रभाव, पूर्वीय समस्या की जटिलता में वृद्धि, बर्लिन सन्धि की अंत्येष्टि क्रिया, रूमेलिया की समस्या, आर्मेनिया का हत्याकांड, बृहत यूनान-आन्दोलन, युवा-तुर्क क्रान्ति, तुर्की और जर्मनी की मित्रता।

14. बोस्निया का संकट 144-155

आस्ट्रिया और सर्बिया का सम्बन्ध, बोस्निया काण्ड, बुशलो की बातचीत, बोस्निया-हर्जेगोबिना के अनुबन्धन की तैयारी, इस्वोलस्की की नीति, इस्वोलस्की की कठिनाई, जर्मनी द्वारा संक्ट का समाधान, बोस्निया कांड का महत्व, आस्ट्रिया की पराजय, सर्बिया का विरोध, जर्मनी पर प्रभाव, विश्व-युद्ध का पूर्वाभिनय।

15. बाल्कन-युद्ध 156-161

बाल्कन की स्थिति, बाल्कन संध की स्थापना, युद्ध की तैयारी, प्रथम बाल्कन युद्ध, राजदूतों का लन्दन सम्मेलन, द्वितीय बाल्कन-युद्ध, बुखारेस्ट की सन्धि, बाल्कन-युद्ध के परिणाम।

16. सेरोजवो की हत्या 162-165

बाल्कन की स्थिति, बृहत्तर सर्बिया का आन्दोलन, षडयन्त्रकारी संगठन, युवराज की सेराजेवी यात्रा, युवराज की हत्या, आस्ट्रिया का अन्तिमेत्थम्, सर्बिया का जवाब और युद्ध का प्रारम्भ।

17. कूटनीतिक स्थिति का सिंहावलोकन 166-177

क्या युद्ध अवश्यम्भावी था ? जर्मनी और आस्ट्रिया, रूस, फ्रांस और ब्रिटेन, गुटों के स्वरूप में परिवर्तन, कोनोपिस्ट की तथाकथिक संधि, सेराजोवो की हत्या, जुलाई के तूफानी दिन, "पोर्टसंडाम का निर्णय," काउन्ट टिसजा का विरोध, आस्ट्रिया की चुनौती, विभिन्न देशों की प्रतिक्रिया, युद्ध रोकने के प्रयास, सर ग्रे की मध्यस्थता, फ्रांस का रुख, कूटनीतिज्ञों की परेशानी, जर्मनी का प्रयत्न, ब्रिटेन का प्रयास, रूस की लामबन्दी, जर्मनी की लामबंदी, फ्रांस का युद्ध में प्रवेश, बेल्जियम की तटस्थता का प्रश्न, युद्ध में ब्रिटेन का प्रवेश, यूरोपीय विश्व-युद्ध में परिणत होना।

18. युद्ध का दायित्व 178-182

युद्ध के दायित्व की कठिनाइयां, धारणा में परिवर्तन, दायित्व निर्धारण के भेद, सर्बिया का दायित्व, आस्ट्रिया का दायित्व, रूस का दायित्व, जर्मनी का दायित्व, फ्रांस का दायित्व, ब्रिटेन का दायित्व।

19. पेरिस का शान्ति-समझौता 183-210

प्रथम विश्व युद्ध, शान्ति स्थापना की समस्या, पेरिस का शान्ति सम्मेलन, सर्वोच्च शान्ति परिषद्, विल्सन लायड जार्ज, क्लिमेंशो, ओरलैंड़ो, आयोग और समितियां, गुप्त सन्धियां और सम्मेलन की कठिनाइयां, वातावरण, वर्साय सन्धि, सन्धि पर हस्ताक्षर, राष्ट्रसंघ,

प्रादेशिक व्यवस्थाएं, एल्सेस लौरेन, राइनलैंड सार, बेल्जियम और डेनमार्क की प्राप्ति, जर्मनी की पूर्वी सीमा, जर्मन उपनिवेश, सैनिक व्यवस्था, जर्मनी का निरस्त्रीकरण, आर्थिक व्यवस्था, क्षतिपूर्ति, अन्य व्यवस्थाएं युद्ध-अपराध, जर्मनी पर सन्धि का प्रभाव, वर्साय सन्धि का मूल्यांकन, विविध प्रतिक्रियाएं, आरोपित संधि, साधारण शिष्टाचार का उल्लंघन, सन्धि का आधार विश्वासघात, कठोर सन्धि, द्वितीय विश्व-युद्ध का कारण, राज नेतृत्व की महान पराजय, वर्साय-सन्धि का औचित्य, जनमत, विविध आयोग और कार्य पद्धति, विविध आकांक्षाए, राष्ट्रीयता का सिद्धान्त, सम्मेलन की कठिनाइयां, रूस की क्रान्ति, राष्ट्रसंघ, अन्य शान्ति-सन्धियां, साजर्मे की सन्धि, त्रियानों की सन्धि, निऊली की सन्धि, सेब्र की सन्धि, पेरिस शान्ति व्यवस्था पर एक दृष्टि।

20. फ्रांसीसी सुरक्षा की समस्या 211-216

फ्रांस की आशंका, भौगोलिक गारन्टी, आंग्ल-फ्रांसीसी मतभेद, बेल्जियम के साथ सन्धि, पोलैंड के साथ सन्धि, लघुमैत्री संघ, फ्रांसीसी गुटबन्दी का खोखलापन।

21. जेनेवा, प्रोटोकोल, लोकार्नो पैक्ट तथा पेरिस पैक्ट 217-227

जेनेवा प्रोटोकोल, जेनेवा प्रोटोकोल का अन्त, लोकार्नो की सन्धियां, लोकार्नो समझौता का मूल्यांकन, जर्मनी और फ्रांस के विद्वेष का अन्त, जर्मनी की स्थिति में सुधार, प्रतिशोधात्मक नीति का अन्त, निरस्त्रीकरण की सफलता की संभावना, युद्ध और शान्ति के वर्षों की विभाजक रेखा, लोकार्नो समझौते की त्रुटियां, लोकार्नो सन्धि, पेरिस-पैक्ट, पैक्ट की पृष्ठभूमि, पेरिस का समझौता, समझौते का मूल्यांकन।

22. निरस्त्रीकरण की समस्या 228-241

प्रारम्भिक प्रयास, वाशिंगटन सम्मेलन, राष्ट्रसंघ के प्रयास, जेनेवा सम्मेलन, लन्दन-सम्मेलन, राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत निरस्त्रीकरण के प्रयास, जेनेवा का निरस्त्रीकरण-सम्मेलन, फ्रांसीसी प्रस्ताव, ब्रिटिश प्रस्ताव, अमेरिकी-प्रस्ताव, जर्मनी का मार्ग, मैकडोनल्ड योजना, फ्रांस का रुख, फ्रांसीसी योजना, सम्मेलन का अन्त, निरस्त्रीकरण में असफलता, सम्मेलन की विफलता के कारण, विभिन्न शक्तियों में मतभेद, युद्ध सम्बन्धी मनोवृत्ति, निरस्त्रीकरण में अविश्वास, उपनिवेशों की सुरक्षा का प्रश्न, समस्या का प्राविधिक रूप, शस्त्रीकरण का स्वरूप – निर्धारण, सहयोग की भावना का अभाव, हथियारों का निहित स्वार्थ, आत्मसंहार की तैयारी।

23. क्षतिपूर्ति की समस्या 242-256

विषय प्रवेश—क्षतिपूर्ति की समस्या, क्षतिपूर्ति की कठिनाईयां, जर्मनी की कठिनाइयां, आंग्ल- फ्रांसीसी मतभेद, राइन में—पार्थक्यवादी आन्दोलन, रूर आधिपत्य से डावस-योजना तक, डावस योजना का मूल्यांकन, यंग-योजना, हूवर-मुहलत, लुसान सम्मेलन और क्षतिपूर्ति का अन्त।

24. आर्थिक संकट 257-265

आर्थिक संकट के कारण, युद्धोत्तर अभिवृद्धि, युद्धकालीन ऋण, यन्त्रों का वैज्ञानिकीकरण, क्रय-शक्ति की कमी, सोना का विषम-विभाजन, आर्थिक राष्ट्रीयता, प्रलय का आरम्भ, जर्मनी की स्थिति, आर्थिक संघ का प्रस्ताव, क्रेडिट-आन्सटाल्ट का दिवाला, ब्रिटेन में संकट, विश्व अर्थ सम्मेलन, संकट का अन्त, आर्थिक संकट के परिणाम, अधिनायकवाद का उत्कर्ष, आर्थिक राष्ट्रीयता, राष्ट्रसंघ की दुर्बलता, जापानी साम्राज्यवाद का पुनरुद्भव, इटली की आक्रामक प्रवृत्ति का विस्फोट, हिटलर का उत्कर्ष, साम्यवाद की श्रेष्ठता, द्वितीय विश्वयुद्ध।

25. राष्ट्रसंघ 266-288

राष्ट्रसंघ का जन्म, राष्ट्रसंघ के उद्देश्य, सदस्यता, वित्त, प्रधान कार्यालय, राष्ट्रसंघ के अंग, राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा, शान्ति-संस्थापक के रूप में राष्ट्रसंघ, आलैंड विवाद, विलना विवाद, मेमेल-विवाद, अल्बेनिया-विवाद, ऊपरी साइलेशिया का विवाद, कोर्फू-विवाद, मोसुल-विवाद, यूनान और बुल्गेरिया में विवाद, पिरुविया कोलम्बिया विवाद, राष्ट्रसंघ का पतन, मंचूरिया का युद्ध, लिटन आयोग, राष्ट्रसंघ की निष्क्रियता, अबीसीनिया का युद्ध, वःलवाल की घटना, राष्ट्रसंघ और संकट, राष्ट्रसंघ की रवैया, होर-लावाल, समझौता, अबीसीनिया का युद्ध, प्रतिबन्धों का अन्त, अबीसीनिया-कांड का परिणाम, राष्ट्रसंघ और स्पेन का गृहयुद्ध, अंत्येष्टि क्रिया, राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण, संयुक्त राज्य अमेरिका का असहयोग, वर्साय सन्धि के सम्बद्ध होना, राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों में अविश्वास, संघ के प्रति विभिन्न राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण का अभाव, संगठन की त्रुटियां, राष्ट्रसंघ का अन्त, राष्ट्रसंघ के गैर-राजनीतिक कार्य, युद्धबन्दियों और शरणार्थियों की सहायता, स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्य, आर्थिक कार्य, सामाजिक कार्य, राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन।

26. दो विश्वयुद्धों के बीच पश्चिम एशिया 289-334

प्रथम विश्व-युद्ध में तुर्की, पेरिस शान्ति-सम्मेलन और तुर्की, शान्ति-सम्मेलन की व्यवस्था, सेब्र की सन्धि, सैनिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, कमालपासा का उदय और सेब्र की सन्धि का विरोध, प्रथम ग्रैण्ड नेशनल एसेम्बली, सेब्र की सन्धि का प्रत्याख्यान, यूनान के साथ युद्ध, लोजान की सन्धि, तुर्की-गणराज्य की स्थापना, दो विश्वयुद्धों के बीच तुर्की की विदेश-नीति, तुर्की की प्रारम्भिक विदेश-नीति, रूस के साथ सम्बन्ध, तुर्की और राष्ट्रसंघ, पश्चिमी शक्तियों के साथ सम्बन्ध, मोन्त्रों की सन्धि, इटली और जर्मनी के साथ सम्बन्ध, पड़ोसी राज्यों के साथ सम्बन्ध, तुर्की और बाल्कन राज्य, संयुक्त राज्य अमेरिका और तुर्की, अरब राष्ट्रवाद और मैंडेट पद्धति, प्रथम विश्व-युद्ध और अरब राष्ट्रवाद, अंग्रेजों का विश्वासघात, अरबों का विद्रोह, अखिल सीरियाई सम्मेलन, राष्ट्रसंघ की संरक्षण-व्यवस्था, सेनरेमो की सन्धि, हाशिमवंशियों का पुर्नप्रतिष्ठापन, सीरिया और लेबनान में फ्रेंच-मैंडेट, सीरिया में फ्रांसीसी संरक्षण की स्थापना, फ्रांसीसी

संरक्षण का कार्यान्वित रूप, सीरियाइयों का विद्रोह, उदार शासन का युग, राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव, भूमि की व्यवस्था, फ्रांस की दमन नीति, 1936 की सन्धि, द्वितीय विश्व-युद्ध के अवसर पर युद्धकालीन परिस्थिति, द्वितीय विश्वयुद्धोपरान्त की स्थिति, लेबनान, इराक में ब्रिटिश मैंडेट, इराक पर ब्रिटिश आधिपत्य, ब्रिटिश मैंडेट का विरोध, फैजल का राज्यारोहण, फैजल का शासन, ब्रिटेन के साथ 1922 की सन्धि, 1926 की सन्धि, 1930 की सन्धि, ब्रिटिश इराकी सम्बन्ध पर एक दृष्टि, नयी व्यवस्था, मैंडेट-काल में पड़ोसी राज्यों के साथ इराक का सम्बन्ध, मैंडेट-काल में इराक की आन्तरिक समस्याएँ, फैजल का मूल्यांकन, 1933-45 के बीच इराक, ट्रांसजोर्डन, फिलिस्तीन का ब्रिटिश मैंडेट तथा जिओनी आन्दोलन, जिओनी आन्दोलन की उत्पति, फिलिस्तीन में यहूदियों का आगमन, प्रथम विश्वयुद्ध और जिओनी आन्दोलन, बालफोर घोषणा के प्रति अरबों की प्रतिक्रिया, फिलिस्तीन पर ब्रिटिश संरक्षता, यहूदी तथा अरबों के दावे-प्रतिदावे, फिलिस्तीन-समस्या का प्रकट रूप, यहूदियों और अरबों के झगड़े, फिलिस्तीन की शासन-व्यवस्था, अरबों की शिकायतं, बेलिगवाल का झगड़ा, ब्रिटिश सरकार और यहूदियों में मतभेद, 1935-36 का संघर्ष, पील आयोग, उडहेड आयोग, गोलमेज सम्मेलन, 1939 का श्वेत पत्र, द्वितीय विश्वयुद्ध और फिलिस्तीन की समस्या, युद्धोपरान्त यहूदी समस्या, आंग्ल-अमेरिकी जांच समिति, लन्दन सम्मेलन, संयुक्त राष्ट्रसंघ में फिलिस्तीन की समस्या, इजराइल का जन्म।

27 **दो विश्वयुद्धों के बीच पूर्वी एशिया** 335-347

पेरिस शान्ति-सम्मेलन और पूर्वी एशिया, सम्मेलन की पृष्ठभूमि, पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति, याप द्वीप का झगड़ा, आंग्ल जापानी सन्धि, नौसैनिक होड़, वाशिंगटन सम्मेलन, नौसैनिक सन्धि, पहली चुतराष्ट्र सन्धि, प्रथम नौराष्ट्र सन्धि, दूसरी नौराष्ट्र सन्धि, षड़शक्ति सन्धि, दूसरी चतुराष्ट्र सन्धि, अमेरिका और जापान का समझौता, चीन जापान समझौता, वाशिंगटन-सम्मेलन के परिणाम, महत्व, वाशिंगटन सम्मेलन के दोष, चीन की राजनीति, जापानी साम्राज्यवाद का पुनरोद्भव और मंचूरिया काण्ड, मंचूरिया का महत्व, मंचूरिया-विजय की तैयारी, मंचूरिया कांड, चीन-जापान युद्ध, साम्यवाद का खतरा; एशिंया एशियाइयों का, चीनी राष्ट्रीयता, चीन जापान युद्ध।

28 **जर्मनी में नात्सी क्रान्ति** 348-360

जर्मनी का पुनरोद्भव, नात्सी क्रान्ति के कारण, वर्साय सन्धि, जातीय परम्परा, आर्थिक संकट, साम्यवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव, संसदीय परम्परा का अभाव, जर्मनी की सैनिक प्रवृत्ति, हिटलर का व्यक्तित्व, हिटलर का अभ्युदय, पेंटर से चान्सलर, जर्मनी गणतन्त्र का विनाश, विश्व राजनीति पर नात्सी का प्रभाव, रोम में प्रतिक्रियाएं, चेकोस्लोवाकिया और लघुमैत्री संघ के देश, हंगरी, पोलैंड, सोवियत संघ, आस्ट्रिया और इटली, फ्रांस और यूगोस्लाविया, ब्रिटेन।

29. दो विश्वयुद्धों के बीच इटली की विदेश-नीति 361-371

विदेश नीति के उद्देश्य, फासिज्म का उत्कर्ष, भूमध्य-सागर पर प्रभुत्व, स्थापना का प्रयास, फ्यूम की प्राप्ति, रूस से मित्रता, टिराना की सन्धि, हिटलर का उदय तथा फ्रांस-ब्रिटेन के सहयोग, अबीसीनिया का युद्ध, अबीसीनिया पर आक्रमण के कारण, युद्ध का प्रारम्भ, परिणाम, रोम-बर्लिन धुरी, रूस का विरोध, स्पेन का गृह-युद्ध, गृह-युद्ध की पृष्ठभूमि, गृह-युद्ध विदेशी प्रतिक्रिया, अहस्तक्षेप समिति, इटली का प्रभाव।

30. दो विश्वयुद्धों के बीच फ्रांस की विदेश-नीति 372-376

सुरक्षा की खोज, राष्ट्रसंघ के प्रति फ्रांस का रुख, जर्मनी के प्रति फ्रांस की नीति, ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध, 1925 में विदेश नीति में परिवर्तन, पेरिस पैक्ट, राष्ट्र के अन्तर्गत यूरोपीय संघ बनाने का असफल प्रयत्न, फ्रांस और निरस्त्रीकरण, हिटलर के उदयोपरान्त फ्रांस की विदेश नीति, रूस और इटली से मित्रता, फ्रांस की तुष्टीकरण नीति का विकास, फ्रांस की तुष्टीकरण नीति के कारण।

31. दो विश्वयुद्धों के बीच ब्रिटेन की विदेश-नीति 377-382

विषय प्रवेश, साम्यवादी रूस का खतरा, जर्मनी के प्रति सहानुभूति, तुष्टीकरण नीति का ब्योरा, ब्रिटिश तुष्टीकरण नीति के प्रमुख आधार, साम्यवादी रूस का आतंक, शक्ति संतुलन का सिद्धान्त, ब्रिटेन और फ्रांस में मतभेद, ब्रिटिश नेताओं का अक्षमता, ब्रिटिश जनता के विचार, ब्रिटेन की दुर्बलता, चेम्बरलेन का व्यक्तित्व।

32. दो विश्वयुद्धों के बीच संयुक्त राज्य अमेरिका 383-389

पार्थक्यवाद, मुनरो-सिद्धान्त, अमरीकी साम्राज्यवाद, विश्व-राजनीति में दिलचस्पी, अमेरिका और विश्व-युद्ध, शान्ति सम्मेलन में विल्सन, पार्थक्यवाद का पुनरावर्तन, पुनरावर्तन के कारण, पूर्वी एशिया में दिलचस्पी, राष्ट्रसंघ से सहयोग, यूरोपीय समस्याएँ और अमेरिका, तटस्थता कानून, तटस्थता की नीति के परिणाम, लैटिन अमेरिका के साथ सम्बन्ध।

33. दो विश्वयुद्धों के बीच सोवियत विदेश-नीति 390-400

सोवियत विदेश-नीति का निर्धारण, पूंजीवादी हस्तक्षेप, सोवियत संघ का बहिष्कार, नीति परिवर्तन, विदेशों से सम्पर्क स्थापना, जेनेवा सम्मेलन, रेपोलो समझौता, अन्य देशों की मान्यताएँ, रूस अमेरिका सम्बन्ध, रूस, सामूहिक सुरक्षा और राष्ट्रसंघ, अनाक्रमण-सन्धियां, फ्रांस के साथ सन्धि, पराधीन राज्यों के प्रति सोवियत-संघ का रुख, रूस-जर्मन समझौता, रूस-जर्मन अनाक्रमण सन्धि, समझौते के कारण।

34. जर्मनी की विदेश-नीति और द्वितीय विश्वयुद्ध 401-426

जर्मनी विदेश-नीति के उद्देश्य, हिटलर और वर्साय सन्धि, पोलैंड के साथ समझौता, आस्ट्रिया को हड़पने का यत्न, ब्रिटेन के साथ समझौता, स्ट्रेसा-सम्मेलन, राइनलैंड का पुनसैनिकीकरण, बेल्जियम की तटस्थता, रोम-बर्लिन धुरी और कामिनटर्न-विरोधी समझौता, आस्ट्रिया का जर्मन में विलयन, आस्ट्रिया को हड़पने की तैयारी, आस्ट्रिया पर आधिपत्य, आस्ट्रिया काण्ड का महत्व, चेकोस्लोवाकिया का विनाश और म्यूनिख का समझौता—चेकोस्लोवाकिया का सामरिक महत्व, जर्मनी अल्पसंख्यकों की समस्या, अन्तर्राष्ट्रीय संकट की ओर, रन्सीमन मिशन, वर्शरैसगार्डेन के प्रस्ताव, जोडेन्सवर्ग का प्रस्ताव, म्यूनिख का समझौता, म्यूनिख समझौता की समीक्षा, ब्रिटेन द्वरा समझौता करने के कारण, चेकोस्लोवाकिया का अन्त, हिटलर को लाभ, रूस जर्मन समझौता तथा पोलैंड पर आक्रमण, पोलैंड का संकट, ब्रिटिश-नीति में परिवर्तन, हिटलर का जवाब, रूस के अनाक्रमण सन्धि, अन्तिम संकट।

35. द्वितीय विश्वयुद्ध 427-458

वर्साय-व्यवस्था की त्रुटियां, ब्रिटिश नीति, वचन विमुखता, गुटबन्दी, राष्ट्रसंघ की भ्रामक शक्ति, युद्ध की लपटों में, नात्सी विद्युत प्रहार, पोलैंड का युद्ध, रूसी आक्रमण, पश्चिमी मोर्चा, इटली का रुख, नार्वे और डेनमार्क पर आक्रमण, चर्चिल का प्रधानमंत्री बनना, हालैंड और बेल्जियम, डेन्कर्क का शून्यन, फ्रांस पर आक्रमण इटली का युद्ध में प्रवेश, फ्रांस का खात्मा, ब्रिटेन का युद्ध, बाल्कन प्रायद्वीप में युद्ध, पश्चिम एशिया में युद्ध, भूमध्यसागर का युद्ध, रूस और जर्मन युद्ध, रूस जर्मन सम्बन्ध, युद्ध का पहला सोपान, अतलान्तिक का युद्ध, पूर्वी एशिया में युद्ध, पूर्वी एशिया में मित्र-राष्ट्रों की पराजय, एल अलमीन, उत्तरी अफ्रिका में मित्र राष्ट्रों की विजय, भूमध्यसागर का युद्ध, मुसोलिनी का पतन, इटली का युद्ध, जर्मनी की पराजय, स्टालिनग्राड का युद्ध, पश्चिमी मोर्चा, फ्रांस में जर्मनी की पराजय, रूस का पूर्व में आक्रमण, बाल्कन से जर्मनी को पीछे हटना, यूरोप में मित्र-राष्ट्रों की विजय, जर्मनी का आत्मसमर्पण, जापान का आत्मसमर्पण।

सहायक ग्रन्थों की सूची 459-459

कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न 460-472

अध्याय 1

बिस्मार्क युग में जर्मनी की विदेशी-नीति
(Germany's Foreign Policy Under Bismarck)

फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध : संसार के इतिहास में बहुत कम घटनाएं ऐसी होती हैं जिनके तात्कालिक परिणाम इतने महत्वपूर्ण हों जितने सीडान (Sedan) के युद्ध में फ्रांस की पराजय के हुए। इस घटना के महत्व पर टिप्पणी करते हुए **काउन्ट ब्यूस्ट** (Count Beust) ने कहा था : "इस युद्ध से मानों यूरोप के राजनीतिक जीवन में एक सरिता बह निकली है जिसने सारे यूरोप को आंदोलित कर दिया है।" 1 दिसंबर, 1870 को सीडान के मैदान में जो युद्ध फ्रांस और प्रशा के बीच हुआ था वह एक ऐतिहासिक और निर्णायक युद्ध था। प्रशा के चांसलर ऑटो फॉन बिस्मार्क (Otto Von Bismarck) ने जिन-जिन घटनाओं की कल्पना की थी, सीडान की विजय ने उन सारी कल्पनाओं को मूर्तरूप दे दिया। जो जर्मनी सदियों से टुकड़े-टुकड़े में विभक्त था और जो आस्ट्रिया के चांसलर पिस मेटरनिक के शब्दों में केवल "भौगोलिक अभिव्यक्ति" (geographical expression) मात्र था; उसका राजनीतिक एकीकरण पूरा हो गया। इस समय से जर्मनी की तूती सारे यूरोप में बोलने लगी। अब जर्मनी यूरोपीय राजनीति और अन्ततः विश्व राजनीति का केंद्रबिंदु हो गया। फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध (Franco-Prussian War) से लेकर प्रथम विश्व युद्ध के छिड़ने तक के काल में ऐसी कोई महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय घटना नहीं हुई जिसका जर्मनी के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संबंध नहीं रहा हो। वस्तुतः यूरोप के इतिहास में यह जर्मन प्राधान्य का युग था।

फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध के परिणामों को कई महत्वपूर्ण दृष्टिकोणों से देखते हुए यही कहा जा सकता है कि इस युद्ध ने यूरोप की उस राजनीतिक स्थिति में आमूल परिवर्तन कर दिया जो विगत दो सौ वर्षों से चली आ रही थी। सत्रहवीं शताब्दी में जो तीस वर्षीय युद्ध (Thirty Years War, 1618-48) हुआ जिसके परिणामस्वरूप संपूर्ण जर्मनी अत्यंत कमजोर और जर्जर हो गया। जर्मनी के पड़ोसी राज्य, जिनमें फ्रांस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, अपनी आकांक्षाओं और स्वार्थों की पूर्ति के लिए लगातार इसी प्रयास में लगे रहते थे कि जर्मनी हमेशा के लिए विभाजित और कमजोर देश बना रहे। फलतः वह निरंतर रिचल्यु (Richelieu) और माजारिन (Mazarin) की आक्रामक फ्रांसीसी नीतियों का शिकार बना रहा। बीच-बीच में उसे टुकड़े-टुकड़े करने के उद्देश्य से फ्रांस की ओर से कई आक्रमण हुए। अठारहवीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में वह कई बार नेपोलियन बोनापार्ट के आक्रमणों का शिकार हुआ और उसका एक वृहत् भूभाग फ्रांस के कब्जे में आ गया। विदेशी आधिपत्य के इस अपमान की घड़ी में प्रशा के नेतृत्व में जर्मन राज्यों में एक अस्थायी एकता की भावना आयी। प्रशा और आस्ट्रिया ने कुछ क्षणों के लिए अपनी प्रतिद्वंद्विता भूलकर तथा रूस एवं ब्रिटेन जैसे मित्र राज्यों का सहयोग प्राप्त कर नेपोलियन से जबरदस्त लोहा लिया और उसे पराजित किया। लेकिन वाटरलू में नेपोलियन की पराजय से जर्मनी की स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। जर्मनी की अंदरूनी दुर्बलता खत्म नहीं हो सकी। 1815 में जर्मन राज्यों का एक संघ अवश्य कायम हुआ, लेकिन वह काफी कमजोर था। इस राज्यसंघ (Cermanic Confederation) में कुल मिलाकर अड़तीस

राज्य सम्मिलित थे, पर इसका संगठन सुदृढ़ नहीं था क्योंकि इसका प्रत्येक सदस्य-राज्य एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र था। प्रशा और आस्ट्रिया इस संघ के दो प्रमुख सदस्य थे। लेकिन, उनकी पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के कारण जर्मनी एक शक्तिहीन देश बना रहा। आस्ट्रिया अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए चाहता था कि जर्मनी का संगठन बहुत ही कमजोर और ढीलाढाला रहे। जर्मनी में राष्ट्रवाद के सिद्धांत की विजय का अर्थ था, आस्ट्रियन-साम्राज्य का विनाश। अतः साम्राज्य की रक्षा के लिए आस्ट्रिया की यह निश्चित नीति थी कि वह किसी भी मूल्य पर जर्मनी की राजनीतिक एकता नहीं कायम होने दे। जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण का एक ही उपाय था कि आस्ट्रिया को जर्मनी की राजनीति से किसी तरह अलग कर दिया जाय। जबतक आस्ट्रिया जर्मन राजसंघ का सदस्य बना रहेगा तबतक जर्मनी का कल्याण नहीं हो सकता। इस बात को समझनेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति बिस्मार्क था। 1842 में वह प्रशा का प्रतिनिधि बनकर फ्रैंकफर्ट एसेम्बली में गया। 1859 तक बिस्मार्क ने जर्मनी संघ में प्रशा का प्रतिनिधित्व किया। वहां उसने अनुभव किया कि आस्ट्रिया प्रशा का जबर्दस्त दुश्मन है और प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी की एकता कायम करने के लिए उसको हराना आवश्यक है।

बिस्मार्क, जो अपने युग का सर्वश्रेष्ठ राजनेता था, 1862 में प्रशा का चांसलर (प्रधानमंत्री) बनाया गया। चांसलर बनने के बाद उसका एकमात्र यही उद्देश्य रहा कि प्रशा की सैन्यशक्ति बढ़ाकर आस्ट्रिया से लोहा लिया जाय और फिर युद्ध के मैदान में आस्ट्रिया को परास्त कर जर्मनी के एकीकरण का मार्ग सुगम बनाया जाय। आस्ट्रिया को जर्मनी की राजनीति से अलग करने के लिए उसने सर्वप्रथम श्लेसविग और होल्सटिन (Shleswing-Holstein) नामक दो डचियों (राज्य) का प्रश्न उठाया। उन डचियों पर वर्षों से डेनमार्क का राजनीतिक आधिपत्य था, किंतु होल्सटिन की अधिकांश जनसंख्या जर्मन थी। 1863 में डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन दशम् ने इन दोनों डचियों को डेनमार्क में सम्मिलित करने की घोषणा की। होल्सटिन के जर्मन निवासियों ने इसका घोर विरोध किया। प्रशा की ओर से भी इसका विरोध हुआ। जर्मनी संघ की ओर से बिस्मार्क के नेतृत्व में आस्ट्रिया और प्रशा इन दो डचियों पर अधिकार करने के लिए डेनमार्क पर चढ़ाई कर दी। डेनमार्क हार गया और श्लेसविग तथा होल्सटिन के दोनों राज्य आस्ट्रिया और प्रशा के संयुक्त शासन में आ गये।

डचियों के इस संयुक्त शासन की व्यवस्था ने आस्ट्रो-प्रशा युद्ध का बीज बो दिया। आस्ट्रिया और प्रशा दोनों बड़े भारी प्रतिद्वंद्वी थे। बिस्मार्क का अनुभव था कि इन दो राज्यों के शासन का सवाल लेकर भविष्य में आस्ट्रिया और प्रशा के बीच युद्ध छिड़ सकता है और उसका यह अनुमान एकदम ठीक निकला। डचियों को लेकर आस्ट्रिया और प्रशा के बीच प्रतिद्वंद्विता बढ़ती गयी। वे भीतर- भीतर युद्ध की तैयारी करने लगे। प्रशा की शैन्य-शक्ति जोर-शोर से बढ़ायी जाने लगी। इसके अतिरिक्त बिस्मार्क ने कूटनीतिक चाल से यूरोप के अन्य देशों से यह आश्वासन प्राप्त कर लिया कि जब प्रशा और आस्ट्रिया के बीच युद्ध छिड़ जायगा तो वे तटस्थ रहेंगे। इस प्रकार हर तरह से बिस्मार्क ने स्थिति को अपने अनुकूल बना लिया। अब केवल एक बहाना और उपयुक्त अवसर ढूंढना बाकी था। कुछ दिनों में एक बहाना मिल गया। बिस्मार्क ने प्रस्ताव किया कि जर्मन राज्यसंघ को एसेम्बली के स्थान पर एक ऐसी जर्मन राष्ट्रीय संसद कायम की जाय जिसका चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर हो। आस्ट्रिया इसको मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। डचियों के प्रश्न पर पहले से ही झगड़ा था। प्रशा जर्मन-संघ से हट गया और 1866 में दोनों के बीच युद्ध छिड़ गया।

आस्ट्रो-प्रशा युद्ध करीब सात सप्ताह तक चला। 3 जुलाई, 1866 के दिन सेडवा के रणक्षेत्र में प्रशा ने आस्ट्रिया को ऐसा हराया कि सारा जर्मनी प्रशा के पांव पर लोटने लगा। कुछ ही दिनों में बिस्मार्क ने इस बात का फैसला करा दिया कि प्रशा और आस्ट्रिया में से किसे जर्मनी का नेतृत्व करना है। आस्ट्रिया जर्मनी की राजनीति से अलग कर दिया गया। सेडवा-युद्ध के फलस्वरूप जर्मनी की एकता आधी से अधिक कायम हो गयी। उत्तरी जर्मनी के राज्यों को मिलाकर प्रशा ने उत्तर जर्मन-संघ कायम किया। अब केवल चार दक्षिणी जर्मनी राज्य इस संघ के बाहर थे। उनके मिले बिना जर्मनी एकता अधूरी थी।

जिस समय बिस्मार्क आस्ट्रिया को पराजित करने की योजना बना रहा था उस समय उसको सबसे अधिक डर फ्रांस का था। फ्रांस बराबर प्रशा की बढ़ती हुई शक्ति को संदेह की दृष्टि से देखता था। अभी तक यूरोप में फ्रांस का प्रभुत्व था। उस समय फ्रांस का सम्राट तृतीय नेपोलियन था। वह स्वयं एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था और यह बात सहन नहीं कर सकता था कि प्रशा आस्ट्रिया को हराकर जर्मनी की एकता कायम कर ले और फिर यूरोप में फ्रांस को चुनौती दे। बिस्मार्क इस बात को खूब अच्छी तरह समझता था। इसलिए उसे नेपोलियन का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था। अतः बिस्मार्क स्वयं फ्रांसीसी सम्राट नेपोलियन तृतीय से मिलने गया। नेपोलियन से तरह-तरह का अनुनय-विनय करके बिस्मार्क ने उसका समर्थन प्राप्त कर लिया। नेपोलियन ने वादा किया कि वह आस्ट्रो-प्रशा युद्ध में तटस्थ रहेगा। उसने सोचा कि प्रशा और आस्ट्रिया आपस में लड़ते-लड़ते थक जायेंगे और तब फ्रांस के लिए यूरोप पर अपना प्रभाव बनाये रखना सुगम हो जायेगा।

आस्ट्रो-प्रशा युद्ध में आस्ट्रिया की हार से नेपोलियन का यह स्वप्न टूट गया। सेडवा के मैदान में जब प्रशा की विजय हुई तब नेपोलियन के सारे सुख-स्वप्न मिट्टी में मिल गये। प्रशा की जीत ने नेपोलियन को आश्चर्यचकित कर दिया। प्रशा दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा था। उसकी सेना यूरोप में सबसे अधिक शक्तिशाली थी। फ्रांस की बगल में एक ऐसे नवीन राष्ट्र का उदय हो रहा था, जो यूरोप पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए फ्रांस से लोहा ले सकता था। नेपोलियन अपने पड़ोस में इस प्रकार के शक्तिशाली राष्ट्र का प्रादुर्भाव सहन नहीं कर सकता था। इधर इटली का भी एकीकरण हो चुका था और स्वतंत्र जर्मनी का निर्माण होने को था। यह तय था कि जिस रफ्तार से जर्मनी की प्रगति हो रही थी उससे वह शीघ्र ही फ्रांस का भयंकर प्रतिस्पर्धी बन जायगा। अतः फ्रांस में काफी घबराहट थी। फ्रांसीसी लोग कहा करते थे कि सेडवा के मैदान में आस्ट्रिया की नहीं बल्कि वास्तव में फ्रांस की पराजय हुई है। सेडवा का समाचार सुनकर फ्रांस का प्रसिद्ध राजनेता तीयर (Thiers) ने कहा था : "सेडवा में जो कुछ हुआ है वह फ्रांस के लिए अत्यंत ही चिंताजनक विषय है। पिछली चार शताब्दियों में फ्रांस के लिए इतनी घोर विपत्ति की कोई घटना नहीं घटी है।" फ्रांसीसियों की दृष्टि में प्रशा का उत्कर्ष यूरोप के शक्ति-संतुलन को नष्ट कर रहा था। नेपोलियन इस घटना से बहुत क्षुब्ध था। उसने समझा कि बिस्मार्क ने उसे चकमा देकर कूटनीतिक दाव-पेंच में हरा दिया। अतः वह इस बात पर डटा हुआ था कि प्रशा की शक्ति को और अधिक नहीं बढ़ने दिया जाय। उसका एकमात्र उद्देश्य अब यही था कि प्रशा को प्रारंभ में ही नष्ट कर दिया जाय।

कटुता और मनमुटाव के वातावरण में युद्ध के कारण आसानी से पैदा होते हैं। प्रशा और फ्रांस के हित आपस में टकरा रहे थे। आस्ट्रो-प्रशा-युद्ध के अंत होने के बाद नेपोलियन ने बिस्मार्क से अपनी तटस्थता की कीमत मांगी। लेकिन, बिस्मार्क इस कीमत को चुकाने को तैयार नहीं था। वह बराबर बहाना करता रहा। बिस्मार्क निश्चित रूप से यह भी समझ गया था कि फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध अवश्यंभावी है। वह इसकी तैयारी करने लगा। उस समय प्रश्न था दक्षिण के चार जर्मन राज्यों—बबेरिया, बाडन, उर्टम्बर्ग और हैस्सेडामेस्टाट का। अभी तक प्रशा के नेतृत्व में स्थापित जर्मन राज्यसंघ से ये राज्य अलग थे। इनके बिना जर्मनी की एकता अपूर्ण थी। अतः बिस्मार्क इन्हें भी अपने संघ में मिलाना चाहता था। पर, नेपोलियन इस बात पर तुला हुआ था कि वह किसी भी मूल्य पर इन राज्यों को जर्मन-संघ में नहीं मिलने देगा, क्योंकि उसके विचार में ये चारों राज्य फ्रांसीसी प्रभाव क्षेत्र के प्रदेश थे। तनाव की ऐसी स्थिति में युद्ध का कारण खोज निकालना कोई कठिन काम नहीं था और अपनी कूटनीति की बदौलत बिस्मार्क ने फ्रांस को युद्ध छेड़ने के लिए मजबूर किया। स्पेन की राजगद्दी का मामला लेकर दोनों देशों के बीच 19 जुलाई, 1870 के दिन युद्ध छिड़ गया। युद्ध में फ्रांस बिल्कुल अकेला था। यूरोप का कोई भी देश फ्रांस की मदद करनेवाला नहीं था। नेपोलियन को आशा थी कि दक्षिणी जर्मन राज्य उसका साथ अवश्य देंगे, लेकिन उसकी इस आशा पर पानी अवश्य फिर गया। देशभक्ति और राष्ट्रीयता

के प्रवाह में चारों दक्षिणी राज्य भी जर्मन-संघ में सम्मिलित हो गये और इस तरह जर्मनी की एकता पूरी हुई। उधर फ्रांस के साथ युद्ध चल ही रहा था। प्रशा की सेना फ्रांस को कई बार हराया। 1 सितंबर, 1870 को सीडान के मैदान में प्रशा ने फ्रांस को बुरी तरह पराजित किया और सम्राट नेपोलियन को अपने तिरासी हजार सैनिकों के साथ आत्मसमर्पण करना पड़ा। 10 मई, 1871 को दोनों देशों के बीच फ्रैंकफर्ट (Frankfurt) की संधि हुई। इस संधि के अनुसार फ्रांस को एक बहुत बड़ी रकम प्रशा को हर्जाना के रूप में देनी पड़ी। इसके साथ-साथ यह भी तय हुआ कि जबतक फ्रांस यह हर्जाना चुका न दे तबतक जर्मन-सेना उत्तरी फ्रांस पर अपना कब्जा कायम रखे। इसके अतिरिक्त फ्रांस को आल्सेस तथा लोरेन (Alsace-Lorraine) के प्रांत भी, जहां लोहे और कोयले की बहुतायत थी, प्रशा को दे देने पड़े।

फ्रैंकफर्ट संधि के ये शर्तें अत्यंत कठोर और अपमानजनक थीं। लेकिन कोई दूसरा विकल्प भी नहीं था। जमाने से यह परंपरा चली आ रही थी कि युद्ध के बाद विजेता राष्ट्र विजित देश पर अपनी शर्तें जबरदस्ती लाद देता था और पराजित देशों को उन सारी शर्तों को कबूल करना पड़ता था। लेकिन आल्सेस-लोरेन के प्रांतों का छीना जाना तथा उन्हें जर्मन साम्राज्य में सम्मिलित किया जाना फ्रांसीसियों के लिये बड़ा ही कष्टदायक सिद्ध हुआ। उनकी दृष्टि से यह एक भयंकर जुर्म था।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि आल्सेस और लोरेन के बहुसंख्यक निवासी जर्मन भाषा बोलते थे और एक समय था जब ये प्रदेश जर्मन के अंग थे। चौदवें लुई के समय में फ्रांस इन प्रदेशों को जर्मनी से छीन लिया था। बिस्मार्क के पक्ष में तर्क दिया जाता है कि उसने केवल इन भूभागों को फ्रांसीसी चंगुल से मुक्त किया जिनको फ्रांस ने जबरदस्ती कमजोर जर्मन से छीन लिया था। फ्रांसीसी प्रशा-युद्ध के समय जर्मनी के सैनिक अधिकारियों ने यह सुझाव दिया कि सामरिक दृष्टिकोण अर्थात फ्रांस के भावी आक्रमण से रक्षा के लिए इन प्रांतों को जर्मनी के साथ मिलाया जाना अत्यंत आवश्यक है। बिस्मार्क के लिए भी स्थिति बड़ी कठिन थी। आल्सेस-लोरेन पर कब्जा किये बिना वह बर्लिन नहीं लौट सकता था। यदि वह इन प्रांतों पर अधिकार नहीं करता को जर्मन जनता और जर्मन संसद उसका घोर विरोध करती तथा उस पर तरह-तरह के आरोप लगाये जाते। ऐसी स्थिति में बिस्मार्क के समक्ष कोई दूसरा चारा भी नहीं था।

इसके विपरीत यह कहा जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी के आल्सेस लोरेन और 1871 के आल्सेस-लोरेन के मिलाये जाने के प्रक्रियाओं में बड़ा अंतर था। सत्रहवीं शताब्दी की तुलना में 1871 का युग बिल्कुल बदल चुका था। इस बीच यूरोप में कई घटनाएं घट चुकी थीं और राष्ट्रवाद की भावना अत्यंत शक्तिशाली बन गयी थी। जिस समय चौदहवें लुई ने आल्सेस-लोरेन को फ्रांस में मिलाया उस समय जर्मनी नामक कोई राष्ट्र नहीं था। वह राज्यों का एक समूह था जिसको पवित्र रोमन साम्राज्य कहते थे। इस तथाकथित साम्राज्य के भूभाग को छिन्नभिन्न करने का उस जमाने में कोई महत्त्व नहीं था। लेकिन फ्रांस की क्रांति के बाद आल्सेस-लोरेन सहित फ्रांस एक सुसंगठित राष्ट्र का रूप ले चुका था। अपनी राष्ट्रीयता तथा एकता के प्रति वह अत्यंत संवेदनशील और जागरूक हो चुका था। यदि उसके एक खंड को किसी तरह का कष्ट होता तो सारा देश उसका सहभागी बनने को तैयार था। जैसा कि एस० बी० फे (S.B. Fay) ने लिखा है, "बिस्मार्क ने एक सजीव प्राणी पर आघात किया था, उसका घाव कभी भरनेवाला नहीं था। यह एक खुला घाव था जो ऐसा ही बना रहा और चालीस वर्षों तक इसके कारण यूरोप की शांति खतरे में पड़ी रही।"

सुरक्षा की दृष्टि से भी आल्सेस-लोरेन जर्मनी के लिए आवश्यक नहीं था। राइन नदी जर्मनी के लिए उतना ही अच्छा सीमांत था जितना वोजेज (Vosges) नदी। यह ठीक है कि इन प्रांतों के अधिकांश निवासी जर्मन-भाषी थे, पर इसका अर्थ यह नहीं था कि वे अपने को जर्मन समझते थे। जर्मनी भाषी होने के बावजूद अन्य सभी दृष्टियों से वे फ्रांसीसी थे। उनका बहुत बड़ा बहुमत फ्रांस से पृथक किये जाने का प्रबल विरोधी था। जब उनके विरोध की कोई सुनवायी नहीं हुई तब इन प्रदेशों के बहुत से लोग अपना घर-बार छोड़कर

भाग चले और फ्रांस में आकर बस गये। ऐसी ही लोगों में एक व्यक्ति रेमोंड पोअन्कारे (Raymond Poincare) था जो बाद में फ्रांस का राष्ट्रपति बना। पोअन्कारे जैसे लाखों ऐसे व्यक्ति फ्रांस में थे जो आल्सेस-लोरेन के लिए तड़प रहे थे। पेरिस के एक चौराहे पर स्टार्सबर्ग और मेन्स की प्रतिमाएं काले कपड़े में लपेटकर रखी गयी थी ताकि पेरिस के नागरिकों को आल्सेस-लोरेन की याद हमेशा ताजी रहे।

बात आल्सेस-लोरेन तक ही सीमित नहीं रही। विजेता के रूप में जर्मनी फ्रांस का घोर राष्ट्रीय अपमान भी किया। जर्मनी के एकीकरण की उपलब्धि का उत्सव बर्लिन में नहीं मनाकर वर्साय में मनाया गया। वर्साय फ्रांस की राष्ट्रीय मानमर्यादा का प्रतीक था। सदियों से यहां फ्रांस के राजे-महाराजे निवास करते आ रहे थे और यहीं 'जर्मन-साम्राज्य' की स्थापना की घोषणा की गयी। पेरिस के आत्मसमर्पण के दस दिन पूर्व 18 जनवरी 1871 को वर्साय के राजप्रासाद के शीशमहल में एक अत्यंत महत्वपूर्ण उत्सव का आयोजन किया गया। इस उत्सव के अवसर पर जर्मनी के प्रायः सभी राजा उपस्थित थे। सबों ने मिलकर प्रशा के राजा विलियम प्रथम को एक स्वर से जर्मनी साम्राज्य का सम्राट स्वीकार किया। फ्रांस के लिए यह एक अत्यंत अपमानजनक घटना थी जिसको भूलने के लिए वे कतई तैयार नहीं थे। एक तरफ उसके राष्ट्र का अंगभंग कियां गया और दूसरी तरफ राष्ट्रीय अपमान। आल्सेस-लोरेन को फ्रांस के अंग से काटा जाना एक ऐसे घाव का पैदा किया जाना था जो कभी भरा नहीं जा सकता था। यह घाव फ्रांसीसियों को 1914 तक दर्द देता रहा और जबतक प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी को हराकर फ्रांस में इन प्रातों को वापस नहीं ले लिया तबतक उसे चैन नहीं आया। जर्मनी से बदला लेने की फ्रांसीसियों की यह तीव्र भावना (French desire for revanche) प्रथम विश्वयुद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ। बिस्मार्क प्रथम श्रेणी का कूटनीतिज्ञ था। अगर वह जानता कि आल्सेस-लोरेन को मिलाये जाने का परिणाम इतना बुरा होगा तो शायद वह ऐसा कभी नहीं करता। लेकिन अब जो होना था वह हो चुका था। बिस्मार्क को वर्तमान से अधिक चिंता भविष्य के लिए थी। उसकी कुशलता और प्रभुता से एक नये संयुक्त जर्मन-साम्राज्य की स्थापना हुई थी। वह अब शिशु-साम्राज्य को सजाने-संवारने में लग गया। फ्रांस जर्मनी से बदला लेगा इस बात कि चिंता वह कब तक करता और फिर अब स्थिति भी बदल चुकी थी। दो सौ वर्षों से जर्मनी एक कमजोर और फ्रांस एक शक्तिशाली देश बना हुआ था। अब वैसी बात नहीं रही। अब फ्रांस ही कमजोर देश था और जर्मनी अति शक्तिशाली राष्ट्र। यूरोप की कूटनीतिक राजधानी अब पेरिस नहीं रह गयी थी, उसका स्थान बर्लिन ले चुका था। यूरोपीय राष्ट्रों की मंडली में ऐसे नवीन राज्य का आगमन हो चुका था जिसकी अवहेलना अब नहीं की जा सकती थी।

बिस्मार्क की विदेश-नीति के लक्ष्य : बिस्मार्क की विदेश-नीति का मुख्य लक्ष्य प्रतिशोध की फ्रांसीसी भावना से जर्मनी की रक्षा करना था। जर्मनी की राष्ट्रीय एकता पूरी करने और जर्मन साम्राज्य की स्थापना का सारा श्रेय बिस्मार्क को था। अपनी इस उपलब्धि को सुदृढ़ बनाना बिस्मार्क अपना सबसे महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व समझता था। अब वह इस बात को भली भाँति समझने लगा था कि आल्सेस-लोरेन को फ्रांस से छीनकर उसने एक महान राष्ट्र का अंगभंग किया है और फ्रांसवाले इस बात को कभी नहीं भूलेंगे। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों फ्रांस में जर्मनी से प्रतिशोध लेने की भावना बलवती हो जायगी। अतः 1871 के बाद बिस्मार्क का एकमात्र उद्देश्य यह रह गया कि हर संभव उपाय द्वारा नवजात जर्मन साम्राज्य की रक्षा की जाय। 1871 के बाद वह जर्मनी को एक तृप्त (satiated) राष्ट्र मानने लगा। जर्मनी की सभी आकांक्षाएं पूरी हो चुकी थीं। अब ऐसी कोई बात नहीं रह गयी थी जिसको लेकर जर्मनी किसी देश के साथ कोई युद्ध करे। वह युद्ध का विरोधी बन गया क्योंकि उसके अनुसार किसी नये युद्ध से जर्मनी का भला नहीं होनेवाला था। यदि यूरोप में कोई युद्ध छिड़ जाता है तो जर्मनी को नुकसान ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में जर्मनी के विरोधी एक साथ मिलकर एक गुट बना सकते थे और जर्मनी ने अबतक जो लाभ प्राप्त किये थे उन्हें नष्ट कर सकते थे। ऐसी स्थिति में बिस्मार्क यूरोपीय शांति का अब प्रबल समर्थक बन गया। 1871 के बाद उसने उसी नीति का अनुसरण

किया जिसको प्रिंस मेटरनिक ने 1815 के बाद किया था। मेटरनिक की तरह 1871 के बाद बिस्मार्क यथा स्थिति (status quo) का समर्थक बन गया। यथा स्थिति कायम रखने के लिए युद्ध की संभावना से बचना और शांति बनाये रखना परम आवश्यक था।

बिस्मार्क फ्रांस से बहुत डरा हुआ था। उसको यह संदेह होने लगा था कि कहीं फ्रांस बदला लेने के लिए युद्ध न छेड़ दे और इसके लिए अन्य राज्यों से मित्रता न कर ले। इस स्थिति में बिस्मार्क ने अपनी सारी कूटनीतिक पटुता और राजनीतिक दूरदर्शिता जर्मनी की उपलब्धियों को स्थायी बनाने के लिए लगा दी। यह लक्ष्य दो उपायों से पूरा हो सकता था : एक उपाय यह था कि कूटनीतिक दृष्टि से जर्मनी की स्थिति को काफी मजबूत बनाया जाय। इसके लिए यह आवश्यक था कि जर्मनी अपने पड़ोस के देशों के साथ घनिष्ठतम मैत्री संबंध कायम करे और इन देशों से मिलकर फ्रांस के विरुद्ध गुटों की रचना करे। द्वितीयतः, अनन्तकाल तक के लिए फ्रांस को इतना कमजोर बनाये रखा जाय कि प्रतिशोध की भावना कभी कार्यान्वित नहीं हो सके। फ्रांस अकेले जर्मनी की बराबरी नहीं कर सकता था। ऐसी स्थिति में अगर उसे जर्मनी से प्रतिशोध लेना है तो अन्य राष्ट्रों की मदद पाना उसके लिए आवश्यक था। अतः बिस्मार्क की नीति यह थी कि यूरोप के देशों को फ्रांस का मित्र बनने से रोका जाय। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस को इस तरह अलग कर दिया जाय कि वह अकेला पड़ जाय और कोई भी देश उसकी सहायता देने को तैयार न हो। दूसरे शब्दों में, बिस्मार्क की यह आकांक्षा थी कि यूरोप की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी की स्थिति बहुत शक्तिशाली रहे और फ्रांस किसी अन्य राज्य का सहयोग न प्राप्त कर सके। इस तरह बिस्मार्क की विदेश नीति के दो आधार थे-फ्रांस के खिलाफ गुटबंदी करना और फ्रांस को जर्मनी के विरुद्ध गुट कायम करने से रोकना। बिस्मार्क विशेषकर आस्ट्रिया और रूस की मैत्री का समर्थक था। वह इटली को भी अपने दल में शामिल करना चाहता था। इन सबों के अतिरिक्त वह ब्रिटेन की शुभकामना का भी इच्छुक था। ब्रिटेन के साथ मैत्री भाव बनाये रखने की उसने भरसक कोशिश की। उसके विचार में ब्रिटेन एक सामुद्रिक शक्ति और जर्मनी एक स्थल शक्ति था। इस कारण इन दोनों के बीच झगड़ा होने का कोई विशेष कारण नहीं था।

तीन सम्राटों की संघ
(League of the Three Emperors)

तीन सम्राटों के संघ की स्थापना : फ्रांस-विरोधी एक गुट की रचना बिस्मार्क के लिए एक चिंता का विषय बन गया। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए बिस्मार्क रूस को बहुत महत्व देता था। उसकी इच्छा थी कि जर्मनी और रूस के बीच घनिष्ठ मैत्री संबंध कायम हो। प्रशा और रूस के मध्य मित्रता की परंपरा बहुत पुरानी थी। नेपोलियन के विरुद्ध मिलकर युद्ध करने के दिनों से ही दोनों देशों के बीच मैत्री संबंध रहता आया था। यह संबंध क्रीमिया युद्ध तथा पोलैंड में विद्रोह के अवसरों पर और भी सुदृढ़ हुआ। 1853 का क्रीमिया युद्ध रूस के खिलाफ ब्रिटेन, फ्रांस और तुर्की द्वारा लड़ा गया था। उस समय प्रशा में भी रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित करने की मांग की गयी। लेकिन प्रशा के कुछ राजनीतिज्ञों (जिनमें बिस्मार्क भी प्रमुख था) ने इसका घोर विरोध किया। उनका कहना था कि पूर्वीय समस्या (Eastern Question) में प्रशा का कोई स्वार्थ निहित नहीं है और इसलिए रूस को दुश्मन बनाने का कोई औचित्य नहीं है। फलतः क्रीमिया की लड़ाई में प्रशा तटस्थ बना रहा। प्रशा की यह तटस्थता रूस के लिए लाभदायक सिद्ध हुई जिसके लिए रूस प्रशा के प्रति कृतज्ञ बना रहा। इसके कुछ वर्षों बाद 1863 में पौलैंड के लोगों ने रूसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह किया। विद्रोही पोलों की यह आशा थी कि प्रशा से उन्हें कुछ मदद मिलेगी। इस समय बिस्मार्क प्रशा के चांसलर पद पर नियुक्त हो चुका था। वह रूस से घनिष्ठ मैत्री संबंध कायम करना चाहता था। ऐसी हालत में वह पोलैंड

के लोगों की मदद नहीं कर सकता था। जैसे ही पोलैंड में विद्रोह हुआ और रूस की दमनात्मक कार्यवाही शुरू हुई कि बिस्मार्क ने प्रशा और पोलैंड की सीमाओं पर सैनिकों को तैनात कर सीमा को बंद कर दिया ताकि कोई विद्रोही पोलैंड से भाग न निकले। बिस्मार्क की इस कार्यवाई से सरकार बहुत प्रसन्न हुई।

प्रशा के इस मैत्रीपूर्ण आचरण का बदला रूस ने आस्ट्रो-प्रशा युद्ध तथा फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध के अवसरों पर दिया। फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध काल में रूस ने उदार तटस्थता की नीति अपनाकर तथा आस्ट्रिया को फ्रांस से साथ सहयोग करने से रोककर प्रशा की बहुमूल्य सहायता की। पेरिस पर घेरा डाले रहने के लंबे महीने बिस्मार्क के लिए चिंता और कठिनाई के दिन थे। उस समय यदि रूस चाहता तो उसे काफी परेशान कर सकता था। रूस की तटस्थता से बिस्मार्क को अपने उद्देश्य की पूर्ति में बड़ी सहायता मिली। प्रशा को रूस द्वारा की गयी सहायता का महत्व समझने में बिस्मार्क ने देर नहीं की। 1856 की पेरिस-संधि द्वारा विजेता राष्ट्रों ने रूस पर एक घोर अपमानजनक शर्त लाद दी थी। इस शर्त के अनुसार कृष्ण सागर (Black sea) को एक तटस्थ स्थल मान लिया गया और वहां किसी राज्य को जंगी जहाजी बेड़ा या युद्ध-सामग्री संग्रह करने का स्थान बनाने का अधिकार नहीं रहा। इस शर्त का मुख्य लक्ष्य रूस की प्रसारवादी नीति पर अंकुश लगाना था। इस कारण रूस बराबर इस मौके की ताक में था कि किसी तरह इस शर्त को समाप्त किया जाय। फ्रांसीसी प्रशा युद्ध के समय में रूस को यह अवसर मिल गया। सारे यूरोप का ध्यान फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध पर केंद्रित था। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर रूस ने पेरिस-संधि की कृष्ण सागर संबंधी धाराओं को अमान्य घोषित करके वहां अपने जंगी जहाजों का प्रवेश करा दिया। बिस्मार्क ने रूस की इस कार्रवाई को अपनी अविलंब सहमति प्रदान कर दी। इस कारण रूसी नेता बिस्मार्क से बहुत प्रसन्न थे।

इन सब बातों के अतिरिक्त रूस और जर्मनी के बीच मैत्री का यह वातावरण एक और कारण से दृढ़ हो रहा था। रूस का सम्राट एलेक्जेंडर द्वितीय जर्मन सम्राट विलियम प्रथम का भांजा था और दोनों के व्यक्तिगत संबंध बड़े ही घनिष्ठ थे। जून 1871 में जार एलेक्जेंडर द्वितीय राजकीय यात्रा पर बर्लिन आया और उसकी इस यात्रा के फलस्वरूप दोनों देशों का संबंध और भी सुदृढ़ हुआ।

इस प्रकार रूस और प्रशा के बीच मैत्री की भावना एक परंपरा के रूप में चली आ रही थी। इसी तरह आस्ट्रिया के साथ भी बिस्मार्क दृढ़ तथा मैत्रीपूर्ण संबंध कायम करना चाहता था। आस्ट्रिया के साथ प्रशा का जो युद्ध हुआ था उसके बहुत दिन नहीं हुए थे। 1866 के सेड़वा की हार आस्ट्रिया के लोग भूले नहीं थे। लेकिन बिस्मार्क आस्ट्रिया और प्रशा के बीच की इस खाई को भरना चाहता था। अतः सेडवा युद्ध के तुरंत बाद वह आस्ट्रिया की सद्भावना प्राप्त करने की कोशिश करने लगा। प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण का उसका लक्ष्य पूरा हो चुका था। अब कोई ऐसा कारण नहीं था कि आस्ट्रिया और प्रशा आपस में मैत्रीपूर्ण संबंध नहीं रखे। जिस समय आस्ट्रो-प्रशा युद्ध में आस्ट्रिया की सेना बुरी तरह पीट रही थी उस समय प्रशा के कुछ सैनिक अधिकारियों ने वियना पर आक्रमण करने के लिए बिस्मार्क पर दबाव डाला। लेकिन बिस्मार्क ने इस परामर्श को स्वीकार नहीं किया। वह व्यर्थ ही आस्ट्रिया को अपमानित करना नहीं चाहता था। उसका उद्देश्य आस्ट्रिया को भविष्य में एक घनिष्ठ मित्र राज्य बनाना था। आस्ट्रिया युद्ध में हार तो अवश्य गया था, लेकिन वह एकदम शक्तिहीन नहीं हो गया था। उसके पास वे सारे साधन मौजूद थे जिनसे समय पाकर वह पुनः एक शक्तिशाली राज्य बन सकता था। अतएव बिस्मार्क ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि किसी भी कीमत पर आस्ट्रिया को विमुख नहीं होने दिया जाय तथा उसकी मित्रता और सदिच्छा प्राप्त की जाय। उधर आस्ट्रिया भी 1866 की घटनाओं को वस्तु स्थिति मानकर बिस्मार्क द्वारा स्थापित नयी व्यवस्था को मानने को तैयार था। इस स्थिति में 1871 के ग्रीष्म में बिस्मार्क के प्रयास से जर्मन सम्राट विलियम प्रथम ने आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ (Francis Joseph) से आस्ट्रिया में मुलाकात की। इसके कुछ ही दिनों बाद आस्ट्रिया

के विदेश विभाग में एक परिवर्तन हुआ। विदेश मंत्री काउन्ट व्यूस्ट, जिसके मन में बिस्मार्क के लिए कभी भी अच्छे भाव नहीं थे, अपने पद से हट गया। उसकी जगह पर काउन्ट जुलियस आन्ड्रासी (Count Julius Andrassy) की नियुक्ति हुई।

आन्ड्रासी बिस्मार्क का पुराना दोस्त था। उसकी भी इच्छा थी कि आस्ट्रिया और प्रशा के बीच किसी तरह का मनमुटाव नहीं रहे और दोनों में प्रगाढ़ मंत्री संबंध कायम हो। अतएव अप्रैल, 1872 में उसने प्रस्ताव रखा कि आस्ट्रिया के सम्राट भी एक बार बर्लिन की यात्रा करें। जब रूस के जार ने फ्रांसिस जोसेफ की इस प्रस्तावित यात्रा की खबर सुनी तो उसने भी बर्लिन जाने की इच्छा प्रकट की। एलेक्जेंडर यह नहीं चाहता था कि जिस समय आस्ट्रिया और प्रशा के सम्राट आपस में विचार-विमर्श करते रहें उसे अलग छोड़ दिया जाय। उसने यह संकेत दिया कि तीनों सम्राटों के मिलने से यूरोप की शांति को स्थायित्व मिलेगा और फ्रांस का खतरा भी टलेगा। लेकिन एलेक्जेंडर के इस सुझाव ने बिस्मार्क को एक उलझनपूर्ण स्थिति में डाल दिया। फ्रांसिस जोसेफ पर इस सुझाव की क्या प्रतिक्रिया होगी, इस बात को सोचकर बिस्मार्क की परेशानी बढ़ गयी। उधर जार को भी नकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता था। लेकिन यह परेशानी शीघ्र ही दूर हो गयी। आस्ट्रिया के सम्राट ने अपनी सहमति दे दी। यह निश्चय किया गया की तीनों सम्राट अपने विदेश मंत्रियों के साथ सितंबर, 1872 में बर्लिन में मिलें।

जब दोनों सम्राट निश्चित समय पर बर्लिन आये तो विलियम ने उनका शानदार स्वागत किया। इस अवसर पर शान-शौकत के अभूतपूर्व प्रदर्शन किये गये। तदुपरांत तीनों सम्राटों की आपसी बातचीत शुरू हुई। तीनों सम्राटों के समक्ष कई सामान्य समस्याएं थीं। यूरोप में अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद का प्रभाव बढ़ रहा था जिसके परिणामस्वरूप राजतंत्रीय व्यवस्था पर भारी खतरा उत्पन्न हो गया था। अतः तीनों सम्राटों ने मिलकर इस "खतरनाक विचारधारा" का सामना करने का निश्चय किया। इस तरह तीन सम्राटों के संघ (The League of the Three Emperors) की स्थापना हुई। यह समझौता कोई लिखित समझौता नहीं था और न इसके द्वारा किसी ने कोई दायित्व ही स्वीकार किया था। यह केवल कुछ महत्वपूर्ण बातों पर समझौता था जिसके द्वारा तीनों सम्राट 1871 की प्रादेशिक व्यवस्था को कायम रखने, निकट पूर्वीय समस्या का तीनों साम्राज्यों को मान्य सामाधान ढूंढ निकालने और अपने देश में क्रांतिकारी समाजवाद का दमन करने पर राजी हुए थे। इसके अतिरिक्त पारस्परिक सद्‌भावना का जो वातावरण उत्पन्न हुआ, वह महत्त्वपूर्ण था। कहने को तो यह संघ केवल समाजवाद के विरुद्ध था, लेकिन इसके और भी राजनीतिक महत्व थे। इस समझौते का यह अर्थ भी था आस्ट्रिया सेडवा की पराजय भूल गया और उसने जर्मनी की नयी राजनीतिक परिस्थिति को स्वीकार कर लिया है। यूरोपीय कूटनीति में बिस्मार्क की यह बड़ी सफलता थी। एक तरह से यह 1815 के पवित्र संघ (Holy Alliance) की पुनर्स्थापना थी। जिस प्रकार उस समय ये तीनों राज्य फ्रांस की क्रांति से उत्पन्न परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए संगठित हुए थे उसी प्रकार इस समय वे समाजवादी आंदोलन के विरुद्ध संगठित हुए। इस संघ ने तत्काल के लिए कूटनीति में फ्रांस को एकदम पृथक कर दिया। कुल मिलाकर यह भेंट बिस्मार्क की कूटनीति की बहुत बड़ी विजय थी। इस समय के यूरोप का वह श्रेष्ठतम राजनीतिज्ञ था। यूरोप की स्थिति और समस्या को समझने, पड़ोसी देशों के राजनीतिक हित जानने तथा उन हितों के आधार पर सौदा पटाने में यह अद्वितीय था। फलतः बिस्मार्क तीन सम्राटों के संघ का नेता बन गया। उसने संघ के प्रभाव का उपयोग यूरोपीय देशों में शांति बनाये रखने तथा फ्रांस पर अंकुश लगाये रखने के लिए किया और इस लक्ष्य की पूर्ति में उसे तत्काल पूरी सफलता मिली।

तीनों सम्राटों का यह समझौता आगे चलकर और भी मजबूत हुआ। 1873 में सम्राट विलियम बिस्मार्क के साथ रूस गया। सेंट-पीटर्सवर्ग में रूस और जर्मनी के बीच एक गुप्त सैन्य संधि हुई जिसके अनुसार रूस तथा जर्मनी ने किसी यूरोपीय युद्ध की स्थिति में दो लाख सैनिकों से एक-दूसरे की सहायता करने का वादा किया। इसी वर्ष जार एलेक्जेंडर भी वियना गया। वहां रूस और आस्ट्रिया के मध्य एक समझौता द्वारा यह

तय हुआ की ऐसे प्रश्नों पर, जिनमें उनके हित टकराते हों, वे आपस में सलाह-मशविरा करेंगे। यह भी निश्चय किया गया कि यदि किसी अन्य यूरोपीय शक्ति ने कोई आक्रामक कार्रवाई की जिससे यूरोप की शांति खतरे में पड़ जाय तो वे अन्य किसी राष्ट्र के साथ संधि या सहयोग नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त यह व्यवस्था भी की गयी कि यदि इस समझौते के फलस्वरूप सैनिक कार्रवाई की आवश्यकता पड़ी तो एक विशेष सैनिक सम्मेलन करके उसका प्रबंध किया जायगा। इस समझौते की एक प्रति जर्मन सम्राट विलियम के पास भेजा गया। उसने भी इस पर अपनी, स्वीकृति दे दी। इस प्रकार तथाकथित "तीन सम्राटों का संघ" मजबूत होने लगा।

तीन सम्राटों के संघ की दुर्बलता : किंतु यह त्रिदलीय मैत्री अधिक दिनों तक कायम न रह सकी और शीघ्र ही इसकी आंतरिक दुर्बलता प्रकट हो गयी। फ्रांस, जैसा हम आगे देखेंगे, बड़ी आश्चर्यजनक तेजी से उन्नति कर रहा था जिसे देखकर बिस्मार्क को चिंता होने लगी थी। उसने युद्ध के हर्जाने की एक भारी रकम फ्रांस पर लाद दी थी और उसको आशा थी कि उसके कारण फ्रांस एक पीढ़ी तक खड़ा न हो सकेगा। परंतु वह सारी रकम उसने दो वर्ष में ही अदा कर दी। इसके अतिरिक्त वहां राज्यसत्तावादियों का जोर बढ़ रहा था, सेना का पुनर्संगठन हो रहा था और कुछ सैनिकवादी युद्ध तथा प्रतिशोध की बातें करने लगे थे। यह देखकर कुछ जर्मन अफसर इसके पहले कि फ्रांस अपनी पूर्व शक्ति को पुनः प्राप्त कर सके 'प्रतिकारत्मक युद्ध' (Preventive War) की सलाह देने लगे थे। यह तो मालूम नहीं होता है कि बिस्मार्क उनसे सहमत था परंतु उसे यह विश्वास था कि समाचारपत्रों में युद्ध की आशंका की बातों से फ्रांस में डर बैठ जायगा और प्रतिशोध की भावना दब जाएगी। समाचारपत्रों में युद्ध की तात्कालिक आशंका पर लेख निकलने लगे। 15 अप्रैल, 1875 को 'बर्लिन पोस्टट' नामक समाचारपत्र में 'युद्ध की संभावना' नामक शीर्षक वाला एक स्पष्टतः प्रेरित लेख निकला। परंतु इस बार बिस्मार्क गलती कर गया और फ्रेंच प्रधानमंत्री देकाज (Due Decazes) ने उसे कूटनीति के खेल में पछाड़ दिया। 4 मई को लंदन के टाइम्स पत्र के पेरिस में स्थित संवाददाता से भेंट करते हुए उसने बतलाया कि जर्मनी फ्रांस से दस अरब फ्रैंक (चालीस करोड़ पौंड) बीस किस्तों में वसूल करके उसे चूसना और इसकी अदायगी तक फ्रांस के पूर्वी प्रदेशों में जर्मन सेना रखना चाहता है। इसी प्रकार के समाचार सेंट पीटर्सवर्ग में एलेक्जेंडर के पास भी पहुंचे और महारानी विक्टोरिया को भी जर्मनी से उसकी कन्याओं ने इसी आशय के निजी पत्र भेजे। विक्टोरिया ने जार को अपने प्रभाव से युद्ध रोकने का प्रयत्न करने के लिए लिखा और जून में स्वयं सम्राट विलियम को अपनी मध्यस्थता का सुझाव देते हुए एक वैयक्तिक पत्र लिखा। जार एलेक्जेंडर स्वयं अपने विदेश मंत्री गोरचेकोव (Gorchoakov) के साथ बर्लिन पहुंचा। विलियम ने विक्टोरिया को पत्र लिखकर युद्ध की खबर को निराधार बतलाया और उसे शांति का आश्वासन दिया। युद्ध की आशंका तो मिट गयी, परंतु इस घटना ने यह बतला दिया कि प्रत्येक दशा में जर्मनी फ्रांस के विरुद्ध रूस की सहानुभूति और समर्थन पर निर्भर नहीं कर सकता है।

तीन सम्राटों के संघ को दुर्बल बनाने में रूसी मंत्री गोरचेकोव का दंभ सबसे प्रमुख तत्व सिद्ध हुआ। गोरचेकोव एक दंभी व्यक्ति था और किसी भी तरह वह अपने को बिस्मार्क से कम मानने को तैयार नहीं था। उसका झुकाव फ्रांस की ओर था। वह विदेशों से भेजे गये रूसी प्रतिनिधियों के जर्मन-विरोधी रिपोर्टों को बड़े चाव से पढ़ता था। कुछ अन्य बातों को लेकर बिस्मार्क से उसका प्रत्यक्ष विरोध हो गया। गोरचेकोव की इन सारी गतिविधियों से बिस्मार्क का सशंकित होना स्वाभाविक था। उसे भय हुआ कि कहीं गोरचेकोव जर्मनी के विरुद्ध रूसी सम्राट का कान न भरना शुरू कर दे। इससे तीन सम्राटों के संघ की सुदृढ़ता पर व्याघात पड़ता। इसलिए उसने रॉडोविज (Radowitz) को रूस में जर्मनी का नया राजदूत नियुक्त किया और उसे आदेश दिया कि वह गोरचेकोव को बिस्मार्क के विचारों से प्रभावोत्पादक ढंग से अवगत करावे। इस पर गोरचेकोव ने कुछ अफवाहें फैला दी कि रॉडोविज को सेंट पीटर्सवर्ग सौदेबाजी करने के लिए भेजा गया है कि पूर्व में रूस को स्वच्छंद छोड़ देने के बदले वह फ्रांस के विरुद्ध जर्मनी को स्वच्छंद छोड़ दे।

इसी समय फ्रांस के विरुद्ध जर्मनी के "प्रतिकारात्मक युद्ध" की अफवाह फैली और गोरचेकोव को साथ लेकर जार एलेक्जेंडर बर्लिन आया। गोरचेकोव ने जार पर दबाव डाला कि वह जर्मन अधिकारियों के समक्ष स्पष्ट कर दे कि रूस किसी भी हालत में फ्रांस को जर्मनी द्वारा कुचल दिये जाने की अनुमति नहीं देगा। इसके उंपरांत गोरचेकोव ने बर्लिन में बड़े ठाट से यह घोषणा भी कर दी कि "अब युद्ध का खतरा टल गया है।" इस घोषणा से गोरचेकोव की अहमन्यता तो अवश्य पूरी हुई परंतु इस पर बिस्मार्क बड़ा कुपित हुआ, क्योंकि गोरचेकोव ने इस वक्तव्य से यह ध्वनि निकलती थी कि जर्मनी की सचमुच "प्रतिकारात्मक युद्ध" करने का इरादा था और रूस ने इस युद्ध को छिड़ने से रोक दिया है। बिस्मार्क बराबर इस बात को इंकार करता रहा कि उसका युद्ध करने का कभी भी इरादा था। इस घटना से जर्मनी और रूस का संबंध काफी खराब हो गया। यद्यपि तीन सम्राटों का संघ अब भी कायम था तथा विलियम और एलेक्जेंडर अभी भी व्यक्तिगत तौर पर एक-दूसरे के परम मित्र थे, लेकिन जर्मनी और रूस का आपसी संबंध तो निश्चय ही बिगड़ गया। बिस्मार्क ने ऐसा अनुभव किया कि रूस पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। इसलिए इसी समय से वह आस्ट्रिया से घनिष्ठतम संबंध कायम करने का प्रयास करने लगा।

बर्लिन-सम्मेलन और तीन सम्राटों का संघ : तीन सम्राटों के संघ में दरार पैदा होने के कुछ और भी कारण थे। प्रायद्वीप और तुर्की के प्रश्न पर आस्ट्रिया तथा रूस के बीच घोर मतभेद था। आस्ट्रिया चाहता था कि बाल्कन प्रायद्वीप उसका प्रभाव-क्षेत्र रहे तथा तुर्की की सत्ता किसी तरह कायम रहे। इसके विपरीत रूस बाल्कन प्रायद्वीप पर अपना अधिकार जमाना चाहता था। साथ ही, वह तुर्की साम्राज्य के विनाश के लिए भी उत्सुक था। ये प्रश्न ऐसे थे जिन पर रूस और आस्ट्रिया के बीच किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता था। 1825 में इस क्षेत्र में एक नया संकट उत्पन्न हुआ और रूस तथा आस्ट्रिया अपनी पुरानी प्रतिद्वंद्विता को लेकर आमने-सामने आ गये। बिस्मार्क के लिए एक बड़ा ही कठिन प्रश्न पैदा हो गया। लेकिन एक दृढ़ निश्चय पर पहुंचने में उसे देर भी न लगी। वह भली-भांति जानता था कि पूर्वीय समस्या तीन सम्राटों के संघ की सबसे बड़ी कमजोरी है और रूस को किसी तरह समझाया बुझाया नहीं जा सकता है। अतएव इस प्रश्न पर उसने आस्ट्रिया का पक्ष लेना शुरू किया।

इसी बीच पूर्वीय समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया। संकट का प्रारंभ बुल्गेरिया को लेकर हुआ। तुर्की शासन के खिलाफ बुल्गेरिया में एक विद्रोह हुआ। तुर्की की सरकार ने इस विद्रोह का कठोरता से दमन किया। बुल्गर लोगों पर घोर अत्याचार किंये गये। रूस ने तुरंत बुल्गेरिया के अपने "स्लाव बंधुओं" का पक्ष लिया और 1877 में तुर्की पर आक्रमण कर दिया। तुर्की रूसी फौज का मुकाबला नहीं कर सका। वह बुरी तरह पराजित हुआ और रूस ने उस पर सन स्टीफानो (San Stefano) की संधि आरोपित कर दी।

सन स्टीफानों की संधि के विरुद्ध आस्ट्रिया और ब्रिटेन में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। यदि वह संधि स्वीकार कर ली जाती तो बाल्कन प्रायद्वीप में रूस का प्रभाव पूरी तरह जम ज़ाता। यह स्थिति न तो आस्ट्रिया को स्वीकार्य थी और न ब्रिटेन को। अतः इन दोनों ने संयुक्त रूप से यह मांग रखी कि 1856 की पेरिस संधि द्वारा स्थापित व्यवस्था में अकेले रूस हेर-फेर नहीं कर सकता है और संपूर्ण पूर्वीय समस्या पर नये सिरे से विचार करने के लिए संबंद्ध यूरोपीय राज्यों का एक सम्मेलन हो।

सन स्टीफानों की संधि से उत्पन्न स्थिति ने बिस्मार्क को पेशोपेश में डाल दिया। बाल्कन प्रदेशों में जर्मनी का कोई निजी स्वार्थ नहीं था। बिस्मार्क ने एक बार कहा भी था "संपूर्ण पूर्वीय समस्या की कीमत एक पोमेरनियन मछली के कांटे के इतना भी नहीं है।"[2] किंतु रूस तथा आस्ट्रिया का संबंध टूटने और पूर्वीय संकट के फलस्वरूप एक नये यूरोपीय शक्ति गुट के गठन का खतरा उसकी दृष्टि में बहुत ही गंभीर बात थी। यूरोपीय सम्मेलन बुलाने की आस्ट्रियाई प्रस्तावना की बात भी उसे पसंद नहीं थी क्योंकि ऐसे सम्मेलन में आस्ट्रिया के इंगलैंड

का साथ देने की संभावना थी। इसके फलस्वरूप रूस फ्रांस के अधिक निकट आ सकता था। यूरोप के इस प्रकार ऑग्ल-आस्ट्रियाई तथा फ्रांसीसी-रूस गुटों में विभाजित हो जाने से जर्मनी कठिन एवं खतरनाक स्थिति में पड़ सकता था। यदि ऐसा हुआ तो जर्मनी के समक्ष दो ही विकल्प रह जायेंगे : या तो वह दोनों गुटों के बीच मध्यस्थ का काम करे अथवा आंग्ल-आस्ट्रियाई गुट का साथ दे। इन दोनों स्थितियों में जर्मनी संकट में पड़ सकता था। गुटबंदी में तीन सम्राटों का संघ खतरे में पड़ सकता था तथा यूरोपीय शांति की बात भी खटाई में पड़ सकती थी।

अनेक प्रयासों के बावजूद बिस्मार्क यूरोपीय सम्मेलन की आस्ट्रियाई मांग को टलवा नहीं सका। रूस को झुकना पड़ा और वह सम्मेलन के प्रस्ताव पर राजी हो गया। 1871 में बर्लिन में इस सम्मेलन का आयोजन किया गया।

सम्मेलन के प्रारंभ में बिस्मार्क ने घोषित किया कि वह 'निष्पक्ष दलाल' (honest broker) की भूमिका का निर्वाह करेगा, अर्थात् वह न तो आस्ट्रिया का पक्ष लेगा और न रूस का। लेकिन जब सम्मेलन शुरू हुआ तो बिस्मार्क ने निश्चय ही आस्ट्रिया का पक्ष लिया। आस्ट्रिया का प्रतिनिधि आन्द्रासी उसका व्यक्तिगत मित्र था। बिस्मार्क का अधिक समय उसी के साथ बीतता था। रूसी प्रतिनिधि गोरचेकोव इस पर गौर से ध्यान देता रहा। उस पर इस बात की छाप पूरी तरह बैठ गयी कि बर्लिन सम्मेलन में बिस्मार्क ने रूस के विरुद्ध आस्ट्रिया की काफी मदद की है। फिर भी बर्लिन-व्यवस्था से रूस का कम लाभ नहीं हुआ। पर गोरचेकोव को लगा कि केस की सामरिक प्रयत्नों और सफलताओं के समक्ष उसकी उपलब्धियां बहुत कम हैं और इसके लिए उसने बिस्मार्क को जिम्मेदार माना। इस हालत में वह बर्लिन से बिस्मार्क के प्रति अत्यंत कटुतापूर्ण भावना लेकर वापस लौटा। उसका कहना था कि बिस्मार्क ने रूस के साथ घोर विश्वासघात किया है। रूसी समाचारपत्रों में जर्मनी के खिलाफ भयंकर विषवमन शुरू हुआ। जार एलेक्जेंडर ने रूस स्थित जर्मन राजदूत को बुलाकर अपने गुस्से का इजहार किया। बिस्मार्क की भूमिका पर टिप्पणी करते हुए उसने कहा कि "बिस्मार्क 1870 का अपना वचन भूल गया। एक मित्र का पक्ष लेकर उसने दूसरे मित्र को खो दिया।" उसने तत्काल सम्राट विलियम को एक पत्र लिखा जिसमें बिस्मार्क की भूमिका की कटु निंदा करते हुए यह चेतावनी दी कि "इसके परिणाम भयंकर हो सकते हैं।"

बिस्मार्क इस बात को अनर्गल मानता रहा। यद्यपि उसने आस्ट्रिया तथा ब्रिटेन का अनेक बातों में समर्थन किया था, पर उसने रूस की भी वास्तविक मदद की थी। लेकिन रूसी नेता इस तथ्य पर विश्वास करने को तैयार नहीं थे। इन सभी बातों के परिणामस्वरूप रूस तथा जर्मनी का संबंध बहुत खराब हो गया। बर्लिन सम्मेलन ने इन दोनों देशों के उस सहयोग और सांमजस्य को समाप्त कर दिया जो तीन सम्राटों के संघ का उद्देश्य था।

इस प्रकार अल्पकाल में ही तीन सम्राटों के संघ का अंत हो गया। आस्ट्रिया और रूस दोनों को अपने पक्ष में रखने का बिस्मार्क का प्रयास असफल हो गया। इसका मुख्य कारण था कि बिस्मार्क आस्ट्रिया को बहुत महत्व देता था और रूस पर उसका कभी पूरा विश्वास नहीं हुआ।

आस्ट्रो-जर्मन-संधि और द्विगुट का निर्माण

(Austro-Gernam-Dual Alliance, 1879)

संधि की उत्पत्ति : बर्लिन कांग्रेस के बाद रूस और जर्मनी के संबंधों में घोर तनातनी शुरू हुई। दोनों देशों का यह वैमनस्य केवल, व्यक्तिगत कटुता अथवा समाचार पत्रों की बौछारों तक ही सीमित नहीं रहा। बर्लिन संधि को लागू करने के लिए कई आयोग स्थापित किये गये थे। इन आयोगों के जर्मन प्रतिनिधि बराबर

रूस के विरुद्ध आस्ट्रिया का पक्ष लेते थे। इस कारण रूसी नेता बहुत चिढ़ गये। रूस ने अपने शस्त्रास्त्रों में वृद्धि की नयी योजना बनायी और जर्मनी की सीमान्तों पर अपने सैनिकों की संख्या बढ़ा दी। यह इस बात का संकेत था कि रूस जर्मनी से बेहद नाराज है।

रूस के इसी विरोधी रुख ने बिस्मार्क को जर्मनी की स्थिति और अधिक सुरक्षित करने को बाध्य किया और उसने निश्चय किया कि जर्मनी को अधिक-से-अधिक देशों के साथ संधि करनी चाहिए। अगस्त 1881 में उसने लिखा था कि "रूस के साथ अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के प्रयास की असफलता ने हमें दूसरी शक्तियों के प्रति अधिकाधिक सतर्कता बरतने को बाध्य किया।" इस हालत में बिस्मार्क को सर्वप्रथम रूस और आस्ट्रिया में जो चुनाव करना था और कई कारणों से प्रेरित होकर बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ संधि करना ही अच्छा समझा। इस निर्णय के कई कारण थे।

सर्वप्रथम इसका व्यक्तिगत कारण था। आस्ट्रिया का चांसलर काउन्ट आन्द्रासी बिस्मार्क का पुराना दोस्त था और वह उस पर पूरा भरोसा करता था। 1879 के मध्य में ऐसा प्रतीत होने लगा कि आन्द्रासी पद त्याग कर देगा और उसकी जगह पर जिस व्यक्ति की नियुक्ति होने वाली थी उस पर बिस्मार्क का कम विश्वास था। अतएव बिस्मार्क आन्द्रासी के कार्यकाल में ही आस्ट्रिया के साथ एक ठोस संधि कर लेना चाहता था।

इसका दूसरा कारण भावनात्मक था। आस्ट्रिया और जर्मनी के लोग स्वजातीय थे और जर्मन जाति का भावनात्मक एकीकरण आवश्यक था। इसी समय जर्मनी के प्रति रूस के दृष्टिकोण ने बिस्मार्क को अविलंब एक निर्णय लेने को बाध्य किया। मध्य यूरोप में जर्मनी की स्थिति असुरक्षित थी और जर्मनी के बचाव के लिए किसी महाशक्ति के साथ जर्मनी की गुटबंदी परम आवश्यक थी। बिस्मार्क इटली अथवा इंगलैंड के साथ मिलकर एक गुट कायम कर सकता था। लेकिन इनके साथ मिलने में उसे कोई लाभ नहीं दिखायी पड़ रहा था। इटली और इंगलैंड संसदीय शासन-पद्धति वाले देश थे और इस कारण भी बिस्मार्क को उनपर भरोसा नहीं था। उस हालत में आस्ट्रिया ही एक ऐसा देश बच जाता था जो बिस्मार्क के उद्देश्य को पूरा करता था। आस्ट्रिया के प्रति बिस्मार्क का झुकाव अत्यंत स्वाभाविक था। रूस की नीति की अनिश्चितता, राजमहल के षड़यंत्र आदि बातों ने बिस्मार्क को बाध्य कर दिया कि वह कम-से-कम फिलहाल के लिए रूस की ओर से अपना मुख मोड़ ले और आस्ट्रिया के साथ आबद्ध हो जाय।

इसके पश्चात बिस्मार्क ने संधि समझौता के लिए आन्द्रासी से वार्ता प्रारंभ की। कुछ दिनों की वार्ता के उपरांत आन्द्रासी एक रक्षात्मक संधि के लिए तैयार हो गया, पर यह आसान काम नहीं था। सम्राट विलियम प्रथम की सहानुभूति अभी भी पूरी तरह रूस से साथ थी और आस्ट्रिया के साथ एक़ संधि करके वह रूस को नाराज करने के पक्ष में नहीं था। लेकिन बिस्मार्क के महान् व्यक्तिगत से सम्राट को प्रभावित होना पड़ा और बाद में वह भी आस्ट्रिया के साथ एक संधि के लिए राजी हो गया।

आस्ट्रो-जर्मन-संधि : बिस्मार्क और आन्द्रासी दोनों ने मिलकर एक आस्ट्रो-जर्मन-संधि का प्रारूप तैयार किया और 7 अक्टूबर, 1879 को दोनों चांसलरों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिये। इस संधि के अनुसार जर्मनी और आस्ट्रिया ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि रूस उनमें से किसी पर भी आक्रमण करे, तो दूसरा राज्य आक्रांत देश की सहायता करे। यदि फ्रांस इन दोनों राज्यों में से किसी पर आक्रमण करेगा, तो दूसरा राज्य तटस्थ रहेगा। पर यदि फ्रांस द्वारा आक्रमण में रूस उसका सहायक हो तो दूसरा राज्य उसकी सहायता करे। यद्यपि दोनों पक्ष संधि को गुप्त रखने को प्रतिबद्ध हुए—पर व्यवस्था कर दी गयी थी कि यदि रूसी शस्त्रीकरण की योजना खतरे की स्थिति को पार करती जान पड़े तो दोनों पक्ष जार को इस बात से अवगत करा देना अपना कर्तव्य समझेंगे कि उनमें से किसी एक पर आक्रमण दोनों पर आक्रमण समझा जायगा। इस तरह 1879 की आस्ट्रो-जर्मन संधि के द्वारा यूरोप में एक रक्षात्मक गुट (defensive alliance) की स्थापना हुई। यह गुट विशेषतः

रूस और कुछ अंशों में फ्रांस के विरुद्ध था। संधि की सभी शर्तें गुप्त रखी गयीं और 1881 तक उन्हें प्रकाशित नहीं किया गया। प्रारंभ में यह संधि केवल पांच वर्षों के लिए की गयी थी। 1883 में इसे तीन साल के लिए फिर दोहराया गया। इसके बाद प्रति तीन साल पर दोनों देश इस संधि को दोहराते रहे और इस प्रकार यह संधि 1918 तक कायम रही।

आस्ट्रो-जर्मन-संधि नें केवल जर्मनी को चिंता से मुक्त नहीं किया, बल्कि आस्ट्रिया की स्थिति भी इस संधि से सुरक्षित हो गयी। आस्ट्रिया को भय था कि बाल्कन-समस्या को लेकर रूस के साथ उसका युद्ध हो सकता है। लेकिन जब इस संधि के बाद अगर रूस से उसकी लड़ाई भी होती तो उसे अब जर्मनी की सहायता का भरोसा हो गया था।

द्विगुट का महत्व : आस्ट्रो-जर्मन-संधि बिस्मार्क के राजनीतिक जीवन की एक महान उपलब्धि थी। इसके कारण बिस्मार्क की सभी चिंताओं का अंत हो गया। इस संधि के कारण जर्मनी की स्थिति बहुत सुरक्षित हो गयी। उसे इस बात का अब भरोसा हो गया कि यदि फ्रांस ने जर्मनी से बदला चुकाने का कभी प्रयास किया तो वह इस विपत्ति का सामना आसानी से कर सकता है। अगर फ्रांस को रूस ने मदद की तो वैसी हालत में जर्मनी को आस्ट्रिया की सहायता प्राप्त होगी। इस संधि से आस्ट्रिया भी उतना ही संतुष्ट था जितना जर्मनी। फ्रांसीसी-जर्मन युद्ध की स्थिति में जर्मनी को मदद देने के लिए आस्ट्रिया किसी तरह बाध्य नहीं था, लेकिन रूस के खिलाफ आस्ट्रिया को पूरा आश्वासन मिल गया। आस्ट्रिया की सीमाएं सुरक्षित हो गयीं क्योंकि तत्कालीन यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश जर्मनी उसके साथ था।

जर्मनी और आस्ट्रिया के बीच की यह द्विगुट-संधि बिस्मार्क की कूटनीति का एक अद्भूत चमत्कार मानी गयी। इसके कारण जर्मनी में उसकी लोकप्रियता बढ़ी तथा सारे यूरोप में उसकी शोहरत फैल गयी। बिना युद्ध किये या खून बहाये संपूर्ण जर्मन जाति को एक सूत्र में बांध दिया। बर्लिन स्थित फ्रांसीसी राजदूत के शब्दों में "यूरोप में उसकी प्रतिष्ठा और जर्मनी में लोकप्रियता की दृष्टि से बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ संधि के समान इतना बड़ा दूसरा काम नहीं किया।" प्रथम विश्व युद्ध तक आस्ट्रो-जर्मन-संधि बिस्मार्क की कूटनीति का महती सफलता मानी जाती रही। लेकिन प्रथम विश्व युद्ध के बाद कुछ लोगों में बिस्मार्क की इस सफलता पर संदेह होने लगा, क्योंकि इस संधि के कारण जर्मनी आंख मूंदकर आस्ट्रिया का समर्थन करता रहा जिसके परिणास्वरूप विश्वयुद्ध के कई कारण उत्पन्न हुए। बाद में इन कारणों से कई लोगों ने इस संधि को बिस्मार्क की महान भूल बतलाया क्योंकि आस्ट्रिया से संधि करके बिस्मार्क ने रूस की ओर से विमुख होने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया जिसके कारण फ्रांस और रूस के बीच संधि अवश्यंभावी हो गई। आस्ट्रो-जर्मन-संधि ने प्रथम विश्वयुद्ध के पृष्ठाधार को तैयार किया।

लेकिन बिस्मार्क पर यह दोषारोपण पूर्णतया सत्य नहीं है। आस्ट्रिया के साथ जर्मनी की जो संधि हुई उसका स्वरूप रक्षात्मक था और बाद में यदि उसके स्वरूप में परिवर्तन हुआ तो उसका दायित्व बिस्मार्क का न होकर उसके उत्तराधिकारियों पर था। यदि बिस्मार्क अपने पद पर बना रहता तो यह संभव था कि वह आस्ट्रिया की आंकाक्षा पर अंकुश लगाये रहता और रूस और आस्ट्रिया के बीच प्रत्यक्ष टक्कर को होने से रोकता। इसलिए यदि आस्ट्रो-जर्मन-संधि में प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि तैयार की तो इसके लिए बिस्मार्क की दोषी ठहराना गलत है। इस प्रकार का कोई भी उत्तरदायित्व उसके उत्तराधिकारियों के माथे ही मढ़ा जा सकता है।

आस्ट्रो-जर्मन-संधि के संबंध में यह भी समझना भूल है कि बिस्मार्क का उद्देश्य रूसी मित्रता का सदा-सर्वदा के लिए परित्याग कर देना था। आस्ट्रिया से संधि करने के बाद भी विस्मार्क की इच्छा थी कि बर्लिन और सेंट पीटर्सवर्ग के बीच संबंध कायम रहे और इस दिशा में वह सदैव प्रयत्नशील रहा तथा बाद में उसने सफलता भी हासिल की।

इस प्रकार आस्ट्रो-जर्मन-संधि को लेकर बिस्मार्क के पक्ष तथा विपक्ष में कई तर्क उपस्थित किये जाते थे। इस वाद-विवाद में पड़े बिना हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इस द्विगुट संधि ने प्रथम विश्वयुद्ध के कई मौलिक कारणों को उत्पन्न किया, भले ही उसके लिए बिस्मार्क जिम्मेवार नहीं हो। द्विगुट के निर्माण ने यूरोप में एक अनिश्चित कूटनीतिक वातावरण को तैयार किया और यूरोप के राष्ट्र अपनी सुरक्षा को खतरा में पड़ा मानने लगे। जबतक बिस्मार्क के हाथों में जर्मनी की नीति के संचालन का भार रहा तबतक यह भय सीमित रहा। लेकिन बिस्मार्क के पतन के बाद जर्मनी के अन्य पड़ोसी राष्ट्र काफी भयभीत हो गये और वे द्विगुट के खिलाफ अपना अलग गुट बनाने लगे। इस स्थिति में यूरोपीय शांति को असुरक्षित बना दिया। चूंकि ऐसी स्थिति का जन्मदाता बिस्मार्क था, इसलिए इस हद तक हम उसको जिम्मेवार मान सकते हैं।

तीन सम्राटों के संघ की पुनर्स्थापना

बर्लिन की संधि : यह समझ लेना सर्वथा गलत होगा कि आस्ट्रो-जर्मन संधि से रूस और जर्मन का संबंध सदा सर्वदा के लिए समाप्त हो गया। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया का वरण अंतिम नहीं था तथा यह आरोप भी गलत है कि बिस्मार्क ने जान-बूझकर बर्लिन तथा सेंट पीटर्सवर्ग के बीच की मिलानेवाली कड़ी को हमेशा के लिए तोड़ दिया। वस्तुतः बात यह थी कि बिस्मार्क किसी भी हालत में रूस को सदा के लिए विमुख करना नहीं चाहता था। उसे फ्रांस से भय था। यदि रूस जर्मनी से अलग हो जाता तो फ्रांस के साथ उसकी दोस्ती हो जाने की संभावना थी। तब इस हालत में जर्मनी को दो सीमाओं पर युद्ध करना पड़ता। बिस्मार्क ऐसी परिस्थिति को उत्पन्न नहीं होने देना चाहता था। अतएव बिस्मार्क पुनः बर्लिन तथा सेंट पीटर्सवर्ग के बीच की कड़ी को जोड़ने का प्रयास करने लगा। इसके उपयुक्त अवसर उसे शीघ्र ही मिल गया।

यह बात ठीक है कि बर्लिन-सम्मेलन के बाद तीन सम्राटों का संघ ढीला पड़ गया था, लेकिन अभी इसका विधिवत अंत नहीं हुआ था। रूस में कुछ ऐसे लोग भी थे जो जर्मनी के साथ अच्छा संबंध बनाये रखना चाहते थे। 1881 में जार एलेक्जेंडर द्वितीय की मृत्यु हो गयी थी और इसका उत्तराधिकारी एलेक्जेंडर तृतीय आस्ट्रिया से नया झगड़ा मोल लेने की जगह अपने राज्य में विद्रोह दमन के लिए अधिक चिंतित था। इसके अतिरिक्त, बहुत दिनों से रूस की आंखें बाल्कन की तरफ लगी हुई थीं और बिना जर्मनी और आस्ट्रिया की मदद के इन आकांक्षाओं की पूर्ति असंभव थी। उधर बिस्मार्क भी रूस के साथ अच्छा संबंध चाहता था। उसे भय था कि रूस फ्रांस के साथ न मिल जाय। अतः वह तीन सम्राटों के संघ को फिर से कायम करना चाहता था। आस्ट्रिया भी रूस के साथ भरसक अच्छा संबंध बनाये रखना चाहता था। ऐसी स्थिति में तीनों राज्यों के बीच एक संधि का होना आश्चर्यजनक बात नहीं थी। अतः जून 1881 में जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया के बीच बर्लिन के एक संधि हुई। यह संधि बिल्कुल गुप्त थी और बहुत दिनों तक दुनिया को इसका पता नहीं था।

संधि की व्यवस्थाएँ : अन्य बातों के अतिरिक्त बर्लिन की इस संधि में यह व्यवस्था की गयी थी कि "प्रतिबंध होने वाले देशों (High Contracting Parties) में यदि कोई देश का किसी चौथे देश के साथ युद्ध होता है तो अन्य दो उसके प्रति उदारतापूर्ण तटस्थ (benevolent neutrality) रखेंगे तथा युद्ध को स्थानीय बनाये रखने का पूरा यत्न करेंगे।" इसका मतबल यह था कि यदि जर्मनी का फ्रांस के साथ, आस्ट्रिया का इटली के साथ, रूस का तुर्की के साथ युद्ध हो तो जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस पर पीछे से किसी दूसरे देश द्वारा आक्रमण का भय नहीं रहेगा। इसके अतिरिक्त संधि की शर्तों द्वारा यह भी तय हुआ कि बर्लिन-सम्मेलन (1878) द्वारा बाल्कन प्रायद्वीप में जो फैसले हुए थे, रूस उनका उल्लंघन नहीं करेगा। तुर्की के विषय में यदि कोई समस्या भविष्य में उत्पन्न हो तो तीनों राज्य आपस में मिलकर उसका फैसला करेंगे।

संधि का महत्व : 1881 की बर्लिन संधि बिस्मार्क की कूटनीति की दूसरी महान उपलब्धि थी। इससे तीन सम्राटों का संघ केवल पुनर्जीवित ही नहीं हुआ बल्कि अब एक संधि के रूप में बदल गया। इससे बिस्मार्क के यूरोप में शांति बनाये रखने के महान उद्देश्य की भी पूर्ति हुई तथा बाल्कन प्रायद्वीप में आस्ट्रिया तथा रूस के बीच कलह कुछ समय के लिए रुक गया। इस संधि के द्वारा बिना शब्दों में व्यक्त किये ही आस्ट्रिया और रूस दोनों के प्रभाव क्षेत्रों के मध्य विभाजन-रेखा सी खींच दी गयी जिस पर दोनों की सहमति थी। बिस्मार्क यह ठीक ही मानता था कि बाल्कन प्रायद्वीप में रूस तथा आस्ट्रिया के प्रभाव क्षेत्रों की विभाजन रेखा स्वीकार करना ही उस क्षेत्र की विस्फोटक स्थिति को नियंत्रित करने का सर्वोत्तम तरीका था।

त्रिगुट की स्थापना
(Triple Alliance)

त्रिगुट की उत्पत्ति : तीन सम्राटों के संघ को कायम कर लेने से ही बिस्मार्क संतुष्ट नहीं हुआ। केवल आस्ट्रिया और रूस का समर्थन प्राप्त करके उसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो रही थी। फिर रूस पर ज्यादा भरोसा करना भी ठीक नहीं था। जर्मनी की रक्षा के लिए यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक ऐसी नवीन पद्धति का सूत्रपात करना चाहता था जिससे जर्मनी को किसी भी कोने से कोई खतरा नहीं रहे। आस्ट्रिया और रूस उसके मित्र राज्य थे। पड़ोस में एक इटली बच रहा था। बिस्मार्क उसे भी अपने गुट में शामिल कर लेना चाहता था। यदि इटली बिस्मार्क के गुट में शामिल हो गया तो फ्रांस और भी अकेला पड़ जायगा और जर्मनी से बदला लेने का उसका सारा स्वप्न टूट जायगा। 1882 में जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर जिस त्रिगुट (Triple Alliance) की स्थापना हुई, उसका यही उद्देश्य था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में फ्रांस और इटली दोनों ही उत्तरी अफ्रीका में सम्राज्य विस्तार का प्रयत्न कर रहे थे। दोनों की आंखें ट्यूनिस (Tunis) पर लगी हुई थीं। बिस्मार्क फ्रांस को ट्यूनिस पर अधिकार जमाने के लिए उत्साहित करने लगा। कहा जाता है कि उसने फ्रांस को यह सोचकर उत्साहित किया कि इससे इटली में इतना रोष पैदा होगा कि इटली की सरकार फ्रांस विरोधी जर्मनी के गुट में शीघ्र ही शामिल हो जायगी। लेकिन संभवतः बिस्मार्क का ऐसा कोई उद्देश्य नहीं था। यह सत्य है कि उसने फ्रांस को ट्यूनिशिया पर अधिकार जमाने के लिए प्रोत्साहित किया, पर इसका उद्देश्य दूसरा था। वह फ्रांस की महत्वाकांक्षाओं का समर्थन करके उसकी सद्भावना प्राप्त करना चाहता था। बिस्मार्क का ख्याल था कि यदि फ्रांस का ध्यान उपनिवेश स्थापना की ओर केंद्रित कर दिया जाय तो वह 1870 की पराजय को भूल सकता है। वह आशा करता था कि फ्रांसीसी आल्सेस-लोरेन पर पुनराधिकार करने की तैयारी में अपनी शक्ति तथा साधनों को लगाये रखने के बदले उनका उपयोग उत्तरी अफ्रीका और चीन में करेंगे। वह जरूर चाहता था कि फ्रांस और इटली एक-दूसरे के कट्टर विरोधी हो जायं, पर इसका उद्देश्य इटली को अपने गुट में शामिल करना नहीं था। त्रिगुट में शामिल होने की पहल इटली ने स्वयं की थी। स्वयं बिस्मार्क इटली को अपने गले में बांधने के लिए उत्सुक नहीं था।

1882 के प्रारंभ में स्वयं इटली ने जर्मनी और आस्ट्रिया के द्विगुट में शामिल होने की इच्छा व्यक्त की। लेकिन बिस्मार्क को इटली पर कोई भरोसा नहीं था। 1880 में ही इटली के संबंध में उसने कहा था, "इटली से यदि कुछ चाहते हैं तो उसके पीछे दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके वादों का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि ज्योंही उसपर अमल करना उसके हितों के लिए जरूरी नहीं रह जायगा, त्योंही उसे वह तोड़ने लगेगा।" इटली के संबंध में बिस्मार्क की अच्छी धारणा नहीं थी, इसका प्रमाण हमें उसके कई अन्य टिप्पणियों

में भी मिलता है। वह इटली की नीति की उस "अस्थिर स्वरूप, बचकानी, अहंवादिता तथा दंभपूर्ण प्रकृति" से भली-भांति परिचित था जो किसी भी सहयोगी देश को कठिनाई में डाल सकती थी। इसके अतिरिक्त इटली की संसदीय शासन-पद्धति पर उसको एकदम भरोसा नहीं था।

बाद में बिस्मार्क की इस धारणा में कुछ परिवर्तन हुए और वह इटली के प्रस्ताव पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने लगा। जर्मनी और इटली के बीच कोई विवाद नहीं था, पर आस्ट्रिया के साथ उसके संबंध अच्छे नहीं थे। अतः बिस्मार्क ने सुझाव दिया कि इटली के साथ संधि की शर्तें आस्ट्रिया तय करे। इटली ने इस पर कुछ आपत्ति उठायी। इस पर बिस्मार्क बर्लिन स्थित इटालवी राजदूत को स्पष्ट शब्दों में बतला दिया कि "हमारे तक पहुंचने के दरवाजे की चाभी वियना में ही खोजनी होगी।" इस स्थिति में आस्ट्रिया और इटली में वार्ताएं शुरू हुईं, और संधि का एक मसविदा तैयार हो गया। 20 मई, 1882 को इटली, आस्ट्रिया और जर्मनी के प्रतिनिधियों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिये। बाद में यह संधि त्रिगुट संधि (Triple Alliance) के नाम से प्रसिद्ध हुई।

संधि का विश्लेषण : संधि की प्रस्तावना के अनुसार यूरोपीय शांति को सुदृढ़ करना तथा राजतंत्रीय व्यवस्था को मजूबत करना त्रिगुट संधि के उद्देश्य थे। यह एक विशुद्ध रक्षात्मक संधि थी जिसको बिस्मार्क "हमारा शांति का संगठन" (Our League of Peace) कहा करता था। संधि के अनुसार हस्ताक्षरकारी पक्षों ने पारस्परिक मित्रता तथा शांति का संकल्प करते हुए यह वादा किया कि वे ऐसा कोई समझौता नहीं करेंगे जो उनमें से किसी एक के विरुद्ध अभिप्रेरित हो। समय-समय पर उठनेवाले सामान्य, आर्थिक तथा राजनीतिक हितों के प्रश्न पर विचार-विनिमय करने का संकल्प तथा एक-दूसरे को समर्थन देने का वादा भी किया गया। संधि की दूसरी धारा में संभावित फ्रांसीसी आक्रमण का प्रश्न था। यदि फ्रांस इटली पर अकारण हमला करे तो जर्मनी और आस्ट्रिया अपनी पूरी ताकत से उसकी सहायता करेंगे। इसी तरह यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करे तो इटली जर्मनी की सहायता में आयगा। दूसरे शब्दों में संभावित फ्रांसीसी आक्रमण की स्थिति में आस्ट्रिया का दायित्व इटली तक सीमित था, पर इटली और जर्मनी के दायित्व पारस्परिक थे।

संधि की तीसरी धारा में फ्रांसीसी-रूसी गठबंधन के खतरा के विरुद्ध व्यवस्था की गयी थी। यह निश्चित किया गया कि यदि कोई अन्य दो राज्य (अर्थात् फ्रांस और रूस) त्रिगुट संधि में सम्मिलित किसी भी राज्य पर आक्रमण करें तो वे तीनों मिलकर उनका मुकाबला करेंगे। प्रारंभ में यह संधि पांच वर्ष के लिए की गयी लेकिन समय-समय पर इसको दुहराया जाता रहा। इस प्रकार 1915 तक यह संधि कायम रही। संधि की शर्तें गुप्त रखी गयीं।

त्रिगुट संधि का होना बिस्मार्क की कूटनीति की महान सफलता और यूरोप के कूटनीतिक इतिहास की एक आसाधारण घटना थी। हाल तक जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली एक-दूसरे के घोर शत्रु थे। लेकिन 1882 आते-आते वे मित्रता के सूत्र में बंध गये। इसके अतिरिक्त इस संधि से तीनों पक्षों को लाभ हुए। जर्मनी की स्थिति अब बहुत सुरक्षित हो गयी। फ्रांस से उसे अब कोई भय नहीं रह गया क्योंकि अगल-बगल के सभी देश जर्मनी के मित्र थे। बिस्मार्क को यह विश्वास था कि इटली फ्रांस के साथ गठबंधन नहीं करेगा। इससे पेरिस में उन तत्वों का हौसला पस्त होगा जो प्रतिशोध की भावना से जल रहे थे, पर यदि फ्रांस ने जर्मनी पर आक्रमण कर ही दिया तो उसे दूसरी ओर इटली का मुकाबला भी करना होगा। यदि ऐसे युद्ध में रूस ने फ्रांस का साथ दिया तो जर्मनी के लिये यह महत्व की बात होगी कि आस्ट्रिया को अपनी सेना का कोई भाग दक्षिणी सीमान्त पर इटली के विरुद्ध रखने की जरुरत नहीं होगी और वह पूरी ताकत के साथ रूस का मुकावला करेगा। इससे जर्मनी पर रूसी प्रहार का भार कुछ कम होगा। इटली की सामरिक शक्ति पर बिस्मार्क को विशेष भरोसा नहीं था। फिर भी उसका कहना था कि हमारा उद्देश्य आस्ट्रिया की सेना को दूसरे मोर्चे के लिए बचाना है, न कि इटली से सेना प्राप्त करना।

इन लाभों के अतिरिक्त जर्मनी को एक दूसरा लाभ यह हुआ कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस बिल्कुल अकेला पड़ गया। ऐसी हालत में यदि कोई छोटा राज्य फ्रांस की सहायता भी करता तो जर्मनी को कोई चिंता नहीं थी।

त्रिगुट संधि से आस्ट्रिया को यह लाभ हुआ कि बाल्कन समस्या को लेकर उसपर आक्रमण होने की स्थिति में उसे अपने दक्षिणी सीमान्त पर इटली के खिलाफ सेना भेजने की आवश्यकता नहीं रही। अब वह अपनी सारी शक्ति रूस के विरुद्ध या बाल्कन क्षेत्र में लगा सकता था।

इटली कई लाभों से प्रेरित होकर इस संधि में शामिल हुआ था। वह यूरोप की शक्ति राजनीति (power-politics) में अपनी स्थिति मजबूत करके एक महाशक्ति का स्थान प्राप्त करना चाहता था। इसके अतिरिक्त उसे अभी भी यह भय था कि फ्रांस का समर्थन पाकर पोप अपना खोया हुआ राज्य फिर से प्राप्त करने का प्रयास न करे। शक्तिशाली जर्मन साम्राज्य के साथ मैत्री संधि करने से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी और अब वह महाशक्ति कहलाने का दावादार हो गया। उसकी लड़खड़ती हुई राजतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था को एक नया बल मिला तथा पोप या फ्रांस के आक्रमणों की भय भी लगभग समाप्त हो गया। इनके बदले इटली ने जो दायित्व अपने ऊपर लिये, वे बहुत भारी नहीं थे।

त्रिगुट संधि का स्वरूप, जैसा कि हम कहते हैं, पूर्णतया रक्षात्मक था, पर इटली और आस्ट्रिया के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती है। इन दोनों ने बाद में इसे अपने आक्रमक उद्देश्यों की सिद्धि का साधन बनाना चाहा। लेकिन बिस्मार्क ने कभी भी जर्मनी के हित में फ्रांस के विरुद्ध आक्रामक कार्यों के लिए इसका उपयोग नहीं चाहा। फ्रांसीसियों को इसका विश्वास दिलाना सहज नहीं था। इसकी शर्तें गुप्त रखी गयी थीं। इसलिए फ्रांसीसी इसे हमेशा शक की निगाह से देखते रहे। संधि की गोपनीयता तथा उससे उत्पन्न अतिरंजित शंकाओं का फ्रांस एवं जर्मनी के संबंधों को कटुतर बनाने में मुख्य हाथ रहा। इस संधि को इटली अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति का एक माध्यम बनाना चाहता था। लेकिन कठिनाई यह थी कि इटली के साम्राज्यवादी हित केवल फ्रांस से ही नहीं वरन आस्ट्रिया के हित से भी टकराते थे। इस कारण इटली बहुत दिनों तक त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं रह सका। आगे चलकर वह त्रिगुट से निकल गया। वास्तव में इस संधि का कारण इटली का फ्रांस के प्रति क्रोध था, जर्मन तथा आस्ट्रिया के प्रति सद्‌भावना नहीं।

जर्मन-रूस पुनराश्वासन संधि
(The Re-insurance Treaty)

हम कह चुके हैं कि 1881 ई० में बर्लिन में रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी के बीच एक संधि हुई थी, जिसके आधार पर तीन सम्राटों के संघ को फिर से जीवित किया गया था। लेकिन, इस संधि के साथ अनेक कठिनाइयां थीं। तीन सम्राटों का संघ और 1879 की आस्ट्रो-जर्मन-संधि का एक साथ निभना कठिन था। इसके अतिरिक्त बाल्कन-प्रायद्वीप के संबंध में रूस और आस्ट्रिया के हितों में इतना विरोध था कि जर्मनी के लिये उन दोनों शक्तिशाली राज्यों में संतोषजनक संबंध स्थापित कराते रहना संभव नहीं था। बाल्कन समस्याओं से अपने को अलग रखना आस्ट्रिया के लिए असंभव था। जार को आस्ट्रिया पर कभी नहीं दूर होनेवाला घोर अविश्वास था। इस अविश्वास को उसके सलाहकार और भी बद्धमूल कर रहे थे। यही कारण है कि 1881 के बर्लिन संधि को 1887 में जार ने दुहराने से इंकार कर दिया और तीन सम्राटों के संघ की समाप्ति हो गयी। किसी तरह 1881 की संधि पुनः कायम हो जाय इसके लिए बिस्मार्क ने लाखों यत्न किये, लेकिन जार अपनी जिद्द पर अड़ा रहा।

बिस्मार्क नहीं चाहता था कि 1881 के त्रिदलीय समझौते को यों ही 'चूल्हें में फेंक दिया जाय।' पर जब उसने यह देखा कि जार का आस्ट्रिया के प्रति अविश्वास किसी भी तरह दूर होनेवाला नहीं है तो उसने निर्णय किया कि वह आस्ट्रिया के अनावश्यक आक्रामक नीति के कारण रूस से अपने संबंध नहीं बिगड़ने देगा। इन्हीं दिनों बूलॉजे आंदोलन के चलते फ्रांस और जर्मनी का संबंध बहुत बिगड़ गया था और अफवाह भी जोरों से फैल रही थी कि फ्रांस और रूस में एक संधि के लिए वार्ताएं शुरू हो गयी हैं। इन सब बातों ने बिस्मार्क को बड़े पेशोपेश में डाल दिया। वह रूस को छोड़ना नहीं चाहता था। अतः जब रूस ने यह प्रस्ताव रखा कि आस्ट्रिया को बिना शामिल किये ही जर्मनी और रूस एक पृथक संधि करें, तो बिस्मार्क इसके लिए तुरंत तैयार हो गया। 1887 में आस्ट्रिया से छिपाकर जर्मनी और रूस के बीच एक दूसरी संधि हुई जिसको पुनराश्वासन संधि (Re-insurance Treaty) कहते हैं। इस संधि के अनुसार रूस और जर्मनी के बीच यह तय हुआ कि यदि उनमें से कोई एक किसी तीसरे देश से युद्ध में फंस जाय तो दूसरा पक्ष उस युद्ध में तटस्थ रहेगा तथा युद्ध के स्थानीयकरण के हेतु पूरा प्रयत्न करेगा। यह रक्षात्मक व्यवस्था बिस्मार्क की दृष्टि में सर्वथा संतोषजनक थी। फ्रांस पर आक्रमण करने का जर्मनी का कोई इरादा नहीं था। यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करता है तो उसके लिए 1879 के आस्ट्रो-जर्मन संधि की शर्तों के अनुसार आस्ट्रिया की तटस्थता से उसका दक्षिणी सीमान्त सुरक्षित था। पुनराश्वासन संधि से अब रूस की तटस्थता के फलस्वरूप जर्मनी की पूर्वी सीमा की सुरक्षा की भी गारंटी मिल गयी।

संधि की शर्तों के मुताबित जर्मनी ने यह वादा किया कि वह बाल्कन प्रायद्वीप में रूस के हितों का विरोध नहीं करेगा। दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को यह आश्वासन भी दिया कि बाल्कन प्रायद्वीप की स्थिति में बिना पारस्परिक सहमति के वे कोई परिवर्तन नहीं होने देंगे। यह भी माना गया कि यदि रूस अपने साम्राज्य के हितों में कृष्ण सागर के प्रवेश द्वार की रक्षा के लिए कोई कदम उठाना आवश्यक समझे तो जर्मनी उसके प्रति तटस्थ रहेगा तथा रूस को अपना नैतिक और राजनीतिक समर्थन प्रदान करेगा।

इस युग की अन्य संधियों की तरह इस संधि की शर्तें भी गुप्त रखी गयीं।

रूमानिया के साथ संधि : बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति की बदौलत त्रिगुट का निर्माण तो कर लिया, लेकिन इससे उसका काम नहीं चल रहा था। वह रूमानिया को भी अपने गुट में शामिल कर लेना चाहता था। अतएव बिस्मार्क के प्रयास से पहले रूमानिया और आस्ट्रिया के बीच 30 अक्टूबर, 1888 को एक संधि हुई। इसके द्वारा रूमानिया त्रिगुट का समर्थक हो गया। संधि के अनुसार तय हुआ कि यदि किसी हस्ताक्षरकारी पर दूसरे राज्य ने (रूस ने) आक्रमण किया तो वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे। यद्यपि संधि की किसी धारा में रूस के नाम का उल्लेख नहीं किया गया लेकिन 'दूसरे राज्य द्वारा आक्रमण' से रूस की ओर ही संकेत था। संधि की शर्त पूर्णतया गुप्त रखी गयी थी। उसी दिन जर्मनी भी इस संधि में शामिल हो गया। वह संधि प्रथम विश्व युद्ध तक कायम रही।

फ्रांस के साथ संबंध : बिस्मार्क की कूटनीति ने फ्रांस को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एकदम अकेला कर दिया। उसको स्पष्टतः पता चल गया कि जर्मनी से बदला लेना आसान नहीं है। लेकिन इस स्थिति में पहुंचने पर भी फ्रांस आल्सेस-लोरेन को कभी नहीं भूला। अगले वर्षों में बिस्मार्क यही प्रयास करता रहा कि फ्रांस किसी तरह इस घटना को भूल जाय। इसके लिये वह फ्रांस का ध्यान आल्सेस-लोरेन से खींचकर औपनिवेशिक विस्तार की ओर लगाना चाहता था जिससे फ्रांस को खोये हुए प्रान्तों के विषय में सोचने का मौका नहीं मिले। उसने कई बार फ्रांस को आश्वासन दिया कि यदि वह ट्यूनिस पर अधिकार जमाना चाहता है तो इस काम में जर्मनी उसका हर तरह से समर्थन करने के लिए तैयार है। अन्य औपनिवेशिक बातों पर भी उसने फ्रांस का समर्थन करने का वचन दिया। इतना होने पर भी फ्रांस के लोग आल्सेस-लोरेन को नहीं भूले।

बूलांजे आंदोलन : 1886 के बाद फ्रांस में जर्मन-विरोधी भावना अत्यन्त उग्र हो गयी और इसने एक आंदोलन का रूप ले लिया। इस आंदोलन की जड़ में बूलांजे (Boulanger) नामक एक सैनिक अफसर था। जनवरी 1866 में वह युद्ध मंत्री के पद पर नियुक्त किया गया। बूलांजे एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था जो फ्रांसीसी गणराज्य का अंत कर स्वयं तानाशाह बनना चाहता था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह काम करने लगा। पहले तो उसने सेना को प्रसन्न करके अपने पक्ष में करना चाहा। फिर जर्मनी के विरुद्ध जनता की भावना को उभाड़कर अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया। वह बराबर कहा करता था कि "आल्सेस-लोरेन में वे हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" फ्रांसीसी जनता बहुत पहले से जर्मनी से बदला लेने के लिए उतावली हो रही थी। जब जनरल बूलांजे खुलेतौर पर प्रतिशोध की बात करने लगा तो बहुत से व्यक्ति उसके कट्टर समर्थक हो गये। 1888 में जब फेरी मंत्रिमंडल का पतन हो गया तो बूलांजे को एक प्रांतीय सेना का सेनापति बना दिया गया। एक दिन वह बिना छुट्टी लिए ही पेरिस लौट आया। इस पर सरकार ने उसे पदच्युत कर दिया। इसके बाद वह प्रतिनिधि सभा की कई क्षेत्रों से चुनाव लड़ा और पांच महीने में कई बार निर्वाचित भी हो गया। गणतंत्र के लिए एक महान संकट उपस्थित हो गया। यदि इस समय वह नेपोलियन की तरह सत्ता हस्तगत करने का यत्न करता तो सफल हो जाता, लेकिन वह डरपोक था। सरकार ने उस पर राज्य के विरुद्ध षडयंत्र रचने का अभियोग लगाया और कुछ दिनों के बाद उसने आत्महत्या कर ली।

बूलांजे के इस अभ्युदय से फ्रांस और जर्मनी का संबंध बहुत खराब हो गया। युद्ध-मंत्री की हैसियत से बूलांजे ने यह आदेश दिया कि पूर्वी सीमा पर अधिक-से-अधिक सेना रखी जाय और इसके लिए बड़े-बड़े बैरक बनने लगे। इस पर बिस्मार्क के कान खड़े हुए और उसने भी पश्चिमी सीमा पर एक बहुत बड़ी सैनिक टुकड़ी को तैनात कर दिया। इसको लेकर 1886 के अन्त में ऐसा प्रतीत होने लगा कि दोनों देशों के बीच पुनः लड़ाई छिड़ जायगी। लेकिन कई कारणों से ऐसा नहीं हो सका। बिस्मार्क को इन सारी घटनाओं की जानकारी होती रही और वह इसको लेकर बहुत चिंतित रहने लगा। अतएव जर्मनी की सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए उसने रीहस्टाग से 1887 में एक कानून पास करवाकर जर्मनी की सेना की संख्या को दुगुनी करा दिया। पेरिस में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अगले वर्ष वहां भी बजट में सेना पर बहुत अधिक खर्च करने का निश्यच किया गया। सैनिक खर्च में इस तरह की वृद्धि हो रही थी कि इसको लेकर 1888 में पुनः दोनों देशों में एक-दूसरे के विरुद्ध भावना काफी बढ़ गयी और लगने लगा कि दोनों के बीच युद्ध होकर रहेगा।

च्नाबेल कांड : इसी समय एक च्नाबेल कांड (Schnaebele Crisis) लेकर भी दोनों देशों का संबंध खराब हुआ। च्लाबेल एक फ्रांसीसी पुलिस अफसर था। 20 अप्रैल, 1887 को जर्मनी की भूमि पर उसे कैद कर लिया गया और उस पर यह आरोप लगाया कि वह जासूसी का काम कर रहा था। फ्रांस के लोगों ने कहा कि उसे धोखे से जर्मन सीमा के अंदर ले जाया गया था और जानबूझ कर उसको फंसाने के लिए जर्मन सीमान्त के अधिकारियों ने ऐसा किया था। दोनों देशों में इस कांड को लेकर काफी हल्ला मचा। जब बिस्मार्क को इस बात का पता चला कि च्नाबेल ने जर्मन अधिकारियों के आमंत्रण पर सीमा पार किया था तो उसने उसे तुरंत मुक्त करने की आज्ञा दे दी।

बूलांजे आंदोलन और च्नाबेल कांड से जर्मनी और फ्रांस के बीच लड़ाई तो नहीं हो सकी, पर इन घटनाओं ने फ्रांस और रूस के बीच संधि का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसी समय से फ्रांस और रूस के बीच मेल-मिलाप की बात चलने लगी।

बिस्मार्क की विदेश-नीति की समीक्षा

बिस्मार्क का पतन : सम्राट विलियम प्रथम की मृत्यु 1888 में हुई। उसके मरने के बाद विलियम द्वितीय जर्मनी का सम्राट हुआ। विलियम की उम्र उस समय केवल उनतीस वर्ष की थी। अनभुवहीन होने पर भी वह बहुत ही महत्वाकांक्षी था। वह राज्य के संपूर्ण मालमों में हस्तक्षेप करना चाहता था। बिस्मार्क जैसे व्यक्ति के

लिए वह असह्य था। उसने क्रुद्ध होकर अपना त्यागपत्र दे दिया। विलियम ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। राज्यरूपी जहाज का वह महासंचालक, जो वर्षों से इस जहाज को आंधी और तूफान से बचाकर चलता आ रहा था, अन्त में विलियम के द्वारा हटा दिया गया। यह घटना जर्मनी के लिए अच्छी नहीं थी। विलियम ने बिस्मार्क के त्यागपत्र को स्वीकार करते हुए कहा भी था, "ईश्वर की इच्छा के सम्मुख मनुष्य क्या कर सकता है ?"

जर्मनी के हित के लिए बिस्मार्क से जो कुछ हो सकता था उसने वह किया। उसके विचार में नवीन जर्मनी को सबसे बड़ा खतरा फ्रांस से था। बिस्मार्क की कूटनीति ने फ्रांस को अहासय बना दिया था। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस बिल्कुल अकेला पड़ गया। अपने त्यागपत्र देने से पहले उसने यूरोप में गुटबंदी का जाल-सा बिछा दिया था और इस जाल में इटली, आस्ट्रिया और रूस तीनों फंस चुके थे। इतनी गुटबंदी के बाद अगर आस्ट्रिया जर्मनी पर चढ़ाई करता तो रूस की तटस्थता उसके पक्ष में थी। अगर जर्मनी पर रूस आक्रमण करता तो उसे आस्ट्रिया की तटस्थता प्राप्त थी। इसी तरह यदि जर्मनी और फ्रांस के बीच युद्ध होता तो जर्मनी को इटली की सहायता प्राप्त थी और अगर रूस तथा फ्रांस मिलकर जर्मनी पर आक्रमण करते तो जर्मनी को इटली तथा आस्ट्रिया की संयुक्त सहायता प्राप्त होती। जर्मनी को अब किसी यूरोपीय शक्ति की परवाह नहीं थी। फ्रांस असहाय हो चुका था; यूरोपीय राजनीति में अब उसका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रह गया था। बिस्मार्क की कूटनीति से यूरोप का नेता अब जर्मनी था। वह यूरोप के पांच शक्तिशाली राष्ट्रों—आस्ट्रिया, फ्रांस, रूस, ब्रिटेन तथा इटली को कठपुतली की तरह सफलतापूर्वक नचाया करता था। विलियम प्रथम के शब्दों में बिस्मार्क एक बाजीगर था जो एक ही साथ पांच गेंदों—रूस, आस्ट्रिया, फ्रांस, इटली तथा ब्रिटेन—को आकाश में उछालता रहता था।

त्रिगुट में अन्तर्विरोध : बिस्मार्क ने अंतर्राष्ट्रीय पद्धति का प्रारंभ किया उसमें अनेक कमजोरियां थीं। अनेक 'कठपुतलियों' को एक साथ नचाना एक कठिन और जटिल काम था। बिस्मार्क ही ऐसा 'बाजीगर' था जो इस जटिल कार्य को सरलता और सफलतापूर्वक संपन्न कर सकता था। इसमें कोई शक नहीं कि बिस्मार्क की नीति के फलस्वरूप फ्रांस कुछ दिनों के लिए यूरोपीय राजनीति में असहाय हो गया और उसके लिए अपने राष्ट्रीय अपमान का बदला लेना असंभव सा हो गया। बिस्मार्क की नीति से यूरोपीय शांति और यथास्थिति, जिसको वह बनाये रखना चाहता था, कायम रही। लेकिन यह समझ लेना सर्वथा गलत होगा कि यह शांति और यथास्थिति बिस्मार्क की गुटबंदी पद्धति के कारण कायम रही। बिस्मार्क के कार्यकाल में शांति एकमात्र इसी कारण बनी रही कि उसने इसका प्रबल समर्थन किया। बिस्मार्क जबतक जर्मन का चांसलर रहा तबतक वह यूरोपीय शांति का जबर्दस्त समर्थन करता रहा और उसने अपनी सारी राजनीतिक कुशलता इस शांति को कायम रखने में लगा दी। यह कहना एक बहुत बड़ा भ्रम होगा कि गुटबंदी से यूरोपीय शांति कायम रही। राष्ट्रों की गुटबंदी से न आज तक भी विश्व में शांति रही है और न भविष्य में कभी रह सकती है। और, बिस्मार्क की गुटबंदी-पद्धीति से शांति की आशा करना तो केवल अपने को भ्रम में रखना है; क्योंकि वह परस्पर विरोधी हितों से पूर्ण थी।

बिस्मार्क के गुट में आस्ट्रिया, रूस और इटली थे। इन तीनों राज्यों के हित एक-दूसरे से टकराते थे और उनमें परस्पर समन्वय एकदम असंभव था। आस्ट्रिया और रूस के लिए एक गुट में रहना एकदम कठिन था। कारण, इन दोनों के हित और स्वार्थ बाल्कन प्रायद्वीप में टकराते थे और वे हित एक-दूसरे के इतने विरोधी थे कि उन पर इन दोनों राज्यों में कभी मेल नहीं हो सकता था। इसी तरह आस्ट्रिया और इटली को भी एक गुट में रखना असंभव कार्य था। यद्यपि फ्रांस के विद्वेष से इटली त्रिगुट में शामिल हो गया, पर वस्तुतः आस्ट्रिया के साथ उसका हित-विरोध बहुत अधिक था—खासकर एड्रियाटिक सागर के तट पर इटली और आस्ट्रिया के स्वार्थों में गहरा विरोध था। इसलिए इटली कभी भी त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं रहा। यही हालत रूस की भी थी। यह कहना कि रूस आस्ट्रिया से घृणा करता था, कोई अतिरंजित नहीं होगा। रूस ज्यों-ज्यों बाल्कन

प्रायद्वीप में आस्ट्रिया के प्रभाव को बढ़ते हुए देखता था त्यों-त्यों उसकी चिंता बढ़ती थी और वह किसी ऐसे मित्र की तलाश में था, जो आस्ट्रिया के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में उसकी मदद कर सके। ऐसा मित्र फ्रांस ही हो सकता था और यही कारण है कि बिस्मार्क के कार्यकाल में ही रूस फ्रांस की तरफ झुकने लगा था।

ब्रिटेन की उपेक्षा : बिस्मार्क की गुटबंदी पद्दित के और अवगुण थे। इसकी नींव—त्रिगुट तो कमजोर थी ही, इस पद्धति की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें ब्रिटेन के लिए कोई स्थान नहीं था। उस समय ब्रिटेन विश्व का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र था। ऐसे राष्ट्र द्वारा बढ़ायी गयी दोस्ती के हाथ को स्वीकार करने से बिस्मार्क ने इन्कार कर दिया, क्योंकि ब्रिटेन से दोस्ती करने का अर्थ था रूस को अप्रसन्न करना। जमाने से रूस और ब्रिटेन एक-दूसरे के शत्रु थे। अर्से से रूस बाल्कन प्रायद्वीप में प्रवेश करने की आकांक्षा पाल रहा था। और, इसी तरह तुर्की साम्राज्य का नाश कर भूमध्यसागर पर आधिपत्य स्थापित कर ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य पर आक्रमण करने का मनसूबा बांध रहा था। ब्रिटेन रूस की इस नीति से बहुत सशंकित था। ऐसी स्थिति में अगर बिस्मार्क ब्रिटेन से मिल जाता तो रूस जर्मनी का साथ न देता। बिस्मार्क के लिए रूस की मित्रता जितनी मूल्यवान थी उतनी ब्रिटेन की नहीं, क्योंकि रूस पड़ोसी राज्य था और जर्मनी पर आसानी से चढ़ाई कर सकता था। अतः ब्रिटेन के बदले रूस को अपनाना जर्मनी के लिए कोई गलत नीति नहीं थी। पर इस तर्क से ब्रिटेन को बिस्मार्क की अंतर्राष्ट्रीय पद्धति में स्थान नहीं देने को ठीक नहीं साबित किया जा सकता है। जिस नीति से एक-दूसरे के शत्रु आस्ट्रिया और रूस एक गुट से सदस्य हो सकते थे उसी नीति से एक दूसरे के शत्रु रूस और ब्रिटेन भी एक गुट के सदस्य हो सकते थे। यह बिस्मार्क की गलती थी कि उसने ब्रिटेन को अपने पक्ष में नहीं मिलाया। यद्यपि ब्रिटेन को बिस्मार्क अपने गुट का सदस्य नहीं बना सका तथापि उसने जी-जान से यह कोशिश की कि ब्रिटेन और जर्मनी का संबंध अच्छा बना रहे और बिस्मार्क के पदत्याग के बहुत दिनों बाद तक भी आंग्ल-जर्मन संबंध अच्छा रहा। लेकिन यह भी सत्य है कि ब्रिटेन बिस्मार्क की गुटबंदी प्रथा से भीतर-ही-भीतर काफी भयभीत हो रहा था। उस समय ब्रिटेन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उदासीनता की नीति अपनाये हुये था। बिंस्मार्क की गुटबंदी प्रथा से ब्रिटेन को खतरा पहुंचने की संभावना थी। अतः ब्रिटेन में उदासीनता की नीति को परित्याग करने की बात चल पड़ी। कुछ दिनों के बाद ब्रिटेन ने इस नीति का परित्याग कर दिया और जब जर्मन की गुटबंदी काफी खतरनाक हो गयी तो उसके विरुद्ध ब्रिटेन ने भी एक गुट का निर्माण किया। अतएव बिस्मार्क पर यह दोषारोपण किया जा सकता है कि उसने अपनी नीति से ब्रिटेन को जर्मनी के खिलाफ गुट कायम करने के लिए बाध्य किया।

यही बात फ्रांस के साथ भी लागू हो सकती है। फ्रांस को 1871 में पराजित करने के बाद बिस्मार्क को दो में से कोई एक काम करना चाहिए था। फ्रांस को या तो इस बात पर किसी तरह राजी करा लेना चाहिये था कि वह 1871 की बातों को भूल जाय और जर्मनी से बदला लेने की इच्छा का परित्याग कर दे। लेकिन, यह कुछ कठिन काम था और फ्रांस अपने राष्ट्रीय अपमान को आसानी से नहीं भूल सकता था। बिस्मार्क का दूसरा काम यह हो सकता था कि फ्रांस को सैन्य- शक्ति की दृष्टि से इतना कमजोर बना देता, जिससे फ्रांस को जर्मनी से बदला लेने की कभी हिम्मत ही नहीं होती, पर बिस्मार्क इन दोनों में एक भी काम नहीं कर सका। इसके विपरीत फ्रांस के खिलाफ गुट कायम करके उसने फ्रांस को बाध्य किया कि वह भी दुनिया में अपने लिये मित्र ढूंढे।

नवीन पद्धति : इस प्रकार बिस्मार्क अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक कठिन और जटिल समस्या छोड़ गया। उसने जिस अंतर्राष्ट्रीय नीति का आरंभ किया था उसका संचालन स्वयं वही कर सकता था। विलियम द्वितीय जैसा अनुभवहीन व्यक्ति उस नीति का संचालन करने में अयोग्य और असमर्थ था। इसके लिए बिस्मार्क भी कम जिम्मेवार नहीं था। उसने यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक ऐसी नवीन पद्धति का सूत्रपात किया जो कूटनीतिक इतिहास के लिये एक बिल्कुल नयी चीज थी। पहले भी गुट बना करते थे। परन्तु उसका निर्माण

युद्धकाल में होता था और वे युद्ध के लिये तथा प्रायः युद्धकाल तक ही रहते थे। परन्तु बिस्मार्क ने शांतिकाल में युद्ध रोकने और शांति बनाये रखने के लिये तथा आत्मरक्षा के लिये गुट बनाने की प्रथा शुरू की। उसने आस्ट्रिया से मिलकर द्विगुट का निर्माण किया और इसमें इटली को शामिल करके उसे त्रिगुट का रूप दिया। रूस को भी उसने वर्षों तक 'तीन सम्राटों के संघ' में शामिल रखा। इन संधियों के अतिरिक्त उसने यूरोप में शांति बनाये रखने के उद्देश्य से 1881 में आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच तथा 1883 में आस्ट्रिया और रूमानिया के बीच भी संधियां करवायीं। वह इंगलैंड को भी अपने गुट में शामिल करना चाहता था। इसमें उसे सफलता तो नहीं मिली परन्तु उसने इंगलैंड के साथ अच्छा संबंध रखा। 1887 में उसने प्रोत्साहन देकर इंगलैंड, आस्ट्रिया तथा इटली के बीच भूमध्यसागर में यथास्थिति कायम रखने तथा अन्य शक्तियों के अतिक्रमण को रोकने के लिये समझौते करवाये। इस प्रकार उसने विभिन्न राज्यों से संधियां एवं समझौते करके जर्मनी के लिये एक बड़ी पेचीदी रक्षात्मक व्यवस्था की। इस व्यवस्था में बड़े पेंच, अन्तर्विरोध और कमजोरियां थीं।

इसके अतिरिक्त जैसा हम देख चुके हैं, बिस्मार्क की यह नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अत्यन्त पेचीदी थी। बिस्मार्क तो उसे संभाले रहा, परन्तु उसके बाद वह कायम न रह सकी। यद्यपि यह व्यवस्था शांति के लिए कायम की गयी थी और इससे कुछ समय के लिये शांति स्थापित भी रही, तो भी अन्त में उसने यूरोप को दो सशस्त्र शिविरों में विभक्त कर दिया और यह अनिवार्य कर दिया कि भावी युद्ध एक साधारण स्थानीय युद्ध न होकर एक यूरोपीय युद्ध हो।

FOOT NOTES

1. आल्सेस-लोरन को इस तरह जर्मनी में मिलाये जाने को प्रोफेसर मैंगसर ने "Major Psychological mistake is modren times." कहा है।—*N. Mansergh, The Coming of the First Worls War, p. 19*
2. "The whole Eastern Question was not worth the bones of a Pomeranian grensdier."

अध्याय 2

फ्रांस और रूस का द्विगुट

(The Franco-Russian Dual Alliance)

जर्मनी की विदेश नीति

पुनराश्वासन संधि का अंत : 1891 का फ्रांसीसी-रूसी समझौता, जिसकी परिणति तीन वर्ष बाद एक संधि में हुई, दोनों देशों में व्याप्त जर्मनी के विरुद्ध रोष की भावना का परिणाम था। आमतौर पर इतिहासकारों ने पुनराश्वासन संधि को फिर से नहीं जारी करने की घटना को फ्रांस-रूस द्विगुट के निर्माण का कारण बताया है। 1890 में बिस्मार्क के पदत्याग के बाद जर्मनी की नीति का संचालन स्वयं सम्राट विलियम के हाथों में आ गया। इसके परिणास्वरूप जर्मनी की विदेशनीति में आमूल परिवर्तन हुआ। बिस्मार्क रूस और जर्मनी की मित्रता को बहुत महत्व देता था। वह नहीं चाहता था की सेंट पीटर्सवर्ग और बर्लिन के मार्ग में कहीं किसी प्रकार की खाई उत्पन्न हो जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर अनेक कठिनाइयों के बावज़ूद उसने 1887 में रूस के साथ पुनराश्वासन संधि की थी। शर्त के अनुसार 1890 में इस संधि को दुहराया जाना चाहिए था। लेकिन ऐसा नहीं हो सका।

बिस्मार्क को अपदस्थ करने (17 मार्च, 1890) के बाद कैजर विलियम ने ऐसा कोई काम नहीं किया जिससे यह शंका हो कि वह रूस से संबंध विच्छेद करने का इरादा रखता था। 21 मार्च को उसने रूस के राजदूत से बातें कीं और उसे बतलाया कि "वह दोनों देशों के बीच के समझौता को कायम रखना चाहता है।" लेकिन इसी समय कैजर के कुछ सलाहकारों ने सम्राट को इस बात पर सहमत करा लिया कि पुनराश्वासन संधि का नवीनीकरण नहीं हो क्योंकि इसकी शर्तें "त्रिगुट संधि के मूल उद्देश्य के विरुद्ध" पड़ती थीं। यह भी भय था कि यदि जाने-अनजाने भूल से भी इस संधि की जानकारी दूसरों की हो जाती है तो त्रिगुट संधि खतरे में पड़ जायगी और इंगलैंड भी जर्मनी से नाराज हो जायगा।

जब जर्मनी के इस निर्णय की खबर सेंट पीटर्सबर्ग पहुंची तो जार ने अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, पर वयोवृद्ध रूसी मंत्री गीयर्स (Giers) इससे काफी चिंतित हुआ। उसे आशंका थी कि उसके बाद रूसी सैनिकवादियों और अखिल स्लाववादियों का प्रभाव सर्वोपरि हो जायगा तथा जर्मनी एवं रूस के संबंध इससे खतरे में पड़ जायेंगे। अतः पुनः पुनराश्वासन संधि की नवीकरण की बात उठायी। संधि में वह कोई भी ऐसा परिवर्तन करने को तैयार था जो जर्मनी चाहता। लेकिन जर्मनी के नेताओं को यह प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ और इस प्रकार पुनराश्वासन संधि खत्म हो गयी। अब फ्रांस की तरह रूस भी यूरोपीय राजनीति में अकेला पड़ गया। कैजर के विचार में बाल्कन प्रायद्वीप को लेकर रूस और आस्ट्रिया के बीच युद्ध अवश्यंभावी था और वह पहले से ही इस बात का निर्णय कर लेना चाहता था कि ऐसी स्थिति में वह किसका साथ दे—रूस का या आस्ट्रिया का। कैजर ने आस्ट्रिया का पक्ष लेना ही हितकर समझा। अतः उसने रूस की मित्रता की कुर्बानी कर दी।

इसी आधार पर कुछ इतिहासकारों ने पुनराश्वासन संधि को फिर से नहीं दुहराने को फ्रांस-रूस द्विगुट की स्थापना का कारण बताया है। पर यह अतिरंजना है जिसके लिए बहुत अंशों में स्वयं बिस्मार्क ही जिम्मेवार था। अपने अवकाश के काल में बिस्मार्क समाचारपत्रों में लेख लिखकर जर्मनी की नयी विदेश नीति की कटु आलोचना करने लगा। एक लेख में उसने लिखा : "जर्मनी जिस रास्ते पर आज चल रहा है उससे धीरे-धीरे उसके आस्ट्रिया पर निर्भर होने का खतरा उत्पन्न हो रहा है। आस्ट्रिया की बाल्कन नीति का मूल्य जर्मनी को अपने रक्त और धन से चुकाना होगा।" बिस्मार्क के इन लेखों ने इतिहासकारों में ऐसा भ्रम पैदा किया कि यह धारणा पक्की होती गयी कि फ्रांस और रूस के द्विगुट का निर्माण बिस्मार्क की नीति के परित्याग का प्रतिफल था। लेकिन केवल इसी बात को इसका कारण मान लेना एक भयंकर भूल होगी। द्विगुट की स्थापना के लिए और भी कई गंभीर कारण थे।

बिस्मार्क जर्मनी को एक तृप्त राष्ट्र मानता था। लेकिन कैजर की दृष्टि में जर्मनी एक ऐसा राष्ट्र था जिसका काफी विस्तार हो सकता था। बिस्मार्क के युग में जर्मनी की नीति यूरोप में यथास्थिति या शक्ति संतुलन बनाये रखने की थी। कैजर का कहना था कि "इस संसार में हमारे और हमारी सेना के सिवा दूसरा कोई शक्ति-संतुलन का सिद्धांत नहीं है।" कैजर की महत्वाकांक्षा थी कि जर्मनी संसार में शिरोमणि हो जाय। जर्मनी की दिलचस्पी केवल यूरोपीय राजनीति में ही नहीं थी बल्कि विश्व राजनीति में भी थी। वह चाहता था कि जर्मनी संसार का नेतृत्व करे और "जर्मन-सम्राट की अनुमति के बिना अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में पत्ता तक भी न हिल सके।" विश्व-राजनीति में दिलचस्पी का अर्थ था कि संसार में जर्मनी का भी औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित हो। कैजर को इसके लिए बहुत दुख था कि बिस्मार्क ने जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। जर्मनी की जनसंख्या बढ़ती जा रही थी। इस आबादी को बसाने के लिये दुनिया में कहीं जगह तो चाहिए ही। जर्मनी के उद्योगधंधे बढ़ रहे थे और औद्योगिक क्रांति तीव्र गति से प्रगति कर रही थी। इसके लिये जर्मनी को बाजार की आवश्यकता थी। अतः जर्मनी के लिये भी उपनिवेश एक जीवन-मरण का प्रश्न था।

उपनिवेश-विस्तार के साथ-साथ कैजर नौ-सेना की बातें करने लगा। कैजर की इच्छा थी कि जर्मनी प्रथम श्रेणी की सामुद्रिक शक्ति बन जाय जिससे समुद्र में भी जर्मनी का मुकाबला दूसरा राज्य न कर सके। अगर जर्मनी का प्रभाव समुद्र पर स्थापित नहीं हुआ तो ब्रिटेन उसे बराबर धमकाता रहेगा। अतः ब्रिटेन को शांत रखने के लिए जर्मनी को एक शक्तिशाली सामुद्रिक शक्ति बनना आवश्यक था।

इस तरह कैजर की विदेश-नीति के तीन आधार हो गये। विश्व-राजनीति, उपनिवेश और नौ- सेना। इस प्रकार की विदेश-नीति को अपनाकर कैजर विलियम ने बिस्मार्क द्वारा स्थापित अंतर्राष्ट्रीय पद्धति का पूर्णतया अंत कर दिया। 1878 की बर्लिन संधि के बाद जर्मनी तुर्की साम्राज्य की समस्या में दिलचस्पी लेने लगा था। तुर्की के सुलतान के दरबार में जर्मनी का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था। इससे रूस के साथ जर्मनी की प्रतिद्वंद्विता अनिवार्य हो गयी। नौ-सैनिक अड्डा कायम करने के लिए जुलाई 1890 में इंगलैंड और जर्मनी के बीच हेलिगोलैंड की संधि हुई। इससे रूस को यह संदेह हुआ कि जर्मनी ब्रिटेन की ओर झुक रहा है। इसी समय अखिल स्लाव आंदोलन ने जोर पकड़ा जिसके फलस्वरूप रूस और आस्ट्रिया के संबंध बहुत कटु हो गये और जर्मनी के लिये इन दोनों प्रतिद्वंद्वियों के बीच संतुलन बनाये रखना कठिन हो गया। कैजर विलियम द्वितीय को रूस और आस्ट्रिया में किसी एक को चुनना था। उसने आस्ट्रिया को चुना। अब रूस के समक्ष कोई विकल्प नहीं रहा। वह फ्रांस की ओर झुका और दोनों के बीच संधि हो गयी।

द्विगुट के निर्माण के कारण

फ्रांस और रूस यूरोप के दो ऐसे देश थे जिनकी परंपरा और संस्कृति कई माने में एक-दूसरे से भिन्न थी। एक क्रांतिकारी प्रवृत्तियों तथा गणतंत्रवाद का जन्मस्थल था तो दूसरा एकतंत्र निरंकुशवाद का गढ़। उनके बीच और भी कई वैचारिक मतभेद थे। फिर भी 1894 में उनके बीच एक संधि संपन्न हुई। इसके निम्न कारण थे—

फ्रांस द्वारा मित्र की तलाश : बिस्मार्क की कूटनीति के कारण फ्रांस कुछ दिनों के लिये यूरोपीय राजनीति में बिल्कुल अकेला पड़ गया था। 1871 के बाद से फ्रांस की ऐसी दशा हो गयी थी कि यूरोप में उसको कोई सहायक नजर नहीं आ रहा था। फ्रांस को जर्मनी से अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेना था और आल्सेस-लोरेन के प्रांत को पुनः प्राप्त करना था; पर जर्मनी उस समय यूरोप का सर्वशक्ति संपन्न राज्य था। मध्य यूरोप के सभी शक्तिशाली राज्य उसके दोस्त थे। ऐसी स्थिति में अकेले रहकर फ्रांस किस प्रकार अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता था ? अतएव फ्रांस एक ऐसे मित्र की तलाश में था जो समय पड़ने पर जर्मनी के विरुद्ध उसकी मदद करे।

रूस द्वारा मित्र की तलाश : रूस में कुछ ऐसे व्यक्ति थे, जो रूस और जर्मनी के बीच अच्छा संबंध बनाये रखना चाहते थे। रूस के विदेश-मंत्री गियर्स इसको परम आवश्यक समझता था। इसलिए उसने पुनराश्वासान संधि को 1889 में दुहराने का प्रयत्न भी किया था। कैजर विलियम जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, इस संधि को दुहराना नहीं चाहता था। फलतः 1890 में यह संधि समाप्त हो गयी। अब रूस भी फ्रांस की तरह यूरोपीय राजनीति में अकेला पड़ गया। ऐसी स्थिति में रूस, फ्रांस की तरह, एक ऐसे मित्र की तलाश में था जो समय पड़ने पर उसकी मदद कर सके।

बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति : बहुत दिनों से रूस की आकांक्षा थी कि वह पूर्वी यूरोप को अपने साम्राज्य में शामिल कर ले। पूर्वी यूरोप के अधिकांश लोग स्लाव-नस्ल के थे और ग्रीक चर्च में विश्वास करनेवाले ईसाई थे। रूस का जार अपने को दुनिया के सभी स्लाव-नस्ल के लोगों तथा ग्रीक चर्च के ईसाइयों का नेता मानता था। उसकी बड़ी इच्छा थी कि वह अपने नेतृत्व में इन सभी लोगों को एक सूत्र में बांधे। यूरोप के इस हिस्से का अधिकांश भाग तुर्की साम्राज्य के अंतर्गत पड़ता था। रूस की आकांक्षा तभी पूरी हो सकती थी जब तुर्की-साम्राज्य का विनाश हो जाता। लेकिन, ब्रिटेन और आस्ट्रिया रूस की इस आकांक्षा के बहुत बड़े विरोधी थे। ब्रिटेन के हितों की रक्षा इसी बात में थी कि तुर्की साम्राज्य किसी तरह कायम रहे। आस्ट्रिया स्वयं बाल्कन प्रायद्वीप में अपना विस्तार करना चाहता था। इस तरह आस्ट्रिया और रूस के हित परस्पर टकराते थे और जर्मनी आस्ट्रिया का मित्र था। ऐसी स्थिति में रूस को अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये कोई दूसरा रास्ता ढूंढ़ना आवश्यक था।

तुर्की साम्राज्य की रक्षा में केवल ब्रिटेन को ही दिलचस्पी नहीं थी, बल्कि इधर हाल से जर्मनी भी उसमें दिलचस्पी लेने लगा था। जर्मनी अपने साम्राज्य विस्तार के लिए तुर्की को अपना मित्र बनाना चाहता था। इससे रूस और भी सशंकित हो उठा। जर्मनी और रूस के बीच इस प्रश्न को लेकर बिस्मार्क के जमाने से ही मनमुटाव शुरू हो गया था। जार एलेक्जेंडर फर्डिनेण्ड के बुल्गेरिया के राजकुमार के रूप में निर्वाचन पर मन-ही-मन रुष्ट था। जार की धारणा थी कि उसने बिस्मार्क के कहने पर ही यह राजपद स्वीकार किया था। जार की दृष्टि में यह बिस्मार्क की रूस-विरोधी षड़यंत्र था। इस कारण कुछ समय के लिए जार के मन में बिस्मार्क के प्रति वैसे ही कटुतापूर्ण दुर्भावना भर गयी जैसी फ्रांसीसियों के मन में थी। एक तरफ तो बिस्मार्क कहता था कि तुर्की साम्राज्य में जर्मनी की कोई रुचि नहीं है। दूसरी ओर वह जर्मनी के सैनिक अधिकारियों को तुर्क सैनिकों के प्रशिक्षण के लिये कान्स्टेन्टनोपुल भेज रहा था। इसके अतिरिक्त उपनिवेश

कायम करने के क्रम में जर्मनी को कुछ सामुद्रिक अड्डे की आवश्यकता थी। जुलाई, 1890 में ब्रिटेन और जर्मनी के बीच हेलिगोलैंड की संधि हुई। संधि के अनुसार जर्मनी ने जंजीबार के समीप अफ्रीकी भूमि की एक काफी बड़ी पट्टी पर अपना कब्जा छोड़ दिया। उसके बदले उसको हेलिगोलैंड पर अधिकार प्राप्त हुआ। इस पर रूसी यह संदेह करने लगे कि जर्मनी ब्रिटेन की ओर झुक रहा है। यह भी आशंका व्यक्त की गयी कि दोनों के बीच कोई गुप्त समझौता भी हुआ है। रूस और जर्मनी के बीच तनाव का यह एक बहुत बड़ा कारण था।

त्रिगुट का दुहराया जाना : 1887 में त्रिगुट संधि के दुहराये जाने से रूस और जर्मनी के परस्पर संबंध और भी बिगड़ने लगे। इन संधि की शर्तें गुप्त रखी गयी थीं। इस कारण जार को यह भय हो रहा था कि इसमें कुछ ऐसी बातें भी होंगी जिनका पूर्वी भूमध्यसागर में रूसी महत्वाकांक्षाओं का विरोध हो। त्रिगुट संधि की नवीनीकरण के कुछ ही दिन बाद इटली का नया प्रधानमंत्री क्रिस्पी (Crispi) बिस्मार्क से मिला और उसके बाद एक संवाददाता को एक भेंट में बताया गया कि अन्य महाशक्तियों की तरह इटली भी रूस की महत्वाकांक्षा से भयभीत है और भूमध्यसागर को कदापि रूसी झील नहीं बनने दिया जायगा। इटली के प्रधानमंत्री के इस वक्तव्य से जार का संदेह और भी दृढ़ हो गया।

फ्रांसीसी ऋण : इस तरह रूस और जर्मनी के आपसी संबंध दिनोंदिन बिगड़ रहे थे। इसके विपरीत रूस और फ्रांस के बीच मेल-मिलाप का वातावरण तैयार हो रहा था। ठीक इसी समय रूस में एक भयंकर वित्तीय संकट उपस्थित हुआ। साम्राज्य विस्तार की विविध योजनाओं में रूसी सरकार बहुत खर्च कर रही थी और इसको राष्ट्रीय आमदनी से पूरा नहीं किया जा सकता था। कुछ अन्य कारण भी इस वित्तीय संकट के लिए जिम्मेवार थे। इस संकट का मुकाबला करने के लिए रूसी सरकार ने कई आदेश जारी किये। पश्चिमी रूस में विदेशियों का भूसंपत्ति खरीदने, जमींदारों का मैनेजर नियुक्त होने आदि बातों पर रोक लगा दी गयी। रूस में जर्मनी की काफी भू-संपत्ति थी और कई जर्मन वहां जमींदारों की नौकरी में थे। अतः जर्मनी ने इस आदेश को अपने विरुद्ध माना तथा जर्मन अखबारों ने इस रूसी कार्रवाई के खिलाफ एक सुनियोजित अभियान शुरू कर दिया। रूसी नेताओं की शंका थी कि यह सब कुछ बिस्मार्क की प्रेरणा से हो रहा है।

वित्तीय संकट के समाधान के लिए रूस को कर्ज तथा विदेशी पूंजी की आवश्यकता थी। जर्मनी के रुख को देखकर रूसी नेता तत्काल इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि विदेशी ऋण के लिए रूस को फ्रांस की ओर देखना चाहिए। इन दिनों फ्रांस भी पूंजी लगाने के लिए बाजार की तलाश में था। अतः फ्रांस के पूंजीपतियों ने रूस को कर्ज देने में काफी उत्साह दिखाया। इस घटना में जर्मनी का आशंकित होना स्वाभाविक था क्योंकि अन्ततः इसका राजनीतिक महत्व था। अतः जर्मन अखबारों ने फ्रांसीसी पूंजीपतियों को विरत करने की बहुत कोशिश की, पर इसका कोई असर नहीं हुआ और फ्रांस की योजना को अपूर्व सफलता मिली। रूस और फ्रांस की संधि में इस बात से बड़ी सहायता मिली।

सैनिक सहयोग : वित्तीय सहयोग के बाद सैनिक सहयोग की बारी आयी। फ्रांस में इस समय एक नये प्रकार की रायफल (Lebel Rifle) बन रही थी। इस समय जार का भाई पेरिस के यात्रा पर आया। जब उसने लेबेल रायफल देखा तो उससे वह अत्याधिक प्रभावित हुआ। उस समय रूस में सेना के पुनर्गठन का कार्य जारी था। इसके लिए लेबेल रायफल आवश्यक माना गया। फ्रांस और रूस के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार फ्रांस ने रूस को हजार रायफल देने का वादा किया। इससे रूस और फ्रांस एक-दूसरे के और निकट आ गये।

त्रिगुट संधि का नवीनीकरण : 1890 में पूरे वर्ष और उसके बाद भी कई घटनाओं के कारण फ्रांस में उग्र राष्ट्रवाद का नया ज्वार आया तो रूस के साथ संधि करने की इच्छा और भी बलवती हुई। बिस्मार्क के पतन के बाद कैजर भी फ्रांस की सद्भावना प्राप्त करने की कोशिश करता रहा। वह उन सभी औपनिवेशक

प्रश्नों पर जिनमें जर्मनी के हित सन्निहित नहीं थे, फ्रांस का समर्थन करता रहा। उसने जर्मन कला प्रदर्शनी में भाग लेने के लिए फ्रांस के प्रतिनिधि दल को आमंत्रित किया। लेकिन फ्रांस के समाचार-पत्रों ने इस निमंत्रण को स्वीकार नहीं करने के लिए एक अभियान चलाया और इस दबाव में इसे अस्वीकार कर दिया गया। कैजर ने अपनी माता को पेरिस का यात्रा पर भी रवाना किया। लेकिन वहां उसके विरुद्ध घोर प्रदर्शन हुआ। कैजर के प्रयासों के बावजूद जर्मनी फ्रांस की सद्भावना नहीं प्राप्त कर सका।

उधर रूस भी जर्मनी से विमुख होता जा रहा था। हेलिगोलैंड की संधि को संपन्न करने के लिए कैजर 1890 की गर्मियों में इंगलैंड गया। इस पर रूस और सशंकित हुआ। लंदन के प्रमुख अखबार मीनिंग पोस्ट ने इसी समय एक संपादकीय टिप्पणी में लिखा कि यूरोपीय राजनीति से ब्रिटेन के पृथक रहने का जमाना अब खत्म हो चुका है। इससे रूस की शंका और भी दृढ़ हुई। इसके तुरंत बाद जर्मन संसद में जर्मनी की सेना में वृद्धि की प्रस्ताव आया। इस प्रस्ताव ने रूसियों को बहुत अधिक चिंतित कर दिया।

फ्रांस और रूस दोनों देशों के नेताओं को यह आशा थी कि बिस्मार्क की बर्खास्तगी के उपरांत त्रिगुट संधि या तो समाप्त हो जायेगी या कमजोर पड़ जायेगी। लेकिन ऐसी कोई बात नहीं हुई और ठीक समय पर इस संधि का नवीनीकरण कर दिया गया। इसकी जानकारी संसार को इटली के प्रधानमंत्री रूदिनी (Rudini) के एक वक्तव्य से मिली। त्रिगुट की चर्चा करते हुए उसने ब्रिटेन का उल्लेख कुछ इस प्रकार किया जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि त्रिगुट संधि के साथ ब्रिटेन का भी कोई संबंध हो सकता है। रूस और फ्रांस को चिंतित करने के लिए यह पर्याप्त था। फ्रांसीसी कला प्रतिनिधि दल द्वारा जर्मन निमंत्रण अस्वीकार किया जाना तथा साम्राज्ञी फ्रेडरिक के विरुद्ध पेरिसवालों का प्रदर्शन से फ्रांस और जर्मनी में घोर कटुता आ गयी थी। वैसे ही हेलिगोलैंड संधि तथा जर्मन सेना में वृद्धि के प्रस्ताव से रूस रुष्ट था। त्रिगुट संधि का नवीनीकरण तथा इटली के प्रधानमंत्री के वक्तव्य ने पेरिस और सेंट पीटर्सवर्ग के अधिकारियों को एक-दूसरे के निकट आने पर बाध्य कर दिया।

फ्रांसीसी जहाजी बेड़े की रूस-यात्रा : इन्हीं परिस्थितियों में 1891 में जार के निमंत्रण पर एक फ्रांसीसी जहाजी बेड़ा ने रूस की यात्रा की। रूस में इस फ्रांसीसी बेड़े का बड़े धूमधाम से स्वागत किया गया। इस अवसर पर रूस और फ्रांस के मैत्री संबंधों को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया गया। रूस के जार और साम्राज्ञी ने स्वयं अपने महल से निकलकर इस बेड़े का स्वागत किया। अभी तक रूस में फ्रांसीसी राष्ट्रीय गीत गाये जाने की मनाही थी, लेकिन इस अवसर पर जार ने सिर झुकाकर बड़े सम्मान के साथ इस क्रांतिकारी गीत का श्रवण किया। फ्रांस के राष्ट्रवादियों के लिए यह एक रोमांचकारी क्षण था। पोआन्कारे ने इस घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है : "हममें से वे लोग जो 1890 में तरुण हो चुके थे आज भी एलेक्जेंडर तृतीय के फ्रांस के प्रति उस समय के मैत्री-प्रदर्शन के महान् प्रयास का स्मरण कर भावाविभूत हुए बिना नहीं रह सकते। गणतंत्रवादियों के लिए यह केवल एक ऐसे सरकार द्वारा गणतंत्र का स्वीकरणमात्र नहीं था जो परंपरा तथा स्वरूप में हमसे तथा हमारी संस्थाओं से भिन्न थी, बल्कि यह फ्रांस के लिए लंबे एकांतवास की समाप्ति तथा उसके पुनरुन्नयन का बाह्य लक्षण था।"

संधि प्रस्ताव : रूस के बंदरगाह क्रीन्स्टाड्ट में फ्रांसीसी बेड़े का जैसा उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ उसके समाचार से फ्रांस के लोग खुशी से झूम उठे। फ्रांसीसी की विश्वास हो गया कि अब रूस के साथ संधि निश्चित हो गयी है। फ्रांसीसी नेता इस अवसर से लाभ उठाना चाहते थे। उन्होंने रूस के समक्ष तत्काल यह प्रस्ताव किया कि दोनों देशों के बीच संधि हो जानी चाहिए। फ्रांस ने इन शब्दों में संधि का प्रस्ताव रखा : (i) कोई खतरा उपस्थित होने पर दोनों सरकारें आपस में विचार-विमर्श करें तथा (ii) त्रिगुट संधि का कोई देश यदि लामबंदी (Mobilisation) का आदेश दे तो दोनों सरकारें अविलंब अपनी-अपनी सेनाओं को लामबंदी का आदेश दें।

रूस के विदेश मंत्री को इन शर्तों पर एक संधि स्वीकार्य नहीं थी। उसे इस बात का भय था कि फ्रांसीसी इसका उपयोग आल्सेस-लोरेन की प्राप्ति के लिए अपनी आक्रामक योजनाओं को सफल बनाने के लिए कर सकते हैं। वह संधि को अस्पष्ट और सीमित रखना चाहता था। अंत में 1891 में रूस की ओर से ही समझौता का प्रस्ताव आया। इसके अनुसार दोनों देशों ने अपनी सामान्य समस्याओं को सुलझाने के लिए एक-दूसरे से विचार-विमर्श करते रहने का दावा किया। यदि यूरोपीय शांति को कोई खतरा हुआ और दोनों देशों में किसी एक पर कोई आक्रमण हुआ तो इसका मुकाबला करने के लिए वे मिलकर सम्मिलित प्रयास करेंगे।

इस समझौते की शर्तें निश्चय ही अस्पष्ट और सीमित थीं। इस समय फ्रांस चाहता था कि रूस के साथ एक ऐसी संधि हो जिसके सहारे जर्मनी से वह अपनी रक्षा कर सके तथा अपनी प्रतिहिंसावाद (revanche) की नीति को कार्यान्वित कर आल्सेल-लोरेन को वापस ले सके। अफ्रीका या चीन में उसे रूस की मदद की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन रूस अभी इस हद तक जाने को तैयार नहीं था। वह जर्मनी से अपनी परंपरागत मैत्री-संबंध को कायम रखना चाहता था। अतः दोनों पक्षों के हित-विरोध के कारण एक ठोस रूसी फ्रांसीसी संधि तत्काल नहीं हो सकी।

1894 की संधि : इस अवसर पर फ्रांस ने बड़े धैर्य से काम लिया। फ्रांस के नेताओं को पूर्ण विश्वास था कि रूस के साथ उनकी संधि होकर रहेगी। इसी समय रूस में पुनः वित्तीय संकट उत्पन्न हुआ और उसे पुनः कर्ज के लिए अपील की। इस बार भी फ्रांस ने कर्ज देने में बड़ा उत्साह दिखाया। मौका मिलते ही फ्रांसीसी अधिकारियों ने रूसी नेताओं का ध्यान जर्मनी के किसी आकस्मिक खतरे की ओर खींचा। यदि जर्मनी ने अचानक हमला कर दिया तो उसका मुकाबला करने के लिए फ्रांस और रूस को पहले से ही पर्याप्त तैयारी रखनी पड़ेगी। दोनों देशों को मिलाकर उन सारी योजनाओं को बना लेना चाहिए ताकि युद्ध छिड़ने पर सामरिक तैयारियों को तत्काल कार्यान्वित किया जा सके। अतः फ्रांस ने प्रस्ताव रखा कि रूस और फ्रांस के समझौते के साथ एक सैनिक संधि का जुटना परम आवश्यक है ताकि जर्मनी के आक्रमण होने पर रूस और फ्रांस तत्काल अपनी सारी सेना मैदान में ला सकें तथा पूर्व निश्चित योजना के अनुसार अधिकतम पारस्परिक लाभ प्राप्त कर सकें।

पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद रूस ने इस प्रस्ताव को मान लिया और इस पर दोनों देशों के सेनाध्यक्षों ने 17 अगस्त, 1892 को हस्ताक्षर कर दिये, पर इस संधि पर दोनों देशों के राजदूतों या विदेश मंत्रियों के हस्ताक्षर नहीं थे। इस कारण कोई पक्ष इस संधि के प्रतिबद्ध नहीं माना जा सकता था। असैनिक अधिकारियों को इस संधि के संबंध में जानकारी देने में कुछ कठिनाइयाँ थीं। रूस चाहता था कि सैनिक संधि की धाराओं को एकदम गुप्त रखा जाय और फ्रांस में राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री को छोड़कर इसके बारे में किसी को जानकारी नहीं हो। यदि फ्रांसीसी कैबिनेट के समक्ष मसविदा गया तो वह कभी गोपनीय नहीं रह सकता था। लेकिन कठिनाई यह थी कि संविधान के अनुसार फ्रांस के राष्ट्रपति को गुप्त संधि करने का कोई अधिकार नहीं था। उन कारणों से एक औपचारिक संधि के संपन्न होने में पुनः विलंब हो गया।

इन कठिनाइयों के बावजूद कई कारणों से रूस और फ्रांस एक-दूसरे के निकटतर होते गये। जर्मनी ने अपनी सेना में सैनिकों की संख्या बढ़ा दी। रूस में इसकी तत्काल प्रतिक्रिया हुई। रूस का वित्तीय संकट जर्मनी की गतिविधि से और कठिन होता जा रहा था। जार को कुपित करने के लिए ये सब पर्याप्त कारण थे। इसी समय फ्रांस ने ब्रिटेन के विरुद्ध कुछ औपनिवेशिक प्रश्नों पर कड़ा रुख अपनाया। चूंकि इस समय ब्रिटेन त्रिगुट संधि की ओर झुकता नजर आ रहा था, इसलिए रूस को फ्रांसीसी रुख से प्रसन्नता हुई। इसी समय (अक्टूबर 1893) एक रूसी बेड़े ने फ्रांस की यात्रा की। जिस समय यह जहाजी बेड़ा फ्रांसीसी बंदरगाह तूलों पहुंचा और इसके अधिकारी पेरिस आये उस समय पेरिस के नागरिकों में उनके स्वागत के लिए भागदौड़ पैदा हो गयी। इसी वातावरण में 4 जनवरी, 1894 को दोनों देशों के बीच सैनिक संधि संपन्न हो गयी तथा रूस और फ्रांस का द्विगुट कायम हो गया। संधि की शर्तें इस प्रकार थीं—

(i) यदि जर्मनी या जर्मनी और इटली मिलकर फ्रांस पर आक्रमण करे तो रूस अपनी पूरी ताकत के साथ जर्मनी के विरुद्ध युद्ध करेगा।

(ii) यदि जर्मनी या उसका सहयोगी राज्य आस्ट्रिया रूस पर आक्रमण करते हैं तो फ्रांस जर्मनी के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगा देगा।

(iii) ऐसी स्थिति में जब त्रिगुट संधि के देशों की सेनाएं या उनमें से किसी एक देश की सेना का लामबंदी (mobilization) किया जायगा, फ्रांस और रूस तत्काल और एक साथ अपनी-अपनी सेनाओं की लामबंदी करेंगे एवं सीमांतों के समीप उन्हें पहुंचाने की व्यवस्था करेंगे। इसके लिए किसी तरह से समझौते की आवश्यकता नहीं होगी।

(iv) जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस तेरह लाख तथा रूस सात से आठ लाख तक सैनिकों को तैयार रखेंगे ताकि यथाशीघ्र और पूरी ताकत के साथ लड़ाई शुरू हो जाय जिसमें जर्मनी को एक ही साथ दो सीमांतों पर युद्ध करना पड़े।

(v) दोनों देशों की सेनाओं के अधिकारी निरंतर मिलते-जुलते रहेंगे तथा युद्ध की योजना बनायेंगे। त्रिगुट संधि के देशों की सेनाओं के संबंध में दोनों पक्षों को समय-समय पर जो जानकारी मिलती रहेगी उससे एक-दूसरे को अवगत कराते रहेंगे।

इनके अतिरिक्त यह भी निश्चय किया गया कि फ्रांस और रूस दूसरे देशों के साथ पृथक-पृथक संधि नहीं करेंगे। इस संधि का अवधि के बारे में कहा गया कि यह तबतक कायम रहेगी जबतक त्रिगुट संधि कायम रहेगी। संधि को पूर्णतया गोपनीय रखने का निश्चय किया गया।

द्विगुट का महत्व

फ्रांस और रूस पर प्रभाव : यूरोप के आधुनिक इतिहास में इस संधि का बड़ा महत्त्व है। यूरोप की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बिस्मार्क ने जर्मनी को जिस स्थिति में पहुंचा दिया था, उस स्थिति का अब अंत हो चुका था। विश्व-राजनीति में दोनों देश अकेले पड़ गये थे। फ्रांस बिस्मार्क के कारण और रूस कैजर के कारण। लेकिन इस संधि से फ्रांस और रूस की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत मजबूत हो गयी। शर्त के अनुसार यह संधि एक विशुद्ध रक्षात्मक संधि थी। इसका उद्देश्य किसी देश पर आक्रमण करने का नहीं था। आरंभ में दोनों में किसी पक्ष के जिम्मेवार अधिकारियों का ऐसा कोई इरादा नहीं था कि जर्मनी या किसी अन्य शक्ति के विरुद्ध आक्रमक कार्रवाई के लिए द्विगुट संधि का उपयोग किया जाय। दोनों पक्षों में किसी भी पक्ष का यह इरादा भी नहीं था कि ऐसी महत्वाकांक्षी और खतरनाक नीतियों के समर्थन में उसका उपयोग किया जाय जिसके फलस्वरूप त्रिगुट संधि के देशों या ब्रिटेन से कोई संघर्ष शुरू हो। लेकिन संधि का रक्षात्मक स्वरूप होने पर भी, वह बहुत महत्वपूर्ण थी। फ्रांस को फसोदा या मोरक्का में रूस की सैनिक सहायता की आवश्यकता नहीं थी। उसको आल्सेस-लोरेन के प्रांत लौटाने थे। इसी तरह रूस को भी यूरोप से बाहर फ्रांसीसी सैनिक सहायता की आशा नहीं थी। वह बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी स्थिति को मजबूत करना चाहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस में जर्मनी के खिलाफ भावना काफी तीव्र होने लगी। फ्रैंकों-जर्मन युद्ध अब अवश्यंभावी हो गया। इधर इस संधि की स्थापना होने के बाद रूस ने बाल्कन-प्रायद्वीप राजनीति में एक नये जोश के साथ प्रवेश किया। यूरोप की राजनीति अब डावांडोल हो गयी। जर्मनी के त्रिगुट को संतुलित करने के लिए अब रूस और फ्रांस का शक्तिशाली गुट तैयार हो गया था।[1]

यहां यह भी विचारणीय है कि द्विगुट संधि आरंभ से ही उस सामरिक सिद्धांत का अनुमोदन करता था कि आक्रामक युद्ध ही सुरक्षात्मक युद्ध होता है। संधि की शर्तों के अनुसार जर्मनी की लामबंदी के जवाब में फ्रांस और रूस को तत्काल लामबंदी करना था और लामबंदी का अर्थ ही होता था युद्ध का आरंभ। इससे द्विगुट संधि के आक्रामक रक्षात्मक स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

जर्मनी की कमजोर स्थिति : यूरोपीय राजनीति के दृष्टिकोण से इस संधि की स्थापना इस बात की ओर संकेत कर रहा था कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बिस्मार्क का युग समाप्त हो चुका है। बिस्मार्क को एक विरोधी गुट की स्थापना का जो भय था उसकी स्थापना हो गयी। बिस्मार्क इस समय तक काफी बूढ़ा हो चुका था। उसने कैजर विलियम को बहुत कुछ बुरा-भला कहा। उसने भविष्यवाणी की कि "यह युवक (कैजर) किसी दिन अपने राज्य को कुप्रबंध के कारण विनष्ट कर देगा।" पर अब क्या हो सकता था ? विलियम ने रूस की दोस्ती को ठुकरा दिया था और उसका परिणाम हुआ एक जर्मन-विरोधी गुट की स्थापना। फ्रैंको-रूसी गुट की स्थापना के बाद 1914 तक यूरोप दो गुटों में बंटा रहा और अंत में इसके परिणामस्वरूप सारा यूरोप महाविनाश के गर्त में गिर पड़ा। इसमें कोई शक नहीं कि त्रिगुट इस नये द्विगुट से अधिक शक्तिशाली था और जबतक ब्रिटेन की सहानुभूति प्राप्त थी तबतक इसकी स्थिति काफी मजबूत थी। अब प्रश्न था कि उस हालत में क्या होगा, जब ब्रिटेन की सहानुभूति रूस और फ्रांस को प्राप्त हो जाय ? वैसी हालत में यूरोप की कूटनीतिक स्थिति में परिवर्तन होगा ही। यूरोप का शक्ति-संतुलन रूस और फ्रांस के पक्ष में होगा और जर्मनी-आस्ट्रिया का पलड़ा हल्का पड़ जायगा।[2]

ब्रिटेन पर प्रभाव : उस समय ब्रिटेन में त्रिगुट की स्थापना का स्वागत नहीं हुआ। वहां के राजनीतिज्ञों को यह भय होने लगा कि रूस का सहारा पाकर फ्रांस उसे मिस्र में और अधिक परेशान करेगा। उधर रूस भी इसी संधि के बल पर तुर्की में अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति करने के लिए नये-नये तरीके अपनाने लगा। अब ब्रिटेन के लिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में पृथकता की नीति को अपनाये रहना असंभव हो गया। वस्तुतः परंपरा में चली आनेवाली पृथकता की नीति के परित्याग की बात ब्रिटेन में इसी समय से चलने लगी।

जर्मनी की प्रतिक्रिया : द्विगुट की स्थापना से अधिक-से-अधिक चिंता जर्मनी को हुई। प्रारंभ में जर्मनी में इस संधि की स्थापना से कोई विशेष घबड़ाहट नहीं हुई। इसका एक कारण यह था कि इसकी शर्तें इतनी गुप्त रखी गयी थीं कि बहुत दिनों तक पेरिस स्थित जर्मन राजदूत को इसका पता भी नहीं लगा। जनवरी, 1895 में इस संधि के विषय में पहले-पहल घोषणा की गयी। इस घोषणा के बाद जार ने फ्रांस की यात्रा की और फ्रांस का राष्ट्रपति रूस गया। इतना होने के बाद भी जर्मनी में कोई विशेष घबड़ाहट पैदा नहीं हुई, क्योंकि कैजर को विश्वास था कि फ्रैंको रूसी गुट के कायम होने के बावजूद त्रिगुट काफी मजबूत है और उसका मुकाबला आसानी से किया जा सकता है। कैजर को यह भी विश्वास था कि ब्रिटेन इस गुट में कभी शामिल नहीं होगा; क्योंकि फ्रांस और रूस दोनों के साथ उसकी परम्परागत शत्रुता थी। अतः, प्रारम्भ में कैजर के द्वारा इस सन्धि का कोई विरोध नहीं हुआ इसके विपरीत विविध अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में उसने रूस और फ्रांस के साथ देना शुरू किया। उदाहरण के लिए 1894 में जर्मनी और फ्रांस ने एक साथ मिलकर ब्रिटेन द्वारा कांगों-प्रदेश के एक छोटे-से भू-भाग पर आधिपत्य जमाने के प्रयास का विरोध किया। फिर, 1895 में जर्मनी, रूस तथा फ्रांस ने मिलकर जापान को बाध्य किया कि वह चीन के एक प्रदेश को लौटा दे। इस तरह का सहयोग कई अन्य समस्याओं पर होता रहा। लेकिन, भीतर-ही-भीतर कैजर फ्रैंको रूसी सन्धि की स्थापना से काफी चिन्तित था। उसने जार को दो पत्र लिखे। इन पत्रों में जार से उन कठिनाइयों की चर्चा की जो इस सन्धि के फलस्वरूप पैदा हो सकती थी। कैजर को अब पूरा विश्वास हो गया था कि फ्रांस में

प्रतिशोध की भावना और तीव्र होगी और आल्सेस-लोरेन को लौटने का आन्दोलन काफी जोर पकड़ेगा। उसकी दृष्टि में अब जर्मनी की सुरक्षा खतरे में पड़ गयी थी। अतः उसने अपनी सैन्य-शक्ति को बढ़ाना शुरू किया। लेकिन कैजर को विरोध और सैनिक तैयारी के बावजूद द्विगुट तबतक कायम रहा जबतक रूस से जारशाही का अन्त नहीं हो गया।

FOOT NOTES

1. The completion of the Franco-Russian Entente certainly entailed a serious change for the worse in the general political situation of Germany. France was released from the ban of isolation. This might have had a tranquillising effect upon the proud and sensative people, but it also allowed hopes of revenge; which now seemed attainable, to spring up afrehs and translate themselves into deeds. Russia had a dangerous tool ready for use in case we were not complaisant in the East. So it was that the electric current hitherto lacking between the two sources of unrest ___Alsace-Lorrain and the Balkan was set up and the danger of a war on two fronts so dreaded by Bismarckm was brought within measurable distant.

   —*Brandenburgh from Bismarkc to the World War, p. 78*

2. *G.P. Gooch : History of Modern Europe, p. 124*

अध्याय 3

'शानदार पृथकता' की नीति और आंग्ल-जर्मन संबंध

(Policy of Splendid Isolation & Anglo-German Relations)

पृथकता की नीति : किसी भी देश की विदेश-नीति उसकी भौगोलिक स्थिति और ऐतिहासिक परंपरा पर आधारित होती है। ऐसे विदेश-नीति के निर्धारण में कई तत्वों का प्रभाव पड़ता है, पर उसके मूल में उपयुर्क्त दोनों तत्व अनिवार्य रूप से विद्यमान रहते हैं। ब्रिटेन की विदेश-नीति के संबंद्ध में भी यह तथ्य सत्य है। परंपरा के दृष्टिकोण से शक्ति संतुलन (balance of power) का सिद्धांत ब्रिटेन विदेश नीति का एक मूलधार रहा है। सामान्य अवस्था में ब्रिटेन यूरोपीय राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करता था। यूरोपीय समस्याओं के प्रति वह एक तरह से तटस्थता की नीति का अवलंबन करता था। लेकिन जब कभी भी यूरोपीय शक्ति-संतुलन के बिगड़ने की संभावना प्रतीत होती तो ब्रिटेन अपनी शक्ति के साथ यूरोपीय राजनीति में कूद पड़ता था। इस नीति को लार्ड गोशेन ने पहले-पहल, "शानदार पृथकता की नीति" (Policy of splendid isolation) की संज्ञा दी। ब्रिटेन के हित में यह नीति अत्यंत लाभदायक थी। यूरोपीय राजनीति से अलग रहकर ब्रिटेन अपने को ऐसी स्थिति में रखता था जिससे महाद्वीपीय शक्ति संतुलन बिगड़ने न पावे।

1870 में फ्रैंकों-प्रशिया युद्ध के बाद यूरोपीय शक्ति-संतुलन में एक परिवर्तन हुआ। इस युद्ध के फलस्वरूप एक महान शक्तिशाली जर्मनी के प्रादुर्भाव से ऐसा प्रतीत होने लगा कि यूरोप की व्यवस्था में एक आश्चर्यजनक उथल-पुथल हो गयी है। लेकिन ब्रिटेन के नीति-निर्धारकों पर इस घटना का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और फैंकों-प्रशिया युद्ध के बाद भी वे शानदार पृथकता की नीति का अनुसरण करते रहे। वस्तुतः इस समय ब्रिटेन को जर्मनी से कोई भय नहीं था। इसके विपरीत ब्रिटेन में जर्मनी के लिए अपार सहानुभूति थी। यह बिल्कुल स्वाभाविक था। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू से ही दोनों देशों का आपसी संबंध बहुत अच्छा था। दोनों एक-दूसरे के परम मित्र थे। दोनों ने एक साथ मिलकर नेपोलियन का मुकाबला किया था। जर्मनी के राष्ट्रीय एकता के संग्राम के दिनों में ब्रिटेन का रुख अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण रहा। इसलिए जब 1882 में जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर बिस्मार्क ने त्रिगुट की स्थापना की तब भी ब्रिटेन में कोई भय उत्पन्न नहीं हुआ। इसका एक विशेष कारण था। बिस्मार्क के समय में दोनों देशों का संबंध सदा की भाँति अच्छा बना रहा। इसका विश्वास था कि जर्मनी और ब्रिटेन में विरोध होने का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है। बिस्मार्क इस बात को अच्छी तरह जानता था कि ब्रिटेन के सामुद्रिक आधिपत्य पर आघात पहुंचाने से ही ब्रिटेन और जर्मनी का संबंध खराब हो सकता है। इसलिए बिस्मार्क ने ब्रिटेन के विश्वव्यापी साम्राज्य को नुकसान नहीं पहुंचाने तथा उसके सामुद्रिक प्रभुत्व को चुनौती नहीं देने की नीति का अवलंबन किया। जर्मनी एक स्थलशक्ति था और ब्रिटेन एक जल शक्ति। बिस्मार्क का कहना था कि "जमीन के चूहे" और "जल के चूहे" के बीच संघर्ष होना असंभव है। वह ऐसा कोई काम करना नहीं चाहता था जिससे ब्रिटेन जर्मनी का विरोधी हो जाय। इसलिए शुरू में वह जर्मनी के लिए औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना के विरोध में था। लेकिन इस समय तक असाधारण गति ने जर्मनी में औद्योगिक क्रांति की प्रगति हो रही थी और हाल में जर्मनी के लिए उपनिवेश कायम करना आवश्यक हो रहा था। इसलिए बिस्मार्क के समय में ही उपनिवेशीय

विस्तार की तरफ जर्मन सरकार का ध्यान गया था और बिस्मार्क के प्रयास से प्रशांत महासागर तथा अफ्रीका और जर्मनी में कुछेक उपनिवेश कायम भी हुए। जर्मनी के औपनिवेशिक लालच को देखकर ब्रिटेन में कुछ घबड़ाहट अवश्य हुई थी। ब्रिटेन के शासक कुछ सशंकित अवश्य हो गये थे। लेकिन बिस्मार्क की कूटनीति ने ब्रिटेन की इस शंका को केवल दूर ही नहीं कर दिया, बल्कि जर्मनी के लिए उसने ब्रिटेन की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली। 1884 में बर्लिन में एक सम्मेलन हुआ जहां औपनिवेशिक बातों पर दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया। इस समझौता का आधार अत्यंत ठोस था। जर्मनी को ब्रिटेन से पूरी सहानुभूति मिल गयी। 1885 में ब्रिटिश संसद् में बोलते हुए प्रधानमंत्री **ग्लैडस्टोन** ने कहा था कि "जर्मनी एक औपनिवेशिक शक्ति बनना चाहता है तो मैं यही कहूंगा कि ईश्वर उसको सफलता दें।" इससे स्पष्ट होता है कि ब्रिटेन जर्मनी के प्रादुर्भाव से किसी तरह के भय का संचार नहीं हुआ। यही कारण है कि शक्तिशाली जर्मनी के प्रादुर्भाव से ब्रिटेन की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न किसी ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता ही समझी गयी। 1871 के बहुत दिनों के बाद तक भी ब्रिटेन अपनी शानदार पृथकता की नीति का अवलंबन करता रहा।

पृथकता की नीति के परित्याग के कारण

दो गुटों में यूरोप का विभाजन : उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशाब्दी में यूरोप की कूटनीतिक स्थिति डावांडोल होने लगी। दो विरोधी गुटों में यूरोप के बंट जाने के लक्षण प्रकट होने लगे। इस हालत में ब्रिटेन के नीति निर्धारक परंपरागत नीति के परित्याग की बात सोचने लगे। इस समय कूटनीतिक स्थिति ऐसी हो गयी थी कि ब्रिटेन के लोग यह सोचने लगे कि पृथकता की नीति "शानदार" है, पर वह खतरे से खाली नहीं है। 1894 में रूस और फ्रांस के द्विगुट की स्थापना से ब्रिटेन की विदेश-नीति में परिवर्तन का होना अवश्यम्भावी हो गया। जर्मनी के त्रिगुट से ब्रिटेन को भयभीत होने का कारण कोई नहीं था क्योंकि उसके सदस्य-राज्यों से ब्रिटेन का कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं था। लेकिन द्विगुट के दोनों राज्यों से ब्रिटेन का परंपरागत प्रत्यक्ष विरोध था। रूस और फ्रांस सदियों से ब्रिटेन के विरोधी थे। अपने विरोधियों को इस तरह संगठित होते देख ब्रिटेन में भय का उत्पन्न होना बिल्कुल स्वाभाविक था। और, यह गुप्त संधियों का युग था। कौन कह सकता था कि फ्रांस और रूस की द्विगुट संधि में कोई ऐसी धारा न हो जिसको विशेषतः ब्रिटेन के विरुद्ध रखा गया हो। इस हालत में ब्रिटेन में विदेश-नीति के पुनर्निर्धारण की बात चल पड़ी।

इसके अतिरिक्त फ्रांस और रूस की द्विगुट संधि ने यूरोपीय राजनीति के रंग को ही बदल दिया। यूरोप अब स्पष्टतः दो विरोधी गुटों में बंट गया था और दोनों गुट एक-दूसरे के विरोध में जुट गये थे। यूरोप की राजनीति अत्यंत अनिश्चित हो गयी थी। इस हालत में ब्रिटेन क्या करे ? क्या वह चुपचाप इन असाधारण घटनाओं को देखता रहे और वह भी ऐसे समय में जब यूरोप के राज्य अपनी स्थिति को संभालने के लिए गुटबंदियों का जाल बिछा रहे थे ? गुटबंदियों की इस राजनीति में ब्रिटेन को अपनी उपयुक्त स्थान खोजने के लिए बाध्य होना पड़ा। फ्रांस और रूस ब्रिटेन के प्रत्यक्ष विरोधी थे। एक अफ्रीका में और दूसरा निकट पूर्व में ब्रिटेन के लिए संकट पैदा करते आ रहे थे, पर ब्रिटेन को इनसे कोई विशेष भय नहीं था। उनको अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा था। फिर भी उसको इस बात का भय बराबर रहता था कि जर्मनी, रूस और फ्रांस तीनों सम्मिलित रूप से मिलकर उसको तंग न करने लगे। अपने संस्मरण में सर एडवर्ड ग्रे ने इस बात का सबूत दिया है कि ग्लैडस्टोन के शासनकाल के अंतिम दिनों में ये दोनों गुट ब्रिटेन को तंग करने के उद्देश्य से उस पर हमेशा किसी-न-किसी तरह का कूटनीतिक दबाव डालते रहते थे। कैजर विलियम के हाथों में शासन-सूत्र आने से ब्रिटेन के प्रति जर्मनी के रुख में घोर परिवर्तन हो गया था। वह ब्रिटेन के खिलाफ

यूरोप के देशों को मिलाकर एक विशाल गुट कायम करने की योजना बना रहा था। इस हालत में ब्रिटेन की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी कमजोर हो गयी थी और देश के हित में पृथकता की नीति का परित्याग वांछनीय प्रतीत होने लगा था।

जर्मन विदेश-नीति में परिवर्तन : हम कह आये हैं कि बिस्मार्क के कार्यकाल में जर्मनी और ब्रिटेन का संबंध बड़ा ही मधुर था। इसका कारण यह था कि बिस्मार्क जर्मन साम्राज्य को एक ऐसा तृप्त राज्य मानता था जिसका उद्देश्य केवल आत्मा-रक्षा था। वह जर्मनी को विश्वराजनीति के भंवर-जाल में फंसाने का कट्टर विरोधी था, पर 1890 में चांसलर पद से बिस्मार्क के हटने के बाद जर्मनी की विदेश-नीति का संचालन का काम स्वयं कैजर विलियम ने अपने हाथ में ले लिया। वह जर्मनी को तृप्त राज्य नहीं मानता था। उसके अनुसार जर्मनी एक ऐसा राज्य था जो विश्व-राजनीति में सक्रिय भाग ले सकता था और उपनिवेश-विस्तार के साथ-साथ वह जर्मन नौ-सेना का विस्तार करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जर्मन संसद में 1897 में और फिर 1900 में दो नौ-सेना विधेयक पेश किये गये और वे स्वीकृत हो गये। अब ब्रिटेन को एक महान संकट का अनुभव हुआ। समुद्र पर ब्रिटेन का अभी तक एकाधिपत्य था। उसके पास संसार की सर्वाधिक शक्तिशाली नौ-सेना थी। जर्मनी पहले से ही सबसे महान् थलशक्ति था। अब वह नौ- सेना के क्षेत्र में ब्रिटेन से आगे बढ़ जाने का मनसूबा बांधने लगा। यह ब्रिटेन के लिए एक चुनौती था। अतिक्रमण करना भावी सूचना का संकेत था जिसका मुकाबला पृथकता की नीति का अवलंबन कर नहीं किया जा सकता था।

तुर्की साम्राज्य पर जर्मन का बढ़ता हुआ प्रभाव : केवल नौ-सेना के क्षेत्र में ही ब्रिटेन और जर्मनी का मुकाबला नहीं हुआ, कुछ अन्य जगहों पर भी जर्मनी की ओर से ब्रिटेन को चुनौती मिलने लगी। तुर्की का साम्राज्य एक ऐसा ही क्षेत्र था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से ही तुर्की यूरोप का मरीज कहा जाने लगा था और उसी समय से रूस कांसटेन्टिनोपुल पर जारशाही का झंडा फहराने का प्रयास कर रहा था। लेकिन ब्रिटेन के विरोध के कारण रूस की यह मनोकामना पूरी नहीं हो सकी। बात यह थी कि ब्रिटेन तुर्की साम्राज्य को अपने भारतीय साम्राज्य तथा यूरोप के अन्य साम्राज्यवादी राज्यों के बीच में स्थित एक "मध्यवर्ती राज्य" (buffer state) मानता था और भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए तुर्की साम्राज्य कायम रहना आवश्यक मानता था। अतएव ब्रिटेन की नीति थी कि इस मरीज को जैसे भी हो जिंदा रखा जाय। मरीज को जिंदा रखने के लिए उसने युद्ध का सहारा भी लिया और जब भी रूस ने तुर्की साम्राज्य को खत्म करने के उद्देश्य से उस पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन ने उसका घोर विरोध किया। 1853 का क्रीमिया युद्ध तथा 1877 की सन स्टीफानों की संधि का विरोध इसके दो प्रबल उदाहरण हैं। लेकिन 1878 में सन स्टीफानों संधि को रद्द करने के लिए जो बर्लिन सम्मेलन हुआ उसमें ब्रिटेन ने तुर्की के एक द्वीप साइप्रश पर अपना अधिकार जमा लिया। ब्रिटेन की इस नीति से तुर्की के सुल्तान को जबर्दस्त सदमा पहुंचा जो ब्रिटेन अभी तक उसका रक्षक था, वह भी तुर्की साम्राज्य की लूट में शामिल हो गया। इसके विपरीत जर्मनी ने तुर्की के प्रति अत्यंत ही सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया। जहां एक ओर यूरोप के सभी राज्य बर्लिग-सम्मेलन में तुर्की साम्राज्य के भूभागों पर अपना दावा लेकर आये थे, वहां जर्मनी ने उसके किसी भी प्रदेश पर दावा नहीं किया। इस परिस्थिति में बर्लिन में तुर्की और जर्मनी की मित्रता की नींव पड़ी तथा ब्रिटेन तुर्की से विमुख होने लगा इसका एक और कारण था। बर्लिन संधि के बाद ब्रिटेन ने यह अनुभव किया कि तुर्की के प्रति उसकी नीति दोषपूर्ण थी। मरीज को उसने बहुत मौका दिया था ताकि वह अपने को चंगा करके स्वस्थ कर ले। कई बार ब्रिटेन ने उसको सर्वनाश से बचाया था लेकिन तुर्की ने ऐसे अवसरों से लाभ नहीं उठाया। अब ब्रिटेन ने अनुभव किया कि तुर्की के प्रति उसकी परंपरागत नीति व्यर्थ है और मरीज को मरने से रोका नहीं जा सकता है। तुर्की का विनाश अवश्यंभावी है।

तुर्की के प्रति ब्रिटेन की बदली हुई नीति का प्रथम संकेत 1895 में मिला जब लार्ड सैलिसबरी ने जर्मनी के समक्ष तुर्की साम्राज्य के बंटवारे का प्रस्ताव रखा। लेकिन दुर्भाग्यवश ब्रिटेन का यह प्रस्ताव जर्मनी को मान्य नहीं हुआ। ब्रिटेन के इस प्रस्ताव को जर्मनी के शासकों ने शंका की दृष्टि से देखा। उनको यह शक हुआ की ब्रिटेन के इस प्रस्ताव का उद्देश्य द्विगुट और त्रिगुट के देशों के बीच फूट पैदा कराना है। अतएव जर्मनी ने इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया।

इस तरह ब्रिटेन अब तुर्की के प्रति उदासीन रहने लगा। उधर कैजर ने इससे खूब लाभ उठाया। बर्लिन-सम्मेलन में तुर्की और जर्मनी की मित्रता की जो नींव पड़ी थी उसको कैजर ने और भी मजबूत कर दिया। तुर्की के सुलतान के साथ कैजर की व्यक्तिगत मित्रता कायम हुई। 1889 में अपने चांसलर के मना करने पर भी वह कान्सटेन्टिनोपुल गया और अक्टूबर 1898 में तुर्की की राजधानी में उसकी दूसरी यात्रा हुई। इस यात्रा के दौरान में कैजर ने सुलतान को आश्वासन दिया कि संकट के दिनों में वह जर्मनी के समर्थन का भरोसा कर सकता है। इसके बाद तुर्की पर जर्मनी का प्रभाव बढ़ने लगा। ब्रिटेन का प्रभाव यहां पहले से ही कम हो रहा था, कैजर की यात्रा ने बचे-खुचे ब्रिटिश प्रभाव का भी अंत कर दिया। तुर्की में जर्मनी को राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक कई तरह की सुविधाएं मिलीं, पर इन सभी सुविधाओं में रेल लाइन बनाने की सुविधा अत्यंत महत्वपूर्ण थी। तुर्की साम्राज्य के अंतर्गत रेल लाइने बिछाने का ठेका जर्मनी के फार्मों को मिलने लगा। इस समय यूरोपीय साम्राज्यवाद को दूसरे देशों पर लादने का वह एक महज तरीका था। तुर्की धीर-धीरे जर्मनी के जाल में फंसने लगा।

पर इन रेलवे लाइनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बर्लिन बगदाद रेलवे की योजना थी जो जर्मनी की पूंजी और उसी के देखरेख में बननेवाली थी। जर्मन फार्मों को इसका ठेका देने की बातचीत चलने लगी।

बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना एक महत्वाकांक्षी योजना थी। लेकिन इसको लेकर ब्रिटेन और जर्मनी का संबंध बहुत बिगड़ गया। नौ सेना के क्षेत्र में जर्मनी पहले ही ब्रिटेन को चुनौती दे चुका था। अब बर्लिन से बगदाद तक रेल लाइन बनाकर वह अंग्रेजों के भारतीय साम्राज्य पर प्रत्यक्ष संकट पैदा कर रहा था। बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना के कारण सारा ब्रिटेन उत्तेजित हो गया। ऐसा लगा कि जर्मनी हर स्थल पर ब्रिटेन से झगड़ा मोल लेकर उसको तंग करने की योजना बना रहा है। यह स्थिति एक ऐसे समय में आयी जब यूरोप दो गुटों में विभक्त हो चुका था और ब्रिटेन अभी भी पृथकता की नीति का अवलंबन कर रहा था। जिस तरह प्रत्येक क्षेत्र में जर्मनी से ब्रिटेन को चुनौती मिल रही थी उसको दृष्टि में रखकर पृथकता की नीति अत्यंत खतरनाक प्रतीत हो रही थी। अतएव इस कारण भी ब्रिटेन को अपनी इस नीति का परित्याग करना पड़ा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुर्की पर जर्मनी का बढ़ता हुआ प्रभाव तथा बर्लिन बगदाद रेलवे की योजना दो ऐसे मुख्य तथ्य थे जिनके कारण ब्रिटेन को अपनी विदेश-नीति का पुनर्निधारण करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

अफ्रीकी संकट : बोअर युद्ध तथा फसोदा संकट : इसी समय अफ्रीका में साम्राज्यवादी संघर्ष से उत्पन्न दो महत्वपूर्ण घटनाएं घटीं। 1899 में बोअर युद्ध शुरू हुआ। ब्रिटेन डच किसान बोअरो के ट्रांसवाल गणराज्य को अपने दक्षिणी अफ्रीका साम्राज्य में मिला लेना चाहता था और जब बोअरों ने इसका विरोध किया तो लड़ाई शुरू हो गयी। अंग्रेजों की अपेक्षा बोअर किसान बहुत कमजोर पड़ते थे। फिर भी उन्होंने ब्रिटिश सेना का डटकर मुकाबला किया और कई बार उसे पराजित भी किया। इस युद्ध में यूरोपीय राज्यों—विशेषकर जर्मनी की सहानुभूति बोअर किसानों के साथ थी। यूरोप के सभी समाचार-पत्रों ने बोअरों की वीरता की प्रशंसा की।[1] इस समय यूरोप के अधिकांश देशों से ब्रिटेन को समर्थन नहीं मिला और जब आस्ट्रिया के सम्राट ने वियना स्थित ब्रिटिश राजदूत से यह कहा कि "बोअर युद्ध में आस्ट्रिया की सहानुभूति ब्रिटेन के पक्ष में है," तो ब्रिटेन के सरकारी हलकों में इस पर अपार हर्ष प्रकट किया गया।

बोअर-युद्ध में ब्रिटेन का पलायन चरम सीमा पर उस समय पहुंचा जब कैजर ने जर्मनी की तरफ से बोअर गणराज्य के राष्ट्रपति पाल क्रुगर के पास एक बधाई का तार भेजा जिसमें जर्मन सरकार की यह नयी दिलचस्पी ब्रिटेन को बड़ा ही खतरनाक प्रतीत हुई। "बधाई के तार" की घटना से ब्रिटेन के शासक बड़े क्रुद्ध हुए। उन्हें इस बात का शक होने लगा कि जर्मनी अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए बोअरों का पक्ष ले रहा है। ब्रिटेन में यह शंका व्यक्त की जाने लगी कि जर्मनी नौ-सेना के क्षेत्र तथा निकट पूर्व में ही ब्रिटेन का विरोध नहीं कर रहा है अपितु अफ्रीका में भी हस्तक्षेप करने का इरादा रखता है। बोअर युद्ध को लेकर अन्य यूरोपीय राज्य भी ब्रिटेन का विरोध कर रहे थे। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन को पहले-पहल पृथकता की नीति की व्यर्थता का अनुभव हुआ। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी स्थिति को मजबूत बनाये रखने के लिए इस नीति का परित्याग आवश्यक हो गया।[2]

लगभग इसी समय ब्रिटेन एक और संकट में फंसा हुआ था। सूडान स्थित फसोदा को लेकर सितंबर 1898 से मार्च 1899 में ब्रिटेन और फ्रांस का संबंध अत्यंत तनावपूर्ण हो गया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि फसोदा पर आधिपत्य कायम करने के सिलसिले में दोनों देशों के बीच युद्ध हो जायेगा। संकट के इस अवसर पर ब्रिटेन का साथ देनेवाला कोई नहीं था। ब्रिटेन का पलायन देखकर कैजर भीतर-ही-भीतर खुश हो रहा था और उसकी हार्दिक इच्छा थी कि ब्रिटेन और फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ जाय लेकिन कैजर की यह मनोकामना पूरी नहीं हो सकी। फसोदा को लेकर दोनों संबंधित देशों के बीच समझौता हो गया और युद्ध की संभावना टल गयी, लेकिन ब्रिटेन को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने अकेलेपन की स्थिति का एक बार फिर अनुभव हुआ और वहां के शासक पृथकता की नीति के परित्यांग की बात सोचने लगे।

रूस का खतरा : उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में फ्रांस और जर्मनी ही ब्रिटेन का विरोध नहीं कर रहे थे। उसका पुराना दुश्मन रूस भी इस कार्य में हिस्सा बंटा रहा था। बहुत दिनों से रूस तुर्की साम्राज्य का अंत कर उसपर अपना अधिकार जमा लेना चाहता था। लेकिन ब्रिटेन के विरोध के कारण उसको सफलता नहीं मिल रही थी। 1878 की बर्लिन की संधि के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ा कि निकट पूर्व में ब्रिटेन के विरोध के कारण उसका साम्राज्यवादी विस्तार अत्यंत कठिन है। अतएव वह अपना साम्राज्यवादी जाल दूसरे क्षेत्रों में बिछाने लगा। बर्लिन-संधि के बाद रूस की सारी साम्राज्यवादी कूटनीति पूर्वी एशिया, मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया में केंद्रित हो गयी। पूर्व में रूस मंचूरिया और मंगोलिया पर अधिकार जमाने की चेष्टा करने लगा। चीन के शोषण में भी उसको हिस्सा मिला और वहां एक नया विशाल प्रदेश रूसी प्रभाव क्षेत्र बन गया। पूर्व की तरह से रूसी साम्राज्य के विस्तार की योजना ब्रिटेन के लिए एक और संकट बन गया। स्थिति यहीं तक सीमित नहीं रही। तिब्बत, फारस और अफगानिस्तान भी रूसी षड़यंत्र के शिकार होने से नहीं बच सके। इन देशों को अपने प्रभाव में लाने के लिए रूस की कूटनीति बहुत अधिक सक्रिय हो उठी। ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के लिए एक अत्यंत खतरापूर्ण स्थिति पैदा हो गयी। रूस के इस नवीन संकट ने ब्रिटेन को अपनी पृथकता की नीति पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में ब्रिटेन की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी नाजुक हो गयी थी। वह चारों तरफ से अपने को संकट की स्थिति में घिरा देखने लगा। यूरोप दो शिविरों में विभाजित हो चुका था। त्रिगुट और द्विगुट के साथ छोटे-छोटे झगड़े भी विकराल रूप धारण करने लगे थे और कब क्या हो जायगा यह कहना कठिन था। ब्रिटेन में इस विषय पर वाद-विवाद होने लगा कि इस संकटपूर्ण स्थिति का सामना करने के लिए उनको क्या करना चाहिए ? ब्रिटेन के समाचार-पत्रों में पृथकता की नीति को त्यागने की बात चलने लगी। लेकिन ब्रिटेन के शासकों के बीच इस विषय पर मतभेद था। प्रधानमंत्री लार्ड सैलिसबरी इस नीति का प्रबल समर्थक था। अपनी नीति के पक्ष में उसने एक स्मृति-पत्र (menorandum) तैयार किया और पृथकता की नीति के औचित्य को सिद्ध किया।

लेकिन उपनिवेश मंत्री जोजेफ चैम्बरलेन का विचार इससे बिल्कुल भिन्न था। वह पृथकता की नीति का अंत करके ब्रिटेन को यूरोप के किसी गुट में सम्मिलित करने का समर्थन कर रहा था। उसका तर्क यह था कि यूरोपियन राजनीति में जबतक ब्रिटेन पृथकता की नीति का अवलंबन करता रहेगा तबतक ब्रिटेन का औपनिवेशिक विस्तार नहीं हो सकेगा। इसके लिए वह किसी गुट में सम्मिलित होना अनिवार्य मानता था। अंत में जोजेफ चैंबरलेन के विचारों की विजय हुई और ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय कर लिया कि उसे तटस्थतां की नीति का परित्याग करना है।

आंग्ल-जर्मन वार्तालाप और उसकी असफलता

जर्मनी की ओर झुकाव : ब्रिटेन ने यह निश्चय कर लिया कि उसे पृथक्कता की नीति का परित्याग करना है, पर अब प्रश्न यह था कि इस नीति का परित्याग करके ब्रिंटेन अपने को किस शक्ति के साथ संलग्न करे। यह एक विकट प्रश्न था। फिर भी ब्रिटेन ने सबसे पहले रूस के साथ अपने मतभेदों को तय करने का निश्चय किया। 19 जनवरी, 1898 को ब्रिटेन ने रूस के समक्ष अपने मतभेद को सुलझाने के लिए एक प्रस्ताव रखा। ब्रिटेन और रूस में इस समय तुर्की तथा चीनी साम्राज्यों को लेकर मतभेद था। शांतिपूर्ण ढंग से उन साम्राज्यों में प्रभाव क्षेत्र कायम करने की बात व्रिटिश प्रस्ताव में कही गयी थी। लेकिन रूस की सरकार ने ब्रिटेन के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। इस हालत में निराश होकर ब्रिटेन को दूसरी ओर झुकना पड़ा।

अब प्रश्न यह था कि ब्रिटेन किस गुट या देश के साथ अपने को संलग्न करे। रूस ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया था, फ्रांस के साथ उसका तीव्र मतभेद था जो दिन-प्रतिदिन उग्रतर हो रहा था। संयुक्त राज्य अमेरिका जो एक महाशक्ति था इस समय स्वयं असंलग्नता की नीति का अवलंबन कर रहा था। अतएव उसके साथ किसी तरह की गुटबंदी नहीं की जा सकती थी। आस्ट्रिया और इटली के साथ संधि करने में कोई विशेष लाभ नहीं दिखायी दे रहा था। अब बाकी रह गया केवल जर्मनी। यद्यपि इधर हाल में जर्मनी की नवीन विदेश-नीति के कारण ब्रिटेन और जर्मनी का संबंध खराब हो गया था, फिर भी जर्मनी के साथ ब्रिटेन का अभी तक कोई मौलिक मतभेद नहीं था और न दोनों में पुरानी शत्रुता की कोई परंपरा थी। जर्मनी निश्चय ही ब्रिटेन का विरोधी हो रहा था, लेकिन यह विरोध अभी उतना गहरा नहीं हुआ था जो समझौता द्वारा तय नहीं किया जा सकता था।

कैजर विलियम की उग्र नीति के बावजूद ब्रिटेन और जर्मनी का पारस्परिक संबंध शोचनीय स्थिति में नहीं पहुंचा था। गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों के बाद कैजर ने कहा था कि "यूरोपीय शांति की सबसे बड़ी गारंटी ब्रिटेन और जर्मनी के बीच एक संधि का होना है।" इसके तुरंत ही बाद कैजर ने ब्रिटेन की यात्रा की। वहां उसंका अपूर्व स्वागत हुआ। इस तरह के स्वागत से खुश होकर कैजर ने कहा : "इस सुंदर देश (ब्रिटेन) में हमने बराबर ऐसा अनुभव किया है मानों हम अपने ही घर में हैं। ......मैं आपलोगों को यह आश्वासन दे सकता हूं कि हमारा प्रयास दोनों देशों को ऐतिहासिक मित्रता कायम रखने का होगा।" अपनी यात्रा के सिलसिले में कैजर में ब्रिटेन को इस तरह प्रभावित किया कि ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध अखबार "मार्निंग पोस्ट" ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। ब्रिटेन के साथ जर्मनी की इस मित्रता का फल यह हुआ कि 1890 में ब्रिटेन ने जर्मनी को हेलिगोलैंड के द्वीप दे दिये। किल नहर बनाने के लिए जर्मनी हेलिगोलैंड पर अधिकार प्राप्त करना चाहता था। ब्रिटेन में जंजीबार के बदले में जर्मनी को हेलिगोलैंड के द्वीप दे दिये। इसपर कैजर बहुत खुश हुआ। खुशी में उछलकर उसने कहा : "बिना आंसू बहाये, बिना युद्ध किये यह सुंदर द्वीपं मेरे कब्जे में आ गया। मैं उस महान् महिला (महारानी विक्टोरिया) के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं, जिसके कारण यह द्वीप हमलोगों को प्राप्त हुआ है।" इस तरह यह पता चलता है कि कैजर के हाथ में जर्मनी की नीति आने

पर भी आंग्ल-जर्मन संबंध काफी अच्छा बना रहा। यद्यपि दोनों देशों के बीच कुछ बातों को लेकर मनमुटाव पैदा होना शुरू हो गया था, फिर भी यूरोप में जर्मनी ही एक ऐसा देश था जिसके साथ ब्रिटेन का कोई समझौता हो सकता था। इस हालत में ब्रिटेन ने जर्मनी से वार्तालाप करके मतभेदों को सुलझाने तथा उसके साथ अपने को संबद्ध करने का निश्चय किया। चैंबरलेन जर्मनी के साथ समझौते का बहुत बड़ा पक्षपाती था। इसलिए जब रूस ने ब्रिटेन के जनवरी 1898 के प्रस्तावों के अस्वीकार कर दिया तो ब्रिटिश कैबिनेट ने चैम्बरलेन को इजाजत दे दी कि वह जर्मनी के साथ समझौता करने के लिए वार्तालाप शुरू कर दे। इस तरह जर्मनी के साथ मनमुटाव होने के बावजूद ब्रिटेन के शासक जर्मनी की तरफ दोस्ती के लिए झुके।

वार्तालाप का प्रारंभ : 29 मार्च, 1898 को चैंबरलेन के लंदन स्थित जर्मन राजदूत को रात्रि के भोजन के लिए आमंत्रित किया और उसी अवसर पर उसने अपने अतिथि को सूचित किया कि ब्रिटेन ने पृथकता की नीति का परित्याग करने का निश्चय कर लिया है और जर्मनी के साथ एक रक्षात्मक संधि करने का उसने अपना इरादा प्रकट किया। जर्मनी यह कह सकता था कि हो सकता है कि ऐसी किसी संधि को ब्रिटेन की अन्य सरकार न माने, इसलिए चैम्बरलेन ने राजदूत को यह आश्वासन दिया कि वह जर्मनी के साथ की गयी संधि का अनुमोदन संसद से करवा लेगा ताकि कोई भी सरकार भविष्य में मानने से इंकार नहीं करे। राजदूत ने दूसरे दिन इस प्रस्ताव की सूचना बर्लिन भेज दी। बर्लिन में चांसलर बूली ने इसपर विचार किया और अंत में इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ब्रिटेन के साथ संधि करने में कई कठिनाइयां हैं। उसंने राजदूत को आदेश दिया कि वह न तो प्रस्ताव को माने और न इन्कार ही करे बल्कि टालमटोल की नीति अपनावे।

जर्मन राजदूत के समक्ष चैम्बरलेन का प्रस्ताव अत्यंत गोपनीय था। इसके बावजूद, कैजर ने जार को एक पत्र लिखा जिसमें कहा गया था कि ब्रिटेन ने हाल में जर्मनी के सामने संधि करने के अनेक प्रस्ताव रखे हैं और ब्रिटेन रूस को "बहुत कुछ" देने को तैयार है। लेकिन ब्रिटिश सरकार को जवाब देने के पूर्व, मैं आप से राय ले लेना चाहता हूं, क्योंकि यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात है। निश्चय ही इस प्रकार की संधि रूस के विरुद्ध होगी। इस हालत में यदि हम ब्रिटेन के प्रस्ताव को नामंजूर कर दें तो हम यह जानना चाहेंगे कि इसके बदले में हमें आप क्या देने को तैयार हैं।"

स्पष्ट है कि कैजर रूस के समक्ष इस तरह का प्रस्ताव रखकर ब्रिटेन और रूस के मनमुटाव को और गहरा करने का उद्देश्य रखता था। उसका इरादा था कि रूस को अपने पक्ष में मिलाकर फ्रांस को भी जर्मनी के पक्ष में किया जाय तथा त्रिगुट और द्विगुट का एक सम्मिलित महाद्वीपीय संघ ब्रिटेन के विरुद्ध कायम किया जाय। लेकिन जार स्वयं बहुत चालाक था। वह कैजर के जाल में फंसने वाला नहीं था। उसने तुरंत कैजर को जवाब दिया कि हाल ही में ब्रिटेन ने उसके समक्ष भी ऐसे ही प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया है। अंत में जार ने यह सुझाव दिया कि "ब्रिटिश प्रस्ताव को मंजूर करना या अस्वीकार करना एक ऐसी बात है जिसका निर्णय आप स्वयं कर सकते हैं।"

कैजर को जब जार का यह पत्र मिला तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। इसका अर्थ उसने यह लगाया कि ब्रिटेन रूस और जर्मनी के समक्ष गुप्त प्रस्ताव रखकर दोनों में संघर्ष कराना चाहता है। चैम्बरलेन के प्रस्ताव को उसने कूटनीतिक चालबाजी की संज्ञा दी और लार्ड 1898 के प्रस्ताव की अकाल मृत्यु हो गयी।

ब्रिटेन का दूसरा प्रस्ताव : नवंबर, 1899 में चांसलर बूलो के साथ कैजर ब्रिटेन गया। इस समय तक बोअर युद्ध छिड़ चुका था और सारा यूरोप ब्रिटेन का विरोध कर रहा था। ऐसी हालत में चैम्बरलेन ने कैजर और बूलो दोनों के साथ मिलकर फिर से एक संधि के लिए वार्ताएं शुरू कीं। लेकिन इस बार भी जर्मन नेताओं की ओर से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। फिर भी कुछ दिनों के बाद लेस्टर नामक एक स्थान पर चैम्बरलेन का एक महत्वपूर्ण भाषण हुआ जिसमें सार्वजनिक तौर पर उसने जर्मनी के साथ एक संधि

का प्रस्ताव रखा। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका को भी सम्मिलित करने का सुझाव था। लेकिन इस समय तक बोअर युद्ध के परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे और सभी देशों में विशेषकर जर्मनी में ब्रिटिश नीति की कटु निंदा की जा रही थी। इस हालत में जर्मन रीहस्टाग में बोलते हुए बूलो ने चैंबरलेन के लेस्टर-प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया।

ब्रिटेन का तीसरा प्रस्ताव : 1900 में अनेक कारणों से ब्रिटेन और जर्मनी के संबंध में कुछ सुधार हुआ। बोअर-युद्ध के समाप्त होने के लक्षण प्रकट होने लगे और राष्ट्रपति क्रुगर प्रेटोरिया से भागकर यूरोप पहुंचा। पेरिस में उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ तथा फ्रांसीसी विदेश मंत्री से घंटों तक उसकी वार्ताएं हुईं। इसके बाद क्रुगर बर्लिन गया। लेकिन कैजर ने उससे मिलने और ब्रिटेन के विरुद्ध किसी तरह की मदद देने से इंकार कर दिया। जर्मन संसद में सरकार की इस नीति की आलोचना हुई, लेकिन चांसलर ने इस नीति का जबर्दस्त समर्थन किया। जर्मनी के इस रुख का ब्रिटेन पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा।

इस समय महारानी विक्टोरिया जोरों से बीमार पड़ी और खबर मिलते ही कैजर अपनी दादी को देखने के लिए लंदन रवाना हो गया और महारानी की मृत्यु के दो दिन पहले ओस्बोर्न पहुंचा। कैजर की इस सहानुभूतिपूर्ण यात्रा का ब्रिटेन के लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। जर्मन सम्राट के आगमन पर चैम्बरलेन ने फिर से जर्मनी के साथ संधि की वार्ताएं शुरू कर दीं। इस समय चीन को लेकर रूस के साथ ब्रिटेन का झगड़ा बहुत बढ़ गया था। इस हालत में चैम्बरलेन ने यह सुझाव रखा कि ब्रिटेन, जर्मनी और जापान तीनों को मिलाकर एक प्रतिरक्षात्मक संधि कर लेनी चाहिए। लेकिन इस बार भी जर्मनी से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। वस्तुतः जर्मनी रूस के विरुद्ध संधि करके उसको अपना प्रत्यक्ष विरोधी नहीं बनाना चाहता था। जुलाई, 1901 के मध्य तक चैम्बरलेन को इस निष्कर्ष पर पहुंच जाना पड़ा कि जर्मनी के साथ वार्ताएं करना व्यर्थ है। उसके बाद दिसंबर तक लार्ड लैंसडाउन ने वार्ताएं जारी रखीं। लेकिन उसका भी कोई नतीजा नहीं निकला। जर्मनी की मांग थी कि ऐसी संधि में त्रिगुट के राज्यों को भी सम्मिलित किया जाय तथा ब्रिटिश संसद एक के जबर्दस्त बहुमत से इसका अनुमोदन हो। बोअर युद्ध को लेकर इस समय ब्रिटेन और जर्मनी के संबंध की जो स्थिति थी उसको देखकर यह कहना मुश्किल था कि ब्रिटिश पार्लियामेंट जर्मनी के साथ की गयी ऐसी संधि को अनुमोदन कर ही दे। इस हालत में लगभग तीन वर्ष के वार्तालाप के बाद दिसंबर 1901 में संधि के लिए आंग्ल-जर्मन वार्तालाप सदा के लिए बंद कर दिया गया। अब ब्रिटेन दूसरी ओर प्रयास करने लगा।

जर्मनी की शर्तें : अगर जर्मनी और ब्रिटेन में एक संधि हो जाती, यदि कैजर चैम्बरलेन के सुझावों को मान लेता, तो दोनों देशों के हक में बहुत ही अच्छा होता। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। चैम्बरलेन के सुझावों को अस्वीकार करके कैजर ने एक बहुत बड़ा अवसर खो दिया। अब प्रश्न यह उठता है कि आंग्ल-जर्मन वार्तालाप असफल क्यों हो गया ? इसके अनेक कारण थे। जर्मनी कुछ खास शर्तों पर ब्रिटेन के साथ संधि करने को तैयार था। जर्मनी चाहता था कि ब्रिटेन आल्सेस-लोरेन को जर्मनी का अभिन्न अंग मान ले। जर्मनी की दूसरी इच्छा थी कि ब्रिटेन आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य की प्रादेशिक अखंडता को बनाये रखने का आश्वासन दे। जब तक ब्रिटेन इन दोनों शर्तों को नहीं मान लेता तब तक आंग्ल-जर्मन-गुट का रूस या फ्रांस के विरुद्ध कोई मतलब नहीं होता। बीसवीं सदी के प्रारंभ में बाल्कन-प्रायद्वीप की हालत चिंताजनक हो गयी थी। उस क्षेत्र में युद्ध की संभावना थी और जर्मनी को भय था आस्ट्रिया के कारण वह भी इस युद्ध में न फंस जाय। इस संभावित युद्ध में जर्मनी ब्रिटेन का पूर्ण सहयोग चाहता था। चैम्बरलेन के सुझाव में इस तरह की कोई चर्चा नहीं की गयी थी और अगर चैम्बरलेन इस तरह का कोई आश्वासन दे भी देता तो ब्रिटिश-संसद उसे अवश्य ही नामंजूर कर देती। इस स्थिति में जर्मनी ने ब्रिटेन की दोस्ती प्राप्त करने के लिए आस्ट्रिया की दोस्ती की कुर्बानी क्यों नहीं दी ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि किसी यूरोपीय युद्ध के अवसर पर जर्मनी

के लिए आस्ट्रिया की दोस्ती ब्रिटेन की दोस्ती से अधिक मूल्यवान थी। संकट के समय में आस्ट्रिया ही जर्मनी की सहायता कर सकता था और उसकी रक्षा भी। जैसा कि एक व्यक्ति ने कहा था-"ब्रिटेन की नौ-सेना कोई चक्के पर नहीं चलती है।" इसका अर्थ था कि अगर जर्मनी पर कोई हमला हो जाता है तो ब्रिटेन की नौ-सेना उसकी रक्षा नहीं कर सकती थी। यूरोपीय महाद्वीप में रूस की थलसेना सबसे अधिक शक्तिशाली थी। जर्मनी को इससे बहुत बड़ा खतरा था। ब्रिटेन के साथ मित्रता करके और आस्ट्रिया को ठुकराकर जर्मनी दो सीमाओं पर युद्ध नहीं कर सकता था। आस्ट्रिया की दोस्ती जर्मनी के लिए आवश्यक थी। अतः जर्मनी ने चैम्बरलेन के प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

जर्मनी की गलत धारणा : जर्मनी द्वारा ब्रिटिश-प्रस्ताव को ठुकारने का एक दूसरा कारण यह था कि जर्मनी के शासक अपने इस विचार पर पूर्णतया निश्चित थे कि ब्रिटेन किसी भी हालत में फ्रांस और रूस जैसे अपने दुश्मनों के साथ नहीं मिल सकता है। जर्मनी में रूस और ब्रिटेन तथा फ्रांस और ब्रिटेन में मेल-मिलाप की कल्पना भी नहीं की जाती थी। खासकर रूस और ब्रिटेन की दोस्ती जर्मनी की निगाह में असंभव ही थी। कुछ समय के लिए जर्मन लोग ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच मेल-मिलाप को संभव मानते थे, लेकिन जहां तक रूस का संबंध था वे कभी भी विश्वास करने को तैयार नहीं थे। ऐसी स्थिति में जर्मनी के शासकों ने ब्रिटेन के प्रस्ताव को आसानी से ठुकरा दिया।

बोअर युद्ध : बोअर-युद्ध के कारण ब्रिटेन और जर्मनी का संबंध अत्यंत खराब हो चला था। इस युद्ध को लेकर जर्मनी का जनमत ब्रिटेन से काफी क्षुब्ध था। जर्मनी के लोग नहीं चाहते थे कि बोअरों के दमन करनेवाले अंग्रेजों के साथ उनका देश दोस्ती करे। उधर ब्रिटेन में भी बोअर युद्ध को लेकर जर्मनी का काफी विरोध हो रहा था। ब्रिटेन की जनता समझती थी कि जर्मन-सरकार बोअरों को ब्रिटेन के खिलाफ मदद कर रही है। इस मनमुटाव के वातावरण में दोनों देशों के अखबारों ने आग में घी का काम किया। जर्मनी के अखबार ब्रिटेन के खिलाफ और ब्रिटेन के अखबार जर्मनी के खिलाफ आग उगलते थे और जनमत को दूषित बना रहे थे। ऐसी स्थिति में अगर ब्रिटेन और जर्मनी के बीच एक संधि भी हो जाती तो यह बात निश्चित थी कि ब्रिटेन की संसद उसे अवश्य ही नामंजूर कर देती।

कुछ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विरोध : इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटेन की तरफ से आंग्ल जर्मन संधि का प्रस्ताव हुआ था। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ब्रिटेन के प्रायः सभी लोग जर्मनी के साथ संधि करने के पक्ष में थे। वास्तव में चैम्बरलेन को छोड़कर ब्रिटेन में कोई भी व्यक्ति जर्मनी के साथ संधि करने के लिए उत्सुक नहीं प्रतीत हो रहा था। ब्रिटेन की तरफ से भी इस तरह की संधि कायम करने में काफी कठिनाई थी। ब्रिटेन के कुछ राजनीतिज्ञों का यह विचार था कि अगर ब्रिटेन और जर्मनी में कोई संधि हो जाती है तो यूरोप का शक्ति-संतुलन और भी नष्ट हो जायगा। दूसरे, फ्रांस ब्रिटेन से काफी नाराज हो जायगा। इन सब बातों के अतिरिक्त इस प्रकार की संधि से ब्रिटेन को कोई विशेष लाभ नहीं पहुंचता था; क्योंकि त्रिगुट में देर में शामिल होने के कारण उस गुट के पुराने सदस्य ब्रिटेन के विचारों का उतना वजन नहीं देते जितना एक महान् राष्ट्र को मिलना चाहिए। ब्रिटेन में तटस्थता की नीति छोड़ने की बात थी; लेकिन इतने बड़े मूल्य पर नहीं। ऐसी स्थिति में आंग्ल-जर्मन वार्तालाप का असफल होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी।

वार्तालाप की असफलता के परिणाम : 'लार्ड लैन्सडाउन की जीवनी' के लेखक लार्ड न्यूटन के अनुसार 1901 के आंग्ल-जर्मन-वार्तालाप की असफलता विश्व-इतिहास में एक युगान्तकारी घटना थी। जर्मनी ने ब्रिटेन की मित्रता ठुकरा दी तो ब्रिटेन अनिवार्यतः दूसरे देशों की तरफ झुका। उधर अन्य कारणों से भी ब्रिटेन और जर्मनी के संबंध खराब हो गये थे। ऊपर बताया जा चुका है कि कैजर के हाथों में जर्मन विदेश नीति के संचालन का काम जिस समय आया उसी समय से जर्मनी की विदेश-नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे।

कैजर विश्व-राजनीति में जर्मनी के लिए नया मार्ग का अवलंबन करना चाहता था। 'इस नये मार्ग' का अर्थ था औपनिवेशिक साम्राज्य कायम करना। औपनिवेशिक साम्राज्य के लिए आवश्यक था कि जर्मनी केवल एक थलशक्ति ही नहीं रहे, बल्कि वह एक बहुत बड़ा सामुद्रिक शक्ति भी हो जाय। उसके पास बहुत बड़े-बड़े जहाजी बेड़े हों। इस दिशा में ब्रिटेन और जर्मनी में पारस्परिक विरोध बिल्कुल स्वाभाविक था। ब्रिटेन यह नहीं सह सकता था कि उसके सामुद्रिक आधिपत्य को कोई दूसरा राज्य नष्ट करने का प्रयत्न करे या उसका कोई नया प्रतिद्वंद्वी मैदान में उतर आये। कैजर की प्रेरणा से जर्मनी की नाविक-शक्ति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही थी। जर्मनी की संसद ने 1898 और 1900 में दो कानून पास किये। इन कानूनों का उद्देश्य जर्मनी की नाविक शक्ति को बढ़ाना था। ब्रिटेन के लोग इस बात से काफी चिंतित थे यद्यपि जर्मन-सरकार बार-बार यह घोषणा करती थी कि नाविक-शक्ति की यह वृद्धि केवल आत्मरक्षा के लिए है; पर ब्रिटिश जनता इसके वास्तविक अभिप्राय को भलीभाँति समझती थी। वे लोग अच्छी तरह अनुभव करते थे कि जर्मनी के रूप में एक नया प्रतिद्वंद्वी उनके सामुद्रिक आधिपत्य को नष्ट करने के लिए उत्पन्न हो रहा है और यदि शीघ्र ही उसकी बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट नहीं किया जायगा तो ब्रिटेन का सामुद्रिक उत्कर्ष नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। जिस समय जर्मन संसद में नौ-सेना संबंधी कानून पास हो रहे थे उसी समय मित्रता कायम करने के लिए आंग्ल-जर्मन-वार्तालाप भी चल रहा था। जब यह वार्तालाप असफल हो गया तो ब्रिटेन के लोगों की चिंता और भी बढ़ गयी।

केवल सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने तक ही बात सीमित नहीं रही। कैजर की अभिलाषाएं असीम थीं और वह यूरोप से बाहर उन क्षेत्रों की राजनीति में भी हस्तक्षेप करने लगा था, जिसको ब्रिटेन अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक समझता था। कैजर अब इस बात का उद्योग कर रहा था कि तुर्की के सुल्तान के साथ मैत्री स्थापित करके उसके साम्राज्य पर अपना प्रभाव स्थापित किया जाय। इस तरह की बातों को देखकर ब्रिटेन की 'शानदार तटस्थता' की नीति खतरे से खाली नहीं है और जितना जल्द इसका अंत हो उतना अच्छा है। जर्मनी ने ब्रिटेन के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस अकेलेपन की स्थिति में ब्रिटेन दूसरे दोस्तों की खोज में निकल पड़ा। जर्मनी द्वारा ब्रिटेन के प्रस्तावों की अस्वीकृति का पहला परिणाम हुआ 1902 की आंग्ल-जापानी संधि और उसके बाद 1904 की आंग्ल फ्रांसीसी संधि।

FOOT NOTES

1. "When it was discovered that the untrained Boers could on occasion defeat British regulars, sympathy turned to enthusiasm and the efforts of the two little states to defend their independence against a mighty empire were watched with breathless interest and rewarded with instincted applause. To hostile eyes England appeared as the great bully who had already swallowed half the world and was about to gobble the two peasant republics..... . With scarecely an exception the press of Europe sympathised with the Boers.

—*G.P.Gooch, History of Modern Europe, p. 204*

2. "In shaping Britain's foreign policy, the Boer War played no small part. British statesman felt, as never before, the disadvantages of British isolation, when they found themselves in 1899 confronted by a disapproving world." —*P.T.Moon, Imperialism and World Politics. p.181*

अध्याय 4

आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता

(Anglo-Franch Entente)

समझौते की पृष्ठभूमि : बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जर्मनी यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली देश था। आस्ट्रिया और इटली उसके सहयोगी राज्य थे और वह शक्तिशाली त्रिगुट का नेता था। यूरोप में जर्मनी की सुदृढ़ स्थिति को चुनौती देनेवाला कोई राज्य नहीं था। यह ठीक है कि 1894 में रूस और फ्रांस का एक विरोधी द्विगुट बन गया था, लेकिन जर्मनी के त्रिगुट के मुकाबले में यह काफी कमजोर था। इसलिए यूरोप की शक्ति-राजनीति में जर्मनी की स्थिति काफी मजबूत थी। लेकिन यह स्थिति हमेशा कायम रहनेवाली नहीं थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में यह स्थिति बदली और यूरोप की राजनीति में जर्मनी की प्रधानता खत्म हो गयी। इस महान कूटनीति क्रांति को पैदा करने में 1904 के आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते (Anglo-French Entente) की सबसे महत्वपूर्ण देन है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रिटेन और जर्मनी के संबंध निरंतर खराब हो रहे थे। इसके दो प्रमुख कारण थे। कैजर विलियम जर्मनी को एक महान सामुद्रिक शक्ति के रूप में देखना चाहता था। इस उद्देश्य से 1898 और 1900 में जर्मनी संसद ने नौ-सेना से संबंधित दो कानून बनाये। इंगलैंड के लिए यह प्रत्यक्ष चुनौती थी। ब्रिटेन किसी भी हालत में यह सहने को तैयार नहीं था कि उसके सामुद्रिक प्रभुत्व को कोई अन्य राज्य नष्ट कर दे। लेकिन जर्मन नौसेना का विकास इसी उद्देश्य से किया जा रहा था। जर्मन चांसलर बूलो ने कहा था कि "हमलोगों को अपनी नौसेना का विकास ब्रिटेन की नौसेना को ध्यान में रखकर करना चाहिए।"

ब्रिटेन के सामुद्रिक एकाधिपत्य को नष्ट करने के अतिरिक्त जर्मनी की एक दूसरी योजना भी थी। कैजर बर्लिन से बगदाद तक एक रेलवे लाइन का निर्माण करना चाहता था। पहले से ही तुर्की में जर्मनी का प्रभाव बढ़ रहा था। तुर्की के आर्थिक जीवन पर प्रभाव कायम करने के लिए कान्सटेन्टिनोपुल में बर्लिन-बैंक की एक शाखा खोली गयी। 1888 में जर्मन पूंजीपतियों को कान्सटेन्टिनोपुल से अंगोरा तक रेलवे-निर्माण की अनुमति मिल गयी। 1893 में यह लाइन बनकर तैयार हो गयी। इसके बाद जर्मन पूंजीपतियों तथा इंजीनियरों ने 1896 तक एक दूसरी लाइन भी बना ली और तुर्की के सुलतान से वे इस बात की अनुमति मांगने लगे कि इस लाइन को बढ़ाकर बगदाद तक पहुंचा दिया जाय। कैजर सोचता था कि यदि कान्सटेन्टिनोपुल और बगदाद के बीच रेल लाइन का निर्माण जर्मन पूंजी द्वारा हो जाय, तो बर्लिन से बगदाद तक का रेल-मार्ग जर्मन प्रभाव में आ जायगा और जर्मनी के लिए एशिया पहुंचने का एक ऐसा मार्ग कायम हो जायगा, जो पूर्णतया जर्मन-अधिकार में होगा। राजनीतिक तथा सामरिक दृष्टिकोणों से इस रेल मार्ग का बहुत बड़ा महत्व था और यूरोप के सभी राष्ट्र इसके महत्व को समझ रहे थे। 1903 में तुर्की सुलतान ने बगदाद रेलवे के निर्माण की अनुमति जर्मनी को प्रदान कर दी।

तुर्की के सुलतान की इस अनुमति से ब्रिटेन के लिए मानो वज्र गिर गया। बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना में ब्रिटेन को जर्मनी की छाया भारतवर्ष में दिखने लगी। इस रेल-मार्ग के सहारे जर्मनी ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के द्वार पर पहुंच सकता था। यह बात ब्रिटेन की किसी भी दशा में सह्य नहीं थी। जर्मनी अपनी सामुद्रिक शक्ति को निरंतर बढ़ा रहा था, जर्मनी ब्रिटेन द्वारा दोस्ती के लिए बढ़ाये गये हाथ को पकड़ने से इंकार कर रहा था और अंत में यह बर्लिन बगदाद रेलवे की बात आयी। 1903 में **लार्ड लैंसडाउन** ने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि "ब्रिटेन अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ इस योजना का विरोध करेगा।" ब्रिटेन के दृष्टिकोण से जर्मनी जिस नीति का अवलंबन कर रहा था उसका साफ-साफ यह मतलब था कि वह संपूर्ण संसार पर अपना दबदबा कायम करना चाहता था। अतएव ब्रिटेन इसका विरोध करने के लिए तैयार हो गया। लेकिन जर्मनी एक महान शक्ति था। अकेले ब्रिटेन उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। इसके लिए कुछ अन्य राष्ट्रों के साथ मित्रता का संबंध कायम करना आवश्यक था। अत: ब्रिटेन ने अपनी तटस्थता की नीति को छोड़ने का फैसला कर लिया। जापान के साथ 1902 में उसकी संधि हो चुकी थी; लेकिन यूरोपीय राजनीति में जापान की मित्रता का कोई विशेष महत्व नहीं था। जर्मनी का विरोध करने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों की मैत्री जरूरी थी। फ्रांस पड़ोस का राष्ट्र था और ब्रिटेन की तरह वह भी जर्मनी का विरोधी था। यद्यपि फ्रांस और ब्रिटेन बहुत दिनों से एक-दूसरे के विरोधी थे, जर्मनी का खतरा दोनों के लिए समान था। परिस्थिति की मांग थी कि ये दोनों देश अपने परंपरागत विरोध को भूलकर आपस में एक समझौता कर लें। अत: 1904 में दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौता को आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता (Angle French Entente) कहते हैं। बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी की यह एक मुख्य कूटनीतिक क्रांति थी।

आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता का उत्पत्ति

विदेश मंत्री देल्कासे के विचार : यदि एक तरफ ब्रिटेन और जर्मनी का आपसी संबंध दिनोंदिन बिगड़ रहा था तो दूसरी तरफ फ्रांस और ब्रिटेन के बीच सद्भावना और मित्रता का वातावरण भी तैयार हो रहा था। इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटेन और फ्रांस सदियों से एक-दूसरे के कट्टर दुश्मन रहे थे। यहां तक कि फसोदा-संकट को, जिस कारण दोनों के बीच युद्ध होना अवश्यंभावी हो गया था, अभी अधिक दिन नहीं हुए थे। लेकिन अब इस घटना को दोनों देश भूल जाने को तैयार थे। यूरोपीय राष्ट्रों को बीच अगर इस समय ब्रिटेन का कोई निकट का मित्र हो सकता था तो वह फ्रांस था। फ्रांस की मित्रता प्राप्त करने के लिए ब्रिटेन अपनी पुरानी शत्रुता को भूल जाने को तैयार था। उधर जून, 1898 में देल्कासे (Delcase) फ्रांस का विदेश मंत्री बना। यह ब्रिटेन के साथ मेल-जोल बढ़ाने का बहुत बड़ा समर्थक था। उसका विचार था कि यदि फ्रांस को अपने औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार करना है और आल्सेस-लोरेन को वापस लौटाना है तो फ्रांस को ब्रिटेन के साथ अवश्य मित्रता कर लेनी चाहिए। इस मित्रता के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए उसने अनेक कदम उठाये। उसने ब्रिटेन के साथ छोटे-छोटे औपनिवेशिक प्रश्नों को तय कर लिया। नाइजर की तलहटी में लंबे अर्से से आंग्ल-फ्रांसीसी सीमांत को लेकर विवाद चला रहा था। एक संधि के द्वारा इस विवाद को खत्म किया। फिर ऊपरी नील तथा कांगों में प्रभाव क्षेत्रों के विवाद को सुलझाया। इसके बाद फसोदा से उसने फ्रांसीसी को वापस बुला दिया। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि दोनों देशों का संबंध अच्छा करने के लिए देल्कासे ने सभी संभव उपायों का सहारा लिया जो उद्देश्य प्राप्त करने में सहायक हो सकते थे।

टामस बर्कले का प्रयास : दोनों देशों का जनमत अभी तक किसी प्रकार के समझौते के विरुद्ध था। फिर भी दोनों देशों का मेल मिलाप बढ़ रहा था। उस समय ब्रिटेन में आंग्ल-फ्रांसीसी मित्रता का सबसे बड़ा समर्थक सर टामस बर्कले (Tomas Barklay) नामक एक पूंजीपति था। उसके प्रयास से ब्रिटेन के चैम्बर्स

ऑफ कामर्स का एक प्रतिनिधि दल पेरिस गया उसके बाद फ्रांस का एक ऐसा ही प्रतिनिधि दल लंदन आया। व्यावसायिक प्रतिनिधि दलों के भ्रमण के बाद दोनों की संसद के सदस्यों की बारी आयी। दोनों देशों की संसद के सदस्यों ने दोनों राजधानियों की क्रमशः यात्रा की।

व्यक्तित्व का प्रभाव : इसी बीच 1901 में महारानी विक्टोरिया की मृत्यु हो गयी और सप्तम एडवर्ड ब्रिटेन का सम्राट बना। एडवर्ड की व्यक्तिगत सहानुभूति फ्रांस के साथ थी। प्रिंस ऑफ वेल्स के रूप में वह कई बार फ्रांस का भ्रमण कर चुका था। वह धड़ल्ले से फ्रेंच भाषा में बोल सकता था और अनेक फ्रांसीसी उसके व्यक्तिगत मित्र थे। इसके कुछ ही दिनों बाद ब्रिटेन के विदेश-मंत्रालय में भी परिवर्तन हुआ। 1902 में लार्ड लैंसडाउन (Lord Lansdown) ब्रिटेन का विदेश मंत्री नियुक्त हुआ। लैंसडाउन की मां फ्रांसीसी महिला थी और वह स्वयं फ्रांस के साथ दोस्ती का बहुत वड़ा समर्थक था। भाग्यवश उस समय लंदन में फ्रांसीसी राजदूत कैम्बो (Cambon) बहुत ही योग्य व्यक्ति था और वह भी अपने विदेश-मंत्री (देल्कासे) की तरह आंग्ल- फ्रांसीसी समझौते का समर्थक था।

राज्याध्यक्षों की यात्रा : सितंबर 1903 में सम्राट एडवर्ड फ्रांस की यात्रा पर पेरिस पहुंचा। वहां उसका भव्य स्वागत हुआ। सम्राट ने वहां जो भाषण दिया उससे फ्रांसीसी जनता के हृदय को जीत लिया। उसने कहा : "आपसे कहने की आवश्यकता नहीं है कि पेरिस में एक बार फिर आने से मुझे कितनी प्रसन्नता हो रही है। जैसा कि आप जानते हैं, पेरिस में कई बार आ चुका हूं और हर बार मुझे पहले से अधिक प्रसन्नता हो रही है। पेरिस के लिए मैं एक ऐसे प्रेम का अनुभव करता हूं जो अनेक सुखों और अविस्मरणीय स्मृतियों के कारण और भी सुदृढ़ होता चला गया है। मुझे पूरा विश्वास है कि दोनों देशों के बीच विरोध के दिन अब सदा के लिए समाप्त हो गये हैं। मैं ऐसे अन्य दो देशों को नहीं जानता जिनकी समृद्धि एक-दूसरे पर इतना अधिक निर्भर है। भूत में गलतफहमियों और मतभेद के कारण रहे होंगे, परंतु यह प्रसन्नता की बात है कि अब वह समाप्त हो चुका है और भुलाया जा सकता है। मेरा सारा ध्यान इसी पर केंद्रित रहता है और दोनों देशों की मित्रता को कैसे बढ़ाया जाय।" पेरिस की जनता पर सम्राट के इस भाषण का गहरा प्रभाव पड़ा। प्रोफेसर गूच लिखते हैं कि इस यात्रा ने दोनों देशों के उस गंभीर विरोध का अंत किया जिसका आरंभ फसोदा के संकट से हुआ था।

इसके तीन महीने बाद फ्रांस के राष्ट्रपति लूबे (Lubet) जवाबी दौरा में इंग्लैंड की यात्रा पर आया। दोनों ओर से इस अवसर पर अत्याधिक हार्दिकता का प्रदर्शन किया गया। फ्रांसीसी राष्ट्रपति ने अपने शाही मेजबान को संबोधित करते हुए कहा : "आपकी स्मरणीय पेरिस-यात्रा की स्मृतियां फ्रांस की चिर संचित निधि के समान हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इसके बहुत ही मधुर परिणाम होंगे।" सम्राट एडवर्ड ने उत्तर में राष्ट्रपति को प्रेम और मैत्री भावना का विश्वास दिलाया। ब्रिटेन से विदा होते समय राष्ट्रपति लूबे ने सम्राट एडवर्ड को एक विदाई संदेश भेजा-"यह मेरी सबसे बड़ी कामना है कि दोनों देशों का मेल चिरस्थायी हो।"

मध्यस्थता का समझौता : इसके बाद दोनों देशों के बीच तुरंत ही एक मध्यस्थता संबंधी समझौता हुआ। इसके द्वारा यह निश्चय किया गया कि "कानूनी दृष्टिकोण के संबंध में मतभेद, विशेषकर वे मतभेद जिनका संबंध मौजूदा समझौतों की व्याख्या की कठिनाइयों से है, हेग समझौते की सोलहवीं धारा के अनुसार स्थायी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने प्रस्तुत किये जायेंगे।" ब्रिटेंन और फ्रांस के इस तरह के एक समझौते के सबसे बड़े समर्थक टामस बर्कले थे। समझौता हो जाने पर लंदन स्थित फ्रांसीसी राजदूत पाल कैम्बो ने लिखा, "यह समझौता दिन-प्रतिदिन उठनेवाली अनेक कठिनाइयों को, जिसके परिणामों के संबंध में कोई पहले से अनुमान नहीं कर सकता था, हटा देगा।"

ब्रिटेन और फ्रांस में समझौता : राष्ट्रपति लूबे के साथ फ्रांसीसी विदेश-मंत्री देल्कासे भी लंदन आया था। वहां उसने ब्रिटिश विदेश मंत्री लार्ड लैंसडाउन से बातचीत शुरू कर दी थी। दोनों विदेश-मंत्री मित्रता के इच्छुक थे। ब्रिटेन और फ्रांस के बीच औपनिवेशिक प्रश्नों को लेकर कटुता थी। दोनों विदेश मंत्री इस

कटुता का अंत कर देना चाहते थे। बातचीत होने लगी। दोनों पक्ष एक-दूसरे की कठिनाइयों को दूर कर देना चाहते थे। जिन-जिन औपनिवेशिक प्रश्नों पर झगड़ा था, उनको शांतिपूर्वक तय करने के लिए वे तैयार हो गये। 8 अप्रैल, 1904 के दिन दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया। यह **आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता** (Anglo-French Entente) के नाम से प्रसिद्ध है।

इस समझौते के द्वारा दोनों देशों के बीच औपनिवेशिक मामलों पर जो मतभेद थे उन्हें तय किया गया। न्यूफाउण्डलैंड, सेनिगेम्बिया, स्याम, मेडागास्कर, न्यूहेब्रिज इत्यादि को लेकर इन दोनों देशों के बीच बहुत दिनों से झंझट चला आ रहा था। समझौते ने इन सभी झंझटों का निराकरण अंतिम रूप से कर दिया। लेकिन समझौते का सबसे महत्वपूर्ण अंश मिस्त्र और मोरक्को से उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में इस प्रश्न को लेकर दोनों राज्यों में युद्ध छिड़ने से बचा था। इस समझौते के द्वारा फ्रांस मान गया कि मिस्त्र और सूडान पर ब्रिटेन का प्रभुत्व रहेगा और वह इस मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। ब्रिटेन को अधिकार होगा कि वह इस क्षेत्र में अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार कर सके। इसके बदले में ब्रिटेन ने मान लिया कि मोरक्को में फ्रांस का विशेष स्वार्थ है। अतः ब्रिटेन को इस बात का कोई एतराज नहीं होगा कि फ्रांस मोरक्को में अपने प्रभुत्व की वृद्धि करे, तात्पर्य यह कि मिस्त्र ब्रिटेन के तथा मोरक्कों फ्रांस के प्रभाव-क्षेत्र मान लिये गये।

मिस्त्र और मोरक्को से संबंधित समझौते की धाराओं को दो कोटि में रखा गया था। इसके कुछ अंश को प्रकाशित किया गया और कुछ को गुप्त रखा गया था। प्रकाशित शर्तों में कहा गया था कि मोरक्को की राजनीतिक अवस्था में परिवर्तन करने का कोई इरादा नहीं है, पर यह मान लिया गया कि मोरक्को में कानून और व्यवस्था को बनाये रखने की मुख्य जिम्मेवारी फ्रांस की होगी। फ्रांस को मोरक्को की सहायता करने का भी अधिकार दिया गया ताकि वहां राजनीतिक, आर्थिक, वित्तीय और सैनिक सुधार हो सके। ब्रिटिश सरकार ने मान लिया कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए फ्रांस जो कुछ भी करेगा उसका वह विरोध नहीं करेगी। लेकिन ऐसी कार्रवाई से ब्रिटेन के अधिकारों पर तथा मोरक्को संबंधी अंतर्राष्ट्रीय समझौतों पर किसी तरह का आघात नहीं पहुंचना चाहिए। दोनों पक्षों ने मोरक्को में स्पेन के विशेष स्वार्थों को भी स्वीकार किया। मिस्त्र में ब्रिटेन को मुक्त हस्त प्रदान किया गया।

पर इस समझौता में महत्वपूर्ण गुप्त धाराएं भी थीं जिनके द्वारा फ्रांस और स्पेन के बीच अंततः मोरक्को के विभाजन की व्यवस्था की गयी थी।

समझौते का प्रकाश्य धाराओं की घोषणा होने पर स्पेन के शासक बहुत नाराज हुएं, क्योंकि मोरक्को में स्पेन का भी स्वार्थ था और समझौते के संदर्भ में दोनों में से किसी भी पक्ष ने मोरक्को से विचार विनिमय नहीं किया था। स्पेन के राजदूत ने तुरंत देल्कासे से मुलाकात की और चेतावनी देते हुए कहा कि "इस आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के गंभीर परिणाम होंगे तथा अनेक अप्रत्याशित समस्याएं पैदा हो सकती हैं।" इस पर देल्कासे ने राजदूत को आश्वासन दिया कि जब भी मोरक्को का विभाजन होगा तो स्पेन को उसका उचित हिस्सा अवश्य मिल जायगा। इस आश्वासन की पुष्टि फ्रांस और स्पेन के बीच एक गुप्त संधि द्वारा कर दी गयी। इस पर स्पेन शांत हो गया।

समझौता के प्रेरक तत्व : आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता के दोनों पक्ष, ब्रिटेन और फ्रांस अपने अलग- अलग उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस समझौता में शामिल हुए थे। इंगलैंड पृथकतावादी नीति का परित्याग करने का संकल्प कर चुका था। वह जर्मनी से एक संधि करना चाहता था, लेकिन जब जर्मनी की ओर से उत्साहवर्द्धक उत्तर नहीं मिला तो फ्रांस की ओर मुड़ना उसके लिए बिल्कुल स्वाभाविक था। ब्रिटेन झगड़े के उन अनेक कारणों को जिनके कारण फ्रांस के साथ कई बार लड़ाई छिड़ने की नौबत आ गयी थी, हमेशा के लिए खत्म कर देना चाहता था। इसके अलावे वह मिस्त्र में कार्रवाई के लिए पूरी स्वतंत्रता चाहता था। फ्रांस सें समझौता कर लेने से इन सारे उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती थी।

जहां तक फ्रांस के उद्देश्य का प्रश्न है, वह सर्वप्रथम मोरक्को पर अपना अधिकार कायम करना चाहता था। जिस क्षण देल्कासे ने विदेश विभाग का काम संभाला, तभी से वह मोरक्को में फ्रांस का प्रभाव बढ़ाने के लिए कार्यशील रहा। इसी उद्देश्य से उसने 1900 में मोरक्को से संबंधित एक संधि स्पेन से की थी, पर जबतक संधि एक महाशक्ति का समर्थन नहीं प्राप्त कर लेती तबतक इसका कार्यान्वयन असंभव ही था। ब्रिटेन के साथ समझौता कर लेने से यह उद्देश्य पूरा हो रहा था। दूसरे, यह ब्रिटेन के साथ लंबे अर्से से चला आता हुआ वैमनस्य को खत्म करना चाहता था। ताकि अंततः ब्रिटेन को एक मित्र राज्य बनाकर एक विरोधी त्रिगुट की स्थापना किया जा सके। फ्रांस इस बात का अनुभव कर चुका था कि रूस के साथ संधि से उसको अधिक लाभ मिलने वाला नहीं है। रूस ने उसे अनेक संकटपूर्ण अवसरों पर बहुत ही कम सहारा दिया था। इस कमी को पूरा करने के लिए ब्रिटेन के साथ मेल-जोल बढ़ाना आवश्यक प्रतीत हो रहा था।

समझौता का महत्व

रोजबरी के विचार : आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता ब्रिटेन और फ्रांस दोनों देशों की राजनीति में एक क्रांति था। दोनों देशों में बड़े उत्साह के साथ उसका स्वागत हुआ। संपूर्ण उन्नीसवीं सदी में दोनों देश एक-दूसरे के घोर विरोधी रहे थे। अब वे परस्पर मित्रता के सूत्र में बंध गये इस पर सबको खुशी थी। केवल लार्ड रोजबरी ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसको इस समझौते पर आशंका थी। उसका कहना था : "मेरा दुखमय और दृढ़ विश्वास है कि यह समझौता शांति कायम रखने के बदले समस्याओं को और भी जटिल बना देगा।" लार्ड रोजबरी की भविष्यवाणी ठीक निकली।

औपनिवेशिक समझौता : ब्रिटिश विदेश-मंत्री लार्ड लैंसडाउन की निगाहों में यह समझौता ब्रिटेन और फ्रांस के बीच केवल औपनिवेशिक झगड़ों को तय करने के सिवा कुछ और नहीं था। लेकिन इस समझौते का दायरा केवल औपनिवेशिक झगड़ों तक ही सीमित नहीं था। इसमें कोई शक नहीं कि इस समझौता के द्वारा दोनों के औपनिवेशिक झगड़ों का अंत हो गया लेकिन इस समझौते का महत्व इससे अधिक था। इसके द्वारा ब्रिटेन की उस विदेश नीति की नींव पड़ी जिसका अवलंबन वह प्रथम विश्वयुद्ध तक करता रहा। ब्रिटेन सदा के लिए जर्मनी से विमुख हो गया और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आंग्ल-फ्रांसीसी सहयोग की नींव पड़ गयी।

फ्रांस के लाभ : आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता से फ्रांस का आत्मविश्वास बढ़ गया। लैंसडाउन के ख्याल में वह भले ही केवल औपनिवेशिक समझौता रहा हो, लेकिन देल्कासे को इस समझौते में भविष्य का सुनहला दृश्य दिखलाई पड़ रहा था। अभी तक केवल रूस ही फ्रांस का मित्र था। लेकिन रूसी मित्रता पर अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता था, वह तो बराबर सुदूरपूर्व या बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में व्यस्त रहता था, पर अब फ्रांस को किसी की परवाह नहीं रह गयी। पूर्व में रूस उसका मित्र था और पश्चिम में ब्रिटेन। देल्कासे उस सुनहले दिन का स्वप्न देखने लगा और आल्सेस-लोरेन फिर से फ्रांस को वापस मिल जायेंगे। उसकी दृष्टि में वह दिन अब दूर नहीं था जब "मोरक्को पके हुए फल की तरह फ्रांस के बगीचे में स्वयं गिर जायेगा।" लैंसडाउन इस तरह की कल्पना करने में असमर्थ था। वह यही सोच रहा था कि आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता केवल "औपनिवेशक समझौता' मात्र है।

इटली की स्थिति : आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते ने इटली को भी त्रिगुट में अपने स्थान पर फिर से विचार करने के लिए बाध्य किया। हम देखते आ रहे हैं कि बहुत दिनों से इटली की विदेश-नीति अवसरवादी होती जा रही थी। इटली बराबर इसी ताक में रहता था कि वह उस गुट का साथ दे जिसका पलड़ा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भारी हो। जब जर्मनी का पलड़ा भारी था तो उसने उसका साथ दिया। लेकिन अब फ्रांस ब्रिटेन का पलड़ा भारी था। क्या ऐसी स्थिति में इटली जर्मनी का साथ देगा ? उसका स्वार्थ अब फ्रांस का साथ देने में सधता था। अतः वह आंग्ल-फ्रांसीसी गुट की तरफ झुकने लगा।

सुदूरपूर्व पर प्रभाव : आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता से सुदूरपूर्व की राजनीति के सुलझने की संभावना भी बढ़ गयी। इस समय जापान और रूस के बीच युद्ध अवश्यंभावी हो गया था। ब्रिटेन जापान का मित्र था और फ्रांस रूस का। ऐसी संभावना हो गयी थी कि इस युद्ध में ये चारों राष्ट्र फंस जायेंगे, लेकिन आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के फलस्वरूप यह संभावना मिट गयी। इतना ही नहीं, आंग्ल- फ्रांसीसी समझौते ने आंग्ल-रूसी समझौता के लिए भी रास्ता साफ कर दिया। एक तरफ फ्रांस और ब्रिटेन मित्र थे और दूसरी तरफ फ्रांस और रूस। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन और रूस कब तक एक-दूसरे के दुश्मन बने रहते। देल्कासे की अब केवल एक ही अभिलाषा रह गयी थी—ब्रिटेन, फ्रांस और रूस को मिलाकर एक-दूसरे विरोधी त्रिगुट की स्थापना करना। आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के कारण यह काम अत्यंत सुगम हो गया।

जर्मनी पर प्रभाव : कैजर ने इस समझौते को फ्रांसीसी कूटनीति की सफलता कहा। बात बिल्कुल ठीक थी। रूस की मित्रता को गंवाये बिना उसे ब्रिटेन की मित्रता प्राप्त हो गयी और मोरक्को में उसका प्रभुत्व कायम हो गया। ब्रिटेन को भी इस समझौते से बहुत लाभ हुए क्योंकि अब फ्रांस का भय जाता रहा और इस कारण वह जर्मनी के प्रति और उग्र नीति का अवलंबन कर सकता था। इस नवीन तथ्य को मानने से बूलो इंकार कर सकता था यद्यपि आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता का होना उसकी नीति की महान सफलता थी। इसके अतिरिक्त इस समझौते के कारण जर्मनी के त्रिगुट से फूट पड़ने की संभावना भी प्रतीत होने लगी। यह स्पष्ट था कि समझौता इटली की नीति को प्रभावित करेगा और वह जर्मनी से दूर हटने लगेगा। लेकिन बूलो को विश्वास था और इसी आधार पर उसने कैजर को आश्वासन दिया कि आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता तुरंत ही खत्म हो जाएगा। उसका अनुमान था कि जब रूस-जापान युद्ध को खत्म करने के लिए उन दोनों युद्धरत देशों के बीच संधि का वार्तालाप शुरू होगा तो उस समय फ्रांस रूस का और ब्रिटेन जापान का पक्ष लेगा और उस हालत में यह समझौता भंग हो जायेगा। लेकिन जैसा कि प्रो० ब्रैंडेनबर्ग लिखते हैं : यह एक दूसरा भ्रम था जो शीघ्र ही चूर हो गया। रूसी-जापानी संधि वार्तालाप शुरू हुआ और आंग्ल- फ्रांसीसी समझौता ज्यों-का-त्यों कायम रहा। इस हालत में जर्मनी की स्थिति डावांडोल होने लगी। आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता का यह एक महत्त्वपूर्ण परिणाम था।

इन सब कारणों से यूरोप की शक्ति राजनीति के इतिहास में समझौते का बहुत बड़ा महत्व है। ब्रिटेन और फ्रांस सदियों से एक-दूसरे के दुश्मन थे। लेकिन परिस्थिति ऐसी आ गयी कि इन देशों को इस शत्रुता को भूल जाना पड़ा। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ही समान रूस से चिंतित थे। अतः उन्होंने आपस में झगड़ों को दूर कर समझौता कर लेना ही उचित समझा। जर्मनी के भय ने ब्रिटेन फ्रांस की पुरानी शत्रुता को दूर कर उन्हें मित्र बना दिया। प्रोफेसर गूच ने भी लिखा है : "जर्मन नौ-सेना के भय से हमलोगों को फ्रांस के साथ जकड़ दिया।" इस स्थिति के लिए केवल एक ही व्यक्ति जिम्मेवार था और वह था जर्मन का घमंडी शासक कैजर विलियम द्वितीय। शक्ति और अधिकार के घमंड में वह इतना चूर हो गया था कि चैंबरलेन के विविध प्रस्तावों को उसने सहज ही ठुकरा दिया। यदि जर्मनी इन प्रस्तावों को मानकर ब्रिटेन के साथ किसी प्रकार समझौता कर लिये रहता तो ब्रैंडेनबर्ग जैसे जर्मन इतिहासकारों को बाद में पश्चाताप नहीं करना पड़ता।"[1]

FOOT NOTES

1. "With the coming of the Anglo-French Entente Germany's outwardly brilliant position between the two groups of great powers had passed away for ever......The consummation of the entente in 1904 destroyed for ever the sem-balance of our position as arbiter. We suddenly began to realise our parlous plight."

—***Brandenburg**, Form Bismarck to the Great War. P. 152*

अध्याय 5

मोरक्को का संकट

(The Moroccan Crisis)

मोरक्को की स्थिति और मेदरिद कन्वेनशन : अफ्रीका के एक प्राय: अज्ञात और महत्वहीन देश मोरक्को का एकाएक विश्व राजनीति के रंगमंच पर लाकर खड़ा कर देना आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता का तात्कालिक परिणाम हुआ। इसको लेकर जर्मनी और फ्रांस के बीच एक तीव्र संघर्ष प्रारंभ हुआ जो आल्सेस-लारेन के झगड़े से भी अधिक भयावह हो गया।

मोरक्को उत्तरी अफ्रीका का एक छोटा सा देश है। उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में यह एक सुलतान के अधीन स्वतंत्र देश था। मोरक्को पर यूरोप के प्राय: सभी देश आंखें गड़ाये हुए थे। उसका शासन बहुत कमजोर था और उसके राज्य में बराबर बलवा-विद्रोह होते रहते थे। सुलतान इतना शक्तिहीन था कि वह इन विद्रोहों से विदेशियों की रक्षा नहीं कर सकता था। मोरक्को में यूरोपीय बाशिंदों के जान-माल सुरक्षित नहीं थे। वे बराबर खतरे की स्थिति में रहते थे। अत: 1880 में मेदरिद में यूरोपीय राष्ट्रों के साथ मोरक्को के सुलतान की एक संधि हुई। इस संधि के अनुसार मोरक्को के सुलतान ने वादा किया कि वह विदेशियों की हिफाजत का अच्छा प्रबंध करेगा तथा संधि के हस्ताक्षरकारी देशों को समान रूप से अपने देश में व्यापारिक सुविधाएं देगा। मेदरिद संधि (Madrid Convention) का यह मतलब था कि मोरक्को में संसार के तेरह राष्ट्रों की, जिन्होंने इस संधि पर दस्तखत किये थे, स्वार्थ है। इन तेरह राष्ट्रों में फ्रांस और स्पेन का मोरक्को में विशेष स्वार्थ माना गया था।

पश्चिम में जिब्राल्टर की खाड़ी से लेकर पूर्व में अल्जीरिया के सीमांत तक स्पेन की कई बस्तियां कायम थीं। इसलिए मोरक्को के भविष्य में स्पेन की विशेष दिलचस्पी थी। लेकिन मोरक्को में फ्रांस के महत्वपूर्ण हित सन्निहित थे। अल्जीरिया के विशाल भूभाग पर फ्रांस का अधिकार 1830 में ही कायम हो गया था। लेकिन अभी तक मोरक्को और अल्जीरिया के बीच स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं कायम हुई थी। फलत: अल्जीरिया में भी मोरक्को के कबायली घुसकर लूटमार करते रहते थे। इस कारण फ्रांसीसी यह सोचने लगे थे कि अल्जीरिया की सुरक्षा तथा उत्तर अफ्रीकी साम्राज्य की उसकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मोरक्को पर फ्रांसीसी अधिकार का होना आवश्यक है। देल्कासे के विदेशमंत्री होते ही फ्रांस ने मोरक्को की फ्रांसीसी साम्राज्य में शामिल कर लेने का निश्चय कर लिया और इस प्रश्न पर 1904 में ब्रिटेन से उसका एक समझौता भी हो गया। गुप्त शर्तों के अनुसार यह तय हुआ कि फ्रांस मोरक्को को अपने साम्राज्य में मिलायगा और इसमें उसको ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त होगा। इस संधि में स्पेन के विशेष स्वार्थों को भी स्थान दिया गया।

फ्रांस का शांतिपूर्ण प्रवेश : उधर आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता द्वारा ब्रिटेन का सहयोग और समर्थन प्राप्त कर लेने के बाद फ्रांस ने मोरक्को में "सुधार का काम" नये उत्साह के साथ आरंभ किया। इन सुधारों में सहायता पहुंचाने के लिए फ्रांस ने मोरक्को को जून 1904 में बीस लाख फ्रैंक के कर्ज प्रदान किये। इसी समय मोरक्को के आदिवासी ने अमरीकी नागरिक पर्डिकैरिस को अपहरण करके कैद कर लिया। इसने यह बात स्पष्ट कर

दी कि यूरोपीयों के जान-माल की रक्षा के लिए मोरक्को में एक सशक्त शासन की कितनी आवश्यकता है और इस घटना के बाद मोरक्को में फ्रांस के 'शांतिपूर्ण प्रवेश' का मार्ग प्रशस्त हो गया। वर्ष के अंत में फ्रांस की सरकार ने मोरक्को के सुलतान के पास सुधार की एक वृहत् योजना भेज दी। मोरक्को की सैनिक तथा पुलिस-व्यवस्था का पुनर्गठन, सड़कों और तारों का निर्माण, एक बैंक की स्थापना आदि अनेक कार्य वृहत पैमाने पर शुरू हुए। इस प्रकार आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के बाद ब्रिटेन के विरोध से निश्चित होकर फ्रांस मोरक्को को अपने पूर्ण अधिकार में लाने का काम शुरू कर चुका था।

जर्मनी की प्रतिक्रिया : आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के प्रकाशन की जर्मनी में तत्काल प्रतिक्रिया हुई। 1880 के मेदरिद संधि पर जर्मनी भी हस्ताक्षरकारी था और मोरक्को में उसके हित भी निहित थे, पर न तो इंगलैंड ने और न फ्रांस ने ही समझौता करने से पहले जर्मनी से राय लेने की आवश्यकता समझी। इस कारण जर्मनी के नेता बहुत असंतुष्ट थे। उनका कहना था कि आज मोरक्को में जर्मनी की अवहेलना की गयी है, कल दूसरी अंतर्राष्ट्रीय समस्या में उसकी अवहेलना होगी। जैसा कि **होल्सटीन** ने कहा था : "यदि हम मोरक्को में बिना एक शब्द कहे हुए अपने पांव के अंगूठे को कुचल जाने देते हैं तो हम दूसरों को अन्यत्र वैसा ही करने को प्रोत्साहित करते हैं।" इसके अतिरिक्त जर्मनी को शक था कि आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता में प्रकाश्य घोषणा के अतिरिक्त कुछ गुप्त शर्तें भी अवश्य होंगी। ऐसी स्थिति में जर्मनी चुपचाप नहीं बैठ सकता था।

लेकिन प्रारंभ में जर्मनी का चांसलर फॉन में बूलो (Bulow) धैर्य से काम लेता रहा। इस पर उसने तत्काल किसी तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। बूलो को उम्मीद थी कि देल्कासे औपचारिक रूप से जर्मनी को मोरक्को समझौता की सूचना देगा तथा जर्मनी के हितों की गारंटी देगा। इस कारण बर्लिन में पूर्ण उदासीनता दिखलायी गयी जिसका अर्थ होता था कि जर्मनी को आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते के विषय में कुछ भी मालूम नहीं है। लेकिन इंतजार में लगभग एक वर्ष गुजर गया और सरकारी तौर पर जर्मनी को कोई सूचना नहीं दी गयी। उधर 'सुधार' के नाम पर फ्रांस मोरक्को के आंतरिक मामलों में लगातार हस्तक्षेप कर रहा था। फ्रांसीसी पूंजीपति बड़ी शीघ्रता से सड़क, तार, बंदरगाह इत्यादि बना रहे थे। मोरक्को में फ्रांसीसी बैंक खुल रहे थे। मोरक्को की पुलिस और सेना को फ्रांसीसी अफसर शिक्षा दे रहे थे। ऐसा मालूम होता था कि कुछ ही दिनों में मोरक्को अफ्रीका का दूसरा ट्यूनिस हो जायगा। स्थिति गंभीर थी। जर्मनी अब अधिक सहने को तैयार नहीं था। उसका धैर्य जाता रहा। देर करने में समस्या और भी विकट हो जायेगी। अत: जर्मनी के शासकों ने यह निर्णय लिया कि मोरक्को के संबंध में अब कुछ करना चाहिए। मोरक्को में फ्रांस के 'बलात्कार' को रोकने के लिए उन्होंने दो मार्गों का अवलंबन करने का निश्चय किया। 1904 के समझौते के बल पर ही फ्रांस मोरक्को में उछलकूद मचा रहा था। कूटनीतिक चाल चलकर इस समझौते को ही तोड़ दिया जाय और तब फ्रांस ठंडा पड़ जायगा। अगर कूटनीति चाल से यह काम संभव नहीं हो सका तो धमकी का सहारा लेकर फ्रांस को बतला दिया जाय कि जर्मनी से शत्रुता मोल लेना खतरे से खाली नहीं है। अतः जर्मनी ने कूटनीति और धमकी दोनों का सहारा लेकर मोरक्को की समस्या को हल करने का निश्चय किया। लेकिन जैसा कि **ब्रैंडेन्वर्ग** का कहना है : ''अफसोस तो इस बांत का है कि दुर्भाग्यवश जर्मनी के शासकों ने दोनों उपायों का अवलंबन एक ही साथ करना शुरू किया। इसका नतीजा यह हुआ कि आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता टूटने के बदले और भी मजबूत हो गया।"

यूरोप महागुट की योजना : जर्मनी के सामने आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते को तोड़ने का प्रश्न था। कैजर ने इसके लिए कूटनीतिक रास्ता ढूंढ निकाला। उसकी निगाहों में ब्रिटेन ही सबसे बड़ा अपराधी था। अगर ब्रिटेन फ्रांस का साथ नहीं देता तो फ्रांस मोरक्को में कुछ नहीं कर सकता था। अत: कैजर ने सोचा कि यूरोप के कुछ महान राष्ट्रों को मिल कर ब्रिटेन के विरुद्ध एक महागुट कायम किया जाय जिसके सदस्य, जर्मनी,

आस्ट्रिया, रूस तथा फ्रांस हों। इस काम को पूरा करने के लिए सबसे पहले रूस को मिलाना आवश्यक होगा। कैजर ने रूस की ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को उभाड़ना शुरू किया। उसने रूस को यह समझाना शुरू किया कि ब्रिटेन उसका सबसे बड़ा शत्रु है। रूस के साम्राज्यवादी प्रयासों को वही देश वर्षों से निष्फल बनाता आ रहा है। इतने से भी जब ब्रिटेन संतुष्ट नहीं हुआ तो सुदूर पूर्व में उसने रूस के शत्रु जापान से साथ मित्रता कर ली। इस तरह के तर्क से कैजर जार को अपने पक्ष में कर लेने का प्रयास कर रहा था। इसके अतिरिक्त कैजर का एक और भी स्वप्न था। वह सोच रहा था कि अगर वह रूस को अपने पक्ष में कर लेता है तो रूस का मित्र फ्रांस भी उसके जाल में फंस जायगा। इस प्रकार कैजर ब्रिटेन के खिलाफ एक यूरोपीय महागुट के निर्माण का स्वप्न देख रहा था।

ब्जरको (Bjorko) सम्मेलन : 24 जुलाई, 1905 को ब्जरको नामक स्थान में कैजर और जार की मुलाकात हुई। दोनों सम्राटों ने एक संधि करने का निश्चय किया। जार ने संधि पत्र पर हस्ताक्षर भी कर दिया। कैजर खुशी से झूम उठा। यूरोपीय महागुट का स्वप्न पूरा होने ही वाला था। लेकिन, कुछ दिनों के बाद कैजर की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। जब रूस के विदेशमंत्री को इस संधि का पता लगा तो उसने जार को यह सूचित किया कि ब्जरको संधि की शर्त द्विगुट की शर्तों के विरुद्ध है। रूस दोनों में से किसी एक ही संधि का सदस्य रह सकता है। इस पर जार को बहुत अफसोस हुआ। इसको प्रकट करते हुए उसने कैजर को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने ब्जरको संधि को मानने में अपनी असमर्थता प्रकट की। कैजर पर वज्रपात-सा हो गया। उसने जार से अनुनय-विनय किया, लेकिन उसका कोई फल नहीं हुआ। ब्रिटेन के विरुद्ध कैजर का महागुट का स्वप्न सदा के लिए समाप्त हो गया।

बूलो की मोरक्को नीति : कैजर को ब्जरको संधि की योजना से उसके चांसलर बूलों की नीति अधिक महत्वपूर्ण थी क्योंकि मोरक्को संकट की उत्पत्ति इसी नीति का परिणाम थी। बूलो का कहना था कि जर्मनी को जानबूझकर अपमानित किया गया है, उसकी प्रतिष्ठा और हितों पर धक्का पहुंचाया गया है। फिर भी उसने धैर्य से काम लिया और जर्मनी के समाचार-पत्रों को भी संयम से काम लेने की सलाह दी। जर्मन संसद में बोलते हुए उसने कहा, "यह मनाने का कोई कारण नहीं है कि यह समझौता किसी देश के लिए विरुद्ध अनुप्रेरित है। यह फ्रांस और ब्रिटेन के बीच झगड़े के कारणों के सौहार्दपूर्ण ढंग से दूर करने का प्रयत्न मालूम पड़ता है। जर्मनी के हितों की दृष्टि से हमें शिकायत करने का कोई आधार नहीं दिखाता। .....जहां तक मोरक्को का प्रश्न है हम आर्थिक दृष्टि से ही वहां दिलचस्पी रखते हैं। हमें मोरक्को में अपने हितों की रक्षा करनी है और हम उसकी रक्षा करेंगे।"

फिर भी बूलो भीतर-ही-भीतर बहुत व्यग्र था। उसकी दृष्टि में फ्रांस का विदेशमंत्री देल्कासे ही सभी झंझटों का मूल था। बूलो की दृष्टि में यूरोपीय शतरंज की बिसात पर देल्कासे एक ऐसा घृणित मोहरा था जिसको हटना आवश्यक था। 1880 की मेदरिद संधि से स्पष्टतया मोरक्को में तेरह राज्य के हितों की मान्यता दी थी। केवल एक देश इन सभी देशों के हितों का अपहरण नहीं कर सकता था। जर्मनी मोरक्को में "उन्मुक्त द्वार" (open door) की नीति का समर्थक था। अतः उसकी मांग न्यायसंगत थी। जर्मनी का विश्वास था कि इस प्रश्न पर यूरोप के सभी देश उसका समर्थन करेंगे, क्योंकि ब्रिटेन और फ्रांस अलग से समझौता करके अन्य पक्षों को मोरक्को में उनके अधिकारों से वंचित नहीं कर सकते थे।

बूलो ने इस स्थिति में फ्रांस की नीति का दृढ़ विरोध करने का निश्चय किया। मोरक्को में अराजकता को खत्म करने के नाम पर फ्रांस उस देश में अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। जर्मनी ने फ्रांस के हर कदम के समान अपना कदम उठाने का भी निर्णय किया। इस हालत में देल्कासे को मालूम हो जायगा कि जर्मनी चुप बैठने वाला नहीं है और तब वह जर्मनी को रियायतें देने के लिए तैयार हो जायगा। बूलों ने मोरक्को के सुलतान के साथ मित्रता का रवैया अपनाया। उसका उद्देश्य सुल्तान को फ्रांस विरोधी बनाना था ताकि "फ्रांसीसी सुधारों की योजनाओं" को वह अस्वीकृत कर दे। इस उद्देश्य से बूलो को सफलता भी मिली।

टैंजीयर का प्रदर्शन : इस समय बैरन फॉन हाल्स्टाइन (Baron Von Holstein) जर्मनी का विदेशमंत्री था। वह बड़ा नीति-कुशल और चालाक कूटनीतिज्ञ था। उसके अनुरोध पर बूलो ने कैजर को मोरक्को की यात्रा करने की राय दी। बूलो और हाल्स्टाइन का विचार था कि कैजर की मोरक्को की यात्रा से फ्रांस भयभीत हो जायगा और मोरक्को की समस्या का कोई संतोषजनक समाधान निकल जायगा। अतः यह निश्चय हुआ कि कैजर हैमवर्ग से कौर्फू जाते समय बीच में टैंजीयर में कुछ काल के लिए रुककर सुलतान का अभिवादन करे। इससे देल्कासे की परेशानी बढ़ेगी, उसकी योजना विफल होगी तथा मोरक्को में जर्मनी के आर्थिक हितों को लाभ पहुंचेगा।

कई तरह की कठिनाइयों के बावजूद 31 मार्च, 1905 को कैजर टैंजियर पहुंचा। वहां बड़े धूमधाम के साथ उसका स्वागत हुआ। वहां उसने मोरक्को की प्रादेशिक अखंडता और सुलतान की स्वतंत्रता तथा प्रभुसत्ता को कायम रखने के संबंध में घोषणाएं कीं। सुलतान को उसने परामर्श दिया कि मोरक्को में जो भी सुधार हों, वे "कुरान और इस्लाम की परंपरा के अनुकूल" हों तथा यूरोपीय परंपराओं का अंधानुकरण नहीं किया जाय। अपने एक भाषण के सिलसिले में उसने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि "मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि सुलतान के शासन में न केवल मोरक्को की स्वाधीनता ही अक्षुण्ण रहेगी, बल्कि सभी देशों को वहां व्यापार आदि का समान अवसर मिलेगा। मोरक्को किसी एक विशेष देश के प्रभाव में नहीं रह सकता।" मोरक्को स्थित फ्रांसीसी प्रतिनिधि राजदूत को चेतावनी देते हुए उसने कहा कि जर्मनी व्यापारिक स्वतंत्रता तथा दूसरों के साथ बरावरी का दर्जा चाहता है। वह सुलतान को एक स्वतंत्र राज्य का शासक मानता है और उससे प्रत्यक्ष रूप से तथा बराबरी के स्तर पर बातें करना चाहता है। अंत में कैजर ने यह इच्छा व्यक्त की कि फ्रांस जर्मनी की भावना का आदर करेगा।

कैजर का यह संपूर्ण वक्तव्य किसी भी प्रकार अनुचित नहीं था, लेकिन जिस नाटकीय ढंग से यह घोषणा की गयी थी वह निस्संदेह ही अनुचित थी। हाल तक जर्मनी मोरक्को में कोई विशेष रूचि का प्रदर्शन नहीं कर रहा था, पर एकाएक मोरक्को में इसकी अभिरुचि बढ़ गयी। लोगों को ऐसा लगा कि जर्मनी मोरक्को को बहाना बनाकर फ्रांस पर युद्ध घोषित करना चाहता है। कैजर की मोरक्को यात्रा से सुल्तान की हिम्मत भी बढ़ने लगी। वह फ्रांस के 'सुधार-योजनाओं' को नामंजूर करने लगा और जर्मनी के उकसाने पर मोरक्को की समस्या का निबटारा करने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग करने लगा। इस मांग में जर्मनी से उसको पूर्ण समर्थन मिला। मोरक्को को फ्रांस का आश्रित राज्य बनाने की योजना को विफल करने का यह सर्वोत्तम तरीका था। सम्मेलन की मांग करते समय उसने स्पष्ट कर दिया कि जर्मनी मोरक्को में अपने लिए कोई विशेष सुविधा नहीं चाहता, उसका उद्देश्य सभी देशों के हितों की रक्षा करना है। बूलो को पूरा विश्वास था कि सम्मेलन में उसको भी अन्य पक्षों से समर्थन मिलेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका "उन्मुक्त द्वार" की नीति की प्रबल समर्थक था। अतः वह जर्मनी की मांगों का अवश्य ही समर्थन करेगा और अमरीकी रुख का इंगलैंड पर अनुकूल असर पड़ेगा। आस्ट्रिया और इटली पर पूरा भरोसा किया ही जा सकता है जब कि रूस इस समय सुदूर पूर्व के युद्ध में फंसा हुआ था। अतः वह कोई अड़ंगा नहीं लगा सकता था। फ्रांस का संरक्षित राज्य बनने से बचने के लिए मोरक्को के लिए यह एकमात्र रास्ता था। अतः सुलतान का समर्थन मिलना भी निश्चित ही था। इस स्थिति में फ्रांस अल्पमत में पड़ जायगा और उसे अपनी मोरक्को संबंधी नीति का परित्याग करना पड़ेगा।

देल्कासे का नीति : टैंजीयर के प्रदर्शन की तीव्र प्रतिक्रिया फ्रांस और ब्रिटेन दोनों देशों में हुई। अपनी कार्यवाही के संबंध में जर्मनी का कहना था कि यदि वह निष्क्रिय बैठा रहता तो उसे एक दिन अचानक ही इस बात का पता लगता कि मोरक्को के द्वार उसके व्यापार के लिए सदा के लिए बंद कर दिये गये हैं। वस्तुतः जर्मनी का कहना कोई गलत नहीं था। फ्रांस की यह एक महती गलती थी कि मोरक्को से संबंधित

जर्मनी की स्वीकृति उसने पहले नहीं खरीद ली थी। उसने इटली, स्पेन और ब्रिटेन की सद्भावना को तो खरीद लिया था लेकिन जैसा कि **रेने मिले** लिखता है, "यह एक अंधापन था कि सरकार ने अपने पड़ोसियों में से केवल उस एक (जर्मनी) को छोड़कर जिससे डरने का उनके पास गंभीर कारण था और सभी के संबंध में पूरी सावधानी से काम लिया था।" इस हालत में जर्मनी की प्रतिक्रिया और उसका हस्तक्षेप किसी भी दृष्टिकोण से अनुचित नहीं कहा जा सकता था।

लेकिन घोर साम्राज्यवादी कट्टर जर्मनी विरोधी देल्कासे जर्मनी के इस "नग्न हस्तक्षेप" से बहुत बिगड़ गया। उसने जर्मन-नीति और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग का घोर विरोध किया। इस समय वह सब कुछ करने को तैयार था। वह जर्मनी का कट्टर दुश्मन था और मोरक्को को लेकर यदि इन दोनों देशों में युद्ध भी हो जाय तो इसके लिए वह तैयार था। वह "अभी या कभी नहीं" पर तुला हुआ था और उसने साफ-साफ कह दिया कि मोरक्को के विषय पर वह कभी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए राजी नहीं होगा।

संकट चरम सीमा पर : लेकिन बूलो एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के बुलाये जाने की मांग पर अडिग रहा। उसका कहना था कि सम्मेलन ही इन सारी समस्याओं का सबसे अच्छा समाधान है, क्योंकि जर्मनी का उद्देश्य अलग से समझौता करके कोई विशेष अधिकार प्राप्त कर लेना नहीं है और उनके अपने स्वार्थ दूसरे बड़े राष्ट्रों के स्वार्थों के साथ मिले हुए हैं। लेकिन ब्रिटेन और रूस का समर्थन पाकर देल्कासे अत्यंत दृढ़ता के साथ सम्मेलन के विचार का विरोध करता रहा। बूलांजे की घटना के बाद से फ्रांस और जर्मनी के संबंधों में सबसे बड़े संकट की घड़ी आ गयी। फ्रांस का वातावरण जर्मनी के द्वारा निकट भविष्य में ही युद्ध की चुनौती दिये जाने की अफवाहों और सेना में तैयारी की कमी की बातचीत से गूँज उठा। लेकिन देल्कासे को इसकी कोई परवाह नहीं थी। इसी समय जर्मनी का राजकुमार हेंकेनवान डौनर्समार्क ने पेरिस की यात्रा की और फ्रांसीसी प्रधानमंत्री से मुलाकात करके अपनी यात्रा का उद्देश्य उसे समझाया : "ऐसा जान पड़ता है कि आने वाले उन घटनाओं से आप परिचित नहीं हैं जिसके लिए भीतर-ही-भीतर तैयारी चल रही है और मैंने सीमा को इसलिए पार किया है कि आपको उनके संबंधों में जानकारी दे सकूं। जर्मनी के सम्राट और उसकी जनता सद्भावनापूर्ण संबंधों की स्थापना के उद्देश्य से किये जाने वाले प्रयत्नों के ठुकरा दिये जाने और जर्मनी को अकेला डाल देने की नीति का पालन किये जाने से अत्यधिक रुष्ट है। यह फ्रांस की नीति है या केवल देल्कासे की कल्पना ? यदि आप सोचते हैं कि आपके विदेशमंत्री ने आपके देश को एक बहुत बड़े खतरे के मार्ग की ओर प्रवृत्त किया है तो आप उससे अपना संबंध विच्छिन्न करके तथा अपनी विदेश-नीति को एक नयी दिशा में मोड़कर अपने दृष्टि को स्पष्ट कीजिए। सम्राट का विचार युद्ध करने को नहीं है, किंतु युद्ध में यदि आप पराजित हुए तो आपका सर्वनाश निश्चित है।"

स्पष्ट है कि राजकुमार द्वारा व्यक्त यह विचार एक चेतावनी था जो फ्रांस के प्रधानमंत्री को समय पर मिल गया। देल्कासे को छोड़कर मंत्रिमंडल के सभी अन्य सदस्य पहले से ही उसकी नीति से क्षुब्ध थे। फ्रांस के समक्ष अब कोई तीसरा विकल्प नहीं था। या तो वह देल्कासे की नीति के अनुसार जर्मनी से लोहा लेने के लिए तैयार हो जाय अथवा मंत्रिमंडल से देल्कासे को हटाकर उसकी उग्र नीति का परित्याग कर दिया जाय। जर्मनी की मांग भी यही थी।

देल्कासे का पतन : इस गंभीर अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर विचार करने के लिए 6 जून, 1905 को फ्रांसीसी मंत्रिमंडल की एक बैठक हुई। विदेशमंत्री के सभी मंत्रिमंडलीय सहयोगी उसके विरोध में थे, पर विदेश मंत्री ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि फ्रांस ने सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया तो यह उसके लिए बहुत अपमानजनक होगा। लेकिन प्रधानमंत्री ने अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन की बात मान लेने पर अपना मत प्रकट किया और उसके अन्य सहयोगियों ने इसका समर्थन किया। तब देल्कासे ने यह चेतावनी देते हुए कहा कि "उनकी दुर्बलता जर्मनी को प्रोत्साहन देगी।" मंत्रिमंडल को बैठक से उठकर चला गया और उसके बाद अपना त्यागपत्र दे दिया। जर्मनी की दृढ़ नीति सफल होती हुई प्रतीत होने लगी।

फ्रांस द्वारा सम्मेलन के लिए राजी होने के कारण : यह आश्चर्य की बात है कि फ्रांस अपने घृणित दुश्मन के सामने इस हालत में झुकने के लिए तैयार हो गया। जर्मनी ने चुनौती दी और फ्रांस डरकर पीछे हट गया। इसके कुछ महत्वपूर्ण कारण थे। सर्वप्रथम, फ्रांस का एकमात्र मित्र राज्य रूस अभी तरह-तरह की मुसीबतों से घिरा था। हाल ही में रूस को जापान के साथ युद्ध में भीषण पराजय हुई थी और इस समय देश में क्रांति तथा विद्रोहों का तांता लगा हुआ था, ऐसी हालत में फ्रांस युद्ध का सहारा नहीं ले सकता था।

फ्रांस द्वारा सम्मेलन के लिए राजी हो जाने का एक दूसरा कारण था। अमरीकी राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट का हस्तक्षेप। जर्मनी की सरकार जिस समय दलीलों और धमकियों द्वारा फ्रांस पर दबाव डाल रही थी उस समय कैजर ने रूजवेल्ट से प्रार्थना की कि सम्मेलन बुलाये जाने के प्रयत्नों में वह उसका साथ दे और फ्रांस तथा ब्रिटेन पर अपना प्रभाव डाले ताकि स्थिति और नहीं बिगड़े, पर स्थिति बिगड़ती ही गयी। रूजवेल्ट लिखता है : "युद्ध बहुत समीप दिखाई दे रहा था। इस कारण मैंने मामले को अपने हाथ में ले लिया और स्थिति को अस्थायी रूप से सुलझा दिया।" उसने फ्रांस को युद्ध की भयंकरता के संबंध में सचेत किया और उसे समझाया कि सम्मेलन फ्रांस के हितों पर किसी अन्यायपूर्ण अतिक्रमण के लिए स्वीकृति कदापि नहीं देगा और "यदि आवश्यक हुआ तो मैं जर्मनी के किसी ऐसे दृष्टिकोण का जो मुझे अनुचित दिखाई देगा कड़ा विरोध करूंगा। फ्रांस ने 23 जून को मुझे सूचना दी कि वह मेरी बात को मानने के लिए तैयार है। इसी प्रकार राष्ट्रपति ने जर्मन पर दबाव डाला की वह देल्कासे के पतन को अपनी जीत न बतावे और सम्मेलन में अमनीय रुख नहीं अपनाने का वादा करे। जर्मनी इस पर राजी हो गया और राष्ट्रपति को अपनी मध्यस्थता के कार्य में पूरी सफलता मिली।"

अलजिसरास सम्मेलन : मोरक्को की समस्या पर विचार करने के लिए जनवरी 1906 में अलजिसरास में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। मोरक्को सहित तेरह राज्यों के प्रतिनिधि इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे। 7 अप्रैल 1906 को एक संधि पर हस्ताक्षर हुआ जिसके आधार पर निम्नलिखित मुख्य निर्णय किये गये—

(1) मोरक्को की राजनीतिक स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक अखंडता को अक्षुण्ण रखा जाय।

(2) मोरक्को में "उन्मुक्त द्वार" की नीति का अवलंबन किया जाय।

(3) फ्रांस और स्पेन के सिपाहियों को मिलाकर मोरक्को में एक स्विस-इंस्पेक्टर-जनरल के अधीन एक अंतर्राष्ट्रीय पुलिस का संगठन किया जाय, जिसका काम मोरक्को में शांति तथा व्यवस्था कायम रखना होगा।

(4) मोरक्को की आर्थिक व्यवस्था के लिए ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी तथा स्पेन को मिलाकर एक संयुक्त स्टेट बैंक की स्थापना की जाय।

अलजिसरास सम्मेलन का महत्व

बूलो का संतोष : अलजिसरास सम्मेलन को प्रो. गूच ने "फ्रांस और जर्मनी के बीच देर तक चलने वाला एक मल्ल युद्ध" (prolonged dual) तथा पी.टी. मून ने "साम्राज्यवाद पर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण का नया प्रयोग" (experiment in international control of imperialism) कहा है। लेकिन सम्मेलन पर बूलो के अपने ही विचार थे। सम्मेलन की समाप्ति पर उसने कहा कि इस सम्मेलन में न किसी की हार हुई और न किसी की जीत।[1] हार-जीत का फैसला किये बिना ही यह सम्मेलन समाप्त हो गया है। लेकिन, बूलो खुशी से फूला न समा रहा था। जब कैजर ने खुशी से उछलकर बूलो को इस आशय का पत्र लिखा कि "फ्रांस ने हमलोगों की चुनौती को स्वीकार करने से इंकार कर दिया है," तो वह गर्व से सिर उठाकर बोल उठा : "हमने फ्रांस के लिए केवल मोरक्को का दरवाजा ही नहीं बंद कर दिया है, बल्कि उसके गले में

एक घंटी भी लटका दी है। अब फ्रांस जब भी मोरक्को पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयास करेगा तो वह घंटी बज उठेगी और सारी दुनिया सचेत हो जायगी।" लेकिन जर्मन की यह विजय वास्तव में कोई विजय नहीं थी। प्रोफेसर गूच के शब्दों में यह विजय उस कोटि की विजय थी जो पराजय से भी बुरी होती है। कहने को तो मोरक्को पर सबका समान अधिकार रहा, लेकिन वास्तव में फ्रांस का प्रभाव प्रबल हो गया। यद्यपि नाम को अब भी मोरक्को की स्वतंत्रता कायम रही, पर अपनी पुलिस द्वारा फ्रांस और स्पेन को वहां मनमानी करने का अवसर मिल गया।

कूटनीति वर्तन-विन्दु : अलजिसरास-सम्मेलन का महत्व यहीं तक सीमित नहीं रहा। कूटनीतिक दृष्टिकोण से यह सम्मेलन एक युगान्तकारी घटना थी। सम्मेलन में ब्रिटेन, रूस, स्पेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और त्रिगुट का सदस्य इटली, सबों ने फ्रांस का साथ दिया। केवल आस्ट्रिया ही एक ऐसा राज्य था, जिसने जर्मनी का पक्ष लिया। अलजिसरास-सम्मेलन के बाद जर्मनी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने को अकेला महसूस करने लगा। केवल आस्ट्रिया ही एक ऐसा देश था जिसने उसका साथ दिया। अतः जर्मनी में आस्ट्रिया के लिए विशेष सहानुभूति उत्पन्न होने लगी। कैजर ने आस्ट्रिया के विदेश-मंत्री को अलजिसरास में पूर्ण सहयोग के लिए धन्यवाद दिया और उसमें यह भी जोड़ दिया कि इस प्रकार कि किसी अन्य अवसर पर वह उससे इसी प्रकार की सेवा की आशा कर सकता है। इसके बाद जर्मन किसी भी हालत में आस्ट्रिया को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था और उसकी सभी आकांक्षाओं की पूर्ति में अधिक-से-अधिक सहयोग देने को तैयार हो गया। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी आस्ट्रिया को प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय विवाद में "ब्लैंक चेक" देने लगा। इससे आस्ट्रिया की आक्रमणकारी तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को काफी प्रोत्साहन मिला। जर्मनी के 'ब्लैंक चेक' की बदौलत वह बाल्कन प्रायद्वीप में उग्र नीति का अवलंबन करने लगा। फलस्वरूप, उस क्षेत्र में युद्ध के काले बादल मंडराने लगे।

इटली की अभक्ति : अलजिसरास-सम्मेलन में इटली को सर्वप्रथम त्रिगुट के प्रति अपनी अभक्ति प्रदर्शित करने का मौका मिला। 1882 में इटली त्रिगुट में सम्मिलित हुआ था लेकिन वह कभी भी सच्चे अर्थ में इस गुट का वफादार सदस्य नहीं रहा। 1902 में तो उसने सरकारी तौर पर फ्रांस के साथ मेल-मिलाप कर लिया था। अलजिसरास-सम्मेलन में पहले-पहल इस मेल-मिलाप को व्यावहारिक स्तर पर व्यक्त करने का मौका मिला और उसने दिल खोलकर फ्रांस का साथ दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी जो उस समय विश्व राजनीति में पृथकता की नीति का अवलंबन कर रहा था, फ्रांस का ही साथ दिया। वास्तव में अलजिसरास-सम्मेलन में ठीक उसी प्रकार राष्ट्रों का गुट बन गया जिस प्रकार का गुट आठ वर्ष बाद प्रथम विश्व युद्ध में बना। अलजिसरास-सम्मेलन की गुटबंदी प्रथम विश्वयुद्ध की गुटबंदी को सूचित कर रही थी।

आंग्ल फ्रासीसी समझौते की अग्नि-परीक्षा : अलजिसरास-सम्मेलन का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात का है यह 1904 के आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते की अग्नि-परीक्षा थी। सम्मेलन के प्रारंभ होने के पूर्व सम्राट एडवर्ड ने राजदूत कैम्बों से कहा था : "प्रत्येक बिंदु पर आप हमें बता दीजिए कि आप क्या चाहते हैं और हम वेशर्त आपका समर्थन करेंगे।" जर्मनी की नीति ने आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता को नष्ट करने के बदले और मजूबत बना दिया, दरार पैदा करने के बदले इसकी नींव को ठोस बना दिया। तत्कालीन ब्रिटिश विदेश-मंत्री सर एडवर्ड ग्रे का कहना था : "हमारी दोस्ती के कारण ही फ्रांसीसी अपनामित हुए हैं।" जर्मनी ने सम्मेलन के पहले और फिर बाद में जिस रुख को अपनाया उसमें सर ग्रे की धमकी दिखलाई पड़ रही थी। अतः ब्रिटेन के शासकों ने आंग्ल- फ्रांसीसी एकता को सुदृढ़ बनाने का संकल्प किया। इसके लिए पहला आवश्यक काम यह था कि ब्रिटेन रूस के साथ अपनी परंपरागत शत्रुता को भूलकर मेल कर ले। इस प्रकार जर्मनी की नीति ने 1907 की आंग्ल-रूसी-संधि के मार्ग को प्रशस्त कर दिया।

आंग्ल-फ्रांसीसी एकता को सुदृढ़ बनाने का एक दूसरा उपाय यह था कि दोनों देश में आपस में अपनी सैनिक योजनाओं में तालमेल करें। 1904 के आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता की नौवीं धारा में ब्रिटेन ने मोरक्को के प्रसंग में फ्रांस को केवल "राजनयिक" समर्थन का वादा किया था। लेकिन कैजर के टैंजीयर-यात्रा के उपरांत ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों और अखबारों की यह धारणा बन गयी कि जर्मनी फ्रांस को डरा-धमकाकर समझौता को तोड़ने की कोशिश कर रहा है। मोरक्को के प्रश्न पर ब्रिटिश समाचार-पत्र "फ्रांसीसियों से ज्यादा फ्रांसीसी थे।" लंदन स्थित जर्मन राजदूत **काउन्ट मेटरनिक** ने अपनी रिपोर्ट में लिखा भी था। "इसमें संदेह नहीं कि इंगलैंड बिना शर्त तथा सक्रिय रूप से फ्रांस के पक्ष में रहेगा तथा जर्मनी के विरुद्ध उत्साह से कूद पड़ेगा।"

इस जनभावना को देखते हुए लंदन स्थित फ्रांसीसी राजदूत पॉल कैंबो ने अलजिसरास सम्मेलन के बाद ब्रिटिश नेताओं को सुझाव दिया कि जर्मनी के खतरा को देखते हुए वे "कुछ और आगे बढ़ें" ताकि फ्रांस को मात्र राजनयिक समर्थन के अतिरिक्त कुछ अधिक ठोस सहायता दे सकें। फ्रांस और ब्रिटेन के सैनिक अधिकारियों के बीच तथाकथित सैनिक "वार्तालाप" की शुरुआत इसी पृष्ठभूमि में हुई। फ्रांसीसी सैनिक अफसर लंदन आये और दोनों देशों के बीच संयुक्त सैनिक योजना तैयार करने की बात होने लगी। इस बातचीत ने यद्यपि एक औपचारिक संधि का रूप नहीं धारण किया, लेकिन इसका स्वरूप ऐसा हो गया कि प्रथम विश्व युद्ध के छिड़ने पर ब्रिटेन के लिए मुश्किल हो गया कि फ्रांस को सैनिक समर्थन देने से इंकार कर दे। सर एडवर्ड ग्रे इन "वार्तालापों" के संबंध में बराबर यह कहते रहे कि "इंगलैंड के हाथ बंधे नहीं हैं", इंगलैंड कुछ भी निर्णय लेने को स्वच्छंद है, इंग्लैंड प्रतिबद्ध नहीं हुआ है", सारा निर्णय पार्लियामेंट को लेना है", इत्यादि। लेकिन वार्तालाप के संदर्भ में फ्रांसीसियों को इस पर पूरा भरोसा हो गया कि "जर्मनी द्वारा यूरोपीय युद्ध शुरू किये जाने की स्थिति में ब्रिटेन फ्रांस की पीठ पर रहेगा।" ऐसा सोचना ठीक भी था। अलजिसरास-सम्मेलन के बाद ही फ्रांस और ब्रिटेन से सैनिक अधिकारियों को यह अनुमति दे दी गयी थी कि वे संयुक्त युद्ध कार्यों के लिए विस्तृत तकनीकी योजनाएं तथा तदनुरूप कार्यान्वयन की व्यवस्थां तैयार करें। कालांतर में ये व्यवस्थाएं दोनों देशों की सामरिक योजनाओं का आधार बनीं। इनके अनुसार पारस्परिक दायित्व निर्धारित किये गये जिनका महत्व किसी औपचारिक संधि से किसी तरह कम नहीं था। ये 'वार्तालाप' धीरे-धीरे गुप्त संधियों की व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण कड़ी बन गये। जर्मनी के लिए यह बड़ा ही खतरनाक सिद्ध हुआ। उसी के कारण आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता अलजिसराम सम्मेलन की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक नये युग में प्रवेश कर गया था।' जैसा कि प्रोफेसर गूच लिखते हैं : "यह सम्मेलन वास्तव में कुश्तियों के दौरों के बीच विश्राम के लिए थोड़ा-सा समय प्रदान करने के अतिरिक्त और कुछ न कर सका। उनका स्थायी परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन और फ्रांस के बीच के बंधन, जिन्हें ढीला करने के लिए जर्मनी ने प्रयास किया था, और अधिक दृढ़ हो गये।"

प्रतिशोध की भावना में तीव्रता : अलजिसरास-सम्मेलन के कुछ भयानक परिणाम भी हुए। सम्मेलन के बाद जर्मनी और फ्रांस के पारस्परिक विद्वेष में कोई कमी नहीं आयी। जर्मनी की जिद्द से बाध्य होकर देल्कासे को पदत्याग करना पड़ा था। मि. **पोअन्कारे** के शब्दों में यह घोर जुर्म और महान पाप था, जिसके लिए जर्मनी की सैनिकवाद कूटनीति जिम्मेवार थी। इससे बढ़कर किसी देश का राष्ट्रीय अपमान और क्या हो सकता है कि किसी दूसरें देश की मांग पर उस देश के विदेश मंत्री को पदत्याग करना पड़े। फ्रांस के कुछ राजनीतिज्ञ अब इस बात के लिए तैयार थे कि जर्मन के साथ अगर युद्ध करना पड़े तो वह किया जाय, लेकिन फिर से इस तरह का राष्ट्रीय अपमान नहीं सहा जाय। कुछ दिनों के बाद देल्कासे फ्रांसीसी मंत्रिमंडल में वापस आ गया। 1905 की घटना को भूला नहीं था और जर्मनी से बदला लेने की उसकी भावना और प्रबल हो गयी थी। इसके लिए उसने अपनी संपूर्ण शक्ति और साधन लगा दिये। यूरोपीय शांति के लिए यह बहुत ही अशुभ थां।

जर्मन के घेरेबंदी का आरंभ : 1906 से जर्मनी के शासक बराबर इस बात की चिंता व्यक्त करने लगे कि ब्रिटेन, फ्रांस और रूस मिलकर उसको चारों ओर से घेर लेने की नीति (policy of encirclement) अपना रहे हैं। घेराबंदी की यह प्रक्रिया भी अलजिसरास-सम्मेलन के फलस्वरूप शुरू हुई। कुछ ही दिनों में जर्मनी की सैनिकवादी कूटनीति के कारण ब्रिटेन और रूस में भी एक समझौता संपन्न हो गया और जर्मनी दो तरफ से अपनी शत्रुओं से घिर गया। इसी कारण रैबेन्टलो ने अलजिसराज सम्मेलन को जर्मनी की पराजय बतलाया था। विस्तृत अलजिसराज में बूलो के पास एक अच्छी बाजी आयी थी लेकिन बुरे ढंग से खेलकर उसने एक स्वर्ण अवसर खो दिया।

FOOT NOTES

1. "Here there are neither victors nor vanquished."
2. (i) "It one wished to define the change that took place one would say that at Algecriras the Entenre passed from a static to dynamic state. Its force increased from the speed thereby acquired." —*M. Tardieu*

   (ii) The Entente Cordiale has stood its diplomatic baptism of fire and emerged strengthened. —***Count Metternich***

   —*H. Nicolson : A Study of Old Diplomacy P. 199*

अध्याय 6

आंग्ल-रूसी संधि

(Anglo-Russian Convention)

विषय प्रवेश : 1907 की आंग्ल-रूसी संधि बीसवीं शताब्दी की प्रथम शताब्दी की चौथी कूटनीतिक क्रांति थी। इसको हम आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते की एक पूरक संधि भी कह सकते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई भी कुशल प्रेक्षक इस बात की कल्पना करने को तैयार नहीं था कि कुछ दिनों में रूस और ब्रिटेन एक-दूसरे के मित्र-राज्य हो जायेंगे। इसका कारण यह था कि इन दोनों की शत्रुता बहुत पुरानी थी और जो सदियों से चली आ रही थी। लेकिन, राजनीति और विशेषकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संबंध में कोई भविष्यवाणी करना खतरे से खाली नहीं होता। 1907 की आंग्ल-रूसी संधि के साथ भी यह बात थी। वर्तमान शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति इस तरह चक्कर लगा रही थी और ऐसे साधनों को जुटा रही थी कि 1907 आते-आते एक आंग्ल-रूसी संधि आवश्यक हो गयी।

आंग्ल-रूसी संधि के संबंध में दो तरह के मत व्यक्त किये गये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि संधि आधुनिक युग की 'कूटनीति का अद्‌भुत चमत्कार' (miracle of diplomacy) थी। दूसरों का कहना है कि यह सन्धि 'आवश्यक और अवश्यम्भावी' (necessary and inevitable) थी। दोनों विचार एक-दूसरे के विपरीत होते हुए भी सत्य हैं। ब्रिटेन और रूस वर्षों के परस्पर संबंध को देखते हुए यह कहना ठीक है कि दोनों देशों के बीच उस समय संधि का होना बिल्कुल असंभव जान पड़ता था। यदि 1907 में दोनों देशों के बीच एक संधि हो गयी तो वह 'कूटनीतिक चमत्कार' के अतिरिक्त कुछ नहीं था। पर, यदि एक तरफ ब्रिटेन और रूस में विरोध था तो दूसरी तरफ दोनों देश एक-दूसरे के समीप भी आ रहे थे और धीरे-धीरे वे इतना समीप आ गये कि उनके बीच संधि का होना अवश्यंभावी हो गया।

ब्रिटेन और रूस का विरोध

रूस की साम्राज्यवादी आकांक्षा : सदियों से रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के कट्टर दुश्मन थे। रूस की बहुत बड़ी अभिलाषा थी कि अन्य यूरोपीय देशों की तरह पूर्व में उसका भी एक विशाल साम्राज्य कायम हो जाय। इसके लिए अठारहवीं शताब्दी के मध्य से ही वह निरंतर प्रयास करता आ रहा था लेकिन रूस के साम्राज्य-विस्तार का अर्थ होता है ब्रिटेन के लिए संकट। अतएव शुरू से ही ब्रिटेन रूस के प्रसार का विरोध करता आ रहा था। रूस तुर्की साम्राज्य का विनाश कर उस पर अधिकार जमाना चाहता था। वह डार्डेन्ल्स तथा बोस्फोरस के दो जलडमरू मध्यों पर अधिकार जमाने के लिए चिंतित था। लेकिन ब्रिटेन अपने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से रूस की इस नीति का प्रबल विरोधी बन रहा था। 1853 का क्रीमिया-युद्ध मुख्यत: रूस और ब्रिटेन के हित-विरोध का ही परिणाम था। क्रीमिया-युद्ध में हार जाने के बाद भी रूस हिम्मतपस्त नहीं हुआ। वह तुर्की पर तरह-तरह का दबाव डालता रहा और 1877 में उसे लड़ाई में हराकर सन स्टीफानों की संधि को मानने पर मजबूर किया। ब्रिटेन ने इस समय भी उसका इतना कड़ा विरोध किया कि उसको

सन स्टीफानों की संधि से प्राप्त अनेक लाभों से हाथ धोना पड़ा। जब रूस ने देखा की निकट पूर्व में उसकी दाल नहीं गलेगी तो वह दूसरे क्षेत्र में अपना साम्राज्यवादी जाल बिछाने लगा। 1878 की बर्लिन संधि के बाद रूस की कूटनीतिक गतिविधि पूर्वी एशिया में साम्राज्य विस्तार के लिए लग गयी। साथ ही वह भारत की सीमा पर स्थित अफगानिस्तान, फारस तथा तिब्बत पर अपना प्रभाव फैलाने का प्रयास करता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में तीन बार (1878-81, 1884-85 तथा 1895) ऐसी स्थिति आ गयी कि फारस और अफगानिस्तान को लेकर दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ने की संभावना पैदा हो गयी, पर ब्रिटेन की शक्ति से आतंकित होकर रूस की हिम्मत नहीं हुई कि वह युद्ध का आश्रय ले। लेकिन अफगानिस्तान को रूसी प्रभाव से बचाने के लिए भारत में ब्रिटिश सरकार को अफगान लोगों को साथ तीन लड़ाइयां करनी पड़ी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मध्य एशिया पर प्रभाव कायम करने के सिलसिले में रूस और ब्रिटेन का संघर्ष और तीव्र हो गया। जब ब्रिटेन दक्षिण अफ्रीका में बोअर युद्ध में व्यस्त था उस समय रूस को फारस, अफगानिस्तान और तिब्बत में प्रभाव फैलाने का खुला मौका मिल गया। रूस ने फारस की खाड़ी में एक नौ-सैनिक अड्डा बनाने का निश्चय किया। ब्रिटेन के लिए एक महान खतरा उपस्थित हो गया। इस समय तक बोअर युद्ध खत्म हो चुका था और ब्रिटेन को कार्यवाही करने की स्वतंत्रता फिर मिल गयी थी। 15 मई, 1903 को लार्ड लैंसडाउन ने इस बात की चेतावनी दी कि "फारस की खाड़ी में किसी भी अन्य बड़े राष्ट्र के द्वारा समुद्री अड्डे की स्थापना अथवा बंदरगाह की किलाबंदी को हम ब्रिटेन के स्वार्थों के लिए एक बहुत गंभीर खतरा मानेंगे और अपनी सारी शक्ति के साथ निश्चित रूप से उसका प्रतिरोध करेंगे।" इस जोरदार चेतावनी को नवम्बर, 1903 में खाड़ी में किये जाने वाले वायसराय लार्ड कर्जन के नौ-सैनिक प्रदर्शन के द्वारा दुहराया गया। कर्जन एक बहुत बड़े जहाजी बेड़े के साथ खाड़ी में पहुंचा और वहां से इस बात की चेतावनी दी कि वह फारस की खाड़ी में वह किसी भी आक्रामक कार्रवाई से अपनी स्थिति की रक्षा करेगा।

इसी समय तिब्बत को लेकर दोनों देशों में खूब पैंतराबाजी हुई। उधर कुछ दिनों से एक बौद्ध भिक्षुक दौरजीव के माध्यम से दलाई लामा के दरबार पर रूस का प्रभाव बढ़ रहा था। यह भी अफवाह फैली कि तिब्बत और रूस के बीच एक संधि हो गयी है तथा तिब्बत ने रूस की संरक्षता स्वीकार कर ली है। भारतीय सीमा से केवल तीन सौ मील की दूरी पर स्थित तिब्बत रूसी षड़यंत्र का अड्डा बने यह बात ब्रिटिश सरकार और विशेषकर तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन को मंजूर न थी। उसने दलाई लामा से संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया, लेकिन सफलता नहीं मिली। तब कर्जन ने तिब्बत के खिलाफ सैनिक कार्रवाई करने का निश्चय किया। 1904 के अंत में उससे यंगहस्बैंड नामक एक कर्नल के नेतृत्व में एक शिष्टमंडल भेजा और वहां की सरकार से संधि करके तिब्बत पर ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना की गयी। तिब्बत से रूसी प्रभाव का अंत हो गया।

जब तिब्बत पर से खतरा टल गया तो उत्तर-पश्चिम अफगानिस्तान में रूसी योजना के कारण पुनः एक दूसरा संकट पैदा हो गया। 1901 में हबिबुल्ला अफगनिस्तान का नया अमीर हुआ। रूस की ओर उसका अधिक झुकाव था। इस बात की संभावना हो गयी कि नये अमीर ने अफगानिस्तान में रेल लाइन बनाने की अनुमति रूस को दे दी है। लार्ड बालफोर ने इस प्रयास का भी घोर विरोध किया और इस रेलवे योजना को "शत्रुतापूर्ण योजना" बतलाया तथा रूस को चेतावनी दी थी कि अफगानिस्तान में ऐसी सारी कार्यवाहियों का ब्रिटिश सरकार अपनी पूरी ताकत के साथ विरोध करेगी।

इस प्रकार साम्राज्य-विस्तार को लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में रूस और ब्रिटेन के बीच की पुरानी तनातनी बहुत बढ़ गयी और 1904-5 में लगता था कि दोनों के बीच युद्ध हो जायगा। इसके पूर्व ब्रिटेन के एक मित्र राज्य जापान से रूस का युद्ध शुरू हो चुका था और ब्रिटेन की जनता की सहानुभूति जापान से साथ

थी। यद्यपि इस युद्ध में ब्रिटेन के मंत्रिमंडल ने कड़ी तटस्थता का निर्वाह किया लेकिन यह सहानुभूतिपूर्ण तटस्थता किसी भी क्षण युद्ध में सक्रिय भाग का रूप ले सकती थी। साम्राज्य-विस्तार की योजना को लेकर 1905 में ब्रिटेन और रूस का ऐसा ही संबंध था। फिर भी 1907 में दोनों के बीच एक समझौता हो गया।

1905 में रूस का पलायन : 1905 में मुख्यत: ब्रिटेन के कारण ही रूस का पलायन अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। इस वर्ष यह एशिया के एक छोटा देश जापान से बुरी तरह हार गया। रूस में यह प्रश्न पूछा जाने लगा कि छोटे-से जापान को रूस के साथ लड़ाई मोल लेने की हिम्मत कैसे हुई। इसका उत्तर स्पष्ट था—ब्रिटेन के साथ जापान की संधि थी और उसी बल पर उसने रूस के साथ छेड़खानी की थी और युद्ध में उसे पराजित किया था तथा रूस के इस राष्ट्रीय अपमान के लिए ब्रिटेन स्पष्ट रूप से जिम्मेवार था। 1907 में रूस के शासकों को इस घटना की याद बिल्कुल ताजी थी।

जार विशेष रूप से क्षुब्ध था। रूस में क्रांति हो गयी थी और जारशाही की निरंकुशता खत्म होने लगी थी। जार समझता था कि इसके मूल में ब्रिटेन ही है। यदि आंग्ल-जापानी संधि नहीं हुई तो जापान को रूस के साथ युद्ध करने और उसे पराजित करने की हिम्मत नहीं होती और यदि रूस युद्ध में पराजित नहीं होता तो यह क्रांति नहीं होती। इस कारण भी दोनों देशों का संबंध बुरा हो गया था।

डोबर बैंक की घटना : रूस-जापान युद्ध के समय में ब्रिटेन और रूस का मतभेद बहुत बढ़ गया था। लाल सागर से अंग्रेजों के जो भी जहाज गुजरते थे, रूसी अफसर उसकी तलाशी लेते थे। ब्रिटिश राजदूत ने ऐसी कार्रवाइयों पर कड़ा विरोध प्रकट किया। इसी बीच एक यह अफवाह और फैली कि जापान ने अपने लड़ाई के जहाजों को यूरोप की ओर भेजा है और वे रूस के पास- पड़ोस में चक्कर काट रहे हैं। रूसी नौ-सेना के अधिकारियों ने कुछ ब्रिटिश जहाजों को जापानी जहाज समझकर उस पर गोली चलवा दी। कुछ अंग्रेज मछुए मारे गये और जहाजों को भी कुछ क्षति पहुंची।

इस कांड को लेकर रूस और ब्रिटेन में काफी मतभेद उत्पन्न हो गया। सारे ब्रिटेन में क्रोध की लहर-सी व्याप्त हो गयी और लार्ड रोजबरी ने इसे "अकथनीय अत्याचार" कहा। बहुत-सी ब्रिटिश पनडुब्बियां डोबर के लिए रवाना की गयीं, परंतु दोनों सरकारों ने अपना मानसिक संतुलन नहीं खोया। जार ने घटना पर दुख प्रकट किया और क्षतिपूर्ति का आश्वासन दिया। फिर भी वह ब्रिटेन से काफी क्रोधित रहने लगा।

ब्जरको सम्मेलन : जिस समय रूस चारों ओर संकट से घिरा था उस समय कैजर ने उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करके जार को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। उसने जार को आशान्वित किया कि इस युद्ध में रूस को जीतना चाहिए और वह अवश्य जीतेगा। जर्मनी की इस सहानुभूति के कारण रूस के लिए यह संभव हो सका कि पोलैंड की सीमाओं से हटाकर पूर्व एशिया भेजे। इसके साथ जर्मनी से यह वादा भी किया कि जर्मन जहाज युद्धस्थल पर रूस को कोयला पहुंचायेंगे। स्पष्ट है कि कैजर रूस के इस पलायन से लाभ उठाना चाहता था। उसका उद्देश्य ब्रिटेन के खिलाफ एक यूरोपीय गुट का निर्माण करना था जिसमें वह रूस और फ्रांस को शामिल करना चाहता था। जुलाई 1905 में एक ब्जरको नामक स्थान पर जार और कैजर की मुलाकात हुई और उसने उसको अनेक प्रलोभन देकर अपने पक्ष में कर लिया। कैजर ने ब्रिटेन के प्रति जार की भावनाओं को उभाड़ने का पूरा यत्न किया। ब्जरको में उसने जार को इस बात की याद दिलायी कि किस प्रकार रूस-जापान युद्ध के समय रूस को मदद पहुंचाने के लिए जर्मन जहाजों से कोयला भेजा जा रहा था तो ब्रिटेन ने उसको जाने से रोका था। जार पर कैजर का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह एक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार हो गया। रूस, फ्रांस और त्रिगुट को मिलाकर ब्रिटेन के विरुद्ध महाद्वीपीय गुट (Continental League) की स्थापना की कल्पना साकार हो उठी।[1] यह आश्चर्य की बात है कि जो जार 1905 में ब्रिटेन के खिलाफ महाद्वीपीय गुट के निर्माण में हाथ बंटा रहा था वह 1907 में ब्रिटेन का मित्र राज्य बन गया।

वैचारिक भिन्नता : रूस और ब्रिटेन दोनों में वैचारिक भिन्नता भी बहुत थी। ब्रिटेन उदार प्रजातांत्रिक विचारधाराओं में विश्वास करता था, लेकिन रूस एकतंत्र निरंकुशता का गढ़ था। दोनों की सभ्यता, संस्कृति, परंपरा, राजनैतिक संस्थाएं और विचारधाराओं में बहुत भेद थे। रूस में उदार प्रवृत्तिवाले लोगों को सताया जाता था। रूस-जापान युद्ध के बाद रूस में जो ड्यूमा (रूस संसद) कायम किया गया था उसको हाल ही में कुचल दिया गया था। ब्रिटेन के लोग रूसी शासकों के इन कामों से घृणा करते थे और जार को 'राजनीतिक हत्यारा' कहकर पुकारते थे। ब्रिटेन के नागरिकों में रूस की सरकार के प्रति कोई श्रद्धा नहीं थी। उसकी घृणा इतनी तीव्र थी कि जब सम्राट एडवर्ड रूस यात्रा की योजना बना रहा था तो उस अवसर पर ब्रिटिश संसद के एक सदस्य रामजे मेकडोनल्ड ने एक लेख प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था 'एक राष्ट्र का अपमान।' ब्रिटेन के राजा का रूस जाना ही राष्ट्रीय अपमान समझा जाता था।

यहूदियों का प्रश्न : इसके अतिरिक्त यहूदियों के प्रश्न को लेकर भी दोनों देशों के बीच गहरा मतभेद था। रूस में यहूदियों पर घोर अत्याचार किये जाते थे। रूसी यहूदी रूस छोड़कर भाग रहे थे। ब्रिटेन के नागरिकों में इन सताये गये यहूदियों के प्रति सहानुभूति थी और उनको ब्रिटेन में शरण दी जाती थी। इस बात से रूस के शासक बड़े रंज थे। ऐसी कटुता और मनमुटाव के वातावरण में इन दोनों देशों के बीच संधि का हो जाना असंभव प्रतीत होता था। लेकिन, कूटनीतिक चमत्कार के द्वारा यह संभव हो गया।

आंग्ल-रूसी संधि

ऊपर हमने ब्रिटेन और रूस के हित-विरोधों का वर्णन किया है, पर इसका मतलब यह नहीं कि दोनों के बीच केवल, संघर्ष और मनमुटाव ही था। इसी समय उनके संबंध में सुधार भी हो रहा था जिसके फलस्वरूप उनके बीच एक संधि "आवश्यक और अवश्यंभावी" हो गयी। 20 अक्टूबर, 1905 को सर एडवर्ग ग्रे ने एक भाषण दिया जिसमें रूस के साथ मेल-जोल बढ़ाने की बात कही गयी थी। इसके बाद अलजिसरास-सम्मेलन आया जहां ब्रिटेन को रूस के साथ सहयोग करने का मौका मिला। कुछ दिनों के बाद जब तुर्की के सुल्तान ने मिस्र के एक-एक भूभाग पर अधिकार करके मिस्र पर ब्रिटिश अधिकार को चुनौती दी तो रूसी राजदूत ने सुलतान को साफ-साफ कह दिया कि वह इस मामले में ब्रिटेन का समर्थन करेगा। इसी समय रूस में ड्यूमा की स्थापना हुई और आशा व्यक्त की जाने लगी कि रूस में प्रजातांत्रिक संस्थाओं का विकास होगा, निरंकुशता का अंत होगा तथा सैद्धांतिक रूप से दोनों देश एक-दूसरे के निकट आयेंगे। इस तरह समझौते की भूमिका तैयार होने लगी।

ऋण : जापान के साथ युद्ध के कारण रूस की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी। रूस को ऋण की आवश्यकता थी। ब्रिटेन ने क्रीमिया-युद्ध के बाद रूस को कभी ऋण नहीं दिया था, इस बार ऋण को प्रदान करने में उसने बड़े उत्साह के साथ भाग लिया उधर जर्मनी ने, जो ब्जरको-संधि की असफलता के कारण रूस से रुष्ट हो गया था, इस कर्ज में भाग लेने से इंकार कर दिया। रूस ब्रिटेन की सहानुभूति का आभारी था। इस ऋण पर कृतज्ञता प्रकट करते हुए रूसी मंत्री ने कहा था—"आधुनिक राज्यों के इतिहास में यह सबसे बड़ा विदेशी ऋण था। इसके द्वारा रूस अपनी स्वर्ण मुद्रा को सुरक्षित रख सका और एक अभागे युद्ध और क्रांति के बाद अपनी पूर्व स्थिति को फिर से प्राप्त कर सका। इस ऋण ने सरकार को इस समय की सभी कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता प्रदान की।"

इस्वोल्स्की : इस समय रूस में अलेक्जेण्डर इस्वोल्स्की (Izvolsky) नामक व्यक्ति रूस का विदेश मंत्री था। इस्वोल्स्की रूस और ब्रिटेन के मेलमिलाप का बहुत बड़ा समर्थक था। जापान से हारने के बाद रूस की स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी। रूस पस्त हो गया और उधर त्रिगुट दिनोंदिन शक्तिशाली हो रहा था।

इस्वोल्स्की का विचार था कि अगर फ्रांसीसी-रूस को जर्मनी का त्रिगुट के मुकाबले में शक्तिशाली बनाना हो तो रूस को ब्रिटेन से मित्रता कर लेना चाहिए। इस्वोल्स्की की समझ में रूस को दो तरफ से खतरा था। एक खतरा जापान से था। जापान पुन: रूस से लोहा लेने की तैयारी कर रहा था लेकिन अपने को (रूस) संभालने के लिए लंबी अवधि तक शांति की आवश्यकता थी। वह युद्ध करने की हालत में नहीं था। युद्ध से बचने का केवल एक ही उपाय था कि रूस जापान को किसी तरह शांत कर दे और इसका सर्वोत्तम उपाय था उसके मित्र ब्रिटेन से दोस्ती कर लेना।

रूस को दूसरा खतरा ब्रिटेन से था। दोनों देशों के साम्राज्यवादी हित परस्पर टकराते थे। हाल में अनेक कारणों से दोनों देशों के बीच युद्ध होते-होते बचा था। लेकिन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; रूस अभी युद्ध मोल लेने की स्थिति में नहीं था। वह ब्रिटेन के साथ अपने सभी झगड़ों को तय कर लेना चाहता था। अगर ब्रिटेन के साथ झगड़ा समाप्त हो जाता तो वैसी स्थिति में वह बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में बिना भय के हस्तक्षेप कर सकता था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन तथा जापान को मिलाकर एक ऐसे गुट का निर्माण भी किया जा सकता था जो जर्मनी के त्रिगुट के साथ लोहा ले सके। इस्वोल्स्की इसी तरह की कल्पना कर रहा था और जिस समय ब्रिटिश-सम्राट एडवर्ड ने उससे रूस-ब्रिटेन मेलमिलाप की बातें की थीं उस समय से यह उसकी नीति का एक प्रमुख आधार बन गयी थी। जिस समय वह रूस का विदेश-मंत्री बना उसी समय से उसने आंग्ल-रूसी संधि के लिए वार्तालाप भी शुरू कर दिया।

सम्राट एडवर्ड, सर एड्वर्ड ग्रे तथा कुछ अन्य ब्रिटिश राजनीतिज्ञ भी रूस के साथ समझौता के इच्छुक थे। जर्मनी का खतरा दिनोंदिन बढ़ा रहा था। जर्मनी की नाविक शक्ति दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। नौ-सैनिक होड़ के प्रश्न पर जर्मनी के साथ कोई समझौता हो जाय इसके लिए ब्रिटेन ने अनेक प्रयास किये। लेकिन जर्मनी ने उसके सभी सुझावों को मानने से इंकार कर दिया था। मोरक्को कांड के बाद जर्मनी की उग्र आक्रामक नीति खुलकर सामने आयी। इस हालत में अगर ब्रिटेन को जर्मनी के खतरे से बचाना हो तो उसको रूस के साथ जल्द-से-जल्द समझौता कर लेना चाहिए। रूस के साथ समझौता कर लेने के बाद ब्रिटेन निकटपूर्व तथा सुदूरपूर्व की झंझटों से मुक्त हो जाता और निष्कंटक रूप से जर्मनी का सामना कर सकता था।

जर्मनी का मुकाबला करने के लिए ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका से संधि करने को तैयार था। लेकिन वह देश इस समय अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में पृथकता की नीति का अनुसरण कर रहा था और किसी यूरोपीय देश के साथ संधि करने को तैयार नहीं था। जापान और फ्रांस पहले से ही ब्रिटेन के दोस्त थे। अत: अब केवल रूस ही एक ऐसा देश बच गया था जिसके साथ ब्रिटेन संधि करता। इसलिए आंग्ल-रूसी संधि अवश्यंभावी हो गयी।

इन परिस्थितियों के अतिरिक्त कुछ अन्य परिस्थितियां भी थीं जो आंग्ल-रूसी मित्रता के मार्ग को प्रशस्त बना रही थीं। वर्षों हुए फ्रांस और रूस में संधि हो चुकी थी। इधर हाल में ब्रिटेन से साथ उसका समझौता हो गया था। इस समय फ्रांस का यह कर्तव्य था कि वह अपने दोनों दोस्तों के बीच मेलमिलाप करा दे। मोरक्को-काण्ड के बाद रूस ब्रिटेन में समझौता कराना फ्रांसीसी विदेश नीति का मुख्य ध्येय हो गया। अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति से बाध्य होकर रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के समीप आ रहे थे। फ्रांस ने सहारा देकर उनको गले-से-गले मिला दिया।

संधि की कठिनाइयां : लेकिन तत्काल संधि हो जाने के कुछ कठिनाइयाँ थीं। रूस में पुन: प्रतिक्रिया का बोलबाला हो गया था और ड्यूमा भंग की जा चुकी थी। इस कारण ब्रिटेन की उदारवादी जनता में क्षोभ फैला हुआ था। लेकिन कुछ दिनों के बाद क्षोभ दब गया और दोनों सरकारों के बीच बातचीत चलती रही।

संधि के मार्ग में दूसरी कठिनाई जापान को लेकर थी। ब्रिटेन चाहता था कि रूस-ब्रिटेन समझौता पर हस्ताक्षर होने के पूर्व जापान के साथ भी रूस अपने मतभेदों को तय कर ले। इस कार्य में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई और आंग्ल-रूसी संधि पर हस्ताक्षर होने के एक महीने पूर्व 30 जुलाई, 1907 को दोनों के बीच समझौता हो गया। इसके द्वारा यह निश्चय किया गया कि वे पूर्वी एशिया में यथास्थिति बनाये रखने का यत्न करेंगे और अपना पारस्परिक झगड़ों का समाधान शांतिपूर्ण तरीकों से करेंगे।

ब्रिटेन और रूस का समझौता : इन कठिनाइयों को दूर करने के बाद 31 अगस्त, 1907 को सर आर्थर निकोल्सन और इस्वोल्स्की ने पेट्रोग्राड में समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। सदियों के दो प्रतिद्वंद्वी मित्र बन गये और उनके विरोध के कारणों का अंत हो गया।

आंग्ल-रूसी संधि मुख्यत: अफगानिस्तान, फारस तथा तिब्बत से संबंधित थी। संधि के दोनों हस्ताक्षरकारियों ने वादा किया कि वे तिब्बत की प्रादेशिक अखंडता को बनाये रखेंगे। रूस ने वादा किया कि वह अफगानिस्तान को अपना प्रभाव क्षेत्र नहीं मानेगा। यह देश एकमात्र ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र में आ गया। फारस के संबंध में आंग्ल-रूसी संधि की धाराएं अत्यंत महत्वपूर्ण थीं। फारस की राजनीतिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखंडता मान ली गयी। लेकिन, यह केवल नाममात्र के लिए ही था। फारस को तीन हिस्सों में बांट दिया गया। फारस का उत्तरी हिस्सा रूस के और दक्षिणी हिस्सा ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में रखे गये। बीच के हिस्से का तटस्थाकरण कर दिया गया।

संधि का महत्व

बाल्कन राजनीति पर प्रभाव : अनेक दृष्टिकोणों से आंग्ल-रूसी संधि एक अनुचित समझौता मानी जाती है। इसमें तिब्बत, फारस तथा अफगानिस्तान के भाग्य का निर्णय किया गया था, पर इसके लिए इन देशों की राय तक नहीं ली गयी थी। पश्चिम के इन साम्राज्यवादी राज्यों को पूर्व के देशों की सहमति की कोई परवाह नहीं थी। उनकी निगाहों में पूर्व के देश बाजार के माल की तरह थे, जिसका सौदा बिना किसी हिचकिचाहट से किया जा सकता था। संधि अनुचित भले ही हो, लेकिन इससे ब्रिटेन और रूस निश्चिंत अवश्य हो गये। इसका सबसे पहला नतीजा यह हुआ कि रूस और जापान के मतभेद का समाधान हो गया। जापान ब्रिटेन का दोस्त और रूस का विरोधी था। अब रूस और ब्रिटेन दोस्त हो गये थे। अत: रूस और जापान के आपसी मतभेद का निबटारा भी आवश्यक था। जुलाई, 1907 में रूस और जापान के बीच समझौता हुआ। जिसके अनुसार दोनों देशों ने वादा किया कि वे सुदूरपूर्व में यथास्थिति बनाये रखने का प्रयास करेंगे। इस तरह आंग्ल-रूसी संधि से रूस सुदूरपूर्व और निकटपूर्व की झंझटों से मुक्त हो गया। अब वह बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ कूद पड़ा। उधर उसका विरोधी आस्ट्रिया इस क्षेत्र की राजनीति में पहले से ही उग्र नीति की अवलंबन कर रहा था। ऐसी स्थिति में बाल्कन प्रायद्वीप में मध्य यूरोप के दो शेरों की मुठभेड़ अवश्यंभावी हो गयी।

फ्रांस की सुरक्षित स्थिति : आंग्ल-रूसी संधि से फ्रांस में खुशी का ठिकाना नहीं रहा। फ्रांस की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति अब और अधिक सुरक्षित हो गयी। आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता से द्विगुट के टूटने का जो भय था, वह जाता रहा। जून, 1907 में जापान के साथ भी उसका समझौता हो गया। अब संसार में उसको किसी का भय नहीं रह गया। फ्रांस बेखटके जर्मनी से बदला ले सकता था। इसके फलस्वरूप फ्रांस में प्रतिशोध की भावना को काफी प्रोत्साहन मिला। फ्रांस के राजनीतिज्ञ जर्मनी को आंख दिखलाने लगे।

ब्रिटेन की चिंता से मुक्ति : आंग्ल-रूसी संधि से ब्रिटेन भी अनेक चिंताओं से मुक्त हो गया। जर्मन के खतरे का सामना करने के लिए ब्रिटेन चाहता था कि विश्व की अन्य राजनीतिक समस्याओं से उसको

छुटकारा मिल जाय। जापान से संधि करके सुदूरपूर्व में और फ्रांस से समझौता करके उत्तरी अफ्रीका में वह निश्चिंत हो चुका था। अब उसको केवल निकट पूर्व में ही रूस का भय था; आंग्ल-रूसी संधि के बाद यह डर भी जाता रहा। अब ब्रिटेन जर्मनी का मुकाबला करने के लिए स्वतंत्र था।

जर्मनी का घाटा : आंग्ल-रूसी संधि से ब्रिटेन और फ्रांस को जो लाभ हुए वे जर्मनी के लिए हानिकारक सिद्ध हुए। जर्मनी महसूस करने लगा कि फ्रांस, रूस और ब्रिटेन आपस में मिलकर उसको चारों तरफ से घेर लेना चाहते हैं। 1907 में जर्मनी को घेरने की कोई बात नहीं थी; क्योंकि 1904 और 1907 की दोनों संधियां औपनिवेशिक झगड़ों से संबंधित थीं और उनका उद्देश्य किसी देश पर आक्रमण करना नहीं था। फिर भी इन घटनाओं को देखकर जर्मनी निश्चिंत नहीं बैठ सकता था। जर्मनी के दुश्मन आपस में मिल रहे थे। बिस्मार्क ने जर्मनी को जिस सुरक्षित दशा में पहुंचा दिया था वह नष्ट हो चुका था। संपूर्ण संसार में केवल आस्ट्रिया ही उसका साथी था। इस साथी को वह किसी भी दशा में नहीं छोड़ सकता था। अत: अलजिसरास सम्मेलन के बाद जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को "ब्लैंक चेक" देने की जो प्रथा चल पड़ी थी, वह और अधिक सुदृढ़ होने लगी। आस्ट्रिया को खुश करने के लिए जर्मनी उनको बेहिचक मदद देने को तैयार था। केवल जर्मनी ही बाल्कन प्रायद्वीप में आस्ट्रिया की आक्रमणकारी नीति को आगे बढ़ाने से रोक सकता था। लेकिन, जर्मनी अपने एकमात्र मित्र राज्य को नाखुश करने को तैयार नहीं था। वह आस्ट्रिया को हर हालत में मदद देने को तैयार था। इस तरह जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' देने का परिणाम बहुत बुरा हुआ। बाल्कन प्रायद्वीप की समस्या नाजुक होती गयी और अंत में इसने प्रथम महायुद्ध को अवश्यंभावी बना दिया।

1907 के आंग्ल-रूसी संधि पर जर्मनी ने पहले तो ऐसा रुख अपनाया जिससे जान पड़े कि उसे इससे कोई चिंता या घबड़ाहट नहीं है, पर वास्तविकता यह थी कि जर्मनी इससे बहुत ही चिंतित था। वह यह सोचकर आशंकित था कि तिब्बत, अफगानिस्तान और फारस संबंधी धाराएं स्वयमेव मात्र साध्य नहीं थीं। वे किसी महत्तर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक साधन थीं। नये त्रिपक्षीय समझौता (Triple Entente) के गठन से जर्मनी की कठिनाई बहुत बढ़ जानेवाली थी। यह नया गुट जर्मनी के त्रिगुट (Triple Alliance) से अधिक संपन्न और शक्तिशाली थी। फलतः वे जर्मनी के बगदाद रेलवे की योजना नष्ट कर सकते थे, उसके उद्योग धंधे और व्यापार में बाधा डाल सकते थे तथा जहां कहीं उनके हितों से जर्मनी और आस्ट्रिया के हितों का संघर्ष होता उसकी औपनिवेशिक महत्वाकांक्षाओं को भी चुनौती दे सकते थे। त्रिपक्षीय समझौता शक्तियों के साथ जर्मनी के प्रत्यक्ष टकराव की संभावना अब बहुत बढ़ गयी।

दूरगामी परिणाम : अपने संस्मरण में सर एडवर्ड ग्रे ने लिखा है कि आंग्ल-रूसी संधि से रूस की अपेक्षा ब्रिटेन को अधिक लाभ हुए : "हमने जो पाया वह वास्तविक था, रूस ने जो पाया वह ऊपरी था।" प्रोफेसर फे (Fuy) सर एडवर्ड ग्रें के इस विचार से सहमत नहीं हैं। वे लिखते हैं - "यद्यपि ब्रिटेन को मन की शांति मिली पर उसकी क्षति भी काफी हुई। फारस में भविष्य के लिए उसके हाथ बंध गये। अबतक उसे रूसी साम्राज्यवाद की आक्रामक कार्रवाइयों के विरुद्ध विरोध प्रकट करने की उसे स्वतंत्रता थी। लेकिन अब वह स्वयं फ्रांस की आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के विनाश में सहयोगी हो गया।" शीघ्र ही सर एडवर्ड ग्रे को भी इसका कटु अनुभव हुआ। फारस में रूसी एजेंटों की हरकतों पर वह अक्सर विरोध प्रकट करता रहा। लेकिन ब्रिटेन रूस के खिलाफ अब कोई कड़ा रुख नहीं अपना सकता था, क्योंकि ऐसा करने से त्रिदलीय समझौता (Triple Entente) को कमजोर होने की आशंका थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की विश्व-राजनीति की पृष्ठभूमि में प्रोफेसर निकोलस मैनसर इस वाद-विवाद को व्यर्थ मानते हैं कि इस सौदेबाजी में ब्रिटेन का पलड़ा भारी रहा या रूस का। उनका कहना है का आंग्ल-रूसी संधि के व्यापक और दूरगामी परिणामों के सामने उनका तात्कालिक परिणाम महत्वहीन हो जाता है। प्रोफेसर मैनसर का कहना है कि आज पूर्वी यूरोप पर जो सोवियत-रूस का प्रभाव कायम हो गया

है उसकी नींव 1907 की संधि द्वारा ही पड़ी थी। उस समय सभी जानते थे कि बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में रूस का गहरा स्वार्थ था। रूस अपने को संपूर्ण स्लाव जगत का नेता मानता था और बाल्कन प्रायद्वीप की स्लाव जातियां भी रूस को अपना नेता मानती थीं। अभी तक बाल्कन प्रायद्वीप में रूस का प्रभाव महत्वशील नहीं हुआ था। इसका एकमात्र कारण था कि ब्रिटेन बराबर से रूस की गतिविधियों का विरोध करता आ रहा था। आंग्ल-रूसी संधि के द्वारा ये दोनों देश मित्र राज्य हो गये। मित्रता के लिहाज से अब ब्रिटेन रूस का विरोध नहीं कर सकता था। प्रोफेसर मैनसर के शब्दों में, "रूस को अब ब्रिटेन का वरदहस्त प्राप्त हो गया। पुराने विरोधी की शुभकामनाएं प्राप्त करके रूस बाल्कन प्रायद्वीप में कूद पड़ा। तब से उसका प्रभाव बढ़ता ही गया और बढ़ते-बढ़ते वह स्थिति में पहुंच गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संपूर्ण पूर्वी यूरोप रूस का प्रभाव-क्षेत्र हो गया।" प्रोफेसर मैनसर का कहना है कि यदि ब्रिटेन अपनी परंपरागत नीति का परित्याग नहीं करता, रूस का विरोध करता रहता और आंग्ल-रूसी संधि नहीं होती तो इस तरह की स्थिति कायम नहीं होती। प्रोफेसर मैनसर का यह विचार कहां तक तर्क युक्त है, यह कहना अभी कुछ मुश्किल है। पूर्वी यूरोप पर रूसी प्रभाव की उत्पत्ति एक विवादग्रस्त प्रश्न है और भविष्य के इतिहासकार ही इसका उचित उत्तर दे सकते हैं।

कूटनीतिक समझौतों का लेखा-जोखा

आंग्ल-रूसी संधि एक खुला दस्तावेज था और इसमें सैनिक या राजनयिक दायित्व नहीं था फिर भी इससे रूस, ब्रिटेन और फ्रांस में घनिष्ठतर सहयोग के लिए एक वृत्त पूरा हो गया। इन देशों के अखबार अब एक त्रिदलीय समझौते की बातें करने लगे। आंग्ल-रूसी संधि के बाद ब्रिटेन की सहानुभूति और सद्भावना स्वाभाविक रूप से द्विगुट के साथ हो गयी और इस तरह ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस को मिलाकर यूरोप में एक दूसरे त्रिगुट अर्थात त्रिपक्षीय समझौता (Triple Entente) की स्थापना हुई। 1907 में यूरोप साफ-साफ दो गुटों में बंट गया। एक तरफ जर्मनी, आस्ट्रिया तथा कुछ अंशों तक इटली का त्रिगुट और दूसरी तरफ ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस का त्रिगुट। इसमें कोई शंक नहीं कि ये दोनों गुट रक्षात्मक थे। इनकी संधियों में कोई ऐसी शर्त नहीं थी जिसका उद्देश्य किसी देश पर हमला करना हो। लेकिन, यूरोप का राजनीतिक वातावरण दूषित हो रहा था। राष्ट्रों के बीच हथियारबंदी की होड़ चल रही थी। जर्मनी अपनी नौ-सेना में वृद्धि करने का अथक प्रयास कर रहा था। ब्रिटेन इसको सहने को तैयार नहीं था। हर देश में विकृत देशभक्ति अपना सर उठा रही थी। फ्रांस में अपने राष्ट्रीय अपमान का बदला तथा आल्सेस-लोरेन को लौटाने की भावना अति तीव्र हो रही थी। यूरोपीय देशों की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं के कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तरह-तरह के संकट पैदा हो रहे थे। मोरक्को-कांड, अगदिर-कांड, बाल्कन-कांड तथा बोस्निया कांड सब-के-सब इन्हीं साम्राज्यवादी आकांक्षाओं के परिणाम थे। रूस और आस्ट्रिया दोनों बाल्कन प्रायद्वीप को हड़प लेना चाहते थे। स्वयं बाल्कन प्रायद्वीप में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए काफी चहल-पहल थी। इन सबों के अतिरिक्त यूरोप में सभी देशों के समाचार-पत्र अपने जहरीले प्रभाव को फैला रहे थे। एक देश में समाचार-पत्र दूसरे देश के नेताओं पर जहर उगलते थे और इस प्रकार का दूषित जनमत तैयार करते थे जिससे राष्ट्रों के बीच सद्भावना का पनपना असंभव हो जाय। यह कहना अतिरंजित नहीं होगा कि समाचार-पत्रों का यह दृष्टिकोण प्रथम विश्वयुद्ध का एक प्रमुख कारण था। जुलाई 1914 में यदि सर्बिया और आस्ट्रिया के समाचार-पत्र कुछ धैर्य से काम लेते, एक-दूसरे पर जहर नहीं उगलते तो इस बात की अधिक सम्भावना थी कि प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ ही नहीं होता। 1907 तक यूरोप दो गुटों में बंट चुका था। एक गुट दूसरे गुट से जलता था और अगल-बगल में खड़ा होकर एक दूसरे को शक की निगाह से देखता था। लेकिन उपयुर्क्त कारणों से ऐसी स्थिति नहीं बनी रही। 1907 में वे अगल-बगल में खड़े थे, 1912 आते-आते वे एक-दूसरे के आमने सामने हो गये।

इस अवस्था में जर्मनी की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत कमजोर हो गयी। जर्मनी अपने को असहाय महसूस करने लगा। लेकिन इस स्थिति के लिए स्वयं जर्मनी ही जिम्मेवार था; बिस्मार्क अपनी कूटनीति की बदौलत जर्मनी को जिस सुरक्षित दशा में पहुंचा दिया था उसको नष्ट करने का उत्तरदायित्व केवल कैजर और उसके कुछ सलाहकारों पर था। कैजर ने रूस की मित्रता खो दी और जब ब्रिटेन उससे संधि करना चाहता था, तो उसने उस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया। इसके बाद जब ब्रिटेंन ने फ्रांस और रूस के साथ संधि की तो वह ब्रिटेन के शासकों को कोसने लगा, उन्हें भला-बुरा कहने लगा। ब्रिटेन पर उसने यह आरोप लगाया कि वह यूरोप में गुट कायम करके जर्मनी को चारों तरफ से घेर लेना चाहता है। यह आरोप ठीक नहीं था; क्योंकि ब्रिटेन अगर जर्मनी के दुश्मनों के गुट में मिला तो वह जर्मनी की नीति से बाध्य होकर ही। कैजर अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल भोग रहा था। उधर बिस्मार्क की आत्मा कराह रही थी। बहुत दिन पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि वह युवक (कैजर) अपनी नीति से जर्मनी का विनाश कर देगा। प्रोफेसर गूच ने ठीक ही कहा है कि यह जर्मनी और विश्व-शांति के लिए बड़ी दुर्भाग्य की बात थी कि बिस्मार्क के बाद जर्मनी को ऐसा सुयोग्य नेता पैदा नहीं हुआ जिसमें राजनीतिक कुशलता और कूटनीतिक दूरदर्शिता के गुण रहे हों। ऐसा लगता है कि अनुभवहीन कैजर और उसके कुछ अनुयायी जर्मनी के विनाश पर तुले हुए थे और उनको रोकनेवाला कोई नहीं था।

FOOT NOTES

1. यद्यपि पीछे चलकर ब्जरको-संधि रद्द हो गयी क्योंकि जार ने कुछ कारण वश उस पर से अपना हस्ताक्षर लौटा दिया।

अध्याय 7

इटली की विदेशी-नीति

(Italian Foreign Policy)

त्रिगुट संधि में इटली : 1871 में अंतिम रूप से इटली का एकीकरण सम्पन्न हुआ और उसके तुरंत बाद ही वह यूरोप की एक महाशक्ति बनने का स्वप्न देखने लगा। इसके लिए समुद्र पार औपनिवेशिक साम्राज्य कायम करना परम आवश्यक था। इटली की आबादी जोरों से बढ़ रही थी। अतिरिक्त आबादी के लिए जगह प्राप्त करना जरूरी प्रतीत हो रहा था। इनके अलावे इटली भी एक उद्योग-प्रधान देश बनने का इरादा रखता था। ऐसी दशा में उसे कच्चे माल तथा बाजार की आवश्यंकता पड़ती। औपनिवेशिक विस्तार करके इस कमी की पूर्ति की जा सकती थी। इन सारी आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में इटली ने एक औपनिवेशक शक्ति बनने की दृढ़ निश्चय किया।

इटली का प्रारंभिक इरादा ट्यूनिस पर अधिकार करना था। लेकिन फ्रांस ने शीघ्र ही ट्यूनिस पर अधिकार जमाकर इटली की आशाओं पर वज्रपात कर दिया। इसके बाद इटली के समक्ष कोई मार्ग नहीं बचा। अतएव उसने यूरोप की राजनीतिक गुटबंदियों में सक्रिय भाग लेना शुरू किया। वह फ्रांस के विरोधी देशों से मिलने लगा और 1882 में आस्ट्रिया एवं जर्मनी की द्विगुट संधि में शामिल हो गया। द्विगुट का नाम बदलकर त्रिगुट (Triple Alliance) कर दिया गया।

त्रिगुट में शामिल होने का इटली का एक ही उद्देश्य था कि वह जर्मनी का सहयोग और समर्थन पाकर अपनी औपनिवेशिक आकांक्षाओं की पूर्ति करे। लेकिन बिस्मार्क इसके लिए तैयार नहीं था। त्रिगुट संधि संपन्न होने के कुछ ही दिनों बाद इटली ने आरोप लगाया कि फ्रांस मोरक्को में इटली के हितों पर आघात कर रहा है। इसका प्रतिरोध करने के लिए इटली ने जर्मनी से मदद चाही। इस पर बिस्मार्क ने कड़े शब्दों में उत्तर दिया : "मैन्सिनी (इटली का प्रधानमंत्री) को इस प्रार्थना पर मेरा कुद्ध होना असंगत नहीं। मुझे इसमें नौसिखुआपन की गंध लगती है। उच्च राजनय में क्या संभव और असंभव है इसका ज्ञान उसे नहीं है। इस घटना ने एकबार फिर इटली की उस स्वार्थी नीति को स्पष्ट कर दिया हैं जिससे प्रेरित होकर वे बिना अपनी एक ऊंगली भी भिगोये दूसरों को पानी में कूदने के लिए कहते हैं। यदि उस पर फ्रांस का आक्रमण हो या आक्रमण की संभावना भी हो तो हम इटली की मदद के लिए तैयार हैं, पर हम चुपचाप यह सुनने को तैयार नहीं हैं कि हम फ्रांस के साथ उलझ पड़ें या यूरोप के समक्ष एक महायुद्ध का खतरा उत्पन्न कर दें; वह भी केवल इसलिए कि इटली के हितों के लिए कुछ अस्पष्ट आशंकाएं हैं।"

1885 में त्रिगुट संधि के नवीनीकरण (renewal) का अवसर आया। इस मौके पर इटली ने शिकायत की कि त्रिगुट संधि में शामिल होने से उसको कोई लाभ नहीं पहुंचा है। इस पर बिस्मार्क का तीखा जवाब यह था कि त्रिगुट संधि यूरोप में बनाये रखने के लिए की गयी थी न कि सदस्य देशों के लिए नये भूभाग जीतने के लिए। प्रत्युत्तर में इटली ने कहा वह संधि के नवीनीकरण पर तभी हस्ताक्षर करेगा जब उसे और अधिक व्यापक समर्थन का वचन दिया जाय। इस पर बिस्मार्क ने जवाब दिया कि यदि इटली चाहे तो त्रिगुट

संधि छोड़ सकता है। किंतु 1887 में जब फ्रांस में बुलांजे संकट तथा बाल्कन में बुल्गेरिया संकट के काले बादल छाने लगे तो इटली त्रिगुट संधि में कुछ नयी धारा जुड़वाने में सफल हो गया। इटली का आस्ट्रिया और जर्मनी के साथ दो पृथक् संधियां हुईं जिनका फलस्वरूप इटली को बाल्कन क्षेत्र में कुछ छूट मिल गयी। जर्मनी ने वचन दिया कि ओटोमन साम्राज्य के इर्द-गिर्द तथा एड्रियाटिक और ईजियन सागरों के द्वीपों में से किसी तरह का क्षेत्र संबंधी परिवर्तन, यदि वह इटली के लिए अहितकर हो, तो जर्मनी उसको रोकने का प्रयास करेगा। यह भी निश्चित हुआ कि यदि उत्तरी अफ्रीका में कहीं फ्रांस अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न करे और इटली अपने हितों के रक्षार्थ इसका विरोध करे जिसके कारण युद्ध शुरू हो जाय तो इटली को सैनिक सहायता देगा।

जर्मनी के इन आश्वासनों के बूते पर इटली ट्रिपोली पर अधिकार जमाने का प्रयास करने लगा लेकिन इसमें उसको सफलता नहीं मिली। 1886 में उसने अबीसीनिया पर भी हमला किया, लेकिन वहां भी उसे पराजय का मुंह देखना पड़ा। इन सब घटनाओं से इटली बहुत निराश था। त्रिगुट संधि के देशों से यह बराबर शिकायत करता रहता कि फ्रांस उसे आंखें दिखा रहा है, ब्रिटेन उसकी कोई परवाह नहीं करता तथा बाल्कन क्षेत्र में रूसी षड्यंत्रों से उसके हितों पर खतरा उत्पन्न हो गया है। फ्रांस ने तो इटली को यहां तक चेतावनी दे दी कि जबतक वह त्रिगुट संधि में शामिल रहेगा, उसे कोई रियायत नहीं दी जा सकती।

फ्रांस की ओर इटली का झुकाव : इस स्थिति में इटली ने फ्रांस के साथ मेलजोल बढ़ाने का निश्चय किया। अत: 1896 में ट्यूनिकं के संबंध में दोनों देशों के बीच एक संधि हो गयी। इटली में ट्यूनिस पर फ्रांसीसी आधिपत्य को मान्यता दे दी। बदले में इटली को वहां कई राजनीतिक और आर्थिक सुविधाएं मिलीं। अगले वर्ष इटली के युवराज ने पेरिस की यात्रा की जहां बड़े जोश-खरोस के साथ उसका स्वागत हुआ। दो वर्ष बाद (1899) फ्रांस और इटली के बीच एक व्यापारिक समझौता भी संपन्न हुआ। इस समझौता ने उस चुंगी युद्ध को समाप्त कर दिया जो वर्षों से दोनों देशों के बीच चल रहा था। इसी वर्ष फ्रांस ने यह घोषणा की कि फ्रांस का ट्यूनिस से पूरब ट्रिपोली की ओर बढ़ने का इरादा नहीं है। एक औपचारिक समझौता द्वारा इटली ने मोरक्को में फ्रांस की तथा फ्रांस ने ट्रिपोली में इटली की आकांक्षाएं मान लीं।

1901 में इस अनौपचारिक समझौता का विवरण पहले-पहल सामने आया। आस्ट्रिया जर्मनी की शंका मिटाने के लिए इटली ने यह भी घोषणा की कि त्रिगुट संधि के प्रति उसकी आस्था में कोई कमी नहीं हुई है।

इटली की इस अनिश्चितता और ढुलमुल नीति से जर्मनी का चिंतित होना स्वाभाविक था। लेकिन सार्वजनिक रूप से उसने इटली से कोई विरोध प्रकट नहीं किया। 8 जनवरी, 1901 को जर्मनी संसद में इस घटना पर चांसलर बूलो ने एक वक्तव्य दिया और कहा कि "यदि संधि अभी पूर्ण सशक्त और स्वस्थ है। लेकिन परिहासपूर्ण शब्दों में उसने यह भी कहा कि "यदि सुखी दांपत्य जीवन में पत्नी किसी के साथ एकबार सहनृत्य भी कर ले तो इस पर पति को क्रोधित नहीं होना चाहिए। असल बात यह है कि वह उसके साथ भाग न जाय।" पुनः, इटली को चेतावनी देते हुए उसने कहा कि त्रिगुट संधि मुनाफा कमानेवाला कोई व्यावसायिक संगठन नहीं वरन् एक बीमा कंपनी है।

फ्रांस के साथ समझौता : लेकिन इटली पर इस चेतावनी का कोई असर नहीं पड़ा और वह "सहनृत्य" में संलग्न रहा। फ्रांस के साथ कई स्तरों पर उसकी वार्ताएं होती रहीं। फ्रांसीसी विदेश मंत्री किसी तरह त्रिगुट संधि में फूट नहीं डालना चाहता था और इसकें लिए प्रयास करता रहा। वह इटली के साथ एक समझौता करना चाहता था जिसमें इस बात की व्यवस्था हो कि इटली ऐसे किसी युद्ध में पूर्णतया तटस्थ रहेगा जिसमें फ्रांस को विवश होकर युद्ध छेड़ने की पहल करनी पड़े। 1902 में इस तरह का एक समझौता

हो गया। इसके अनुसार इटली को ट्रिपोली और फ्रांस को मोरक्को में मनमानी करने का अधिकार मिल गया। दोनों देशों ने वादा किया कि यदि उनमें से कोई एक किसी तीसरे देश के साथ युद्ध में फंस गया तो वैसी स्थिति में दूसरा उदासीनता या तटस्थता की नीति बरतेगा। संधि की शर्तें गुप्त रखी गयीं। इस प्रकार फ्रांस और इटली मित्र बन गये। इटली यद्यपि अब भी जर्मनी के गुट में शामिल था, पर फ्रांस के साथ उसका कोई विरोध नहीं रह गया।

समझौते का महत्व : इटली और फ्रांस में समझौता होने से यूरोप की राजनीति में त्रिगुट का प्रभाव बहुत कम हो गया। समझौता होने के कारण इटली की विदेश-नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन न होना अवश्यंभावी हो गया। इटली अब त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं रह सकता था। वह उसकी ओर से विमुख होने लगा। आगे चलकर इटली त्रिगुट से केवल निकल ही नहीं गया, बल्कि उसके विरोधियों के साथ भी मिल गया।

इटली का कहना था कि फ्रांस के साथ उसका यह समझौता त्रिगुट संधि के प्रति उसके दायित्वों के विपरीत नहीं था। त्रिगुट संधि की दूसरी धारा के अनुसार इटली उसी स्थिति में जर्मनी की सहायता करने को वचनबद्ध था जबकि फ्रांस अकारण ही उस पर हमला करता। 'प्रत्यक्ष भड़कानेवाली कार्रवाई' क्या होगी यह निर्णय करने का अधिकार इटली ने अपने लिए सुरक्षित रख छोड़ा था। अतएव इटली को पूरी स्वतंत्रता थी कि त्रिगुट संधि के देशों और त्रिपक्षीय समझौता के देशों के बीच युद्ध छिड़ने पर वह अपने को तटस्थ रखे। फ्रांसीसी-इटली समझौता (1902) ने यह व्यवस्था कर दी कि फ्रांसीसी आक्रमण होने पर इटली जर्मनी की सहायता नहीं करेगा। यह त्रिगुट संधि की व्यवस्था का विरोध करता था क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य जर्मनी पर पूरा आक्रमण होने की दशा में इटली को देश की सहायता करना था। इस प्रकार इटली के पांव अब दोनों शिविरों में आ गये; वह दोनों ही दिशा में कूद सकता था। अतएव उस पर न तो जर्मनी-आस्ट्रिया का ही विश्वास रहा और न फ्रांस-रूस का ही।

इस समझौते के कारण फ्रांस की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति काफी सुरक्षित हो गयी। देल्कासे का उद्देश्य जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध एक ऐसा गुट तैयार करना था, जिसके द्वारा वह इन शक्तिशाली राष्ट्रों का मुकाबला कर सके। इटली के साथ समझौता का होना इस नीति की पहली सफलता थी। फ्रांस को अपनी चिंताओं से मुक्ति मिलने ही वाली थी।

जर्मनी की प्रतिक्रिया : इस समझौते पर जर्मनी को संशक्ति होना स्वाभाविक था और जब जर्मन सरकार ने पूछताछ की तो उसे यह जवाब मिला कि "फ्रांस की दोस्ती इटली के व्यापारिक हितों तथा ऋण लेने की उसकी आवश्यकता के लिए जरूरी थी।" एक वर्ष बाद इटली के राजा विक्टर इमैनुअल ने पेरिस की यात्रा की। यहां उसका अपार स्वागत हुआ। इसके तुरंत बाद फ्रांस का राष्ट्रपति रोम आया। इस अवसर पर फ्रांस और इटली की मित्रता का खूब प्रदर्शन किया गया। स्वागत समारोह और शाही दावतों के समय जो भाषण दिये गये उनमें इटली की ओर से त्रिगुट संधि की चर्चा तक नहीं की गयी। यह सब इस बात का प्रमाण था कि इटली अब त्रिगुट संधि के प्रति वफादार नहीं रह गया है। लगता था कि फ्रांस और इटली का "सहनृत्य" अब उस हद तक आ पहुंचा था जिसमें "प्रेमी" के साथ 'गुप्त रूप से भागने' की नौबत आ गयी थी।

जर्मनी में इस बात पर मतभेद था कि इटली के इस बदले हुए रुख के प्रति कैसी नीति अपनायी जाय। कुछ लोग कड़ा रुख अख्तियार करने के पक्ष में थे। लेकिन बूलों ने धैर्य से काम लेना ही वांछनीय समझा और यह निर्णय किया कि डांट-फटकार की अपेक्षा मेल-मिलाप की नीति ही अधिक श्रेयस्कर होगी। उसने इटली को उसकी औपनिवेशिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सहायता करने का फिर से आश्वासन दिया। बूलो को भय था कि यदि इटली के साथ कड़ा रुख अपनाया गया तो वह फ्रांस की गोद में चला जायगा। उसका कहना था कि त्रिगुट संधि का दिखावा, जहां तक संभव हो ठीक रखा जाना चाहिए। किसी

संकट के समय इटली जर्मनी का साथ देगा, यह भ्रम बूलो को नहीं रह गया था। फिर भी यदि इटली फ्रांस की ओर न जाकर तटस्थ ही रहे तो यह कम लाभदायक नहीं रहेगा। सार्वजनिक तौर पर वह यह विश्वास दिलाता रहा कि त्रिगुट संधि से इटली के अलग होने का कोई खतरा नहीं है। लेकिन निजी तौर पर वह इटली के दोनों शिविरों में छलांग लगाने की नीति पर अत्याधिक चिंतित था।

इटली की इस अभक्ति का पता जर्मनी को 1905 के अलजिसरास सम्मेलन में लगा। इस सम्मेलन में इटली ने जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस का साथ दिया। 8 मार्च 1906 को इटली के प्रधानमंत्री ने अपनी विदेश-नीति पर स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि "त्रिगुट संधि के प्रति वफादार होने के साथ-साथ हमलोग ब्रिटेन और फ्रांस के साथ भी अपनी परंपरागत मैत्री कायम रखना चाहेंगे।" इस पर कैजर ने अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त की : "एक व्यक्ति एक ही साथ दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता और तीन स्वामियों का तो कदापि नहीं। इटली एक साथ ही ब्रिटेन, फ्रांस तथा त्रिगुट संधि के साथ रहे यह असंभव है। हम इस निष्कर्ष पर पहुंच गये हैं कि इटली आंग्ल- फ्रांसीसी गुट में शामिल हो गया है और अच्छा होगा कि हम इस तथ्य को ध्यान में रखकर अपनी तैयारी करें। इटली अब मित्र राष्ट्रों की श्रेणी में नहीं रहा।"

बोस्निया संकट के समय इटली : बोस्निया संकट के समय और बाद में इटली को त्रिगुट संधि से विमुख होने का एक दूसरा अवसर मिला। इटली की शिकायत थी कि आस्ट्रिया ने इस प्रश्न पर इटली से न तो पहले परामर्श लिया था और न संकट के समाधान में उसका भागीदार बनाया गया था। इससे इटली के स्वाभिमान को चोट लगी। बाल्कन प्रायद्वीप में आस्ट्रिया का प्रभाव सुदृढ़ होने से उसकी महत्वाकांक्षाओं पर भी खतरा उत्पन्न होता जान पड़ा। इटली के लोगों ने आस्ट्रिया के विरुद्ध एकीकरण आंदोलन के समय से ही घृणा थी। अब वह घृणा और बढ़ गयी। इटली के प्रधानमंत्री ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा भी था : "एक ही शक्ति है जिसके साथ इटली संघर्ष की संभावना देख रहा है और वह हमारा मित्र राज्य (आस्ट्रिया) है।"

रूस के साथ संधि : इटली को इस दुरंगी नीति से जर्मनी और आस्ट्रिया के विरोधी राज्य लाभ उठाना चाहते थे। 1902 में फ्रांस और इटली के बीच एक समझौता हो ही चुका था। अब रूस भी उसके साथ सौदाबाजी करने का यत्न करने लगा। अतः अक्टूबर, 1909 में रूस का जार इटली की यात्रा पर गया। इसी अवसर पर रूस और इटली के बीच एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ जिनके अनुसार दोनों पक्षों ने बाल्कन क्षेत्र में यथास्थिति बनाये रखने का संकल्प लिया, पर यदि संभव नहीं हो सका तो राष्ट्रीयता के सिद्धांत के आधार पर बाल्कन राज्यों के नवनिर्माण पर वे सहमत हो गये। यह भी तय हुआ कि यदि रूस और इटली किसी तीसरी शक्ति के साथ वर्तमान के अतिरिक्त कोई नया समझौता करना चाहेंगे तो ऐसा वे उसमें दोनों के भाग लेने के आधार पर ही करेंगे। दोनों पक्ष इस बात को भी मान गये कि जलडमरूमध्य के सवाल पर रूसी हितों के तथा ट्रिपोली और सायरेनाइका में इटली के हितों के मामलों पर सद्भावना का रवैया अपनायेंगे। संधि की शर्तों को पूर्णतया गुप्त रखा गया। इटली और रूस के मध्य इस समझौता को **रैक्कोनिगि** समझौता (Racoonigi Agreement) कहते हैं।

रैक्कोनिगि समझौता (जिसके अंतर्गत तुर्की का संभावित विभाजन तथा जलडमरूमध्यों संबंधी रूसी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति व्यवस्थित थी) रूसी विदेशमंत्री इज्वोल्स्की के एक दूसरे उद्देश्य की पूर्ति भी करता था। यह उद्देश्य था इटली को त्रिगुट संधि से विमुख कर त्रिदलीय समझौता (Triple Entente) की ओर लाना। इज्वोल्स्की को बाद में इस उद्देश्य में भी सफलता मिली।

त्रिगुट संधि का नवीनीकरण : त्रिगुट संधि (Triple Alliance) में इटली दुर्बलता का तत्त्व था। अलजिसरास सम्मेलन के समय से ही जर्मनी उसकी निष्ठा को संदेह की दृष्टि से देखता था। आस्ट्रिया के विदेश मंत्री कॉनराइट उसकी बेवफाई से रंज होकर उसको शत्रु की कोटि में रखता था। वह इटली

को आस्ट्रिया का "मुख्य विरोधी" कहा करता था। उसने इटली के विरुद्ध लामबंदी की योजना बना रखी थी और उसके विरुद्ध प्रतिकारात्मक युद्ध (preventive war) की बातें भी किया करता था। ट्रिपोली पर कब्जा करने के लिए इटली ने तुर्की के खिलाफ जो युद्ध छेड़ा था उससे जर्मनी बहुत नाखुश था क्योंकि वह तुर्की से संबंध बढ़ाना चाहता था।

त्रिगुट संधि 1914 तक लागू रहनेवाला था, लेकिन 1911 की गर्मियों में ही उसकी नवीनीकरण के प्रश्न पर बातचीत शुरू हो गयी। अपने मित्र राज्यों को खुश करने के लिए इटली ट्रिपोली पर आक्रमण करने के पूर्व ही इसका नवीनीकरण चाहता था, पर जर्मनी और आस्ट्रिया के सैनिक अधिकारी इटली द्वारा की गयी धोखेबाजियों से इतने रुष्ट थे कि उसे नाममात्र का मित्रराज्य बनाये रखने में भी कोई औचित्य नहीं देखते थे। उनका कहना था कि "युद्ध छिड़ने पर इटली हमारे विरुद्ध बारूद की ढेर की तरह विस्फोट करेगा।" आस्ट्रिया के सैनिक अधिकारियों का कहना था कि "हमारे लिए सबसे अच्छा यही होगा कि आस्ट्रिया प्रतिकारात्मक युद्ध करके इटली की सीमा पुनर्निर्धारण संबंधी आशाओं को चूर कर दे।" लेकिन आस्ट्रिया के सम्राट ने इस बात की इजाजत नहीं दी। ट्रिपोली-युद्ध के कारण त्रिगुट संधि के नवीनीकरण में कुछ विलंब हो गया। अंत में 5 दिसंबर, 1912 को उसकी अवधि छह वर्ष के लिए बढ़ा दी गयी। लेकिन इसके बावजूद जुलाई 1914 के तृतीय सप्ताह में इटली ने ज़र्मनी को सूचित कर दिया कि 1888 की संधि के अनुसार अपनी फौज भेजने में वह असमर्थ है।

निष्कर्षत:, 1871 और 1914 के बीच के काल में इंटली की विदेश नीति पूर्णतया दुरंगी और अवसरवादी रही। उसकी इस नीति पर टिप्पणी करते हुए 1912 में **पोआन्कारे** ने ठीक ही कहा था : "न त्रिगुट संधि और न त्रिपक्षीय समझौता वाले राष्ट्र ही इटली की वफादारी पर: विश्वास कर सकते हैं। इटली की सरकार शांति भंग नहीं होने देने के लिए सभी प्रयत्न करेगी; युद्ध छिड़ने पर प्रारंभ में वह इंतजार करने का रवैया अपनायगी। अंत में वह उस पक्ष का साथ देगी जिसको विजय संभावित जान पड़ेगी।" वस्तुत: युद्ध के छिड़ने के अवसर पर इटली के पांव दोनों शिविरों में थे। वह दोनों ही दिशा में छूटकर मिल जा सकता था। उस पर न तो पुराने और न नये मित्र राज्यों का ही विश्वास था।

अध्याय 8

सैनिकवाद और आँग्ल-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा

(Millitarism & Anglo-German Naval Rivalry)

सैनिकवाद : 1871 से 1914 का काल यूरोप के इतिहास में "सशस्त्र शांति" (armed peace) और अंतर्राष्ट्रीय अराजकता (international anarchy) का युग था। यूरोपीय राष्ट्रों के बीच हथियारबंदी की होड़ इस युग की एक प्रमुख विशेषता थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः सभी लोग विश्वास करते थे कि युद्ध एक प्रभावकारी राजनीतिक अस्त्र है। युद्ध के द्वारा ही फ्रांस ने क्रांति के सिद्धांतों का प्रचार किया था। युद्ध ने ही नेपोलियन के अत्याचारों का अंत किया था। जर्मनी और इटली की एकता युद्ध के सहारे ही संपन्न हुई थी। युद्ध के सहारे ही संयुक्त राज्य अमेरिका का संघ कायम रह सका था और युद्ध के मार्ग का अवलंबन करके ही पश्चात्य देशों का पूर्वी गोलार्द्ध पर औपनिवेशिक साम्राज्य कायम हुआ था। इससे इस युग में लोगों को दृढ़ विश्वास था कि युद्ध के द्वारा ही सभी राजनीतिक समस्याएं सुलझायी जा सकती हैं। उग्र राष्ट्रवाद और प्रचंड साम्राज्यवाद के इस युग में राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए युद्ध एक परम आवश्यक साधन माना जाता था। जब प्रशा के लोग अपने गौरवमय प्राचीन इतिहास की याद करते थे तो उन्हें यही प्रेरणा मिलती थी कि कभी तो उनकी सीमाएं अत्यंत अरक्षित थीं, किंतु युद्ध के द्वारा अब वे अत्यंत सुरक्षित हो गयी थीं। यूरोप में उनका सर्वत्र आदर था। अतः वे गर्व के साथ कहा करते थे कि युद्ध सभी कठिनाइयों का एकमात्र कारगर इलाज है। फ्रांस के लोग भी अपनी प्राचीन परंपरा को भूले नहीं थे जो वास्तव में अनेक युद्धों के ही परिणाम थे। इसके अतिरिक्त फ्रांस 1870 की पराजय तथा अपमान को कैसे भूल सकता था। सारे फ्रांस के लोग युद्ध के लिए अत्यंत लालायित थे। ऐसे अनेक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे इस निष्कर्ष पर पहुंचना होगा कि यत्र-तत्र शांति प्रयत्नों के बावजूद सभी लोगों को पूर्ण विश्वास था कि युद्ध से राष्ट्रीय संतोष प्राप्त हो सकता है।

परंतु युद्ध के लिए आवश्यक तैयारी करनी पड़ती है। यह आवश्यक है कि एक राष्ट्र अपने विरोधी राष्ट्र से अधिक शक्तिशाली रहे तथा उसकी सेना आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रखे। अतएव 1871 के बाद यूरोपीय देशों में अपनी-अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने तथा सेना को आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से लैस करने की एक होड़ मच गयी। इस कारण युद्ध से पूर्व यूरोप मानों सशस्त्र सैनिक छावनियों का एक झुंड बन गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में यूरोप का प्रायः प्रत्येक देश चरम सीमा तक शस्त्र-सज्जित होकर एक-दूसरे के सम्मुख युद्ध करने की मुद्रा में खड़ा था। एक देश दूसरे देश पर इस क्षेत्र में बाजी मार लेने के प्रयास में हमेशा लगा रहता था। हथियारबंदी यूरोप के राजनीतिक जीवन का एक नया व्यसन बन गया था। प्रत्येक देश की सेना की उन्नति के लिए पागल हो रहा था। यूरोप के प्रत्येक देश में सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जा रही थी और ब्रिटेन को छोड़कर प्रायः सभी यूरोपीय देशों में अनिवार्य सैनिक सेवा की प्रथा चल पड़ी थी। संपूर्ण जनता युद्ध के लिए शिक्षित की जा रही थी, जो आवश्यकता पड़ने पर किसी भी समय युद्ध के लिये काम आ सकती है। सब लोग हर क्षण तैयार रहने में अपना कल्याण समझते थे। अनिवार्य सैनिक सेवा की प्रथा सबसे पहले क्रांति के समय फ्रांस ने शुरू की थी। उसके बाद प्रशा ने इसको अपनाया और

इस प्रथा को और आगे बढ़ाया। प्रशा की सैनिक शक्ति और जर्मनी की एकता का आधार प्रशा की सेना थी जो वैज्ञानिक सामरिक विद्या तथा अनिवार्य सैनिक सेवा के आधारों पर संगठित की गयी थी। प्रशा एक सैनिक शक्ति के रूप में एकाएक उदित हुआ था और जब प्रशा ने जल्दी-जल्दी निर्णायक तौर पर आस्ट्रिया और फ्रांस को हराया तब तो सारे यूरोप की मानों आंखें खुल गयीं। प्रशा का वैज्ञानिक सैनिकवाद एक नूतन शक्ति के रूप में उदित हुआ जो विस्तृत तैयारियों और पूर्णता के आधार पर तैयार किया गया था। उसकी सेना की प्रत्येक टुकड़ों को सैनिक सिद्धांतों की पूरी शिक्षा दी जाती थी और प्रत्येक सैनिक को आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से लैस किया गया था। इस कहावत में कुंछ तथ्य है कि "सीडान के प्रसिद्ध युद्ध को सैनिक स्कूल के शिक्षकों ने जीता था।"

प्रशा के बाद धीरे-धीरे अन्य यूरोपीय देश भी इस कला को ग्रहण करते गये। सेना का खर्च बड़ी तेजी के साथ बढ़ता गया। अनेक यूरोपीय राज्य अपनी वार्षिक आय का पच्चासी प्रतिशत युद्ध की तैयारी पर खर्च कर रहे थे। स्थायी सेना की संख्या लगातार बढ़ रही थी। जिस देश के पास जितने घातक और भयंकर हथियार हों उसे उतना ही महान समझा जाता था। अधिक सैनिक शक्ति महानता की निशानी थी। इस तरह संपूर्ण महादेश में सैनिक वातावरण छाया हुआ था। कोई किसी को रोकनेवाला नहीं था। यह "अंतर्राष्ट्रीय अराजकता का युग था।"

सैनिकवाद की विशेषताएं

हथियारबंदी की होड़ की यह एक विचित्रता थी कि इसको शांति के नाम पर ही उचित सिद्ध किया जाता था। प्राचीन रोमन की उस पुरानी कहावत में कि "यदि शांति चाहते हो तो युद्ध के लिए तैयार रहो," (Si Vis Pacem, Para be um) लोगों को पूर्ण विश्वास था। कोई देश यह कबूल करने को तैयार नहीं था कि वह अपनी सैनिक शक्ति किसी आक्रामक इरादे से बढ़ा रहा है। सभी यही कहते थे कि वे अपनी सुरक्षा के लिए ही सैनिक शक्ति में वृद्धि कर रहे हैं। हथियारबंदी के लिए इस प्रकार का तर्क देना आवश्यक भी था। इस पर करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते हैं, जिसकी स्वीकृति राष्ट्रीय संसद से लेनी पड़ती थी। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर संसद को ठगा जा सकता था। इसी बहाने उससे मुहंमांगे पैसों की स्वीकृति ली जा सकती थी। हथियारबंदी का उद्देश्य चाहे रक्षात्मक रहा हो या आक्रमणात्मक, लेकिन राष्ट्रों पर इसका काफी बुरा प्रभाव पड़ा। राष्ट्रों के बीच व्यापक संदेह, घृणा और भय उत्पन्न करना इसका समग्र नतीजा हुआ। यदि कोई एक देश अपनी सैन्य शक्ति में वृद्धि करता तो उसका दुश्मन देश तुरंत ही सशंकित हो जाता। वह समझता था कि अमुक देश युद्ध करने के लिए अपनी सैन्य शक्ति बढ़ा रहा है। अत: वह अपने को भी तैयार करने लगता, सेना की संख्या बढ़ाता तथा उसको आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करता। भय से भय की उत्पत्ति होती है और इसी दूषित वातावरण से हथियारबंदी की होड़ परिक्रमा करती रही। गुप्त संधियों की व्यवस्था ने इस प्रतियोगिता को और भी उग्र बना दिया। फ्रांस बराबर रूस को अपनी सेना में वृद्धि करने की सलाह देता रहा था। वह इसके लिए रूस को हमेशा कर्ज देने की तैयारी में रहता था। उधर रूस ने फ्रांस को अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि दो से तीन वर्ष कर देने को कहा।

सैनिकवाद की कुछ विशेषताएं भी थीं। प्रत्येक देश की सेना सैनिक अफसरों के गुट से नियंत्रित होती थी। ये सैनिक अफसर बहुत बड़े देशभक्त होते थे और राष्ट्रीय मान-मर्यादा के लिए मर-मिटने को तैयार रहते थे। देश की रक्षा अपना पवित्रतम कर्तव्य समझते थे। अपने देश की रक्षा के लिए हमेशा तैयार रहना वे अपना सबसे बड़ा धर्म समझते थे। कभी भी, किसी भी समय देश पर आक्रमण हो सकता है, ऐसी स्थिति में वे हमेशा तत्पर रहते थे। कम-से-कम समय में विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए वे तरह-तरह की योजनाएं बनाते रहते थे। उनकी समझ में दुश्मन पर जल्द-से-जल्द आक्रमण कर देना ही रक्षा का सर्वोत्तम उपाय था।

सामरिक बुद्धिमानी इसी में थी कि शत्रु अभी तैयार भी नहीं हुआ हो कि उस पर चढ़ाई कर दी जाय। इसलिए वे 'हमेशा तैयार रहो' की स्थिति में रहते थे। जब कोई राजनीतिक संकट उपस्थित होता तो ये झट निष्कर्ष पर पहुंच जाते कि युद्ध 'अवश्यंभावी' है और राजनीतिज्ञ पर दबाव डालने लगते कि वे उन्हें जल्द-से-जल्द सेना को हथियार उठाकर आगे बढ़ाने की आज्ञा दे दें। लेकिन यह काम खतरे से खाली नहीं था। एक बार अगर सेना ने हथियार उठा लिया और युद्ध का बिगुल बज उठा तो बीच में उसको रोकना असंभव था। युद्ध से पूर्व लामबंदी (mobilisation) के महत्त्व पर बोलते हुए फ्रांसीसी सैनिक अधिकारी ने कहा था : "लामबंदी (mobilisation) युद्ध घोषणा है"। लामबंदी करना पड़ोसी राष्ट्र को भी वैसा ही करने को विवश करना है। लामबंदी में सामरिक महत्व के स्थलों पर सैनिक टुकड़ियों का यातायात तथा एकत्रीकरण करना अंतर्निहित है। अन्यथा अपनी सीमांत पर दस लाख सैनिक छोड़ देना स्वयं अपने को उस व्यक्ति की स्थिति में डालने के समान है जो "अपनी पिस्तौल अपनी जेब में रखे शत्रु तो इसका मौका देता है कि वह अपनी पिस्तौल उसकी ललाट में सटा दे।"

आधुनिक सैनिकवाद की दूसरी बुराई यह थी कि सामरिक योजनाएं विशेषज्ञों द्वारा बनायी जाती थीं और उनको गुप्त रखा जाता था। संसद और जनता क्या, विदेश मंत्री को भी उन योजनाओं के विषय में बहुत कम जानकारी रहती थी। अगर विदेश मंत्री योजनाओं के विषय में बहुत जानता भी था तो योजनाओं को गुत्थी समझना उसके लिए कठिन था। सर एडवर्ड ग्रे ने लिखा है कि 1906 से 1911 के बीच इंगलैंड और फ्रांस की सैनिक अधिकारी उत्तरी फ्रांस में आंग्ल- फ्रांसीसी सैनिक सहयोग की जिस योजनाओं पर काम कर रहे थे उसकी किंचित जानकारी भी उसे नहीं थी। जर्मनी का चांसलर बेथमान-हालबेग फ्रांस पर बेल्जियम होकर आक्रमण करने की जर्मन सैनिक अधिकारियों की योजना के संभावित परिणामों को स्पष्ट रूप से समझ नहीं पाया। सामरिक योजनाओं का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर क्या असर पड़ेगा, इसकी परवाह सेना के अफसर या विशेषज्ञ नहीं करते थे। जब उनकी समझ में युद्ध 'अंश्वम्भावी' हो जाता था तो वे राजकीय पदाधिकारियों से अपनी सैनिक योजना को कार्यान्वित करने की मांग करने लगते थे। प्रथम विश्व-युद्ध के अवसर पर ये सभी घटनाएं घटीं। उस समय अगर आधुनिक सैनिकवाद का ऐसा स्वरूप नहीं रहता, तो शायद प्रथम विश्व युद्ध होते-होते बच जाता।

कुछ सैनिकवादी "प्रतिकारात्मक युद्ध" (preventive war) के सिद्धांत में विश्वास करते थे। इसका अर्थ यह था कि शत्रु देश की सामरिक तैयारी पूरी होने के पहले ही उस पर आक्रमण करके उसकी शक्ति को विनष्ट कर दिया जाय ताकि वह आक्रमण की बात नहीं सोच सके। वह अक्सर कहा जाता है कि 1914 में जर्मनी युद्ध इसलिए चाहता था कि 1916-17 तक रूस से सामरिक तैयारियों का विराट आयोजन पूरा हो जानेवाला था। दूसरी ओर फ्रांस जर्मनी के और अधिक शक्तिशाली होने के पहले ही फैसला कर लेना चाहता था। यह भी कहा जाता है कि ब्रिटेन भी जर्मनी की बढ़ती हुई नौसैनिक शक्ति को इसके पहले कि वह उसके लिए भारी खतरा न बन जाय कुचल देने के अवसर की ताक में था।

सैनिकवाद की इसी अवस्था में यूरोप के देश एक महान तांडव की तैयारी कर रहे थे। 1870 में हारने के बाद फ्रांस तेजी के साथ अपनी सैनिक तैयारी कर रहा था। इससे जर्मन का भय बढ़ने लगा और वह भी पूरी सामर्थ्य के साथ हथियारबंदी की होड़ में कूद पड़ा। दोनों राष्ट्र एक-दूसरे के प्रति चौकन्ने थे और दोनों एक-दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखते थे और एंक-दूसरे के समान होने का यत्न कर रहे थे। दोनों ही एक-दूसरे से अधिक शक्ति अर्जित करने का यत्न कर रहे थे और दोनों ही प्रयत्नशील थे कि अपनी-अपनी सेना की वृद्धि करें तथा उन्हें अच्छी-अच्छी शिक्षा दें। 1885 में फ्रांस की सेना की संख्या 5,00,000 थी और जर्मनी की 4,27,000। इसके बीस साल बाद फ्रांस की सेना की संख्या बढ़कर 5,45,000 हो गयी और जर्मनी की 5 ,05,000। इतने पर भी जर्मनी को संतोष नहीं हुआ। 1913 में एक सैनिक विधेयक पास

करके उसकी संख्या 8,000,000 तक बढ़ा दी गयी। अब फ्रांस क्यों पीछे रहता ? उसने भी एक नया सैनिक कानून बनाकर अपनी शांतिकालीन सेना में सैनिकों की संख्या बढ़ाकर जर्मनी के बराबार कर दी तथा अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि बढ़ाकर तीन वर्ष कर दी। इस प्रकार ऐसी व्यवस्था हो गयी कि पंद्रह दिनों के अंदर फ्रांस 40,00,000 अतिरिक्त सैनिक तैयार कर सकता था। यह अत्यंत विशाल किंतु विनाशकारी प्रयत्न था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों फ्रांस और जर्मनी युद्धरत हों।

यूरोप में शायद ही कोई ऐसा देश था जिसने अपनी सेना में वृद्धि न की हो। ब्रिटेन को छोड़कर प्रायः प्रत्येक यूरोपीय महाशक्ति ने अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम जारी कर दिया था। कई कारणों से ब्रिटेन घोर सैनिक प्रतियोगिता से किसी सीमा तक अलग रहा। लेकिन 1909 के बाद वह अपनी नौ-सैनिक शक्ति बढ़ाने की दिशा में यत्नशील हो गया। उसकी सामुद्रिक शक्ति यूरोप में प्रत्येक देश की सामुद्रिक शक्ति से अधिक थी और उसकी इच्छा थी कि इस क्षेत्र में उसका प्राधान्य बना रहे। लेकिन जब जर्मनी में नौ सेना बढ़ाने का कार्यक्रम बना तो ब्रिटेन का संशकित होना स्वाभाविक था। अतः जर्मनी के साथ उसकी नौ-सैनिक होड़ शुरू हुई। इस प्रकार यूरोप का कोई भी देश इस होड़ से बच नहीं सका। जहां दिखावे के लिए प्रत्येक राष्ट्र शांति कि बात करता था वहीं युद्ध के लिए लगातार तैयारी में रत था। इसके पक्ष में दलील यही थी चूंकि उसका पड़ोसी राष्ट्र शत्रुतापूर्ण सैनिक तैयारियां कर रहा है इसलिए उसे भी रक्षात्मक तैयारियां करनी चाहिए।

इतनी बड़ी सेनाओं का खर्च अगर करोड़ों रुपये वार्षिक हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। 1873 में यूरोप के विभिन्न देश और सेना और युद्ध सामग्री के लिए कुल मिलाकर 1,15,00 ,00,000 रुपये खर्च करते थे। 1913 में यह संख्या बढ़कर 5,68,20,00,000 हो गयी थी। इतनी धनराशि प्रतिवर्ष युद्ध की तैयारी के लिए स्वाहा की जा रही थी। कर-दाता कर देते-देते परेशान हो गये थे। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर उनका खून चूसा जा रहा था। अगर इतनी बड़ी धनराशि राष्ट्रीय विकास की योजना में लगायी जाती तो देश के लिए कितना लाभप्रद होता। सैनिकवाद का खर्च असह्य हो गया। लोग इससे मुक्ति पाने का उपाय सोचने लगे। सैनिकवाद की प्रचंडता ने यूरोपीय राज्यों को इसका अंत करने को बाध्य किया। रोग की विकटता और गंभीरता ने लोगों का ध्यान इसके इलाज की तरफ आकृष्ट किया। यूरोप में निरस्त्रीकरण का आंदोलन चल पड़ा। यूरोप में 'अंतर्राष्ट्रीय अराजकता' को अंत करने का निष्फल प्रयत्न प्रारंभ हुआ।

हेग सम्मेलन
(Hauge Conferences)

हेग के दो सम्मेलन : 'सशस्त्र शांति' के युग में हथियारबंदी की प्रचंडता को कम करने का सरकारी तौर पर प्रथम प्रयास 1899 में हुआ। जार निकोसल द्वितीय के प्रयास से इस वर्ष यूरोप के राज्यों का हेग में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। 18 मई से सम्मेलन का काम शुरू हुआ। इसमें छब्बीस राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। हथियारबंदी की होड़ को रोकने की कोशिश करना सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य था। सम्मेलन में इस विषय पर भिन्न-भिन्न राज्यों ने भिन्न-भिन्न प्रस्ताव रखे। रूस का यह सुझाव था कि कम-से-कम पांच साल के लिए सेना की संख्या और सैनिक बजट में कोई वृद्धि नहीं की जाय। लेकिन, जर्मनी ने इस प्रस्ताव को मानने से इंकार कर दिया। जर्मनी ने निरस्त्रीकरण का इतना विरोध किया कि हेग-सम्मेलन जिस उद्देश्य से बुलाया गया था, वह पूरा नहीं हो सका। निरस्त्रीकरण के विषय पर सम्मेलन ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसमें कहा गया था कि मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि दुनिया के देश अपने सैनिक व्यय में कमीं करें। इसके बाद जुलाई 29 को सम्मेलन की सभा विसर्जित कर दी गयी।

प्रथम हेग-सम्मेलन की असफलता से संसार को जबर्दस्त धक्का लगा। शस्त्रीकरण की गति बराबर बढ़ती गयी। कुछ दिनों के बाद दक्षिणी अफ्रीका में युद्ध प्रारंभ हो गया और इसके पश्चात् पूर्व एशिया में जापान और रूस के बीच भी हथियारबंदी की होड़ और प्रचंड होती गयी। जर्मनी और ब्रिटेन में नौ-सेना संबंधी प्रतिस्पर्धा काफी विकट होने लगी। अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थिति नाजुक होती चली जा रही थी। राजनीतिज्ञों का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट हुआ। जार निकोलस द्वितीय ने एक बार मार्ग-दर्शक का काम किया। उसके निमंत्रण पर 15 जून, 1907 को हेग में 44 राज्यों का एक दूसरा सम्मेलन प्रारंभ हुआ। इस सम्मेलन में पुनः निरस्त्रीकरण की समस्या पर विचार हुआ। लेकिन दुर्भाग्यवश विश्व के राजनेता किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके। सम्मेलन बिना कोई सफलता प्राप्त किये 18 अक्टूबर को समाप्त हो गया।

सम्मेलनों की सफलता : यूरोपीय राजनीति के इतिहास में दो हेग-सम्मेलनों का बहुत बड़ा महत्व है। आधुनिक युग में निरस्त्रीकरण की दिशा में वे प्रारंभिक प्रयास थे। लेकिन उनको सफलता नहीं मिली। इसके अनेक कारण थे। सर्वप्रथम लोगों को जार निकोलस के उद्देश्य पर ही शक था। जर्मनी में लोगों का कहना था कि निरस्त्रीकरण का प्रयास रूसी साम्राज्यवादियों की कूटनीतिक चाल है। उसके अनुसार सैनिक दृष्टि से रूस काफी कमजोर और हथियारबंदी की होड़ में काफी पीछे था। उनका कहना था कि सैनिक वृद्धि के लिए समय प्राप्त करने के लिए ही रूस में निरस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखा था। जापान के हाथों पराजित होने के कारण उसकी सैनिक शक्ति में काफी ह्रास हो चुका था। उधर उसके शत्रु हथियारबंदी की होड़ में आगे बढ़े चले जा रहे थे। इस स्थिति को बदलने के लिए रूस समय चाहता था। उसके शांति प्रस्ताव के मूल में यही रहस्य था। निरस्त्रीकरण की समस्या एक बहुत ही नाजुक समस्या है। इसका समाधान तभी हो सकता है जब दुनिया के राष्ट्र एक दूसरे के प्रस्ताव पर सहानुभूति और सद्भावना से प्रेरित होकर विचार करें, पर यह सद्भावना का प्रश्न नहीं था। प्रारंभ से बहुतेरे राष्ट्र रूस के वास्तविक उद्देश्य पर ही संदेह कर रहे थे।

हेग-सम्मेलनों की असफलता का एक दूसरा कारण भी था। यूरोप के प्रत्येक देश में एक ऐसे पूंजीपतिवर्ग का विकास हो चुका था जिसका स्वार्थ हथियारबंदी को होड़ जारी रखने में सधता था। राजनीतिक दृष्टि से यह वर्ग काफी शक्तिशाली था। सरकारों पर इनका अत्यधिक प्रभाव था। ये लोग अपने प्रभाव का दुरुपयोग करने में हिचकते नहीं थे। जब भी निरस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए कोई सम्मेलन होता तो यह वर्ग अपनी सरकार पर अनुचित दबाव डालना शुरू कर देता था, जिसमें निरस्त्रीकरण के किसी प्रस्ताव को वह नहीं माने। सरकारें भी इन पूंजीपतियों के विचारों की अवहेलना नहीं कर सकती थीं। दो हेग-सम्मेलनों की असफलता के लिए पूंजीपति-वर्ग का यह निहित स्वार्थ बहुत अंश तक जिम्मेवार समझा जाता है।

हेग सम्मेलनों की असफलता के लिए जर्मन सरकार की भी कम जिम्मेवारी नहीं थी। जर्मनी ने ही निरस्त्रीकरण के प्रस्तावों को अस्वीकार करने में प्रमुख हाथ लिया था। जर्मन के द्वारा पीछे चलकर यह दलील दी जाने लगी कि नाजुक अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के पृष्ठाधार में वह निरस्त्रीकरण नहीं मान सकता था। एक तरफ वह 'कुद्ध फ्रांस' तथा दूसरी तरफ "दैत्य स्लावों" से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में निरस्त्रीकरण का कोई प्रस्ताव मान लेना उसके लिए असंभव था। हेग सम्मेलनों के बाद सेना और जहाजी बेड़ों के उत्पादन में किसी प्रकार कमी के प्रस्ताव को सुनकर कैजर काफी खीझता था। उसकी दृष्टि में ऐसे प्रस्ताव उसकी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को एक प्रकार की चुनौती थे। ऐसी स्थिति में निरस्त्रीकरण पर विचार बिल्कुल बेकार था।

इसमें कोई शक नहीं कि निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में हेग सम्मेलनों को कोई सफलता नहीं मिली, लेकिन इसका अर्थ नहीं है कि इन सम्मेलनों का काम एकदम व्यर्थ रहा। हेग सम्मेलनों ने अंतर्राष्ट्रीय विधि में अनेक नियम लागू किये और युद्ध के नियमों को मानवीय रूप देने के कई प्रयत्न किये। हेग सम्मेलनों का इससे भी अधिक महत्व का काम एक अंतर्राष्ट्रीय स्थायी पंचायत न्यायालय (Permanent Court of Arbitration)

की स्थापना करनी थी। राष्ट्रों के झगड़ों को पंचायत द्वारा फैसला कराने का यह प्रथम प्रयास था। संस्थापना के बाद इस पंचायत ने राष्ट्रों के अनेक आपसी झगड़ों को तय किया। लेकिन जहां तक निरस्त्रीकरण का प्रश्न था, हेग सम्मेलनों का प्रयास सर्वथा निष्फल रहा।

आंग्ल-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा
(Anglo-German Naval Rivalry)

प्रतिस्पर्धा का प्रारंभ : हर देश के राष्ट्रीय जीवन में कुछ मर्मस्पर्शी स्थल होते हैं, जिनके ऊपर उसका अस्तित्व निर्भर करता है और इसलिए उसकी रक्षा के लिए वह बड़ा से बड़ा बलिदान करने को तैयार रहता है। बीसवीं सदी के प्रारंभ में नौ-सेना ब्रिटेन के राष्ट्रीय जीवन का ऐसा ही मर्मस्पर्शी स्थान था। यूरोप का यह छोटा सा टापू सब कुछ सह सकता था, लेकिन जब भी कोई उसकी शक्तिशाली नौ सेना पर ललचायी निगाह से देखता तो वह व्यग्र हो जाता था। नौ सेना ब्रिटेन के राष्ट्रीय एवं साम्राज्यवादी जीवन के लिए जीवन-मरण का प्रश्न था।

1 अक्टूबर, 1870 को जब फ्रांसीसी-प्रशा युद्ध चल रहा था उसी समय आयरलैंड का एक पत्रकार थामस डेविस ने "आयरिश सिटिजेन" नामक एक पत्र में लिखा था कि प्रशा कभी ब्रिटेन का मित्र नहीं हो सकता। प्रशा की अपनी अभिलाषाएं और महत्वाकांक्षाएं हैं और उसमें से एक प्रथम श्रेणी का सामुद्रिक शक्ति बन जाय। अगर प्रशा इस युद्ध में जीत गया तो वह केवल बेल्जियम इत्यादि देशों पर ही अधिकार नहीं कर लेगा, बल्कि टेम्स नदी के मुहाने तक भी चला जायेगा।" इस आयरिश पत्रकार की भविष्यवाणी बहुत अंशों में ठीक नहीं निकली लेकिन इससे आंग्ल-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा का आभास लोगों को बहुत पहले मिल गया।

अपने युग का सर्वश्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ बिस्मार्क ब्रिटेन के इस मर्मस्पर्शी स्थल से भली-भांति परिचित था। इसलिए प्रारंभ में वह जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य का बहुत बड़ा विरोधी था। उसका कहना था कि उपनिवेश कायम करने का मतलब है नौ सेना में वृद्धि करना और नौ सेना में वृद्धि करने का अर्थ है ब्रिटेन की शत्रुता मोल लेना। बिस्मार्क इस प्रकार की जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं था। वह ब्रिटेन को खुश रखना चाहता था। इसके लिए यह आवश्यक था कि जर्मनी ब्रिटेन की नौ सेना को किसी तरह की चुनौती नहीं दे। पीछे चलकर बिस्मार्क जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य का समर्थक हो गया। फिर भी उसने ब्रिटेन की सहानुभूति नहीं खोयी, बल्कि ब्रिटेन की शुभकामना प्राप्त करके उसने जर्मनी को औपनिवेशिक साम्राज्यवादी जीवन का आरंभ किया। जब कैजर विलियन द्वितीय जर्मनी का कर्णधार बना तो उसको बिस्मार्क की यह नीति पसंद नहीं आयी। वह विश्व-राजनीति में जर्मनी के नये मार्ग का समर्थक था। बिस्मार्क का कहना था कि जर्मनी को केवल यूरोप की राजनीति तथा सुरक्षा से मतलब है। लेकिन कैजर यह मानने को तैयार नहीं था। वह विश्व राजनीति में सक्रिय भाग लेना चाहता था। 'विश्व-राजनीति में जर्मनी- सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते कैजंर इसी का सुख-स्वप्न देखा करता था। वह जर्मनी को संसार का शिरोमणि बना देना चाहता था। वह चाहता था कि जर्मनी संसार का नेतृत्व करे और उसकी अनुमति के बिना अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में पत्ता तक न हिले। इसके लिए संसार में जर्मनी का औपनिवेशिक साम्राज्य कायम होना आवश्यक था लेकिन उपनिवेश की स्थापना के लिए शक्तिशाली सेना का होना जरूरी है। जर्मनी के पास पहले से एक जबर्दस्त स्थल सेना थी, पर नौ-सेना में उसका स्थान बिल्कुल नगण्य था। कैजर के लिए यह स्थिति असह्य थी। जब तक नौ-सेना नहीं होगी तबतक उपनिवेश नहीं होंगे, जबतक उपनिवेश नहीं होंगे तबतक जर्मनी विश्व का महान् राष्ट्र नहीं कहलाएगा और जबतक जर्मनी महान राष्ट्र नहीं होगा तबतक विश्व-राजनीति में उसका दबदबा नहीं कायम होगा। युद्ध छिड़ने पर ज़र्मनी के चारों ओर से सामुद्रिक मार्गों को अवरोधित कर दिये जाने

का खतरा था। इससे खाद्य सामग्रियों तथा कच्चा माल का जर्मनी के बंदरगाहों में पहुंचाना कठिन होता। इसके लिए भी जर्मनी को शक्तिशाली नौ-सेना की आवश्यकता थी, पर सबसे अधिक वे शक्तिशाली बेड़ा इसलिए चाहते थे कि उनकी राजनयिक गतिविधियों को वह आवश्यक शक्ति प्रदान कर सके। कैजर की कई टिप्पणियों से स्पष्ट होता है कि अन्य देश, विशेषकर ब्रिटेन जर्मनी की बातों की अनसुनी कर देते थे क्योंकि जर्मनी के पास उन्हें मनवाने के लिए उपयुक्त जल सेना नहीं थी। अतः कैजर के लिए नौ सेना एक जीवन-मरण का प्रश्न हो गया और इसकी वृद्धि के लिए वह जी-जान से तुल गया। विलियम ने स्पष्ट शब्दों में एक बार कहा भी था कि जर्मनी का भविष्य समुद्र पर है।

ब्रिटिश प्रतिक्रिया : इस दशा में ब्रिटेन और जर्मनी के बीच विरोध का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। ब्रिटेन यह नहीं सह सकता था कि उसके सामुद्रिक आधिपत्य को कोई दूसरा राज्य नष्ट करने का प्रयत्न करे या उसका कोई नया प्रतिद्वंद्वी मैदान में उतर आये। कैजर विलियम की प्रेरणा से जर्मनी की नाविक शक्ति दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही थी। यद्यपि कैजर बार-बार कहा करता था कि उसका उद्देश्य ब्रिटेन से लोहा लेना नहीं वरन आत्मरक्षा है; पर अंग्रेज इसके वास्तविक अभिप्राय को भली-भांति समझते थे। वे अच्छी तरह अनुभव करते थे कि जर्मनी के रूप में एक नया प्रतिद्वंद्वी उनके सामुद्रिक एकाधिपत्य को नष्ट करने के लिए उत्पन्न हो रहा है और यदि शीघ्र ही उसकी बढ़ती शक्ति को नष्ट नहीं किया जायगा तो ब्रिटेन का सामुद्रिक उत्कर्ष नष्ट हुए बिना न रहेगा। नौ-सेना के क्षेत्र में ब्रिटेन जर्मनी का किसी भी मूल्य पर विरोध करने को तैयार था। इस तरह विश्व इतिहास में नाविक प्रतिस्पर्धा का एक बहुत बड़ा नाटक प्रारंभ होनेवाला था। इस नाटक का मुख्य नायक स्वयं कैजर विलियम था। इसके अतिरिक्त उसको नौ-सेना संबंधी विषयों पर राय देनेवाला व्यक्ति फॉन टिरपिट्ज (Von Tirpitz) था।

बोअर-युद्ध का अनुभव : "जोखिम नौ-सेना" की धारणा का विकास : बोअर युद्ध के समय सबसे पहले जर्मनी ने यह अनुभव किया कि जबतक वह अपनी सामुद्रिक शक्ति को नहीं बढ़ा लेता तबतक वह विश्व-राजनीति में सफलतापूर्वक हस्तक्षेप नहीं कर सकता। बोअर युद्ध में जर्मनी की सहानुभूति बोअरों के पक्ष में थी। लेकिन नौ-सेना के अभाव में जर्मनी बोअरों को कोई विशेष मदद नहीं दे सका। यदि विश्व-राजनीति में जर्मनी को अपनी आवाज बुलंद करनी है तो नौ-सेना में वृद्धि करना अति आवश्यक था। टिरपिट् का कहना था कि यदि जर्मनी के पास जंगी बेड़ा होता (ब्रिटेन के जंगी बेड़ा अपेक्षाकृत बहुत छोटा भी।) तब भी जलयुद्ध का खतरा मोल लेने के बदले अंग्रेज राजनयिक रियायतें देने को तैयार हो जाते। कैजर और टिरपिट्ज दोनों यह मानते थे कि जर्मन नौ-सेना की स्थापना का उद्देश्य ब्रिटेन पर आक्रमण करना नहीं था। टिरपिट्ज केवल एक जोखिम नौ-सेना (risk navy) तैयार करवाना चाहता था जो ब्रिटेन को हमेशा सशंकित रखे और जिसके बल पर जर्मनी विश्व-राजनीति में अपने विचारों का कार्यान्वित करा सके। इसके लिए वह नौ-सेना के क्षेत्र में ब्रिटेन के स्तर पर पहुंचना चाहता था। 1897 में 'सटरडे रिव्यू' में एक प्रकाशित लेख ने जर्मनी की नौ-सेना में वृद्धि को और प्रोत्साहित किया। उस मूर्खतापूर्ण लेख में यह कहा गया था कि यदि जर्मनी को अगले दिन नष्ट कर दिया जाय तो उसके फलस्वरूप प्रत्येक अंग्रेज बात ही बात में धनवान बन जायेगा। जर्मनी में इस लेख का काफी प्रचार किया गया और जर्मन संसद को पक्ष में करने का यह एक बहुत बड़ा साधन हो गया, पर वस्तुतः जर्मनी की "जोखिम नौ-सेना" का अंग्रेजों के मन तथा नीति पर जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता था उसकी कल्पना एडमिरल टिरपिट्ज नहीं कर सका। ब्रिटेन इस प्रश्न पर जर्मनी के साथ समझौता करने को तैयार था, पर इससे वह डर जाता या महत्वपूर्ण रियायतें देने को तैयार हो जाता, ऐसी बात नहीं थी। जर्मनी नौ सेना की क्षमता में हर वृद्धि उसके रुख को और भी कठोर कर देती और वे अपनी जल-सेना को जर्मनी की जल-सेना की तुलना में अति विशाल रखने को और भी कृतसंकल्प होते।

जर्मनी का प्रयास : ब्रिटिश प्रतिक्रिया पर बिना ध्यान दिये ही जर्मनी ने नौ-सेना के विकास का एक विस्तृत कार्यक्रम बनाया और जर्मन संसद ने 1898 में प्रथम नौ-सेना विधेयक को स्वीकृत किया। इस विधेयक के अनुसार जर्मनी सरकार को एक सुसंगठित जहाजी बेड़ा तैयार करने की अनुमति मिल गयी जिससे जर्मनी तट की रक्षा आसानी से हो सकती थी। टिरपिट्ज ने संसद के सदस्यों को आश्वासन दिया कि इस विधेयक के अनुसार 1904 आते-आते जर्मनी की नौ सेना इतनी शक्तिशाली हो जायेगी जिसकी कोई अवहेलना नहीं कर सकेगा।

1898 की योजना के अनुसार जो जहाजी बेड़े बढ़ रहे थे जर्मनी के तट की रक्षा के लिए पर्याप्त थे। लेकिन वे दूर के समुद्रों में कोई काम नहीं कर सकते थे। सभी बड़े राष्ट्र अपने समुद्री बेड़ों को बढ़ा रहे थे। जर्मनी उनसे अभी बहुत पीछे था। टिरपिट्ज का विश्वास था कि समुद्री बेड़े में काफी वृद्धि किये बिना जर्मनी विश्व राजनीति में अन्य देशों के समकक्ष अपना उचित स्थान नहीं प्राप्त कर सकता था। इसके अतिरिक्त **चांसलर बूलो** का भी कहना था : 'तूफान किसी भी क्षण उठ सकते हैं। भूमि अथवा समुद्र पर अचानक होनेवाले किसी भी आक्रमण का सामना करने के लिए हमें हमेशा तैयार रहना चाहिए। हमारे पास इतना सशक्त जहाजी बेड़ा होना चाहिए कि वह किसी भी बड़े राष्ट्र के आक्रमण को रोक सके। द्वितीय नौ-सेना विधेयक को प्रस्तावित करने के लिए अब उपयुक्त अवसर आ गया है।"

अत 1900 में द्वितीय नौ-सेना विधेयक को भी जर्मन-संसद की स्वीकृति मिल गयी। इस विधेयक का उद्देश्य जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति को दुगुना कर देना था। इसके अंतर्गत सोलह वर्षों में चौबीस लड़ाई के जहाज बनाये जानेवाले थे। इसके अतिरिक्त क्रूजर जहाज, टर्पीडो-नाव तथा छोटे जहाजों के उत्पादन को भी बढ़ाने का उद्देश्य था। 1900 के विधेयक का उद्देश्य जर्मनी के सामुद्रिक बेड़े को इतना शक्तिशाली बनाना था कि उसके विरुद्ध सबसे अधिक शक्तिशाली नौ-सैनिक प्रतिद्वंद्वी की स्थिति और प्रधानता भी डांवाडोल हो जाय। **बूलो** ने कहा : "हमें अपने जहाजी बेड़ों को ब्रिटेन की नाविक नीति को देखकर बनाना चाहिए। हम किसी पर आक्रमण करने का विचार नहीं रखते। परंतु हमारी उपेक्षा नहीं की जा सकती।" इस तरह जर्मनी अपनी सामुद्रिक शक्ति को बढ़ाने के लिए जी-तोड़ परिश्रम करने लगा।

ब्रिटिश प्रतिक्रिया : इतना होने पर भी जर्मनी की जहाजी शक्ति अभी इतनी नहीं बढ़ पायी थी कि वह ब्रिटेन के सामुद्रिक एकाधिपत्य को चुनौती दे सके। पर 1904 आते-आते जर्मनी की बढ़ती हुई सामुद्रिक शक्ति ब्रिटेन के लिए गंभीर चिंता का विषय बन गयी। इस समय तक कई बार जर्मनी से मित्रता करने का प्रस्ताव रख चुका था। लेकिन जर्मनी ने उन प्रस्तावों को ठुकरा दिया था। अब ब्रिटेन के लिए इस संकट का सामना करने के लिए कुछ करना आवश्यक था। उसने तुरंत अपनी 'शानदार पृथकला' की नीति का परित्याग कर दिया और जापान तथा उसके बाद फ्रांस से संधि कर ली। इसके बाद जर्मनी की नाविक प्रगति को रोकने के लिए वह तैयार हो गया। 1903 में ब्रिटेन ने निश्चय किया कि रौजीथ में एक प्रथम श्रेणी का नौ-सैनिक दुर्ग बनाया जाय। इसके साथ प्रति वर्ष चार लड़ाकू जहाज बनाने का निर्णय भी किया गया। 1904 में सर जान फिशर ब्रिटिश नौ-सेना का प्रमुख अधिकारी नियुक्त किया गया। उसने ब्रिटिश नौ-सेना की वृद्धि में प्रबल नीति का अवलंबन किया। ब्रिटिश नौ-सेना को पुनर्संगठित किया गया और ब्रिटेन के अधिकांश जहाजों को निकट के समुद्रों में केंद्रीभूत करने का काम भी आरंभ हो गया। पुराने जहाज नष्ट कर दिये गये और अक्टूबर 1905 से ड्रेडनाट (Dreadnaught) नामक एक नये किस्म का जहाज बनाने का काम शुरू हुआ। ड्रेडनाट दुनिया का सबसे बढ़ा और सबसे अधिक शस्त्रों से सुसज्जित लड़ाकू जहाज था।

राजनीतिक तनाव : ड्रेडनाट के निर्माण से जर्मनी में सनसनी फैल गयी। इसी समय एक दूसरी असाधारण घटना घटी। 1905 के प्रारंभ में ब्रिटिश मंत्रिमंडल के नौ-सेना मंत्री आर्थर ली का अपने चुनाव क्षेत्र में एक भाषण हुआ। वह भाषण, जिसका संकेत जर्मनी की तरफ था, धमकियों से भरा पड़ा था। अंगरेजी

जहाजों को निकट के समुद्रों में एकत्र करने की नीति का स्पष्टीकरण करते हुए उसने अपने श्रोताओं से अनुरोध किया कि वे अपना ध्यान हर समुद्र से हटाकर उत्तरी सागर की ओर लगायें। यदि युद्ध की घोषणा हुई तो शत्रु को सूचना मिलने के पूर्व ही उस पर आक्रमण कर दिया जायगा। बाद में ली ने समाचार-पत्रों में प्रकाशित अपने भाषण का खंडन किया और पत्रकारों पर यह आरोप लगया कि उसके भाषण को गलत रूप से छापा गया है। लेकिन, जर्मनी में इस खंडन का प्रभाव नहीं पड़ा। उधर ड्रेडनाट का निर्माण चल रहा था, जर्मनी के भय की भावना और गहरी हो गयी। चारों तरफ से टिरपिट्ज से यह मांग की जाने लगी कि जर्मनी को अपनी नौ-सेना में और अधिक वृद्धि करनी चाहिए। नतीजा यह हुआ कि 1906 में जर्मनी में एक दूसरा नौ-सेना विधेयक पास हो गया। इसके द्वारा छह हजार बड़े क्रूजर जहाजों को बनाने की स्वीकृति तथा कील-नहर को और अधिक विस्तृत करने की अनुमति मिल गयी। ऐसी स्थिति में दोनों का संबंध दिनों-दिन बिगड़ने लगा। दोनों देशों के समाचार-पत्र एक-दूसरे पर आग उगलने लगे। लंदन स्थित जर्मन-राजदूत मेटरनिक को इस तनातनी के स्वरूप को समझने में देर नहीं लगी। उसने लिखा : "राजनीतिक तनाव का मुख्य कारण हमारे जहाजी बेड़े का बढ़ता हुआ महत्व है।"

कैजर और टिरपिट्ज को इस राजनीतिक तनाव से कोई भय नहीं था। टिरपिट्ज अब दूसरा सुनहला स्वप्न देख रहा था। ड्रेडनाट अभी एक बिल्कुल नये तरीके का जहाज था और इसके सामने पुराने तरीके के सभी जहाज महत्वहीन हो गये थे। ब्रिटेन में भी अभी इसका काफी उत्पादन नहीं हो सका था। अगर जर्मनी ड्रेडनाट जैसा जहाज बनाना शुरू कर दे तो वह दिन दूर नहीं जब जहाजों के उत्पादन में वह ब्रिटेन को तुरंत पकड़ ले। टिरपिट्ज का यह अनुमान गलत नहीं था। लेकिन उसने यह नहीं सोचा कि ड्रेडनाट की होड़ से ऑग्ल-जर्मन संबंध किस हद तक खराब हो सकता है। इसको समझनेवाला संपूर्ण जर्मन-सरकार में केवल एक ही व्यक्ति था-लंदन स्थित जर्मन-राजदूत काउण्ट मेटरनिक। वह बरारबर कैजर को चेतावनी देता रहता था, पर कैजर किसी भी हालत में जहाजों के उत्पादन में कमी करने को तैयार नहीं था। वह मेटरनिक की चेतावनियों पर काफी रंज होता था। उसने मेटरनिक को लिख भेजा : "मैं जर्मनी के जहाजी बेड़ों के मूल्य पर ब्रिटेन की दोस्ती नहीं चाहता। जर्मनी की नौ-सेना का विकास किसी देश के विरुद्ध नहीं किया जा रहा है और ब्रिटेन के खिलाफ तो एकदम नहीं। यह हमलोगों की आवश्यकता है। कोई खुश रहे या नाखुश। हम इसकी परवाह नहीं करते। अगर वे युद्ध करना चाहते हैं तो उन्हें कोई रोक नहीं सकता; लेकिन हमलोग भी युद्ध से डरते नहीं हैं।"

कैजर किसी भी हालत में प्रतिस्पर्धा बंद करने के लिए तैयार नहीं था। इसी समय ब्रिटेन में लिबरल पार्टी की सरकार बनी। चुनाव में लिबरल पार्टी ने निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास करने का वादा किया था। इस वादा के अनुसार कैम्पबैल-वैनरमैन ने कैजर के समक्ष निरस्त्रीकरण के कुछ प्रस्ताव रखे। लेकिन, कैजर इनको मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। इसी समय हेग में द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ। कैजर ने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया कि यदि आगामी हेग सम्मेलन में निरस्त्रीकरण का प्रश्न उठाने का प्रस्ताव किया गया तो वह जर्मनी से कोई प्रतिनिधि नहीं भेजेगा। कुछ आश्वासन के बाद जर्मनी का प्रतिनिधि हेग-सम्मेलन में सम्मिलित हुआ। लेकिन सम्मेलन में जर्मनी ने निरस्त्रीकरण के सभी प्रस्ताव नामंजूर कर दिये। नौ-सेना संबंधी बातों पर जर्मनी इतना डटा हुआ था कि किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुंचना कठिन था।

आंग्ल-रूसी संधि के कारण भी जर्मन-सरकार नाविक हथियारबंदी के संबंध में वार्तालाप करने को तैयार नहीं थी। 1907 के बाद ब्रिटेन की तरफ से इस विषय पर जो भी प्रस्ताव होता उस पर जर्मन-सरकार संदेह की दृष्टि से विचार करती थी। जर्मनी के शासकों को ऐसा लगता था कि ब्रिटेन, फ्रांस और रूस मिलकर षड़यंत्र रचते हैं और उसी के आधार पर योजना बनाकर इस तरह के प्रस्ताव उपस्थित करते हैं। ब्रिटेन

एक तरफ असंख्य ड्रेडनाट बनाने की तैयार कर रहा था और दूसरी तरफ नाविक हथियारबंद पर नियंत्रण करने का प्रस्ताव रख रहा था। कैजर इसको 'कुटिल चालबाजी' कहता था। उसके विचार में ब्रिटेन इस तरह का प्रस्ताव रखकर जर्मनी की नौ-सेना को सीमित करना चाहता था और दूसरी तरफ से उसको चारों तरफ से घेरने का प्रयास भी। 1908 में सप्तम एडवर्ड ने फ्रांसीसी तथा रूसी शासकों से मुलाकात की। इस वर्ष के मई में फ्रांस का राष्ट्रपति लंदन आया। उसके आगमन के अवसर पर ब्रिटिश-मंत्रालय ने एक प्रतिभोज का आयोजन किया। इस प्रीतिभोज में तीन देश—ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस के राजदूतों और पदाधिकारियों को आमंत्रित किया गया था। जर्मनी को जान-बूझकर इसमें सम्मिलित नहीं किया गया। फिर, जून महीने में सप्तम एडवर्ड जार से मुलाकात करने के लिए रूस गया। वह अपने साथ एडमिरल फिशर को भी लेते गया था। एडवर्ड के साथ फिशर का रूस जाना काफी महत्वपूर्ण था। जर्मनी ने समझा कि दाल में कुछ काला अवश्य है। तनाव और मनमुटाव के इस वातावरण में किसी प्रकार का समझौता होना एकदम असंभव था।

यह मनमुटाव काफी गहरा हो चुका था। यहां तक कि 1907 के कैजर की विन्डसर-यात्रा से भी यह नहीं भर सका। उस वर्ष नवंबर महीने में कैजर ब्रिटेन पधारा। ब्रिटेन पहुंचकर उसने कहा : "ऐसा जान पड़ता है मानों मैं एकबार फिर अपने घर लौट आया हूं। यहां आने पर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।" ब्रिटिश समाचार-पत्रों ने कैजर का अपूर्व स्वागत किया। इसको देखकर जर्मन-संसद में बुलो ने कहा, "हमारे सम्राट और सम्राज्ञी का ब्रिटेन के शासक और जनता के द्वारा जो स्वागत किया गया है उसके संबंध में मैं अपना संतोष प्रगट करना चाहता हूं। मैं समझता हूं कि हम लोगों के देश में जो तनातनी है वह गलतफहमी पर आधारित हैं।" लेकिन ये सब कूटनीति के शब्द थे। वास्तव में, दोनों देशों के बीच सद्भावना का नामों निशान नहीं था।

कैजर की ब्रिटेन-यात्रा के परिणामस्वरुप ब्रिटेन और जर्मनी के बीच थोड़ा-बहुत जो अच्छा संबंध कायम हुआ था वह ट्वीडमाउथ-पत्र के प्रकाशन से समाप्त हो गया। 6 मार्च 1908 को लंदन के 'टाइम्स, अखबार ने एक पत्र प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था 'हमारा शासक कौन ?' यह पत्र उस पत्र का सारांश था जो कैजर ने लार्ड ट्वीडमाउथ की नौ-सेना की नीति के संबंध में लिखा था और जिसके द्वारा वह ट्वीडमाउथ को प्रभावित करना चाहता था। इस सनसनीखेज समाचार के प्रकाशन के बाद ब्रिटेन और जर्मनी में सरकारी तौर पर इस पत्र और इसके उत्तर को प्रकाशित करने की मांग की जाने लगी। लेकिन दोनों सरकारों ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। इन पत्रों का कोई खास महत्त्व नहीं था, क्योंकि ये अनौपचारिक ढंग से लिखे गये थे। लेकिन इसके कारण ब्रिटेन में एक बहुत बड़ा तूफान उठ खड़ा हुआ। आंग्ल-जर्मन संबंध और भी खराब होने लगा। दिनों-दिन बिगड़ते हुए इस संबंध को कैजर ने 'डेली-टेलिग्राफ' से संवाददाता से भेंट करके और खराब कर दिया। ब्रिटेन के इस समाचार-पत्र में प्रकाशित कराने के लिए कैजर ने एक वक्तव्य दिया था। इस वक्तव्य में कैजर ने स्वीकार किया था कि जर्मनी की अधिकांश जनता ब्रिटेन विरोधी है। कैजर द्वारा सार्वजनिक तौर पर इस तरह की बात कबूल करना गलत काम था। इस तरह की बातों से दो देशों के बिगड़े हुए संबंध में कोई सुधार नहीं हो सकता था।

1908 में टिरपिट्ज की मांग पर जर्मन संसद ने प्रतिवर्ष चार बड़े जहाजों को बनाने की अनुमति दे दी। इस पर ब्रिटेन में काफी असंतोष फैला। जर्मन राजदूत काउन्ट मेटरनिक अपने देश के साथ ब्रिटेन के गिरते हुए संबंध को देखकर काफी दुखी था। उसने बूलो को लिख भेजा कि जिस तेजी के साथ जर्मन नौ-सेना की वृद्धि हो रही है उसका ब्रिटेन पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है। अतः उसने बूलो को यह सलाह दी कि जर्मनी जहाजों के निर्माण में कमी करे और इस विषय पर ब्रिटेन के साथ समझौता कर ले। व्यक्तिगत रूप से बूलो इस सुझाव से सहमत था। लेकिन, एडमिरल टिरपिट्ज काउण्ट मेटरनिक के विचारों को कोई महत्व नहीं देता था। टिरपिट्ज की पहुंच सीधे कैजर के पास थी और वह बूलो की परवाह नहीं करता था। अब बूलो नौ-सेना संबंधी नीति को लेकर उस पर कुछ दबाव डाला तो टिरपिट्ज पदत्याग करने की धमकी देने लगा। हार मानकर बूलो ने इस क्षेत्र में प्रयास करना ही छोड़ दिया।

इसी बीच सम्राट एडवर्ड की संक्षिप्त बर्लिन यात्रा के अवसर पर जब हार्डिज ने जर्मनी के जहाजी बेड़े का भार सीमित करने के विषय में कैजर से बातचीत चलायी तो उसने इस संबंध में कोई बात करने से साफ-साफ इंकार कर दिया। हार्डिज और कैजर में गर्मागर्म बातें हुईं। हार्डिग ने कैजर से शिकायत की कि जर्मनी इतनी तेजी से ग्रेडनाटों को बना रहा है कि कुछ वर्षों में वह इन बड़े युद्धपोतों में इंगलैंड के बराबर हो जायगा। हार्डिज ने जब जोर देकर कहा कि इस प्रतियोगिता को रोकना ही है तो कैजर ने अपना पुराना तर्क प्रस्तुत किया कि जर्मनी ब्रिटेन से प्रतियोगिता करने के लिए अपनी नौ-सेना का विकास नहीं कर रहा है। जब हार्डिज इस पर भी कहता रहा कि इसका निर्माण कार्य या तो रोकना होगा या उसकी गति धीमी करनी होगी" तो कैजर ने उस ओर तीखी नजर से देखते हुए जवाब दिया : "तब हम युद्ध करेंगे क्योंकि यह राष्ट्रीय मर्यादा और सम्मान की बात है।" इस पर हार्डिज शांत हो गया।

वस्तुतः हार्डिज ब्रिटिश मंत्रिमंडल का दृष्टिकोण ही कैजर के समक्ष प्रस्तुत कर रहा था। मंत्रिमंडल इस पर एकमत था कि ब्रिटेन की नौ-सैनिक सर्वोपरिता को बनाये रखना है तथा ड्रेडनाट के निर्माण में जर्मनी से आगे रहना है। लेकिन वे यह साफ देख रहे थे कि इस नीति के फलस्वरूप जर्मनी के साथ कटुता बढ़ेगी, साथ ही इससे ब्रिटेन पर दुर्वह वित्तीय बोझ भी पड़ेगा। इसलिए इस विषय पर वे जर्मनी के साथ समझौता कर लेना चाहते थे। इस स्थिति में ब्रिटेन से इस प्रश्न पर बात करने से इंकार करना टिरपिट्ज और कैजर की सांघातिक भूल थी। इसके फलस्वरूप ब्रिटेन को फ्रांस और रूस के साथ और भी घनिष्ठ संबंध कायम करना पड़ा और त्रिदलीय समझौता क्रमशः मजबूत होता गया।

लंदन स्थित जर्मन राजदूत काउण्ट मेटरनिक इस बात पर बहुत खिन्न था कि जर्मनी और ब्रिटेन के बीच पारस्परिक गलतफहमियां तथा दोषारोपण बढ़ते जा रहे हैं। इसके फलस्वरूप दोनों देशों के बीच लड़ाई भी छिड़ सकती थी। ब्रिटिश नौ-सेना के मंत्री मैकेना ने लोगों को बताया कि "साम्राज्य की सुरक्षा खतरे" में पड़ गयी है। इसी समय एक व्यक्ति (लार्ड रॉबर्ट्स) देशभर में घूमकर विशाल स्थल सेना तथा महाद्वीप की स्थिति को देखकर अनिवार्य सैनिक सेवा के पक्ष में प्रचार कर रहा था। वह ब्रिटेन के भावी शत्रु के रूप में जर्मनी का नाम खुल्लमखुल्ला लेता। कुछ समय पूर्व ऐसे भाषणों पर कोई ध्यान नहीं देता था, पर अब गंभीरता से ग्रहण किया जाने लगा था। जर्मनी के नये नौ-सेना विधेयक के प्रत्युत्तर में ब्रिटेन ने प्रति वर्ष छट ड्रेडनाट बनाने का निश्चय किया। उधर लार्ड बेलफोर ने यह घोषणा की कि 1912 तक जर्मनी के पास पचीस ड्रेडनाट हो जायेंगे। इस अतिरंजित घोषणा से सारे देश में घबराहट की लहर फैल गयी और ब्रिटिश जनता ने मांग की कि ब्रिटेन को प्रति वर्ष आठ ड्रेडनाट बनाना चाहिए (We want eight we won't wait)। अंत में जनमत के इस दबाव के कारण ब्रिटिश सरकार को प्रतिवर्ष आठ ड्रेडनाट बनाने का निर्णय करना पड़ा।

एडमरिल टिरपिट्ज का विचार मेटरनिक से बिल्कुल भिन्न था। वह इस बात पर जोर देता था कि ब्रिटेन के जर्मनी विरोध का कारण जर्मन नौ-सेना की वृद्धि नहीं बल्कि उसकी औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रतियोगिता थी। उसका कहना था कि अंग्रेजों के शोरगुल के परिणामस्वरूप जर्मन नौ-सेना कार्यक्रम में परिवर्तन करना जर्मनी के लिए भारी अपमान होगा। ऐसी स्थिति में दोनों पक्षों के बीच किसी तरह का समझौता असंभव था।

हाल्डेन मिशन : 1909 में बूलो को चांसलर के पद से इस्तीफा देना पड़ा। उसकी जगह पर बेथमान-हौलवेग की नियुक्ति हुई। यहां चांसलर नौ-सेना में वृद्धि को सीमित करने के विषय पर काउंट मेटरनिक के विचारों से सहमत था। वह नौ-सेना के संबंध में ब्रिटेन से बातचीत करना चाहता था। इसी उद्देश्य से ब्रिटिश राजदूत गोरचन से बातचीत भी शुरू कर दी। लेकिन इस बातचीत का कोई फल नहीं निकला। इसके बाद यूरोप की राजनीति में अगादीर का संकट आ उपस्थित हुआ। अगादीर-कांड के कारण ब्रिटेन और जर्मनी का रहा-सहा संबंध भी जाता रहा।

अगादीर-कांड को लेकर जर्मनी और ब्रिटेन के बीच युद्ध होते-होते बचा था। इस कारण दोनों पक्षों के लोग संशकित हो उठे थे। उनका विचार था कि यदि नौ-सैनिक प्रतिस्पर्धा पर दोनों देशों के बीच कोई समझौता हो जाय तो अच्छा है। जर्मनी भी अर्थ वार्तालाप करने के पक्ष में था। इस वातावरण में यह प्रस्ताव रखा गया कि सर एडवर्ड ग्रे शीघ्र ही जर्मनी जाएं। अलबर्ट बालिन तथा सर आर्नेस्ट कासेल इन दो गैर सरकारी व्यक्तियों की मध्यस्थता से लंदन और बर्लिन के बीच विचारों का प्रत्यक्ष आदान-प्रदान वांछनीय हो गया। लेकिन सर एडवर्ड ग्रे स्वयं बर्लिन जाना नहीं चाहता था। उसे भय था कि उसके जाने से कोई लाभ नहीं होगा और फ्रांस की आशंका बढ़ जायगी जिसके फलस्वरूप त्रिपक्षीय समझौता कमजोर पड़ सकता था। अपनी जगह उसने युद्ध मंत्री लार्ड हॉल्डेन (Lord Haldane) के जाने की व्यवस्था की, पर हॉल्डेन की यात्रा को भी निजी और अनौपचारिक होना था क्योंकि यदि वह असफल भी रही तो जनता को निराशा नहीं होती। सर एडवर्ड ग्रे ने हॉल्डेन-मिसन के उद्देश्यों से फ्रांसीसी राजदूत को अवगत भी करा दिया। उसने राजदूत को लिखा कि जर्मनी के साथ वार्ता शुरू करने का कोई इरादा नहीं है। हम केवल उसके इरादों को जानना चाहते हैं। सर एडवर्ड का यह रवैया स्वयं ही हॉलडेन मिशन की विफलता का सूचक था।

अन्य परिस्थितियां भी इस मिशन की असफलता को अवश्यंभावी बना रही थीं। जिस दिन हॉल्डेन बर्लिन पहुंचा उसी दिन सवेरे जर्मन संसद में कैजर का एक भाषण हुआ जिसमें स्थल और जल सेना में अभिवृद्धि की योजनाओं पर संकेत दिया गया। इसके जवाब में विन्सटन चर्चिल ने एक उग्र भाषण दिया और कहा कि "जर्मनी के लिए नौ-सेना एक विलास की सामग्री है और ब्रिटेन के लिए आवश्यकता।" जर्मनी में इसकी बड़ी ही प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई।

इन अशुभ परिस्थितियों में लार्ड हॉल्डेन 8 फरवरी, 1912 को वर्लिन पहुंचा। जर्मन नेताओं से कई दौर में उनकी वार्ताएं हुईं। लेकिन हॉल्डेन-मिशन का कोई परिणाम नहीं निकला क्योंकि जर्मन सरकार नौ-सेना की वृद्धि में किसी प्रकार की कमी नहीं करना चाहती थी। नौ-सेना में किसी प्रकार की कमी करने के पूर्व बेथमान-होलबेग ब्रिटेन के साथ कुछ राजनीतिक समझौता कर लेना चाहता था। उसका प्रस्ताव था कि यदि जर्मन किसी युद्ध में फंस जाय तो वैसी हालत में ब्रिटेन तटस्थ रहने का वादा कर दे। लेकिन इस बात को ब्रिटिश सरकार मानने को तैयार नहीं थी। उसका कहना था कि नौ-सेना की समस्या असल समस्या है और जबतक इसका समाधान नहीं हो जाता तबतक किसी प्रकार की राजनीतिक समझौता नहीं हो सकता। इस स्थिति में हॉल्डेन बात आगे नहीं बढ़ा सकता था और वह बर्लिन के वापस चला गया। लेकिन बेथमान ब्रिटेन के साथ वार्ता जारी किये हुए था, पर इसे सफलता मिलने की कोई आशा नहीं थी।

इस प्रकार हॉल्डेन-मिशन पूर्णतया असफल रहा। यह दो कारणों में विफल रहा, प्रथमतः, ब्रिटेन तटस्थता संबंधी ऐसा कोई राजनीतिक समझौता करने को तैयार नहीं था जिससे फ्रांस को सहायता देने की उसकी स्वतंत्रता कर कुछ भी बाधा हो। द्वितीयतः, जर्मनी 1912 के नौ-सेना विधेयक में किसी तरह की कमी करने को तैयार नहीं था।

वार्तालाप का अंत : जून 1912 में जर्मनी में एक और नया नौ-सेना विधेयक पास हुआ। इस विधेयक के अनुसार जर्मनी में जहाज निर्माण का काम और तेजी से शुरू हुआ। नौ-सेना की प्रतिस्पर्धा को सीमित करने के सभी प्रयत्न असफल हो गये। ब्रिटिश सरकार को भी अपने जहाजों के निर्माण में वृद्धि करने का निर्णय लेना पड़ा। नयी परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए समीप के समुद्रों में लड़ाई के जहाजों को और अधिक केंद्रीभूत करना शुरू किया। इसके बाद भी मि. चर्चिल ने मार्च, 1913 में नाविक छुट्टी (naval holiday) का प्रस्ताव रखा। इसका उद्देश्य था कि कुछ दिनों के लिए दोनों देश नौ-सेना की होड़ को स्थगित कर दें। जर्मनी ने इस प्रस्ताव को भी नामंजूर कर दिया।

फरवरी, 1914 में कैजर ने आंग्ल जर्मन नौ-सेना प्रतिस्पर्धा पर अपना अंतिम फैसला दे दिया। उस महीने में उसने बेथमान-हौलवेग को एक पत्र लिखा। उस पत्र में उसने स्पष्ट कर दिया कि नौ सेना संबंधी समझौता के लिए अब वार्तालाप करना अनावश्यक है। उसने लिखा था : "मेरा विचार है कि नौ-सेना संबंधी वार्ताओं को हमेशा के लिए बंद कर दिया जाय।" आंग्ल-जर्मन वार्तालाप का निश्चित रूप से अब अंत हो चुका था।

इस प्रकार नाविक प्रतिस्पर्धा से संबंधित एक लंबे चौड़े कूटनीतिक वार्तालाप का अंत हो गया। इसका परिणाम जर्मनी के हक में अच्छा नहीं हुआ। जर्मनी को इस विषय पर ब्रिटेन के साथ किसी तरह समझौता कर लेना चाहिए था। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। इसके लिए स्वयं कैजर बहुत अंशों तक जिम्मेवार था। एडमिरल टिरपिट्ज की जिम्मेवारी भी कोई कम नहीं थी। जर्मनी के लिए वार्तालाप की असफलता अत्यंत घातक सिद्ध हुई। जर्मनी ने जान-बूझकर ब्रिटेन के साथ समझौता नहीं किया। यह उसकी एक भयंकर भूल थी। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन के लिए यह जरूरी हो गया कि वह भावी युद्ध के लिए तैयार हो जाय।

अध्याय 9

नवीन साम्राज्यवाद और उसके प्रेरक तत्व

(New Imperialism)

नवीन साम्राज्यवाद के आधार

साम्राज्यवाद का महत्व : नवीन साम्राज्यवाद (new imperialism) आधुनिक युग की विश्व-राजनीति में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में यूरोप के विविध देशों द्वारा गैर-यूरोपीय देशों की लूट और बंटवारा की प्रक्रिया के फलस्वरूप यूरोपीय राजनीति का स्वरूप बदल गया। यूरोपीय कूटनीति विश्व-राजनीति (world politics) में परिणत हो गयी और यूरोप का इतिहास विश्व का इतिहास बन गया। इस युग में अंतर्राष्ट्रीय संबंधओं के क्षेत्र में जो भी प्रमुख घटनाएं घटित हुईं वे साम्राज्यवाद के परिणाम थीं।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण "औनिवेशिक उदासीनता" का युग था, परन्तु 1870 के बाद यूरोपीय राज्यों की औपनिवेशिक नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और कई कारणें से "औपनिवेशिक उदासीनता" के युग का अंत हो गया। 1880 तक नवीन साम्राज्यवाद ने काफी जोर पकड़ लिया। आगे के पचीस वर्षों में संसार के अधिकृत तथा पिछड़े क्षेत्रों पर अधिकार करने के लिए यूरोप की महाशक्तियों में भयंकर प्रतिस्पर्धा शुरू हुई जिसके फलस्वरूप उन्होंने समस्त अफ्रीका को आपस में बांट लिया और एशिया के कई प्रदेशों तथा प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों पर अधिकार कर लिया। इस औपनिवेशिक होड़ के मुख्य प्रतिस्पर्धी ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी थे, लेकिन यूरोप के छोटे-छोटे देश भी उपनिवेश के लोभ को रोक नहीं सके और कुछ प्रदेशों पर उनका आधिपत्य भी कायम हो गया।

इस युग में साम्राज्यवाद की नव जागृति किसी एक या विशेष कारण से नहीं हुई। केवल किसी तर्क के आधार पर या आर्थिक आवश्यकता के कारण ही नहीं वरन् अनेक कारणों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में नवीन साम्राज्यवाद की भावना का विकास हुआ। इसिलए नवीन साम्राज्यवाद के इतिहास का अध्ययन उसके कारण और आधार से ही शुरू होना चाहिए।

आर्थिक कारण

अतिरिक्त उत्पादन: नवीन साम्राज्यवाद के विकास में औद्योगिक क्रान्ति ने बड़ी सहायता की। 1871 के बाद फ्रांस, जर्मनी, इटली तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का औद्योगीकरण बड़े जोर से हो रहा था और उन देशों का उत्पादन बड़ी देजी से बढ़ रहा था। इसके कारण सूती कपड़े और लोहे के उत्पादन में ब्रिटिश एकाधिकार पर गहरा आघात पहुँचने लगा था। औद्योगिक प्रतिस्पर्धियों के उत्पन्न हो जाने से ब्रिटेन को अपने माल को बेचने की चिन्ता हो रही थी। इसी समय यूरोप के विभिन्न देश संरक्षण नीति को अपना रहे थे।

इस नीति के आधार पर उन्होंने अपने यहाँ बाहर से आनेवाला माल पर भारी कर लगाना आरम्भ किया जिससे विभिन्न देशों के बाजार विदेशी माल के लिए बंद हो गये। इस कारण औद्योगिक देशों को अपना अतिरिक्त माल (surplus manufactures) बेचने के लिए नये बाजार ढूंढ़ने की आवश्यकता पड़ी।

इस समस्या के समाधान का एक ही उपाय था—उपनिवेशों की स्थापना। अधीनस्थ उपनिवेशों में प्रतिस्पर्धी देशों द्वारा किसी प्रकार की रुकावट के लगाये जाने का कोई डर नहीं था। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में जब यूरोप में सर्वत्र संरक्षण की नीति जारी थी, यूरोप का खूब औपनिवेशिक विस्तार हुआ। इस प्रकार इस काल में, यूरोप के औपनिवेशिक विस्तार का एक मुख्य कारण "अतिरिक्त उत्पादन" साबित हुआ।

उदाहरणार्थ, हेनरी स्टानले ने ब्रिटेन के रूई के व्यवसायियों के समक्ष यह दलील रखी कि यदि अफ्रीका के लोग कपड़े पहनने की आदत डाल लें तो लाखों मीटर की खपत वहां आसानी से हो सकती है, इसके बाद रूई तथा कपड़े के व्यवसायी साम्राज्यवाद के कट्टर समर्थक हो गये, क्योंकि उनके अतिरिक्त माल की खपत के लिए यह सर्वोत्तम उपाय था।

अतिरिक्त पूंजी : अतिरिक्त पूंजी (surpulu capital) की समस्या साम्राज्यवाद का दूसरा प्रेरक तत्व था। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोप के देशों में अत्यधिक धन इकट्ठा हो गया। उत्पादन वृहत्त पैमाने पर हुआ और चीजों की ब्रिक्री भी खूब हुई। अब उन देशों में बड़े-बड़े पूंजीपतियों का एक वर्ग तैयार हो गया। बहुत मुनाफे के कारण उनके पास बड़ी-बड़ी पूंजी इकट्ठी हो गयी। इस हालत में अब यह प्रश्न उठा कि इसके अतिरिक्त पूंजी को कहाँ लगाया जाय ताकि इससे लाभ होता रहे। इस पूंजी को अपने देश में लगाने से विशेष लाभ की कोई आशा नहीं थी। अधिक लाभ की दृष्टि से वे अपनी पूंजी अन्यत्र लगाना चाहते थे। 1870 के पहले भी अतिरिक्त पूंजी की समस्या थी। उस समय बहुत-सी पूंजी ब्याज की ऊँची दर पर स्पेनी, अमेरिका तथा अन्य पिछड़े हुए देशों को ऋण के रूप में दी जाती थी। लेकिन ये ऋण प्रायः मारे जाते थे। यह देखकर बड़े-बड़े पूंजीपति यही अच्छा समझते थे कि अतिरिक्त पूंजी अपने देश के उपनिवेशों में रेल, खान आदि में लगायी जाय ताकि उन्हें पर्याप्त मुनाफा भी मिले और पूंजी भी न मारी जाय। इस प्रकार यूरोपीय देशों के "अतिरिक्त पूंजी" वाले पूंजीपतियों ने अपनी सरकारों को उपनिवेश स्थापना के लिए प्रेरित किया। मोरक्को में फ्रांस के साम्राज्यवाद की स्थापना मुख्यतः इसी तत्व की परिणाम थी।

यातायात के साधन : औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यातायात के साधनों का विकास हुआ। भाप की शक्ति से चलने वाले जहाजों तथा तार और समुद्री तार के आविष्कार के फलस्वरूप दूर-दूर के देशों पर अधिकार करना तथा उनपर शासन करना आसान हो गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि यातायात के इन साधनों का आविष्कार बहुत पहले हो चुका था, लेकिन उनका असल प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में दृष्टिगोचर हुआ। इन साधनों के जरिये उपनिवेश-विस्तार की प्रक्रिया काफी आगे बढ़ी। बहुत जगह तो यातायात के इन साधनों को लेकर ही साम्राज्यवादी कलह शुरू हुआ और अनेक देश यूरोपीय साम्राज्यवाद के शिकार हुए।

उष्ण कटिबंधीय वस्तुओं की मांग : औद्योगिक देशों द्वारा उष्ण कटिबंधीय वस्तुओं (tropical produce) की मांग साम्राज्यवाद का एक अन्य कारण हुआ। सामुद्रिक यातायात के साधनों की उन्नति के साथ दूरस्थ उपनिवेशों का सस्ते खाद्य पदार्थ, उष्ण कटिबंधीय वस्तुओं तथा कारखानों के लिए आवश्यक माल के प्राप्ति स्थानों की दृष्टि से महत्व बढ़ गया। यूरोप में जैसे-जैसे उद्योग धंधे का विकास होता गया वैसे-वैसे कच्चे माल की आवश्यकता भी बढ़ती गयी। इन आवश्यकताओं की पूर्ति उपनिवेशों द्वारा ही संभव थी। फिर बाइसिकिल और मोटरों के आविष्कार के बाद रबर की मांग बढ़ चली। इस मांग की पूर्ति भी उपनिवेशों द्वारा ही संभव थी। उद्योग-प्रधान देशों में अधिकतर लोग उद्योग-धंधों में लगे रहते थे। फलतः अपने देश

में अन्न की उपज कम होने लगी। अतएव घर के लगों के भोजन के लिए बाहर से अनाज मंगाना आवश्यक हो गया। इस तरह, तेल, कॉफी, चाय, चीनी आदि पदार्थ भी नवीन साम्राज्यवाद के विकास के महान कारण सिद्ध हुए।

आत्म-निर्भरता : आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होने की भावना से भी नवीन साम्राज्यवाद को बल मिला। यह तर्क उपस्थित किया गया कि साम्राज्य की स्थापना में साम्राज्यवादी देशों को किसी भी चीज के लिए दूसरों का मुहं जोहना नहीं पड़ेगा। अतएव इस भावना से प्रेरित होकर यूरोप के देशों को साम्राज्यवादी नीति अपनानी पड़ी। ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी आदि देश सभी उपनिवेशों द्वारा अपनी जरूरतों की पूर्ति करना चाहते थे।

साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ

साम्राज्य स्थापना का काम संपूर्ण राष्ट्र नहीं वरन् केवल कुछ लोग करते थे। ये "कुछ लोग" स्वार्थ साधन की कामना से प्रभावित होकर साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे और इन्हीं शक्तिशाली "कुछ लोगों" के साथ सारे राष्ट्र के लोग चलते थे। देश के अन्दर इन लोगों का एक वर्ग बन गया जिन्हें साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ (vested interests of imperialism) का वर्ग कह सकते हैं।

व्यवसायी वर्ग : साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ के वर्ग में सर्वप्रथम कई तरह के व्यवसाय आते हैं। इसमें रूई के कपड़े तथा लोहे के व्यवसायी का महत्वपूर्ण स्थान है। वे साम्राज्यवाद के कट्टर समर्थक होते थे, क्योंकि वे अपना माल खपने के लिए हमेशा नये-नये बाजार की तलाश में रहते थे। यातायात निर्यात के व्यापारी तथा बड़े-बड़े बैंक भी साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे। अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद आदि तैयार करनेवाली कंपनियों के मालिक और बड़ी-बड़ी जहाज-कंपनियां साम्राज्यवादी नीति का खुलेआम समर्थन करती थीं। साम्राज्यवाद के विकास से इन निहित स्वार्थ के लोगों की स्वार्थ-सिद्धि की पूरी आशा रहती थी। उदाहरणार्थ, बड़े-बड़े जहाज की कंपनियां इस नीति का पोषक इसीलिए थीं कि उन्हें कोयला लेने या तूफान आदि से बचाव के लिए सुरक्षित स्थानों पर अड्डों की आवश्यकता पड़ती थी। ब्रिटिश इंडिया नेविगेशन कंपनी के मालिक विलियम मैकिनोन ने ही पहले-पहले मांग की थी कि ब्रिटेन जर्मनी पर आधिपत्य कर ले। इसी तरह अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले लोग उपनिवेश इसीलिए चाहते थे कि पिछड़े देशों को जितने के लिए जो युद्ध होगा उससे व्यवसाय की तरक्की होगी। इस वर्ग में बैंक अधिकारियों का भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। निकट पूर्व में जर्मन साम्राज्यवाद को ले जानेवाला ड्यूस बैंक (Deutshe Bank) था। ब्रिटेन के रोथस चाइल्ड बैंक ने प्रधानमंत्री डिजरैली को स्वेज नहर से हिस्सा खरीदने के लिए धन दिया और पीछे मिस्र पर ब्रिटिश अधिकार कायम करने के लिए उस पर जबर्दस्त दबाव डाला।

अन्य निहित स्वार्थ : व्यवसायी वर्ग को कुछ अन्य वर्गों से जबर्दस्त समर्थन मिलता था। इसमें सेना के अफसर मुख्य थे। औपनिवेशिक युद्ध उन्हें यश-प्राप्ति का मौका देता था। वे चाहते थे कि उनके देश में एक बहुत बड़ी सेना रहे। इसमें उनका निजी स्वार्थ था। बड़ी सेना रहने पर सेना के उच्च पदों की संख्या अधिक रहेगी और उनकी पदोन्नति का अवसर अधिक रहेगा। सैनिक अफसरों के अतिरिक्त कूटनीतिक और औपनिवेशिक सेवा के पदाधिकारी भी इस कोटि में आते थे। वैसे कूटनीतिज्ञों की सामाजिक स्थिति तुरंत बढ़ जाती थी जो अपने देश के लिए एक उपनिवेश कायम कर देता था। ब्रिटेन तथा कुछ अंश तक फ्रांस और जर्मनी में औद्योगिक व्यवस्था पूर्णता को प्राप्त हो जाने के कारण अच्छे परिवारों के महत्त्वकांक्षी युवकों के लिए अपने ही देशों में शीघ्र उन्नति करने के अवसर कम होते जा रहे थे। इन्हें उपनिवेश की सेवाओं, उनके शासनों तथा व्यवसायों में उन्नति करने तथा सफलता प्राप्त करने में बहुत अधिक अवसर प्राप्त हो सकते थे। ब्रिटेन और फ्रांस में ऐसे हजारों परिवार थे जो औपनिवेशिक सेवा में लगे रहते थे। इनमें से कुछ परिवारों का देश के प्रशासन पर अत्याधिक प्रभाव था।

ईसाई मिशनरियां : एशिया और अफ्रीका के 'पथभ्रष्ट' पिछड़ी जातियों में ईसाई धर्म फैलाने के लिए यूरोप के ईसाई पादरियों से भी साम्राज्यवाद को जबर्दस्त समर्थन मिला। पादरी लोग नये उपनिवेशों की स्थापना से बहुत खुश होते थे क्योंकि इन्हें ईसाई धर्म फैलाने का एक नया क्षेत्र मिल जाता था। ईसाई पादरी साम्राज्य विस्तार के एक अच्छा साधन बन जाते थे। धर्म प्रचार के कार्य में बर्बर जातियों द्वारा पादरियों को मार दिये जाने पर साम्राज्यवादियों को एक अच्छा बहाना या 'ईश्वर- प्रदत्त मौका' मिल जाता था। धर्म-प्रचारक पादरियों के हित के लिए उनके शासक चिंतित रहते थे और विदेशों में यदि पादरियों का किसी तरह अपमान होता था तो राष्ट्रीय सरकार उस अपमान का बदला लेने के बहाने उन देशों पर आक्रमण करती थी। उनके आंतरिक शासन में हस्तक्षेप करती थी। उदाहरणार्थ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चीन में दो जर्मन ईसाई पादरियों की हत्या हो गयी और इसका बदला लेने के लिए जर्मनी उसके एक बंदरगाह पर कब्जा कर लिया।

मिशनरियों ने प्रत्यक्ष रूप से भी साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित किया। डॉ० लेविंग्सटोन ने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि अफ्रीका पर ब्रिटिश साम्राज्य कायम हो ताकि वहां ईसाई धर्म का प्रचार किया जा सके। जर्मन पादरी फेबरी ईसाई धर्म की ओर झुकाने की अपेक्षा साम्राज्यवाद की ओर ही अधिक लोगों को झुका सका। ईसाई पादरियों ने आदिवासी लोगों में कपड़ा पहनने का प्रचार किया। उसके बाद व्यापारी पहुंचे। व्यापारियों के बाद राजनीतिक पहुंच जाते जो अपनी समस्त शक्ति के साथ किसी भी देश पर आक्रमण कर बैठते थे और पहले से आये हुए पादरियों और व्यापरियों से गुप्तचर का काम लेने लगते थे और इस तरह उपनिवेश की स्थापना हो जाती थी। ईसाई धर्म के प्रचारकों में कुछ लोग तो सच्चे धार्मिक तथा मानव-प्रेमी थे और उन्होंने मानवता की वास्तविक सेवाएं भी कीं परंतु उपनिवेशों के लोगों को व्यापारियों तथा सरकारी कर्मचारियों के अमानुषिक अत्याचार का शिकार बनना पड़ा। कुछ भी हो, साम्राज्यवाद के विस्तार में इन धार्मिक प्रयत्नों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

भौगोलिक और साहसिकों का वर्ग : पुनर्जागरण के समय से यूरोप में भौगोलिक खोजों की जो प्रवृत्ति चल पड़ी उसमें उन्नीसवीं शताब्दी में और विकास हुआ। इस काल में अनेक साहसिक (expelorer and adventures) पैदा हुए जिन्होंने केवल साहसपूर्ण कार्यों के लिए ही नये-नये उपनिवेशों को ढूंढ़ निकाला। इनके द्वारा नये-नये देशों का पता लगा जिससे साम्राज्य विस्तार में काफी सहायता मिली। इन साहसिकों को भौगोलिकों से पूरी सहायता मिली। कुछ भौगोलिक सत्यों की घोषणा करके अज्ञात देशों की खोज के लिए इन भौगोलिकों ने साहसिकों को प्रोत्साहित किया। इसी आधार पर अनेक उत्साही व्यक्ति अज्ञात प्रदेशों की खोज में निकल पड़े और नये-नये भूखंडों का पता लगाया। हेनरी मार्टन, स्टानले, डॉ० डेविड लेविंग्सटन, गुस्टांव नैकटिगाल कुछ ऐसे ही उत्साही व्यक्ति थे। यूरोपीय साम्राज्य के विस्तार में उनका प्रत्यक्ष हाथ था। कांगों ने बेल्जियम का उपनिवेश स्टानले के कार्यों के फलस्वरूप ही संभव हो सका। कैमरून और तोगोलैंड को जर्मन उपनिवेश बनाने का श्रेय गुस्टाव नैकटिगाल को दिया जाता है।

उग्र राष्ट्रवाद : नवीन साम्राज्यवाद की मुख्य प्रेरक-शक्ति उग्र राष्ट्रवाद से प्राप्त हुई थी। इन दिनों प्रतिक्रिया के विरुद्ध संघर्ष करके राष्ट्रीयता विजयी हो चुकी थी और जर्मनी में तथा उसका अनुकरण करके अन्य देशों में भी यह उग्ररूप धारण करती जा रही थी। ब्रिटेन और हॉलैंड जैसे छोटे से देश के अधीन विशाल साम्राज्य देखकर अन्य देशों में विशेषकर जर्मनी, फ्रांस तथा इटली में भी साम्राज्य की इच्छा जागृत हुई। राष्ट्र के गौरव तथा राष्ट्रीय अभिमान की भावना की संतुष्टि के लिए यह आवश्यक मालूम होने लगा कि उनके पास भी साम्राज्य हो। यूरोप की महान शक्ति (big power) कहलाने के लिए उपनिवेश का होना नितांत आवश्यक था। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए उग्र सामरिक राष्ट्रीयता के मार्ग का अवलंबन किया गया। जर्मनी ने अपनी अद्वितीय सैन्य-शक्ति से यूरोप के दो प्रमुख राज्यों—फ्रांस तथा आस्ट्रिया को परास्त करके यूरोप के राज्यों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। इस विजय से जर्मन राज्य का आत्माभिमान बहुत बढ़

गया। वह अपने आपको सर्वश्रेष्ठ समझने लगा और संसार में अपनी शक्ति के अनुरूप स्थिति प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गया। राष्ट्रीयता की यह उग्र चेतना जर्भनी से अन्य राष्ट्रों में पहुंची और अंतर्राष्ट्रीय विद्वेष, शंका एवं अशांति साम्राज्यवाद के कारण बन गये।

साम्राज्यवादी प्रचार

साम्राज्यवादी के निहित स्वार्थ, जिन्होंने स्वार्थ-साधन के लिए साम्राज्यवाद का समर्थन किया और उसे प्रोत्साहित किया, उनकी संख्या बहुत कम थी। देश के अधिकांश निवासी न तो इसके प्रबल समर्थक थे और न साम्राज्यवाद से उन्हें प्रत्यक्ष लाभ था। यदि सच पूछा जाय तो साम्राज्यवादी नीति से कुछ पूंजीपतियों को ही लाभ था, कर देने वाली जनता, छोटे-छोटे पूंजीपति और मजदूरों को इससे कोई लाभ नहीं था। उद्योग तथा व्यापार से जो मुनाफा होता था उसे यदि अपने देश के औद्योगिक विकास में लगाया जाता तो मजदूरों को कुछ लाभ भी होता, लेकिन अतिरिक्त पूंजी पिछड़े हुए देशों में लगायी जाती थी जहां बहुत ही कम मजदूरी पर मजदूर मिल जाते थे। फिर फी यूरोपीय देशों के सभी सामाजिक वर्गों ने साम्राज्यवाद के विस्तार में पूंजीपतियों का साथ दिया। इन पूंजीपतियों ने बड़ी आसांनी से बहुमत को अपने पक्ष में कर लिया। यह एक आश्चर्य की बात है, लेकिन एक तथ्य है। बहुमत को अपने पक्ष में करने के लिए पूंजीपतियों ने जबर्दस्त प्रचार किया। अपने देश में पूंजीपति लोग बहुत अधिक संगठित और शक्तिशाली थे। शासन पर उनका पूरा प्रभाव होता था। अपनी कार्यसिद्धि के लिए वे पानी की तरह धन बहाते थे। राजनैतिक दलों को पैसा देकर अपनी मुट्ठी में रखते थे। देश के समाचार पत्रों और प्रचार के अन्य साधनों पर उनका एकाधिकार रहता था। इन साधनों के सहारे उन्होंने सर्वसाधारण की नैसर्गिक भावनाओं को बड़ी खूबी के साथ उभाड़ा। इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित उपायों का आवलंबन किया—

आत्मरक्षा की आवश्यकता : मनुष्य सबसे पहले सुरक्षा चाहता है। विदेशी आक्रमण के भय से कोई भी व्यक्ति आतंकित हो सकता है। वैसे आतंकित व्यक्ति को अपने पक्ष में करने के लिए जिस तर्क का सहारा लिया जाता था वह इस प्रकार है—विदेशी आक्रामण से रक्षा के लिए युद्ध के लिए, तैयार रहना आवश्यक है। इसके लिए थल सेना और नौ-सेना में वृद्धि करना भी आवश्यक है। लेकिन सामुद्रिक अड्डों के अभाव में नौ-सेना का क्या महत्व हो सकता है ? अतएव बाह्य देशों में जहाजी बेड़ों के अड्डों को आवश्यक बतलाया गया। इसी तर्क का सहारा लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका यदि देशों ने सारे संसार में अपने-अपने सामुद्रिक अड्डे स्थापित किये। फिर सामुद्रिक अड्डों की रक्षा के लिए उसके पास-पड़ोस के भू-भागों पर अधिकार जमाना भी आवश्यक हो गया।

आत्मरक्षा की आवश्यकता के आधार पर तर्क दिया जाता था कि युद्ध के समय अबोध रूप से कच्चा माल प्राप्त करने के लिए उपनिवेशों का होना अत्यन्त आवश्यक है। वे यह कह कर सर्वसाधारण को धोखा देते थे कि यदि पिछड़े देशों पर आधिपत्य नहीं कायम किया गया तो युद्ध के समय कोयला और लोहा नहीं मिल सकेंगे और इस कारण युद्धोपयोगी सामग्री नहीं तैयार हो सकेगी। तेल नहीं मिलने के कारण जहाजों का चलना बंद हो जायगा। इसके बाद जब कुछ प्रदेशों पर अधिकार हो जाता था तो साम्राज्यवाद के पोषक जनता को यह कहकर अपनी ओर कर लेते थे कि उन उपनिवेशों की रक्षा के लिए मजबूत जहाजी बेड़े का होना आवश्यक है और साथ ही बंदरगाहों पर आधिपत्य भी। इसी तरह की दलीलें देकर भोली-भाली जनता को साम्राज्यवाद के पक्ष में कर लिया जाता था।

आर्थिक राष्ट्रवाद और आर्थिक कल्याण : साम्राज्यवाद के आर्थिक कारण का वर्णन करते समय हम इस पहलू पर प्रकाश डाल चुके हैं। उद्योगों के विस्तार के साथ कच्चे माल को प्रचुर मात्रा में और सस्ते दामों में प्राप्त करने तथा तैयार माल को अधिक-से-अधिक लाभ पर बेचने के लिए उपयुक्त बाजार की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इन आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र साधन यही था कि पिछड़े हुए उष्ण कटिबंधीय

प्रदेशों में जहां सब प्रकार का कच्चा माल प्राप्त हो सकता है और तैयार माल बेचा जा सकता है, प्रभाव क्षेत्र स्थापित किया जायें ताकि किसी अन्य राष्ट्र को वहां माल खरीदने और बेचने की सुविधा न हो सके और कच्चे माल के क्रय तथा तैयार माल के विक्रय दोनों की दृष्टि से देश स्वाबलंबी हो सके। इस कारण उष्ण कटिबंधीय प्रदेशों पर अधिकार जमाने के लिए विभिन्न राष्ट्रों में तीव्र प्रतियोगिता होने लगी। इस प्रकार आर्थिक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। अब साधारण जनता को यह कहा गया है कि कच्चे माल और बाजार के अन्य देशों पर आधिपत्य करने में ही राष्ट्र का आर्थिक कल्याण है। इसके फलस्वरूप देश का व्यापार बढ़ेगा और राष्ट्र की आर्थिक उन्नति होगी और बेकारी की समस्या का अंत होगा।

राष्ट्रीय प्रतिष्ठा : साम्राज्यवादियों ने जनता को राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की भावना को अच्छी तरह उभाड़ा। राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढ़े, यह आकांक्षा प्रत्येक व्यक्ति में रहती है। अतएव सर्वसाधारण जनता से यह कहा जाता था कि यदि उनके राष्ट्र का अधिकार पिछड़े हुए देशों पर होगा तो उनके देश की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और उनका राष्ट्र धन-धान्य से परिपूर्ण होगा। उस समय लोगों को यह विश्वास था कि प्रथम श्रेणी का राष्ट्र होने के लिए उपनिवेशों का रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसी भावना से प्रेरित होकर अफ्रीका के पूर्वी किनारे के एक अनुपजाऊ भू-भाग पर आधिपत्य बनाये रखने के लिए इटली की जनता ने करोड़ों डालर खर्च करने में तनिक भी आगा-पीछा नहीं किया। जिस समय एक ब्रिटिश नागरिक संसार के नक्शे पर "लाल रंग" को देखता था उस समय वह खुशी से पागल हो जाता था। "सूर्य के नीचे जगह" पाने के लिए जर्मनी बहुत उत्सुक रहता था और इसके लिए जर्मन नागरिक सब कुछ बलिदान करने के लिए तैयार रहते थे। अफ्रीका में फ्रांस का साम्राज्य कायम हो इसके लिए फ्रांस की जनता व्यग्र थी। यह राष्ट्र की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। अतएव फ्रांस की जनता ने साम्राज्य की स्थापना के लिए हर तरह की सहायता की, क्योंकि वे जानते थे कि यदि इस प्रश्न पर सहायता दी जायगी तो फ्रांस तुरंत ही द्वितीय या तृतीय श्रेणी का राष्ट्र बन जाएगा।

राष्ट्र की प्रतिष्ठा को दूसरी तरफ भी धक्का प्हुंच सकता था। यदि किसी गैर-यूरोपीय देश में साम्राज्यवादी देश के नागरिक या राष्ट्रीय झंडा का अपमान होता तो इस अपमान का बदला लेना उस देश का कर्तव्य माना जाता था। चीन में जर्मनी के दो पादरियों की हत्या की गयी तो जर्मनी ने इसको अपमान माना और चीनियों की इस धृष्टता के लिए सबक देने के लिए उसके एक बंदरगाह पर अधिकार कर लिया। एक इटालियन लड़की को जब ट्रिपोली का एक मुसलमान भगाकर ले गया तो इस अपमान का बदला लेने के लिए ट्रिपोली पर आधिपत्य करना अवश्य हो गया। इस तरह राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा भी नवीन साम्राज्यवाद का एक प्रेरक तत्व सिद्ध हुआ।

अतिरिक्त जनसंख्या का प्रश्न : देश की बढ़ती हुई आबादी की समस्या को भी साम्राज्यवाद के प्रसार के लिए प्रचार का एक साधन बनाया गया। इसमें कोई शक नहीं कि उस समय यूरोपीय देशों की जनसंख्या में आपार वृद्धि हो रही थी। यूरोप के औद्योगिक देशों के समक्ष यह प्रमुख समस्या थी और इसके समाधान का ही उपाय था कि कुछ लोग बाहर जाकर उपनिवेशों में रहे। उपनिवेशों में रहने से मातृभूमि से उनका संबंध बना रहता था। अतएव जनता से यह कहा गया कि यदि बढ़ती हुई आबादी के लिए उपनिवेश नहीं कायम किये गये तो देश के अंदर विकट आर्थिक संकट उत्पन्न हो जायगा, बेकारी बढ़ जायगी और खाद्यान्नों की कमी हो जायगी। इस परिस्थिति में जनता सरकार को मदद देने से इंकार नहीं कर सकती थी।

लेकिन बढ़ती हुई आबादी का यह तर्क सिर्फ एक़ हौवा के अतिरिक्त कुछ और नहीं था। आंकड़ें से पता चलता है कि 1864 से 1914 तक दो करोड़ के लगभग यूरोपीय निवासी अपने देश छोड़कर बाहर गये, लेकिन उनमें पांच लाख ही ऐसे लोग थे जो उपनिवेशों में जाकर बसे। उपनिवेशों की जलवायु उनके मनोकूल नहीं होती थी और इसलिए वे वहां बसना नहीं चाहते थे।

परोपकारिता और मानवता : यूरोपीय देशों के राष्ट्रीय अभिमान की भावना में अपनी सभ्यता के उच्च होने का अभिमान भी शामिल था और उनमें यह भावना जोर पकड़ने लगी कि पृथ्वी के विभिन्न भागों में बसे हुए असभ्य, अर्द्धनग्न तथा अविकसित लोगों के बीच अपनी उत्कृष्ट सभ्यता तथा संस्कृति का प्रसार कर उनका उद्धार करना तथा उन्हें ऊंचा उठाना उनका कर्त्तव्य है। रूडयार्ड किपलिंग[2] ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि काले लोगों को सभ्य बनाना गोरे लोगों का महान उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व के प्रति अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए यूरोपीय देशों में अनेक विद्वानों ने ग्रंथों की रचना की। फ्रांस का जुल्स फेरी, ब्रिटेन का शीले, जर्मनी का प्रोफेसर त्रित्सके कुछ ऐसे ही व्यक्ति थे। इस भावना को प्रोफेसर मून ने आक्रामक परोपकारिता (aggressive alturism) की संज्ञा दी है, क्योंकि श्रेष्ठ यूरोपीय सभ्यता को काले लोगों पर लादने के लिए शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक था। इसमें कोई संदेह नहीं कि साम्राज्यवाद के विस्तार में इन "परोपकारी और मानवतावादी" प्रयत्नों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

नवीन साम्राज्यवाद का स्वरूप

आधुनिक यूरोपीय साम्राज्यवाद के इतिहास को स्पष्टतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—पुराना साम्राज्यवाद और नवीन साम्राज्यवाद का युग। पुराना साम्राज्यवाद का युग करीब पन्द्रहवीं शताब्दी से प्रारंभ होता है। इसके पूर्व तक यूरोप के लोग अपने महाद्वीप के बाहर के देशों से सर्वथा अपरिचित थे। दिग्दर्शक यंत्र के अभाव में समुद्र-यात्रा करना काफी कठिन काम था। पन्द्रहवीं सदी के अंतिम चरण में एक नयी प्रवृत्ति प्रारंभ हुई। भूगोलवेत्ता और अनुसंधानकर्ता नये-नये देशों को खोज निकालने के लिए असीम जिज्ञासा दिखलाने लगे। दिग्दर्शक यंत्र के आविष्कार से समुद्र-यात्रा सहज हो गयी। नये-नये देशों का पता लगाने के लिए यात्राएं की गयीं और साहसी नाविकों के दल इधर-उधर भेजे गये। उन्होंने उपनिवेश की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। इन क्षेत्रों में स्पेन और पुर्तगाल ने विशेष तत्परता दिखलायी। स्पेन के राजा की सहायता से 1492 में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया। 1498 में पुर्तगाल का बास्कोडिगामा अफ्रीका का चक्कर काटते हुए भारतवर्ष आ पहुँचा। ये दोनों घटनाएँ युगान्तकारी घटनाएँ थीं। अफ्रीका का चक्कर काटकर पहले-पहल पुर्तगीज लोग भारत आये थे। उन्होंने इस नये मार्ग से पूर्व के देशों से व्यापार करना शुरू किया। इस व्यापार से पुर्तगीजों को काफी लाभ हुआ। देखते-देखते पुर्तगाल एक धनी और समृद्ध देश हो गया। उधर अमेरिका पर स्पेन का अधिकार कायम हुआ; क्योंकि स्पेन के राजा की सहायता से ही कोलम्बस समुद्र यात्रा के लिए निकला था। स्पेन के लोगों ने अमेरिका में अपने उपनिवेश बसाने शुरू किये। इन उपनिवेशों में सोना-चांदी प्रचुर मात्रा में मिलते थे। सोने-चांदी की खानों से आकृष्ट हो स्पेन के लोग बड़ी संख्या में अमेरिका जाने लगे। देखते-देखते स्पेन भी एक धनी और समृद्ध देश हो गया।

स्पेन और पुर्तगाल की इस अचानक प्रगति को देखकर यूरोप के अन्य देशों की आंखें खुलीं। स्पेन की तरह अन्य यूरोपीय राज्य भी अमेरिका जाकर बसने के लिए व्याकुल हो उठे, पर संपूर्ण दक्षिणी अमेरिका पर स्पेन का प्रभुत्व कायम हो चुका था। अतः दूसरे यूरोपीय देशों ने विशेषकर फ्रांस और ब्रिटेन के लोगों ने उत्तरी अमेरिका में बसना शुरू कर किया। आज के संयुक्त राज्य अमेरिका वाले क्षेत्र पर ब्रिटेन के लोगों ने उत्तरी अमेरिका में बसना शुरू किया। आज के संयुक्त राज्य अमेरिका वाले क्षेत्र पर ब्रिटेन का कब्जा कायम हुआ और आज के कनाडा वाले क्षेत्र पर फ्रांस का। उधर पुर्तगीजों की देखा-देखी अन्य यूरोपीय राज्य भी दक्षिणी मार्ग से एशिया आने लगे। पुर्तगीजों के बाद डच, अंग्रेज तथा फ्रांसीसी आये और पूर्व के व्यापार पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न के कारण इन व्यापारियों में परस्पर संघर्ष होने लगे। उन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी व्यापारिक कोठियां कायम कीं। बहुत दिनों तक पूर्व के देशों के संपर्क में रहने के बाद इन यूरोपीय व्यापारियों को एशियाई देशों की राजनीतिक स्थिति का पता होने लगा।

उन्होंने देखा कि इन देशों की राजनीतिक स्थिति इतनी खराब है कि उन पर सुगमता से अधिकार कायम किया जा सकता है। जिस समय यूरोपीय व्यापारियों को ऐसा अनुमान हुआ उस समय से वे अपना साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगे। इनके बाद एशिया के देश एक-एक कर भिन्न-भिन्न यूरोपीय देशों के अधिकार में चले गये। थोड़े ही दिनों में यूरोप के मुट्ठी भर देशों ने सारे संसार को आपस में बाँट लिया। सम्पूर्ण उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, भारतवर्ष, दक्षिण पूर्वी एशिया के देश; जैसे-मलाया, हिंदचीन, हिन्देशिया आदि, आस्ट्रेलिया महाद्वीप तथा अफ्रीका के उत्तरी तथा दक्षिणी किनारे के कुछ भू-भागों पर यूरोपीय राज्यों का साम्राज्य छा गया। अपना अपना साम्राज्य कायम करने के लिए यूरोपीय देशों में परस्पर संघर्ष भी हुए। उदाहरण के लिए उत्तरी अमेरिका और भारतवर्ष पर साम्राज्य स्थापित करने के लिए फ्रांस और ब्रिटेन के बीच सप्तवर्षीय युद्ध (1756-63) हुआ। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आते-आते साम्राज्यवादियों के बीच संसार का बंटवारा करीब-करीब अंतिम रूप से हो गया।

1775 ई० में अमेरिका के स्वातंत्र्य-संग्राम से साम्राज्यवाद को सर्वप्रथम एक जबर्दस्त धक्का लगा। उत्तरी अमेरिका के कुछ उपनिवेशों ने मिलाकर ब्रिटेन के खिलाफ विद्रोह कर दिया और अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करके संयुक्त राज्य अमेरिका का निर्माण किया। संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वतंत्रता के बाद कनाडा, आस्ट्रेलिया जैसे उपनिवेश, जहां यूरोपीय लोग बस गये थे, अपनी स्वतंत्रता की मांग करने लगे और कुछ समय बाद उन्हें भी स्वतंत्र कर दिया गया। लेकिन अमेरिका की आजादी की लड़ाई से पुराने साम्राज्यवाद, को जो धक्का लगा उससे साम्राज्यवाद संभल नहीं पाया। इसके बाद साम्राज्यवाद सहमी हालत में धीरे-धीरे चलने लगा। इस स्थिति में उसकी कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी। इसके कई कारण थे। पहली बात यह थी कि दुनिया में अब कोई ऐसा भू-भाग नहीं बच रहा था, जिस पर साम्राज्य कायम किया जा सके। जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ ही दिनों में यूरोप के देश संसार के प्रायः सभी ज्ञात देशों को आपस में बांट चुके थे। इसके अतिरिक्त यूरोपीय देशों का साम्राज्य-विस्तार के लिए समय भी नहीं था। अमेरिका के स्वातन्त्रय संग्राम के तुरंत बाद फ्रांस की क्रांति (1879) आयी और उसके बाद नेपोलियन का प्रार्दुभाव हुआ, जो 1815 तक समूचे यूरोप को युद्ध में फंसाये रहा। 1815 में नेपोलियन की पराजय के बाद भी यूरोप को अवकाश नहीं मिल सका। कारण, 1815 से 1870 तक यूरोप की सरकारें अपने घरेलू सवालों को सुलझाने में लगी हुई थीं। किसी के सामने राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने का प्रश्न था, तो किसी के सामने जनतांत्रिक सुधार लाने का। इसके साथ ही साम्राज्यवाद एक-दूसरे युग में प्रवेश करने की तैयारी भी कर रहा था। 1870 के अंत होने के साथ-साथ यूरोपीय देशों की महत्वपूर्ण आंतरिक समस्याओं का भी अंत हो गया। इस वर्ष यूरोप के राजनीतिक रंग-मंच पर दो महान् एवं शक्तिशाली राष्ट्र जर्मनी तथा इटली का प्रादर्भाव हुआ। इन दोनों देशों को भी ब्रिटेन, फ्रांस और रूस की तरह विश्व की महाशक्ति (Great Power) बनने की आकांक्षा हुई। इसके लिए औपनिवेशिक विस्तार आवश्यक था।

लेकिन नवीन साम्राज्यवाद का मुख्य आधार आर्थिक था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप के प्रायः सभी देशों में बड़े-बड़े कल-कारखाने खुले। इन कल-कारखानों को चलाने के लिए कच्चे माल तथा अन्य कई प्रकार की सामग्रियों की आवश्यकता थी। ये चीजें यूरोपीय देशों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं थीं। इसकी प्राप्ति के लिए इन देशों को गैर-यूरोपीय देशों पर निर्भर करना था। फिर कच्चे मालों से सामान बना लेने के बाद उन्हें बेचने के लिए बाजार की आवश्यंकता थी। अतः इन दोनों चीजों—कच्चे माल और बाजार—के लिए यूरोपीय देशों को गैर-यूरोपीय देशों पर आश्रित होना पड़ा। अपने उद्योग-धंधों को कायम रखने के लिए यह आवश्यक था कि गैर-यूरोपीय देशों की इन चीजों पर नियंत्रण किया जाय। यह तभी संभव था जब पिछड़े हुए देशों का आर्थिक शोषण हो और उनकी औद्योगिक प्रगति नहीं होने पाये। यह स्पष्ट है कि कोई भी देश चाहे कितना भी पिछड़ा क्यों न हो इस तरह से स्वेच्छापूर्वक अपना आर्थिक शोषण नहीं होने देगा।

ऐसी स्थिति में पिछड़े देश को अपना बाजार बनाने के लिए वहां के कच्चे माल को अपने व्यवसाय के लिए सुरक्षित रखने के लिए उनपर राजनीतिक आधिपत्य कायम करना आवश्यक था। आधुनिक साम्राज्य का यही स्वरूप है।

यूरोप में औद्योगिक क्रांति में अभूतपूर्व उन्नति के कारण सभी उद्योग-प्रधान राज्य बाजार और प्राकृतिक साधनों की खोज में थे। इसी समय अफ्रीका का पता लगा। सारे संसार में अब यही एक ऐसा भू-भाग था, जहां यूरोपीय देशों के साम्राज्य का विस्तार हो सकता था। इसलिए यूरोप के राष्ट्रों के बीच अफ्रीका के बंटवारे के लिए प्रतियोगिता चल पड़ी। उस समय तक स्वेज नहर खुल चुकी थी और इस अंतर्राष्ट्रीय जल-मार्ग पर नियंत्रण रखने के लिए अफ्रीका के समुद्री किनारों पर कब्जा कायम करना आवश्यक था। अतः कुछ ही दिनों में अफ्रीका साम्राज्यवादियों का अखाड़ा बन गया। इस तरह स्पष्ट है कि 1871 में साम्राज्यवाद के इतिहास में एक नया युग प्रारंभ होता है। यह नवीन साम्राज्यवाद के युग के प्रारंभ का वर्ष था। नये साम्राज्यवाद की विशेषता यह थी कि इस युग में साम्राज्यवादी राष्ट्रों के बीच घनघोर संघर्ष शुरू हुए। पुराने साम्राज्यवाद में भी परस्पर संघर्ष हुए थे : लेकिन वे संघर्ष इतने तीव्र नहीं थे, जितने नये साम्राज्यवाद के। संघर्ष की यह तीव्रता प्रथम विश्व-युद्ध का एक प्रमुख कारण था। इसलिए प्रथम विश्व-युद्ध को प्रथम साम्राज्यवादी युद्ध कहा जाता है।

साम्राज्यवाद के विकास के दृष्टिकोण से यह काल एक और कारण से महत्वशील है। अभी तक यूरोप के राज्य ही साम्राज्यवादी थे। लेकिन इस काल में साम्राज्यवादियों के समूह में एक एशियाई देश ने भी प्रवेश किया। वह देश जापान था। 1867 को मेइजी क्रांति के उपरांत जापान का उद्योगीकरण हुआ जिसके परिणामस्वरूप उसको भी साम्राज्यवादी जीवन अपनाना पड़ा। साम्राज्यवादी जापान के अभ्युदय ने विश्व-राजनीति में एक नवीन तत्व का समावेश कराया। जिसके फलस्वरूप समस्या पहले की अपेक्षा और भी जटिल हो गयी।

FOOT NOTES

1. ....."The recent history of international relations, the alliances,entents, crisis and war reveal a new meaning. Almost without exception they were but suface manifestations of the swist, deep current of imperialism." —*P.T. Moon : Imperialism and World Politics, P. 3*
2. किपलिंग ने White Man's Burden शीर्षक से 1899 में एक कविता लिखी जो इस प्रकार है—

"Take up the White Man's Burden
    Send forth the besty breed,
Go, bind your sons to exile,
    To serve your captives' need,
To wait in heavy harness,
    On Fluttered folk and wild,
Your new-caught sullen peoples,
    Half-devil and half child."

अध्याय 10

अफ्रीका का बंटवारा
(Partition of Africa)

अफ्रीका की स्थिति : अफ्रीका का बंटवारा नवीन साम्राज्यवाद के युग की एक अत्यंत असाधारण घटना है। दो-तीन बातों में इसकी विशिष्टता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। सर्वप्रथम संपूर्ण अफ्रीका का बंटवारा बिना युद्ध किये ही हो गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि अफ्रीका के बंटवारे को लेकर विभिन्न राष्ट्रों के बीच तनातनी हुई और संघर्ष की संभावना भी दिखायी दी, लेकिन सभी संकटों का निवारण कूटनीति के जरिये हो गया और युद्ध होने से बच गया। फिर, यह बंटवारा अत्यंत शीघ्रता के साथ हुआ। केवल पचीस-तीस वर्षों की छोटी अवधि में ही इतना बड़ा काम संपन्न हो गया। इसका कारण यह था कि इस समय जर्मनी और इटली दोनों नवीन राज्य साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता के मैदान में आ गये जो जल्द-से-जल्द अपने लिए साम्राज्य की स्थापना कर लेना चाहते थे। इन नवागंतुकों को देख ब्रिटेन और फ्रांस चौंक गये और वे भी जल्द-से-जल्द और अधिक-से-अधिक प्रदेश हस्तगत करने का प्रयत्न करने लगे। इस कारण अफ्रीका का बंटवारा बड़ी तेजी से संपन्न हो गया।

अफ्रीका के बंटवारे की एक और विशेषता यह है कि वहां के स्थानीय शासकों या सरदारों ने इसका विरोध नहीं किया। इस कारण वहां आसानी से यूरोपींय देशों का उपनिवेश कायम हो गया। अफ्रीका के आदिवासियों के सरदार इतने अशिक्षित और सीधे थे कि वे संधि समझौते का महत्व नहीं समझते थे। शराब की कुछ बोतलों पर या चमकते हुए कुछ उपहारों पर अपनी जमीन को यूरोपीय के हाथ सौंपने को तैयार हो जाते थे। वे ऐसी संधि पर हस्ताक्षर करते थे जिसे वे स्वयं नहीं समझते थे। वे इतने निशक्त और असहाय थे कि पेरिस, लंदन में बैठकर साम्राज्यवादी उनके प्रदेशों को नक्शे पर बांट लेते थे और उन्हें इसका पता तक नहीं लगता था।

अफ्रीका नवीन साम्राज्यवाद का सबसे बुरा शिकार हुआ। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक यूरोप के निवासियों को इस विशाल महाद्वीप के विषय में बहुत कम परिचय था। उत्तरी अफ्रीका के कुछ देश मिस्र, अलजीरिया, ट्यूनिस, मोरक्को इत्यादि और समुद्र-तट के आसपास के भू-भागों को छोड़कर शेष अफ्रीका के विषय में उन्हें बहुत कम जानकारी थी। शेष अफ्रीका उनके लिए एक अपरिचित, अज्ञात और रहस्यमय भूखंड था। उसके सघन जंगलों, भौगोलिक तथा प्राकृतिक दशाएं और अद्भुत निवासियों के संबंध में उन्हें कोई जानकारी नहीं थी और बहुत दिनों तक इसका परिचय प्राप्त करने के लिए उन्होंने कोई विशेष प्रयास भी नहीं किया था। अफ्रीका के दुर्गम प्रदेशों का अवगाहन करना कठिनाइयों से भरा पड़ा था। 1875 के पहले अफ्रीका का एक छोटा-सा भाग यूरोपीय राष्ट्रों के अधिकार में था। उत्तरी तट पर 1830 में फ्रांस ने एल्जीयर्स पर अधिकार करके उसके आसपास के प्रदेश को भी अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया था। दक्षिण में इंगलैंड ने 1896 में हालैंड के केप कालोनी का प्रदेश छीन लिया था और 1843 में नेटाल पर अधिकार

कर लिया था। पुर्तगाल के पास पूर्वी तट पर मोजम्बिक तथा पश्चिमी तट पर अंगोला के तटीय प्रदेश थे जिनकी भीतरी सीमाएं अस्पष्ट थीं। उन प्रदेशों के अतिरिक्त पश्चिमी तट पर भी कुछ स्थल फ्रांस (सेनीगाल, गेबून तथा आइबरी कोस्ट), इंगलैंड (गोम्बिया, सियरा, लिओन, गोल्ड कोस्ट, लेगास तथा नाईजर नदी की मुहाना), पुर्तगाल (पोर्तुगीज) तथा दो एक द्वीप और स्पेन (राये डी ओरो तथा स्पेनिश गिनी) के अधिकार में थे।

अफ्रीका के अंधकारपूर्ण-भूखंड का पता लगाने का काम किसी यूरोपीय सरकार का नहीं था। यह यूरोप के उन 'धार्मिक परोपकारियों' का काम था जो 'पथभ्रष्ट' अफ्रीकियों को 'सुमार्ग' दिखलाने के लिए उत्सुक थे। इन 'जगत हितैषियों' में डॉक्टर डेविन लिविस्टोन नामक एक स्काच धर्म-प्रचारक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अफ्रीका का पता लगाने का श्रेय उसी को दिया जाता है। वह पांच साल तक मध्य-अफ्रीका के विविध प्रदेशों का अवगाहन करता रहा। जब उसने अपनी अफ्रीका-यात्रा का वृत्तांत प्रकाशित किया तो सारे यूरोप में खलबली मच गयी। सब लोगों का ध्यान अफ्रीका की ओर आकृष्ट हुआ। यूरोपीय लोग इस विशाल एवं अद्‌भुत भूखंड में प्रवेश पाने के लिए आतुर हो उठे। इसके बाद के अफ्रीका का इतिहास केवल दुख और दर्द की कहानी है। यूरोप के प्रायः सभी राष्ट्र अफ्रीका के भू-भागों पर गिद्ध की तरह टूट पड़े। उनके बीच अफ्रीका की छीना-झपटी होने लगी। अफ्रीका की लूट में अपना-अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिए वे उतावले हो उठे। जो अफ्रीका कुछ साल पहले तक अज्ञात था, वह अब भूखे साम्राज्यवादियों का शिकार बन गया। 1890 आते-आते यूरोप के तथाकथित सभ्य देश अफ्रीका का टुकड़े-टुकड़े कर उन्हें आपस में बांट लेने के लिए कटिबद्ध हो गये। विश्व राजनीति के रंगमंच पर नवीन साम्राज्यवाद अपने नग्न रूप में आ खड़ा हुआ।

अफ्रीका की लूट : अफ्रीका के बलात् प्रवेश करनें का प्रथम प्रयास बेल्जियम के राजा द्वितीय लियोपाल्ड ने किया। वह लिविंगस्टन तथा स्टोनली की यात्राओं का वृत्तांत सुन चुका था। 1886 में अफ्रीका के अज्ञात प्रदेशों का पता लगाने के उद्देश्य से उसने ब्रूसेल्स में एक अंतर्राष्ट्रीय भौगोलिक सम्मेलन आमंत्रित किया। यहां पर एक अंतर्राष्ट्रीय अफ्रीकी सभा कायम की गयी। प्रत्येक देश में इस सभा की शाखाएं खोलने का निश्चय किया गया। लेकिन शीघ्र ही इस सभा का अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप खत्म हो गया और प्रत्येक शाखा अपने राष्ट्र के लिए अफ्रीका में प्रदेश प्राप्त करने का यत्न करने लगी। 1878 में स्टेनली अफ्रीका का अवगाहन करते हुए जब यूरोप पहुंचा तो बेल्जियम के राजा के दो एजेंट उससे मिले जिन्होंने उसे पुनः अफ्रीका लौटने का अनुरोध किया। लेकिन स्टेनली एक अंग्रेज नागरिक था और वह चाहता था कि उसकी खोजों का लाभ ब्रिटेन को प्राप्त हो। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उसकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और तब निराश होकर उसने लियापाल्ड से बातचीत की और कुछ लोगों को साथ लेकर पुनः अफ्रीका के लिए रवाना हो गया। अफ्रीका पहुंचकर उसने कांगो प्रदेश के नीग्रो सरदारों को डरा धमकाकर अपने को यूरोपीयों को सौंप देने के लिए विवश किया। चार वर्ष के अंदर उसने लगभग चार सौ संधियां कीं और अफ्रीका का एक विशाल प्रदेश उसके हाथ में आ गया।

अब अन्य यूरोपीय राज्यों को लियोपाल्ड से ईर्ष्या होने लगी। ब्रिटेन और पुर्तगाल ने विशेष तौर से उसका विरोध किया और पुर्तगाल ने कांगो के विशाल प्रदेश पर अपना दावा करके उस पर अधिकार कर लिया। इन्हीं दिनों अनेक यूरोपीय राज्यों के दूत मध्य अफ्रीका में घूम रहे थे, नीग्रो सरदारों से संधियां करके बड़े-बड़े प्रदेश हस्तगत कर रहे थे और अपना प्रभाव क्षेत्र निर्धारित कर रहे थे। लियोपाड और पुर्तगाल की कार्रवाइयों से ब्रिटेन, फ्रांस तथा जर्मनी में काफी मनमुटाव भी पैदा हुआ। बाद में स्थिति बहुत जटिल हो गयी। इसको सुलझाने और अफ्रीका के बंटवारे के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा कुछ सामान्य सिद्धांतों का निर्धारण अत्यंत आवश्यक प्रतीत होने लगा।

बर्लिन सम्मेलन : 1884-85 बर्लिन में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमें स्विट्जरलैंड को छोड़कर सभी यूरोपीय राज्य तथा संयुक्त राज्य अमेरिका शामिल हुए थे। तीन महीने की बातचीत के बाद एक नियम तैयार हुआ और उस पर सभी के हस्ताक्षर हुए। इस सम्मेलन के सामने तीन प्रश्न थे— कांगों प्रदेश तथा नाइजर प्रदेश के विषय में निर्णय करना तथा उन शर्तों का निर्धारण करना जिनके अनुसार भविष्य में अन्य प्रदेशों पर उचित रीति से अधिकार किया जा सके। सम्मेलन ने अंतर्राष्ट्रीय अफ्रीकी सभा का कांगो नदी के प्रवाह-प्रदेश पर उसे फ्री स्टेट का नाम देकर अधिकार स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही उस प्रदेश का व्यापार सब राष्ट्रों के लिए खुला छोड़ दिया गया और कांगो नदी के यातायात पर एक अंतर्राष्ट्रीय कमीशन का नियंत्रण स्थापित किया गया। नाइजर नदी के प्रदेशों के लिए भी वैसी ही व्यवस्था की गयी। उस पर इंगलैंड तथा फ्रांस का संरक्षण स्वीकार कर लिया गया और नदी के यातायात के नियंत्रण में इंगलैंड को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हुए। तीसरी समस्या के विषय में यह निश्चित हुआ कि किसी प्रदेश पर सत्ता का अधिकार तभी स्वीकार किया जायगा जबकि उस पर उसका अधिकार वास्तविक होगा, केवल नाममात्र का नहीं, और इसके साथ ही यह भी आवश्यक होगा कि उसे अपने साम्राज्य में शामिल करने के पहले वह अन्य राष्ट्रों को उसकी सूचना दे।

कांगो का प्रदेश नाम के लिए तो अंतर्राष्ट्रीय राज्य था परंतु वह वास्तव में 1908 तक लियोपाल्ड का व्यक्तिगत राज्य बना रहा। परंतु जब व्यापारियों द्वारा अफ्रिकियों पर किये जाने वाले भयंकर अत्याचारों की सर्वत्र शिकायतें होने लगीं तो उसने अपना राज्य बेल्जियम की सरकार को सौंप दिया। इस प्रकार कांगो फ्री स्टेट का प्रदेश जो स्वयं बेल्जियम के क्षेत्रफल से दस गुना बड़ा था और रबर की दृष्टि से कांगो-प्रदेश का सर्वोत्तम भाग था, बेल्जियम का एक उपनिवेश बन गया।

अफ्रीका का बंटवारा : लियोपाल्ड ने अफ्रीका के कांगो-प्रदेश में जो उदाहरण उपस्थित किया उसका अनुकरण करने के लिए यूरोप के राज्य भी उतावले हो उठे। वे इस बात के लिए उत्सुक थे कि अफ्रीका के जितने भी प्रदेशों पर संभव हो, अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया जाय। बेल्जियम के कांगो-प्रदेशों के दक्षिण में स्थित अंगोला के बहुत बड़े भू-भाग पर पुर्तगाल ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। इटली की आंखें भी गड़ी हुई थीं। स्मरण रहे कि इटली साम्राज्यवाद की दौड़ में बहुत पीछे सम्मिलित हुआ था। इटली के ठीक सामने भूमध्यसागर के पार ट्यूनिस का प्रदेश था। इटली इसको हड़पना चाहता था, लेकिन फ्रांस भी इसी फिक्र में था। अंत में 1882 में फ्रांस ने इस पर कब्जा कर लिया और इटली देखता ही रह गया। इस पराजय से इटली के साम्राज्यवादी शासक निराश नहीं हुए। अफ्रीका एक विशाल महादेश था और उसके बहुत-से भू-भागों पर आसानी से आधिपत्य कायम किया जा सकता था। 1885 में इटली ने अबिसीनिया पर आक्रमण कर दिया, पर यहां उसको सफलता नहीं मिल सकी। आखिरकार 1893 में उसने इरीट्रिया और सोमालीलैंड पर अपना कब्जा जमा लिया। 1911 में ट्रिपोली का प्रदेश भी उसके कब्जे में आ गया।

अन्य राज्यों की तरह स्पेन भी इस दौड़ में सम्मिलित हुआ। अफ्रीका के उत्तर-पश्चिम तट पर उसका भी साम्राज्य स्थापित हुआ। 1884 में बिस्मार्क ने भी जर्मनी के लिए औपनिवेश साम्राज्य कायम करने का निर्णय किया। अफ्रीका के विभिन्न स्थानों पर जर्मनी के उपनिवेश कायम किये। केमरून, टोगोलैंड, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका और पूर्वी अफ्रीका के भू-भागों पर जर्मनी का आधिपत्य कायम हुआ।

अफ्रीका की लूट में फ्रांस और ब्रिटेन को सबसे अधिक लाभ हुआ। 1830 में फ्रांस ने अलजीरिया पर जबर्दस्ती अपना कब्जा जमा लिया था। कहा जाता है कि अलजीरिया के सुल्तान ने गुस्से में आकर फ्रांस के एक राजदूत को एक तमाचा जड़ दिया। फ्रांस इस राष्ट्रीय अपमान को सहने के लिए तैयार नहीं था। बदला लेने के लिए फ्रांस से एक सेना भेजी गयी और अलजीरिया पर अत्यंत सुगमता से फ्रांसीसी आधिपत्य कायम हो गया। यह अफ्रीका में फ्रांसीसी साम्राज्यवाद का सूत्रपात था। अलजीरिया के समीप में ट्यूनिस था। बहाना

लगाकर फ्रांस ने 1882 में इस पर भी अपना अधिकार जमा लिया। कहना न होगा कि अफ्रीका के इस प्रदेश पर इटली की आंखें भी बहुत दिनों से गड़ी हुई थीं। जव फ्रांस ने इस पर अपना आधिपत्य जमा लिया तो इटली को काफी निराशा हुई। वह फ्रांस का विरोधी बन गया और बिस्मार्क के गुट में शामिल हो गया।

पश्चिमी अफ्रीका में भी फ्रांस का साम्राज्य कायम हो रहा था। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर सेनेगल नामक एक प्रदेश 1637 से ही फ्रांस के अधीन में था। जब 1830 में अलजीरिया फ्रांस के अधीन में आ गया तो फ्रांस के साम्राज्यवादियों पर भूत सवार हुआ कि वे अलजीरिया तथा सेनेगल के बीच में सभी प्रदेशों पर अधिकार करके एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करें। इसी नीति को ख्याल में रखकर 1894 में फ्रांस ने तिम्बुकट नामक प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया। 1895 में मैडेगास्कर के सुविशाल द्वीप पर भी फ्रांस का झंडा फहराने लगा। 1912 आते-आते मोरक्को भी फ्रांसीसी कब्जे में आ गया।

अफ्रीका के शिकार में सबसे अधिक हिस्सा ब्रिटेन को मिला, पर उसका साम्राज्य आसानी से नहीं कायम हो सकता था। इस क्षेत्र में ब्रिटेन का असल प्रतिरोध दो शक्तियों से हुआ। दक्षिण अफ्रीका में डच किसान बोअरों ने और उत्तर में फ्रांस ने ब्रिटेन का कड़ा विरोध किया। इसके बावजूद ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की यह अभिलाषा थी कि केपकोलनी से लेकर काहिरा तक उनका साम्राज्य फैले। उनका यह स्वप्न अंत में पूरा भी हुआ।

बोअर समस्या : 1814 में ब्रिटेन को हालैंड का केपकोलनी मिल चुका था। जिस समय यह प्रदेश ब्रिटेन को मिला उस समय यहां पर डच लोग बहुत बड़ी संख्या में निवास करते थे। डच लोग किसान थे और वे बोअर कहलाते थे। वोअर लोग अपनी सभ्यता, परंपरा, भाषा, रीति-रिवाज का पालन करने में बड़े कट्टर परंपरावादी थे। किसी भी हालत में वे इनको छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त वे अफ्रीका के निग्रो-दासों से अपनी खेती कराते थे। जव केपकोलनी अंग्रेजों के हाथ में आया तो वे डच-परंपरा, संस्था, भाषा इत्यादि को मिटाकर अपनी सभ्यता-संस्कृति लादने की कोशिश करने लगे। इसके साथ-साथ अंग्रेजों ने दास-प्रथा का अंत करने का निर्णय किया। बोअर लोग ब्रिटिश सरकार के इन व्यवहारों से तंग आ गये। उन्होंने केपकोलनी को छोड़ देने का निश्चय किया। 1836 में वे अपना सारा माल असवाब लेकर उत्तर की ओर चल पड़े। जिस स्थान पर वे पहुँचे वह भयंकर जंगलों से भरा-पड़ा था। बोअरों ने इन जंगलों को साफ करके दो नये उपनिवेशों को बसाया। इन उपनिवेश का नाम—नैटाल और ओरेन्ज का स्वतंत्र राज्य रखा गया।

अंग्रेज लोग इन उपनिवेशों में भी बोअरों को शांतिपूर्वक नहीं रहने देना चाहते थे। नैटाल समुद्र तट पर स्थित था और अंग्रेज इस महत्वपूर्ण स्थान पर भी अपना ही झंडा फहराते देखना चाहते थे। 1841 में अंग्रेजों ने नैटाल पर चढ़ाई करके उसको जीत लिया। इसी साल ओरेन्ज का स्वतंत्र राज्य भी अंग्रेजों के कब्जे में आ गया।

बोअर लोग किसी भी हालत में अंग्रेजों के अधीन रहना नहीं चाहते थे। उनके सामने विकट समस्या थी। उन्होंने पुनः इन उपनिवेशों को छोड़ने का निश्चय किया और ट्रांसवाल नामक एक नया उपनिवेश कायम करके बस गये। यह उपनिवेश प्रारंभ में उतना महत्वपूर्ण नहीं था। अतः अंग्रेजों ने अब बोअरों को फिर से छेड़ने से कोई लाभ नहीं देखा। 1852 में अंग्रेजों और बोअरों में एक संधि हो गयी। दो वर्ष बाद ओरेन्ज का स्वतंत्र राज्य भी बोअरों को वापस मिल गया। इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका में चार उपनिवेश रह गये - दो अंग्रेजों के अधीन और दो डचों के अधीन। पर, यह स्थिति अधिक दिनों तक रहनेवाली नहीं थी। 1877 में डिजरैली ब्रिटेन का प्रधानमंत्री था। यह प्रबल साम्राज्यवादी था और बोआरों की स्वतंत्रता का अंत करने पर तुला हुआ था। ट्रांसवाल में मूल निवासी जूलू लोगों के खतरे का बहाना बनाकर 1837 में ब्रिटेन ने उस उपनिवेश पर हमला कर दिया। बोअरो ने अंग्रेजों का घोर विरोध किया। यह संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा। जब ग्लैडस्टोन के नेतृत्व में ब्रिटेन में लिबरल पार्टी का मंत्रिमंडल बना तो 1884 में अंग्रेजों और बोअरों के बीच संधि हो गयी।

इस संधि के कुछ ही दिनों के बाद पता चला कि ट्रांसवाल में सबसे बड़ी सोने की खानें हैं। इस कारण परिस्थिति बिल्कुल बदल गयी। सोने के लालच में इतने अंग्रेज ट्रांसवल में घुस गये कि उनकी संख्या डच-किसानों से भी अधिक हो गयी। अंग्रेजों की मांग थी कि नवागंतुकों को बोअर-सरकार के निर्माण में वोट देने का अधिकार मिले। बोअर लोगों को डर हुआ कि अगर वे अंग्रेजों की मांग स्वीकार कर लेते हैं तो अपने ही उपनिवेश में वे अल्पसंख्यक हो जायेंगे। अतः उन्होंने अनेक कानून इस प्रकार बनाये जिससे अंग्रेजों लोग आंदोलन करने लगे।

इस समय दक्षिण ब्रिटिश अफ्रीका का प्रधानमंत्री सेसिल रोड्स था। यह बहुत बड़ा साम्राज्यवादी था और दक्षिण अफ्रीका से बोअरों की शक्ति को नष्ट करने के लिए उपयुक्त अवसर की ताक में था। उसके इस अपवित्र मनसूबे में ब्रिटिश सरकार भी भीतर-ही-भीतर सहायता दे रही थी। इस समय ट्रांसवाल का राष्ट्रपति पाल क्रुगर था। अंग्ररेजों से उसकी घृणा बड़ी तीव्र थी और किसी दशा में वह अंग्रेजों की मांग की पूर्ति करने को तैयार नहीं था। दोनों तरफ से युद्ध की तैयार हो रही थी। ट्रांसवाल की सीमा पर ब्रिटिश सेना जमा होने लगी। 1899 में बोअर युद्ध प्रारंभ हो गया जो 1902 तक चलता रहा। इस युद्ध में बोअरों ने अपूर्व वीरता का प्रदर्शन किया। लेकिन रावर्टस तथा किचनर के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना के सामने वे अधिक दिनों तक टिक नहीं सके। बोअर किसानों को अंग्रेजों की शर्तें माननी पड़ीं। उनके दोनों प्रजातंत्र ब्रिटिश उपनिवेश बना लिए गये।

बोअर-युद्ध का प्रभाव केवल दक्षिणी अफ्रीका की राजनीति पर ही नहीं पड़ा, इसका प्रभाव यूरोपीय राजनीति पर भी पड़े बिना नहीं रह सका। सबसे पहले, बोअर-युद्ध के कारण ब्रिटेन और जर्मनी का परस्पर संबंध खराब हुआ। बोअर-युद्ध के समय जर्मनी के शासकों ने राष्ट्रपति पाल क्रुगर को एक बधाई का तार भेजा। इस पर अंग्रेज लोग काफी क्रुद्ध हुए। उनको यह शक हो गया कि जर्मनी अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए बोअरों का पक्ष ले रहा है। इस प्रकार आंग्ल-जर्मन संबंध को बिगाड़ने में बोअर-युद्ध का बहुत बड़ा हिस्सा था।

बोअर युद्ध के समय केवल जर्मनी में ब्रिटेन का विरोध नहीं थां। यूरोप के प्रायः सभी राज्य बोअरों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते थे। ब्रिटेन का साथ देनेवाला कोई नहीं था। बोअर युद्ध के समय ब्रिटेन को पहले-पहल 'शानदार पृथकता' की नीति का कटु अनुभव हुआ। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी स्थिति को मजबूत बनाये रखने के लिए ब्रिटेन को इस नीति का परित्याग कर देना आवश्यक था। अतः ब्रिटेन में इस नीति का परित्याग के लिए आंदोलन चल पड़ा। ब्रिटेन ने शीघ्र ही इस नीति का परित्याग करके 1902 में जापान के साथ और 1904 में फ्रांस के साथ समझौता कर लिया। अतः हम कह सकते हैं कि बीसवीं सदी के प्रारंभ में विश्व राजनीति में जो क्रांतिकारी परिवर्तन आये वे परोक्ष रूप से बोअर-युद्ध के भी परिणाम थे।

मिस्त्र में ब्रिटेन : अफ्रीका में ब्रिटिश राज्य-विस्तार को दूसरा बड़ा खतरा फ्रांसीसियों से था। मिस्त्र और सूडान के क्षेत्र में इन दोनों देशों के हित परस्पर टकराते थे। मिस्त्र में ब्रिटेन की दिलचस्पी होने का मुख्य कारण था स्वेज-नहर। 1869 में यह नहर द-लैस्सप नाम के एंक फ्रांसीसी इंजीनियर के प्रयास से बनी थी। स्वेज नहर के संचालन के लिए एक कंपनी की व्यवस्था की गयी। इस कंपनी में मुख्यतः फ्रांसीसियों तथा मिस्त्र के खरीव का हिस्सा था। नहर के बनने के बाद ब्रिटेन को इसके महत्व का पता चला। पूर्व के देशों तक पहुंचने के लिए स्वेज का मार्ग अत्यंत ही सुगम था। इस मार्ग का महत्व यह था कि जिस देश के हाथ में इसका नियंत्रण रहता उसके लिए एशिया पर अपना आधिपत्य कायम करना बहुत आसान काम हो जाता। पूर्व में ब्रिटेन का साम्राज्य दूर-दूर तक फैला था। उसकी रक्षा के लिए ब्रिटेन के लिए आवश्यक था कि वह इस महत्वपूर्ण जल-मार्ग पर अपना नियंत्रण स्थापित करे। अपनी इस कामना को पूर्ण करने के लिए ब्रिटेन को शीघ्र मौका मिल गया।

1876 की बात है। उस समय मिस्र का शासक, जिसको खदीव कहा जाता था, इस्माईल था। वह बहुत-ही फिजूलखर्ची था। इसके लिए बराबर ऋण लेता रहता था। लेकिन, जब इससे भी उसका काम नहीं चलता तो अपने स्वेज-नहर में अपने हिस्से को बेचने का निर्णय किया। उस समय ब्रिटेन का प्रधानमंत्री डिजरैली था। वह बहुत बड़ा साम्राज्यवादी था और ऐसे ही मौके की ताक में था। ज्योंही उसे ज्ञात हुआ कि स्वेज-नहर के हिस्से बिकनेवाले हैं, उसने अपनी जिम्मेवारी पर उन्हें खरीद लिया। अब स्वेज-नहर पर ब्रिटेन का अधिकार भी कायम हो गया। स्वेज-नहर में ब्रिटेन और फ्रांस साझी हो गये। लेकिन, स्वेज नहर का अपना हिस्सा बेच देने से ही मिस्र की आर्थिक स्थिति सुधर नहीं सकी। 1876 में मिस्र का आर्थिक दिवाला निकल गया। मिस्र को बहुतेरे देशों ने कर्ज दिये थे। आर्थिक दिवालियापन की स्थिति में खदीव ने इन कर्जों को रद्द कर देने का निर्णय किया। यह सुनकर मिस्र के सबसे पड़े कर्जदार ब्रिटेन और फ्रांस घबड़ा गये। इन दोनों ने मिलकर मिस्र की आर्थिक स्थिति की जांच-पड़ताल की और इसके बाद मिस्र के आर्थिक जीवन पर इन दोनों का संयुक्त नियंत्रण कायम हुआ। लेकिन, अधिक दिनों तक मिस्र पर यह द्वैध-शासन सफलतापूर्वक चल नहीं सका। यहां तक कि 1879 में खदीव इस्माईल को पदच्युत करने पर भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। इस्माईल के बाद तौफीक मिस्र का खदीव बनाया गया। मिस्र में विदेशियों का हस्तक्षेप बढ़ रहा था। मिस्र की जनता इसको सहने के लिए तैयार नहीं थी। अरबीपाशा के नेतृत्व में एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय आंदोलन उठ खड़ा हुआ। मिस्रियों का नारा था : "मिस्र-मिस्रियों के लिए है।" ब्रिटेन और फ्रांस इस विद्रोह से चिंतित हो रहे थे। उन्होंने एक साथ मिलकर इस विद्रोह को दबाने की योजना बनायी। लेकिन अंतिम क्षणों में फ्रांस ने अपवित्र कार्य में ब्रिटेन का साथ देने से इंकार कर दिया। ब्रिटेन ने तब अकेले ही अरबीपाशा का मुकाबला करने का निर्णय किया। 1882 के सितंबर में अरबीपाशा परास्त हुआ और मिस्र पर ब्रिटेन के आधिपत्य का रास्ता खुल गया।

अरबीपाशा की पराजय के बाद ब्रिटेन मिस्र के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को अपने साम्राज्यवादी लाभ को ध्यान में रखकर संगठित करने लगा। 1884 में लार्ड क्रोमर मिस्र में प्रधान ब्रिटिश राजदूत नियुक्त हुआ। उसके प्रयासों के फलस्वरूप मिस्र में ब्रिटेन का आधिपत्य स्थिर रूप से स्थापित हो गया। नाम के लिए तो अभी तक मिस्र का शासन वहां के खदीव के हाथ में था; लेकिन वास्तविक शासन-शक्ति ब्रिटेन के हाथ में ही थी। 1914 में मिस्र ब्रिटेन के उपनिवेश के समान हो गया।

यह आमतौर से स्वीकार किया जाता है कि जर्मन सरकार की सहानुभूतिपूर्ण रुख के कारण मिस्र में ब्रिटेन को इतनी सफलता मिली थी। उस समय बिस्मार्क जर्मन का कर्णधार था और वह ब्रिटेन का साम्राज्यवादी मार्ग में किसी प्रकार का बाधा पहुंचाना नहीं चाहता था। **लार्ड ग्रेनविल** ने जर्मनी के इस सहानुभूति रुख पर कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा था : "हम लोग बिस्मार्क के आभारी हैं। मिस्र में हमलोगों को जो सफलता प्राप्त हुई है उसमें जर्मन की मित्रतापूर्ण नीति से हमलोगों को काफी सफलता मिली है। हमलोग इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि अगर उस समय बिस्मार्क हमारे रास्ते पर रोड़े अटकाने का काम करता तो हमारी सारी योजनाएं असफल हो जातीं।" बिस्मार्क ब्रिटेन की इस असहाय स्थिति को समझता था। वह जानता था कि मिस्र में ब्रिटिश कार्रवाई को लेकर रूस और फ्रांस ब्रिटेन से काफी रुष्ट हैं। ऐसी स्थिति में अपनी मिस्र-संबंधी नीति पर ब्रिटेन एकमात्र जर्मनी की सहानुभूति पर निर्भर था। बिस्मार्क ब्रिटेन की इस लाचारी से लाभ उठाना चाहता था। जर्मन-सहानुभूति के बदले में वह ब्रिटेन से कुछ लेना चाहता था। बिस्मार्क, जो अभी तक जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य का कट्टर विरोधी था, अब नयी स्थिति में इसका समर्थक बन गया। उसको विश्वास था कि ब्रिटेन उसका विरोध नहीं करेगा। ऐसी परिस्थिति में जर्मनी का औपनिवेशिक जीवन प्रारंभ हुआ।

बिस्मार्क ब्रिटेन की सहानुभूति प्राप्त कर जर्मनी के लिए एक-दो उपनिवेश कायम करके ही संतुष्ट होने वाला व्यक्ति नहीं था। वह ब्रिटेन से बहुमूल्य चीज लेना चाहता था। वह यह आश्वासन प्राप्त कर लेना चाहता था कि यदि फ्रांस जर्मनी पर चढ़ाई कर दे तो वैसी स्थिति में ब्रिटेन जर्मनी की मदद करेगा। लेकिन ब्रिटेन

इतनी बड़ी कीमत चुकाने के लिए तैयार नहीं था। उसने ऐसा आश्वासन देने से इंकार कर दिया। इस पर बिस्मार्क भीतर-ही-भीतर काफी रंज हुआ। इसका बदला लेने के लिए वह फ्रांस को उकसाने लगा। औपनिवेशिक झगड़ों में बिस्मार्क फ्रांस को सहारा देना चाहता था। इसमें उसको दो लाभ थे। एक, वह फ्रांसीसियों को कृतज्ञ कर अपने पक्ष में कर सकता था और दूसरे, चुपचाप ब्रिटेन को साम्राज्यवादी नीति का विरोध भी हो जाता था।

सूडान और फसोदा कांड : उधर सूडान को लेकर ब्रिटेन और फ्रांस में तनाव बढ़ रहा था। फ्रांस मिस्र में ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत चिंतित था। जिस ढंग से ब्रिटिश सरकार ने स्वेज-नहर में हिस्सा प्राप्त कर लिया था, यह बात फ्रांस को बहुत खल रही थी। मिस्र में एक ब्रिटिश-सेना स्थापित हो चुकी थी। यह फ्रांस के लिए बहुत ही आपत्तिजनक बात थी, पर ब्रिटेन फ्रांस के हितों की परवाह नहीं करता था। फ्रांस उत्तरी अफ्रीका में पूरब से पश्चिम तक अपना साम्राज्य बनाना चाहता था और अंग्रेज उत्तर से दक्षिण तक अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसलिए सूडान पर, जो नील के दक्षिण भाग में पड़ता था, दोनों की आंखें गड़ी हुई थीं। इस भू-भाग पर पहले मिस्र का अधिकार था; किंतु 1880 में यह मिस्र के हाथ से निकलकर 'स्वतंत्र' हो गया था। 1882 में जब ब्रिटेन ने मिस्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया तो वह सूडान को भी अपने प्रभाव-क्षेत्र में सम्मिलित समझने लगा। अतएव वह सूडान में अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयास करने लगा। लेकिन, सूडान के निवासी विदेशी हस्तक्षेप से असंतुष्ट थे। उन्होंने मोहम्मद अहमद, जो अपने को 'मसीह' कहता था, के नेतृत्व में 1885 में एक विद्रोह प्रारंभ कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने उसको दबाने के लिए जो सेनाएं भेजीं वे परास्त हो गयीं। ब्रिटिश सेनापति जेनरल गोर्डन अपने संपूर्ण सैनिकों के साथ कत्ल कर दिया गया। गोर्डन की हत्या से सूडानी युद्ध ने बहुत ही गंभीर रूप धारण कर लिया। अंत में उसे परास्त करने के लिए लार्ड किचनर के नेतृत्व में एक शाक्तिशाली ब्रिटिश सेना सूडान भेजी गयी।

इस समय फ्रांस सूडान की समस्या को एक दूसरे दृष्टिकोण से देख रहा था। फ्रांस यह मानने को तैयार नहीं था कि सूडान एकमात्र ब्रिटेन का प्रभावक्षेत्र है। फ्रांस का कहना था कि जो शक्ति सूडान को पहले दबा सके उसी का उस पर अधिकार हो। उस समय साम्राज्यवादियों के बीच अफ्रीका के बंटवारे का एक विचित्र तरीका चल रहा था। जिस स्थान पर कोई यूरोपीय पहुंच जाता था और वहां अपने देश का झंडा गाड़ देता था, वह स्थान उस व्यक्ति के देश की अधीनता में चला जाता था। इसी सिद्धांत के आधार पर यात्रा करते हुए फ्रांस का मार्शा नामक एक यात्री 1897 में सूडान पहुंचा और वहां फसोदा नामक एक स्थान पर फ्रांस का झंडा फहरा दिया। अंग्रेजों ने इसका विरोध किया। उनकी दृष्टि में सूडान पर उनका ही एकमात्र अधिकार हो सकता था। इसी समय लार्ड किचनर सूडान का विद्रोह दबाने में व्यस्त था। उत्तर की तरफ से वह भी इस प्रदेश में प्रवेश कर रहा था। जब किचनर फसोदा पहुंचा तो उसने मार्शा को फ्रांसीसी झंडे को उतार देने का आग्रह किया। फ्रांस के लिए यह राष्ट्रीय अपमान था। दोनों के बीच युद्ध छिड़ने की स्थिति पैदा हो गयी, पर युद्ध छिड़ने से बच गया। फ्रांस ने अपनी सेना हटा ली और ब्रिटेन के लिए मैदान खाली हो गया। पीछे चलकर दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के द्वारा यह तय किया गया मिस्र और सूडान पर से फ्रांस अपना दावा छोड़ दे और मोरक्को में अंग्रेज लोग हस्तक्षेप नहीं करे। वहां फ्रांस को मनमानी करने का पूरा अधिकार प्राप्त हुआ। इस तरह फसोदा कांड का अंत हुआ।

फसोदा-कांड को लेकर ब्रिटेन और फ्रांस में युद्ध छिड़ सकता था। पर, फ्रांसीसी विदेश मंत्री देल्कासे के कारण यह संभावना उत्पन्न नहीं हुई और दोनों देशों के बीच युद्ध होने से बच गया। देल्कासे जर्मन का कट्टर विरोधी था। वह ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त करके जर्मनी से बदला लेना चाहता था। यूरोप में फ्रांस और जर्मनी के विद्वेष बढ़ रहे थे। जर्मनी की शक्ति भी बढ़ रही थी। इस दिशा में फ्रांस का हित इसी में था कि वह ब्रिटेन के साथ अपने झगड़े को नहीं बढ़ावे। ब्रिटेन के साथ मेलजोल करके जर्मनी के विरुद्ध जबर्दस्त मोर्चा कायम करने में ही फ्रांस का हित था। इसी से फसोदा-कांड के अवसर पर फ्रांस दब गया।

1899 में सूडान के प्रश्न पर ब्रिटेन और फ्रांस के बीच जो समझौता हुआ, वह फ्रांस के लिए बहुत हितकर सिद्ध हुआ। उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने के लिए उसका मार्ग अब एकदम साफ हो गया और कांगो से लेकर अलजीरिया तक उसका अबाधित शासन कायम हो गया। इसके अतिरिक्त यह समझौता भविष्य में दोनो देशों के बीच के अन्य समझौतों का एक आधार भी बन गया।

फसोदा कांड के कारण ब्रिटेन की विदेश-नीति में परिवर्तन होना भी जरूरी हो गया। जिस समय फसोदा को लेकर ब्रिटेन और फ्रांस के बीच युद्ध का छिड़ना संभव हो गया था उस समय ब्रिटेन को सहायता देनेवाला कोई भी देश नजर नहीं आ रहा था। कैजर ब्रिटेन की यह हालत देखकर काफी खुश था। वह दिल से चाहता था कि इन दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ जाय। कैजर की मनोकामना पूरी नहीं हो सकी। उधर ब्रिटेन को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने अकेलेपन की स्थिति का एक बार फिर कटु अनुभव हुआ। वहां के शासक पृथकता की नीति को छोड़ने के लिए तैयार हो गये।

इस तरह बिना कोई भयंकर युद्ध किये यूरोपीय राज्यों ने आपस में अफ्रीका का बंटवारा कर लिया। तथापि अफ्रीका के लिए यूरोपीय राज्यों में भयंकर संघर्ष नहीं हुए, फिर भी इसका यह मतलब नहीं है कि इन राज्यों के बीच आपस में तनातनी या मनमुटाव पैदा नहीं हुआ। अफ्रीका में साम्राज्य-विस्तार के क्रम में यूरोपीय शक्तियों के बीच खूब तनातनी बढ़ी। फसोदा-कांड उसका ज्वलंत उदाहरण है। लेकिन फसोदा-कांड ही साम्राज्य से संबंधित अंतिम अंतर्राष्ट्रीय संकट नहीं था, इसके बाद भी यह समस्या उबलती रही और 1906 में विश्व के सामने मोरक्को और 1911 में अगादीर कांड उपस्थित हो गया जिनके कारण यूरोपीय शांति खतरे में पड़ गयी।

अध्याय 11

अफ्रीका में साम्राज्यवादी संकट : अगादीर संकट
(The Agadir Crisis)

अलजिसरास का समझौता : अफ्रीका में उन्नीसवीं सदी का सबसे भयानक साम्राज्यवादी संकट 1897 का फसोदा-कांड था। इस कांड के कारण ब्रिटेन और फ्रांस दोनों में युद्ध छिड़ने की पूर्ण संभावना थी। लेकिन सौभाग्यवश ऐसा नहीं हो सका और दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार मिस्र और सूडान में ब्रिटेन का तथा मोरक्को में फ्रांस का प्रभाव-क्षेत्र कायम हुआ। इसके बाद 1904 में दोनों देशों ने विधिवत समझौता करके मिस्र और मोरक्को की इस व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया। जर्मनी इस व्यवस्था को विशेषकर मोरक्को से संबंधित समझौता को मानने के लिए तैयार नहीं था। उसने इसका विरोध किया। इस विरोध के परिणामस्वरुप 1905-1906 में एक बवंडर उठ खड़ा हुआ जिसको मोरक्को कांड कहते हैं। यहां पर यह दुहरा देना आवश्यक है कि अलजिसरास-सम्मेलन (1906) के द्वारा यह तय हुआ था कि राजनीतिक दृष्टि से मोरक्को स्वतंत्र रहे परंतु उसके आर्थिक विषयों का संचालन अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अंतर्गत एक बैंक के हाथ में रखा गया। मोरक्को में 'उन्मुक्त द्वार' (open door) की नीति को पुन: दुहराया गया, जिससे सब राष्ट्रों को उस छोटे से देश में समान रूप से व्यापार करने का मौका मिले। इसके अतिरिक्त मोरक्को में शांति और व्यवस्था कायम रखने के लिए फ्रांस और स्पेन के अधीन एक विदेशी पुलिस-सेना का भी इंतजाम किया था कि उसने मोरक्को का दरवाजा फ्रांस के लिए बंद कर दिया है। लेकिन बूलो को एक बड़ा भ्रम हुआ। सम्मेलन का निर्णय अनेक दोष और त्रुटियों से भरा पड़ा था और मोरक्को में अपना अधिकार बढ़ाने के लिए फ्रांस को अनेक अवसर थे और फ्रांस किसी अवसर को चुकने के लिए तैयार नहीं था।

1909 का समझौता : इन कारणों से अलजिसरास-सम्मेलन के बाद न तो फ्रांस और जर्मनी के संबंधों में सुधार हुआ और न मोरक्को की आंतरिक स्थिति में ही। मोरक्को में फ्रांस-विरोधी आंदोलन जड़ पकड़ रहा था। दिन-दहाड़े फ्रांसीसी कर्मचारियों की हत्या एक साधारण बात हो गयी। 1907 से टैंजीयर में एक फ्रांसीसी अफसर पर गोली चलायी गयी और मारकेश में एक फ्रांसीसी डॉक्टर की हत्या कर दी गयी। इस पर फ्रांस ने मोरक्को के उजदा नामक नगर पर तबतक के लिए अधिकार कर लिया जबतक इस हत्या की क्षतिपूर्ति नहीं हो गयी। इस वर्ष कैसाब्लैंका के बंदरगाह के निर्माण कार्य में लगे हुए कुछ नाविकों को मार डाला गया। इसके विरोध में फ्रांस ने आसपास के भू-भागों पर अधिकार कर लिया। वस्तुतः फ्रांस मोरक्को में अपनी स्थिति मजबूत करने पर तुला हुआ था। उसी समय मोरक्को में सुल्तान अब्दुल अजीज के विरुद्ध एक मुलाई हाफिज के नेतृत्व में विद्रोह का झंडा खड़ा हुआ। यह विद्रोह इतना भयानक हो गया कि अब्दुल अजीज को सिंहासनच्युत होना पड़ा और मुलाई हाफिज मोरक्को का सुल्तान बन बैठा।

जिस समय मोरक्को की राजधानी में सुल्तान-परिवर्तन का यह नाटक खेला जा रहा था, उस समय एक दूसरे नगर कैसाब्लैंका में एक ऐसी घटना घटी, जिसको लेकर यूरोपीय शांति का भविष्य कुछ दिनों के लिए खतरे में पड़ गया। 25 सितंबर, 1908 के दिन फ्रांसीसी दूतावास के कुछ सैनिक कैसाब्लैंका स्थित जर्मन वाणिज्य-दूत (Consul) के बहकाने पर भाग खड़े हुए। जिस नाव पर चढ़कर वे जा रहे थे वह पकड़ ली गयी।

उसमें तीन जर्मन भी सम्मिलित थे, जो फ्रांस सरकार की नौकरी में थे। जर्मन वाणिज्य दूत ने तीनों जर्मनों को लौटाए जाने की मांग की। फ्रांस ने इंकार कर दिया। दोनों तरफ से 'वाक्य युद्ध' प्रारंभ हुआ और बातें बढ़ने लगीं। लेकिन, अंत में दोनों देशों के विदेश मंत्रालयों में सुबुद्धि आयी और इस झगड़े का फैसला एक पंचायत पर छोड़ दिया गया। पंचायत के निर्णय के आधार पर 9 फरवरी, 1909 को दोनों देशों के बीच मोरक्को पर एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार दोनों देशों ने मोरक्को की प्रादेशिक अखंडता और स्वाधीनता को बनाये रखने का वादा किया। मोरक्को में आर्थिक समानता के सिद्धांत को मान लिया गया। जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस के विशिष्ट राजनीतिक स्वार्थ को मान लिया। इसके बदले में फ्रांस ने वादा किया कि मोरक्को में जर्मनी के व्यापारिक स्वार्थों में वह किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करेगा।

जर्मनी और फ्रांस के बीच इस समझौता का स्वागत दोनों देशों में हुआ। इस समझौता को लाने में बर्लिन स्थित फ्रांसीसी राजदूत का बड़ा हाथ था। कैजर ने खुश होकर जर्मन साम्राज्य की सबसे बड़ी उपाधि से उसको विभूषित किया। जर्मन सरकार के उच्च पदाधिकारी, जैसे चांसलर बेथमान हौलवेग तथा विदेश सचिव पीशों ने इस समझौते का हार्दिक स्वागत किया। इस समझौते से ऐसा प्रतीत होता था कि फ्रांस और जर्मनी के संबंधों में गहरा परिवर्तन आ गया है। लेकिन, ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक रहनेवाली नहीं थी। फ्रांस और जर्मनी के बीच फिर मतभेद उत्पन्न होने लगे।

अगादीर संकट : फ्रांस और मोरक्को का संबंध भी निरंतर खराब हो रहा था। मोरक्को पर फ्रांस का शिकंजा दिन-प्रतिदिन दृढ़ हो रहा था। शांति और व्यवस्था कायम रखने के बहाने फ्रांसीसी पुलिस मोरक्को के विभिन्न नगरों पर कब्जा करती जाती थी। सुल्तान पूर्णतया फ्रांस के काबू में था। इसके विरुद्ध समस्त मोरक्को में विद्रोह की आग भड़क रही थी। मोरक्को के देशभक्तों ने हिंसा का सहारा लिया। यूरोपियों के जान-माल खतरे में पड़ गये। संपूर्ण मोरक्को में अराजकता छा गयी। सबसे बड़ा विद्रोह 1911 में फेज में हुआ। यह कहना कठिन है कि मोरक्को में यूरोपियनों के जान-माल कहां तक खतरे में थे। लेकिन, फ्रांस मोरक्को पर पूर्ण अधिकार जमाने के लिए बहाना ढूंढ रहा था। यहां पर एक बात बतला देना आवश्यक है कि जर्मनी का कट्टर विरोधी देल्कासे इस समय फिर फ्रांसीसी मंत्रिमंडल में चला आया था। वह जर्मनी के प्रति कड़ी नीति का समर्थक था। यद्यपि इस समय वह फ्रांस का विदेश मंत्री नहीं था, तो भी मंत्रिमंडल का सदस्य होने के नाते सरकार की नीति को वह अच्छी तरह प्रभावित कर सकता था। जर्मनी के लोगों को संदेह था कि उसने फ्रांस की मोरक्को संबंधी नीति को काफी प्रभावित किया है। जो भी हो, विद्रोह के बाद फेज पर अधिकार जमाने के लिए फ्रांस से एक बहुत बड़ी सेना रवाना की गयी और फेज पर फ्रांसीसी अधिकार कायम हो गया। फ्रांस की इस गतिविधि को जर्मनी बड़ी चिंता की दृष्टि से देख रहा था। जर्मनी को मोरक्को संबंधी नीति का निर्धारक किडरलेन ऐसे मौके पर चुप बैठा नहीं रह सकता था। उसने घोषणा की कि फेज पर फ्रांसीसी कब्जा 1906 के फैसले के खिलाफ है। अलजिसरास सम्मेलन का निर्णय अब लागू नहीं है और मोरक्को में अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए जर्मनी कोई कार्रवाई करने में स्वतंत्र है। उसने कैजर को कहा कि फ्रांस अपने नागरिकों की रक्षा का बहाना बनाकर मोरक्को में सेना भेजकर एक-एक नगर पर धीरे-धीरे अपना अधिकार बढ़ा रहा है। मोरक्को के मोगादोर और अगादीर नामक नगरों में कुछ जर्मन नागरिक निवास करते थे। उनकी रक्षा के लिए जर्मनी को भी एक जहाजी बेड़ा भेजना चाहिए। किडरलेन (Alfred Von kiderlen) ने इस विषय पर एक स्मरणीय पत्र (memorandum) तैयार किया जो इस प्रकार था —

"तीन वर्षों में यह स्पष्ट हो गया है कि अलजिसरास के समझौता में परिकल्पित मोरक्को की स्वतंत्रता वहां के निवासियों के विरुद्ध एवं फ्रांस तथा स्पेन के साम्राज्यवादी दबाव के कारण कायम नहीं रह सकती। देर-सवेर मोरक्को को इन दोनों पड़ोसियों (फ्रांस और स्पेन) द्वारा आत्मघात होना ही है। फेज की रक्षा के लिए फ्रांसीसी आतुर हैं तथा वहां अपनी सेना भेजना चाहते हैं। ऐसा करने का उन्हें अधिकार है, पर यदि वे फे

तक बढ़ जाते हैं तो यह शायद ही संभव दीखता है वे वहां से कभी हटेंगे भी। फ्रांसीसी जनमत फेज से हटने की स्वीकृति दे सकती है; लेकिन मोरक्को के निवासी इसे दुर्बलता का चिह्न समझेंगे। इसके फलस्वरूप वहां नये विद्रोह होंगे और तब फ्रांस का हस्तक्षेप बढ़ता जायगा। संकेत यही है कि मोरक्को अपनी स्वतंत्रता कायम नहीं रख सकता। जर्मनी को यह वस्तु-स्थिति समझनी होगी और अपनी नीति पुनर्निर्धारित करनी होगी। ...... हम ऐसा रुख अपनाने के लिए तैयार हो जायें जिसके फलस्वरूप फ्रांसीसी हमें मुआवजा देने को उद्यत हो जायें। फ्रांसीसी जैसे अपने नागरिकों की रक्षा फेज में करते हैं हम मोगादोर और अगादीर में अपने नागरिकों के लिए वैसा ही शांतिपूर्ण ढंग से अपने जहाज वहां स्थित करके कर सकते हैं। तदुपरांत हम इसकी प्रतीक्षा करेंगे कि फ्रांसीसी हमें मुआवजा देते हैं या नहीं। यदि हमें कुछ मिलता है तो पिछड़ी गलतियों का परिशोधन हो जायगा।"

किडरलेन के इस प्रस्ताव से कैजर सहमत हो गया। उग्र राष्ट्रवादी जर्मन समाचार पत्र मुआवजा या मोरक्को के विभाजन की मांग करने लगे। जून के मध्य में फ्रांसीसियों ने जर्मन अधिकारियों को सूचित किया कि वे मुआवजा देने के प्रश्न पर बातचीत करने को तैयार हैं। किडरलेन ने जर्मनी के लिए संपूर्ण कांगो की मांग करना चाहता था। लेकिन वह जबतक यह मांग सार्वजनिक रूप से नहीं करना चाहता था जबतक ज़र्मनी का जहाजी बेड़ा अगादीर न पहुंच जाय। वह फ्रांसीसियों को पहले भयभीत कर देना चाहता था ताकि संपूर्ण मोरक्को फ्रांस के लिए छोड़ देने के बदले जर्मनी को उपयुक्त मुआवजा मिल जाय।

पैंथर : जर्मनी का 'पैंथर' (Panther) नामक एक जंगी जहाज दक्षिण अफ्रीका से लौट रहा था। किडरलेन ने इसके संचालक को आज्ञा भिजवा दी कि वह अगादीर के बंदरगाह पर अनिश्चित काल तक के लिए लंगर डाले। इसके बाद किडरलेन ने घोषणा की कि "मोरक्को में फैले हुए आंदोलन से जर्मनी के व्यापक स्वार्थों को खतरा पैदा हो गया है। इसके अतिरिक्त जर्मनी की जनता इस बात को अधिक समय तक सहने को तैयार नहीं है कि उनकी सरकार ऐसे अवसर पर चुपचाप बैठे रहे, जब फ्रांस की कार्यवाही से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह अलजिसरास समझौतां की मर्यादाओं को पालन करने को तैयार नहीं है। 'पैंथर' को अगादीर इसलिए भेजा गया है कि वह मोरक्को में जर्मनी के स्वार्थों की रक्षा कर सके। ज्योंही स्थिति शांत और साधारण हो जायगी, जहाज को वहां से हटा लिया जायगा।" लेकिन अगादीर में जर्मनी का यह उद्देश्य नहीं था। फ्रांस ने फेज पर अधिकार कर लिया है। इसके बदले में जर्मनी को कुछ मिलना चाहिए। वास्तव में किडरलेन फ्रांस को डरा-धमकाकर फेज के बदले में संपूर्ण फ्रांसीसी कांगो हड़पने की चाल चल रहा था। अगर किडरलेन का ऐसा उद्देश्य था तो उसको इसके विषय में फ्रांसीसी सरकार को साफ-साफ कह देना चाहिए था लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। किसी को विश्वास नहीं हुआ कि अगादीर में 'पैंथर' जर्मन व्यवसायियों के जान-माल की रक्षा के लिए है; क्योंकि अगादीर में कोई विशेष जर्मन आबादी नहीं थी।

फ्रांसीसी जर्मन वार्तालाप : इसमें कोई शक नहीं कि फेज पर आधिपत्य जमाकर फ्रांस ने अलजिसरास सम्मेलन के निर्णय को भंग किया था। अतः जर्मनी ने जब कड़ा रुख अपनाया तो फ्रांस मोरक्को में जर्मनी की क्षति पूर्ति के लिए तैयार हो गया। दोनों देशों में बातचीत होने लगी। 9 जुलाई, 1911 को यह बातचीत शुरू हुई और अगले चार महीने तक चलती रही। यह बातचीत ऐसी तनातनी की स्थिति में चल रही थी कि किसी निर्णय पर पहुंचना असंभव था। दोनों देशों के समाचार पत्र एक-दूसरे पर आग उगल रहे थे। युद्ध का वातावरण तैयार हो रहा था। किडरलेन ने मुआवजे के रूप में समूचे फ्रांसीसी कांगो की मांग की। इस पर फ्रांसीसी राजदूत जुल्स कैम्बो ने उत्तर दिया कि इसके लिए उसको अपनी सरकार से विचार विमर्श करना होगा। लेकिन फ्रांस की ओर से तत्काल कोई उत्तर नहीं आया। इस विलंब पर झुंझलाकर कैजर ने कहा : "चार सप्ताह गुजर गये और यह नाटक समाप्त नहीं हुआ। यह एक अजीब नाटक है-बातें, बातें और बातें तथा परिणाम कुछ नहीं ? इधर हम बहुमूल्य समय नष्ट कर रहे हैं।"

15 जुलाई को राजदूत कैम्बो फिर किडरलेन से मिलने आया। इस अवसर पर स्पष्ट शब्दों में किडरलेन ने संपूर्ण कांगो की मांग की। लेकिन कैम्बो ने बतलाया कि यह संभव नहीं हो सकता है; केवल उसका कुछ भाग दिया जा सकता है वह भी इस शर्त पर कि जर्मनी अपने किसी उपनिवेश का कोई भाग फ्रांस को दे दे। इस पर किडरलेन बहुत क्षुब्ध हुआ और तुरंत इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि "संतोषजनक परिणाम के लिए बहुत ही कठोर रवैया अपनाना पड़ेगा।"

ब्रिटिश प्रतिक्रिया : 'पैंथर' अचानक अगादीर पहुंच जाने के समाचार से फ्रांसीसी सरकार की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार को अधिक क्रोध और आश्चर्य हुआ। ब्रिटिश विदेश मंत्री सर एडवर्ड ग्रे को संदेह हुआ कि मुआवजा के नाम पर जर्मन सरकार अटलांटिक महासागर के तट पर जहाजी अड्डा बनाने का प्रयास कर रही है। ब्रिटिश सरकार किसी भी कीमत पर मोरक्को में जर्मनी को एक समुद्री अड्डा प्राप्त करने देना नहीं चाहती थी। सर ग्रे के विचार में फेज में फ्रांसीसी सेना का भेजा जाना बिल्कुल न्यायसंगत था। लेकिन, 'पैंथर' की यात्रा उनकी समझ में ऐसा 'आक्रमणकारी कार्य' था जिसके लिए किसी प्रकार की उत्तेजना प्रस्तुत नहीं की गयी थी। उन्होंने कहा—''पैंथर के भेजे जाने से एक गंभीर स्थिति उत्पन्न हो गयी है। हमारे लिए फ्रांस के प्रति संधि से उत्पन्न होने वाले उत्तरदायित्वों और मोरक्को में अपने स्वार्थों को ध्यान में रखना आवश्यक है।" 'पैंथर' के भेजे जाने से ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि इस पर विचार करने के लिए शीघ्र ही ब्रिटिश मंत्रिमंडल की एक आवश्यक बैठक हुई, जहां पर बात कर ली गयी कि इस संबंध में ब्रिटिश सरकार कौन सी नीति अपनायेगी। 4 जुलाई को सर एडवर्ड ग्रे ने जर्मनी को चेतावनी दी कि "अगादीर में 'पैंथर' भेजने से एक नयी स्थिति उत्पन्न हो गयी है। ब्रिटिश हितों पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ने की आशंका है। अतः ऐसे किसी समझौते की, जो हमारी जानकारी या सहमति के नहीं किया गया है, हम मानने को बाध्य नहीं होंगे।" यदि ब्रिटिश सरकार को यह अवगत करा दिया गया रहता कि जर्मनी का वास्तविक उद्देश्य कांगो को प्राप्त करना था, न कि अटलान्तिक तट पर जहाजी अड्डा कायम करना, तो शायद वह उतना परेशान नहीं होती। उसको आश्वस्त नहीं करके किडरलेन ने एक भयंकर गलती की थी। लेकिन उनका यह विचार था कि फ्रांस और जर्मनी की वार्ता में किसी तीसरे पक्ष को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

किंडरलेन ने जब "पैंथर" भेजने का निर्णय किया था तो उस समय वह यह नहीं समझ पाया था कि इससे उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों से ब्रिटिश सरकार इतना क्रोधित हो जायेगी। लेकिन ब्रिटेन ने इसका घोर विरोध किया। 1905-6 के मोरक्को-कांड में केवल जर्मनी और फ्रांस ही दो प्रतिपक्षी थे। धीरे-धीरे उस कांड ने ऐसा प्रचंड रूप धारण कर लिया जिससे यूरोप के सभी राज्य इसमें फंस गये। ब्रिटेन और फ्रांस में उस समय हाल ही में समझौता हुआ था। मोरक्को कांड उस समझौते की अग्नि-परीक्षा थी और आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता इस परीक्षा से और अधिक मजबूत होकर निकला। ठीक उसी तरह अगादीर-कांड भी ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के त्रिगुट की अग्नि-परीक्षा थी और इस परीक्षा से भी वह त्रिगुट और अधिक मजबूत होकर निकला। जर्मनी की विदेश-नीति से उसके दुश्मनों का गुट सुसंगठित होने लगा।

अगादीर का संकट बहुत दिनों तक यूरोपीय राजनीतिक के नभमंडल पर बादल की तरह छाता रहा। इसके अंत होने का कोई आसार नहीं दीखता था। बर्लिन और पेरिस के बीच मुकाबला के प्रश्न पर अभी भी मोल-तोल चल रहा था। जर्मनी समूचे फ्रांसीसी कांगो पर दावा किये हुए था। फ्रांस इस मांग की पूर्ति के लिए तैयार नहीं था। ऐसा प्रतीत होता था कि वार्तालाप अचानक टूट जायगा और दोनों देश अपने झगड़े के फैसले का भार युद्ध-देवता पर छोड़ देंगे। लेकिन अगादीर ऐसा कांड था, जिसको ब्रिटिश सरकार चुपचाप बैठे देखना नहीं चाहती थी। बर्लिन-वार्तालाप से कोई निष्कर्ष नहीं निकल रहा था। 21 जुलाई को सर एडवर्ड ग्रे ने जर्मन राजदूत को बातचीत के लिए बुलाया। उसने राजदूत से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि ब्रिटिश सरकार मोरक्को में जर्मनी सरकार की हरकतों को सहने के लिए तैयार नहीं है। बर्लिन बातचीत की असफलता से

एक जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है और इसके लिए जर्मन सरकार ही जिम्मेवार होगी। सर ग्रे के इन गंभीर विचारों का कोई भी संतोषजनक जवाब जर्मन-राजदूत से नहीं मिला। तब सर ग्रे ने इस दिशा में कुछ ठीक काम करने का फैसला किया।

मैन्सन हाउस का भाषण : उस समय ब्रिटेन के उदारदलीय मंत्रिमंडल में डेविड लायड जार्ज वित्तमंत्री था। इस मंत्रिमंडल में वही एक ऐसा सदस्य था, जिसको जर्मनी के शासक जर्मन समर्थक समझते थे। मंत्रिमंडल की सहमति से उसने लंदन के सुप्रसिद्ध मैंशन-भवन में एक भाषण दिया। उसने जर्मनी को चेतावनी देते हुए कहा : "मैं मानता हूं कि हमारे देश की दृष्टि से ही नहीं; परंतु सारे संसार के हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि ब्रिटेन सभी प्रकार के खतरों को उठाकर भी संसार बड़े राष्ट्रों में अपना स्थान और प्रतिष्ठा बनाये रखे। हम शांति बनाये रखने के बहुत कड़े समर्थक हैं। पर, यदि हमपर एक ऐसी स्थिति लाद दी जाय जिससे शांति को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक हो जाय कि ब्रिटेन को अपना महान और उपयोगी स्थान छोड़ना पड़े जो उसने सदियों की वीरता और विजयों से प्राप्त किया है; जिसमें ब्रिटेन के साथ उन प्रदेशों से जहां उसके अपने महत्वपूर्ण स्वार्थ हैं, वहां इस प्रकार का व्यवहार करने की अनुमति दे दी जाय, जिसके परिणामस्वरुप राष्ट्रों की मंडली में ब्रिटेन का कोई स्थान ही नहीं रह जाय तो मैं जोर के साथ कहूंगा कि इस कीमत पर शांति बनाये रखना एक ऐसा असहनीय अपमान होगा जिसको हमारे जैसा महान देश कभी भी बर्दाश्त नहीं करेगा।"

लार्ड जार्ज के मुख से इस प्रकार के उत्तेजित शब्द निकलने से संपूर्ण जर्मनी में सनसनी फैल गयी। जर्मनी की जनता ने इस भाषण में खतरे की घंटी की आवाज सुनी और उन्हें ऐसा लगा कि मानों यह ब्रिटेन द्वारा युद्ध घोषणा का शंखनाद किया जा रहा है। उनकी दृष्टि में यह उस बात का पक्का सबूत था कि ब्रिटेन जर्मनी को औपनिवेशिक और व्यापारिक महत्वाकांक्षाओं को कुचल देना चाहता है। जर्मनी उग्रराष्ट्रवादी क्रोध से उबल पड़े और मैक्सीलियन हार्डेन ने कर्कश ध्वनि में मांग की कि इस असहनीय अपमान के प्रत्युत्तर में युद्ध की घोषणा कर देनी चाहिए। अगादीर-संकट अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था।

इसमें कोई शक नहीं कि मैंशन-भवन के भाषण में कूटनीतिक औचित्य की कमी थी और ब्रिटेन जैसे प्रौढ़ देश के लिए यह शोभा नहीं दे रहा था कि काल्पनिक भय से वह जर्मनी जैसे महान राष्ट्र को इस तरह धमकी दे। लेकिन, लायड जार्ज का भाषण असामयिक नहीं था। जिस उद्देश्य से यह भाषण दिया गया था पूरा हो गया। यूरोपीय राजनीति का नभमंडल, जो युद्ध के काले बादलों से आच्छादित था, फट गया। इसके परिणामस्वरुप जर्मनी को अपने मुआवजा की मांग में काफी परिवर्तन करना पड़ा। जर्मनी के शासकों को यह भय था कि संपूर्ण ब्रिटिश मंत्रिमंडल में सर ग्रे ही जर्मन समर्थक हैं। यह भ्रम अब जाता रहा। इसके साथ-साथ उनके इस भय का भी सदा के लिए अंत हो गया कि अगर जर्मनी उस विदेश-नीति को अपनाये तो आंग्ल-फ्रांसीसी मित्रता टूट जायगी। मैंशन-भवन के भाषण से अगादीर-संकट का अंत शीघ्र ही नहीं हो गया। बहुत दिनों तक इसको तय करने के लिए वार्तालाप जारी रहा। इसका तत्कालीन लाभ केवल यही हुआ कि एक यूरोपीय युद्ध का भय कुछ देर के लिए टल गया।

समझौता : 4 नवंबर, 1911 के दिन फ्रांस और जर्मनी के बीच मोरक्को की समस्या पर एक तीसरा समझौता हुआ। इस समझौता के अनुसार जर्मनी ने फ्रांस को मोरक्को में अपनी संरक्षता कायम करने की छूट दे दी। इसके बदले में जर्मनी को फ्रांसीसी कांगो का 100,000 वर्गमील हाथ लगा। फ्रांस को मोरक्को में अब स्वच्छंदता प्राप्त हो गयी। 1912 में फेज की संधि के अनुसार मोरक्को के सुल्तान ने फ्रांस की संरक्षणता स्वीकार कर ली। वस्तुतः यह समझौता फ्रांस के लिए एक विजय थी। इस बात को फ्रांस के प्रधानमंत्री मो० कैलोक्स ने भी स्वीकार किया था लेकिन जर्मनी में इस संधि का स्वागत नहीं हुआ। जर्मन-उपनिवेश मंत्री लिंडेक्विस्व्व ने तो विरोध में अपना त्यागपत्र दे दिया। इस संधि के बाद संतोष की भावना जितनी गहरी और

व्यापक लंदन में थी उतनी और कहीं नहीं। प्रधानमंत्री एसक्विथ ने अंग्रेजों की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा— "मो० कैलोक्स से कहिए कि वे बर्लिन में, लार्ड वैकन्सफील्ड की तरह प्रतिष्ठा और शांति दोनों साथ लेकर लौटे हैं।"

प्रोफेसर ब्रेन्डेनवर्ग के अनुसार अगादीर-काड ज़र्मन विदेशी नीति की महान बेवकूफी थी। बूलो के अनुसार भी आगादीर कांड जर्मनी के लिए एक 'शोचनीय' घटना थी। बूलो तथा प्रो० ब्रेन्डेनवर्ग के इन विचारों से सभी सहमत हैं। अगादीर-कांड का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम आंग्ल-फ्रांसीसी मित्रता को सुदृढ़ करना था। अगादीर-संकट के समय जवतक जर्मनी से वार्तालाप चलता रहा, ब्रिटेन अपने मित्र को हर प्रकार से सहायता देता रहा। संकट टल जाने के बाद अंग्रेज लोगों ने पहले-पहल यह अनुभव किया कि जर्मनी के साथ औपनिवेशिक मामलों पर उनकी लड़ाई भी हो सकती है। 1904 के बाद से ही फ्रांस और ब्रिटेन के सैनिक अधिकारियों के बीच सुरक्षा-संबंधी विषयों पर बातचीत चल रही थी। उधर आंग्ल-जर्मन नाविक प्रतिस्पर्धा चल रहा था। इन सैनिक अधिकारियों ने अब यह सोचना प्रारंभ किया कि दूसरी बार जर्मनी में युद्ध छिड़ सकता है। अतः इसका मुकाबला करने के लिए वे अब व्यावहारिक योजना बनाने लगे। जर्मनी की गलती से ब्रिटेन और फ्रांस की मित्रता और भी पुष्ट होने लगी।

अगादीर-कांड के कारण आंग्ल-जर्मन-संबंध, जो इस समय नाविक प्रतिस्पर्धा के कारण अत्यंत खराब हो चुका था, और भी खराब हो गया। जर्मनी में ब्रिटेन के खिलाफ घृणा की भावना पैदा हो रही थी। जर्मन अनुदार दल के नेता हेडेब्रांड ने क्रोध में जलते हुए कहा-"अब हम यह बात जान गये हैं कि कौन सा देश है, जो अपने विश्वव्यापी स्वार्थों के नाम पर हमारे उन सब प्रयासों का विरोध करता है जिसके द्वारा हम संसार में अपने लिए उपयुक्त स्थान की प्राप्ति की कोशिश करते हैं। अंधेरे में बिजली के प्रकाश के समान अब सारी बातें स्पष्ट हो गयी हैं। हम बार-बार झुक जाने की नीति के द्वारा नहीं, परंतु जर्मन तलवार के द्वारा शांति प्राप्त करेंगे।" स्पष्ट है कि यह संकेत ब्रिटेन की तरफ था। अगीदार कांड विश्वयुद्ध के पूर्व अंतर्राष्ट्रीय संबंध को बिगाड़ने के क्रम में एक महत्वपूर्ण घटना थी।

ट्रिपोली का युद्ध : इटली द्वारा ट्रिपोली का अनुबंधन (annexation) अगादीर-कांड का एक दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम था। एक लंबे अर्से से इटली अपनी ललचाई हुई दृष्टि अफ्रीका के समुद्री तट पर गड़ाये हुए था। वह ट्रिपोली को अपने आधिपत्य में लेना चाहता था। अगादीर-कांड के समय इटली के शासक इस निष्कर्ष पर पहुंच गये कि 'ट्रिपोली को मिलाने का समय अब समीप आ गया है।' 29 सितंबर, 1911 के दिन इटली ने ट्रिपोली के प्रश्न को लेकर तुर्की पर युद्ध की घोषणा कर दी। किसी ने इसका विरोध नहीं किया। हाल ही में बोस्निया पर आस्ट्रिया ने आधिपत्य कायम किया था और ब्रिटिश सरकार ने कड़े शब्दों में इसकी भर्त्सना की थी। लेकिन, इस बार सर एडवर्ड ग्रे चुप रहे। इटली के विरुद्ध उनके मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। जब जर्जर तुर्की को किसी तरफ से सहायता नहीं मिली तो उसका हारना अवश्यंभावी ही था। अक्टूबर, 1912 में ट्रिपोली-युद्ध का अंत हुआ और उसके बाद यह छोटा-सा देश इटली के साम्राज्य का एक अंग बन गया। इटली की अधीनता में इसका नाम परिवर्तित करके लीबिया रखा गया।

तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर छोटे-से ट्रिपोली युद्ध का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। यूरोप की कूटनीतिक स्थिति को परिवर्तित करने में इस युद्ध ने बहुत बड़ा योगदान दिया। कैजर जानता था कि इटली उसके त्रिगुट का वफादार सदस्य नहीं है। उस समय वह तुर्की के सुल्तान के साथ अपनी मैत्री बढ़ा रहा था। ऐसी स्थिति में इस युद्ध में जर्मनी की सहानुभूति स्वभावतः तुर्की के साथ थी। तुर्की इस बात को नहीं भूला। वह जर्मनी के समीप आने लगा। ठीक इसके विपरीत ब्रिटेन या फ्रांस के द्वारा तुर्की को कोई सहायता नहीं मिली थी। परंपरा से ब्रिटेन तुर्की की प्रादेशिक अखंडता का समर्थक था। लेकिन, इस बार एकदम चुप रहा। तुर्की यह बात नहीं भूला और उसने प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटेन-फ्रांस के खिलाफ जर्मनी का साथ दिया।

उधर इटली भी अपने तथाकथित मित्रराष्ट्र जर्मनी की कृतघ्नता तथा ब्रिटेन-फ्रांस की कृतज्ञता को भूल नहीं सका। पहले ही वह जर्मनी के खेमे से फ्रांस के खेमे में छलांग मार रहा था। ट्रिपोली युद्ध के कारण उसने इस छलांग की एक दूसरी मंजिल भी पूरी कर ली। वह जर्मनी से दूर हटता गया और जब प्रथम विश्वयुद्ध आ धमका तो उसने अपनी तटस्थता की घोषणा कर दी।

ट्रिपोली युद्ध के कारण तुर्की बहुत कमजोर हो गया। उसके पूर्ण विनाश के दिन अब दूर नहीं थे। इसलिए उसको लूटने के लिए बड़े जोर-शोर से साम्राज्यवादी तैयारी शुरू हुई। तुर्की की कमजोरी से लाभ उठाने के लिए रूसी सहायता से बुल्गेरिया और सर्बिया ने मिलकर एक बाल्कन-संघ की स्थापना की। इससे सर्बिया और आस्ट्रिया का संबंध और अधिक खराब हो गया, जिसके कारण प्रथम विश्वयुद्ध दरवाजे पर आ पहुंचा। इसलिए अगादीर-कांड प्रथम विश्वयुद्ध का एक परोक्ष पर प्रमुख कारण माना जाता है।

अध्यायं 12

एशिया में नवीन साम्राज्यवाद

(New Imperialism in Asia)

चीन की लूट-खसोट : प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व संसार की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि एशिया के विविध क्षेत्रों में साम्राज्यवादी देश अपने प्रभुत्व और प्रभाव का विस्तार करने के लिए जो प्रयत्न कर रहे हैं, उनका भी संक्षेप में उल्लेख किया जाय। इस युग में प्रभाव के विस्तार के लिए सबसे तीव्र संघर्ष चीन में हुआ क्योंकि एशिया में यूरोप के नवीन साम्राज्यवाद का नग्न नृत्य इसी देश में हुआ।

अफ्रीका से बहुत पहले ही एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद का प्रवेश हो चुका था। 1871 के पहले अधिकांश देश बंट चुके थे। अतएव यहां नये बंटवारे का सवाल उतने महत्व का नहीं था जितने महत्व का अफ्रीका में। एशिया के प्राय: तिहाई भाग पर रूस का अधिकार था। भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य था। दक्षिण पूर्वी एशिया में जापान और चीन ही दो ऐसे देश बच रहे थे जहां यूरोपीय साम्राज्य की स्थापना हो सकती थी। किंतु जापान पर अधिकार जमाने की चेष्टा व्यर्थ हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही उसने अपने को आधुनिकता के रंग में रंग लिया और स्वयं एक साम्राज्यवादी देश बन बैठा। ऐसी स्थिति में चीन ही एक अकेला देश बच रहा था जहां साम्राज्यवादी देश लूट-खसोट कर सकते थे। सबों की दृष्टि चीन पर लगी हुई थी। एशिया में इससे बढ़कर अभी शोषण का नया क्षेत्र कोई दूसरा नहीं था। समृद्ध देश होते हुए चीन की शासन व्यवस्था भ्रष्ट और अयोग्य थी। वहां की सरकार बहुत कमजोर थी और साम्राज्यवादियों का मुकाबला नहीं कर सकती थी। संक्षेप में, चीन की बुरी दशा साम्राज्यवादियों को शोषण के लिए आमंत्रित कर रही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग का चीन का इतिहास यूरोपीय साम्राज्यवाद के बलात् प्रवेश का इतिहास था। प्रारंभ से चीन पृथकता की नीति का अवलंबन करते आ रहा था। उसको दुनिया के अन्य किसी राज्य का कोई मतलब नहीं था। चीन के लोग किसी अन्य देश के साथ संपर्क स्थापित करना नहीं चाहते थे। लेकिन, चीनी रेशम और चाय यूरोपीय व्यापारियों को ललचा रहे थे। वे लोग धीरे-धीरे चीन में प्रवेश करने लगे। उन्होंने चीन के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू किया। चीन की सरकार यद्यपि कमजोर थी, लेकिन वह यूरोपीय व्यापारियों और कुछ ईसाई धार्मिक पादरियों के अत्याचार को सहने के लिए तैयार नहीं थी। उसने यूरोपीय लोगों पर अनेक प्रतिबंध लगा दिये।

यूरोपीय लोग किसी प्रतिबंध को कबूल करने को तैयार नहीं थे। वे अपनी शक्ति का प्रयोग कर जबर्दस्ती चीन का दरवाजा खोलना चाहते थे। ब्रिटेन इस कार्य में सबसे अग्रणी रहा। चीन में ब्रिटेन अफीम का व्यापार करता था। चीन सरकार ने अफीम की ब्रिकी पर रोक लगा दी। इस प्रतिबंध को बहाना बनाकर ब्रिटेन ने 1841 में चीन पर चढ़ाई कर दी। इस युद्ध में अंग्रेज जीत गये। 1842 में नानकिंग की संधि के अनुसार चीन को हर्जाना देना पड़ा। उसे हांगकांग के टापू से हाथ धोना पड़ा और पांच बंदरगाह खोलने पड़े, जहां अंग्रेज रह सकें और बिना किसी रोक-टोक के व्यापार कर सकें।

इस युद्ध के बाद भी चीन के लोग यह नहीं चाहते थे कि बंदरगाहों के बाहर विदेशियों का उनके देश में प्रवेश हो। 1858 में एक फ्रांसीसी पादरी चीन में मारा गया। चीन पर आक्रमण करने का एक अच्छा बहाना मिल गया। फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ने मिलकर चीन पर चढ़ाई कर दी : चीन हार गया और तौन्त्सिन की संधि (1860) के फलस्वरूप चीन को छः और बंदरगाह खोलने पड़े, अफीम के व्यापार की आज्ञा देनी पड़ी और ईसाई धर्म-प्रचारकों की सुरक्षा की जिम्मेवारी लेनी पड़ी। अब चीन विदेशियों के लिए पूर्णतया खुल गया था। वे स्वच्छंदतापूर्वक उसके साथ व्यापार कर सकते। उन्हें राज्यक्षेत्रातीत अधिकार (extraterritorial rights) भी प्राप्त हुए, जिसके अनुसार उनके वासस्थानों को चीनी कानूनों से मुक्त कर दिया। चीन में रहकर भी वे अपने देश के कानून के अनुसार शासित होते थे।

ब्रिटेन और फ्रांस के बाद अन्य यूरोपीय राज्यों की बारी आयी। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, हालैंड, बेल्जियम इत्यादि देशों के साथ चीन की पृथक-पृथक संधियां हुईं। इन सभी देशों को चीन में व्यापारिक और राजनीतिक सुविधाएं प्राप्त हुईं। इन सुविधाओं को प्राप्त करने में ये साम्राज्यवादी राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय विधि की परवाह नहीं करते थे। चीन के बंदरगाह पूर्णतया उनके अधिकार में रहते थे। यूरोपीय लोगों की अपनी बस्तियां थीं जहां उनकी अपनी सरकार, पुलिस और न्यायालय आदि होते थे। चीन की भूमि पर वे अपनी सेना भी रखते थे। वे अपने को चीन सरकार के कानूनों से मुक्त मानते थे। उनके व्यापार पर चीन की सरकार पांच फीसदी से अधिक आयात-निर्यात कर भी नहीं लगा सकती थी। इसी प्रकार यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा चीन का राजनीतिक एवं आर्थिक शोषण प्रारंभ हुआ।

जापान का उत्कर्ष

चीन केवल यूरोपीय साम्राज्यवाद का ही शिकार नहीं हुआ। उसका पड़ोसी देश जापान भी उस पर अपना साम्राज्य फैलाने का प्रयास कर रहा था। प्रारंभ में चीन की तरह जापान भी बाहरी दुनिया से अपने को अलग रखना चाहता था। विश्व-राजनीति में उसकी नीति भी बिलगाव की थी। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में यूरोपीय व्यापारी तथा धर्म-प्रचारकों ने जापान से संपर्क स्थापित करने की कोशिशें की थीं। लेकिन, वे सभी प्रयास निष्फल हुए। जापान ने पश्चिमी लोगों के प्रवेश के विरुद्ध अपना दरवाजा कसकर बंद कर दिया। जापान में उनके लिए घुसना कठिन काम हो गया।

जापान के दरवाजा को खोलने का असल श्रेय संयुक्त-राज्य-अमेरिका को है। 1853 में अमेरिकी नौ-सेना का एक सेनापति कमोडेर पेरी संयुक्त-राज्य-अमेरिका की सरकार का एक पत्र लेकर जापान पहुंचा। इस पत्र के आधार पर उसने जापान और अमेरिका के बीच व्यापारिक संबंध स्थापित करने और कुछ बंदरगाहों पर अमेरिकी व्यापारियों के लिए व्यापार करने का अधिकार की मांग की। पेरी अपने साथ जंगी जहाजों का एक बेड़ा लेकर आया था। इन जहाजों को देखकर जापान में खलबली मच गयी। जापान के शासकों के बीच अमेरीकी पत्र को लेकर काफी बहस हुई। एक दल संपर्क स्थापित करने के विरुद्ध था और दूसरा दल इसके पक्ष में था। अंतोगत्वा दूसरे दल की विजय हुई। संयुक्त-राज्य अमेरिका की मांगें मान ली गयीं। जापान और अमेरिका में एक संधि हुई, जिसके अनुसार जापान के दो बंदरगाह अमेरिका के व्यापार के लिए खोल दिये गये।

अमेरिका ने जापान में बलात् घुसने का काम शुरू कर दिया। अब यूरोप के अन्य देश जापान की तरफ दौड़ पड़े। जापान सरकार के सामने उन्होंने अपनी मांगे रखीं। जापान अब इनकार नहीं कर सकता था। 1897 आते-आते जापान को लगभग पंद्रह देशों के साथ संधि करनी पड़ी। विभिन्न यूरोपीय राज्यों को व्यापारिक तथा अन्य तरह के राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए। जापान के बंदरगाहों पर यूरोपीय देशों को काफी सुविधाएं मिलीं। यूरोपीय देश जापान के शोषण करने की योजना बनाने लगे। भारत और चीन का इतिहास जापान में भी दुहराया जानेवाला था। जापान 'असमान' संधियों के जाल में फंस चुका था। इसके बाद दूसरा कदम यह था कि कोई मौका पाकर जापान पर यूरोपीय शासन लाद दिया जाय।

लेकिन जापान में यूरोपियों की यह अभिलाषा पूरी नहीं हुई। जापान के लोग काफी समझदार और चालाक थे। उन्होंने अनुभव किया कि पश्चिम के राज्य काफी बढ़े-चढ़े हैं। अपने देश की उन्नति करके जापान ने उनका मुकाबला करने का निश्चय किया। जापान की शासन-व्यवस्था बहुत ही खराब थी। जापान का राज्य प्रधान तो एक सम्राट था, लेकिन राज्य की वास्तविक शक्ति जापान के सामंतों के हाथों में थी। ये सामंत भिन्न-भिन्न वर्गों में बंटे हुए थे और एक-दूसरे से जलते थे। जापान के शासन में कभी किसी वर्ग की प्रधानता रहती तो कभी किसी वर्ग की। 1867 में जापान की शासन-व्यवस्था सोगुन वर्ग के सामंतों के हाथ में थी। इस वर्ष इस वर्ग के शासन के विरुद्ध एक रक्तहीन क्रांति हुई, जिसके फलस्वरूप जापानी शासन-व्यवस्था से सामंतों की प्रधानता जाती रही। सम्राट को अपने अधिकार पुनः वापस मिल गये और जापान में एक नवजीवन का संचार हुआ।

जापान का आधुनिकीकरण : 1867 के बाद जापान एक प्रगतिशील राष्ट्र बन गया। नये शासकों के नेतृत्व में जापान के पश्चिमीकरण का एक आंदोलन चल पड़ा। पश्चिमी भावनाओं के पीछे जापान इस रफ्तार से दौड़ने लगा कि कुछ ही दिनों के अंदर इसके राष्ट्रीय जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। जापान में सामन्त-प्रथा का अंत हो गया। जापानी जल और थल सेनाओं को आधुनिक ढंग से संगठित किया गया। जापान के लिए एक राष्ट्रीय सेना की व्यवस्था की गयी और अनिवार्य सैनिक प्रथा लागू की गयी। जापान की शासन-व्यवस्था में परिवर्तन किया गया। नये-नये कानून बनाये गये और एक संविधान की रचना हुई। पश्चिम के बहुत-से ग्रंथ अनुवाद किये गये। शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। स्कूलों में अंग्रेजी भाषा को अनिवार्य विषय बना दिया गया। हजारों जापानी विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के लिए विदेश भेजा गया। इसके साथ-साथ जापान की व्यापारिक उन्नति भी हुई। जापान में बड़े-बड़े कल-कारखाने खुले। जापान में औद्योगिक क्रांति शुरू हो गयी। बड़े पैमाने पर चीजों का उत्पादन होने लगा। कुछ ही दिनों में जापान का रंग बिल्कुल बदल गया। जो जापान कुछं दिन पहले एक सामंतवादी देश था वह बीस वर्षों की छोटी अवधि में एक आधुनिक देश बन गया। जापानी साम्राज्यवाद इसी आधुनिकीकरण का परिणाम था।

जापानी साम्राज्यवाद का उद्भव

पूर्वी एशिया के इतिहास में जापान का उत्कर्ष एक युगान्तकारी घटना है। यूरोपीय और अमरीकी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए जापान ने शुरू में पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण किया था। लेकिन अधिक दिनों तक केवल देश की सुरक्षा नवीन जापान का उद्देश्य नहीं रह सका। कुछ ही दिनों में जापान एक बहुत बड़ा साम्राज्यवादी देश बन गया। जापानी साम्राज्यवाद के उद्भव के अनेक कारण थे।

सैनिकवाद : आधुनिकीकरण के फलस्वरूप जापान में सैनिकवाद का जन्म हुआ। जापान की जल और थल सेनाओं को सुसंगठित किया गया। इन सेनाओं के नेता बड़े महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। वे आक्रामक प्रवृत्ति के थे और उन्हें जापान के उग्र देशभक्तों से काफी प्रोत्साहन मिलता था। इन सेनापतियों का ख्याल था कि जापान को उग्र विदेश-नीति का अवलंबन करना चाहिए। 1894 के पहले से ही वे लोग उग्र नीति को अपनाने के लिए दबाव दे रहे थे। जापानी सरकार पर उनका काफी प्रभाव था और इससे प्रभावित होकर जापानी सरकार ने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करने का निश्चय किया।

आधुनिकीकरण : पर यह कहना गलत होगा कि जापानी साम्राज्यवाद के लिए केवल कुछ मुट्ठी भर उग्र राष्ट्रवादी और सैनिक अफसर जिम्मेवार थे। जापानी साम्राज्यवाद के अनेक कारण थे और उसमें सबसे प्रमुख था, जापान का जागरण। 1867 के बाद जापान के राष्ट्रीय स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगे। आधुनिकीकरण के कारण जापान एक महान राष्ट्र बन गया था। उसमें नये उत्साह और जीवन का संचार हुआ था। औद्योगिक विकास के कारण जापान दिन दूनी-रात चौगुनी उन्नति कर रहा था। जापान की

आबादी में भी वृद्धि हो रही थी। सामरिक दृष्टि से जापान की भौगोलिक स्थिति का बहुत बड़ा महत्व है; क्योंकि वह चारों तरफ समुद्र से घिरा हुआ है। इस स्थिति के कारण वह एक व्यापारी राष्ट्र भी हो सकता था। इस समय जापान को अपनी बढ़ती हुई आबादी को खिलाने की समस्या थी। इस समस्या का समाधान वह अपना औद्योगीकरण करके कर सकता है। लेकिन औद्योगीकरण के लिए कुछ आवश्यक चीजों की जरूरत होती है...कच्चे माल और बाजार दो ऐसी आवश्यक चीजें थीं। जिस प्रकार इन चीजों की आवश्यकता ने पाश्चात्य राज्यों को बाध्य किया था, उसी प्रकार इन आवश्यकताओं ने जापान को साम्राज्य स्थापित करने के लिए उत्तेजित किया।

पश्चिमी साम्राज्यवाद का भय : जिस समय जापान के एकांतवासी जीवन का अंत हुआ उस समय साम्राज्यवाद विश्व-राजनीति का एक प्रमुख सिद्धांत बन चुका था। उस समय यूरोप के भिन्न-भिन्न राज्य तथा जापान का पड़ोसी संयुक्त राज्य अमेरिका गैर-यूरोपीय देशों में अपने-अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे। उन्नीसवीं सदी की आठवीं दशाब्दी से चीन में लूट-खसोट का काम शुरू हो गया था। उधर 1898 में अमेरिका ने हवाईद्वीप पर अपना आधिपत्य कायम किया। हवाई द्वीप के अधिकांश निवासी जापानी थे। इसके कुछ ही दिनों बाद फिलिपाईन्स-द्वीप समूह पर भी अमेरिका का कब्जा हो गया। चारों तरफ से साम्राज्यवादी संघर्षों से जापान घिर रहा था और इन बातों को जापान अवहेलना की दृष्टि से नहीं देख सकता था। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए जापान के लिए यह आवश्यक हो गया कि साम्राज्यवाद के क्षेत्र में वह भी पश्चिमी देशों का अनुकरण करे।

समानता की आकांक्षा : जापान के निवासी बड़े घमंडी एवं सूक्ष्मग्राही व्यक्ति थे। उनका देश पूर्व का प्रथम देश था, जो अपना यूरोपीकरण कर यूरोपीय देशों के स्तर पर पहुंच गया था। जापान में वे सभी गुण मौजूद थे जिनके कारण वह यूरोपीय समाज में समानता के स्तर पर प्रवेश पा सके। जापान यूरोपीय समाज में प्रवेश तो कर गया; पर यूरोपीय राष्ट्रमंडल में उनका हार्दिक स्वागत नहीं हुआ। यूरोप के राज्य उसको अनादर, उपेक्षा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। जापान के घमंडी लोगों को यह बात बहुत बुरी लगती थी। इस मानसिक दशा में वे पश्चिमी राष्ट्रों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। उनका कहना था कि जबतक जापान स्वयं एक साम्राज्यवादी राष्ट्र नहीं बन जाता तबतक यूरोप के राज्य उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं करेंगे। जापान किसी भी यूरोपीय देश से कम शक्तिशाली और प्रगतिशाली राष्ट्र नहीं था। लेकिन, साम्राज्य नहीं होने के कारण शक्तिशाली और प्रगतिशाली होने के बावजूद राष्ट्रों के समाज में उसकी पूछ नहीं थी। अतः दुनिया में अपनी आवाज बुलंद करने के लिए जापान को साम्राज्य स्थापित करना आवश्यक हो गया।

प्रजातीय श्रेष्ठता : जापानी लोग अपने को श्रेष्ठ प्रजाति (rece) के व्यक्ति समझते थे। वे अपने देश को देवलोक तथा अपने सम्राट को ईश्वर का रूप मानते थे। उनका विचार था कि शेष संसार के लोग जंगली और असभ्य हैं और श्रेष्ठ प्रजाति के होने के कारण उनका अधिकार है कि वे दूसरी जातियों पर शासन करें। विशिष्ट जाति होने का यह भ्रम जापानी साम्राज्यवाद का एक दूसरा कारण था।

सैनिक परंपरा : जापान को अपनी सैनिक शक्ति पर काफी भरोसा था। इसी शक्ति के बल पर वे अपना राज्य विस्तार करना चाहते थे। सैनिक-शक्ति का प्रथम प्रयोग उन्होंने 1894 में चीन- जापान-युद्ध के अवसर पर किया और इसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली थी। 1905 में उसने रूस जैसे महान् शक्तिशाली देश को हराया। प्रथम विश्व युद्ध में उसको लाभ ही लाभ हुए। जापान की सैनिक परंपरा बहुत पुरानी थी। इस देश में एक-से-एक योद्धा और वीर पैदा हुए थे। इधर युद्ध में उसको मुंहमांगी सफलता प्राप्त हो रही थी। जापान के लोगों में यह विश्वास जम गया कि उसकी सैनिक शक्ति अजेय है, उनको कोई परास्त नहीं कर सकता है और उसके बल पर वे अपना राज्य-विस्तार कर सकते हैं।

आबादी : जापान की आबादी में वृद्धि जापानी साम्राज्यवाद का एक अन्य प्रमुख कारण था। एक वर्ग मील के हिसाब से जापान की आबादी चीन से चौगुनी और भारत से दुगुनी थी। उन्नीसवीं शताब्दी की अंतिम दशाब्दी में इस आबादी में घनघोर वृद्धि हो रही थी। आबादी में यह वृद्धि जापान के शासकों के लिए एक कठिन समस्या बन गयी। दूसरे देश में जाकर बसना इस समस्या का समाधान हो सकता था, पर यह संभव नहीं था, क्योंकि जिन जगहों पर जापानी लोग जाकर बस सकते थे उन पर यूरोपीय लोग बहुत पहले ही कब्जा जमा चुके थे। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया इत्यादि देशों के प्रवास नियम (emigration laws) इतने कठोर थे कि इन देशों में एशियाई लोगों का घुसना असंभव था। मंचूरिया में जाकर बसने का कुछ प्रयास जापानियों द्वारा किया गया। लेकिन, इस समस्या का समाधान नहीं हो सका। इस समस्या के समाधान का एकमात्र उपाय यह था कि जापान का औद्योगीकरण हो। जापान में बड़े-बड़े कल-कारखाने खोले जायें और इन्हीं कल-कारखानों से जापान की बढ़ती हुई जनसंख्या को लगा दिया जाय। लेकिन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, औद्योगीकरण के लिए दो चीजों - कच्चे माल तथा बाजार की आवश्यकता होती है। कच्चे माल का मिलना तो उतना मुश्किल नहीं था, परंतु बाजार को लेकर अनेक कठिनाइयां थीं। एशिया के सभी देश किसी-न-किसी यूरोपीय राज्य के साम्राज्य के अंतर्गत थे और कोई भी साम्राज्यवादी देश अपने क्षेत्र में नये प्रतिद्वंद्वी को उतरते नहीं देख सकता था। ऐसी दशा में जापान के लिए जीवन-मरण का प्रश्न हो गया। राष्ट्रीय मान-मर्यादा तथा आर्थिक आवश्यकता साम्राज्यवादी जीवन अपनाने के लिए जापान को बाध्य कर रहे थे।

जापान के साम्राज्यवादी जीवन का उद्‌भव पूर्वी एशिया की राजनीति में एक क्रांतिकारी घटना थी। इसके कारण उस क्षेत्र की राजनीति में क्रांतिकारी परिवर्तन होना आवश्यक हो गया। जापान के सामने उस समय मुख्य प्रश्न यह था कि वह किस क्षेत्र में अपने राज्य का विस्तार करे। वह उग्र साम्राज्यवादी विदेश नीति को अपनाने के लिए तैयार था; लेकिन, प्रश्न यह था कि इस नीति को किस भूखंड में कार्यान्वित किया जाय। सारा संसार यूरोपीय राज्यों के बीच बंट चुका था। जापान के पड़ोसी एशियाई देशों पर यूरोपीय शक्तियों का साम्राज्य कब का स्थापित हो चुका था। पर अभी संसार में एक ऐसा क्षेत्र बच रहा था जहां पर जापान अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति कर सकता था। वह था पड़ोस का शक्तिहीन एवं कमजोर देश चीन जो हाल के कुछ वर्षों से यूरोपीय साम्राज्यवाद के शोषण का शिकार बन रहा था। जापान को यही मौका था। अतएव उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में जापान भी चीन के शोषण और लूट-खसोट में साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों का साझेदार बन गया।

1894-95 का चीन-जापान युद्ध

कोरिया की स्थिति : कोरिया के प्रश्न पर जापान को सर्वप्रथम अपनी नवीन शक्ति की परीक्षा लेने का मौका मिला। कोरिया चीन साम्राज्य का एक प्रदेश था और जापान के बहुत निकट स्थित था। कोरिया-प्रायद्वीप में जापान का परंपरागत स्वार्थ था। पर इस स्वार्थ को पूरा करने का जापान को मौका नहीं मिल रहा था। जापान में सैनिकवाद का जन्म हुआ, तो यह आवश्यक हो गया कि वह कोरिया के संबंध में उग्र नीति का अवलंबन करे। इस समय कोरिया विश्व-राजनीति के भंवर जाल में फंस रहा था और जापान इसको दर्शक रूप में देखने के लिए तैयार नहीं था। बहुत दिनों से कोरिया पर चीन की प्रभुसत्ता थी। जापान इस स्थिति को दिल से मानने को तैयार नहीं था। सोलहवीं शताब्दी में जापान ने कोरिया को चीन के चंगुल से छुड़ाने के अनेक प्रयास किये थे, पर इसमें उसको कोई सफलता नहीं मिली। उन्नीसवीं शताब्दी में पूर्वी एशिया की राजनीति में काफी परिवर्तन होने लगे थे। यूरोपीय शक्तियों का दबदबा चारों तरफ छा चुका था। यदि कोरिया पर उनमें से किसी का अधिकार हो गया, तो जापान की राष्ट्रीय सुरक्षा खतरे में पड़ सकती

थी। जापान के लिए कोरिया की वही स्थिति थी, जो ब्रिटेन के लिए बेल्जियम की। कोरिया को जापान अपने सीने पर तने हुए कटार की तरह समझता था। ऐसे महत्वपूर्ण स्थान पर अधिकार जमाना उसके जीवन-मरण का प्रश्न था।

जिस समय कोरिया को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के भंवर जाल में फंसाने का प्रयास हो रहा था उस समय कोरिया की आंतरिक दशा अत्यंत शोचनीय थी। कोरिया के तत्कालीन शासक बहुत कमजोर, अयोग्य और निकम्मे थे। उनके बीच आपस में झगड़े हुआ करते थे। कोरियाई राजनीति में दो दल थे। एक दल चीन का पक्षपाती था और दूसरा जापान का। 1884 में कोरिया में एक बलवा हो गया। इस समय चीन यूरोपीय राष्ट्रों से निबटने में व्यस्त था। चीन की अव्यवस्था से लाभ उठाकर कोरिया के चीन-विरोधी नेता शासन की बागडोर हड़पने की कोशिश करने लगे। कोरिया के राजा ने जापान से मदद मांगी। कुछ ही दिनों में जापान की सेना कोरिया में घुस गयी। लेकिन चीन कभी इस परिस्थिति को कबूल नहीं कर सकता था कि किसी अन्य राज्य की सेना कोरिया में आकर अपना पैर जमा ले। इस कारण कोरिया में चीन और जापान की सेनाओं में मुठभेड़ हो गयी। काफी झंझट के बाद अंत में चीन और जापान के बीच कोरिया के संबंध में एक समझौता हुआ। इसके अनुसार दोनों देशों ने वादा किया कि बिना पूर्व सूचना दिये उनमें से कोई भी सेना कोरिया नहीं भेजेगा।

कोरिया को लेकर चीन और जापान के बीच कोई साधारण प्रतिरोध नहीं हुआ। केवल एक शताब्दी के भीतर ही समस्या इतनी गंभीर हो गयी कि दोनों के बीच युद्ध अवश्याम्भावी हो गया। 1894 में कोरिया में एक दूसरा विद्रोह उठ खड़ा हुआ। कोरिया के शासकों ने इस विद्रोह को दबाने के लिए चीन से सहायता मांगी। चीन से एक सेना कोरिया के लिए रवाना कर दी गयी और इसके बाद जापान को इसके विषय में, समझौता के अनुसार, सूचना भेज दी गयी। जापान ने झट चीन पर यह आरोप लगाया कि उसने संधि की शर्तों की अवहेलना की है। इसके बाद उसने भी शीघ्र ही अपनी सेना कोरिया के लिए रवाना कर दी। लेकिन, चीन और जापान की सेना पहुंचने के पहले ही कोरिया सरकार ने विद्रोह को दबा दिया। अब एक गंभीर समस्या उठ खड़ी हुई। विदेशी सेनाएं कोरिया की भूमि पर डंटी हुई थीं। चीनी तथा जापानी सेनाएं कोरिया में आमने-सामने खड़ी थीं। ऐसा लगने लगा कि दोनों के बीच युद्ध छिड़ जायगा, पर कुछ दिनों के लिए युद्ध छिड़ने से रुक गया। चीन और जापान से प्रत्यक्ष वार्तालाप होने लगा। चीन ने प्रस्ताव रखा कि दोनों देश एक ही साथ अपनी-अपनी सेना को कोरिया से हटा लें और इसके साथ-साथ यह वादा भी करें कि वे कोरिया के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। जापान ने चीन के इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। इसके बदले में उसने एक दूसरा प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि चीन और जापान दोनों मिलकर कोरिया में सुधार की योजना बनायें और सम्मिलित रूप से उनको कार्यान्वित करें। चीन इस प्रस्ताव की मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। कुछ दिनों के लिए वार्तालाप बंद हो गया। जापान कोरिया के प्रश्न पर चीन से लोहा लेने पर तुला हुआ था। वह अपनी नयी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता था और इसके द्वारा वह यूरोप के महान राष्ट्रों को बतला देना चाहता था कि पूर्वी एशिया की राजनीति में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। जुलाई, 1894 में एक ज़ापानी जंगी जहाज ने एक चीनी जहाजी बेड़े पर गोली चला दी। यह चीन-जापान युद्ध का श्रीगणेश था। इसके बाद दोनों देशों की सरकार को ओर से बाजाप्ता युद्ध की घोषणा कर दी गयी।

युद्ध और शिमोनोस्की की संधि : कोरिया के प्रश्न पर चीन-जापान युद्ध करीब नौ महीनों तक चलता रहा। जल तथा थल दोनों युद्धों में जापान की विजय हुई। सैनिक संगठन में चीन और जापान की कोई तुलना नहीं थी। जापान की सेना सुशिक्षित, अनुशासित, सुव्यवस्थित और आधुनिकतम हथियारों से लैस थी। उसके सेनापति सुयोग्य अफसर थे और सेना का एक-एक अंग विशेषज्ञों द्वारा संचालित होता था। चीनी

सेना की हालत ठीक इसके विपरीत था। उसके अफसर अत्यंत भ्रष्ट थे। वे निजी स्वार्थ को राष्ट्रीय स्वार्थ से अधिक महत्व देते थे। ऐसी दशा में जापान की विजय निश्चित थी। चीन प्रत्येक युद्ध में बुरी तरह पराजित हुआ और बाध्य होकर उसे जापान से शांति के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। अंत में शिमोनोस्की की संधि (Treaty of Shimonosky) के द्वारा इस युद्ध का अंत हुआ। इस संधि के अनुसार : (1) चीन ने कोरिया की स्वाधीनता को मान लिया। (2) चीन को फारमोसा-द्वीप, पेसकाडोर तथा लाओतुंग प्रायद्वीप जापान को सुपुर्द कर देने पड़े। लाओतुंग प्रायद्वीप में ही पोर्टआर्थर पड़ता था। यह बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। लाओतुंग की प्राप्ति से जापान के लिए मंचूरिया का मार्ग खुल गया। (3) चीन युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए पैंतालीस करोड़ रुपये हर्जाने के रूप में जापान को देने का वादा किया। (4) चीन से जापान को अनेक व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त हुईं।

युद्ध के परिणाम : चीन-जापान युद्ध केवल चीन के लिए ही नहीं बल्कि पश्चिमी देशों के लिए भी एक चुनौती था। जापान के एक राजदूत का कहना था : "यह मैं निश्चित रूप से कह सकता हूं कि हमलोग कोरिया को तबतक छोड़ने को तैयार नहीं हैं जबतक वहां हमारे उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो जाती। हम कोरिया में अपने भविष्य के लिए ही नहीं बल्कि अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं। यदि कोरिया कभी किसी यूरोपीय शक्ति के हाथ में पड़ गया तो जापान की सुरक्षा और स्वतंत्रता खतरे में पड़ जायेगी।" लेकिन यूरोप के राज्य जापान को पूर्वी एशिया में स्वच्छंद छोड़ने को तैयार नहीं थे। शिमोनोस्की की संधि से जापान को अत्यधिक लाभ हुए थे। अन्य यूरोपीय राज्य के लिए यह असह्य था; रूस खासतौर से इसका प्रबल विरोधी था। वह बहुत दिनों से लाओतुंग प्रायद्वीप पर अपनी नजर गड़ाये हुए था। लेकिन पोर्टआर्थर-जापान इस प्रायद्वीप को हड़प रहा था। रूस का विदेशमंत्री इस घटना से काफी दुखी था। उसने जोर से कहा : "हमलोग जापान को यह स्वीकृति नहीं दे सकते कि वह अपने भू-भाग से बाहर निकलकर एशिया के अन्य भूखंड में उत्पात मचाये। इसका तात्पर्य यह होगा कि एशिया में रूस के शांतिपूर्ण प्रदेश का मार्ग सदा के लिए बंद हो जायेगा।" इसी प्रकार फ्रांस और जर्मनी जापान की इस सफ़लता को ईर्ष्या भरी दृष्टि से देख रहे थे। रूस, फ्रांस और जर्मनी मिलकर जापान पर दबाव डालने लगे कि वह लाओतुंग प्रायद्वीप से अपना अधिकार हटा ले। तीन राज्यों का यह हस्तक्षेप जापान को सह्य नहीं था। पर, वह तीन शक्तिशाली देशों का अग्राह टाल भी नहीं सकता था। बाध्य होकर जापान ने लाओतुंग-प्रायद्वीप से अपना आधिपत्य हटा लिया। इसके बदले में उसे चीन से एक बड़ी धनराशि हर्जाने के रूप में मिली।

शिमोनोस्की की संधि के बाद रूस ने जो रुख अपनाया उससे जापान काफी क्षुब्ध था। रूस के कारण ही वह विजयी होते हुए भी विजय का फल नहीं प्राप्त कर सका था। जापान इसको भूल नहीं सकता था। वह रूस से इसका बदला लेना चाहता था। इस दृष्टिक्रोण से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि चीन-जापान युद्ध के द्वारा 1905 के रूस-जापान-युद्ध का बीजारोपण हुआ। जापान ने सोचा कि जबतक वह सैनिक दृष्टिकोण से और अधिक शक्तिशाली नहीं हो जाता तबतक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी आवाज की कोई कीमत नहीं होगी। भविष्य में यूरोपीय राज्य उसको प्राप्त लाभ से वंचित करते रहेंगे। अतः जापान और अधिक शक्तिशाली बनने की तैयारी करने लगा।

'तीन राज्यों के हस्तक्षेप' से केवल रूस-जापान युद्ध का ही बीजारोपण नहीं हुआ, बल्कि 1902 की आंग्ल-जापानी संधि का भी बीजारोपण हुआ। ब्रिटेन ने शिमोनोस्की की संधि के समय हस्तक्षेप करने से इंकार कर दिया था। इससे जापानी लोग काफी खुश थे। दोनों देशों के बीच अच्छा संबंध बनाने में इस घटना का बहुत बड़ा हाथ था।

पूर्वी एशिया के इतिहास में चीन-जापान-युद्ध को एक वर्तन-बिंदु माना जाता है। विश्व-राजनीति में भी इसका परिणाम काफी व्यापक हुआ। 'तीन राज्यों के हस्तक्षेप' के बावजूद इस युद्ध के परिणामस्वरूप चीन की कमजोरी का भेद सारी दुनिया के सामने प्रकट हो गया। इसके साथ-साथ दुनिया को जापान की शक्ति का पता भी लग गया। जापान ने खुले मैदान में अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था। इसका अर्थ यह

था कि वह किसी यूरोपीय राज्य से कमजोर नहीं है। ऐसी स्थिति में वह यूरोपीय राज्यों के साथ 'अपमान संधियों' को क्यों परहेज करेगा। उसने यूरोपीय देशों को इन सन्धियों को दुहराने का आग्रह किया और यूरोपीय राज्य इसको टाल नहीं सके। उनके राज्य क्षेत्रातीत अधिकारों (extra-territorial rights) का अंत कर दिया गया। अब जापान और अन्य यूरोपीय राज्य अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्तर पर थे।

चीन-जापान युद्ध से जापानी साम्राज्यवाद को बहुत बड़ी प्रेरणा मिली। वास्तव में, यह जापानी साम्राज्यवाद का आधार स्तंभ साबित हुआ। इसी आधार पर जापान के संपूर्ण साम्राज्यवादी जीवन की इमारत खड़ी की गयी। विगत पच्चीस वर्षों से जापान अपनी सेना को संगठित तथा युद्ध सामग्रियां इकट्ठा कर रहा था। चीन-जापान युद्ध में सर्वप्रथम उसकी शक्ति की परीक्षा हुई। इस परीक्षा में जापान को आशातीत सफलता मिली। इस सफलता से उसका उत्साह और बढ़ा और वह भविष्य में इसी तरह की विजय प्राप्त करने का मनसूबा बांधने लगा। दस वर्ष के भीतर उसने एक महान् यूरोपीय राज्य को युद्ध के मैदान में ललकार पर पराजित किया। इसके पांच साल पश्चात उसने कोरिया को अपने अधिकार में कर लिया और, फिर उसके बाद उसके साम्राज्य का विस्तार होने लगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि चीन जापान युद्ध ने चीन की कमजोरी का पर्दाफाश कर दिया। युद्ध में चीन किसी यूरोपीय देश द्वारा नहीं बल्कि एक एशियाई देश से हारा था और वह भी जापान से, जिसके बासिन्दों से वह घृणा करता था और जिन्हें लोग 'बावना' कहकर पुकारा करते थे। युद्ध के फलस्वरूप चीन को अपने अधीनस्थ राज्यों का ही परित्याग करना पड़ा, वरन् उसकी प्रादेशिक अखंडता भी भंग हो गयी। यह परिणाम, चीन के लिए अभिशाप के रूप में वरदान सिद्ध हुआ। चीन के लोगों को पहले-पहल अपने देश की कमजोरी का पता लगा। अभी तक वे समझते थे कि उनका देश विशाल एवं महान है। लेकिन चीन-जापान-युद्ध से इस विश्वास को एक जबर्दस्त धक्का लगा। चीन के राष्ट्रवादी नागरिक सतर्क हो उठे। उनकी आंखें खुलीं। वे अपने शासकों की नीचता समझने लगे। चीन की शासन-व्यवस्था में सुधार लाने का एक आंदोलन चल पड़ा। जैसे- जैसे दिन बीतता गया वैसे-वैसे इस आंदोलन की जड़ भी मजबूत होने लगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 1911 की चीन की क्रांति परोक्ष रूप से चीन जापान युद्ध का ही परिणाम थी।

चीन-जापान-युद्ध का प्रभाव यूरोप की राजनीति पर पड़े बिना नहीं रह सका। यूरोप के साम्राज्यवादियों को चीन की वास्तविक ताकत का पता लग गया। उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुंचते देर नहीं लगी कि चीन तीव्र गति से पाताल की तरफ गिर रहा है। वह समय दूर नहीं जब वह एक दूसरा अफ्रीका बन जाय। यूरोप के राज्य उसको भी आपस में बांट लेने के लिए तत्पर हो गये। इस तरह चीन के बंटवारे की भावना साम्राज्यवादियों के दिमाग में घर कर गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि चीन में अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र कायम करने के लिए यूरोपीय देश में एक नयी होड़ प्रारंभ हो गयी। चीन की यह दशा देखकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति यूरोप में था जो कुछ दिनों में उसके पूर्ण विनाश की भविष्यवाणी नहीं करता हो।

पूर्वी एशिया की समस्या

'चीनी तरबूज का काटना' : विद्वानों का मत है कि चीन जापान युद्ध से विश्व राजनीति में एक युग का अंत होता है और दूसरे युग का प्रारंभ। इसके फलस्वरूप पूर्वी एशिया की राजनीति में जो अनिश्चितता का युग था उसका अंत हो गया। किस देश को कितना बल है, उसका पता सबको स्पष्ट रूप से लग गया और इसी के आधार पर साम्राज्यवादी देशों ने अपनी-अपनी नीति का निर्धारण करना शुरू किया। जापान की शक्ति का पता सबको लग चुका था और पश्चिमी राष्ट्रों को उसके साथ असमान संधियों को अंत करते देर नहीं लगी। कैसर ने जिस पीत आतंक (yellow peril) का भय प्रकट किया था, उसकी सत्यता सिद्ध होने

में अब देर नहीं थी। अब पूर्वी एशिया की राजनीति एक दूसरे युग में प्रवेश करने लगी। चीन पर यूरोपीय राज्यों तथा जापान के द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से आक्रमण और उसकी लूट-खसोट इस युग की मुख्य विशेषता थी। चीन एक कमजोर देश था। दिनों दिन उसका पतन हो रहा था। ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी देश उसको नोचने के लिए गिद्ध की तरह टूट पड़े। चीन पर साम्राज्यवादी द्वारा इस तरह टूट पड़ना एक नवीन समस्या पैदा कर रहा था, जिसको पूर्वी एशिया की समस्या कहते हैं। उधर दक्षिण-पूर्व यूरोप में तुर्की साम्राज्य के पतन के कारण एक समस्या थी ही। उस समस्या के साथ-साथ चीन के पतन के कारण एक दूसरी समस्या भी उपस्थित हो गयी। साम्राज्यवादी राज्य इस समस्या को सुलझाने में जुट गये। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ था चीन का अधिक-से-अधिक शोषण। इस प्रकार का शोषण पूर्वी एशिया के इतिहास के लिए एक नयी बात थी। दूसरे शब्दों में, यह चीनी तरबूजे को काटने का युग था। 'चीनी तरबूजे को काटने' (Cutting of the Chinese Melon) और वहां राजनीतिक तथा आर्थिक सुविधा प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न शक्तियों में होड़ मच गयी।

प्रभाव क्षेत्र : इस नये युग का उद्घाटन रूस ने किया। शिमोनेस्की की संधि के अनुसार चीन को एक बहुत बड़ी रकम जापान को हरजाना के रूप में देनी थी। लेकिन, चीन के पास इतना अधिक धन नहीं था कि वह इतनी बड़ी धनराशि की चुकती कर सके। अतः इसके लिए उसे रूस से कर्ज लेने पड़ा। रूस ने अत्यंत उदारता से वह धनराशि बिना किसी अमानत के ही चीन को दी थी। इस कर्ज से चीन रूस पर बहुत आश्रित हो गया। रूस प्रशांत महासागर के तट पर स्थित अपने प्रसिद्ध बंदरगाह ब्लादीबोस्तक के साथ रेल द्वारा सीधा संबंध स्थापित करना चाहता था। इसके लिए सीधा रास्ता मंचूरिया से गुजरता था, जो उस समय चीन के अधीन था। रूस ने मंचूरिया के बीच रेलवे का निर्माण करने के लिए चीन से अनुमति मांगी। रूसी कर्ज से दबा हुआ चीन इसको इंकार नहीं कर सकता था और रूस को मंचूरिया होकर रेल बनाने की अनुमति मिल गयी। इसके अतिरिक्त रूस को और सुविधाएं भी मिलीं। उदाहरण के लिए युद्ध के समय पोर्टआर्थर और क्याऊ-चाऊ के बंदरगाहों को बंदरगाह प्रयोग की अनुमति। इसके अतिरिक्त मंचूरिया में रेलवे की रक्षा के लिए रूसी सेनाओं को प्रविष्ट करने की आज्ञा भी मिली।

चीन को कर्ज देने में फ्रांस ने भी रूस का साथ दिया था। अतः फ्रांस को भी चीन में अनेक सुविधाएं मिलीं। फ्रांस को रेलवे बनाने का, खान खोदने का तथा चीन के कुछ बंदरगाहों को प्रयोग करने की सुविधा प्राप्त हुई। ब्रिटेन इन सब बातों को देखकर भीतर-ही-भीतर जलता था। पर अभी कुछ कर सकने में वह असमर्थ था। उधर जर्मनी को भी ईर्ष्या हो रही थी। जर्मनी भी तीन देशों में एक था जिन्होंने चीन का पक्ष लेकर शिमोनेस्की की संधि के समय हस्तक्षेप किया था। लेकिन, चीन ने जर्मनी को इसके लिए कोई इनाम नहीं दिया। कैसर ईर्ष्या ही नहीं कर रहा था, बल्कि सशंकित भी हो रहा था। कारण, द्विगुट के सहयोगियों को पूर्वी एशिया में जो सुविधाएं प्राप्त हुई थीं जर्मनी के लिए वह खतरे की बात थी।

कुछ ही दिनों में जर्मनी का भाग्य मुस्कराया और उसे एक ईश्वरप्रदत्त मौका मिल गया। 1897 में शान्तुंग के प्रदेश में दो जर्मन पादरी मारे गये। जर्मनी के लिए इससे अच्छा समाचार क्या हो सकता था ? कैसर ने झट एक सेना चीन पर आक्रमण करने के लिए भेजी और क्याऊ-चाऊ प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया। चीन की सरकार जर्मनी का मुकाबला नहीं कर सकती थी। एक संधि हुई और निन्यानवे साल के लिए क्याऊ-चाऊ का प्रदेश जर्मनी को सुपुर्द कर दिया गया। इसके अतिरिक्त जर्मनी को चीन में अन्य आर्थिक सुविधाएं भी प्राप्त हुईं। शांतुंग में उसको रेलवे बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ। इन प्रदेशों में जर्मन-सेना रखने की आज्ञा भी चीन ने दे दी।

जब जर्मनी को इस तरह सुविधा प्राप्त हुई तो यूरोप के अन्य राज्य सशंकित हो उठे। पर वे जर्मनी को रोक नहीं सकते थे। इसके बदले में वे चीन से और सुविधा की मांग करने लगे। अब सुविधा प्राप्ति की होड़ में प्रचंडता आ गयी। 1897 में रूस पोर्टआर्थर और तेलीनवान पर कब्जा कर लिया। पोर्टआर्थर के बंदरगाह

पर रूस का एकाधिपत्य स्थापित हो गया। इसके बाद फ्रांस ने क्वांग-चुयान के प्रदेश तथा टोनकिन से उनान तक रेल बनाने का अधिकार मांगा। इतना ही नहीं, फ्रांस ने यह मांग भी की कि चीन-डाक विभाग के अध्यक्ष पद पर एक फ्रांसीसी नागरिक की नियुक्ति की जाय। चीन ने फ्रांस की इन सभी मांगों को मान लिया। अब ब्रिटेन की बारी आयी। उसने अपने हित को ध्यान में रख बरमा-चीन सीमांत रेखा को ठीक करवाया। इसके बाद हांग-कांग से सटे हुए चीनी प्रदेशों पर इसने दावा किया। चीन ने इसे स्वीकार कर लिया। इस पर भी ब्रिटेन की भूख शांत नहीं हुई। उसने एक तीसरी मांग की कि चीन का चुंगी अफसर एक ब्रिटिश नागरिक हो। चीन ने इस शर्त को भी मान लिया। यहां तक किं इटली भी, जिसका कोई पादरी चीन में नहीं मारा गया था, सुविधा प्राप्त करने के लिए तड़पने लगा। लेकिन, इटली को कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी। सुविधा प्राप्त कंरने की होड़ इतनी तीव्र हो गयी कि ऐसा प्रतीत होने लगा कि आगे चलकर चीन के प्रश्न पर विविध देशों में संघर्ष अनिवार्य हो जायगा। चीन के संबंध में इन देशों के हित टकराते थे। साम्राज्यवादी देश चीन में व्यापार का स्वच्छंद अधिकार प्राप्त करके और अनेक प्रदेशों को अपने कब्जे में करके संतुष्ट नहीं थे। वे चीन पर अपना पूर्ण आर्थिक आधिपत्य स्थापित कर लेना चाहते थे। इस क्रम में परस्पर संघर्ष की संभावना थी और साम्राज्यवादी राज्य इस संघर्ष से बचना चाहते थे। पर इससे वे बच नहीं सके और 1905 में रूस और जापान के बीच भंयकर संघर्ष शुरू हो गया। फिर भी उनकी कोशिश थी कि वे इस प्रकार के संघर्ष होने से रोकें। इसका एक ही उपाय था। साम्राज्यवादियों ने चीन से यह वचन ले लिया कि वह यूरोपीय राज्यों के विविध प्रभाव क्षेत्रों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लायगी। इस प्रकार चीन में साम्राज्यवादियों का अपना-अपना 'प्रभाव-क्षेत्र' कायम हो गया। रूस को अपने प्रभाव क्षेत्र में स्वाधीनता मिली तथा फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन और जापान को अपने-अपने क्षेत्र में। इस प्रकार हिनान तथा टोनकिन के समीपवर्ती भू-भाग फ्रांस के प्रभाव-क्षेत्र में, यांगटीसी ब्रिटेन के प्रभाव- क्षेत्र में, फूकीन जापान के प्रभाव-क्षेत्र में, शातुंग जर्मनी के प्रभाव-क्षेत्र में तथा मंचूरिया और चीनी तुर्कीस्तान रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गये।

चीन में प्रभाव क्षेत्र कायम करने का एक अन्य तरीका भी था। रेल-लाइनों का निर्माण करके भी चीन पर प्रभाव बढ़ाया जा सकता था। आर्थिक और सैनिक दृष्टियों से रेलवे का निर्माण बहुत महत्त्वपूर्ण था। अतः प्रत्येक साम्राज्यवादी देश चीन में रेल-लाइन बनवाने की फ्रिक में था। इस समय पेकिंग हान्को-लाइन सबसे प्रमुख थी और इसको बनवाने के लिए सभी राज्य चीनी सरकार की आज्ञा प्राप्त करने की फ्रिक में थे। अंत में बेल्जियम को इसकी आज्ञा मिल गयी। ब्रिटेन, जापान, अमेरिका, रूस, फ्रांस, जर्मनी इत्यादि सब-के-सब इस पर आंखें गड़ाये हुए थे। उन्हें भी कुछ सुविधा मिलनी ही चाहिए। धीरे-धीरे इन देशों को भी चीन के विभिन्न प्रदेशों में रेल-लाइन बनवाने की अनुमति मिल गयी। इन रेलों में जिस देश की पूंजी लगती थी वहां का प्रदेश उसी के प्रभाव में आ जाता था। वहां वह स्वतंत्रतापूर्वक व्यापार कर सकता था और रेलवे की रक्षा के लिए अपनी पुलिस और फौज रख सकता था। इस प्रकार चीन एक-दूसरे तरीके से भी विदेशी राज्यों के प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त हो रहा था। ऐसा लगता था कि प्रभाव क्षेत्र के नाम पर चीन का प्रादेशिक विभाजन हो गया है। चीन राज्य की प्रभुसत्ता का नामोनिशान मिट रहा था। चीनी सरकार अपने ही राज्य में विवश थी। अपने राज्य के अधिकांश प्रदेशों पर उसका नाममात्र के लिए भी अधिकार नहीं था। इसके बाद साम्राज्यवादियों को दूसरा कदम यही होनेवाला था कि वे सरकारी तौर पर घोषणा करके अपने क्षेत्र को अपने राज्य में बाजाप्ता सम्मिलित कर लें। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। 'उन्मुक्त द्वार की नीति' (open door policy), बोक्सर-विद्रोह तथा आंग्ल जापानी संधि के कारण चीन का विभाजन होने से बच गया।

"उन्मुक्त द्वार" की नीति : यह संयुक्त राज्य-अमेरिका के साम्राज्यवाद को एक उत्तम और अनूठी कृति थी। विभिन्न साम्राज्यवादी राज्य चीन का प्रभाव-क्षेत्र से विभाजित कर रहे थे। उनके बीच सुविधा प्राप्त करने के लिए होड़ मची हुई थी। अमेरिका इन घटनाओं को चुप बैठकर नहीं देख सकता था। चीन में उसके हित

और स्वार्थ भी थे। लेकिन, अमरीकी साम्राज्यवाद का रूस यूरोपीय साम्राज्यवाद से भिन्न था। यह खुलकर चीन के आंतरिक मामलों में अन्य देशों की तरह हस्तक्षेप करना नहीं चाहता था। अत: चीन के लिए उसने 'उन्मुक्त द्वार की नीति' की घोषणा की। इस नीति का जन्मदाता अमेरिका का तत्कालीन विदेश-सचिव जॉन हे था। इसका अर्थ था कि सभी विदेशियों को समान रूप से चीन के साथ व्यापार करने की सुविधा मिले और किसी के साथ कोई खास रियायत नहीं हो। विदेश सचिव जॉन हे ने अपनी इस नीति का स्पष्टीकरण करते हुए साम्राज्यवाद राज्यों को एक पत्र भेजा। रूस को छोड़कर सभी देशों ने जॉन हे के विचारों का आदर किया। यद्यपि प्रभाव क्षेत्र को चीन से समाप्त नहीं किया गया, फिर भी 'उन्मुक्त द्वार की नीति' को सिद्धांत के रूप में मान लिया गया। इस नीति से चीन की लूट में साम्राज्यवादी देशों के साथ-साथ अमेरिका को भी लाभ हुआ। इसके अतिरिक्त चीन टुकड़े-टुकड़े में विभाजित होने की दुर्दशा से बच गया।

बोक्सर विद्रोह : विदेशियों की इन कार्रवाइयों से चीनी लोग बहुत क्षुब्ध हो रहे थे। चीन में राष्ट्रीयता की लहर चल रही थी। चीन का हर तरह से विदेशियों द्वारा शोषण हो रहा था और अपने देश की रक्षा करने में वे लाचार थे। इस तरह की स्थिति अब असह्य हो रही थी। जापान उनके सामने एक उदाहरण था। वह छोटा-देश नवीन विद्याओं और विज्ञानों को अपनाकर किस प्रकार यूरोपीय देशों का मुकाबला करने लगा था, इस बात को वे प्रत्यक्ष देख रहे थे। अपनी मातृभूमि को विदेशियों के पंजे से मुक्त करने के लिए चीनी लोग भी उतावले हो रहे थे। देशभक्ति की एक लहर दौड़ पड़ी और कुछ चीनी क्रांतिकारियों ने अपने यहां से विदेशियों को बाहर निकालने के लिए एक गुप्त संगठन कायम किया जो 'बोक्सर' के नाम से प्रसिद्ध है। बोक्सर लोग क्रांतिकारी थे और लुटेरे विदेशियों को अपने देश से मार भ ाना चाहते थे। उन्हें चीनी सरकार की सहानुभूति भी प्राप्त थी। कुछ यूरोपीयों का कहना है कि चीन में राजतंत्र के विरुद्ध विद्रोह की भावना पैदा हो रही थी। चीन की साम्राज्ञी त्सूहसी इस भावना को विदेशी विरोधी भावना में परिवर्तित करना चाहती थी। वह क्रुद्ध जनता का ध्यान एक तरफ से हटाकर दूसरी तरफ लगाना चाहती थी। इसलिए बोक्सर लोगों को चीनी सरकार की सहायता और प्रोत्साहन प्राप्त था। जो भी हो, चीन में विदेशियों के शोषण के विरुद्ध भावना जड़ पकड़ रही थी। 1900 में यह विदेशी-विरोधी भावना प्रचंड हो गयी। बोक्सर देशभक्तों ने नारा लगाना शुरू किया - "विदेशियों को नष्ट कर दो।" यह देशव्यापी विद्रोह का संकेत था। चीन के राष्ट्रवादी देशभक्त स्वतंत्रता के रणांगन में कूद पड़े। विदेशियों के घर जलाये गये, धर्म प्रचारक मारे गये और रेल की लाइनें उखाड़ दी गयीं। पिकिंग के जिस इलाके में विदेशी राष्ट्रों के दूतावास थे, उसे विद्रोहियों ने घेर लिया। 20 जून, 1900 के दिन बोक्सर देशभक्तों ने जर्मन राजदूत पर आक्रमण करके उसे मौत के घाट उतार दिया।

इन समाचारों से विदेशों में सनसनी फैल गयी। अपने अधिकारों की रक्षा और बोक्सर विद्रोह को दबाने के लिए जापानी, रूसी, ब्रिटिश, अमरीकी, फ्रांसीसी और जर्मन सभी साम्राज्यवादी सरकारों ने अपनी-अपनी सेनाएं भेजीं। विद्रोही हरा दिये गये। साम्राज्यवादी देशों की सम्मिलित सेना ने पिकिंग पर हमला किया। पिकिंग शहर लूट लिया गया और उनके निवासियों पर आमानुषिक अत्याचार किये गये। इस समय 'सभ्य' यूरोपीय की सरकारों ने अपनी तथाकथित 'सभ्यता' का अच्छा परिचय दिया। ची‌ को बाध्य होकर इन कठोर साम्राज्यवादियों से समझौता करना पड़ा, इसके अनुसार चीन को मजबूर होकर विदेशियों को और भी अधिक सुविधाओं के साथ-साथ एक बहुत बड़ी रकम हर्जाना के रूप में देनी पड़ी। इसके अतिरिक्त चीन के एक राजदूत को जर्मनी की राजधानी बर्लिन जाकर जर्मन राजदूत की हत्या के लिए क्षमा-याचना करनी पड़ी।

जिस समय चीन के रंगमंच पर साम्राज्यवादी राज्यों द्वारा यह अनुमानित नाटक खेला जा रहा था उस समय रूस चीन में अपने राज्य-विस्तार के कार्य में व्यस्त था। रूसी विस्तार की कुछ कहानी ऊपर कही जा चुकी है। लेकिन, बोक्सर-विद्रोह के समय और उसके बाद उसको राज्य विस्तार का एक दूसरा स्वर्ण अवसर प्राप्त हो गया। ब्रिटेन रूस के इस प्रसार से काफी चिंतित हो रहा था। उसको भय था कि इसी तरह

राज्य-विस्तार करते करते कहीं रूस भारत की सीमा तक नहीं पहुंच जाय। रूस के इस विस्तार को रोकना ब्रिटेन के लिए आवश्यक हो गया। अत: 1902 में उसने जापान के साथ एक संधि की। इस संधि का मुख्य उद्देश्य रूस के विस्तार को रोकना था। चीन में रूस की महत्वाकांक्षा बढ़ती जा रही थी। जापान इसको सहने के लिए तैयार नहीं था। वह किसी भी मूल्य पर रूसी विस्तार को रोकना चाहता था। इसके फलस्वरूप कुछ ही दिनों में रूस-जापान युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

आंग्ल-जापान संधि (1902)
(Anglo-Japanes Treaty, 1902)

संधि का पृष्ठाधार : 1902 की आंग्ल-जापान संधि बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी की पहली कूटनीतिक क्रांति थी। उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण से जापान की अपूर्व प्रगति हो रही थी। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप जापान बिल्कुल बदल चुका था। इसके परिणामस्वरूप जापान को भी उपनिवेश कायम करने की अभिलाषा हुई। उस समय जापान का पड़ोसी राष्ट्र चीन सबसे कमजोर था। यूरोपीय राष्ट्र चीन की लूट-खसोट में लगे हुए थे। जापान की निगाहें भी चीन पर लगी थीं और वह भी चीन लूट-खसोट में शामिल हो गया। 1894-95 का चीन-जापान-युद्ध जापान की इसी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का परिणाम था। इस युद्ध में ब्रिटेन की सहानुभूति जापान के साथ थी। जापानी लोग ब्रिटेन के द्वारा इस प्रकार की सहानुभूति प्रदर्शित क़िये जाने पर काफी खुश थे। इस समय 1894 में ब्रिटेन और जापान में एक संधि हुई, जिसके द्वारा दोनों देशों के बीच सभी असमान स्तर पर की गयी संधियों का अंत कर दिया गया। जापान ब्रिटेन की इन सद्भावनाओं से काफी खुश था। ऐसा लगता था कि ब्रिटेन की सुदूर पूर्वीय नीति में कोई महान परिवर्तन होने वाला है। ब्रिटेन और जापान का मेल-मिलाप बढ़ रहा था। ब्रिटेन द्वारा तटस्थता की नीति का परित्याग करने का सबसे बड़ा समर्थक चैम्बरलेन इस वातावरण से लाभ उठाना चाहता था। जिस समय वह जर्मनी से वार्तालाप कर रहा था उसी समय (1898) उसने जापान के साथ संधि करने का बात भी उठायी थी। कुछ कारणवश चैम्बरलेन की यह अभिलाषा भी पूरी न हो सकी। ब्रिटेन में अभी भी तटस्थता की नीति के समर्थकों की संख्या अधिक थी और वे नहीं चाहते थे कि ब्रिटेन किसी अन्य देश के साथ गठबंधन करे। ऐसा होने पर भी बीसवीं सदी के प्रारंभ में जापान और ब्रिटेन के बीच एक संधि का हो जाना आवश्यक हो गया।

सुदूर पूर्व रूस की प्रसार-नीति के कारण ही आंग्ल-जापान संधि संभव हो सकी। पिछले पच्चीस वर्षों से रूस इस क्षेत्र में अपने साम्राज्यवादी जाल को फैलाने का सफलतापूर्वक प्रयास करता चला आ रहा था। मंचूरिया, मंगोलिया तथा तुर्किस्तान में रूस का अधिकार हो चुका था। रूस का यह प्रसार ब्रिटेन और जापान दोनों के लिए चिंता का विषय बन रहा था। चीन में जापान का गहरा स्वार्थ था। वह संपूर्ण चीन को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना चाहता था। उधर ब्रिटेन के लिए भी रूसी प्रसार सरदर्द बना हुआ था। ब्रिटेन को भय था कि सुदूर पूर्व में अपना प्रभाव जमाकर कहीं भारतवर्ष पर न आ धमके। इस प्रकार इस क्षेत्र में ब्रिटेन और जापान दोनों के हित रूस से टकराते थे। ऐसी स्थिति में आंग्ल-जापानी संधि का होना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं थी।

1901 में ही लंदन में आंग्ल-जापानी संधि के लिए वार्तालाप प्रारंभ हो चुका था। इस प्रकार की संधि का प्रस्ताव सर्वप्रथम जर्मनी की ओर से आया था। जिस समय जर्मनी और ब्रिटेन में संधि के लिए वार्तालाप चल रहा था उस समय जर्मनी ने यह सुझाव रखा था कि उस प्रस्तावित संधि में जापान को भी सम्मिलित किया जाय। पीछे चलकर स्वयं जर्मनी ही इस वार्तालाप से अलग हो गया; क्योंकि वह रूस को नाखुश करके कोई संधि नहीं करना चाहता था। पर ब्रिटेन ने जापान के साथ वार्तालाप जारी रखा और 1902 में दोनों राज्यों के बीच संधि हो गयी।

1894 के चीन जापान युद्ध के बाद जापान की राजनीति में दो दल थे। एक दल का विचार था कि जापान को अपनी हित-रक्षा के लिए रूस के साथ दोस्ती कर लेनी चाहिए। इसके विपरीत दूसरा दल ब्रिटेन के साथ मैत्री का समर्थक था। अंततोगत्वा दूसरे दल के विचारों की विजय हुई और ब्रिटेन तथा जापान में सरकारी तौर से संधि के लिए वार्तालाप होने लगा।

यह बात समझ में आ सकती है कि जापान ब्रिटेन के साथ संधि करने को इच्छुक था। लेकिन ब्रिटेन ऐसी संधि के लिए क्यों इच्छुक था ? एक एशियाई देश के साथ संधि करने के लिए ब्रिटेन ने परंपरा से आनेवाली 'शानदार तटस्थता' की नीति का क्यों परित्याग कर दिया ? इसका एकमात्र कारण यही था कि ब्रिटेन रूस के प्रसार से काफी डर गया था। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दिनों में ब्रिटेन उत्तरी अफ्रीका के प्रश्न को लेकर व्यस्त था। लेकिन उस शताब्दी के अंत होने के साथ-साथ ब्रिटेन में उत्तरी अफ्रीका के संकटों का भी अंत हो गया। अब ब्रिटेन सुदूरपूर्व की राजनीति में दृढ़तापूर्वक हस्तक्षेप करने की स्थिति में पहुंच चुका था। ब्रिटेन के कूटनीतिज्ञ सुदूर पूर्व में रूस की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए तैयार हो गये। ब्रिटेन पहले जर्मनी के साथ समझौता करने को राजी नहीं था। उधर फ्रांस भी रूस का मित्र था। दोनों देश द्विगुट के सदस्य थे। अब पश्चिमी शक्तियों में केवल संयुक्त राज्य अमेरिका ही बच रहा था, जिसके साथ ब्रिटेन की कोई संधि हो सकती थी। उस समय संयुक्त राज्य अमेरिका भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में 'पृथकता की नीति' का अवलंबन कर रहा था। अमेरिका ब्रिटेन के साथ संधि करने को तैयार नहीं था। ऐसी हालत में जापान ही एक ऐसा देश बच गया जिसके साथ ब्रिटेन की संधि हो सकती थी। फलस्वरूप कुछ हिचकिचाहट के बाद ब्रिटेन ने तटस्थता की नीति का परित्याग करने का निर्णय कर लिया और जापान के साथ 1902 में उसकी संधि हो गयी। विनायक के शब्दों में विश्व राजनीति के इतिहास में यह 'एक महान घटना' थी।

संधि की शर्तें : संधि की शर्तों के अनुसार - (1) दोनों राष्ट्रों ने सुदूरपूर्व में यथास्थिति तथा चीन की प्रादेशिक अखंडता बनाये रखने का वादा किया। (2) दोनों राष्ट्रों ने वादा भी किया कि वे चीन में 'खुले दरवाजे की नीति' (open door policy) का अवलंबन करेंगे। (3) जापान ने इस बात को मान लिया कि चीन में ब्रिटेन का विशेष स्वार्थ है और ब्रिटेन ने इसके बदले में इस बात की मान्यता दे दी कि चीन में विशेष स्वार्थ होने के साथ-साथ कोरिया में भी जापान का विशेष स्वार्थ था। (4) इन विशेष स्वार्थों की रक्षा के लिए यदि दोनों में से किसी देश को किसी तीसरे देश से युद्ध हो जाता है तो वैसी हालत में दूसरा देश तटस्थ रहेगा और इस युद्ध को विश्वव्यापी युद्ध के रूप में परिणत होने से रोकेगा। (5) युद्ध की हालत में अगर कोई अन्य देश जापान या ब्रिटेन के शत्रु का साथ देंगे तो वैसी स्थिति में इस संधि पर हस्ताक्षर करनेवाले दोनों देश एक-दूसरे को सक्रिय मदद करेंगे। (6) संधि की शर्तें पांच वर्ष तक लागू रहेंगी।

संधि का महत्व : इस प्रकार आंग्ल-जापानी संधि का यह अर्थ था कि कूटनीतिक क्षेत्रों में दोनों मित्रराष्ट्र एक दूसरे से मिल-जुलकर काम करेंगे, जिससे सुदूर पूर्व में रूस का प्रभाव और अधिक नहीं बढ़े। यदि कूटनीतिक उपायों से रूस के प्रसार को नहीं रोका गया तो जापान युद्ध के मैदान में रूस का विरोध करेगा। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन का यह काम होगा कि वह इस प्रकार का कूटनीतिक प्रयास करे जिससे रूस को किसी अन्य राष्ट्रों से मदद नहीं प्राप्त हो। यदि ब्रिटेन अपने इस प्रयास में असफल हो जाय और रूस का साथ कोई अन्य देश दे तो वैसी हालत में ब्रिटेन अपनी संपूर्ण सैन्य-शक्ति के साथ जापान की मदद करे। आंग्ल-जापानी संधि का यही उद्देश्य था।

आंग्ल-जापान के साथ संधि कायम होने से रूस और फ्रांस दोनों काफी भयभीत हो गये। इसका तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि रूस को अपनी सुदूर पूर्वीय नीति में काफी परिवर्तन करना पड़ा और कुछ दिनों के लिए प्रसार की नीति का परित्याग भी कर देना पड़ा। लेकिन, इससे भी बढ़कर इसके व्यापक परिणाम और भी महत्वपूर्ण थे।

ब्रिटेन जैसे पश्चिम के एक महान राष्ट्र के साथ जापान-जैसे एशियाई देश के साथ संधि होना विश्व के कूटनीतिक इतिहास की एक असाधारण घटना थी। जापान के उत्थान तथा उसके एशिया का एक महान राष्ट्र बनने के इतिहास में यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण कदम था। आधुनिक युग में आंग्ल-जापानी संधि ही वह प्रथम संधि थी, जो एक यूरोपीय और एशियाई देश के बीच समानता के स्तर पर की गयी थी। इसके पूर्व यूरोपीय देश एशियाई देशों को हेय दृष्टि से देखते थे। श्री विनायक के शब्दों में इसका अर्थ था कि अब से जापान की गणना संसार के महान राष्ट्रों में होने लगी। संधि द्वारा जापान को सरकारी तौर पर यह मान्यता प्राप्त हो गयी। विश्व राजनीति के रंग-मंच पर ज़ापान को वह स्थान प्राप्त हो गया जो अभी तक किसी एशियाई देश को नहीं मिल सका था। इसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि इस संधि की बदौलत जापान रूस के प्रसार को रोकने के लिए तैयार हो गया। 1895 में जापान को रूसी जा. के मंत्रियों की बात माननी पड़ी थी; लेकिन अब वह समय दूर नहीं था जब रूस को जापान की बातों का आदर करना पड़े। इस संधि ने जापानी साम्राज्यवाद की नींव को मजबूत बना दिया और जापान की संपूर्ण साम्राज्यवादी नीति इसी मजबूत नींव पर आधारित हो गयी।

आंग्ल-जापानी संधि का महत्व केवल सुदूरपूर्व की राजनीति में ही नहीं बल्कि यूरोप के इतिहास में भी है। ब्रिटेन अपनी तटस्थता की नीति को छोड़ रहा था, इसका प्रथम संकेत इसी संधि से मिला। इसी संधि से प्रोत्साहित होकर जापान ने रूस के प्रसार को रोकने के लिए 1904 में उसके साथ युद्ध किया और उसमें उसको पराजित किया।

रूस-जापान युद्ध (1904-5)

युद्ध के कारण : रूस-जापान युद्ध आंग्ल-जापानी संधि का तात्कालिक परिणाम था। 'बोक्सर- विद्रोह' के बाद कोई-न-कोई बहाना लगाकर रूस मंचूरिया में अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। उसका उद्देश्य मंचूरिया को रूसी साम्राज्य में मिला लेना था। दूसरे साम्राज्यवादी राज्यों ने इसका विरोध किया। रूसी साम्राज्य के विस्तार से सबसे अधिक खतरा ब्रिटेन और जापान को था। अतः इसका मुकाबला करने के लिए इन दोनों ने 1902 में एक संधि कर ली। आंग्ल-जापानी संधि के बाद रूस ने अपनी मंचूरिया-संबंधी नीति में कुछ परिवर्तन किये। 1902 में मंचूरिया-समझौते के अनुसार रूस ने मंचूरिया से अपनी सेना हटाने का वादा किया; लेकिन वह इस वादे को पूरा करने के लिए तैयार नहीं था। वह सिर्फ मंचूरिया के एक कोने से अपनी सेना हटाकर दूसरे कोने में इकट्ठा कर देता था। कुछ दिनों के बाद रूस ने अपनी सेना हटाने से साफ-साफ इंकार कर दिया। वह इतने ही से संतुष्ट नहीं हुआ। उसने चीन से यह मांग की कि वह रूस को मंचूरिया में आर्थिक एकाधिपत्य कायम करने की अनुमति दे दे।

मंचूरिया में रूस का विस्तार हो ही रहा था, कोरिया में भी वह अपना प्रभाव फैलाने की फ्रिक में था। रूसी फौज एक-न-एक बहाने कोरिया में पहुंचने लगी। इससे सबसे अधिक खतरा जापान को था। जापान कभी भी यह सहने को तैयार नहीं था कि कोरिया में रूस के प्रभाव का विस्तार हो। 1904 के प्रारंभ में रूसी सेना की एक टुकड़ी लकड़ी काटने के बहाने कोरिया पहुंची। इस समय जापान ने हस्तक्षेप किया। उसने यह मांग की कि दोनों देश (रूस और जापान) वादा करें कि वे कोरिया और चीन की प्रादेशिक अखंडता को बनाये रखेंगे और पूर्वी एशिया में 'खुले दरवाजे की नीति' का अवलंबन करेंगे। इसके अतिरिक्त जापान ने यह सुझाव भी रखा कि रूस इस बात को मान ले कि कोरिया में जापान के विशेष स्वार्थ हैं। इसके बदले में जापान मंचूरिया में रूस के विशेष स्वार्थ को मानने के लिए तैयार नहीं था। लेकिन, रूस इस तरह के किसी सुझाव को मानने के लिए तैयार नहीं था। उसने झट एक दूसरा प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव ऐसा था कि यदि जापान उसको मान लेता तो मंचूरिया में रूस को छूट मिल जाती और कोरिया में जापान पर तरह-तरह के प्रतिबंध लग जाते।

इस हालत में जापान ने युद्ध द्वारा ही इस मामले को निर्णय करने का फैसला लिया। जापान को कोई भय नहीं था। उसकी सेना संगठित थी और संसार का एक महान राष्ट्र ब्रिटेन उसका मित्र था। 1904 के फरवरी में कूटनीतिक वार्तालाप का अंत हो गया और 5 तारीख को रूस-जापान युद्ध प्रारंभ हो गया।

रूस-जापान-युद्ध : जापान युद्ध के मैदान में पहले-पहल यूरोप के एक महान शक्तिशाली देश से लोहा ले रहा था। प्रारंभ में ऐसा मालूम पड़ा कि यह युद्ध दो आसमान प्रतिद्वंद्वियों के बीच है। जापानी 'बाबना' और रूसी 'दानव' में समानता ही कैसी! लेकिन, 'बावना' युद्ध के लिए पहले से भली-भांति तैयार था। रूस और जापान में जहां-तहां भी लड़ाई हुई, प्रायः सभी स्थानों पर जापानी सेनाएं विजयी रहीं। विश्व इतिहास में ऐसा उदाहरण कहीं-कहीं मिलता है कि एक देश जो पच्चास साल पूर्व तीर और धनुष से लड़ता था, एक महान् शक्तिशाली यूरोपीय राज्य को बुरी तरह हरा दे। अमरीकी राष्ट्रपति रूजबेल्ट की मध्यस्थता के फलस्वरूप इस युद्ध का अंत हुआ। युद्ध के बाद रूस और जापान के बीच 5 सितंबर, 1905 के दिन एक संधि हुई, जिसको पोर्टसमाउथ की संधि (Treaty of Portsmouth) कहते हैं। इस संधि के अनुसार (1) पोर्ट आर्थर और लाओतुंग प्रायद्वीप जापान को प्राप्त हुए, (2) कोरिया पर जापान का प्रभुत्व स्वीकृत किया गया, और (3) मंचूरिया को दो प्रभाव क्षेत्रों में बांट दिया गया। उत्तरी मंचूरिया पर रूस और दक्षिणी मंचूरिया पर जापान का प्रभाव स्वीकृत किया गया। युद्ध में हारे हुए रूस से विजयी जापान को कोई हर्जाना नहीं मिल सका।

रूस-जापान युद्ध के परिणाम : युद्ध में जापान ने अपनी संपूर्ण शक्ति लगा दी थी। इसी कारण वह विजयी हुआ था। इस युद्ध के बाद जापान की गणना संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों में होने लगी। लेकिन, युद्ध से जापान को जो लाभ हुए उससे वह संतुष्ट नहीं था। विजय हासिल करने के बाद भी उसको कोई हर्जाना नहीं मिला। जापान के शासक इससे काफी रुष्ट थे पर इससे उन्हें कोई सदमा नहीं पहुंचा। वे जानते थे कि उन्हें कितने विशाल शत्रु से लोहा लेना पड़ा था और उन्होंने जमकर उससे लोहा लिया था। जापान के उत्साह और सामरिक पटुता का प्रदर्शन दुनिया में हो चुका था। उसका सबसे बड़ा दुश्मन रूस, जिसको जापानी घृणा की दृष्टि से देखते थे, अपमानसहित घुटने टेकने पड़े थे। रूस पस्त था। वहां आंतरिक कलह था और राजनीतिक क्रांति की तैयारी हो रही थी। जापान अपने दुश्मन की यह दुर्दशा देख फूला नहीं समाता था।

जापानी साम्राज्यवाद का विस्तार : रूस-जापान-युद्ध में विजय के कारण पूर्व-एशिया की राजनीति में जापान एक कदम और आगे बढ़ गया। वह किसी प्रकार चीन में पहुंचना चाहता था। इसी उद्देश्य से 1894 में उसने चीन के साथ युद्ध किया था। युद्ध से उनको अपने उद्देश्यपूर्ति में सफलता भी मिली थी। लेकिन तीन राज्यों के हस्तक्षेप ने उसके किये-कराये काम को नष्ट कर दिया था। रूस-जापान-युद्ध से इस क्षति की पूर्ति हो गयी। इस बार जापान को चीन में घुस जाने का मौका मिल गया। जापान को युद्ध से इतने लाभ हुए, जिसकी कल्पना युद्ध के पूर्व या बाद जापान के जिम्मेवार शासक भी नहीं कर सके थे। उसने रूस को पूर्वी एशिया की राजनीति से एक कदम पीछे हटा दिया। मंचूरिया पर नाममात्र के लिए रूस का प्रभाव रहा। जापान ने युद्ध में साबित कर दिया कि वह संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों में एक है। इस आधार पर उसने ब्रिटेन से आग्रह किया कि वह आंग्ल-जापानी संधि को इस तरह दुहराये जिससे जापान को कुछ और लाभ हो। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि कोरिया से रूस का प्रभाव सदा के लिए जाता रहा। जब जापान कोरिया में निर्विरोध अपना प्रभाव फैला सकता था, उसको रोकनेवाला कोई नहीं रहा। मौका पाकर 1910 में जापान ने कोरिया को पूर्णतया अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार कोरिया को जापान के अधीन लाने की नींव रूस जापान युद्ध में विजय के कारण मजबूत हो गयी। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इस युद्ध से जापान को लाभ-ही-लाभ हुए; उतना लाभ जिसकी कल्पना जापान के शासक भी नहीं कर रहे थे।

रूस-जापान-युद्ध का परिणाम इतना व्यापक था कि इसका प्रभाव जापान, चीन, रूस तथा यूरोपीय एशियाई राजनीति पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। जैसा की ऊपर कहा जा चुका है, जापान को इस युद्ध से लाभ-ही-लाभ हुए। उसके लिए तो यह युद्ध राष्ट्रीय जीवन-मरण का प्रश्न था। अगर जापान इस युद्ध में

हार जाता तो उसके सारे मनसूबों पर पानी फिर जाता। लेकिन वह हारा नहीं, वह विजयी था। समूचे संसार में और खासकर पूर्वी एशिया में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। जापान का उत्साह बढ़ा और उसी दिन से उसने उग्र साम्राज्यवादी जीवन अपनाया, जिसके फलस्वरूप 1910 में उसने कोरिया को जीता और प्रथम विश्वयुद्ध के समय चीन से इक्कीस मांगें कीं।

चीन पर प्रभाव : रूस-जापान-युद्ध का परिणाम चीन की राजनीति पर दो तरह से पड़ा। चीन में जिस तीव्रता के साथ साम्राज्यवादी होड़ चल रही थी उसको लेकर स्वयं साम्राज्यवादियों में ही संघर्ष हो जाने की पूर्ण संभावना थी। रूस-जापान-युद्ध ने इस तथ्य को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया था। कहना न होगा कि साम्राज्यवादी इस तरह के संघर्ष से बचना चाहते थे। अत: चीन के शोषण में उन्होंने परस्पर सहयोग करने का फैसला किया। वे तो मिल-जुलकर चीन का शोषण करें, नहीं तो आपस में लड़कर अपना विनाश स्वयं कर लें। इसके अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प नहीं था। अत: रूस-जापान-युद्ध से चीन में "खुले दरवाजे की नीति" को काफी प्रोत्साहन मिला।

रूस-जापान-युद्ध से चीन के जागरण में बड़ी सहायता मिली। 1894 में चीन-जापान-युद्ध तथा उसके बाद चीन में प्रभाव क्षेत्र कायम करने की अंतर्राष्ट्रीय होड़ के प्रतिक्रियास्वरूप चीन में 'बोक्सर-विद्रोह' हुआ था। 1904-5 के रूस-जापान-युद्ध ने 1914 की चीनी क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार की। चीन के देशभक्त को रूस-जापान युद्ध से एक मिश्रिंत अनुभव हुआ। युद्ध में जापान ने एक विशाल और शक्तिशाली राज्य को परास्त कर दिया था। वे लोग भी जापान के समान उन्नत और शक्तिशाली राज्य बनाने की बात सोचने लगे। चीनी देशभक्त इस समय चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि चीन में नवयुग आना चाहिए और वर्तमान युग की बातों को अपनाये बिना मातृभूमि का कल्याण नहीं हो सकता। चीन में एक नये आंदोलन का सूत्रपात हुआ जिसके नेता डॉ० सनयात सेन थे। इसके नेतृत्व में 1911 में चीन में एक बहुत बड़ी क्रांति हुई, जिसके फलस्वरूप चीन से राजतंत्र का अंत हो गया और गणतंत्र की स्थापना हुई।

रूस पर प्रभाव : रूस-जापान-युद्ध का प्रभाव रूस की आंतरिक राजनीति पर भी पड़े बिना नहीं रह सका। उस समय रूसी स्वेच्छाचार के खिलाफ रूस में विद्रोह की आग सुलग रही थी। इसी बीच रूस-जापान युद्ध शुरू हो गया और रूस जापान से हार गया। इसका एक कारण यह था कि रूसी जनता की सहानुभूति अपने देश के प्रति नहीं थी। रूसी जनता के सामने उस समय रोटी और राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रश्न था। विशाल रूसी साम्राज्य में कुछ और प्रदेश सम्मिलित हो जायं इस बात में उनकी दिलचस्पी नहीं थी। रूस के बहुत से लोग तो जापान के प्रति सहानुभूति भी रखते थे और वे रूस की पराजय का वृत्तांत जानकर मन-ही-मन खुश हो रहे थे। ऐसी स्थिति में रूस का जीतना असंभव था। इसके अतिरिक्त रूसी सरकार की हालत भी खराब थी। उसके अधिकांश कर्मचारी भ्रष्ट और बेईमान थे। वे सेना को उचित सामान या हथियार नहीं पहुंचा सकते थे। इसी राष्ट्रीय-पतन के कारण रूस युद्ध में हार गया। स्वेच्छाचारी राजतंत्र की कमजोरी प्रकट हो गयी। जनता को स्वतंत्र होने का अच्छा अवसर हाथ लगा। रूस में विद्रोह हो गया। 'युद्ध को समाप्त कर दो', 'एकतंत्र शासन को नष्ट कर दो' इत्यादि, नारों से मास्को और सेन्टपीट्सवर्ग की गलियां गूँज उठीं। 1905 की रूसी राज्य-क्रांति, रविवार, 26 जनवरी का वीभत्स हत्या कांड, ड्यूमा की स्थापना, रूस में वैध राजसत्ता कायम करने का विफल प्रयास आदि सभी रूस-जापान युद्ध के परिणाम थे।

यूरोपीय राजनीति पर प्रभाव : रूस की विदेश-नीति तथा यूरोपीय राजनीति पर भी रूस-जापान युद्ध का प्रभाव पड़ा। क्रीमिया-युद्ध में हारने के बाद रूस पूर्वी एशिया में अपने विस्तार की योजना बना रहा था। इस योजना में काफी सफलता भी मिली थी। रूस की इस सफलता को ब्रिटेन और जापान नहीं सह सकते थे। इसी कारण रूस-जापान युद्ध हुआ। हारने के बाद रूस को पता चला कि पूर्वी एशिया में उसकी दाल

गलने नहीं को है। अतः वह इस क्षेत्र से धीरे-धीरे अपना राजनीतिक जाल बटोरने लगा। रूस वस्तुतः साम्राज्यवादी देश था। अगर पूर्वी एशिया में उसकी कुछ नहीं चलती तो निकटपूर्व तथा बाल्कन-प्रायद्वीप में वह अपना साम्राज्यवादी जाल फैला सकता था। नतीजा यह हुआ कि जापान से हारने के बाद रूस की साम्राज्यवादी कूटनीति निकटपूर्व और बाल्कन-प्रायद्वीप में केंद्रीभूत हो गयी। यह यूरोपीय शांति के लिए बड़े खतरे की बात सिद्ध हुई। रूस इस क्षेत्र में कूद पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप वहां की राजनीति काफी जटिल हो गयी और तरह-तरह के अंतर्राष्ट्रीय संकट पैदा होने लगे। यह कहना अनुचित न होगा कि 1908 का बोर्स्निया-कांड तथा 1912-13 का बाल्कन युद्ध रूस-जापान-युद्ध के यूरोपीय परिणाम थे।

एशियाई राष्ट्रीयता पर प्रभाव : प्रोफेसर मैंगसर के अनुसार एशिया में इस युद्ध का परिणाम अभी काम कर रहा था। 1947 में दिल्ली में प्रथम अंतर-एशियाई सम्मेलन हुआ था। उस सम्मेलन में यह विचार प्रकट किया गया कि रूस-जापान-युद्ध ने एशिया के इतिहास परिवर्तन में बहुत बड़ा योग दिया था। वास्तव में जापान की विजय से एशियाई राष्ट्रीयता को बहुत प्रोत्साहन मिला। जापान की विजय की खुशी संपूर्ण एशिया में मनायी गयी। एशिया में राष्ट्रवादी युद्ध के परिणाम को बड़े चाव से देख रहे थे। जब रूस हार गया तो उन्होंने संतोष की एक लंबी सांस ली। आज तक एशिया के पराधीन लोगों को अंधविश्वास था कि पश्चिम की शक्ति अजेय है, उसे विश्व की कोई शक्ति परास्त नहीं कर सकती है। लेकिन जापान द्वारा रूस के हारने से यह अंधविश्वास सदा के लिए जाता रहा। समस्त एशिया के राष्ट्रवादी समझने लगे कि जापानी तरीके को अपनाकर एशिया के अन्य देश यूरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रूस-जापान-युद्ध के परिणामस्वरुप एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद की मानसिक जड़ हिल गयी।

रूस जापान-युद्ध का प्रभाव भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर विशेष रूप से पड़ा। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक जापान विजय की खुशी मनायी गयी। भारतीयों में एक नये बल का संचार हुआ और वे गंभीरतापूर्वक सोचने लगे कि मातृभूमि की मुक्ति के लिए जापान के तरीकों को क्यों नहीं अपनाया जाय। 1905 के इर्द-गिर्द बंगभंग आंदोलन तथा स्वदेशी आंदोलन के साथ-साथ हमारे देश में जो आतंकवादी आंदोलन चल पड़ा था, उसको जापानी विजय से काफी प्रेरणा मिली थी। इसको हम इस तरह भी कह सकते हैं कि बंगभंग आंदोलन, स्वदेशी-आंदोलन तथा भारतीय राष्ट्रीयता में आतंकवाद का प्रादुर्भाव रूस-जापान-युद्ध के भारतीय परिणाम थे। ठीक इसी समय आयरलैंड, मिस्र, तुर्की, चीन, हिंदेशिया इत्यादि देशों में राष्ट्रीय विद्रोह की आग सुलग रही थी। रूस-जापान-युद्ध के बाद यह आग प्रज्ज्वलित हो उठी। एशिया के उग्र राष्ट्रवादियों की तत्कालीन मानसिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व हमें पंडित जवाहरलाल नेहरु की 'आत्मकथा' में मिलता है। उस समय भारत का यह भावी प्रधानमंत्री जापान की विजयों की कहानी सुनकर फूला नहीं समाता था। उन्होंने लिखा है—"मैं प्रतिदिन समाचारपत्रों की प्रतीक्षा बड़ी व्यग्रता से किया करता था। जापान की विजय के समाचार पढ़कर मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहता था। राष्ट्रीय भावनाओं में मैं इतना ओत-प्रोत हो जाता था कि बराबर यही सोचा करता था कि यह स्वर्णिम अवसर कब आएगा जब यूरोप के चंगुल से एशिया और भारत की मुक्ति के लिए मैं हाथ में तलवार लेकर साम्राज्यवादियों से लड़ूंगा।" इस प्रकार साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया में नव जागृति लाने में रूस-जापान-युद्ध ने बहुत बड़ा काम किया।

प्रशांत महासागर में साम्राज्यवाद

अफ्रीका के बंटवारे के साथ प्रशांत महासागर के द्वीपों की भी छीनाझपटी चल रही थी जिसमें यूरोपीय राष्ट्रों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र भी भाग ले रहा था। 1900 तक प्रायः समस्त द्वीप किसी-न-किसी के पास पहुंच गये थे। इंगलैंड और फ्रांस वहां पहले पहुंचे थे। अतः अधिकांश द्वीप उनके हाथ लगे। परंतु हॉलैंड के

पास भी एशिया के दक्षिण-पश्चिम में पूर्वी इंडीज के द्वीप समूह में उसका विस्तृत साम्राज्य बना रहा। जर्मनी में न्यूगिनी के विशाल द्वीप के एक भाग तथा उसके उत्तर की ओर कई द्वीप और सेमोआ द्वीप-समूह के दो सबसे बड़े द्वीपों पर अधिकार कर लिया। उसने 1899 में स्पेन से केरोलिन द्वीप भी खरीद लिये। संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्याम तथा फिलिपाइन द्वीप ले लिये। 1898 में हवाई द्वीप पर उसने अधिकार कर लिया और 1899-1900 में इंगलैंड और जर्मनी से मिलकर सेमोआ द्वीप-समूह के द्वीपों को भी अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। इस द्वीप समूह के संबंध में कई बार संघर्ष का डर रहा परंतु 1900 में एक समझौता हो गया जिसके द्वारा इंगलैंड, जर्मनी तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव क्षेत्रों का निर्धारण हो गया और मामला सुलझ गया।

अध्याय 13

पूर्वीय समस्या और बर्लिन-व्यवस्था

(The Eastern Question & Berlin Settlement)

आधुनिक युग की विश्व-राजनीति के इतिहास में पूर्वीय समस्या (Eastern Question) एक महत्वपूर्ण विषय है। 1871 से 1914 तक के काल में इसने विश्व की राजनीति को बहुत हद तक प्रभावित किया। इसी समस्या के कारण प्रथम विश्वयुद्ध उत्पन्न हुआ। यही कारण है कि प्रथम विश्वयुद्ध को तुर्की के "उत्तराधिकार का युद्ध" (War of the Turkish Succession) कहा जाता है।

ओटोमन साम्राज्य : तुर्की साम्राज्य (Ottoman Empire) की स्थापना इस्लामी साम्राज्य-विस्तार की कहानी का एक भाग है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में, जब इस्लामी साम्राज्य का पतन हो रहा था, सलजुक तुर्क नामक एक जाति ने इस्लाम धर्म को स्वीकार करके इस्लामी साम्राज्य को पतन से बचा लिया। 1071 में पूर्वी रोमन साम्राज्य पर उसका भयंकर आक्रमण हुआ था। सारे यूरोप के लिए यह एक बहुत बड़े पैमाने पर चुनौती थी। पंद्रहवीं शताब्दी में पूर्वी रोमन साम्राज्य दुर्बल हो जाने पर 1453 में सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने उसपर आक्रमण करके उसकी राजधानी कान्सटेटिनोपल पर अधिकार जमा लिया और तुर्क साम्राज्य की स्थापना की। यूरोप में तुर्कों का प्रवेश यहीं से शुरू होता है।

तुर्क लोग बढ़ते रहे और अगले दो शताब्दियों के अंदर दक्षिण-पूर्व यूरोप का एक बहुत बड़ा भू- भाग उनके कब्जे में आ गया। सोलहवीं शताब्दी तक तुर्क सुल्तान की सेनाएं बराबर बेनिस की रिपब्लिक तथा आस्ट्रियन साम्राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करके तुर्क साम्राज्य का विस्तार करती चली गयीं। 1683 में तुर्क सेनाओं ने आस्ट्रिया की राजधानी वियना पर भी आक्रमण किया। लेकिन यह आक्रमण सफल नहीं हो सका। हप्सिबुर्ग राजाओं ने डटकर तुर्की का मुकाबला किया। फलस्वरूप तुर्क लोग यूरोप में और आगे नहीं बढ़ सके। लेकिन इस समय तक बाल्कन प्रायद्वीप का अधिकांश तुर्की साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था और साम्राज्य की सीमाएं जर्मनी से जा मिली थीं। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में तुर्क साम्राज्य की उत्तरी सीमा नीस्टर नदी के किनारे जा लगी। डैन्यूब नदी के उत्तर में स्थित माल्डेविया और बेलेशिया भी तुर्की साम्राज्य के अंग बना लिये गये। मान्टेनिग्रो तथा डाल्मेशिया नामक दो छोटे राज्यों के अतिरिक्त शेष समस्त बाल्कन प्रायद्वीप पर तुर्की का हरा झंडा लहराने लगा। ईजिप्टयन सागर के सभी द्वीपों पर भी तुर्की का अधिकार हो गया। उधर एशिया में एशिया माइनर, सीरिया, फिलिस्तीन, मेसोपोटेमिया, आरमेनिया और अरब तथा अफ्रीकी महादेश में मिस्र और एल्जीयर्स विशाल तुर्की साम्राज्य के अंग बने हुए थे। इस प्रकार इस विशाल साम्राज्य में विभिन्न जातियों, प्रजातियों, धर्मों और सभ्यताओं के लोग बसे हुए थे। तुर्क लोग अपने विजित प्रदेशों की अन्य मतावलंबी जातियों को घृणा की दृष्टि से देखते तथा उनपर भीषण अत्याचार करते रहते थे।

यूरोप का मरीज : अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक तुर्की साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा पर रहा। पर उसके बाद उसका पतन होने लगा। तलवार के बल पर इतने बड़े साम्राज्य को टिकाये रखना असंभव हो गया। सहस्त्रों मील लंबे-चौड़े तुर्क साम्राज्य पर दृढ़तापूर्वक शासन करने के लिए बहुत ही बलवान, योग्य,

बुद्धिमान और अनुभवी शासक की आवश्यकता थी। लेकिन तुर्क सुल्तानों में इन गुणों का सर्वथा अभाव था। वे विलासी और आरामतलबी बन गये और शासन में ढिलाई आने लगी. साम्राज्य का शासन अस्त-व्यस्त हो गया। दूरस्थ प्रांतों के शासक, जो पाशा कहलाते थे, स्वतंत्र होने और मनमानी करने लगे। साम्राज्य का पतन तीव्र गति से होने लगा। तुर्की यूरोप का मरीज (Sick Man of Europe) कहा जाने लगा।

फ्रांस की क्रांति तक तुर्की साम्राज्य किसी तरह कायम रहा। लेकिन 1815 के बाद तुर्की साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी। यह प्रजातांत्रिक भावनाओं और राष्ट्रीयता का युग था। फ्रांस की क्रांति का प्रभाव बाल्कन प्रायद्वीप के लोगों पर पड़ा और राष्ट्रीयता के नाम पर वे अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता मांगने लगे।

पूर्वीय समस्या : तुर्क साम्राज्य की समस्या बढ़ने लगी और कुछ ही दिनों में इसका अंतर्राष्ट्रीयकरण हो गया। तुर्की का पतन अवश्यंभावी प्रतीत हो रहा था। इस कारण यूरोप की महाशक्तियों के सामने एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि तुर्की साम्राज्य के पतन के बाद उसके द्वारा रिक्त किये स्थान की पूर्ति किसके द्वारा होगी ? इसी समस्या ने पूर्वीय समस्या को जन्म दिया। यूरोपीय राज्यों के शासक बाल्कन प्रदेश की ईसाई जनता के राष्ट्रीय आंदोलनों को ओट में अपनी साम्राज्य-विस्तार की आकांक्षा पूरी करने के लिए उनको सहायता पहुंचाने का यत्न करने लगे। रूस काला सागर तथा जलडमरूमध्यों पर अधिकार करना चाहता था। आस्ट्रिया दक्षिण पूर्व की ओर अपने साम्राज्य विस्तार का अभिलाषी था। फ्रांस अपने लिए सीरिया और मिस्र में सुविधाएं प्राप्त करना चाहता था तथा ब्रिटेन भी तुर्की साम्राज्य के अफ्रीकी हिस्सा पर अधिकार जमाने का इच्छुक था। इसमें रूस की महत्वाकांक्षा पूरी हो जाती तो यूरोप का शक्ति संतुलन बिगड़ जाता तथा ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य पर प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न हो जाता। अतएव ब्रिटेन ने रूसी महत्त्वाकांक्षा को रोकने का निश्चय किया। इस प्रकार यूरोपीय राज्यों की स्वार्थपूर्ण रुचियों के कारण तुर्की साम्राज्य से संबंधित एक अत्यंत पेचीदी समस्या का जन्म हुआ जिसको पूर्वीय समस्या कहते हैं।

रूस का स्वार्थ : उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में राष्ट्रीयता के सिद्धांत तुर्की साम्राज्य की समस्या को जटिल बना ही रहा था, एक और घटना ने इसे और भी जटिल बना दिया। रूसी साम्राज्य तुर्की साम्राज्य का एक नया प्रतिद्वंद्वी बनने की तैयारी कर रहा था। रूस को यूरोप की एक महान शक्ति बनाने का वहां के सुप्रसिद्ध राजा पीटर (1672-1725) ने किया था। उसी के समय रूसी शासकों की महत्त्वाकांक्षा हुई कि रूस यूरोप ने निकल कर एशिया में अपने साम्राज्य का विस्तार करे। यूरोप से बाहर निकलने के लिए रूस को एक ही रास्ता था। उसका उत्तरी समुद्र, उत्तरी ध्रुव के बहुत समीप होने के कारण शीत ऋतु में जम जाता है और सामुद्रिक आवागमन का मार्ग बंद हो जाता है। रूस के पास सामुद्रिक आवागमन का केवल एक ही मार्ग ऐसा है जो सालों भर खुला रहता है। वह है काला सागर से डार्डेनल्स और बोस्फोरस के जलडमरूमध्यों से गुजरकर एजियन सागर में आना और फिर वहां से भूमध्य सागर में पहुंच जाना। रूस का समूचा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा जंगी जहाजों का आवागमन इसी मार्ग पर निर्भर था। वास्तव में, डार्डेनल्स और बोस्फोरस के जलडमरूमध्य रूस के लिए जीवन-मरण के प्रश्न थे। स्वेज नहर का जो महत्व ब्रिटेन के लिए इन जलडमरूमध्यों का था - ये दोनों जलडमरूमध्य तुर्की साम्राज्य के अंतर्गत थे। रूस इन पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब तुर्की साम्राज्य का पतन होने लगा तो रूस की बराबर यही कोशिश रही कि वह उस विशाल साम्राज्य को निगल जाय। इसके लिए वह तरह-तरह के दांव-पेंच लगाता रहा। इन राजनीतिक दांव-पेंचों का परिणाम यह हुआ कि तुर्की साम्राज्य की समस्या जटिल होने लगी।

बाल्कन देशों में राष्ट्रवाद : ऊपर कहा जा चुका है कि फ्रांस की क्रांति के द्वारा फैलाए गये राष्ट्रीयता के सिद्धांत की लहर में समूचा बाल्कन प्रायद्वीप ओतप्रोत हो रहा था। बाल्कन-प्रायद्वीप के विभिन्न राज्य अपने राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना का स्वप्न देखने लगे। उनकी इस आकांक्षा को उकसाने में रूस और आस्ट्रिया

विशेष रूप से सहायता प्रदान कर रहे थे। इन दोनों साम्राज्यों का हित इस बात में था कि तुर्की इतना कमजोर हो जाय कि वे बाल्कन क्षेत्र में अपना राज्य विस्तार न कर सकें। इस स्थिति में सबसे पहले 1804 में सर्बिया के युगोस्लाव लोगों ने तुर्की के खिलाफ विद्रोह किया। वह आंदोलन प्रायः 1829 तक चलता रहा। उस साल तुर्की ने सर्बिया की स्वतंत्रता मान ली। लेकिन, अभी भी सर्बिया पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हो सका। सर्बिया की राजधानी बेलग्रेड में भी तुर्की फौज रहती थी।

सर्बिया के बाद यूनानियों ने अपनी स्वतंत्रता-संग्राम शुरू किया। 1821 में यूनान स्वतंत्रता संग्राम प्रारंभ हुआ। यूनानी विजयी हुए और 1832 में उन्हें पूर्ण स्वतंत्र कर दिया गया। सर्बिया और यूनान के स्वतंत्र होने के बाद बाल्कन-प्रायद्वीप के अन्य राज्य भी स्वतंत्रता की मांग करने लगे। बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में एक नये युग का प्रारंभ हुआ।

रूस की नीति : तीव्र गति से तुर्की-साम्राज्य का पतन इस नये युग की मुख्य विशेषता थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में तुर्की एक जर्जर और मृतप्राय साम्राज्य हो चुका था। उसको यूरोप का मरीज कहा जाता था। तुर्की के रोग से सबसे अधिक लाभ रूस उठाना चाहता था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तुर्की में रूस का विशिष्ट स्वार्थ था। रूस को केवल डार्डेनल्स और बोस्फोरस के जलडमलमध्यों में ही दिलचस्पी नहीं थी। रूस का सम्राट अपने को वैजनटाइन साम्राज्य का उत्तराधिकारी मानता था। बाल्कन-प्रायद्वीप के अधिकांश लोग स्लाव नस्ल के थे। रूसी लोग भी इसी नस्ल के थे और उनके बीच बंधुत्व की भावना मौजूद थी। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र के निवासी ग्रीक-चर्च कें ईसाई थे और रूस का सम्राट ग्रीक चर्च का प्रधान था। इन सब बातों को लेकर रूस चाहता था कि किसी तरह तुर्की साम्राज्य का पतन हो जाय और वह स्वयं उसकी जगह ले ले। वैसी हालत में बाल्कन प्रायद्वीप के ग्रीक-चर्च के स्लाव ईसाई उसके अनुयायी हो जायेंगे और उन्हें वह जैसे चाहेगा नचायेगा। लेकिन, रूस के शासकों की महत्वाकांक्षा यहीं तक सीमित नहीं थी। वे तुर्की साम्राज्य के खंडहर पर एक विशाल रूसी साम्राज्य का महल उठाना चाहते थे। जब भी मौका मिलता वे यूरोप के महान् राष्ट्रों के सामने यह प्रस्ताव रखते कि तुर्की का पतन हो रहा है और वह मौका आ गया है कि उसको स्पेन या पोलैंड की तरह आपस में बांट लिया जाय। लेकिन इन सब बातों में रूस की एक ही चाल थी। रूस किसी तरह भूमध्यसागर तक पहुंच जाना चाहता था।

ब्रिटेन का विरोध : भूमध्यसागर में रूस का प्रवेश ब्रिटेन के लिए बड़ा खतरा था। ब्रिटेन का साम्राज्य समूचे संसार में फैला हुआ था और भारत उस साम्राज्य का सबसे बड़ा चमकता हुआ सितारा था। ब्रिटेन किसी भी हालत में इस बात को सहने के लिए तैयार नहीं था कि किसी प्रकार से उसके भारतीय साम्राज्य पर कोई खतरा पहुंचे। काकेशश और मध्य एशिया में जिस शीघ्रता से रूस का प्रभाव बढ़ रहा था, उसको देखते हुए ब्रिटिश सरकार चुपचाप नहीं बैठ सकती थी। ब्रिटिश सरकार तुर्की साम्राज्य में रूस का प्रभाव बढ़ने देना नहीं चाहती थी। रूस ने जब भी डार्डेनल्स और बोस्फोरस पर अधिकार जमाने का प्रयास किया, ब्रिटेन ने उसका विरोध किया। कैनिंग के समय से ही निकटपूर्व में किसी चेष्टाओं को विफल करना ब्रिटिश नीति का मूल आधार हो गया था। रूस ब्रिटेन को अपने पक्ष में करना चाहता था। रूसी सम्राट ने विचार किया कि तुर्की साम्राज्य को नष्ट करके यदि उसका एक हिस्सा ब्रिटेन को प्रदान कर दिया जाय तो संभवतः काम चल जायगा। ब्रिटेन चाहता था कि स्वेज नहर पर उसका कब्ज़ा रहे। रूस अपने लाभ के बदले में मिस्र और स्वेज में ब्रिटेन को छूट दे देने के लिए तैयार था। अपने लिए वह ब्रिटेन से यह मनवाना चाहता था कि कान्स्टेन्टिनोप्ल पर उसका अधिकार हो जाए। उसके बाद तुर्की-साम्राज्य के नष्ट हो जाने के पश्चात् बाल्कन-प्रायद्वीप में जो ईसाई राज्य कायम होंगे वे अनिवार्य रूप से रूस के प्रभाव क्षेत्र में आ जायेंगे। रूस समझता था कि इस सौदे में ब्रिटेन को लाभ-ही-लाभ है। उसको पूर्ण विश्वास था कि वह इसके लिए तैयार हो जायेगा। और, यदि तुर्की के मामले में रूस और ब्रिटेन एकमत हो जायें तो अन्य किसी यूरोपीय राज्य

की हिम्मत न होगी कि उनकी सम्मिलित नीति का विरोध कर सके। लेकिन, ब्रिटेन रूस की इस चाल में फंसने वाला नहीं था। जबतक लार्ड पामर्स्टन के हाथों में ब्रिटेन की विदेश नीति के संचालन का भार रहा तबतक उसने अपनी संपूर्ण शक्ति से रूस का विरोध किया।

1840 में लार्ड पामर्स्टन ब्रिटिश मंत्रिमंडल से हट गया। रूस ने इस मौके से लाभ उठाना चाहा। 1844 में रूसी सम्राट जार निकोलस ने ब्रिटेन की यात्रा की। उसने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के सामने तुर्की समस्या का मिल-जुलकर समाधान करने का प्रस्ताव रखा। लेकिन, ब्रिटेन से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। ब्रिटेन ने रूस की योजना से असहमति प्रकट की। वास्तव में, बात यह थी ब्रिटेन एशिया के साम्राज्य में अपना सबसे बड़ा प्रतिस्पर्धी रूस को मानता था। वह कभी नहीं चाहता था कि पूर्व की तरफ रूस का विस्तार हो। अपने पड़ोस में शक्तिशाली रूस का होना उसके लिए भयंकर खतरे की बात थी। स्थल सेना में रूस यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश था। ब्रिटेन को इस बात का भय था कि अगर कन्स्टेन्टिनोल और बाल्कन प्रायद्वीप पर रूस का प्रभुत्व कायम हो गया तो यह एक जबर्दस्त सामुद्रिक शक्ति भी हो जाएगा और ब्रिटेन का विश्वव्यापी साम्राज्य तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे में पड़ जाने की संभावना उपस्थित हो जायेगी। अतः वह रूसी योजना को कभी स्वीकार नहीं कर सकता था।

क्रीमिया का युद्ध : अनेक प्रयासों के बाद जब रूस ब्रिटेन को अपने पक्ष में नहीं कर सका तो उसने तुर्की साम्राज्य को हड़पने के लिए अन्य उपायों का अवलंबन किया। वह कब तक ब्रिटेन के विरोध का परवाह करता रहे। उसे अपनी सैन्यशक्ति पर पूरा भरोसा था। ब्रिटेन की ओर से निराश होकर रूस तुर्की ने विरुद्ध युद्ध छेड़ने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में था। ऐसा अवसर 1853 में जेरूसलम के ईसाइयों के पवित्र स्थान को लेकर उपस्थित हुआ और इसी बहाने रूस ने मार्च, 1853 में तुर्की के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया। यह क्रीमिया का युद्ध था।

क्रीमिया युद्ध में रूस और तुर्की अकेले नहीं लड़ सके। ब्रिटेन और फ्रांस नहीं चाहते थे कि रूस तुर्की-साम्राज्य का विनाश कर दे। उन्होंने तुर्की का पक्ष लिया। परिणाम हुआ कि रूस क्रीमिया-युद्ध में हार गया। 1856 की पेरिस-संधि के द्वारा इस युद्ध का अंत हुआ। रूस को संधि की सभी शर्तें माननी पड़ी। क्रीमिया-युद्ध के फलस्वरूप निकटपूर्व में रूस की महत्वाकांक्षाओं पर कुछ दिनों के लिए अंकुश लग गया।

रूमनिया : 1856 के बाद तुर्की-साम्राज्य की समस्या में कोई ऐसी उलझन नहीं पैदा हो सकी जिसके कारण यूरोप की शांति खतरे में पड़ जाय। बाल्कन-राज्य अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयास कर रहे थे। यूरोप के महान राज्य अपना दाव-पेंच लगा रहे थे। तुर्की साम्राज्य भी किसी तरह अपने को संभालता रहा। पेरिस संधि के बाद मोल्डेविया और बलेचिया के प्रश्न को छोड़कर तुर्की साम्राज्य की समस्या में कोई विशेष उलझन नहीं हुई। ये दोनों प्रदेश तुर्की साम्राज्य से स्वतंत्रता पाकर अपना संघ स्थापित करना चाहते थे। पेरिस संधि के द्वारा उन्हें इस प्रकार का आश्वासन दिया गया था। अंत में 23 दिसंबर, 1861 के दिन इन दोनों प्रदेशों का एक संघ विधिवत घोषित कर दिया गया। दोनों प्रदेशों को मिलाकर रूमानिया का राज्य बना।

'अखिल-स्लाववाद' का आंदोलन : पेरिस-संधि के अनुसार तुर्की-सुल्तान ने वादा किया था कि वह अपनी ईसाई-प्रजाओं को कष्ट नहीं देगा। उनकी उन्नति और भलाई के लिए वह हर तरह का प्रयास करेगा। लेकिन, किसी भी साम्राज्यवादी सरकार से इस तरह की आशा करना व्यर्थ है। कागज पर तो ईसाई-प्रजाओं को सब तरह की सुख-सुविधाएं प्राप्त थीं, बिना किसी प्रकार के भेदभाव से उन्हें राजनीतिक अधिकार, वैयक्तिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता, सरकारी पदों पर नियुक्ति का अधिकार इत्यादि प्राप्त थे। पर वास्तव में इस प्रकार की कोई बात नहीं थी। तुर्की साम्राज्य की ईसाई-प्रजा को तरह-तरह से सताया जाता था। उनपर तरह-तरह के नाजायज कर लगते थे उन्हें किसी प्रकार का राजनीतिक या धार्मिक अधिकार नहीं था। उनके लिए उचित न्याय पाना असंभव था।

स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता के प्रभाव में आकर बाल्कन की ईसाई-प्रजा तुर्की सुल्तान की स्वेच्छाचारिता को अब नहीं सह सकती थी। सर्बिया, यूनान तथा रूमानिया का उदाहरण उनके सामने था। बाल्कन-राज्यों में तुर्की शासन के विरुद्ध तरह-तरह के षड़यंत्र की योजना बनाने लगी। वे अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए हाथ-पैर मारने लगे। 'अखिल-स्लाववाद' (Pan Slavism) का आंदोलन का उत्थान बाल्कन राज्यों की नये स्वाधीनता-संग्राम की एक मुख्य विशेषता थी। समस्त यूरोप की स्लाव जाति के लोगों को एक सूत्र में बांधना इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य था। इस आंदोलन की सफलता का परिणाम होता तुर्की-साम्राज्य का विनाश। 'अखिल स्लाव' आंदोलन को रूसी सरकार से प्रोत्साहन मिलता था। क्रीमिया-युद्ध के बाद पूर्व में रूस के विस्तार के रास्ते पर काफी अड़चनें आ गयी थीं। प्रत्यक्ष रूप से रूस इस क्षेत्र में अपना प्रभाव नहीं फैला सकता था। रूसी लोग स्लाव नस्ल के थे और जार ग्रीक चर्च का नेता था। बाल्कन-प्रायद्वीप के अधिकांश लोग इसी नस्ल के थे और ग्रीक-चर्च के ईसाई थे। जाति और धर्म के पर्दे के पीछे उनपर प्रभाव जमाया जा सकता था। अतः क्रीमिया-युद्ध के अखिल-स्लाववाद आंदोलन को प्रोत्साहित करना रूस की बाल्कन-नीति का प्रमुख आधार हो गया। रूस के जासूस बाल्कन-राज्यों में छाये रहते थे। स्लावों के बीच जाकर उनमें जागृति पैदा करने और तुर्की के खिलाफ विद्रोह करने के लिए उन्हें भड़काया करते थे। 1867 में मास्को में एक 'अखिल-स्लाव' कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। हर देश के स्लाव-प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए थे। जार ने स्वयं कांग्रेस का उद्घाटन किया। एक केंद्रीय 'अखिल-स्लाव समिति' की स्थापना की गयी। इसका प्रधान कार्यालय मास्को में था और बाल्कन-प्रायद्वीप के प्रमुख शहरों में इसकी शाखाएं फैली हुई थीं। अखिल-स्लाव आंदोलन पर समिति पत्रिकाएं प्रकाशित करती और बाल्कन-प्रायद्वीप में उन्हें मुफ्त बांटा जाता था। स्लाव-विद्यार्थियों को मास्को विश्वविद्यालय में तरह-तरह की सुविधाएं भी मिलती थीं। वहां शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ उन्हें 'स्लाव-आंदोलन' के उद्देश्य भी बतलाये जाते थे। कान्स्टेन्टिनोप्ल स्थित रूसी दूतावास तथा बाल्कन प्रायद्वीप में फैले हुए रूसी वाणिज्य दूतावास इस आंदोलन के अड्डे थे। ऐसी स्थिति में तुर्की साम्राज्य में स्लाव-लोग आंदोलन करने के अवसर की प्रतीक्षा में थे।

बाल्कन-प्रायद्वीप में रूस की स्थिति काफी मजबूत हो रही थी। 1870 में फ्रैंको-प्रशा-युद्ध छिड़ गया. रूस ने इस मौके से लाभ उठाकर 1856 की पेरिस संधि की कालासागर-संबंधी शर्तों को अस्वीकार कर दिया। सेवस्टोपोल में उसने पुनः किलाबंदी शुरू कर दी और काला-सागर के तट पर अपनी नौ-सेना को पुनर्संगठित करने का काम भी शुरू कर दिया। यह तुर्की-साम्राज्य में अपनी अभिलाषा पूरी करने के लिए ही नहीं, बल्कि स्लाव लोगों को प्रभावित करने के लिए भी की गयी थी। इसी वर्ष रूस ने तुर्की-सुल्तान को बाध्य किया कि वह अपने स्लाव ईसाई-प्रजाओं को और सुविधा प्रदान करें।

आस्ट्रिया का स्वार्थ : इस समय तक निकटपूर्व समस्या में एक और जटिलता आ चुकी थी। 1871 आते-आते आस्ट्रिया नये जोश के साथ इस क्षेत्र की राजनीति में प्रवेश कर चुका था। कहना न होगा कि आस्ट्रिया और तुर्की परंपरा से एक-दूसरे के दुश्मन थे। 1883 में तुर्की ने आस्ट्रिया की राजधानी वियना पर चढ़ाई की थी। उसी समय से तुर्की और आस्ट्रिया एक-दूसरे के शत्रु बने रहे। आस्ट्रिया एक विशाल साम्राज्य था और उसका स्वार्थ चारों तरफ फैला हुआ था। जर्मनी की राजनीति में उसकी विशेष दिलचस्पी थी। पर, 1863 ई० में आस्ट्रोप्रशा-युद्ध के फलस्वरूप बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को जर्मनी की राजनीति से सदा के लिए निकाल बाहर कर दिया। अब आस्ट्रिया के विस्तार के लिए केवल एक ही मार्ग था, वह था बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में हस्तक्षेप करना। जर्मनी में आस्ट्रिया की शक्ति क्षीण हो जाने के बाद उसके सम्राट यह अनुभव करते थे कि उनकी शक्ति का विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र बाल्कन-प्रायद्वीप ही हो सकता है। 1871 के बाद 'पूर्व की ओर धक्का दो' (Drang Natch Osten) का सिद्धांत आस्ट्रिया की विदेश-नीति का मुख्य आधार बन गया। अतः रूस की तरह आस्ट्रिया का हित भी इसी बात में था कि तुर्की कमजोर हो जाय और बाल्कन-प्रायद्वीप की लूट द्वारा वे अपना राज्य-विस्तार कर सकें।

बाल्कन-प्रायद्वीप में आस्ट्रिया और रूस के एक ही उद्देश्य थे - तुर्की के मूल्य पर अपने अपने राज्य का विस्तार करना। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस क्षेत्र में दोनों देशों के हित टकराते। आस्ट्रिया में द्वैध राजतंत्र था। 1867 में आस्ट्रिया और हंगरी मिलकर एक राज्य हो गये थे। हंगरी में मेगायर प्रजाति के लोग बहुसंख्यक थे। वे स्लाव-जाति के विरोधी थे। अतः आस्ट्रिया के लिए आवश्यक हो गया कि स्लाव-लोगों का विरोध करे। एक तरफ रूस 'अखिल स्लाव आन्दोलन' को प्रोत्साहित कर रहा था और दूसरी तरफ आस्ट्रिया इस आंदोलन का विरोधी था। ऐसी हालत में बाल्कन-प्रायद्वीप में आस्ट्रिया और रूस का संघर्ष अवश्यंभावी हो गया। इस तरह के विविध उलझनों को लेकर 1871 में निकट पूर्व समस्या का एक नया अध्याय शुरू हुआ।

रूसी तुर्की-युद्ध (1877-78)

अनेक कारणों से प्रभावित होकर बाल्कन-प्रायद्वीप के विविध ईसाई राज्यों में राष्ट्रीय आंदोलन जोर पकड़ रहा था। बोस्निया तथा हर्जेगोविना के यूगोस्लाव निवासियों ने सर्वप्रथम जुलाई, 1875 में तुर्की-शासन के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा किया। इस विद्रोह के साथ रूस और सर्बिया की सहानुभूति थी और उन्होंने विद्रोहियों की सक्रिय मदद की। विद्रोही युगोस्लाव लोगों ने यूरोप के प्रमुख राज्यों से प्रार्थना की कि वे उनकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करे। यूरोप के लिए इस संबंध में अपनी नीति का निर्धारण सुगम कार्य नहीं था। समझौते की अनेक कोशिशें हुईं, लेकिन सब-के-सब व्यर्थ। अंत में निराश होकर बोस्निया और हर्जेगोविना के विद्रोहियों ने जून, 1876 में तुर्की के खिलाफ बाकायदा युद्ध उद्घोषित कर दिया।

बल्गेरिया में विद्रोह : बोस्निया-हर्जेगोबिना का विद्रोह सीमित नहीं रह सकता था। यह एक ऐसी चिनगारी थी जो समूचे बाल्कन-प्रायद्वीप को प्रज्ज्वलित करने पर तुली हुई थी। विद्रोह की आग फैलने लगी। जिस समय बोस्निया-हर्जेगोबिना के लोग तुर्की के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे उसी समय बुल्गेरिया में भी विद्रोह हो गया। तुर्की के सुल्तान को इन विद्रोहों में एक भयानक रोग का लक्षण दिखाई पड़ने लगा। एक के बाद दूसरा राज्य उसकी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करता जा रहा था। यह उसके साम्राज्य के भविष्य के लिए बड़े खतरे की बात थी। अतः तुर्की-सरकार ने इन विद्रोहों को खासकर बुल्गेरिया के विद्रोह का क्रूरता से दमन करने का निश्चय किया। तुर्की की सरकार ने इन विद्रोहियों पर भयंकर अत्याचार किये। एक बहुत बड़ी सेना बुल्गेरिया के लिए रवाना हुई। बुल्गेरिया के निरस्त्र किसान इसका मुकाबला नहीं कर सके। लगभग साठ गांवों को जलाकर राख कर दिया गया। बारह हज़ार से अधिक पुरुष, स्त्री और बच्चे निर्दयंता के साथ मौत के घांट उतार दिये गये। तुर्की के इस अमानुषिक अत्याचार से बुल्गेरिया का विद्रोह कुछ दिनों के लिए शांत हो गया।

जब बुल्गेरिया में भयंकर अत्याचारों का समाचार यूरोप के समाचारपत्रों में छपा तो सारे यूरोप में खलबली पैदा हो गयी। यूरोप में ईसाई लोग अपने बुल्गेरिया के ईसाईबंधुओं पर इस तरह के मुसलमानी अत्याचार को सुनकर तड़प उठे। तुर्की का मुस्लिम-सुल्तान बाल्कन राज्यों की ईसाई प्रजाओं को इस पाश्विकता से कुचल दे, इस बात को यूरोपीय ईसाई सहने को तैयार नहीं थे। यहां तक कि ग्लैडस्टोन-जैसे उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति का दिल भी दहल उठा। उसने बुल्गेरिया के अत्याचार पर एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित करायी। उसमें उसने लिखा था : "तुर्की लोग अपना बोरिया-बिस्तर बांधकर यूरोप से निकल जायें। बाल्कन के ईसाई लोगों के त्राण का यही एकमात्र उपाय है।" ग्लैडस्टोन ने तुर्की के विरुद्ध बाल्कन राज्यों की सहायता के लिए एक आंदोलन प्रारंभ कर दिया। उसका विचार था कि ब्रिटेन को अपनी पुरानी नीति (तुर्की की रक्षा) का परित्याग कर तुर्की के विरुद्ध बाल्कन-विद्रोहियों की सहायता करनी चाहिए।

लेकिन इस समय ब्रिटेन का प्रधानमंत्री ईसाई ग्लैडस्टोन नहीं, बल्कि यहूदी डिजरैली था। वह बहुत बड़ा साम्राज्यवादी था और पुरानी नीति का अनुसरण करने में ब्रिटेन का हित समझता था। डिजरैली की आंखों के सामने बुल्गेरिया का अत्याचार नहीं वरन भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा नाच रही थी। ब्रिटेन का शत्रु तुर्की नहीं, बल्कि रूस था, जो भारत की तरफ बढ़ने के लिए उस समय अफगानिस्तान में तरह-तरह का षड़यंत्र रच रहा था। वह बुल्गेरिया में तुर्की अत्याचारों को दबाने की कोशिश करता रहा। लेकिन समाचारपत्रों के संवाददाता उसके सभी प्रयत्नों को व्यर्थ बना रहे थे।

रूसी प्रतिक्रिया : बुल्गेरिया-अत्याचार के समाचार से ब्रिटेन की अपेक्षा रूस में अधिक सनसनी थी। बुल्गेरिया में रूस के 'स्लाव-बंधुओं' पर तुर्की का क्रूर अत्याचार हो रहा था और रूस के शासक इस बात को कब तक देखते रह सकते थे। स्लाव-शहीदों की आत्मा उन्हें रो-रोकर पुकार रही थी। जार ने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की कि अगर यूरोप के महान् राष्ट्र संयुक्त रूप से बुल्गेरिया के ईसाइयों की रक्षा नहीं करेंगे तो बाध्य होकर रूस को अकेले ही कोई कदम उठाना होगा। इस भाषण में डिजरेली को कान्स्टेन्टिनोप्ल तथा स्वेज नहर पर रूसी आधिपत्य का चित्र दिखलाई पड़ने लगा। उसने जार को चेतावनी दी कि यदि रूस ऐसा करेगा तो ब्रिटेन अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ उसका विरोध करेगा। परंतु, बाल्कन राज्यों में तुर्क-शासकों के द्वारा किये गये अत्याचारों के जो समाचार निरंतर प्राप्त हो रहे थे उन्हें दृष्टि में रखकर कुछ करना आवश्यक था। आखिर इस समस्या पर विचार करने के लिए कान्स्टेन्टिनोप्ल में यूरोपीय राज्यों के राजदूतों का एक सम्मेलन शुरू हुआ। सम्मेलन ने तुर्की सरकार से मांगों की एक सूची बनायी। तुर्की के सुल्तान ने उसको मानने से इंकार कर दिया। अब रूस के लिए अच्छा मौका था। संपूर्ण यूरोप का लोकमत उस समय तुर्की के खिलाफ था। इस दशा में अगर वह तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देता तो अन्य कोई राज्य उसका विरोध नहीं करता। अप्रैल, 1877 में रूस ने तुर्की से कुछ मांगें कीं। तुर्कों का विश्वास था कि रूस के विरुद्ध ब्रिटेन उसकी मदद अवश्य करेगा। अतः उसने रूस की मांगें अस्वीकृत कर दीं। इस पर 14 अप्रैल, 1877 को रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया।

युद्ध और सन स्टीफनों की संधि : रूस की सैन्यशक्ति के सामने तुर्की एक साधारण शक्ति था। वह युद्ध में हारता गया। रूस की एक सेना कान्स्टेन्टिनोप्ल के अत्यंत समीप सन स्टीफानो नामक गांव तक पहुंच गयी। कान्टेन्टिनोपल रूस के अधीन आनेवाला ही था1 लेकिन, डिजरैली इस बात को नहीं सह सकता था। उसने ब्रिटिश नौ-सेना को तैयार हो जाने की आज्ञा दी। भारत में ब्रिटिश सेना माल्टा पहुंचायी गयी। उधर आस्ट्रिया भी रूस का विरोध करने की तैयारी करने लगा। ऐसी स्थिति में रूस ने तुर्की के साथ संधि कर लेना ही ठीक समझा। 3 मार्च, 1878 को सन स्टीफानों में एक संधि पर दोनों युद्धरत देशों ने हस्ताक्षर कर दिये। इस संधि की मुख्य-मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(1) सर्बिया, रूमानिया और मान्टिनिग्रो की पूर्ण स्वतंत्रता मान ली जाय। (2) बोस्निया, हर्जेगोबिना तथा आरमेनिया के शासन में सुधार किया जाय। (3) एक विशाल स्वतंत्र बुल्गेरिया का निर्माण हो जो डैन्यूब नदी से इंजियन सागर तक तथा कालासागर से अल्बेनिया तक विस्तृत हो। (4) रूस को आर्मेनिया के कुछ प्रदेश तथा बसरेबिया और द्रोब्रूदजा का विस्तृत भू-भाग मिले। (5) तुर्की ने रूस को हर्जाने के रूप में एक बहुत बड़ी धनराशि देने का वादा भी किया।

सन स्टीफानों की संधि का मतलब था यूरोप में तुर्की साम्राज्य का विनाश। इस संधि से रूस की शक्ति बहुत बढ़ गयी। सर्बिया, रूमानिया और मान्टिनिग्रो तो पहले ही उसके प्रभाव में थे। अब यह एक नवीन बुल्गेरिया का सृजन कर रहा था। इस बुल्गेरिया पर उसका पर्याप्त प्रभाव रहना सर्वथा स्वाभाविक था। पूर्व में विस्तार की दिशा में रूस एक महत्वपूर्ण कदम उठा चुका था।

बर्लिन की संधि

सन स्टीफानो का विरोध : जिस समय सन स्टीफानो-संधि की शर्तें यूरोपीय समाचारपत्रों में प्रकाशित हुईं उस समय ब्रिटेन और आस्ट्रिया में खलबली मच गयी। जर्मन से निकाले जाने के बाद आस्ट्रिया अपने साम्राज्यवाद की भूख शांत करने के लिए बाल्कन-राज्यों की तरफ गिद्ध-दृष्टि से देख रहा था। लेकिन, इस क्षेत्र में रूस के प्रभाव की जड़ दिन-दूनी रात-चौगुनी मजबूत हो रही थी। सन स्टीफानो के बाद तो आस्ट्रिया को ऐसा लगा कि मानों इस विशाल संसार में उसके लिए कुछ रह ही नहीं गया है। रूस और बुल्गेरिया को छोड़कर कोई देश सन स्टीफ़ानो की संधि से संतुष्ट नहीं था। रूमानिया ने युद्ध में रूस का साथ दिया था। लेकिन, जब संधि के लिए वार्तालाप प्रारंभ हुआ तो रूस ने उसको निमंत्रण तक नहीं भेजा। सर्बिया-मान्टिनिग्रो तथा यूनान विशाल बुल्गेरिया का सृजन देखकर जल रहे थे। यूनान तो क्रोध से इतना आग बबूला हो रहा था कि उसने थेलसी पर आक्रमण तक कर दिया। बाल्कन-प्रायद्वीप में जर्मनी का कोई निजी स्वार्थ नहीं था; पर बिस्मार्क आस्ट्रिया का पक्ष लेना चाहता था। सबसे अधिक रुष्ट ब्रिटेन था। इस समय डिजरैली के मंत्रिमंडल में लार्ड सेलिसबरी विदेश मंत्री था। उसकी समझ में विशाल बुल्गेरिया का सृजन एक वैसी सीढ़ी का निर्माण था जिसके सहारे रूस आसानी से कान्स्टेन्टिनोप्ल पहुंच सकता था। मास्को स्थित ब्रिटिश राजदूत ने कड़े शब्दों में इस संधि का विरोध किया। डिजरैली का कहना था कि सन स्टीफानों की संधि के अनुसार काला सागर पर रूस का एकाधिपत्य हो जायेगा। ब्रिटेन और आस्ट्रिया इस बात पर एकमत थे कि तुर्की साम्राज्य की समस्या में सभी यूरोपीय राज्यों की दिलचस्पी है और कोई एक राज्य अकेले अपने राज्य के लिए इस क्षेत्र में कोई व्यवस्था नहीं कर सकता है। आस्ट्रिया ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बाकायदा एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग की। ब्रिटेन ने आस्ट्रिया का समर्थन किया। उसका कहना था कि ऐसे सम्मेलन में रूस और तुर्की के बीच हुई सन्धि पर विचार हो। चारों तरफ से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग होने लगी। यूरोप का जनमत सन स्टीफानों की संधि रद्द करने और नये सिरे से एक संधि करने के पक्ष में काफी प्रबल हो चुका था। रूस ने कुछ दिनों तक सम्मेलन की मांग का विरोध किया। इसपर डिजरैली ने भारतीय सेना को माल्टा में केंद्रीभूत करना शुरू किया। रूस इस समय युद्ध लड़ने की स्थिति में नहीं था। उसकी सैनिक और आर्थिक व्यवस्था खराब थी। जर्मनी उसको मदद देने के लिए तैयार नहीं था। आस्ट्रिया उसके विरुद्ध था। वह चारों तरफ से संकटों से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन से झगड़ा मोल-लेना ठीक नहीं था। रूस ने ब्रिटेन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने में ही अपना कल्याण समझा। अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्ताव पर उसने अपनी सहमति दे दी। यूरोप में एक बार फिर युद्ध होते-होते बच गया।

बर्लिन सम्मेलन : इस समय तक यूरोपीय रंगमंच पर संयुक्त जर्मनी का प्रादुर्भाव हो चुका था। विश्व में जर्मनी की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए बिस्मार्क ने प्रस्ताव रखा कि प्रस्तावित अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बर्लिन में हो। यूरोप के राज्यों ने कोई आपत्ति नहीं की। वे भी जर्मनी की नयी महत्ता को स्वीकार करने को तैयार थे। अत: बर्लिन में सम्मेलन का काम शुरू हुआ। 'निष्पक्ष दलाल' (honest broker) के रूप में बिस्मार्क ने सभापति का आसन ग्रहण किया।

बर्लिन की संधि : 13 जून, 1878 को सम्मेलन का कार्य प्रारंभ हुआ, लेकिन मुख्य प्रश्नों पर रूस के विदेश मंत्री काउंट शुवेलाफ तथा ब्रिटेन मंत्री लार्ड सैलिसबरी में 30 मई को समझौता हो चुका था। अत: वाद-विवाद में अधिक समय नहीं लगा और 13 जुलाई को एक संधि पर हस्ताक्षर हो गया। वह बर्लिन की संधि थी। इस संधि के अनुसार पूर्वीय समस्या के संबंध में निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गयीं—

(1) रूस को सन स्टीफानो की संधि से काफी लाभ हुआ था। इसमें बहुत कमी कर दी गयी। रूमानिया से बेसरेबिया का प्रदेश लेकर रूस को दे दिया गया। इसके अतिरिक्त आर्मेनिया का कुछ हिस्सा रूस को प्राप्त हुआ।

(2) रूमानिया की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली गयी। दोब्रुजा का प्रदेश जो सन स्टीफानो की संधि द्वारा रूस को दिया गया था, अब रूमानिया को प्रदान किया गया।

(3) आस्ट्रिया के बोस्निया और हर्जेगोबिना के प्रदेश प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त सर्बिया और मान्टिनिग्रो के बीच स्थित संजक के नोविबाजार स्थान में सेना रखने का अधिकार भी उससे मिला।

(4) ब्रिटेन का साइप्रस पर आधिपत्य तथा शासन करने का अधिकार मिला।

(5) सर्बिया और मान्टिनिग्रो को पूर्णतया स्वाधीन राज्यों के रूप में स्वीकृत कर लिया गया।

(6) बुल्गेरिया की स्वाधीनता मान ली गयी। पर उसे बहुत छोटा राज्य बना दिया गया। डैन्यूब नदी और बाल्कन पर्वतमाला के मध्यवर्ती प्रदेश तक ही बुल्गेरिया राज्य को सीमित कर दिया गया।

(7) बाल्कन पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित पूर्वी रूमेलिया का प्रदेश था। यह सन स्टीफानों की संधि के अनुसार बुल्गेरिया राज्य के अंतर्गत था। यह बुल्गेरिया से अलग कर दिया गया और पुनः तुर्की सुल्तान के जिम्मे सौंप दिया गया। लेकिन, इसके शासन के लिए ईसाई गवर्नर की व्यवस्था की गयी।

(8) तुर्की की अधीनता में मैसिडोनिया तक के प्रदेश रखे गये।

बर्लिन सम्मेलन से फ्रांस ने ट्यूनिस, इटली ने अलबेनिया तथा ट्रिपोली एवं यूनान के क्रीट, एपिरस, थेसली और मैसिडोनिया पर दावा किया। पर उस समय इस पर कोई निर्णय नहीं हुआ। एक बात मार्के की थी। जर्मनी ने किसी प्रदेश पर दावा नहीं किया। इसके बदले में उसका तुर्की की कृतज्ञतापूर्ण मैत्री का बड़ा भारी लाभ हो गया।

बर्लिन-व्यवस्था का मूल्यांकन

शक्ति संतुलन : विश्व-राजनीति के आधुनिक इतिहास में बर्लिन संधि का एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। निकटपूर्व की जटिल समस्या को सुलझाने की दिशा में यह एक उत्साहवर्द्धक कदम था। लेकिन, अनेक कारणवश बर्लिन सम्मेलन को अपनी चेष्टा में सफलता नहीं मिल सकी। इसी से उत्पन्न परिणामों के फलस्वरूप 1912 और 1913 में बाल्कन-युद्ध हुआ और अंततः प्रथम विश्व-युद्ध। बर्लिन-सम्मेलन का काम यूरोपीय शक्ति-संतुलन बनाये रखना था। इसका उद्देश्य जर्जर और लड़खड़ाते हुए तुर्की सरकार को जीवित रखना था। तुर्की-साम्राज्ज्य के पतन से उस क्षेत्र में राजनीतिक शून्यता हो जाने का भय था। ब्रिटेन नहीं चाहता था कि इस तरह की परिस्थिति आये। ऐसा होने से रूस को विस्तार का स्वर्ण अवसर मिल जाता।

राष्ट्रीयता के सिद्धांत की उपेक्षा : राष्ट्रीयता के सिद्धांत की पूर्ण उपेक्षा बर्लिन समझौते की दूसरी विशेषता थी। बुल्गेरिया के नवीन राज्य का निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के प्रश्न को दृष्टि से ओझल कर दिया गया था। इस तरह भी इस सिद्धांत की उपेक्षा की गयी थी। शक्तिसंतुलन का सिद्धांत यूरोप के राजनीतिज्ञों के सामने इस तरह नाचता था कि वे इस बात को एकदम भूल गये कि बाल्कन प्रायद्वीप की एकमात्र समस्या राष्ट्रीयता की है। सर्बिया, मान्टिनिग्रो-रूमानिया तथा बुल्गेरिया को स्वाधीन राज्यों के रूप में स्वीकृत करना राष्ट्रीयता के सिद्धांत के अनुकूल था। लेकिन, ब्रिटेन द्वारा साइप्रस पर तथा आस्ट्रिया द्वारा बोस्निया और हर्जेगोबिना पर आधिपत्य करना सभी सिद्धांतों के प्रतिकूल था। जिन राज्यों ने तुर्की की प्रादेशिक अखंडता के नाम पर हस्तक्षेप किया था कि वे स्वयं तुर्की को लूटने लगे थे। संधि के अनुसार रूस को कानेशश के अंतर्गत कर्श तथा बातुम के प्रदेश मिले थे। इसके बदले में ब्रिटेन को कुछ चाहिए था। अतः उसने साइप्रस पर अधिकार कर लिया। उधर आस्ट्रिया भी बाल्कन-प्रायद्वीप में अपना प्रभाव बढ़ाने की कोशिश कर रहा था इसलिए वह रूस के विरुद्ध तुर्की और ब्रिटेन की सहायता करने को उद्यत रहता था। इस सहायता के लिए उसने इनाम मांगा। अतः बोस्निया और हर्जेगोबिया के प्रदेश प्रदान करके उसको भी संतुष्ट कर दिया गया।

तुर्की का पतन : तुर्की साम्राज्य को सर्वनाश से बचा लेना बर्लिन सम्मेलन की सबसे बड़ी सफलता बतलायी जाती है। डिलरैली ने दावा किया कि तुर्की-साम्राज्य को असामयिक मृत्यु से बचा लेना उसके राजनीतिक जीवन का सबसे अद्भुत कर्तव्य है। लेकिन यह दाव। आंशिक रूप से सत्य था। इसमें संदेह नहीं कि बर्लिन की संधि द्वारा लड़खड़ाता हुआ तुर्की कुछ देर के लिए संभल गया। जनसंख्या और क्षेत्रफल के ख्याल से सन स्टीफानो की संधि के कारण उसको आपार क्षति उठानी पड़ी थी। बर्लिन-संधि के द्वारा उस क्षति की पूर्ति हो गयी। लेकिन, इसके बावजूद बर्लिन संधि के कारण तुर्की की कमर टूट गयी। क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से तुर्की साम्राज्य आधा हो गया। बर्लिन-संधि के द्वारा तुर्की को कोई नवजीवन प्राप्त नहीं हुआ। वह तो कब से मृत्युशय्या पर लेटा हुआ था और डिजरैली की करतूतों ने उसके दुख दर्द को कुछ दिनों के लिए और बढ़ा दिया।

बर्लिन-संधि से तुर्की साम्राज्य या बाल्कन प्रायद्वीप की समस्याओं का कोई समाधान नहीं हो सका। यह समस्या और भी जटिल हो गयी। वास्तव में, यह भविष्य के लिए बाल्कन प्रायद्वीप में संकटों और उत्पातों का जड़ सिद्ध हुआ। बर्लिन-संधि का मुख्य काम उस वृहत बुल्गेरिया को नष्ट कर देना था जिसका निर्माण सन स्टीफानो की संधि के द्वारा हुआ था। मैसिडोनिया को फिर से सुल्तान के प्रत्यक्ष शासन में रख दिया गया। एक ईसाई-गवर्नर की व्यवस्था करके रूमेलिया का प्रदेश भी सुल्तान को वापस मिल गया। इसके परिणामस्वरुप बुल्गेरिया का क्षेत्रफल बहुत कम हो गया। ये सारी व्यवस्थाएं भविष्य के लिए काफी खतरनाक सिद्ध हुई हैं। मैसिडोनिया को लेकर 1912 में प्रथम बाल्कन युद्ध छिड़ा और 1913 का द्वितीय बाल्कन-युद्ध बुल्गेरिया के क्षेत्रफल को सीमित करने का प्रत्यक्ष परिणाम था।

राष्ट्रीय आंदोलन : बर्लिन-संधि के अनुसार मैसिडोनिया, रूमेलिया, आर्मेनिया तथा क्रीट पर तुर्की सुल्तान का अधिकार कायम रहा। सुल्तान ने अपनी ईसाई प्रजा के साथ अच्छा व्यवहार करने और उनको राजनीतिक प्रगति के लिए संवैधानिक सुधार करने का वादा किया। लेकिन, सुल्तान को अपने वादों की कोई परवाह नहीं थी। उनका शासन ज्यों-का-त्यों कठोर बना रहा और कभी संवैधानिक सुधार नहीं हुआ। बाल्कन-प्रायद्वीप के अन्य देश—सर्बिया, मान्टिनिग्रो तथा रूमानिया स्वतंत्र हो चुके थे। उनकी इस नवीन स्थिति को बाल्कन के पराधीन राज्य ललचायी निगाहों से देखते थे। वे भी अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयास करने लगे। तुर्की के अधीनस्थ राज्यों में राष्ट्रीय आंदोलन जोर पकड़ने लगी। तुर्की का सुल्तान इन राष्ट्रीय आंदोलनों को दमन करने पर दृढ़ था। उसका आधा साम्राज्य तो यों ही खत्म हो चुका था। अगर ये राज्य भी स्वतंत्र हो जायेंगे तो तुर्की साम्राज्य का नामोनिशान मिट जायेगा। अतः तुर्की राष्ट्रीय आंदोलनों को क्रूरता से दमन करने पर दृढ़ संकल्प था। इसी तरह बाल्कन के पराधीन राज्य भी अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए तैयार थे। उनका राष्ट्रीय आंदोलन जोर पकड़ता गया।

मैसिडोनिया : सबसे पहले हम मैसिडोनिया के आंदोलन पर विचार करेंगे। मैसिडोनिया में मुख्यतया तीन जातियां निवास करती थीं—बल्गर, सर्व और यूनानी। सबसे पहले बल्गर लोग आंदोलन के मैदान में अग्रसर हुए। उनकी कोशिश थी कि मैसिडोनिया को स्वतंत्र बुल्गेरिया के साथ सम्मिलित कर दिया जाय। बुल्गेरिया स्वयं इस आंदोलन को प्रोत्साहित करता था। इसके लिए बुल्गेरिया में एक समिति की स्थापना हुई। इसकी सहायता से मैसिडोनिया के बुल्गर लोग काफी उत्पात मचाया करते थे। तुर्की-सरकार इससे बहुत तंग थी और इसलिए मैसिडोनिया में वह भयंकर अत्याचार करने लगी। ऐसी परिस्थिति में 1903 में यूरोपीय राज्यों ने इस मामले में हस्तक्षेप किया। मैसिडोनिया के सुशासन के लिए कुछ व्यवस्था की गयी लेकिन, इसका कोई परिणाम नहीं निकला। तुर्क और बूल्गर लोग अपने काम से बाज नहीं आये। उनका उत्पात होता रहा और तुर्की द्वारा उसका दमन जारी रहा। 1908 में 1903 की व्यवस्था का परित्याग कर दिया गया। मैसिडोनिया की राजनीतिक स्थिति दिनोंदिन खराब होने लगी और अंत में उसको लेकर बाल्कन युद्धों का सूत्रपात हुआ।

इसके अतिरिक्त रूमेनिया को बुल्गेरिया से पृथक कर देना भी गलत काम था। एक जाति के होने के कारण रूमेनिया के निवासी बुल्गेरिया के साथ मिलना चाहते थे। 1885 में रूमानिया के लोगों ने विद्रोह कर दिया और अंततोगत्वा बुल्गेरिया से मिल गये और बर्लिन-संधि के विधाता, यूरोप के महान् राष्ट्र, देखते ही रह गये। उस संधि की एक प्रमुख शर्त बात-ही-बात में अंत हो गयी।

आर्मेनिया : आर्मेनिया तुर्की के क्रूर दमन का सबसे बड़ा शिकार हुआ। 1878 की व्यवस्था से निराश होकर आर्मेनिया के लोगों ने भी स्वाधीनता प्राप्ति के उद्देश्य से विद्रोह प्रारंभ किया। तुर्की शासन इस विद्रोह को नहीं सह सकता था। 1895-96 में उसने आर्मेनिया के लोगों पर भयंकर अत्याचार किये। करीब 26 हजार के लगभग लोग कत्ल कर दिये गये। यूरोपीय राज्यों ने हस्तक्षेप किया। लेकिन, उसका कोई फल नहीं हुआ। 1904 और 1906 में आर्मेनियनों ने फिर विद्रोह किया, पर तुर्की सरकार ने उन्हें फिर बुरी तरह कुचल दिया।

यूनान : बर्लिन की संधि यूनान की अभिलाषाओं को पूरी करने में असफल रही। बर्लिन सम्मेलन में यूनान ने क्रीट, एपिरस, थेसली और मेसिडोनिया के कुंछ भूभागों पर दावा किया था। पर डिजरैली यूनान को धैर्य रखने का उपदेश देता रहा। डिजरैली का कहना था कि "यूनान एक महान देश है और वह कुछ और दिनों के लिए ठहर सकता है।" पर यूनान ठहरने के लिए तैयार नहीं था। क्रीट को लेकर वह सबसे अधिक दुखी था। यह विशाल द्वीप यूनान के दक्षिण में स्थित है और इसके निवासी प्रधानतया यूनानी थे। मैसिडोनिया के दक्षिण प्रदेशों में भी यूनानी लोग रहते थे। यूनान के लिए यह उचित और स्वाभाविक था कि वह अपने स्वजातीय लोगों द्वारा आबाद इन प्रदेशों को तुर्की की अधीनता से मुक्त कराकर अपने साथ सम्मिलित कर ले। इसके लिए यूनान में 'विशाल यूनान' आंदोलन चला। 1896 में क्रीट में विद्रोह हुआ। विद्रोहियों को यूनान से काफी मदद मिली। इस विद्रोह के फलस्वरूप क्रीट को थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता मिल गयी; लेकिन वे पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे। अत: 1905-6 में उन्होंने फिर विद्रोह कर दिया। इस बार वे पूर्ण स्वतंत्र हो गये। 1913 में क्रीट विधिवत यूनान के साथ मिल गया।

आस्ट्रिया और सर्बिया : बोस्निया और हर्जेगोबिना को आस्ट्रिया के अधिकार में देकर बर्लिन की संधि ने बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति को और अधिक उलझा दिया। सर्बिया और आस्ट्रिया एक-दूसरे के दुश्मन थे और अब दोनों दुश्मन एक-दूसरे के अत्यंत समीप आ गये। एक ही क्षेत्र में दोनों अपना प्रभाव फैलाना चाहता थे। आस्ट्रिया की अपेक्षा सर्बिया यद्यपि छोटा राज्य था; लेकिन विशाल देश रूस उसकी पीठ पर था। सर्बिया को रूस से काफी प्रोत्साहन मिलता था। ऐसी स्थिति में सर्बिया और आस्ट्रिया में तनाव तथा संघर्ष अनिवार्य हो गया। इससे बाल्कन-प्रायद्वीप में एक नई समस्या उत्पन्न हो गयी। यहां यह बात विचारणीय है कि आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच तनातनी ही प्रथम विश्वयुद्ध का सबसे प्रमुख तात्कालिक कारण थी और इस तनातनी का प्रारंभ बर्लिन समझौता की व्यवस्था के कारण ही हुआ था।

प्रतिष्ठायुक्त शांति : हर दृष्टि से देखने से यही पता चलता है कि बर्लिन-संधि ने तुर्की साम्राज्य तथा बाल्कन-प्रायद्वीप की समस्याओं को सुलझाने के बदले और उलझा दिया। बर्लिन-सम्मेलन से जब डिजरैली लौटा तो उसके स्वागत के लिए एक विशाल भीड़ इकट्ठी थी। उसको देखकर उसने कहा-"मैं आपके लिए प्रतिष्ठा के साथ शांति (peace with honour) लाया हूं।" महारानी विक्टोरिया अपने प्रधानमंत्री की सफलता पर अत्याधिक खुश थी। उसने उसको 'ड्यूक' की उपाधि से विभूषित किया। बकिंघम-महल में, जहां उपाधि-वितरण का उत्सव हो रहा था, उसके पीछे एक विशिष्ट स्थान पर निम्नलिखित शब्द अंकित थे 'प्रतिष्ठा के साथ शांति।' लेकिन 'प्रतिष्ठा के साथ शांति' का यह दावा बिल्कुल गलत था। बर्लिन-संधि के कारण इस क्षेत्र की राजनीति का दिनोंदिन खराब होना इसका प्रमाण है। एक विद्वान का कहना है कि अच्छा होता कि 'प्रतिष्ठा के साथ शांति' कहने के बदले डिजरैली निम्नलिखित बातें कहता : "मैं साइप्रस के द्वीप, बाल्कन प्रायद्वीप और

तुर्की साम्राज्य में रूसी महत्वाकांक्षा पर थोड़ी देर के लिए रुकावट डालकर शांति लिए लौटा हूं।" वास्तव में, बात यह थी कि बर्लिन की संधि ने बाल्कन-प्रायद्वीप की पेचीदी समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं दिया और उस पर हस्ताक्षर करनेवाले अधिकांश प्रतिनिधि जर्मनी की राजधानी से एक गहरी निराशा और अपमान की भावना लेकर लौटे, जिसको यूरोप की शांति के लिए अच्छा शकुन नहीं माना जा सकता था। बर्लिन की संधि की शर्तों को पूरा करना बड़ा कठिन सिद्ध हुआ और कुछ ही दिनों में स्पष्ट हो गया की रूस और तुर्की दोनों इस समझौते को लागू करने के काम में रुकावट डालने को तैयार थे।

बर्लिन की संधि का प्रभाव : बर्लिन की संधि का प्रभाव इतना व्यापक था कि संसार के अन्य क्षेत्र भी इससे नहीं बच सके। इस संधि ने रूस की प्रसार नीति पर एक बहुत बड़ी रुकावट डाल दी। रूस ने अनुभव किया कि ब्रिटेन के कारण इस क्षेत्र में उसकी दाल नहीं ग़लने को है। अतः बर्लिन की संधि के बाद रूस अपना कूटनीतिक जाल इस क्षेत्र में समेटकर पूर्वी एशिया ले गया। इस समय तक चीन के शोषण का काम शुरू हो गया था। रूस भी इस अपवित्र कार्य में सम्मिलित हो गया। इस कारण वहां की राजनीति और भी पेचीदी हो गयी। इस समस्या पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। बर्लिन-संधि के करीब तीस साल बाद जापान से हारने के बाद रूस फिर बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में आ पहुंचा। इस बार उसकी महत्त्वाकांक्षा पर कोई अंकुश लगानेवाला नहीं था; क्योंकि ब्रिटेन के साथ 1907 में उसकी संधि हो चुकी थी। इस क्षेत्र की राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए रूस अब पूर्ण स्वतंत्र था। इसका परिणाम हुआ कि बाल्कन की समस्या काफी खतरनाक हो गयी और यूरोपीय शांति का भविष्य खतरे में पड़ गया।

बर्लिन-सम्मेलन में जर्मनी ने तुर्की-साम्राज्य के किसी क्षेत्र पर दावा नहीं किया। बिस्मार्क के अनुसार बाल्कन-प्रायद्वीप संसार का ऐसा क्षेत्र था जिसमें जर्मनी की कोई दिलचस्पी नहीं थी। तुर्की इसके लिए जर्मनी का कृतज्ञ था। उसके शासक सोचते थे कि संपूर्ण यूरोप में जर्मनी ही एक ऐसा देश निकला जिसने तुर्की के किसी प्रांत पर दावा नहीं किया। जर्मनी के प्रति तुर्की में सद्भावना बढ़ने लगी। जर्मनी का यह एक अच्छा विनियोग हुआ। जब कैसर के हाथों में जर्मनी की विदेश-नीति के संचालन का काम आया तो तुर्की के साथ जर्मनी की दोस्ती बढ़ाना उसकी नीति का प्रमुख लक्ष्य हो गया। बर्लिन-सम्मेलन में उत्पन्न सद्भावना भविष्य में इस मेलजोल का आधार बना। पीछे चलकर तुर्की और जर्मनी इतने बड़े दोस्त बन गये कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय दोनों देशों ने कंधे-से-कंधा मिलाकर दुश्मनों का सामना किया।

बर्लिन-संधि का प्रभाव सुदूर अफगानिस्तान की राजनीति पर भी पड़ा। अफगानिस्तान में रूस का प्रभाव बढ़ रहा था। उसका शासक शेर अली पूर्णतया रूस के प्रभाव में था। रूस के दूत अफगानिस्तान के अमीर को अंग्रेजों के विरुद्ध बराबर भड़काया करते थे। वे उसको गलत आश्वासन दिया करते थे अगर ब्रिटिश सरकार ने उसके राज्य पर हमला किया तो वे हर तरह से उसकी मदद करेंगे। इसी प्रोत्साहन के बल पर शेर अली अंग्रेजों के प्रति कड़ा रुख अपना रहा था। उसको पूरा भरोसा हो गया था कि मौका आने पर रूस उसकी सहायता करेगा। अफगानिस्तान अंग्रेजों के भारतीय साम्राज्य की सीमा पर पड़ता था। अंग्रेज लोग कभी यह सहने को तैयार नहीं थे कि उनके साम्राज्य के सीमावर्ती देश में रूस का प्रभाव क्षेत्र कायम हो जाय। अतः उन्होंने अफगानिस्तान पर 1878 में चढ़ाई कर दी। यह द्वितीय अफगान युद्ध था। शेर अली को विश्वास था कि रूसी दोस्त उसकी मदद करेंगे। लेकिन, उसे निराश होना पड़ा। यूरोप में बर्लिन की संधि हो चुकी थी, जिसके फलस्वरूप रूस तथा ब्रिटेन में समझौता हो चुका था। ऐसी स्थिति में रूस अफगानिस्तान की मदद नहीं कर सकता था। शेर अली, अफगानिस्तान की गद्दी से उतार दिया गया और उसकी जगह पर एक ऐसे व्यक्ति को अफगानिस्तान का अमीर बनाया गया जो अंग्रेजों की हाथ की कठपुतली था। शेर अली का पतन बर्लिन की संधि का एक परोक्ष परिणाम था।

रूस का जर्मनी से दूर खींच जाना अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में बर्लिन सम्मेलन का एक प्रमुख परिणाम हुआ। बिस्मार्क ने दावा किया कि सम्मेलन में उसने एक 'निष्पक्ष दलाल' का पार्ट अदा किया है। लेकिन, रूसवाले बिस्मार्क की इस दलील से सहमत नहीं थे। उनका ख्याल था कि बिस्मार्क ने भीतर-ही-भीतर उनको धोखा दिया है। वास्तव में, बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को सम्मेलन में काफी मदद की थी। सम्मेलन में उसका बहुत कम समय आस्ट्रिया के विदेश मंत्री काउंट एनड्रेसी के साथ बीतता था। इस पर रूसी प्रतिनिधि को संदेह होता था। पर, बिस्मार्क का अनुमान कुछ दूसरा था। वह एनड्रेसी को अपना व्यक्तिगत मित्र बना लेना चाहता था जिससे जर्मनी और आस्ट्रिया में संधि होने का मार्ग सुगम हो जाये। रूसी विदेश मंत्री गोरेचकोव को, जो बर्लिन सम्मेलन में रूस का प्रतिनिधित्व करने आया था, विश्वास हो गया कि बिस्मार्क ने उसको धोखा दिया है। रूस लौटने पर उसने जार एलेकजेंडर को बिस्मार्क की चालबाजियों से अवगत कराया। इसके बाद जार ने जर्मन सम्राट को एक पत्र लिखा जिसमें बिस्मार्क की नीति की कटु आलोचना की गयी थी। "जर्मन सौ वर्षों से चली आनेवाली मैत्री को जारी रखना चाहता है तो उसे अपने तरीके बदलने चाहिए।" यह जार की चेतावनी थी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बर्लिन-सम्मेलन में रूस-जर्मनी के खिंचाव तथा आस्ट्रिया जर्मनी के मेलजोल की नींव पड़ी, जिसके कारण पीछे चलकर यूरोप दो गुटों में बंट गया।

पूर्वीय समस्या की जटिलता में वृद्धि

बर्लिन संधि की अंत्येष्टि क्रिया : बर्लिन की संधि ने बाल्कन-प्रायद्वीप को यूरोपीय राजनीति का गर्म अखाड़ा बना दिया। यहां पर एक नहीं दर्जनों राष्ट्र के परस्पर हित टकराते थे और वे हित इतने मर्मस्पर्शी थे कि कोई भी राष्ट्र उनकी उपेक्षा करने को तैयार नहीं था। बर्लिन सम्मेलन के बाद इस क्षेत्र में नयी-नयी समस्याएं उत्पन्न होने लगीं जिसका समाधान असंभव हो गया। तुर्की साम्राज्य के भग्नावशेष पर इस क्षेत्र में अनेक राज्य पैदा हो गये थे। बुल्गेरिया, रूमानिया, मान्टिनिग्रो, सर्बिया और यूनान स्वतंत्र राज्य थे। रूमेलिया अभी तक एक अर्द्ध स्वतंत्र राज्य था तथा बोस्निया और हर्जेगोबिना आस्ट्रिया के अधीन थे। तुर्की-साम्राज्य के अंतर्गत अब केवल मैसिडोनिया, रूमेलिया, अर्मोनिया तथा क्रीट के प्रदेश बच रहे थे। लेकिन, बाल्कन के नव स्वतंत्र राज्य तुर्की के अधीन में इन प्रदेशों को भी नहीं रहने देना चाहते थे। बुल्गेरिया की आंखें रूमेलिया और मैसिडोनिया पर गड़ी हुई थी। क्रीट और मेसिडोनिया के दक्षिणी भूभाग को यूनानी लोग हड़पना चाहते थे। उधर अर्मेनिया के लोग अपनी स्वतंत्रता के लिए तड़प रहे थे। इसके अतिरिक्त बुल्गेरिया, यूनान, सर्बिया तथा मांटिनिग्रो एक दूसरे के मूल्य पर अपना राज्य-विस्तार करना चाहते थे। सबकी निगाहें मेसिडोनिया पर थीं और तुर्की की निर्बलता से लाभ उठाकर वे इसका आपस में बंटवारा कर लेने का षड्यंत्र रच रहे थे।

इन सब बातों के अतिरिक्त इस क्षेत्र में यूरोप के महान् राष्ट्रों की आपसी प्रतिद्वंद्विता समस्या को और जटिल बना रही थी। आस्ट्रिया वैसे मौके की ताक में था कि वह बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेशों को विधिवत अपने साम्राज्य में मिला ले। रूस अपने स्वजातीय स्लाव लोगों को नहीं छोड़ सकता था। वह उनको अपनी संरक्षता में लाने पर कटिबंध था। फ्रांस और इटली इस ताक में थे कि उन्हें क्रमशः ट्यूनिस और ट्रिपोली पर आधिपत्य जमाने का मौका मिल जाय। ब्रिटेन 'मरीज तुर्की' को जीवित रखने का प्रयास कर रहा था। स्वयं तुर्की में सरगर्मी थी। तुर्की के देशभक्त अपने साम्राज्य के पतन से चिंतित थे। संपूर्ण तुर्की लोकसत्तावाद की लहर में ओत-प्रोत हो रहा था। इस तरह सारा निकटपूर्व भयंकर रूप से उबल रहा था।

इन सब समस्याओं में बुल्गेरिया की समस्या सबसे अधिक प्रचंड हो रही थी। बर्लिन की संधि द्वारा यह राज्य अभी पूर्ण स्वतंत्र नहीं हुआ था। नाममात्र के लिए तुर्की की प्रभुता अभी भी इस पर कायम थी। लेकिन, बुल्गेरिया को अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की कोई परवाह नहीं थी। उसको पूर्ण विश्वास था कि समयानुसार अंततः

उसको पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होगी ही। यह नवीन राष्ट्र अपना प्रारंभिक अवस्था से ही दूसरी चीजों के लिए उछल-कूद करने लगा। बुल्गेरिया की महत्वाकांक्षा थी कि वह बाल्कन प्रायद्वीप में फैले हुए समूचे बुल्गर लोगों को संगठित करके एक झंडे के नीचे एक विशाल बुल्गेरिया का संगठन करे। वे अनुभव करते थे कि बर्लिन-सम्मेलन में उनके साथ घोर अन्याय किया गया है। उन्होंने बुल्गेरिया बुल्गर लोगों के लिए है. का आंदोलन शुरू किया। वे रूमेलिया और मेसिडोनिया को मिलाकर 'वृहत् बुल्गेरिया' का निर्माण करना चाहते थे।

रूमेलिया की समस्या : वर्लिन संधि के द्वारा रूमेलिया को बुल्गेरिया से अलग कर दिया गया था। लेकिन, रूमेलिया के अधिकांश लोग बुल्गेरिया के साथ सम्मिलित होना चाहते थे। 1885 में रूमेलिया के निवासियों ने विद्रोह कर दिया और अपने ईसाई गवर्नर को पदच्युत करके देश के बाहर निकाल दिया। बुल्गेरिया को अच्छा मौका मिल गया। वहां के राजा ने एक घोषणा करके रूमेलिया को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रदेश पर सर्विया भी आंखें गड़ाये हुए था। जब उसने बुल्गेरिया को रूमेलिया को हड़पते देखा तो उसके विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। किंतु, युद्ध में सर्बिया बुरी तरह परास्त होने लगा। अंत में आस्ट्रिया ने हस्तक्षेप करके सर्बिया की रक्षा की और किसी तरह युद्ध का अंत हुआ।

बुल्गेरिया और रूमेलिया के संघ को अन्य यूरोपीय राज्यों ने उचित नहीं समझा। वे बर्लिन संधि की शर्तों को इस तरह भंग होने देना नहीं चाहते थे। उन्होंने हस्तक्षेप किया। पुन: एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ। सम्मेलन को कोई सफलता नहीं मिली और अंततोगत्वा उन्हें इस संघ को मान लेना पड़ा। इसके बाद से बुल्गेरिया का यह नवीन राज्य रूस के प्रभाव में आ गया। रूस की सेना बुल्गेरिया में रहती थी और रूस द्वारा मनोनीत शक्ति इस पर शासन करते थे।

आर्मेनिया का हत्याकांड : रूमेलिया की समस्या के बाद निकटपूर्व में आर्मेनिया की समस्या आयी। आर्मेनिया के ईसाइयों को तुर्की सरकार द्वारा तरह-तरह से सताया जाता था। बर्लिन की संधि द्वारा सुल्तान को वचनबद्ध कराया गया था कि वह आर्मेनिया में सुशासन स्थापित करने का प्रयत्न करे। लेकिन, यूरोप में ईसाई राष्ट्रों के द्वारा आर्मेनिया के संबंध में यह नवीन सद्भावना उनके लिए वरदान बनने के बदले एक अभिशाप सिद्ध हुआ। इसका परिणाम हुआ कि तुर्की के सुल्तान का आर्मेनिया के ईसाइयों पर विश्वास नहीं रहा। एक तुर्की-मंत्री ने तो बड़ी निर्ममता के साथ यहां तक भी कह दिया कि आर्मेनिया के प्रश्न को समाप्त करने के लिए एक ही अच्छा मार्ग है कि आर्मेनिया को लोगों को ही समाप्त कर दिया जाय।

बर्लिन की संधि के बाद से आर्मेनिया में राष्ट्रीय आंदोलन प्रबल रूप धारण कर रहा था। 1880 में जर्जिया की राजधानी टिफलिस में, जहां बहुत अधिक संख्या में आर्मेनियन लोग रहते थे, एक आर्मेनियन समिति बनायी गयी। एक साल के अंदर इसकी अनेक शाखाएं यूरोप के कोने-कोने में स्थापित हो गयीं। 1890 में लंदन में एक 'अर्मेनिया-सभा' की स्थापना हुई। आर्मेनियन लोगों में हिंसात्मक आंदोलन जोर पकड़ने लगा। इस आंदोलन के साथ कुछ विदेशी सरकारों की सहानुभूति भी थी। सुल्तान इसको देखकर पागल हो रहा था। उन कारणों से वह अत्यंत क्षुब्ध था जिनके द्वारा उसका विशाल साम्राज्य सिकुड़कर आधा से कम हो गया था। वह आर्मेनिया में पतन के उस इतिहास की पुनरावृत्ति होने देना नहीं चाहता था। वह ऐसे मौके की ताक में था कि आर्मेनिया के ईसाइयों के उनकी धृष्टता के लिए सबक सिखाया' जाय।

1884 में पहले-पहल इसको ऐसा मौका मिला। समून जिले के गांववालों ने कुछ अनियमित कर देने से इंकार कर दिया। तुर्की अधिकारियों ने कर वसूल करने के लिए सैनिक भेजे, पर किसान कर देने को तैयार नहीं हुए। उनपर राजद्रोह का अभियोग लगाकर नियामित सेना की एक टुकड़ी समून-क्षेत्र में भेजी गयी और अभागे ग्रामीणों को मौत के घाट उतारने का काम शुरू हुआ। पूरे-के-पूरे गांव जला दिये गये तथा पुरुष, स्त्री और बच्चे बड़ी बर्बरता के साथ मार डाले गये। जब इस दुर्घटना का समाचार यूरोप पहुंचा तो वहां काफी खलबली

मची। ब्रिटेन ने जोरदार विरोध प्रकट किया और लार्ड रोजबरी ने जांच की मांग की। सुल्तान ने एक दिखावटी जांच-आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने हत्याकांड के सभी दोष आर्मेनियनों पर ही जड़ दिया। इस तरह के हत्याकांड साम्राज्य के अन्य भागों में भी हुए। कुल मिलाकर एक साल के अंदर करीब 50,000 आर्मेनियन मौत के घाट उतार दिये गये।

इन हत्याकांडों से आर्मेनिया के देशभक्त डरनेवाले नहीं थे। उन्होंने कांस्टेन्टिनोप्ल में स्थित दूतावासों को चेतावनी दी कि जबतक हत्याएं रोक नहीं दी जातीं और सुधारों का आरंभ नहीं कर दिया जाता, वे उपद्रव करते रहेंगे। 26 अगस्त, 1896 को आर्मेनियन लोगों ने कान्स्टेन्टिनोप्ल में ही विद्रोह कर दिया। उस दिन उनके एक गिरोह ने गलाटा में स्थित एक तुर्की बैंक पर अधिकार कर लिया। इस घटना के संबंध में सरकार को पहले से ही सूचना पहुंच चुकी थी और वह दमन के लिए तैयार बैठी थी। बैंक पर आक्रमण होते ही तुर्की सेना ने अपना काम शुरू कर दिया। चौबीस घंटों के अंदर राजधानी में छः हजार आर्मेनियन ईसाई मौत के घाट उतार दिये गये। दो दिनों तक राजधानी में रक्त की नदीं बहती रही।

इस भयंकर हत्याकांड से यूरोप उत्तेजित हो उठा। कवि विलियन वाटसन ने ईश्वर से अनंतकाल के लिए तुर्की साम्राज्य के विनाश की प्रार्थना की और ग्लैडस्टोन ने लिबरपुल में भाषण देते हुए तुर्की सुल्तान को 'महान हत्यारा' कहा। 87 वर्ष के बूढ़े ब्रिटिश नेता ने जोर दिया कि कांस्टेन्टिनोप्ल से ब्रिटिश राजदूत को वापस बुला लिया जांय और लंदन से तुर्की राजदूत को निकाल दिया जाय। जब यह सारा कांड हो चुका था तभी कान्स्टेन्टिनोप्ल में स्थित छह देशों के राजदूतों ने सुल्तान के सामने एक संयुक्त पत्र पेश किया जिसमें हत्याकांड की जांच-पड़ताल और अपराधियों को सजा देने की मांग की गयी थी। लेकिन, यूरोप के राज्य इस प्रश्न पर एक विचार के नहीं थे। रूस इस समय अपनी संपूर्ण कूटनीति को सुदूरपूर्व एशिया में केंद्रित कर रहा था। उसका आर्मेनिया के ईसाइयों के लिए कोई फ्रिक न थीं। इस समय तक जर्मनी की नीति में भी परिवर्तन हो चुका था। जर्मनी की नीति-निर्धारण का काम कैजर के हाथों में आ गया था और कैजर तुर्की के सुल्तान की मित्रता का इच्छुक था। वह कोई वैसा कदम नहीं उठाना चाहता था जिससे सुल्तान नाराज हो जाय। आस्ट्रिया ने जर्मनी की नीति का ही अनुसरण किया। फ्रांस ने भी इस प्रश्न पर ब्रिटेन का साथ नहीं दिया; क्योंकि उस समय मिस्र के प्रश्न को लेकर दोनों देशों का परस्पर संबंध अच्छा नहीं था। अकेले ब्रिटेन कुछ नहीं कर सकता था। सौल्सबरी तुर्की के अत्याचारों को ग्लैडस्टोन से कम घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था। परंतु इस भय से कि कहीं उसके हस्तक्षेप से यूरोपीय युद्ध न छिड़ जाय, वह आर्मेनिया का पक्ष लेकर कोई सैनिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था।

इस तरह अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा की वेदी पर आर्मेनिया के ईसाइयों का बलिदान कर दिया गया। लेकिन इसके साथ ही ब्रिटेन के शासकों को यह पता भी लग गया कि रूस के विरुद्ध तुर्की का साथ देने में ब्रिटेन ने "एक गलत दांव लगाया था।" ब्रिटेन ने तुर्की को इस आधार पर सहारा दिया कि वह अपने को सुधार लेगा। लेकिन, यह धारणा गलत सिद्ध हुई। ब्रिटेन के विरोध से सुल्तान काफी क्रोधित हुआ और इसके फलस्वरूप कान्स्टेन्टिनोंप्ल से उसका रहा-सहा प्रभाव जाता रहा। ब्रिटेन न तो आर्मेनिया के ईसाइयों को ही बचा सका और न सुल्तान पर अपना प्रभाव ही कायम रख सका। सुल्तान को ब्रिटेन की सहानुभूति गंवाने की परवाह भी नहीं थी; क्योंकि कैजर के नेतृत्व में शक्तिशाली जर्मनी उसका अब मित्र था। यूरोपीय राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा से सुल्तान को यह भी पता लग गया कि वह अपने घर में जो चाहे कर सकता है। अतः जब 1904 और 1905 में आर्मेनियन लोगों ने फिर विद्रोह किया तो तुर्की सरकार ने उसको पुनः उसी पाश्विकता के साथ कुचल दिया।

वृहत् यूनान आंदोलन : 1829 में यूनान ने एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में यूरोप के इतिहास में प्रवेश किया था इसके पहले वह तुर्की साम्राज्य का एक अंग था। लेकिन, यूनानी लोग अपने राष्ट्र के निर्माण हो जाने से ही संतुष्ट नहीं थे। विशाल तुर्की साम्राज्य में अभी चालीस लाख से अधिक यूनानी निवास करते थे।

यूनान की अभिलाषा थी कि वह अपने स्वजातीय लोगों द्वारा आबाद इन प्रदेशों को तुर्की की अधीनता से मुक्त कराके अपने साथ सम्मिलित कर ले। इसके लिए यूनान में प्रबल आंदोलन चल रहा था। यूनान में इन प्रदेशों को जीतने के लिए अनेक प्रयास किये, लेकिन वे सब-के-सब बेकार साबित हुए। बर्लिन सम्मेलन में यूनान ने थेसली और एपिरस पर दावा किया, पर डिजरैली ने यह कहकर कि यूनान एक महान देश है और अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए ठहर सकता है, उसके दावे टाल दिये। अंत में 1881 में ग्लैडस्टोन की कृपा से यूनान को थसली और एपिरस के प्रदेश मिल गये। यूनान इससे भी संतुष्ट नहीं हुआ। क्रीट में बसे यूनानी बंधुबांधव उसे पुकार रहे थे। उस प्रदेश को तुर्की के चंगुल से मुक्त करना यूनान अपना पुनीत कर्त्तव्य मानता था।

क्रीट के निवासी भी यूनान के साथ मिलने के लिए जी-तोड़ परिश्रम कर रहे थे। 1830 से 1910 तक उन्होंने तुर्की के विरुद्ध कम-से-कम चौदह विद्रोह किये। 1896 में क्रीट में एक बहुत बड़ा विद्रोह हुआ। विद्रोहियों ने क्रीट को स्वतंत्र घोषित कर दिया और यूनान के साथ सम्मिलित हो गये। यूनानी सरकार ने इस संघ को मान लिया और क्रीट-निवासियों की मदद के लिए एक विशाल सेना क्रीट के लिए रवाना कर दी। इस पर तुर्की ने 1897 में यूनान पर युद्ध की घोषणा कर दी। यूनान और तुर्की में करीब एक महीने तक युद्ध चलता रहा। लेकिन, इस युद्ध में यूनान हार गया। उसका सर्वनाश होने ही वाला था पर महान् राष्ट्रों ने हस्तक्षेप करके यूनान को बचा लिया।

क्रीट के भविष्य का निर्णय करने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों का एक सम्मेलन बैठा। इन लोगों का निर्णय हुआ कि क्रीट को ब्रिटेन, रूस, इटली और फ्रांस के एक संयुक्त आयोग की देख-रेख में रख दिया जाय। यूनान का राजा इसका राज्य-प्रधान नियुक्त किया गया। यह भी तय किया गया कि तुर्की और यूनान दोनों अपनी-अपनी सेनाएं क्रीट से वापस बुला लें। क्रीट अब स्वतंत्र था, यद्यपि अभी नाममात्र के लिए वह तुर्की साम्राज्य के अंतर्गत ही रहा।

क्रीट के निवासी इस व्यवसाथ से पूर्णतया संतुष्ट नहीं थे। वे यूनान के साथ मिलना चाहते थे। तुर्की का नाममात्र का आधिपत्य भी उन्हें सह्य नहीं था। इसलिए क्रीटवासियों ने 1905-1906 में फिर विद्रोह कर दिया। क्रीट स्वाधीनता संग्राम का प्रधान नेता बेनिजेलीस था। 1908 में उसके नेतृत्व में जो विद्रोह हुआ उसके फलस्वरूप क्रीट का स्वाधीनता संग्राम एक कदम और आगे बढ़ गया। लेकिन यूरोपीय राज्यों के हस्तक्षेप में अभी क्रीट पर तुर्की की छाया कायम रही। 1912 में प्रथम बाल्कन-युद्ध छिड़ा। इस युद्ध से लाभ उठाकर 1913 में कीट सदा के लिए यूनान के साथ सम्मिलित हो गया। केवल क्रीट के हाथ में आ जाने से यूनान की महत्वाकांक्षा पूरी नहीं हुई। अभी मेसिडोनिया में उसके स्वजातीय निवास करते थे जो तुर्की के अंदर था। उनको मुक्त करना ही यूनान अपना कर्त्तव्य मानता था।

युवा-तुर्क क्रांति : तुर्की साम्राज्य को पतन से बचाना बर्लिन संधि का एक प्रमुख उद्देश्य था। सन स्टीफानों की संधि के फलस्वरूप तुर्की साम्राज्य का विनाश निश्चित हो गया था। बर्लिन की संधि ने इस क्रम को कुछ देर के लिए रोक दिया। फिर भी तुर्की साम्राज्य की हालत दिनोंदिन खराब होती गयी। तुर्की लोग अपने राज्य की दुर्गति देखकर चिन्तित हो रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में उदार लोकसत्तावाद की जो लहर चल रही थी उसका प्रभाव धीरे-धीरे तुर्की पर भी पड़ रहा था। वे समझने लगे कि जबतक तुर्की की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नहीं कर दिया जाता तबतक उसका कल्याण होना असंभव है। तुर्की को भी अन्य यूरोपीय राज्यों के समान बदलना चाहिए। यह भावना वहां निरंतर प्रबल होती जा रही थी। इन भावनाओं से प्रेरित होकर तुर्की में राजनीतिक दलों का संगठन होने लगी। 1876 में तुर्की में दो राजनीतिक क्रांतियां हुईं। एक वर्ष के भीतर दो सुल्तानों को सिंहासन च्युत किया गया। इस वर्ष अब्दुल हमीद तुर्की का सुल्तान बना। क्रांतिकारियों के नेता मिधत पाशा ने उसकी वैधानिक शासन-विधान निर्माण करने पर बाध्य किया और संसद की सहायता से तुर्की की शासन-व्यवस्था चलने लगी।

अब्दुल हमीद निरंकुश शासन की परंपरा में पला था। वह शासन में किसी प्रकार के नियंत्रण से संतुष्ट नहीं था। वह 1876 के विधान को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगा और अवसर प्राप्त करके पुनः उसने अपना निरंकुश शासन आरंभ किया। युवा-तुर्क-दल के क्रांतिकारियों को देश छोड़कर भाग जाना पड़ा। लेकिन अब्दुल हमीद क्रांति के वेग को नहीं रोक सकता था। 1891 में तुर्की के निर्वासित देशभक्तों ने पेरिस में 'संगठन और प्रगति' नामक एक राजनीतिक दल का संगठन किया।.इसके अधिकांश सदस्य 'युवा-तुर्क' दल के लोग थे। 1906 में समिति का प्रधान कार्यालय सेलोनिका चला गया। 1908 में इंन लोगों ने अब्दुल हमीद के निरंकुश शासन के खिलाफ विद्रोह कर दिया। यह क्रांति 'युवा तुर्क क्रांति' के नाम से प्रसिद्ध है। अब्दुल हमीद इस क्रांति का मुकाबला करने में असमर्थ था; क्योंकि सेना भी क्रांतिकारियों से मिल गयी थी। अतः उसने क्रांतिकारियों की सभी शर्तों को मान ली। 1876 के शासन विधान को पुनः प्रतिष्ठित किया गया। तरुण-तुर्क क्रांति प्रायः सफल रही।

जिस प्रकार 1876 में अब्दुल हमीद को वैध राजसत्तावाद में विश्वास नहीं थां, उसी प्रकार 1908 में भी वह नयी परिस्थिति को मानने के लिए तैयार नहीं था। अवसर प्राप्त होते ही उसने पुनः अपनी स्वेच्छाचारिता का प्रदर्शन आरंभ किया। लेकिन, इस बार उसकी एक न चल सकी। उसे सिंहासनाच्युत कर दिया गया और पंचन मुहम्मद तुर्की को नया सुल्तान बनाया गया। 'युवा-तुर्क- दल' के हाथ में शासन की बागडोर आ गयी। तुर्क लोग समझने लगे कि उनके साम्राज्य में एक नये युग का उदय हुआ है। नयी सरकार से उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। साम्राज्य की गैर-तुर्की प्रजाओं में भी एक नयी आशा का संचार हुआ। तुर्की के नये कर्णधार उदार विचार के व्यक्ति थे। क्या वे उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का आदर करते हुए उन्हें स्वाधीन नहीं कर देंगे ? लेकिन, उनकी यह आशा पूरी नहीं हो सकी। 'युवा-तुर्क-दल' के लोग यूरोप के अन्य साम्राज्यवादी देशों की उदार विचारधारा के व्यक्तियों की तरह संकुचित राष्ट्रीयता में विश्वास करते थे। उनकी राष्ट्रीयता में गैर-तुर्की जातियों के उत्कर्ष का कोई स्थान नहीं था। वे अपने राज्य को पुनर्संगठित करके साम्राज्य को पतन से बचाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने अनेक प्रयास किये। शासन-व्यवस्था, सेना, आर्थिक व्यवस्था, कानूनी पद्धति इत्यादी में तरह-तरह के सुधार किये गये। तुर्की की स्थिति कुछ सुधरने लगी। रोगी कुछ चंगा होने लगा। लेकिन रोगी को चंगा करने का यह प्रयास विफल रहा। तुर्की की अवनति इतनी हो चुकी थी कि 'युवा तुर्क' के लोग चाहते हुए भी उसको पूर्ण रूप से नहीं सुधार सकते थे। तुर्की के रोग की कोई चिकित्सा नहीं थी। उधर 'युवा-तुर्क-दल' की संकीर्ण राष्ट्रीयता से तंग आकर साम्राज्य की गैर-तुर्की प्रजा विद्रोह करने लगी। सबसे पहले मेसिडोनिया में विद्रोह शुरू हुआ। अवसर पाकर बुल्गेरिया ने अपनी पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी। 1910 में अल्बेनिया तथा आर्मेनिया में भयंकर रूप में विद्रोहाग्नि प्रचंड हो उठी। इस विद्रोहाग्नि को शांत करने के लिए 'युवा-तुर्क-दल' के नेताओं ने अब्दुल हमीद के दमनकारी उपायों का उपयोग किया। विद्रोहियों के कुचलने के लिए भयंकर अत्याचार किये गये। उधर आस्ट्रिया में तुर्की को चंगा करने के प्रयास को देखकर बेचैनी फैल गयी। अगर तुर्की सुधारों के फलस्वरूप एक शक्तिशाली राज्य बन जाता है तो आस्ट्रिया के लिए बोस्निया-हर्जेगोबिना पर आधिपत्य स्थापित करना असंभव हो जायगा। अतः, आस्ट्रिया ने शीघ्र इन प्रदेशों को आस्ट्रिया साम्राज्य में सम्मिलित कर लेने का निर्णय किया। अक्टूबर 1908 में इन प्रदेशों को आस्ट्रिया साम्राज्य में मिला लिया गया। बोस्निया-हर्जेगोबिना का अनुबंधन 'युवा-तुर्क' क्रांति का एक प्रमुख परिणाम था।

तुर्की और जर्मनी की मित्रता : तुर्की तथा जर्मनी के बीच मित्रता की शुरूआत बर्लिन-संधि का एकमात्र ऐसा परिणाम था जो प्रथम विश्व-युद्ध के अंत तक कायम रहा। अभी तक तुर्की का रक्षक और सहायक ब्रिटेन था। लेकिन, बर्लिन-संधि के समय से यह रक्षक भक्षक हो गया। साइप्रस के छीने जाने से तुर्की के शासक

ब्रिटेन से काफी असंतुष्ट थे। 1882 में ब्रिटेन ने मिस्र पर भी कब्जा कर लिया। अर्मेनिया के हत्याकांड का विरोध जितना ब्रिटेन में हुआ था उतना किसी अन्य देश में नहीं। इन सब कारणों से तुर्की ब्रिटेन से काफी क्षुब्ध था। ब्रिटेन का प्रभाव तुर्की से उठ गया। कान्स्टेन्टिनोप्ल में एक महत्वपूर्ण स्थान खाली पड़ गया और जर्मनी इस रिक्त स्थान को भरने के लिए दौड़ पड़ा। कैसर इस स्वर्ण अवसर को छोड़नेवाला नहीं था। बर्लिन सम्मेलन में जर्मनी ने तुर्की के किसी भू-भाग पर दावा नहीं किया था। इसके लिए तुर्की जर्मनी का आभारी था। 1889 से कैसर सर्वप्रथम तुर्की में एक राजकीय यात्रा पर गया। वहां उसका अपूर्व स्वागत हुआ। कैसर ने तुर्कों को हर तरह से मदद करने का वादा किया। तुर्की की सबसे बड़ी आवश्यकता सेना का पुनर्संगठन करना था। जर्मनी के सैनिक अफसर तुर्की आये और उसके सैन्य संगठन को आधुनिक यूरोपीय ढंग पर संगठित करने लगे। तुर्की में जर्मनी के प्रभाव का विस्तार होने लगा। सेना-सुधार के बाद आर्थिक व्यवस्था की बारी आयी। आर्थिक क्षेत्र में जर्मनी तुर्की के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करना चाहता था। तुर्की को आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। जर्मनी के पास पूंजी की कोई कमी नहीं थी। जर्मनी के पूंजीपति तुर्की में पूंजी लगाने के लिए तैयार थे। बर्लिन बैंक की एक शाखा कान्सटेन्टिनोप्ल में स्थापित की गयी। आर्थिक सहायता के बाद रेल की लाइन बनाने का काम शुरू हुआ। जर्मनी के इंजीनियर तुर्की में काम करने को उद्यत थे। तुर्की में पहले से ब्रिटेन और फ्रांस के पूंजीपति रेलवे निर्माण का काम कर रहे थे। जर्मनी उनका एक नया प्रतिद्वंद्वी खड़ा हुआ। जर्मनी के पूंजीपति भी तुर्की के रेल की लाइनों का निर्माण करने लगे।

रेलवे लाइनों के निर्माण में बर्लिन बगदाद रेलवे की योजना सबसे महत्वपूर्ण थी। 1903 में तुर्की सुल्तान ने जर्मन पूंजीपतियों को यह लाइन बनाने की अनुमति दे दी। जर्मन सरकार के सम्मुख यह कल्पना थी कि यदि कान्स्टेन्टिनोप्ल और बगदाद के बीच रेलवे लाइन का निर्माण जर्मनी की पूंजी के द्वारा हो जाय तो बर्लिन से बगदाद कें तक का रेल-मार्ग जर्मनीं के प्रभाव में आ जायगा। इससे एशिया पहुंचने के लिए जर्मनी को एक ऐसा मार्ग प्राप्त हो जायेगा जो पूर्णतया जर्मन अधिकार में होगा। वास्तव में, यह एक विशाल योजना थी और इसके कार्यान्वित होने से विश्व राजनीति में एक क्रांति का हो जाना अवश्यंभावी था। पर यह बात ब्रिटेन को किसी भी दशा में सह्य नहीं थी। जर्मनी व्यावसायिक और सैनिक दृष्टि से उन्नति कर रहा था। अब वह एशिया पहुंचने के लिए अपना एक पृथक सुरक्षित मार्ग का निर्माण करने वाला था। ब्रिटेन के लिए इसका विरोध करना आवश्यक हो गया। उसके भारतीय साम्राज्य के लिए एक बहुत बड़े खतरे की बात थी। बर्लिन-बगदाद रेलवे के द्वारा जर्मनी सीधे भारत के दरवाजे पर पहुंच रहा था। अतः, ब्रिटेन ने इस योजना का जबर्दस्त विरोध किया। फलतः बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी। लेकिन, जर्मनी के लोग इस बात को भूले नहीं। ब्रिटेन ने एकबार फिर जर्मनी के महत्वाकांक्षा पर रोक लगा दी। उधर नाविक प्रतिस्पर्धा के कारण दोनों देशों के संबंध खराब हो रहा था। इस विरोध ने आग में घी का काम किया। आंग्ल-जर्मन संबंध धीरे-धीरे खराब होने लगा। जर्मनी पहले ही एक बहुत बड़े त्रिगुट की स्थापना कर चुका था। ब्रिटेन के लोग जर्मनी की महत्वाकांक्षा से काफी भयभीत हो गये। बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना ने ब्रिटेन को पृथकता की नीति परित्याग करने को बाध्य किया। ब्रिटेन ने भी एक-दूसरे विरोधी गुट का निर्माण किया और यूरोप दो शक्तिशाली गुटों में विभक्त हो गया।

अध्याय 14

बोस्निया का संकट

(The Bosnian Crisis)

बर्लिन संधि के बाद शायद ही कोई ऐसा वर्ष रहा हो जब बाल्कन क्षेत्र में कोई भयानक घटना नहीं घटी हो। रूमेलिया की समस्या, आर्मेनिया का हत्याकांड;- 'विशाल यूनान' आंदोलन, अखिल स्लाव-आंदोलन, आस्ट्रिया की 'पूर्व की ओर धक्का दो' की उग्र नीति इत्यादि घटनाएं इस क्षेत्र को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का गर्म अखाड़ा बना रही थीं। कहा नहीं जा सकता था कि कब इन घटनाओं के फलस्वरूप यूरोप में भयानक तूफान उठ खड़ा होगा। लेकिन, अभी तक जो कुछ इस क्षेत्र में हुए थे वे भविष्य में होनेवाली घटनाओं से बहुत कम विकराल और भयानक थे। वास्तव में, तुर्की साम्राज्य और बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति एक तुरंत प्रज्ज्वलित हो उठनेवाली ज़्वालामुखी के शिखर पर स्थित थी। इस ज्वालामुखी का कब धड़ाके के साथ विस्फोट हो जायगा, यह कहना कुछ कठिन था।

आस्ट्रिया और सर्बिया का संबंध : ऊपर कहा जा चुका है कि बोस्निया-हर्जेगोबिना का अनुबंध (annexation) "युवा तुर्क" (Young Turk) क्रांति का एक मुख्य परिणाम था। 7 अक्टूबर, 1908 के दिन आस्ट्रिया ने विधिवत् इन दो प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। आस्ट्रिया के शासकों ने अनुभव किया कि यदि सुधारों के फलस्वरूप तुर्की एक शक्तिशाली राज्य बन गया तो उनकी महत्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं हो सकेगी। अतः, रोगी के चंगा होने से पूर्व ही काम तमाम कर दिया जाय। लेकिन, तुर्की के चंगा होने से बढ़कर एक दूसरा कारण भी था जिसने आस्ट्रिया को ऐसा कदम उठाने के लिए बाध्य किया। वह था आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच वैर-विरोध जो बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशक में अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था।

पूर्व में साम्राज्यवादी विस्तार आस्ट्रिया की विदेशनीति का मुख्य आधार था। इसके अनेक कारण थे। आर्थिक दृष्टिकोण से आस्ट्रिया के लिए आवश्यक था कि उसके साम्राज्य के भूभाग समुद्र-तट के साथ मिले-जुलें हों। लेकिन, एड्रियाटिक सागर का तट अत्यंत छोटा था और इसपर इटली और सर्बिया की आंखें गड़ी हुई थीं। ये दोनों देश एड्रियाटिक सागर के तट पर अपना-अपना अधिकार जमाना चाहते थे। आस्ट्रिया को इस बात की बड़ी चिंता थी। छोटा सा सर्बिया इसके लिए काफी उछल-कूद मचा रहा था। आस्ट्रिया इस बात को सहने के लिए तैयार नहीं था।

सर्बिया और आस्ट्रिया के बीच कई और कारणों को लेकर मनमुटाव बढ़ रहा था। पंद्रहवीं शताब्दी में सर्बिया एक विशाल साम्राज्य था। पर कुछ दिनों के बाद उसको बुरे दिन भी देखने पड़े। प्राचीन सर्बिया-साम्राज्य पीछे चलकर टुकड़े-टुकड़े में विभक्त हो गया। 1689 में इसी प्राचीन साम्राज्य के भग्नावशेष पर विशाल तुर्की साम्राज्य का महल खड़ा हुआ। उसके बाद लगभग चार शताब्दियों तक सब लोग तुर्की के गुलाम बने रहे। वे बाल्कन प्रायद्वीप के भिन्न-भिन्न भागों में फैले हुए थे और तुर्की का अत्याचार उनपर बड़ी बेरहमी के साथ होता था। सर्ब लोग बड़ी बुरी हालत में रहते थे। उनको इस हालत से पहले-पहल आस्ट्रिया ने ही मुक्ति दिलायी

थी। 1717 में आस्ट्रिया ने तुर्की पर चढ़ाई करके बेल्ग्रेड को मुक्ति दिलायी थी। इसके बाद जब आस्ट्रिया की सेना बेल्ग्रेड से लौटने लगी तो बहुत से सर्ब तुर्की की यातनाओं के त्राण पाने के लिए उसी सेना के पीछे-पीछे भाग खड़े हुए और आस्ट्रिया साम्राज्य के अंदर आकर बस गये। लेकिन इससे उनके दुखों का अंत नहीं हुआ। यह घटना एक आपत्ति से बचकर दूसरी आपत्ति में पड़ने की कहानी साबित हुई। आस्ट्रिया के शासक और सामंत भी उन्हें सताने लगे। उनके शोषण से तंग आकर वे आस्ट्रिया से भी भाग खड़े हुए।

फ्रांस की क्रांति से प्रभावित होकर सर्ब-लोग अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए आंदोलन करने लगे। लेकिन, यह उनका दुर्भाग्य था कि सर्बिया के देशभक्तों में मतैक्य नहीं था। उनमें आपसी मतभेद थे और वे दो दलों में बंटे हुए थे। उनमें उन्नीसवीं शताब्दी में आस्ट्रिया और सर्बिया का परस्पर संबंध कोई बुरा नहीं था। क्रीमिया-युद्ध के बाद सर्बिया नाममात्र के लिए स्वतंत्र हो गया था और उस समय दोनों देशों के बीच मित्रता की प्रबल भावना थी। बर्लिन संधि द्वारा आस्ट्रिया को बोस्निया और हर्जेगोबिना के प्रदेश प्राप्त हुए। इन प्रदेशों के अधिकांश निवासी सर्ब-जाति के लोग थे। सर्बिया नहीं चाहता था कि दोनों प्रदेश आस्ट्रिया को प्राप्त हों। पर आस्ट्रिया की मदद से सर्बिया को भी बर्लिन-सम्मेलन द्वारा कुछ प्रांत मिल गये। अतः, सर्बिया ने कोई विशेष विरोध नहीं किया। 1881 में आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच एक संधि हुई। इस संधि द्वारा दोनों देशों के बीच व्यापारिक समझौता हुआ। इसके अनुसार एक ने दूसरे को अपने-अपने देश में व्यापारिक सुविधाएं प्रदान कीं। सर्बिया से आस्ट्रिया में सुअर के निर्यात की विशेष सुविधा दी गयी। 1885 में जब बुल्गेरिया की सेना सर्बिया का सर्वनाश करने पर तुली हुई थी तो आस्ट्रिया ने हस्तक्षेप करके सर्बिया को बचाया था। इसके अतिरिक्त सर्बिया का राजा अलेक्जेंडर आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ का परम मित्र था। सर्बिया के देशभक्तों की भावनाओं की जरा भी परवाह न कर वह पूर्णतया आस्ट्रिया का पक्षपाती था।

1903 में सर्बिया की सेना के कुछ अफसरों ने बड़ी क्रूरता से अलेकजेंडर की हत्या कर दी। सर्बिया में उग्र राष्ट्रीयता का प्रभाव बढ़ रहा था। सर्बियन देशभक्त समझते थे कि आस्ट्रिया उनके विकास का सबसे बड़ा विरोधी है। अतः वे आस्ट्रिया से ताकत आजमा कर फैसला कर लेना चाहते थे। अलेकजेंडर की हत्या के बाद पीटर प्रथम सर्बिया का राजा हुआ। इसके शासनकाल के प्रारंभ से आस्ट्रिया और सर्बिया का परस्पर संबंध बिगड़ने लगा।

पीटर के शासनकाल में सर्बिया के राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आने लगे। पीटर सर्ब-लोगों की राष्ट्रीय भावनाओं के साथ सहानुभूति रखता था और इसलिए उसका झुकाव आस्ट्रिया की ओर न होकर रूस की ओर था। सर्ब-जाति द्वारा आबाद अनेक प्रदेश उस समय आस्ट्रिया के अधीन थे। अतः सर्ब-लोगों में यह आंदोलन चल रहा था कि उन प्रदेशों को आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त कर एक विशाल एवं शक्तिशाली सर्ब-राज्य की स्थापना की जाय। उनको इस बात की पूरी आशा थी कि उनका नया राजा उनके लिए इस दिशा में पथ-प्रदर्शक का काम करेगा। पीटर पहले भी सर्ब-जाति की स्वतंत्रता के लिए लड़ चुका था। इसके लिए वह देश से निकाल दिया गया था। रूस ने उसको शरण दी थी। अतः, स्वाभाविक रूप से पीटर रूस का कृतज्ञ था और समझता था कि स्वजातीय होने के नाते रूस सर्ब-लोगों को हर तरह से मदद करेगा।

इस तरह सर्बिया में राष्ट्रीयता का विकास तथा रूस की तरफ झुकाव होते देख आस्ट्रिया के शासक काफी चिंतित थे। वे अनुभव करने लगे कि यदि बाढ़ को समय पर रोक नहीं दिया जाता तो आस्ट्रिया साम्राज्य की अखंडता खतरे में पड़ जायगी। आस्ट्रिया-साम्राज्य के अंतर्गत अखंख्य सर्ब-लोग निवास करते थे। "वृहत सर्बिया" (Greater Serbia) का आंदोलन जोर पकड़ रहा था। इसका परिणाम यह हो सकता था कि सर्बिया के नेतृत्व में सर्ब-लोग आस्ट्रिया साम्राज्य से निकल जायें। यह हॉप्सबुर्ग साम्राज्य के लिए एक बहुत बड़े खतरे की बात थी। इस साम्राज्य में भिन्न-भिन्न जातियां—रूमानिया, चेक, स्लोवाक, इत्यादि निवास करती थीं।

'वृहत् सर्बिया' स्थापित हो जाने से वे लोग अपनी स्वतंत्रता की मांग करते और अंततोगत्वा इसका अर्थ होता आस्ट्रिया- साम्राज्य की समाप्ति। अतः, आस्ट्रिया के शासकों ने "वृहत् सर्बिया" आंदोलन को प्रारंभिक अवस्था में ही दबा लेने का निश्चय किया। सर्बिया को सीधे किसी समुद्र से संपर्क नहीं था। उसका व्यापार बहुत हद तक आस्ट्रिया की मर्जी पर निर्भर था। 1881 में आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ था। 'वृहत् सर्बिया' आंदोलन को ध्यान में रखकर सर्ब-सेना आस्ट्रिया पर अपने आर्थिक जीवन को आश्रित नहीं रखना चाहते थे। वे बुल्गेरिया से एक व्यापारिक समझौता करने के लिए बातचीत करने लगे। आस्ट्रिया यह नहीं सह सकता था कि सर्बिया इस तरह आर्थिक दृष्टिकोण से स्वतंत्र हो जाय। उसने हस्तक्षेप किया। सर्वपर्थम आस्ट्रिया ने सर्बिया के सूअर निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिससे सर्बिया की आर्थिक कमर टूट जाय। फलस्वरूप, आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच तथाकथित 'सूअर-युद्ध' (Pig war) शुरू हुआ। लेकिन, आस्ट्रिया सर्बिया को दबा नहीं सका। बाध्य होकर सर्बिया दूसरे-दूसरे देशों में बाजार की खोज करने लगा और कुछ दिनों के भीतर आर्थिक दृष्टिकोण से वह आस्ट्रिया से एकदम स्वतंत्र हो गया। आर्थिक नाकेबंदी के कारण सर्ब-नेता और अधिक आस्ट्रिया के विरोधी तथा रूस के समर्थक हो गये। इस प्रयत्न में रूस उनको हमेशा प्रोत्साहित करता रहा।

बोस्निया कांड

ऐसी स्थिति में आस्ट्रिया ने सर्बिया के सर्ब-आंदोलन को एकदम कुचल देने का निश्चय किया। 1905 में रूस जापान से बुरी तरह परास्त हुआ था। आंतरिक क्रांति के कारण रूस वैसे भी बहुत कमजोर हो रहा था। इस समय उसके लिए यह संभव नहीं था कि वह सर्बिया की सहायता कर सके। अतः 'विशाल सर्बिया' आंदोलन को कुचल देने का अत्यंत उत्तम अवसर था। आस्ट्रिया चाहता था कि सर्वप्रथम बोस्निया-हर्जेगोबिना को विधिवत् हाप्सबुर्ग-साम्राज्य में मिला लिया जाय। इन दोनों प्रदेशों के अधिकांश निवासी सर्ब-जाति के थे और वृहत् सर्बिया आंदोलन में वे उत्साह के साथ भाग ले रहे थे। यह आस्ट्रिया साम्राज्य की सत्ता के लिए बड़े खतरे की बात थी। पर बिना किसी पूर्व समझौते के बोस्निया पर अधिकार करना कठिन काम था। इसमें कोई शक नहीं कि रूस सैनिक दृष्टि से बहुत कमजोर हो गया। यह वैसी हालत में नहीं था कि सर्बिया को कोई सहायता कर सके। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं था कि रूस की शक्ति एकदम नष्ट हो चुकी थी। वह अभी यूरोप का एक महान देश था और ब्रिटेन तथा फ्रांस के साथ उसकी संधि थी। बोस्निया-हर्जेगोबिना का मिलाया जाना बर्लिन संधि की शर्तों का उल्लंघन होता था। इसके विरोध में रूस जैसा महान् राष्ट्र मदद करने के लिए उद्यत था।

इस समय रूस का विदेशमंत्री इस्वोल्स्की था। वह महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। रूस-जापान-युद्ध के बाद रूस की खोयी हुई शक्ति को पुनः वापस लाना उसका मुख्य ध्येय था। इसलिए 1907 में उसने ब्रिटेन के साथ समझौता कर लिया। इस्वोल्स्की की यह एक दूसरी बड़ी अभिलाषा भी थी। कालासागर और भूमध्यसागर को मिलानेवाले डार्डेनल्स तथा बोरफोरस नामक जलडमरूमध्यों तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना प्रभाव कायम करने के लिए वह विशेष रूप से इच्छुक था। बर्लिन-संधि के द्वारा इन जलडमरूमध्यों को विदेशी जंगी जहाजों के लिए बंद कर दिया गया था। यह रूस की सुरक्षा के लिए एक अच्छी बात थी। लेकिन, इसी संधि के अनुसार रूसी जंगी जहाजों के आवागमन पर भी प्रतिबंध था। रूस अपने पर ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं चाहता था। उसकी इच्छा थी कि कालासागर के इन दो जलडमरूमध्यों पर उसका एकाधिपत्य हो जाय। रूस के जंगी जहाज इस मार्ग से आयें-जायें; लेकिन अन्य देशों के जहाजों पर प्रतिबंध लगा दिया जाय। जलडमरूमध्यों को रूस के लिए खोलना इस्वोल्सकी की विदेशनीति का मुख्य आधार था।

इस्वोल्स्की बाल्कन-प्रायद्वीप में आस्ट्रिया की नीति का कट्टर विरोधी था। संजक के प्रश्न पर जो विवाद चला था उसके कारण इस्वोल्स्की बहुत बिगड़ा हुआ था। लेकिन कालासागर के जलडमरूमध्यों पर एकाधिपत्य करना उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा थी। यह काम बिना आस्ट्रिया की सदिच्छा प्राप्त किये नहीं हो सकता था। अभी तक रूस की इस योजना का प्रबल विरोधी ब्रिटेन था। पर 1907 में ब्रिटेन और रूस के बीच संधि हो चुकी थी और वह इस क्षेत्र में ब्रिटेन की तरफ से निश्चित हो गया था। बाल्कन-प्रायद्वीप में आस्ट्रिया रूस का प्रतिद्वंद्वी था। अतः इस्वोल्स्की जलडमरूमध्यों पर आधिपत्य कायम करने के पूर्व आस्ट्रिया की सहमति ले लेना चाहता था। उधर आस्ट्रिया बोस्निया-हर्जेगोबिना को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना चाहता था। इन प्रदेशों के अधिकांश निवासी सर्ब थे और रूस 'वृहत्र सर्बिया' आंदोलन को प्रोत्साहित करता था। अतः, आस्ट्रिया भी इन प्रदेशों पर आधिपत्य कायम करने से पूर्व रूस की स्वीकृति प्राप्त कर लेना चाहता था।

बुशलौ की बातचीत : 7 जनवरी, 1908 को ऐरेनथाल (Count Aehrenthal) आस्ट्रिया का प्रधानमंत्री नियुक्त हुआ। वह महान् कूटनीतिज्ञ तथा 'बृहत्तर सर्बिया' आंदोलन का एक प्रबल विरोधी था। इस आग को फैलने के पहले ही वह दबा देना चाहता था। प्रधानमंत्री पद पर आते ही उसने बोस्निया-हर्जेगोबिना को हाप्सबुर्ग-साम्राज्य में मिला लेने का निश्चय किया। इसके लिए रूस की स्वीकृति प्राप्त कर लेना आवश्यक था और वह इस दिशा में प्रयास करने लगा।

आंग्ल-रूसी संधि होने के कुछ ही दिनों के बाद इस्वोल्स्की वियना गया। वहां बहुत देर तक ऐरेनथाल के साथ उनकी बातचीत हुई। इस बातचीन के दौरान में इस्वोल्स्की ने ऐरेनथाल को बताया कि वह कालासागर के जलडमरूमध्यों पर रूस का एकाधिपत्य स्थापित करने का निश्चय कर चुका है। ऐरेनथाल ने भी इस बात को स्पष्ट कर दिया कि बिना मुआवजा दिये रूस बर्लिन संधि के इस महत्वपूर्ण समझौते को भंग नहीं कर सकता है। डार्डेनिस्स और बोस्फोरस के बदले में ऐरेनथाल आस्ट्रिया के लिए बोस्निया और हर्जेगोबिना का प्रदेश चाहता था। इस बातचीत के सिलसिले में दोनों राजनीतिज्ञ किसी विशेष निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके। केवल एक-दूसरे ने अपनी-अपनी आगामी योजना स्पष्ट कर दी।

2 जुलाई, 1908 को इस्वोल्स्की ने ऐरेनथाल के पास एक स्मरण पत्र (aide momoir) भेजा। इस स्मरणपत्र में परोक्ष रूप से यह सुझाव दिया गया था कि 'युवा तुर्क' क्रांति को ध्यान में रखकर रूस के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह डार्डेनल्स और बोस्फोरस पर अपना अधिकार स्थापित कर ले। इसके बदले में इस्वोल्स्की बोस्निया-हर्जेगोबिना पर आस्ट्रिया का आंधिपत्य मानने को तैयार था। एरेनथाल इस स्मरण-पत्र के वास्तविक भाव को समझकर काफी प्रसन्न हुआ। वह स्वयं इस तरह की व्यवस्था का पक्षपाती था, अतः उसने इस्वोल्स्की को इस विषय पर स्पष्ट रूप से बातचीत करने के लिए बुशलौ (Buchalu) में आमंत्रित किया।

आस्ट्रिया और रूस के दो मंत्रियों के बीच बुशलौ की मंत्रणा बर्लिन-संधि को भंग करने के लिए एक बहुत बड़ा षड़यंत्र था। यह मंत्रणा अत्यंत गुप्त रूप से हुई थी और इस अवसर पर कोई अन्य व्यक्ति मौजूद नहीं था। इसके संबंध में कागज पर भी कुछ नहीं लिखा गया था और पीछे चलकर जब बुशलौ-समझौते का निर्णय निर्धारित तरीके से कार्यान्वित नहीं हुआ तो एक मंत्री दूसरे पर तरह-तरह के आरोप लगाने लगे। जनता के सामने जो बातें रखीं गयीं वे एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत थीं। हमारे लिए यह निश्चय कर लेना संभव नहीं है कि इन दोनों में वास्तव में क्या बातें हुईं। लेकिन, दोनों मंत्रियों के वक्तव्यों के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो जाता है कि इस्वोल्स्की ने आस्ट्रिया को बोस्निया और हर्जेगोबिना मिला लेने की और ऐरेनथाल ने रूस को डार्डेनिस्स तथा बोस्फोरस पर आधिपत्य जमाने को अनुमति प्रदान कर दी थी। इसके अतिरिक्त ऐरेनथाल ने यह वादा भी किया कि वह संजक-रेलवे की योजना का परित्याग कर देगा। बुशलौ-समझौता बर्लिन पर एक घोर अतिक्रमण था। इसलिए एरेनथाल में इस्वोल्स्की की इस योजना को मान लिया कि प्रस्तावित

परिवर्तनों को अधिकारिक रूप देने के लिए यूरोपीय देशों का एक सम्मेलन बुलाया जाय। यह तय था कि यह षड़यंत्र तभी सफल होता जब दोनों देश एक ही साथ अपना-अपना काम शुरू करते। बुशलौ-सम्मेलन में बोस्निया-हर्जेगोबिना तथा डार्डेनल्स-बोस्फोरस पर आधिपत्य जमाने की कोई निश्चित तिथि नहीं तय की गयी। एरेनथाल का कहना था कि उसने इस्वोल्स्की को स्पष्ट रूप से बतला दिया था कि 8 अक्टूबर को आस्ट्रिया की सेना बोस्निया हर्जेगोबिना को पूर्णतया अपने कब्जे में कर लेगी। इस्वोल्स्की ने इस बात को खंडित किया और आधिपत्य कर लिये जाने के बाद उसने खुले रूप में शिकायत की कि उसको धोखा दिया गया है। परन्तु जब आस्ट्रिया के पेट्रोग्राड स्थित राजदूत काउन्ट वर्शटोल्ड ने उस बुशलौ की बातचीत का स्मरण दिलाया तो वह स्तब्ध रह गया। वास्तव में, जैसा प्रोफेसर गूच कहते हैं : "अपनी परेशानी का उत्तरदायित्व स्वयं उसी (इस्वोल्स्की) पर था क्योंकि उसने वादा किया था कि वह बुशलौ में निश्चित की गयी बातों का सही विवरण वियना भेज देगा। परन्तु उसने वादा को पूरा नहीं किया।"

बोस्निया-हर्जेगोबिना के अनुबंधन की तैयारी : इस्वोल्स्की कां कदापि यह विश्वास नहीं था कि बुशलौ-सम्मेलन के शीघ्र बाद आस्ट्रिया अपना काम शुरू कर देगा। वह बुशलौ से सीधे रूस नहीं लौटा, बल्कि यूरोप के भिन्न-भिन्न राजधानियों में कूटनीतिक अभियान पर निकल पड़ा। जलडमरूमध्यों के खोले जाने के पूर्व वह ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली से बातचीत कर लेना चाहता था। दूसरी ओर एरेनथाल बुशलौ ने इस दृढ़ निश्चय के साथ वियना लौटा कि वह जल्द ही कोई कदम उठायगा। उसको पूर्ण विश्वास था कि 'रूसी रीछ गुर्रायगा अवश्य, परन्तु काटेगा नहीं।' एरेनथाल बुल्गेरिया को अपने पक्ष में कर लेना चाहता था। बुल्गेरिया को यह आश्वासन दे दिया गया कि वह अपनी पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर देगा तो आस्ट्रिया की ओर से कोई आपत्ति नहीं उठायी जायगी। 1 अक्टूबर को फ्रांस, इटली, ब्रिटेन और जर्मनी में स्थित आस्ट्रिया के राजदूतों के पास सम्राट फ्रांसिस जोसेफ की अपनी हाथ से लिखी हुई चिट्ठियां भेजी गयीं। उन्हें आदेश दिया गया था कि 5 अक्टूबर को वे विभिन्न सरकारों के सामने इस पत्र को प्रस्तुत कर दें। इस्वोल्स्की इस समय अपने कूटनीतिक अभियान पर पेरिस पहुंचा हुआ था। अक्टूबर को उसे एरेनथाल द्वारा लिखित एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें कहा गया था कि 7 अक्टूबर को बोस्निया पर आस्ट्रिया को पूर्ण आधिपत्य कायम कर लिया जायगा। 5 अक्टूबर के बदलें 6 अक्टूबर को ही सम्राट फ्रांसिस जोसेफ ने बोस्निया-हर्जेगोबिना के आस्ट्रिया द्वारा अनुबंधन (annexation) की घोषणा कर दी।

फ्रांसिस जोसेफ की इस घोषणा से सारे यूरोप में खलबली मच गयी। रूस और सर्बिया के लोगों को बुशलौ-समझौते के संबंध में कुछ जानकारी नहीं थी। सारे सर्बिया में रोष और क्रोध छा गया। सर्बिया के समाचारपत्रों ने आस्ट्रिया पर बर्लिन-संधि के उल्लंघन का आरोप लगाया। उन्होंने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की मांग की। सर्बिया की सरकार भी युद्ध की तैयारी करने लगी। बोस्निया में उनके सजातीय रहते थे। आस्ट्रिया उन्हें अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर रहा था। यह बात उनके लिए असह्य थी। अतः, वे युद्ध की तैयारी करने लगी। बोस्निया-सर्बिया के राजनीतिज्ञ रूस गये और वहां उन्होंने मदद की याचना की। आस्ट्रिया ने भी विविध तरीकों से सर्बिया को समझाने का प्रयत्न किया। आस्ट्रिया का कहना था कि बोस्निया पर आस्ट्रिया के आधिपत्य से कोई घाटा नहीं है। आस्ट्रिया संजक का इलाका छोड़ने को तैयार था। इससे सर्बिया को पर्याप्त मुआवजा मिल रहा था। सार्बिया उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता था।

इस्वोल्स्की की नीति : 6 अक्टूबर की घटना के बाद इस्वोल्स्की की हालत अत्यंत ही शोचनीय थी। उसने अखिल स्लाव आंदोलन को एक बहुत बड़ा धोखा दिया था। रूस इस आंदोलन का नेता था और उसका विदेशमंत्री जलडरूमध्यों के लिए स्लाव लोगों की स्वतंत्रता बेच रहा था। अतः सार्वजनिक रूप से इस्वोल्स्की ने एक दूसरा दृष्टिकोण अपनाया। उसने कहा कि ऐरेनथाल ने जों कुछ किया है उसके संबंध में उसको जानकारी नहीं थी। उसने सर्बिया के पेरिस-स्थित राजदूत को बतलाया कि सर्बिया को उत्तेजित

होने का कोई कारण नहीं है। वास्तव में, इस्वोल्स्की ने अभी अपनी हिम्मत नहीं हारी थी। वह सर्बिया को तबतक के लिए शांत रखना चाहता था जबतक जलडमरूमध्यों पर रूस का अधिकार नहीं हो जाता। उसने निश्चय किया कि वह आस्ट्रिया को यूरोप के महान राष्ट्रों के एक सम्मेलन के सामने उपस्थित होने के लिए विवश करेगा। इस सम्मेलन से उसे यह आशा थी कि वह आस्ट्रिया द्वारा कियें गये काम को मान्यता देते हुए रूस के मुआवजे के दावा को भी मान लेगा। अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के अतिरिक्त इस्वोल्स्की के पास कोई दूसरा उपाय नहीं था। जबतक यह समस्या महान राष्ट्रों के सम्मुख उपस्थित नहीं कर दी जाती तबतक रूस को मुआवजा मिलना एक कठिन काम था। अतः, अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए इस्वोल्स्की यूरोपीय देशों की राजधानियों में दौड़ लगाने लगा। इस्वोल्स्की की इसी मांग में बोस्निया कांड अपना प्रचंड रूप धारण किये रहा। वह सभी बातों को निश्चित करने के लिए एक सम्मेलन की मांग करता और ऐरेनथाल अपनी संपूर्ण शक्ति के साथ इस तरह के सम्मेलन का विरोध करता। अब यह इस्वोल्स्की पर निर्भर करता था कि किस तरह वह उस अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन करता है, जिसकी मांग वह इतने जोर-शोर से कर रहा था।

सबसे पहले उसने फ्रांस का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की। फ्रांस वर्षों से रूस का मित्र था और इस्वोल्स्की आशा किये हुए था कि यह पुराना मित्र अवश्य ही उसका साथ देगा। लेकिन, फ्रांस को बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी। वह नहीं चाहता था कि अपने मित्र की उग्रनीति के कारण वह बाल्कन प्रायद्वीप की झंझटों में व्यर्थ फंसे। अतः जब इस्वोल्स्की ने फ्रांसीसी सरकार से एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्ताव को समर्थन क़रने की याचना की तो प्रधानमंत्री पीशों ने टालमटोल कर दिया। उसने इस्वोल्स्की को सबसे पहले ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त करने की सलाह दी।

इस्वोल्स्की की कठिनाई : अक्टूबर को इस्वोल्स्की पेरिस से लंदन के लिए रवांना हुआ। परन्तु निराशा यहां भी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। लंदन में विदेश सचिव सर एडवर्ड ग्रे से इस्वोल्स्की की मुलाकात हुई। सर ग्रे ने उसको स्पष्ट रूप से बतला दिया कि बोस्निया के प्रश्न पर वे उसके साथ बिल्कुल सहमत हैं। ग्रे के अनुसार यह आवश्यक था कि बर्लिन-संधि में किये जानेवाले किसी भी संशोधन की स्वीकृति एक दूसरे यूरोपीय शक्ति से प्राप्त कर ली जाय। 'कोई महान राष्ट्र उन सभी देशों की स्वीकृति के बिना जिन्होंने मिलकर कोई समझौता किया है, उसके उत्तरदायित्वों से अपने को मुक्त नहीं कर सकता और न उसकी शर्तों में कोई परिवर्तन कर सकता है।' ब्रिटिश सरकार का यही रुख था। सर ग्रे ने वियना स्थित ब्रिटिश राजदूत को इसी आशय का आदेश दिया कि वह ऐरेनथाल से साफ-साफ शब्दों में स्पष्ट कर दे कि ब्रिटिश सरकार बोस्निया को सम्मिलित करने के तरीके को नापसंद करती है। इसके अतिरिक्त सर ग्रे ने इस्वोल्स्की को भी बतला दिया कि जिस तरह यह आस्ट्रिया के कार्य को पसंद नहीं करता उसी तरह वह बर्लिन संधि की दूसरी शर्त, जिसके द्वारा कालासागर के जलडमरूमध्यों का तटस्थीकरण कर दिया गया था, में भी किसी हेरफेर को पसंद नहीं करेगा। इस्वोल्स्की को ब्रिटेन के इस रुख से बड़ी निराशा हुई। लेकिन, ब्रिटेन से कम एक बात पर उसका समर्थन कर रहा था। अतः वह अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग जोर-शोर से करने लगा। ऐरेनथाल उसी तीव्रता के साथ सम्मेलन का विरोध करता रहा। 22 अक्टूबर को उसने स्पष्ट कर दिया कि आस्ट्रिया के सम्मेलन के बुलाये जाने में इस शर्त पर कोई आपत्ति नहीं होगी कि उसका कार्यक्रम पहले से उसके विचारों के अनुसार निर्धारित कर लिया जाय, उसके संबंध में बिना किसी चर्चा के बोस्निया पर आधिपत्य की स्वीकृति दे दी जाय और स्पष्ट है कि इस शर्त पर सम्मेलन बुलाने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

इस स्थिति में इस्वोल्स्की का जीना मुश्किल हो रहा था। ब्रिटिश और फ्रांसीसी सहायता के बिना जलडमरूमध्यों को खोलना तो असंभव ही था। पर उसकी इच्छा थी कि बुशलौ-समझौता से अगर रूस को लाभ नहीं हुआ तो आस्ट्रिया को भी कोई लाभ नहीं हो। आस्ट्रिया के लाभ को समाप्त करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ और कारण भी थे जो इस्वोल्स्की को अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन

बुलाने के लिए प्रेरित कर रहे थे। सम्मेलन का न होना इस्वोल्स्की के लिए एक ऐसी कूटनीतिक पराजय होती जो उसकी सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल जा सकती थी। 'अखिल-स्लाव' आंदोलन के रूसी कर्णधार इस्वोल्सकी को कोस रहे थे कि उसने अपनी नीति से स्लाव बंधुओं का बलिदान कर दिया है। वे इस्वोल्स्की से इस्तीफे की मांग कर रहे थे। बेचारा इस्वोल्सकी बहुत बड़े जाल में फंसा हुआ था। पेट्रोग्राड के शासक उससे नाखुश थे। ब्रिटेन और फ्रांस जैसे मित्रराष्ट्र दिल खोलकर मदद देने से इन्कार कर रहे थे। किसी के सामने वह मुंह दिखाने की स्थिति में नहीं था। वह बहाना करता रहा कि आस्ट्रिया की कार्रवाई में उसका कोई हाथ नहीं है। उसने उन्हें आश्वासन देना शुरू किया कि वह सर्बिया को हर हालत में मदद देने को तैयार है और सर्बिया को बोस्निया के बदले में मुआवजा मिलेगा। बोस्निया तथा हर्जेगोबिना के भाग्य का फैसला अंतिम रूप से नहीं हो पाया था।

इस्वोल्स्की के आश्वासन का सर्बिया पर क्या प्रभाव पड़ा यह कहना कुछ कठिन है। लेकिन, सर्ब लोग स्वयं उतावले हो रहे थे। आस्ट्रिया की कार्रवाई सर्बिया के ऊपर एक प्रबल आघात था और वे तुरंत ही सैनिक तैयारियों में व्यस्त हो गये। बोस्निया और हर्जेगोबिना के स्लाव लोगों में काफी हलचल थी। शायद ही कोई दिन ऐसा होता जिस दिन आस्ट्रिया के विरुद्ध इन प्रदेशों में प्रदर्शन नहीं हुआ हो। इन लोगों ने बड़े जोरशोर के साथ अपना आंदोलन प्रारंभ किया। आस्ट्रिया ने इस आंदोलन का क्रूरतापूर्ण दमन करना शुरू किया। इस दमन की प्रतिक्रिया सर्बिया में हुई। 'बोस्निया हर्जेगोबिना के प्रश्न को युद्ध के द्वारा ही तय किया जा सकता है।' सर्बिया के देशभक्त इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके थे। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सर्बिया के नेता रूस गये और जार से मदद के लिए प्रार्थना की। इस समय रूस युद्ध छेड़ने की स्थिति में नहीं था। रूस-जापान-युद्ध से उसकी कमर टूट चुकी थी। अतः जार ने उन्हें शांति के मार्ग पर चलने की सलाह दी। इन सलाहों के बावजूद सर्बिया का जनमत युद्धोन्मुख ही बना रहा।

बोस्निया और सर्बिया में प्रतिदिन युद्ध का वातावरण तैयार हो रहा था। अतः आस्ट्रिया ने इसका मुकाबला करने का निश्चय किया। आस्ट्रिया का प्रमुख सैनिक अधिपति (Chief of Staff) कोनराड ने सर्बिया की सीमा पर सैनिकों को तैनात करने का काम शुरू कर दिया। आस्ट्रिया और सर्बिया में अब युद्ध की पूरी संभावना हो गयी। वह स्थानीय युद्ध विश्वव्यापी युद्ध में परिणत हो सकता था। लेकिन, रूस ने सर्बिया पर काफी दबाव डाला की ऐसी स्थिति में वह कोई ऐसा काम न कर बैठे जिससे युद्ध छिड़ जाय। रूस ने सर्बिया को अनेक आश्वासन दिया। एक रूसी राजनेता ने सर्बिया के राजदूत को समझाया कि 'उनको अभी उतावला नहीं होना चाहिए। रूस सभी सैनिक दृष्टि से कमजोर है। इस हालत में यदि आपलोग युद्ध शुरू कर देते हैं तो वह आत्महत्या करने के तुल्य होगा। अभी युद्ध के लिए तैयारी कीजिए। समय आयगा तो आस्ट्रिया के साथ निबट लिया जायगा।' इस तरह की बातें कर के रूस सर्बिया पर अंकुश लगाये रहा, लेकिन सर्ब-लोग माननेवाले नहीं थे। उनके समाचारपत्र आस्ट्रिया पर जहर उगल रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि युद्ध होकर रहेगा।

जर्मनी द्वारा संकट का समाधान : कभी-कभी यह कहा जाता है कि जर्मनी ने आस्ट्रिया को बोस्निया पर आधिपत्य जमाने के लिए उकसाया था, पर यह एक सर्वथा गलत बात है। जब बुशलौ समझौता के बारे में बूलों को पता लगा तो काफी दुखी हुआ और उसे विश्वास हो गया कि यदि इस समझौते को कार्यान्वित किया गया तो बाल्कन की समस्या और जटिल हो जायगी। यद्यपि आस्ट्रिया और जर्मनी एक-दूसरे के परम मित्र थे, तो भी जर्मनी को बोस्निया को मिलाने की सूचना पहले नहीं मिली थी। जब आस्ट्रिया ने उस प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया तो कैसर ने इसको 'दिन दहाड़े डकैती' की संज्ञा दी। कैसर इस समय तुर्की को अपना मित्र बनाना चाहता था। ऐसी स्थिति में जर्मनी का मित्र आस्ट्रिया तुर्की के खिलाफ इस तरह का काम करे, कैसर को सह्य नहीं था। वह आस्ट्रिया के कार्य को किसी भी मूल्य पर अनुमोदित करने के लिए तैयार नहीं था।

इस समस्या पर चांसलर बूलो का कुछ दूसरा ही विचार था। सारे संसार में केवल आस्ट्रिया जर्मनी का एकमात्र मित्र और सहायक था। अगर विपत्ति में उसने आस्ट्रिया का साथ नहीं दिया तो आस्ट्रिया किसी दूसरी स्थिति में जर्मनी का साथ कैसा देगा ? बूलो आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' देने का समर्थक था। लंदन में इस्वोल्स्की तथा सर एडवर्ड के बीच जो बातचीत हुई थी और जिसके आधार पर सर ग्रे ने इस्वोल्स्की के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग का समर्थन किया था उसको बूलो एक चुनौती के रूप में मानता था। बूलो का कहना था कि ब्रिटेन अपने नये मित्र रूस की मदद कर रहा है। ऐसी स्थिति में जर्मनी अपने एकमात्र मित्र की मदद क्यों नहीं करे ? वह हर हालत में आस्ट्रिया की मदद करना चाहता था। लेकिन, बूलो युद्ध करने के पक्ष में नहीं था। वह शांतिमय उपायों से इस संकट का समाधान करना चाहता था। ऐरेनथाल की तरह वह भी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्ताव का घोर विरोधी था। जर्मन संसद में बोलते हुए उसने कहा—"किसी भी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन की आवश्यकता नहीं है और इस तरह का कोई सम्मेलन निकट भविष्य में नहीं होगा।"

इस समय तक आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच युद्ध छिड़ने की पूरी तैयार हो चुकी थी। कौनराड (Conrad) ने पहले ही सर्बिया की सीमा पर आस्ट्रिया की सेना को तैनात कर दिया था। रूस के मना करने पर भी सर्बिया अपनी सेना सीमा पर भेज चुका था। दोनों देशों की सेनाएं सामने-सामने खड़ी थीं। रूस का विदेश-मंत्री अखिल स्लाव-आंदोलन को धोखा दे चुका था। इस बार रूस अपने अनुयायी को खतरे की स्थिति में अकेले छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। सैनिक दृष्टिकोण से रूस अभी कमजोर था, परंतु सर्बिया को वह अकेले नहीं छोड़ सकता था। अतः सीमा पर रूसी सेना भी एकत्र की जाने लगी। उधर युद्ध के विषय पर आस्ट्रिया में दो दल थे। कौनराड के नेतृत्व में एक दल ऐसा था जो इसी समय सर्बिया पर आक्रमण करके उस की कमर तोड़ देने के पक्ष में था। उनका विचार था कि इसी समय सर्बिया पर आक्रमण करने का यही स्वर्ण अवसर है। रूस अभी युद्ध के लिए तैयार नहीं था। फ्रांस और ब्रिटेन इस समय रूस की मदद करने में हिचकिचा रहे थे। सर्बिया अभी पूर्णतया तैयांर नहीं हुआ था। अतः भावी युद्ध को रोकने के लिए सर्बिया पर आक्रमण कर देना आवश्यक समझता था। ऐरेनथाल भी कौनराड के विचारों से सहमत था, पर उस समय आस्ट्रिया की आंतरिक स्थिति अच्छी नहीं थी। आस्ट्रिया-साम्राज्य में सर्वत्र गड़बड़ी फैली हुई थी और ऐसे समय में युद्ध को आमंत्रित करना ठीक नहीं था। अतः ऐरेनथआल ने कौनराड के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। फिर भी तीन देशों की सेना अपनी-अपनी सीमा पर एकत्र हो रही थी और इस परिस्थिति में किसी भी बात पर युद्ध छिड़ सकता था।

ऐसी स्थिति में बूलो ने एक ऐसा कदम उठाया जिसके फलस्वरूप यूरोप की शांति भंग होने से बच गयी। 23 मार्च, 1909 को उसने रूस की सरकार के पास निम्नलिखित आशय का एक पत्र भेजा, "जर्मनी की सरकार यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न है कि रूस की सरकार जर्मनी की कार्यवाही को मित्रतापूर्ण भावना के रूप में स्वीकार करती है। हम आस्ट्रिया की सरकार को यह सुझाव भेज रहे हैं कि वह बर्लिन-संधि की 25वीं धारा को रद्द करने के लिए बड़े राष्ट्रों को आंमत्रित करे। परन्तु, ऐसा करने के पहले हम इस बात को जानना चाहते हैं कि रूस की सरकार आस्ट्रिया के प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार है। इस बात पर हम एक निश्चित उत्तर 'हां' या 'ना' में चाहते हैं। किसी भी अस्पष्ट उत्तर को हम अस्वीकृत के रूप में मानेंगे। वैसी स्थिति में हमलोग मजबूर हैं। उनके जो भी परिणाम होंगे उन सब का उत्तरदायित्व केवल इस्वोल्स्की पर होगा।"

कहना न होगा कि जर्मनी का यह पत्र युद्ध की चुनौती से मिलती-जुलती कार्यवाही थी। स्थानापन्न विदेश-मंत्री किडरलेन ने भी कहा था कि "चुनौती का मसविदा" उसने अकेले ही तैयार किया। "मैं जानता था कि रूस युद्ध के लिए अभी तैयार नहीं होगा।" इसी विश्वास के आधार पर रूस को "चुनाती" भेजी गयी थी। पर,

वास्तव में यह युद्ध की चुनौती नहीं थी। यह कड़े शब्दों में मध्यस्थता का एक प्रस्ताव था, जिसको इस्वोल्स्की एक अवांछित परिस्थिति से बच निकलने के मार्ग के रूप में स्वागत करने को तैयार था। इस पत्र को पढ़ने के बाद इस्वोल्स्की को दो परिणाम नजर आये। बोस्निया का प्रश्न बिना किसी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के कूटनीतिक पत्र-व्यवहार द्वारा हल होने जा रहा है। अगर रूस इसका विरोध करता है तो सर्बिया पर आक्रमण हो जायगा। कहना न होगा कि इस्वोल्स्की को दूसरा नतीजा स्वीकार नहीं था। उसने जार से मुलाकात की और इसके बाद जर्मनी के प्रस्तावों को स्पष्ट रूस से स्वीकार करते हुए उसका उत्तर भेज दिया। जब रूस ने जर्मनी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तो बूलो ने अपने रोम, पेरिस तथा लंदन स्थित राजदूतों को आदेश दिया कि वे उसी तरह का प्रस्ताव इन तीनों सरकारों के सामने प्रस्तुत करें। इटली ने सबसे पहले अपनी अस्वीकृति दे दी। फ्रांस की सरकार भी जर्मन-प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गयी। ब्रिटेन ने जर्मनी के पत्र का उत्तर देने में कुछ देर की। इसी बीच सर्बिया की सीमा पर स्थिति डावांडोल होने लगी। कौनराड के तुर्कों से प्रभावित होकर ऐरेनथाल ने सर्बिया पर हमला करने की स्वीकृति दे दी। युद्ध की तैयारी होने लगी। ऐसी नाजुक स्थिति में ब्रिटेन ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। अब यूरोप के महान् राष्ट्र सम्मिलित रूप से सर्बिया पर दबाव डालने लगे कि वह अपनी सेना को वापस बुला ले और बोस्निया-हर्जेगोबिना पर आस्ट्रिया के अधिकार को स्वीकार कर ले। सर्बिया के सामने अब कोई दूसरा चारा नहीं था। उसने स्वीकार कर लिया कि बोस्निया तथा हर्जेगोबिना पर आधिपत्य कर लिये जाने से उसके अपने अधिकारों पर किसी प्रकार का अतिक्रमण नहीं हुआ। बड़े राष्ट्रों की सलाह पर उसने यह भी वादा किया कि वह आस्ट्रिया-विरोधी नीति का परित्याग कर देगा और आस्ट्रिया के साथ एक अच्छे पड़ोसी की तरह बर्ताव करेगा। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ने बर्लिन-संधि की 25वीं धारा के रद्द किये जाने की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। बोस्निया का संकट धीरे-धीरे अब समाप्त हो रहा था।

बोस्निया कांड का महत्व

आस्ट्रिया की पराजय : प्रोफेसर गूच के अनुसार बोस्निया का संकट यूरोपीय राष्ट्रों के विदेश मंत्रालयों के बीच एक "रक्तहीन-युद्ध" था। इस "युद्ध" ने यूरोप की राजधानी पर एक ऐसा गहरा जख्म कर दिया जो कभी भरनेवाला नहीं था और जो प्रथम विश्वयुद्ध का एक प्रमुख कारण साबित हुआ। संपूर्ण बोस्निया कांड ऐरेनथाल की व्यक्तिगत कूटनीतिक विजय थी। बोस्निया में उसने बहुत बड़ा दाव लगाया था और रूस को अपमानित करते हुए वह इस दाव में जीत गया था। उसने बड़ी कुशलता के साथ बर्लिन संधि को भंग कर दिया और दुनिया के कूटनीतिज्ञ ताकते रह गये। उसकी इस कूटनीतिज्ञ विजय से हाप्सबुर्ग साम्राज्य में एक नये बल का संचार हुआ और उसमें आत्मविश्वास की नयी भावना पैदा हुई। सम्राट फ्रांसिस जोसेफ से खुश होकर उसको काउन्ट की उपाधि से विभूषित किया और जब 1912 में उसकी मृत्यु हुई तो पीशो ने मेटरनिक के साथ उसकी तुलना की। लेकिन, आस्ट्रिया की यह कूटनीतिक विजय कोई विजय नहीं थी। प्रोफेसर फे के शब्दों में वह एक क्षणिक विजय थी जो पीछे चलकर पराजय से बुरी सिद्ध हुई। इसमें कोई शक नहीं कि बोस्निया पर औपचारिक रूप से आस्ट्रिया का अधिकार स्वीकृत हो गया। उसने संसार को यह भी बतला दिया कि हाप्सबुर्ग साम्राज्य अभी काफी शक्तिशाली है और उससे लोहा लेना खेल नहीं है। लेकिन, इसके साथ-साथ आस्ट्रिया ने यूरोप के महान राष्ट्रों का अविश्वास भी मोल लिया। आस्ट्रिया ने जिस प्रकार एक संधि की शर्तों का उल्लंघन किया था वह एक महान राष्ट्र के लिए शोभा नहीं दे :हा था और यूरोप कूटनीतिज्ञों को आस्ट्रिया पर विश्वास नहीं रह गया।

सर्बिया का विरोध : आस्ट्रिया ने सर्बिया को भी कुछ शर्तें मानने पर बाध्य किया। सर्बिया, जो काफी उछल-कूद मचा रहा था, आस्ट्रिया की धमकी से डर कर बोस्निया में किये गये परिवर्तन को मान लिया था और एक अच्छे पड़ोसी सा बर्ताव करने का वादा भी किया था। ऐरेनथाल को विश्वास हो गया कि अब बृहतर सर्बिया आंदोलन समाप्त हो जायगा। यह उसकी एक बहुत बड़ी भूल थी। उसने सर्बिया को अपमानित करके इन कठोर शर्तों को मानने के लिए बाध्य किया। अपमान करके किसी देश को अपने पक्ष में नहीं किया जा सकता है। आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच भी यही बात हुई। सर्बिया कुछ दिनों के लिए तो चुप रहा, लेकिन वह अधिक दिनों तक अपने वादे पर टिका नहीं रहा। कुछ ही दिनों के बाद सर्बिया की भूमि पर आस्ट्रिया के विरुद्ध षड़यंत्रों का अड्डा बन गया। इस प्रकार बोस्निया कांड के परिणामों को देखकर यही कहा जाता है कि इसके फलस्वरूप आस्ट्रिया को जो सफलताएं मिलीं वे केवल नाममात्र की थीं।

जर्मनी का प्रभाव : जिस प्रकार आस्ट्रिया पर से कुछ राष्ट्रों का विश्वास जाता रहा उसी प्रकार जर्मनी को भी लोग शंका की दृष्टि से देखने लगे। इसमें कोई शक नहीं कि जर्मनी को आस्ट्रिया की योजना के बारे में कोई पूर्व-सूचना नहीं थी, पर किसी ने जर्मनी की बातों पर विश्वास नहीं किया। जर्मनी ने जब आस्ट्रिया के प्रति विरोध को बढ़ते देखा तो उसने बिना किसी हिचकिचाहट के अपने साथी देश का पक्ष लेना शुरू किया। जब संकट समाप्त हो गया तो बूलो ने संतोष की एक गहरी सांस ली। पीछे चलकर उसने अपने विचार को और स्पष्ट किया। आस्ट्रिया और जर्मनी की एकता ने पहली बार एक संघर्ष में अपनी शक्ति प्रमाणित की। फ्रांस, रूस और ब्रिटेन का वह सहयोग, जिसके बारे में आलजिसरास-सम्मेलन के बाद बहुत चर्चा की गयी थी, यूरोपीय महाद्वीप की राजनीति की कठोर समस्याओं के सामने टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया। बूलो के इस वक्तव्य में सत्य का अंश अवश्य है; परन्तु वह पूर्ण सत्य नहीं है। मध्य यूरोपीय राष्ट्रों को बोस्निया-कांड में विजय अवश्य प्राप्त हुई परन्तु इस कांड के दूरगामी परिणाम उनके विरुद्ध हुए। जर्मनी से आस्ट्रिया को पूर्ण सहायता मिली थी। एक मित्रराष्ट्र के प्रति असीम वफादारी की यह जर्मन-नीति यूरोपीय शांति के लिए खतरनाक थी। इसका अर्थ यह था कि बाल्कन-प्रायद्वीप का कोई भी कूटनीतिक संकट विश्वव्यापी युद्ध का कारण बन सकता है। रूस को बूलो ने जो पत्र भेजा था उसकी भाषा काफी कड़ी थी और ब्रिटेन, फ्रांस इत्यादि देशों में इसको 'चुनौती' समझा गया था। ब्रिटेन ने इसका अर्थ लगाया कि जर्मनी धमकी देकर रूस और ब्रिटेन के बीच मतभेद पैदा कराना चाहता है। यह धारणा पीछे चलकर मजबूत हो गयी जब कैजर ने वियना में एक भाषण के सिलसिले में कहा कि संकट के समय जर्मनी ने अपने मित्र-देश को 'चमकते हुए कवच' धारण करके सहायता की थी। इसका अर्थ था कि जर्मनी आस्ट्रिया के साथ युद्ध के मैदान में भी जाने के लिए तैयार था। इन सब बातों को लेकर बोस्निया कांड के परिणामस्वरूप ब्रिटेन, फ्रांस और रूस में घोर निराशा की भावना फैल गयी। यह भावना अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रही। इस तरह के दूसरे खतरों का मुकाबला करने के लिए मिली-जुली तैयारी करने लगे। अतएव ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के परस्पर संबंध का सुदृढ़ होना बोस्निया कांड का एक मुख्य परिणाम साबित हुआ।

एक दूसरी वजह से भी बोस्निया कांड का परिणाम आस्ट्रिया और जर्मनी के हित में अच्छा नहीं हुआ। इटली त्रिगुट का सदस्य था; पर उसके मित्रराष्ट्रों ने उससे कोई महत्वपूर्ण विचार-विमर्श नहीं किया। उसके मित्र राष्ट्र उनकी अवहेलना कर रहे थे। इसके अतिरिक्त इटली आस्ट्रिया की सफलता पर काफी दुखी था। एड्रियाटिक सागर की तरफ आस्ट्रिया का प्रभाव बढ़ना इटली के हक में अच्छा नहीं था। अतः इटली भीतर-ही-भीतर आस्ट्रिया से जल रहा था। अधिक दिनों तक इटली अपनी इस भावना को छिपा नहीं सका। 1[illegible] में इटली के एक प्रमुख नेता ने कहा 'यूरोप में एक ही देश है जिसके साथ इटली को संघर्ष की [illegible] वह है आस्ट्रिया।' आस्ट्रिया की सफलता का विरोध करने के लिए इटली ने रूस के साथ [illegible] बोस्निया-कांड के फलस्वरूप त्रिगुट की स्थिति और भी अधिक कमजोर हो गयी।

[illegible]11 ...भावना है

रूस का प्रभाव : बोस्निया-कांड का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव रूस पर पड़ा। अखिल स्लाव आंदोलन के कर्णधार, क्रोध से आग बबूला हो रहे थे। उन लोगों को कहना था कि स्लाव और ट्यूटोनिक जातियों के बीच संघर्ष अवश्यंभावी है और रूस को इस संघर्ष के लिए तैयारी करनी चाहिए। रूस की राजनीति पर अखिल-स्लाव-आंदोलन के नेताओं का पर्याप्त प्रभाव था और उनके दबाब से रूसी सरकार अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने लगी। इस्वोल्स्की के लिए बोस्निया की घटना उसके जीवन का सबसे कटु अनुभव था। वह अपने को कूटनीति के अखाड़े में एक पेशेवर पहलवान समझता था। लेकिन उसके प्रतिद्वंद्वी ने पैंतरेबाजी के द्वारा उसे बुरी तरह पछाड़ दिया था। इस्वोल्सकी के लिए यह व्यक्तिगत अपमान था और किसी भी हालत में वह इसको नहीं भूल सकता था। उसने अपने प्रतिस्पर्धी को बाल्कन-प्रायद्वीप में शक्ति बढ़ाते हुए देखा था। उसको यह मुआवजा नहीं मिल सका जिसके बदले में उसने बोस्निया पर अधिपत्य को स्वीकृति दी थी। अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के बुलाये जाने का उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया गया था। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह थी कि उसको सर्बिया और बाल्कन-क्षेत्र में समस्त स्लाव जाति के सामने स्वीकार करना पड़ा था कि वह उसके हितों कि रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रहा है। ऐरेनथाल की दगाबाजी के कारण इस्वोल्स्की को ये सारे अपमान सहने पड़े थे और वह इनको आसानी से नहीं भूल सकता था। वह जबतक जीवित रहा, आस्ट्रिया से बदला लेने के मौके की ताक में लगा रहा। असफलता के कारण सितंबर 1910 में से उसे विदेशमंत्री के पद से हट जाना पड़ा। उसके बाद वह फ्रांस में रूस का राजदूत नियुक्त किया गया। पेरिस में रहकर उसने जी-जान से यह कोशिश की कि आंग्ल-फ्रांस रूसी मित्रता काफी दृढ़ हो जाय, जिसके बल पर आस्ट्रिया से बदला लिया जा सके। उसका सारा प्रयास यूरोपीय युद्ध को निकट लाने के लिए होता रहा और 1914 में जब युद्ध छिड़ गया तो वह पेरिस से चिल्ला उठा कि "यह मेरा युद्ध है, मेरा युद्ध।" इस्वोल्स्की का यह दावा गलत था, पर इससे उसकी युद्धोन्मुख दशा का पता लगता है।

जार की मानसिक दशा की भी यही स्थिति थी। उनसे विलियम द्वितीय को क्षमा कर दिया, लेकिन फ्रांसिस जोसेफ को नहीं। जिस घोर अपमान को उसे सहना पड़ा था वह हमेशा उसके हृदय को मथता रहा। अक्टूबर 1909 में वह एक राजकीय यात्रा पर इटली जा रहा था। आस्ट्रिया से उसकी घृणा इतनी तीव्र हो गयी थी कि उसने खुले तौर पर आस्ट्रिया के प्रदेश होकर गुजरने से इंकार कर दिया।

बोस्निया-कांड के परिणामस्वरूप रूस और सर्बिया एक दूसरे के अत्याधिक निकट संपर्क में आ गये। इस्वोल्स्की सर्बिया के नेताओं को आस्ट्रिया के विरुद्ध हमेशा उकसाता रहा। उसने उनको बतलाया कि बोस्निया और हर्जेगोबिना सर्बिया के एल्सस-लारेन हैं। जिस तरह फ्रांस में एल्सस-लारेन कि मुक्ति के लिए प्रयास हो रहे थे उसी तरह सर्बिया को भी बोस्निया-हर्जेगोबिना की मुक्ति के लिए तैयारी करनी है। आस्ट्रिया से बदला लेने के उद्देश्य से इस्वोल्स्की ने इटली और बुल्गेरिया से गुप्त वार्तालाप प्रारंभ किया, जिसके फलस्वरूप 1912 से 'बाल्कन-संघ' की स्थापना हुई। रूस के इस तरह प्रोत्साहन मिलने का परिणाम यह हुआ कि सार्बिया अपने वादे को भूल गया और बोस्निया-कांड के तुरंत बाद पुनः 'विशाल-सर्बिया' आंदोलन शुरू कर दिया। बाल्कन की समस्या और जटिल होने लगी और सर्बिया तथा आस्ट्रिया के बीच निर्णायक युद्ध अवश्यंभावी होने लगा।

विश्व युद्ध का पूर्वाभिनय : बोस्निया कांड को प्रथम महायुद्ध के विध्वंसकारी नाटक का पूर्वाभिनय (dress rehearsal) कहा जाता है। इस कांड की समाप्ति पर इस्वोल्स्की ने जर्मन राजदूत से कहा था : "यह बात आप अच्छी तरह समझ लीजिए कि बिना संघर्ष किये इस निकट पूर्व-समस्या का समाधान नहीं होने को है।" 1909 में रूस एक कमजोर देश था और आस्ट्रिया तथा जर्मनी की सामूहिक चुनौती को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं था। रूस को बाध्य होकर झुकना पड़ा था। फिर भी संपूर्ण देश प्रतिशोध की भावना से पागल हो रहा था। यह बात ठीक है कि परिस्थिति के विपरीत होने के कारण रूस एक बार झुक गया; पर भविष्य

में वह झुकने के लिए तैयार नहीं था। अब किसी भी मूल्य पर मध्य यूरोपीय राष्ट्रों की चुनौती स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। अतः बोस्निया कांड का महत्वपूर्ण परिणाम पांच वर्ष के बाद देखने को मिला। स्लाव-आंदोलन के कारण जून, 1914 को बोस्निया में आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या हो गयी। आस्ट्रिया ने सर्बिया को युद्ध के लिये चुनौती दी। इस कार्य में जर्मनी ने जी-जान से आस्ट्रिया का साथ दिया। लेकिन इस बार रूस अपने अनुयायी को खतरा की स्थिति में छोड़नेवाला नहीं था। उसकी सैन्य शक्ति काफी बढ़ चुकी थी। वह सर्बिया को मदद देने के लिये रणक्षेत्र में कूद पड़ा। बोस्निया-काण्ड के समय में ही यह स्थिति स्पष्ट हो गयी थी कि युद्ध के नाटक में किस कलाकार को कौन सा पार्ट अदा करना है। इन्हीं सब बातों को देखकर बोस्निया कांड को प्रथम महायुद्ध के नाटक का 'पूर्वाभिनय' कहा जाता है।

अध्याय 15

बाल्कन युद्ध

(The Balkan Wars)

बाल्कन की स्थिति : बर्लिन-संधि के बाद बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति में अभूतपूर्व सरगर्मी पैदा हो गयी थी। तुर्की-साम्राज्य के ईसाई लोग राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित होकर उबल रहे थे। उनका उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करना था। सर्बिया, यूनान, बुल्गेरिया तथा रूमानिया स्वतंत्र राष्ट्र हो चुके थे, पर बाल्कन-प्रायद्वीप में अभी असंख्य ऐसे यूनानी, सर्ब, बुल्गर, रूमानिया, मैसीडोनियन, अल्बेनियन, इत्यादि लोग थे जो परतंत्रता की बेड़ी में जकड़े हुए थे। बाल्कन के एक बहुत बड़े भूभाग पर अभी भी आस्ट्रिया और तुर्की का साम्राज्य छाया हुआ था। बाल्कन प्रायद्वीप के नवनिर्मित राज्य अपने स्वजातीय बंधुओं को तुर्की और आस्ट्रिया की गुलामी से मुक्ति दिलाना चाहते थे। 'युवा तुर्क' क्रांति और बोस्निया कांड के कारण उनके इस मनसूबे को एक बहुत बड़ा धक्का लगा। बाल्कन-प्रायद्वीप के स्वतंत्र राष्ट्र समझने लगे कि अब तुर्की चंगा हो रहा है। इसके फलस्वरूप यदि वह शक्तिशाली बन गया तो उनको अपने बंधु-बांधवों को मुक्ति दिलाना काफी कठिन हो जायगा। उधर आस्ट्रिया भी नये जोश के साथ इस क्षेत्र की राजनीति में उलझा हुआ था और स्लाव-नस्ल लोगों के मूल्य पर अपना साम्राज्य फैलाने का प्रयत्न कर रहा था। आस्ट्रिया एक शक्तिशाली राज्य था और उससे लोहा लेना कोई आसान काम नहीं था।

1911 में इटली ने ट्रिपोली पर हमला कर दिया। ट्रिपोली तुर्की-साम्राज्य का एक प्रदेश था। ट्रिपोली-युद्ध में तुर्की बुरी तरह परास्त हुआ। एक वर्ष के युद्ध के बाद ट्रिपोली इटली के अधीन आ गया। ट्रिपोली युद्धों के परिणामों से तुर्की की कमजोरी विश्व के सामने एक बार फिर प्रकट हो गयी। लोगों ने समझा था कि 'युवा तुर्कों' के हाथ में शासन की बागडोर जाने से तुर्की की हालत कुछ सुधरेगी। लेकिन, यह एक भ्रम था। तुर्की की स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही। इससे बाल्कन राज्यों को बहुत बल मिला। वे समझ गये कि उनका शत्रु अभी उसी कमजोर स्थिति में है जिस स्थिति में वह अब्दुल हमीद के युग में था। बोस्निया-कांड के कारण सर्ब लोग काफी क्षुब्ध थे। सारा स्लाव-जगत भयंकर क्रोध से भरा हुआ था। बाल्कन-राज्यों के सामने केवल एक ही समस्या थी—वे अपनी स्वजातियों को मुक्त करना चाहते थे। लेकिन, उनके दुश्मन काफी शक्तिशाली थे। तुर्की और आस्ट्रिया के सामने यूनान, सर्बिया, बुल्गेरिया, रूमानिया इत्यादि की शक्ति फीकी पड़ जाती थी। ये राज्य अलग-अलग चलकर अपने सामान्य शत्रुओं का मुकाबला नहीं कर सकते थे। अगर बाल्कन के स्वतंत्र राष्ट्र आपस में मिलकर अपना एक संगठन कायम कर लें तो उनकी स्थिति काफी मजबूत हो जाती और वे शक्तिशाली शत्रु का मुकाबला भी आसानी से कर सकते थे। 'बाल्कन संघ' का निर्माण इसी संगठन और एकता की भावना का परिणाम था।

ऐरेनथाल की चालाकी से बोस्निया-कांड के अवसर पर रूस की एक जबर्दस्त कूटनीतिक पराजय हुई थी। रूस इस बात को भूला नहीं। आस्ट्रिया से इस अपमान का बदला लेने की भावना उसमें बलवती होती रही। बाल्कन-प्रायद्वीप के राज्यों के प्रति रूस की स्वाभाविक सहानुभूति थी। रूस कुछ अपने स्वार्थ

के कारण और कुछ स्लाव लोगों को मुक्त करने की भावना से प्रेरित होकर बाल्कन प्रायद्वीप के ईसाई राज्यों को हर हालत में मदद देने को तैयार रहता था। रूस को पूरा विश्वास था कि स्वतंत्र होने के बाद बाल्कन के ये राज्य उसके हाथों की कठपुतली हो जायेंगे और जैसा चाहेगा नचायेगा। बाल्कन-राज्यों की सबसे बड़ी कमजोरी थी संगठन का अभाव। ये आपस में ही लड़ा करते थे। शत्रु का मुकाबला करने का यह तरीका नहीं होता है। रूस की इच्छा थी कि बाल्कन के राज्य आपस में मिलकर एक संगठन कायम करें और संयुक्त मोर्चा तैयार करके उसके नेतृत्व में अपने शत्रुओं का सामना करें। बाल्कन-प्रायद्वीप के पराधीन स्लावों के उद्धार का एकमात्र उपाय था।

बाल्कन संघ की स्थापना : रूस की सरकार में इस नीति के प्रबल समर्थक बेलग्रेड स्थित रूसी राजदूत हार्टविग तथा साफिया स्थित रूसी राजदूत नैक्लूडा थे। इन दोनों राजदूतों की सक्रिय मदद से सर्बिया और बुल्गेरिया के बीच मार्च, 1912 में एक संधि हुई। संधि के अनुसार यह तय किया गया कि अगर किसी महान् राष्ट्र के द्वारा बाल्कन-प्रायद्वीप के किसी भाग पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया तो वैसी स्थिति में दोनों हस्ताक्षरकारी एक-दूसरे को सहायता देंगे और उस प्रयत्न का विरोध करेंगे। स्पष्ट है कि संधि का स्वरूप बिल्कुल रक्षात्मक था; लेकिन इस समझौते में एक गुप्त धारा भी जोड़ दी गयी थी। इस धारा के अनुसार यह तय किया गया था कि अगर तुर्की साम्राज्य में अव्यवस्था फैल जाय और तुर्की किसी युद्ध में फंस जाय, जिससे बाल्कन की स्थिति में परिवर्तन होने की कोई संभावना हो जाय तो वैसी स्थिति में रूस की स्वीकृति मिल जाने की शर्त दोनों हस्ताक्षरकारी मिली-जुली कार्यवाही करेंगे। यह कार्यवाही सैनिक कार्यवाही भी हो सकती थी।

इसी तरह की मिलती-जुलती एक संधि 29 मई, 1912 को बुल्गेरिया और यूनान में हुई। सर्बिया और बुल्गेरिया के बीच संधि मुख्यतः आस्ट्रिया के विरुद्ध थी। लेकिन यूनान और बुल्गेरिया के बीच यह संधि तुर्की के खिलाफ की गयी। 'बाल्कन संघ' (Balkan League) का निर्माण इन्हीं दो संधियों के आधार पर हुआ। अगस्त के महीने में मान्टिनिग्रो को भी मौखिक रूप से इस संघ में शामिल कर लिया गया। इस तरह बाल्कन-प्रायद्वीप के चार राज्यों—यूनान, सर्बिया, बुल्गेरिया और मान्टिनिग्रो को मिलाकर 'बाल्कन-संघ' की स्थापना की गयी, जिससे अगले दो वर्षों के लिए यूरोपीय शांति खतरे में पड़ी रही।

युद्ध की तैयारी : बाल्कन-संघ की स्थापना केवल एक ही उद्देश्य से की गयी थी। तुर्की की निर्बलता और आंतरिक झगड़ों से लाभ उठाकर संघ के सदस्य तुर्की पर हमला करना चाहते थे और तुर्की को परास्त करके विजित प्रदेशों को आपस में बांट लेना चाहते थे। मैसिडोनिया के प्रदेशों को किस ढंग से आपस में बांटा जायगा, यह भी स्पष्ट रूप से तय कर लिया गया। इस गुप्त समझौते में रूस बाल्कन-राज्यों की पीठ पर था, पर यह कहना गलत होगा कि रूस इन बाल्कन राज्यों को तुरंत ही तुर्की पर हमला कर देने को प्रोत्साहित कर रहा था। इस्वोल्स्की के पदत्याग के बाद सेजोनाव रूस का विदेश मंत्री बना था। 'बाल्कन-संघ' कायम होने के बाद उसने इसके सदस्यों को धैर्य रखने की राय दी, क्योंकि जिन संधियों के आधार पर इस संघ का निर्माण हुआ था उनका स्वरूप रक्षात्मक नहीं था और उनको कार्यान्वित करने से यूरोप की राजनीति में और विषम समस्या उपस्थित होने की संभावना थी। इस समय पोअन्कारे रूस गया हुआ था। सेजोनाव ने जब उसकी इन संधियों की शर्तों से अवगत कराया तो वह बोल उठा : "इसमें केवल तुर्की के विरुद्ध ही नहीं, पर आस्ट्रिया के विरुद्ध भी युद्ध के बीज हैं।" पोआन्कारे ने सेजोनाव को राय दी कि वह बाल्कन-संघ पर दबाव डाले कि वह कोई ऐसा कार्य नहीं कर बैठे जिसमें यूरोप की शांति भंग हो जाय, पर बाल्कन के राज्य किसी की बात सुनने को तैयार नहीं थे। वे युद्ध की तैयारी करने लगे।

प्रथम बाल्कन युद्ध : झगड़ा मैसिडोनिया की समस्या को लेकर शुरू हुआ। बर्लिन-संधि के अनुसार मैसिडोनिया तुर्की साम्राज्य का एक अंग बना रहा। इस प्रदेश में मुख्यतः तीन जातियों—बुल्गर, सर्ब और यूनानी का निवास था। इस कारण सर्बिया, बुल्गेरिया और यूनान तीनों मैसिडोनिया की स्थिति में दिलचस्पी रखते थे।

तीनों की आंखें इस प्रदेश पर गड़ी हुई थीं और तीनों इसके भूभागों को अपने राज्य में मिलाने का प्रयास कर रहे थे। इस काम में बुल्गेरिया सर्वप्रथम अग्रसर हुआ। उसने मैसिडोनिया में क्रांतिकारी पाटियों का संगठन किया। क्रांतिकारी लोग मेसिडोनिया में काफी उत्पात मचाते थे। इन उत्पातों को दबाने के लिए तुर्की सरकार उन पर भीषण अत्याचार करती थी। जब तुर्की का अत्याचार असह्य हो गया तो यूरोप के महान् राष्ट्रों ने 1903 में मैसिडोनिया के मामले में हस्तक्षेप कर उसकी शासन-व्यवस्था में कुछ परिवर्तन कर दिये। इस परिवर्तन के फलस्वरूप मैसिडोनिया में कुछ दिनों के लिए शांति स्थापित हुई। पर, 1908 में इस योजना का परित्याग कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि वहां फिर अव्यवस्था हो गयी और बुल्गेरिया, सर्बिया तथा यूनान यथापूर्व मैसिडोनिया में उत्पात मचाने लगे। तीनों ही मैसिडोनिया के अधिक-से-अधिक भाग पर आधिपत्य कायम करना चाहता थे। इसी उद्देश्य से 'बाल्कन-संघ' की स्थापना की गयी थी। मेसिडोनिया में इन तीनों राज्यों के सम्मिलित उत्पात के फलस्वरूप वहां पुनः अराजकता फैल गयी। इस समय तक 'युवा तुर्क-दल' के हाथों में तुर्की के शासन की बागडोर आ चुकी थी। इन लोगों ने बड़ी क्रूरता के साथ मैसिडोनिया के आंदोलन को दबाना शुरू किया। तुर्की का दमन असह्य हो गया। 'बाल्कन-संघ' ने इसका विरोध किया। संघ की मांग थी कि तुर्की अविलंब 1903 के सुधारों को पुनः कार्यान्वित करे। तुर्की ने इन मांगों को मानने से इंकार कर दिया। इसके बाद 'बाल्कन-संघ' के मित्रराष्ट्रों ने मिलकर चारों तरफ से अक्टूबर, 1929 में तुर्की पर आक्रमण कर दिया। यह प्रथम बाल्कन युद्ध था।

यूरोप के महान राष्ट्रों ने भरसक कोशिश की कि बाल्कन-प्रायद्वीप में किसी प्रकार का युद्ध नहीं छिड़े और यथास्थिति बनी रहे। युद्ध के आरंभ होने के कुछ ही दिन पहले सेजोनाव पेरिस पहुंचा था। फ्रांसीसी सरकार के आग्रह पर वहां से उसने यह घोषणा की कि वह यूरोप के सभी महान राष्ट्रों की ओर से बाल्कन-राज्यों को यह सूचना देता है कि वे कभी युद्ध नहीं होने देंगे और यथास्थिति को बनाये रखने के निश्चय पर दृढ़ता से बने रहेंगे। कुछ दिनों के बाद यूरोप के अन्य राष्ट्रों के आग्रह पर आस्ट्रिया और रूस के द्वारा बाल्कन राज्यों को यह सूचना दे दी गयी कि वर्तमान स्थिति में युद्ध से उत्पन्न होनेवाले किसी परिवर्तन को वे कभी मान्यता नहीं देंगे। लेकिन बाल्कन-राज्य महान् राष्ट्रों की धमकियों की परवाह नहीं करनेवाले थे। रूस के बहकाने पर ही इन राष्ट्रों ने ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया था। अब इनको रोकना रूस के हाथ के बाहर की बात थी; जैसा कि युद्ध छिड़ने पर पोआन्कारे ने कहा था—"रूस ने गाड़ी को चला दिया। अब वह उसको रोकना चाहता है लेकिन यह गाड़ी अब रुकनेवाली नहीं है।" अतः यूरोप के राष्ट्रों के मना करने पर भी बाल्कन-राज्यों ने तुर्की पर आक्रमण कर दिया।

चारों ओर से तुर्की पर चढ़ाई हुई। बाल्कन के चार राज्यों की सम्मिलित सेना का मुकाबला करने में तुर्की असमर्थ था। हर जगह उनकी पराजय हुई। बुल्गेरिया की सेना कांस्टेन्टिनोप्ल तक पहुंच गयी। यूनान ने सेलोनिका पर अपना अधिकार जमाया। मान्टिनिग्रो अल्बेनिया पर जा धमका। सबसे अधिक सफलता सर्बिया को मिली। वह अल्बेनिया को जीतते हुए एड्रियाटिक के तट पर जा पहुंचा।

सर्बिया की असाधारण विजय देखकर आस्ट्रिया जलने लगा। उसका कट्टर दुश्मन एड्रियाटिक के तट पर पहुंच गया था। आस्ट्रिया अब सर्बिया की और सफलता देखने को तैयार नहीं था। सर्बिया को डराने के लिए उसने यह धमकी दी कि यदि वह और आगे बढ़ा तो आस्ट्रिया बाल्कन युद्ध में हस्तक्षेप कर देगा। आस्ट्रिया अपनी सेना को सर्बिया की सीमा पर एकत्र करने लगा। उधर रूस भी सैनिक तैयारी करने लगा। बाल्कन-समस्या पर एक बार पुनः यूरोपीय युद्ध की पूर्ण संभावना हो गयी। लेकिन शांति के मित्र इस समय अपना काम कर रहे थे। उनका विचार था कि बाल्कन-युद्ध को यूरोपीय युद्ध में परिणत होने से रोका जाय। इस दिशा में जर्मनी और फ्रांस दोनों के कार्य प्रशंसनीय हैं। कैसर ने फ्रांसिस जोसेफ को साफ-साफ शब्दों में बतला दिया कि 'वह अल्बेनिया के लिए पेरिस अथवा मास्को पर चढ़ाई नहीं करेगा।' उसने बेथमान हौलबेग

को बतलाया कि "युद्ध को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि वियना पर जोरदार दबाव डाला जाय, परंतु हम यह भी स्पष्ट कर दें कि यदि हमारे साथी पर हमला किया गया तो हम उसकी सहायता करेंगे।' फ्रांस भी शांति के लिए उतना ही इच्छुक था; फिर भी पोअन्कारे ने इस्वोल्स्की को यह आश्वासन दे दिया कि यदि आस्ट्रिया ने रूस के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी और उसमें जर्मनी का समर्थन प्राप्त हुआ, तो फ्रांस अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करेगा। इसी बीच स्थिति को सुधारने के लिए फ्रांस एक सम्मेलन बुलाने का प्रयास भी करने लगा।

राजदूतों का लंदन सम्मेलन : उधर युद्ध के मैदान में तुर्की की बुरी हालत हो रही थी। उसने शांति की याचना की। विजयी राष्ट्र तुर्की से बड़ी-बड़ी मांगें करने लगे। इस पर तुर्की ने वार्तालाप को भंग कर दिया और युद्ध पुनः शुरू हो गया। इस युद्ध में भी तुर्की की वही हालत हुई जो पहले हुई थी। तुर्की को पुनः शांति की याचना करनी पड़ी। इस बीच पोअन्कारे युद्ध को बंद कराने के लिए काफी प्रयत्न कर रहा था। अंत में उसको अपने प्रयत्नों में सफलता मिली। यूरोप के महान राष्ट्रों के द्वारा प्रथम बाल्कन-युद्ध से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए लंदन में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। दिसंबर, 1912 में सर एडवर्ड ग्रे के सभापतित्व में लंदन में राजदूतों का एक सम्मेलन बाल्कन की नयी समस्या पर विचार करने के लिए प्रारंभ हुआ। सम्मेलन ने बाल्कन-प्रायद्वीप के राजनीतिक नक्शे को पुनः नये सिरे से तैयार किया। इसका एकमात्र परिणाम यह हुआ कि यूरोप से तुर्की का प्रभुत्व सदा के लिए उठ गया और बाल्कन प्रायद्वीप तुर्की के शासन से प्रायः स्वाधीन हो गया। प्रत्येक बात पर सम्मेलन में भाग लेनेवाले प्रायः एकमत थे। केवल एक ही बात पर झगड़ा था और इसका रूप इतना भयानक हो गया कि यूरोपीय युद्ध की संभावना फिर बढ़ गयी। एड्रियाटिक सागर के उत्तरी तट और इसके इर्द-गिर्द अल्बेनिया के कुछ भूभाग को लेकर एक बवंडर उठ खड़ा हुआ। सर्बिया ने इन प्रदेशों को जीता था; अतः इन पर अपना दावा करता था, पर आस्ट्रिया इसका घोर विरोध करता था। सर्बिया की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के उद्देश्य से आस्ट्रिया एक स्वतंत्र अल्बेनिया के सृजन के पक्ष में था। सर्बिया और आस्ट्रिया दोनों अपनी जिद्द पर अड़े हुए थे। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस सर्बिया का पक्ष ले रहे थे और जर्मनी अपने मित्र आस्ट्रिया को मदद दे रहा था। तीन महीनों तक इस समस्या पर विचार-विमर्श होता रहा, लेकिन कठिनाई ज्यों-की-त्यों बनी रही। अंत में सर एडवर्ड ग्रे के एक सुझाव से इस प्रश्न का एक समाधान हो गया। स्वतंत्र अल्बेनिया के सृजन को सिद्धांत के रूप में मान लिया गया, लेकिन सीमा निर्धारण का काम भविष्य के लिए छोड़ दिया गया।

लंदन सम्मेलन को सफल बनाने के लिए सभी राष्ट्रों ने प्रयत्न किये थे। जब आस्ट्रिया अल्बेनिया के प्रश्न पर डटा हुआ था, तो कैसर ने झुंझलाकर कहा था-"मुझे ऐसी कोई बात दिखलायी नहीं पड़ती जिसके कारण आस्ट्रिया की मानहानि हो रही है। आस्ट्रिया की जिद्द बेकार है।" वास्तव में, ब्रिटेन और जर्मनी सम्मेलन के शुरू से अंत तक पूर्ण सहयोग की भावना से काम करते रहे। सर एडवर्ड ग्रे ने शांति बनाये रखने में महत्वपूर्ण योग दिया। जर्मनी में सर एडवर्ड ग्रे के इस कार्य के लिए कृतज्ञता प्रकट की गयी। इस बार जर्मनी ने भी आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' नहीं प्रदान किया। ऐसा लगने लगा कि जर्मनी की विदेशनीति आस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त हो रही है। रूस भी इस बार अपने ऊपर काफी नियंत्रण किये रहा और शांति के समर्थकों के साथ सहयोग किया। रूस को बुल्गेरिया की प्रगति से काफी भय हो रहा था। इधर हाल के बुल्गेरिया कान्सटेन्टिनोप्ल पर अपना झंडा फहराने का स्वप्न देखें रहा था। इसलिए रूस नहीं चाहता था कि बाल्कन के इन छोटे राज्यों की शक्ति इतनी बढ़ जाय कि वे अपने नेता को ही अवहेलना की दृष्टि से देखने लगे।

द्वितीय बाल्कन युद्ध : राजदूतों का लंदन-सम्मेलन बाल्कन-समस्या का कोई संतोषजनक समाधान नहीं निकाल सका। खासकर मैसिडोनिया का प्रश्न स्थागित कर दिया गया था। सम्मेलन ने यद्यपि इस बात को निश्चित कर दिया था कि मैसिडोनिया, अब तुर्की के अधीन रहेगा पर उसके भावी रूप की व्याख्या नहीं

की गयी थी। इस बात का निर्णय बाल्कन-प्रायद्वीप के विविध राज्यों के हाथ में छोड़ दिया गया। मैसिडोनिया में तरह-तरह की जातियां निवास करती थीं। उसकी अधिकांश जनसंख्या बुल्गार थी। बुल्गार लोगों के बाद सर्बों का स्थान था। बुल्गेरिया और सर्बिया मैसिडोनिया के अधिक-से-अधिक भाग पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे। यूनान भी अपना कुछ हिस्सा चाहता था; क्योंकि इस प्रदेश में यूनानी लोग भी निवास करते थे। ऐसी स्थिति में मैसिडोनिया को परस्पर बांट सकना बाल्कन राज्यों के लिए सुगम कार्य न था। उनमें परस्पर वैर-विरोध बढ़ने लगा। बुल्गेरिया और सर्बिया किसी भी प्रकार एक-दूसरे से सहमत नहीं हो सके। आस्ट्रिया इस ताक में था कि बाल्कन-संघ के सदस्य आपस में इतना लड़े कि उनकी एकता भंग हो जाय। अतः, वह अपनी कूटनीति से उनमें फूट डालने लगा। मैसिडोनिया के प्रश्न पर उनके बीच घोर मतभेद था। जब वार्तालाप के द्वारा इस प्रश्न का फैसला नहीं हो सका तो दोनों पक्षों ने ताकत आजमाने का निश्चय किया। जून, 1913 में बुल्गेरिया ने अपने पुराने दोस्त सर्बिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। यह द्वितीय बाल्कन-युद्ध था।

बुखारेस्ट की संधि : इस युद्ध में सर्बिया अकेला नहीं रहा। यूनान, रूमानिया, मान्टिनिग्रों की सेनाएं उनकी मदद के लिए आ गयीं। अतः एक ही महीने में इस युद्ध का अंत हो गया। बुल्गेरिया चारों तरफ से मित्र राष्ट्रों से द्वारा घेर लिया गया। वह परास्त होकर संधि करने के लिए तैयार हो गया। बुल्गेरिया अपनी शक्ति की परीक्षा पर असफल हो चुका था। इसलिए अब परस्पर समझौता करना सुगम हो गया। दोनों पक्षों के प्रतिनिधि रूमानिया की राजधानी बुखारेस्ट में संधि की बातचीत के लिए एकत्र हुए। सम्मेलन के सामने केवल मैसिडोनिया के बंटवारे का प्रश्न था। बुल्गेरिया पराजित होकर सम्मेलन में सम्मिलित हुआ था। अतः सम्मेलन में उसकी एक भी नहीं चली। सर्बिया और मान्टिनिग्रो को सबसे अधिक हिस्सा प्राप्त हुआ। इसके राज्य अब करीब-करीब दुगुने हो गये। यूनान को मैसिडोनिया का सेलोनिक प्रदेश प्राप्त हुआ। शेष मैसिडोनिया बुल्गेरिया को प्राप्त हुआ।

बाल्कन-युद्ध के परिणाम

दो बाल्कन युद्धों के फलस्वरूप बाल्कन-प्रायद्वीप का रूपरंग पहले से बिल्कुल बदल गया। यूरोप में तुर्की का साम्राज्य एकदम समाप्त हो गया। अब उसका आधिपत्य केवल कान्स्टेन्टिनोप्ल, एड्रियानोप्ल तथा डार्डेनल्स और बोस्फोरस पर ही रह गया। रूमानिया, सर्बिया, बुल्गेरिया, यूनान इन सभी देशों के क्षेत्रफल और आबादी दोनों काफी बढ़ गये। बाल्कन-राज्यों की राष्ट्रीय आकांक्षा बहुत हद तक पूरी हो गयी। इनके कुछ और भी परिणाम हुए, जो यूरोपीय शांति के लिए शुभ नहीं थे। संपूर्ण बुल्गेरिया क्रोध में आग बबूला हो रहा था। बुखारेस्ट की संधि से उसको बहुत नीचा देखना पड़ा था। यद्यपि इससे बाल्कन राज्यों के बीच शांति स्थापित हो गयी थी, तथापि विविध राज्यों के पारस्परिक द्वेष तथा ईर्ष्या का अंत नहीं हुआ था। विशेषकर बुल्गेरिया अपने अपमान का बदला लेने के लिए बहुत बेचैन था। वह भलीभांति अनुभव करता था कि सर्बिया, यूनान और रूमानिया ने उसे नीचा दिखाया है। बुल्गेरिया उन राज्यों से अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेने के अवसर की ताक में रहता था।

बाल्कन युद्धों के फलस्वरूप यूरोप के देशों की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। बुल्गेरिया अभी तक रूस को अपना नेता मानता आ रहा था। रूस की सद्भावना भी बुल्गेरिया को प्राप्त थी; पर द्वितीय बाल्कन-युद्ध में रूस ने दिल खोलकर बुल्गेरिया के विरुद्ध सर्बिया की मदद की। इससे वह रूस से दूर हटने लगा और आस्ट्रिया की मित्रता का इच्छुक बन गया। तुर्कों को भी बाल्कन-युद्ध से बड़ी निराशा हुई। जर्मनी को छोड़कर यूरोप का कोई भी महान् देश उसकी रक्षा करने के लिए तैयार नहीं था। अतः, तुर्की जर्मनी पर पूरी तरह आश्रित हो गया।

बाल्कन-युद्ध से सबसे अधिक लाभ सर्बिया को हुआ था। आबादी और क्षेत्रफल की दृष्टि से सर्बिया अब एक बहुत बड़ा देश हो चुका था। उसकी अधिकांश महत्वाकांक्षाएं पूरी हो चुकी थीं। अब उसकी केवल एक ही इच्छा थी। किसी तरह अपने घृणित दुश्मन आस्ट्रिया के साथ वह निपट लेना चाहता था। बुखारेस्ट-संधि के अवसर पर सर्बिया के प्रतिनिधि ने कहा भी था-"एक बाजी तो हमलोग जीत गये। अब दूसरी बाजी की तैयारी करनी है और वह आस्ट्रिया के साथ होगी।" आस्ट्रिया के लिए ये शब्द चेतावनी के थे। अगर सर्बिया केवल अपने बल पर इस तरह की बात करता तो आस्ट्रिया को कोई परवाह नहीं थी, किंतु वियना के नीति-निर्धारक इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि सर्बिया की पीठ पर विशाल रूस का वरदहस्त है। रूस का उद्देश्य भी किसी से छुपा नहीं हुआ था। बाल्कन-युद्ध के बाद बेलग्रेड स्थित रूसी राजदूत ने कहा था : "तुर्की का काम तमाम हो गया। अब आस्ट्रिया की बारी है।" तुर्की की तरह आस्ट्रिया को भी खत्म करने के लिए रूस तैयार बैठा था।

बाल्कन-युद्धों के फलस्वरूप आस्ट्रिया के साथ-साथ जर्मनी भी सर्बिया का विरोधी बन गया। केवल आस्ट्रिया ही सर्बिया का नाश नहीं चाहता था, जर्मनी भी उसका शत्रु बन गया था। जिस प्रकार वह सेलोनिका के मार्ग के आस्ट्रिया में लिए बाधक था उसी प्रकार वह कान्सेन्टीनोप्ल के मार्ग में जर्मनी के लिए भी बाधक था। इस प्रकार द्वितीय बाल्कन युद्ध के परिणाम आस्ट्रिया और जर्मनी के लिए अत्यंत अरुचिकर एवं निराशा जनक हुए। बुखारेस्ट की संधि को भंग करने के लिए स्वयं उनका हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया। संधि होने के बाद से ही निस्संदेह वे युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गये और केवल अवसर तथा बहाने की प्रतीक्षा करने लगे। आस्ट्रिया ने तो संधि के तीसरे दिन ही इटली को सर्बिया के विरुद्ध कार्यवाही करने के अपने इरादे की सूचना दी थी और संधि के अनुसार सहयोग की मांग की थी परंतु इटली के इंकार करने पर युद्ध रुक गया था। जर्मनी ने भी उसे रोक दिया था। परंतु इससे उसके विचार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। कान्स्टेन्टीनोप्ल तथा सेलोनिका मार्ग की मुख्य बाधा-सर्बिया को नष्ट करना प्रमुख चिंता का विषय बनी रही।

इस प्रकार, 1912-13 के बाल्कन युद्धों तथा उनके प्रभाव पर जो सबसे अच्छी राय प्रकट की जा सकती है वह यही है कि युद्ध में शामिल किसी भी राष्ट्र को, चाहे वह विजयी रहा हो या पराजित हुआ हो विश्वास नहीं था कि उसके प्रदेश-वितरण संबंधी निर्णय स्थायी होंगे। सभी इन संधियों को व्यर्थ समझते थे और सभी को आशा थी कि शीघ्र ही दूसरा युद्ध छिड़ेगा।

प्रथम और द्वितीय बाल्कन-युद्ध का एक और महत्व है। उन्हें 1914 के यूरोपीय युद्ध की भूमिका कहा जाता है। कभी-कभी तो प्रथम विश्व युद्ध को ही "तृतीय बाल्कन युद्ध" कहा जाता है। आगे के पृष्ठों के पढ़ने से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा कि किस तरह इसी बाल्कन समस्या से उत्पन्न परिस्थितियों से प्रथम-युद्ध का आरंभ हुआ।

अध्याय 16

सेराजोवो की हत्या

बाल्कन की स्थिति : एक समय बिस्मार्क ने हरबालिन नामक एक व्यक्ति से कहा था-"मैं विश्वयुद्ध को अपनी आंखों से नहीं देख सकूंगा; लेकिन आप देखेंगे और यह निकटपूर्व (Near East) से शुरू होगा।" कुछ अन्य भविष्यवाणियों की तरह बिस्मार्क की यह भविष्यवाणी भी अक्षरशः सत्य निकली। नेपोलियन के पतन के बाद से बाल्कन-प्रायद्वीप में राजनीतिक बेचैनी शुरू हुई थी और बीसवीं शताब्दी के आते-आते उसने इतना भीषण रूप धारण कर लिया कि बाल्कन-प्रायद्वीप यूरोप का ज्वालामुखी कहा जाने लगा। यूरोप के विविध राज्यों द्वारा पैंतराबाजी करने तथा ताकत आजमाने के लिए यह क्षेत्र एक अखाड़ा बन गया। जहां एक ओर बाल्कन-राज्य एक दूसरे के साथ संघर्ष कर यूरोप की शांति को सदा खतरे में रखते थे, वहां दूसरी ओर शक्तिशाली यूरोपीय राज्यों की महत्वाकांक्षाएं इस प्रायद्वीप में एक-दूसरे से टकराती थीं। इन कारणों से बीसवीं सदी के प्रारंभिक भाग में यह खतरा हमेशा बना रहता था कि बाल्कन-समस्या न जाने कब गंभीर रूप धारण कर ले। बाल्कन-युद्ध के समय आस्ट्रिया और रूस दोनों पैंतरे बदलते हुए अनेक बार एक-दूसरे के समीप आ गये थे। इस युद्ध के अवसर पर यूरोपीय राज्यों के दोनों गुटों को अपनी शक्ति आजमाने के लिए अनेक अवसर प्राप्त हुए, जिसके फलस्वरूप युद्ध की काली घटाएं यूरोपीय नभमंडल में मंडराने लगीं। यह यूरोपीय शांति का सौभाग्य था कि उसकी तलवारें टकराने से बाल-बाल बच गयीं।

बाल्कन-युद्ध समाप्त हो गया; पर अपने पीछे विरोध और विद्वेष का एक कटु वातावरण छोड़ता गया। एक तरफ बुल्गेरिया गुस्सा से कांप रहा था तो दूसरी तरफ बोस्निया-हर्जेगोबिना के स्लाव लोगों को आस्ट्रिया के चंगुल से मुक्ति दिलाने के लिए सर्बिया का हौसला बढ़ रहा था। सभी देश उपयुक्त अवसर की ताक में थे। अपने संस्मरण में सर ग्रे ने लिखा है : "सन् 1912-13 में यूरोपीय राजनीति का प्रवाह युद्ध की दिशा में बहा चला जा रहा था। आस्ट्रिया और रूस अन्य यूरोपीय राज्यों को भी उसी प्राणनाशक दिशा में घसीटकर अपने साथ लिये जा रहे थे। तूफान से बचने के लिए हमलोग बीच धारा में कभी-कभी लंगर डाल दिया करते थे लेकिन बाल्कन का तूफान प्रचंड रूप धारण कर रहा था।" सर ग्रे का यह शोकयुक्त और विषादपूर्ण विचार बाल्कन-प्रायद्वीप के घटनाओं से शतप्रतिशत ठीक सिद्ध हुआ। 1914-18 का यूरोपीय महायुद्ध पहले एक सामान्य बाल्कन-युद्ध के रूप में प्रकट हुआ था, पर विविध साम्राज्यवादी राज्यों के हस्तक्षेप के फलस्वरूप यह युद्ध शीघ्र ही यूरोपीय और फिर विश्वव्यापी युद्ध के रूप में परिवर्तित हो गया। अगर यह युद्ध 1912-13 में छिड़ गया रहता तो कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं होती। यूरोप के दोनों गुट युद्ध के लिए पूर्ण रूप से तैयार थे। बारूद बिल्कुल सूखी हुई थी। उसे केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी। प्रिन्सिप की पिस्तौल से जून, 1914 से यह चिनगारी भी पैदा हो गयी।

'वृहत्तर सर्बिया' का आंदोलन : बाल्कन युद्धों के बाद सर्बिया का राष्ट्रीय आंदोलन बाल्कन-प्रायद्वीप की राजनीति को सुलगाये रहा। 1908 में आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जेगोबिना के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इन प्रदेशों के अधिकांश निवासी सर्ब जाति के थे। वे आस्ट्रिया के अधीन नहीं रहना चाहते थे। उनकी इच्छा भी सर्बिया के साथ मिल जाने की थी। बोस्निया और हर्जेगोबिना के राष्ट्रवादी सर्ब

हमेशा इसी प्रयत्न में लगे रहते थे कि बाल्कन-प्रायद्वीप के विभिन्न प्रदेशों में निवास करनेवाले सर्ब-लोग सर्बिया को केन्द्र बनाकर अपने शक्तिशाली विशाल सर्ब-राष्ट्र का निर्माण करें। सरकारी तौर पर सर्बिया की सरकार द्वारा भी ऐसा ही प्रयत्न होता था। सर्बिया के शासक बोस्निया हर्जेगोबिना को अपना एल्सस-लोरेन मानते थे। आस्ट्रिया के चंगुल से इन प्रदेशों को मुक्त करना सर्बिया का वैसा ही कर्त्तव्य था जैसे जर्मनी के चंगुल से एल्सस-लोरेन को मुक्ति दिलाना फ्रांस अपना कर्त्तव्य समझता था। इसके अतिरिक्त सर्बिया अपने को सर्बजगत का पिडमौण्ट समझता था। जिस प्रकार पिडमौंट ने नेतृत्व करके सारे इटली का एकीकरण किया था उसी प्रकार सर्बिया भी अपने को केन्द्र बनाकर समूचे सर्ब-जगत को एक सूत्र में बांधने की अभिलाषा रखता था। आस्ट्रिया इस बात को भली-भांति जानता था। अतः वह किसी भी विपत्ति का सामना करने के लिए तैयार था। आस्ट्रिया के लिए बोस्निया और हर्जेगोबिना जीवन-मरण का प्रश्न था। बोस्निया-हर्जेगोबिना की स्वतंत्रता राष्ट्रीयता के सिद्धांत पर मांगी जा रही थी; लेकिन राष्ट्रीयता का सिद्धांत आस्ट्रिया साम्राज्य के लिए ज़हर था। विशाल आस्ट्रिया-साम्राज्य में विविध जातियां निवास करती थीं। अगर सर्ब-राष्ट्रीयता के आधार पर बोस्निया-हर्जेगोबिना को मुक्त कर दिया गया तो साम्राज्य की दूसरी जातियां भी इसी सिद्धांत के आधार पर अपनी स्वतंत्रता मांग सकती थीं, इसका अर्थ होता है संपूर्ण आस्ट्रिया साम्राज्य का विनाश। यह एक ऐसा जोखिम था जिसे आस्ट्रिया के शासक किसी भी हालत में मोल लेने को तैयार नहीं थे। अतएव बोस्निया-हर्जेगोबिना के संबंध में आस्ट्रिया के शासकों की एक निश्चित नीति थी—जैसे भी हो सर्ब-आंदोलन को दबाया जाय। सरकारी तौर पर सर्बिया इस आंदोलन को प्रोत्साहित कर रहा था। आस्ट्रिया के शासकों में एक ऐसा वर्ग भी था, जो सर्बिया से युद्ध के मैदान में इस विषय पर अंतिम फैसला कर लेने का पक्षपाती था। एक ही भय से आस्ट्रिया ने अभी तक यह कदम नहीं उठाया था। सर्बिया पर चढ़ाई करने से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाने की संभावना थी और आस्ट्रिया सर्बिया-युद्ध यूरोपीय युद्ध के रूप में परिवर्तित हो जा सकता था। सर्बिया की पीठ पर रूस था और रूस के साथ ब्रिटेन और फ्रांस थे। ऐसी हालत में सर्बिया से निपट लेना खतरे से खाली नहीं था। लेकिन, बोस्निया-हर्जेगोबिना के अंदर सर्ब-आंदोलन को दबाने में आस्ट्रिया को किसी का भय नहीं था। अतः आस्ट्रिया ने क्रूर दमन की नीति अपनाकर बोस्निया-हर्जेगोबिना के सर्ब-आंदोलनकारियों को विभिन्न रूस से सताना शुरू किया। इसलिए सर्ब-राष्ट्रवादियों के लिए खुले रूप से कोई आंदोलन करना असंभव हो गया।

षड़यंत्रकारी संगठन : रूस और सर्बिया का प्रोत्साहन पाकर सर्ब-देशभक्तों ने उग्र उपायों का अवलंबन करने का निश्चय किया। बोस्निया और हर्जेगोबिना में गुप्त क्रांतिकारी समितियां संगठित की गयीं और हिंसात्मक क्रिया को अपनाकर इन समितियों ने अपना कार्य शुरू किया। इन समितियों की 'काला हाथ' (Black Hand) या 'एक सर्बियन राष्ट्र अथवा मौत समिति' के नाम से कहा जाता था। संपूर्ण बोस्निया हर्जेगोबिना में आस्ट्रिया के शासन को असंभव बना देना इसका उद्देश्य था। ये लोग आस्ट्रिया के अफसरों की हत्या करने में नहीं हिचकते थे और उनकी कार्रवाई से संपूर्ण क्षेत्र में आतंक का राज्य छा गया।

बोस्निया-हर्जेगोबिना के इस क्रांतिकारी आंदोलन को सर्बिया की सरकार से काफी सहायता मिलती थी। सार्बिया की सरकार के अनेक कर्मचारी 'काला हाथ' समिति के सदस्य थे। सर्बिया की सरकार धन-दौलत तथा अस्त्र-शस्त्रों से भी 'काला हाथ' की सहायता करती थी। वस्तुतः बेलग्रेड ही इस आंदोलन का प्रधान केन्द्र था।

युवराज की सेराजोवो-यात्रा : 28 जून, 1914 के दिन आस्ट्रिया का युवराज फ्रांसिस फर्डिनेण्ड अपनी पत्नी के साथ बोस्निया की राजधानी सेराजोवा (Serajova) में आनेवाला था। फर्डिनेण्ड आस्ट्रिया की गद्दी का उत्तराधिकारी था। फ्रांसीसी जोसेफ के मरने के बाद वही आस्ट्रिया का सम्राट होनेवाला था। बोस्निया के लोगों

में सम्राट के प्रति भक्ति की भावना उत्पन्न करना फर्डिनेण्ड की इस यात्रा का मुख्य उद्देश्य था। सर्ब-लोगों की दृष्टि में फर्डिनेण्ड-सर्ब आंदोलन का सबसे बड़ा शत्रु माना जाता था। उसका विश्वास था कि वियना में सर्ब-विरोधी दल का नेता युवाराज फर्डिनेण्ड ही है। इस समय तक फ्रांसिस जोसेफ बहुत बूढ़ा हो चुका था और अधिक दिनों तक उसके जीने की संभावना नहीं थी। उसके मरने के बाद फर्डिनेण्ड ही गद्दी पर बैठनेवाला था। सर्ब-देशभक्त इस संभावना की कल्पना करते ही कांप उठते थे। वियना में सर्ब-विरोधी दल का नेता अगर आस्ट्रिया का सम्राट हो जाय तो वैसी स्थिति में सर्ब-आंदोलन का भविष्य क्यों हो सकता था ? अत: क्रांतिकारी सर्ब किसी ऐसे अवसर की ताक में थे कि मौका पाकर फर्डिनेण्ड का काम ही तमाम कर दिया जाय। जब उन्होंने युवराज के बोस्निया भ्रमण का समाचार सुना तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा 'काला हाथ' के रहते युवराज बोस्निया से आकर जिंदा लौट जाय यह एक असंभव बात थी। 'काला हाथ' युवराज की हत्या के लिए षड़यंत्र करने लगा। सर्बिया के गुप्तचर-विभाग का एक बड़ा पदाधिकारी दिमित्रिविख इस षड़यंत्र में शामिल था और वहां का प्रधानमंत्री निकोला पाशिष भी पहले से यह जानता था; लेकिन षड़यंत्रकारियों के षड़यंत्र को रोकने का उसने कोई उपाय नहीं किया। अपनी जिम्मेवारी से मुक्त होने के लिए सर्बिया की सरकार ने बहुत अस्पष्ट रूस से आस्ट्रिया सरकार को केवल एक चेतावनी भेज दी कि सर्ब-क्रान्तिकारी अनेक प्रकार से षड़यंत्रों में लगे हैं और यदि कोई दुर्घटना हो गयी तो सर्बिया की सरकार उसकी जिम्मेवारी नहीं ले सकेगी। आस्ट्रिया की सरकार पर इस चेतावनी का कोई असर नहीं पड़ा और 28 जून, 1914 के दिन फ्रांसिस फर्डिनेण्ड सेराजोवो आ पहुंचा।

युवराज की हत्या : षंड़यंत्र के सारे कार्य पूरे हो चुके थे और षड़यंत्रकारी पहले ही लुक-छिपकर बेलग्रेड से सेराजोवा आ पहुंचे थे। युवराज के स्वागत में संपूर्ण सेराजोवो नगरी सजी-धजी थी। जहां-तहां युवराज का चित्र लटकाया हुआ था। दस बजे सुबह युवराज सेराजोवा पहुंचा। अपनी पत्नी के साथ मोटर पर बैठकर वह नगरपालिका भवन की तरफ जा रहा था, जहां उसके स्वागत का विशेष प्रबन्ध था। जिस समय उसकी गाड़ी एक पुल के पास पहुँच रही थी कि किसी ने उस पर एक बम फेंक दिया। प्रोफेसर ग्रे का कहना है कि युवराज ने इस बम को आते देख लिया और उसे पकड़ कर बाहर फेंक दिया। युवराज सुरक्षित अवस्था में नगरपालिका-भवन पहुंच गया। मेयर ने नगर की ओर से उसका स्वागत किया। इसके बाद युवराज लौटने लगा। किसी को यह शक नहीं हुआ कि उसी दिन उसकी हत्या का दूसरा प्रयास हो सकता है। जैसे ही युवराज की गाड़ी एक चौराहे पर आयी कि प्रिन्सिप नामक एक सर्ब-देशभक्त ने निशाना लगाकर अपनी पिस्तौल से दो गोलियां चलायीं। एक गोली से युवराज का और दूसरी गोली से उसकी पत्नी का काम तमाम हो गया।

आस्ट्रिया का अंतिमेथम् : प्रिन्सिप की गोली की आवाज वह संकेत थी जिसको सुनकर पर्दा खींचनेवाला रंगमंच पर पर्दा उठा लेता है और नाटक प्रारंभ हो जाता है। युवराज फर्डिनेण्ड की हत्या के बाद यूरोपीय रंगमंच पर तांडव की तैयारी होने लगी। आस्ट्रिया ने सर्बिया की सरकार को इसके लिए दोषी ठहराया और लगभग एक महीने के पैंतरेबाजी के बाद सर्बिया से इसका जवाब मांगा। इसके अतिरिक्त आस्ट्रिया ने यह मांग की कि अड़तालीस घंटे के अंदर-अंदर सर्बिया उन सभी कार्रवाइयों को रोक दे जो आस्ट्रिया के विरुद्ध में उसकी भूमि पर हो रही है। सर्बिया की सरकार सार्वजनिक तौर पर आस्ट्रिया विरोधी आंदोलन की निंदा करे। वैसे स्कूल, सभा-समितियां और समाचार-पत्र जो आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रचार करने में लगे हुए थे उनके विरुद्ध सर्बिया की सरकार कड़ी कार्रवाई करे। सरकार और सेना में ऐसे पदाधिकारी जो आस्ट्रिया के विरुद्ध हैं, उनको बर्खास्त कर दिया जाय। सर्बिया दो उच्च पदाधिकारियों के नाम से भेजे गये थे जो सराजोवो हत्याकांड में सम्मिलित समझे जाते थे। आस्ट्रिया सरकार ने उसको कैद करके उन पर हत्या का मुकदमा चलाने की मांग की। आस्ट्रिया की अंतिम मांग थी कि सर्बिया के न्यायालयों में आस्ट्रिया के अफसरों को बैठने की अनुमति मिले, जिससे आस्ट्रिया के विरुद्ध कार्य करनेवालों को यथोचित दंड दिया जा सके।

सर्बिया का जवाब और युद्ध का प्रारंभ : किसी भी देश के लिए इन मांगों को स्वीकार करना संभव नहीं था; लेकिन सर्बिया ने अंतिम मांग को छोड़कर आस्ट्रिया की सभी मांगों को स्वीकार कर लिया। अंतिम मांग को वह अपने राज्य की प्रभुसत्ता को ध्यान में रखकर नहीं मान सकता था। सर्बिया ने अंतिम शर्त में यह संशोधन किया कि इसको हेग के अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाय। शानिवार के दिन भर मन्त्रिमंडल की बैठक के बाद यह उत्तर तैयार किया गया और संध्या को छह बचने के कुछ मिनट पूर्व प्रधानमंत्री निकोला पाशिष स्वयं उत्तर की एक प्रति लेकर आस्ट्रिया के दूतावास में जा पहुंचे। उसने आस्ट्रियन राजदूत गिशल को सर्बिया का उत्तर सौंप दिया। पाशिष अभी अपने मंत्रालय में पहुंचा भी नहीं था कि आस्ट्रिटन दूतावास से एक संदेशवाहक गिश्ल का एक पत्र लेकर आ धमका। इस पत्र के द्वारा गिश्ल ने सर्बिया की सरकार को सूचित कर दिया कि सर्बिया का जवाब संतोषजनक नहीं है और इसलिए दोनों का कूटनीतिक संबंध विच्छेद होता है। गिश्ल अपने दूतावास के कर्मचारियों के साथ साढे छह बजे की गाड़ी पकड़कर बेलग्रेड से वियना के लिए रवाना हो गया। दोनों तरफ से युद्ध की भेरी बज उठी। यूरोप में अंधकार छा गया। यह प्रथम विश्वयुद्ध का प्रारंभ था।

अध्याय 17

कूटनीतिक स्थिति का सिंहावलोकन

क्या युद्ध अवश्यम्भावी था ? : अलौकिक परिस्थिति में बीती घटना पर दृष्टिपात करने की प्रवृति मनुष्य में नैसर्गिक रूप से विद्यमान रहती थी। पिछले चालीस वर्ष की घटनाओं के फलस्वरूप 1914 में यूरोप में महासमर छिड़ गया और इसके बाद समस्त संसार हथियारों की झंकार से गूंज उठा। यूरोप में बहुतेरे ऐसे राष्ट्र थे, जो एक यूरोपीय युद्ध से लाभ उठाकर अपनी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं को पूरा करना चाहते थे। सर्बिया अपने राष्ट्रीय एकीकरण के लिए प्रयास कर रहा था। आस्ट्रिया अपनी रुग्णता से छुटकारा पाना चाहता था और राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलकर अपने साम्राज्य का अस्तित्व क़ायम रखना चाहता था। 'रूस कान्स्टेन्टिनोप्ल' पर जारशाही का झंडा फहराना चाहता था और जर्मनी के सामने फ्रांसीसी प्रतिशोध से बचने की समस्या थी। फ्रांस़ एल्सस-लोरेन को लौटाने के लिए तड़प रहा था और ब्रिटेन जर्मनी की नौ-सैनिक शक्ति को रोकने के लिए उद्यत था। ये सभी आकांक्षाएं युद्ध के द्वारा ही पूरी हो सकती थीं, पर कोई भी यूरोपीय देश दिल से नहीं चाहता था कि एक विश्व युद्ध छिड़ जाये। एक दो को छोड़कर यूरोपीय राज्यों का कोई भी नीति-निर्धारक विश्व-युद्ध नहीं चाहता था। वास्तव में जब युद्ध के काले बादल यूरोपीय आकाश में घिरने लगे तो उनमें से बहुतों ने यह प्रयास किया कि युद्ध किसी तरह से रुक जाय, परन्तु अनेक प्रयत्नों के बावजूद यूरोप में एक विध्वंसकारी संग्राम छिड़ गया।

यूरोप के शक्तिशाली राज्य किस प्रकार दो जबर्दस्त गुटों में विभक्त हो गये थे, इसको हम लोग देख चुके हैं। संघर्ष का उद्‌गम यूरोप के दो सशस्त्र गुटों (Triple Alliance & Triple Entente) में बंट जाने से हुआ था, जिसका आरम्भ 1871 से हो गया था। दोनों गुट एक-दूसरे से जलते थे और दोनों ओर शक्ति-संचय का प्रयत्न जारी था। गुटबंदी तीव्र रूप धारण करती जा रही थी। सेना में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि की जा रही थी। साम्राज्य का भूत सबके सिर पर सवार था। विकृत और उग्र राष्ट्रीयता यूरोपीय राज्यों के जीवन का अभिन्न अंग हो गयी थी। सभी राज्यों की अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाएं थीं और राज्य-विस्तार की मदिरा पीकर यूरोप के विविध राज्य शक्ति-प्रदर्शन के लिए उतावले हो रहे थे। ऐसे दूषित वातावरण में यूरोपीय देश के समाचार- पत्र आग में घी का काम कर रहे थे। इस दशा में युद्ध का अवश्यंभावी हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं मानी जा सकती है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से यूरोपीय राज्यों को अनेक अंतर्राष्ट्रीय संकटों का सामना करना पड़ा था। इन संकटों की संख्या इतनी अधिक हो गयी थी कि एक दूसरे के बाद वे इतनी तीव्र गति से प्रकट होती थीं कि आशावादी राजनेताओं को भी विश्वास हो गया था कि एक व्यापक संघर्ष होकर ही रहेगा। बाल्कन-युद्धों के बाद यूरोप के शासकों के सामने शांति बनाये रखने की समस्या नहीं थी, बल्कि युद्ध की तैयारी की समस्या थी। युद्ध को रोकने में वे अपने को असहाय महसूस करते थे। इस विश्वास से कि युद्ध अवश्यम्भावी है, इसको रोका नहीं जा सकता, 1914 में यूरोपीय युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया।

जर्मनी और आस्ट्रिया : यूरोप के राजनीतिज्ञ जब एक बार इस निष्कर्ष पर पहुंच गये कि युद्ध अवश्यम्भावी है, तो वे इसके लिए अपने को तैयार करने लगे। इस देश में उनका सबसे पहला कदम हो सकता था कि वे अपने-अपने गुटों को अधिकाधिक सुदृढ़ और शक्तिशाली बनायें। इसमें कोई शक नहीं कि

जिस समय इन गुटों की स्थापना हुई थी उस समय उनका स्वरूप युद्ध रक्षात्मक था। किसी का विचार यह नहीं था कि वे अपने विरोधी गुट पर आक्रमण करके उसका सत्यानाश कर दें। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे इन गुटों का स्वरूप भी बदलता गया। 1912 में त्रिगुट की संधियों को अंतिम बार दुहराया गया था। इतने दिनों के भीतर इस गुट का स्वरूप काफी बदल चुका था। यह अब रक्षात्मक संधि नहीं रह गयी थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी अब आस्ट्रिया की उग्र नीति पर कोई रुकावट भी नहीं डाल सकता था। जर्मनी की पहले निकटपूर्ण की समस्या में कोई दिलचस्पी नहीं थी, पर वह अधिक दिनों तक उदासीन नहीं रह सकता था। 1879 से 1914 के बीच में जर्मनी हर तरह से आस्ट्रिया के ऊपर निर्भर हो गया था और जैसे-जैसे अंतर्राष्ट्रीय संकट आते रहते थे यह निर्भरता और भी जड़ पकड़ती जाती थी। एरेनथाल और उसके बाद बर्शटोल्ड को यह पूर्ण विश्वास था कि अंतिम दशा में जर्मनी किसी संकट के अवसर पर आस्ट्रिया की मदद करेगा ही; क्योंकि इसके सिवा जर्मनी को कोई दूसरा चारा नहीं था। विशाल संसार में आस्ट्रिया ही जर्मनी का एकमात्र मित्र था और इस वहुमूल्य मित्रता को जर्मनी कैसे छोड़ सकता था। कैसर ने एक बार वर्शटोल्ड से कहा भी था कि "वियना के विदेश-मंत्रालय से जो कुछ भी आता है वह मेरे लिए आज्ञा होता है।" कैसर के इन्हीं शब्दों से पता लग जाता है कि जर्मनी किस हद तक आस्ट्रिया पर निर्भर करता था।

इतनी अधिक मात्रा में आस्ट्रिया पर जर्मनी की निर्भरता का एक और कारण था। त्रिगुट का तीसरा सदस्य इटली धीरे-धीरे अपने मित्रों से विमुख हो रहा था। इसके भी कुछ कारण थे। सर्वप्रथम इटली और आस्ट्रिया के हित अनेक क्षेत्रों में खासकर एड्रियाटिक सागर के तट पर, गंभीर रूप से टकराते थे। इटली के विमुख होने का दूसरा कारण यह था कि उसका बहुत बड़ा भूभाग समुद्र के किनारे पड़ता था और उसको यह आशंका रहती थी कि समुद्रतट की तरफ से उस पर आक्रमण न हो जाय। इन सब कारणों से इटली जर्मनी और आस्ट्रिया से दूर खिंच रहा था। जब जर्मनी को यह ज्ञात हो गया कि इटली उसका वफादार साथी नहीं है तो उसने त्रिगुट में उसे क्यों सम्मिलित रखा ? इसका एक मात्र जवाब यही है कि जर्मनी के शासक यह अनुमान लगा रहे थे कि युद्ध की हालत में अगर इटली उसकी सहायता नहीं करेगा तो कम-से-कम आधा त्रिगुट का सदस्य होने के नाते तटस्थ तो रहेगा। इटली की कृतघ्नता के ऊपर जर्मनी में किसी को थोड़ा भी शक नहीं था। उधर जब एक तरफ त्रिगुट की नींव ढीली पड़ रही थी तो दूसरी तरफ जर्मनी के दुश्मन आपस में मिलकर उसके विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने की तैयारी कर रहे थे। 1907 के बाद जर्मनी को चारों तरफ से घेर लेने की शंका जर्मनी में व्यक्त की जाने लगी। ऐसी स्थिति में जर्मनी क्या कर सकता था ? उसको आस्ट्रिया की नीति को विना किसी हीला-हवाला के अनुमोदन करना ही था। अतः जर्मनी आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' देने लगा। इस 'चेक' पर आस्ट्रिया किसी रकम को भर सकता था और जर्मनी को उसकी अदायगी करनी ही पड़ती थी। आस्ट्रिया बेखटके जर्मनी की सहायता का प्रयोग करता था। इसी का सहारा पाकर वह बाल्कन-प्रायद्वीप में उग्र नीति का अवलंबन करने लगा, जिसके फलस्वरूप निकटपूर्व की राजनीति संकटमयी हो गयी और अंततः सारा संसार महाप्रलय में डूब गया।

रूस, फ्रांस और ब्रिटेन : रूस और फ्रांस के द्विगुट के साथ भी यही बात हुई। जिस समय उसकी स्थापना हुई थी उस समय इसका स्वरूप भी रक्षात्मक था। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों इसकी सीमा भी बढ़ती गयी। फ्रांस और रूस दोनों अपने हितों को दृष्टि में रखकर इसके स्वरूप का अर्थ लगाने लगे। बोस्निया-कांड के समय फ्रांस ने दिल खोलकर रूस की मदद नहीं की थी। इसके बाद जब इस्वोल्स्की पेरिस में रूस का राजदूत बनकर आया तब से उसका एकमात्र यही प्रयास रहा कि फ्रांस को किसी तरह रूस के वाल्कन-स्वार्थों में दिलचस्प बना दिया जाय। बाल्कन-प्रायद्वीप में फ्रांस इतनी दिलचस्पी लेने लगा कि अपने मित्र रूस को वह हर हालत में मदद करने को तैयार रहे। इस प्रयास में इस्वोल्स्की को बहुत अंश तक

सफलता भी प्राप्त हुई। समय के साथ-साथ द्विगुट दृढ़ होने लगा। यूरोपीय शांति के लिए यह कोई शुभ लक्षण नहीं था। फ्रांस के मंत्रालय में पोअंकारे के आने से वह गुट और भी सुदृढ़ होने लगा। पोअंकारे लोरेन में पैदा हुआ था और जब उसकी उम्र केवल दस वर्ष की थी उसी समय जर्मनी ने लारेन पर हमला करके उसे अपना अधिकृत क्षेत्र बना लिया था। पोअंकारे के दिमाम में इस बात की याद ताजी थी। प्रतिशोध की भावना से ग्रसित फ्रांस के राजनेताओं का वह प्रतिनिधि था। वह रूस की मित्रता का बहुत बड़ा इच्छुक था और उसको सुदृढ़ बनाने में उसने कोई कसर उठा नहीं रखी। जिस समय फ्रांस की सत्ता उसके हाथों में आयी उस समय से फ्रांस बाल्कन की राजनीति में आवश्यकता से अधिक दिलचस्पी लेने लगा। रूस अब इस क्षेत्र में भी फ्रांस की सहायता पर निर्भर हो सकता था। इसका परिणाम यहं हुआ कि रूस भी आस्ट्रिया की तरह बाल्कन प्रायद्वीप में उग्र नीति का अवलंबन करने लगा और अंततः बाल्कन की स्थिति नाजुक होने लगी।

ब्रिटेन भी किसी-न-किसी रूप में फ्रांस और रूस के गुट का सदस्य हो चुका था। मोरक्को-कांड और उनके पश्चात आगादीर कांड के बाद आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता भी नया रूप धारण कर रहा था। इस समझौते के बाद फ्रांस और ब्रिटेन सैनिक विशेषज्ञों से सैनिक विषयों पर बातचीत चल रही थी। प्रारंभ में यह वार्तालाप बिल्कुल अनौपचारिक रूप से शुरू हुआ था। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, यूरोपीय रंगमंच पर संकट आने-जाने लगे, वैसे-वैसे इस वार्त्तालाप का रूप-रंग भी बदलने लगा। यह वार्तालाप पीछे चलकर इस आधार पर होने लगा कि जर्मनी के साथ युद्द की संभावना है और इसका मुकाबला करने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए। ब्रिटेन का कहना था कि इन वार्त्तालापों से वह किसी तरह वचनबद्ध नहीं है कि मौका पड़ने पर फ्रांस की मदद की जाय। लेकिन फ्रांस में इसका दूसरा ही अर्थ लगाया जाता था। फ्रांसीसियों की दृष्टि में ये वार्तालाप ब्रिटेन को वचनबद्ध कर रहे थे। अगस्त, 1914 के प्रारंभिक दिनों में जब युद्ध के काले बादल यूरोप में मंडराने लगे और जब ब्रिटेन अपने साथियों की मदद करने में कुछ हिचकिचाने लगा तो फ्रांसीसी राजदूत कैंबो ने कहा "ब्रिटेन वचनबद्ध है। अगर वह इसको इंकार करता है तो मैं यह कहूंगा कि अंग्रेजी शब्दकोष से 'वचन निभाना' शब्द को हटा दिया जाय।"

फ्रांस और रूस के साथ ब्रिटेन के गठबंधन को मजबूत होने का एक और कारण भी था। जर्मनी की शक्ति और प्रभाव दिनोंदिन बढ़ रहा था। इसमें जर्मनी का उद्देश्य युद्ध प्रारंभ करना नहीं था। प्रोफेसर ब्रैंडेनवर्ग ने ठीक ही कहा है कि अगर जर्मनी की अभिलाषा युद्ध छेड़ने की रहती तो वह 1905 में ही ऐसा कर सकता था, क्योंकि उस समय तक फ्रांस पूरी तरह तैयार नहीं था, आंग्ल- फ्रांसीसी समझौता अभी सुदृढ़ नहीं हुआ था और रूस जापान से हार कर पस्त पड़ा हुआ था। जर्मनी केवल डरा-धमकाकर अपना काम निकालना चाहता था। वह प्रवृत्ति ब्रिटेन में काफी खतरनाक मानी जाती थी। जर्मनी की नीति कुछ ऐसी थी जिसका मतलब ब्रिटेन में यह लगाया जाता था कि संपूर्ण विश्व पर अपना आधिपत्य जमाने पर तुला हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय संकटों के समय अगर जर्मनी अपना रुख बदलता था तो वह इसी वजह से कि ब्रिटेन दिलो-जान से अपने साथियों की मदद करता था। अगर ब्रिटेन संकटापन्न स्थिति में अपने साथियों को छोड़ दे तो उसका नतीजा क्या होता—उसका यूरोपीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ता। निश्चित ही जर्मनी को छूट प्राप्त हो जाती और वह अपनी शक्ति एवं प्रभाव को और अधिक बढ़ा लेता। ब्रिटेन शक्ति-संतुलन के सिद्धांत में इस तरह का परिवर्तन देखने के लिए तैयार नहीं था। जर्मनी की शक्ति के प्रसार को रोकने के लिए ब्रिटेन के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह पूरी तरह से अपने दोस्तों की मदद करे। इस दशा में सफलता पाने के लिए यह भी आवश्यक था कि ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस के गुट को काफी शक्तिशाली बनाया जाय, जिससे समय आने पर जर्मनी का मुकाबला किया जा सके।

गुटों के स्वरूप में परिवर्तन : इस तरह यूरोप के दोनों विरोधी गुट अपने मूल उद्देश्य से दूर हटने लगे। इन गुटों का निर्माण और पीछे चलकर उनके स्वरूपों में परिवर्तन यूरोपीय शांति के लिए बड़े खतरे की बात थी। इसका अर्थ था कि किसी अंतर्राष्ट्रीय संकट से उत्पन्न युद्ध सीमित नहीं रह सकता है, बल्कि वह यूरोपीय युद्ध का रूप धारण कर सकता है, जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस एक तरफ होंगे और जर्मनी तथा आस्ट्रिया दूसरी तरफ। 1907 तक इस तरह की स्थिति स्पष्ट नहीं हुई थी। लेकिन जैसे-जैसे संकट आते गये वैसे-वैसे स्थिति भी स्पष्ट होने लगी। प्रोफेसर स्मिथ के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 1907 में दोनों गुट एक-दूसरे के अगल-बगल में खड़े थे; लेकिन 1911 आते-जाते वे मैदान में आमने-सामने खड़े थे और एक-दूसरे को युद्ध के लिए ललकार रहे थे। सिर्फ एक बहाना मिलने की देर थी। दोनों दलों में मनमुटाव इतना बढ़ गया था और तनातनी इतनी गहरी हो चुकी थी कि उनको रोक रखना असंभव था।

गुटबंदियों के स्वरूप में परिवर्तन हो जाने के परिणामस्वरूप यूरोपीय शक्ति-संतुलन में काफी हेर- फेर हो गया। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जर्मनी यूरोप का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र था। वास्तव में जैसा प्रोफेसर मैंगसर कहते हैं कि 1878 में यूरोप में कोई शक्ति-संतुलन नहीं था। यूरोप में जर्मनी की प्रभुता और प्रबलता स्थापित हो चुकी थी और आस्ट्रिया तथा रूस के साथ संधि होने के कारण उसकी महत्ता और भी बढ़ती चली जा रही थी। यद्यपि 1893 में रूस जर्मनी से अलग हो गया और इसके कुछ दिनों के बाद जर्मनी के शत्रुओं के साथ 'मैत्री संबंध' में संलग्न हो गया, तो भी जर्मनी की स्थिति काफी मजबूत बनी रही। आंग्ल-फ्रांसीसी और आंग्ल-रूसी समझौता होने के बाद स्थिति में काफी परिवर्तन आने लगा। धीरे-धीरे जर्मनी के इस विरोधी गुट का पलड़ा भारी होने लगा और पांच-छह वर्षों के भीतर यह इतना भारी हो गया कि मार्च, 1914 में कैसर को यह कहना पड़ा कि "आज हम अपने को असहाय पाते हैं।" रूस में युद्ध की जोरदार तैयारी हो रही थी और फ्रांसीसी सेना आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से लैस की जा रही थी। रूस के एक प्रमुख पदाधिकारी को यह कहते हुए सुना गया था कि "रूस तैयार है और अब फ्रांस को भी तैयार हो जाना चाहिए।" दोनों देशों में सैनिकवाद प्रचंड रूप धारण कर रहा था। बाल्कन-प्रायद्वीप में युद्ध के काले बादल मंडरा रहे थे। सर्बिया और उसका संरक्षक रूस इस क्षेत्र में अपनी-अपनी महत्वाकांक्षा पूरा करने के लिए छटपटा रहे थे। जर्मनी के मित्र आस्ट्रिया की स्थिति खतरे से खाली नहीं थी। उसका और रूस का संबंध बाल्कन-प्रायद्वीप को लेकर दिनोंदिन बिगड़ रहा था। कब ये ताल ठोककर अखाड़े में कूद पड़ेंगे, कहना मुश्किल था। मार्च, 1914 में यह स्पष्ट हो चुका था कि युद्ध को अब अधिक दिनों तक नहीं रोका जा सकता है। ऐसी दशा में क्या जर्मनी और आस्ट्रिया चुप बैठे रहते ? ऐसा करने का अर्थ अपनी जान को जोखिम में डालना था। अत: जर्मनी और आस्ट्रिया अपनी सैनिक योजना को संतुलित करने लगे। यूरोपीय शक्ति-संतुलन दिनोंदिन आस्ट्रिया तथा जर्मनी के हक में हल्का पड़ रहा था। इनको यह भय था कि पलड़ा भविष्य में और भी हल्का न पड़ जाय। इस तरह की दुर्दशा होने के पूर्व ही अंतिम फैसला करना जर्मनी की समझ में अच्छा था। कॉनराइड का कहना था—"त्रिगुट के सामने दो मार्ग हैं। शत्रुओं पर या तो शीघ्र ही हमला बोल दिया जांय अथवा सैन्यशक्ति को और अधिक बढ़ाया जाय। सैनिक दृष्टिकोण से मेरे विचार में पहला मार्ग ही उपयुक्त है।" कॉनराइड के इस विचार से जर्मनी का प्रधान सैनिक अधिपति मोल्टेके भी पूर्ण रूप से सहमत था।

कोनोपिस्ट की तथाकथित संधि : जिस समय यूरोप इस परिस्थिति से गुजर रहा था उस समय यूरोप के शासकगण अपने मित्रराज्यों में राजकीय यात्रा पर आवागमन कर रहे थे। उनको पूर्ण विश्वास हो गया था कि युद्ध अवश्यंभावी है और इसके लिए वे व्यक्तिगत संपर्क करके पहले से ही सामरिक योजना का प्रबंध कर लेना चाहते थे। जून, 1914 में ब्रिटिश-सम्राट पंचम जार्ज पेरिस गये और उसी महीने में फ्रांसीसी राष्ट्रपति पोअंकारे ने रूस की यात्रा की। रूस में उनका शाही स्वागत हुआ। लेकिन यह स्वागत उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना फ्रांसीसी राष्ट्रपति को रूस का आश्वासन था। पोअंकारे ने रूसी शासकों को फ्रांस की मित्रता

और सहायता का फिर से भरोसा दिलाया और इस बात का वचन दिया कि अगर आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया पर आक्रमण करने के कारण रूस ने इस मामले में हस्तक्षेप की आवश्यकता अनुभव की, तो फ्रांस अपने मित्र की सहायता करने में संकोच नहीं करेगा। पोआंकारे की यात्रा से रूस के उन नेताओं का हाथ काफी मजबूत हो गया, जो युद्ध के लिए उत्सुक थे और जो युद्ध को ही रूस की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का एकमात्र साधन मानते थे।

पर इन सभी यात्राओं से कैसर को कोनोपिस्ट (Konopist) की यात्रा सबसे महत्वपूर्ण थी। कोनोपिस्ट में आस्ट्रियन युवराज फ्रांसिस फार्डिनेल्ड का विशाल महल स्थित था और गुलाब के फूलों के लिए यह जगत प्रसिद्ध था। सरकारी तौर पर यह घोषणा की गयी कि कैसर इन्हीं फूलों की शोभा देखने के लिए जा रहा है। लेकिन दुनिया को इस पर विश्वास नहीं हुआ। कैसर अपने साथ एडमिरल टिरपिट्ज को भी लेता गया था। उधर युवराज फार्डिनेन्ड भी कई तरह से आस्ट्रिया के सैनिक संगठन से ताल्लुक रखता था। अतः यह स्पष्ट था कि कैसर की यह यात्रा कोनोपिस्ट का दृश्य देखने के लिए ही नहीं हुई है। लोगों ने समझा कि दाल में कुछ काला अवश्य है।

कोनोपिस्ट में युवराज से सम्राट की मुलाकात अनेक बार हुई। उनलोगों ने किन-किन समस्याओं पर विचार-विमर्श किया, यह कहना कुछ कठिन है। 'लंदन-टाइम्स' के संवाददाता विकहम स्टिड ने इस मुलाकात पर तरह-तरह के संवाद अपने पत्र को भेजे थे। संवाददाता स्टिड के अनुसार दोनों राजनीतिज्ञों ने सभी संभावाओं पर विचार-विमर्श किया और अंत में एक निष्कर्ष पहुंचे जिनको अफवाह फैलानेवाले संवाददाता ने 'कोनोपिस्ट की संधि' की संज्ञा दी। युवराज और सम्राट ने फैसला किया कि जर्मनी और आस्ट्रिया को शीघ्र ही प्रतिकरात्मक युद्ध (Preventive war) प्रारंभ कर देना चाहिए। हाल में कुछ ऐसे कागजात प्राप्त हुए हैं, जिसके आधार पर विकहम स्टिड की इस मनगढंत कहानी का खंडन किया जा सकता है। लेकिन उस समय दुष्ट संवाददाता का जहरीला प्रचार अपना काम कर गया। यूरोप में तरह-तरह की आशंकाएं व्यक्त की जाने लगीं। खासकर सर्ब-जगत में सनसनी फैल गयी। ऊपर कहा जा चुका है कि राष्ट्रवादी सर्ब-लोग युवराज फार्डिनेंड को अपना कट्टर दुश्मन समझते थे। सर्ब-लोगों में यह अफवाह फैली कि युवराज ने निर्णय ले लिया है और उस निर्णय से वियना के शासकगण सहमत हैं कि सर्व-आंदोलन को सदा के लिए कुचल दिया जाय। अफवाह में नमक-मिर्च लगते देर नहीं होती। एक अफवाह के बाद दूसरी फैलाती है। एक दूसरी अफवाह यह फैली कि 1914 के ग्रीष्म में आस्ट्रिया सर्बिया पर चढ़ाई कर देगा। संपूर्ण सर्ब-जगत में तहलका मच गया।

सेराजोवो की हत्या : इसी समय वियना से यह घोषणा की गयी कि युवराज फार्डिनेंड 28 जून, 1914 को बोस्निया की राजधानी सेराजोवो में एक राजकीय यात्रा पर जायेंगे। क्रांतिकारी सर्ब-लोगों को इससे बढ़कर अच्छा मौका मिलनेवाला नहीं था। 'काला हाथ' संस्था सक्रिय हो गयी। सर्ब-क्रांतिकारी युवराज की हत्या की योजना बनाने लगे और अंत में अपने काम में सफल हुए। 28 जून को सेराजोवो में युवराज की हत्या कर दी गयी। प्रथम विश्व-युद्ध का वह तात्कालिक कारण था। युद्ध के मौलिक कारण पहले से मौजूद थे। यूरोप दो गुटों में बंट चुका था। हथियार बंदी की होड़ जारी थी। साम्राज्यवाद का भूत सवार था। अंतर्राष्ट्रीय संकट और दुर्घटनाएं होती रहती थीं। लेकिन, इन बातों के होते हुए भी विश्व-युद्ध का छिड़ जाना संदेहात्मक था, अगर युवराज की हत्या न हुई होती। बारूद बिल्कुल सुखी हुई थी। उसे केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी। युवराज की हत्या से यह चिनगारी मिल गयी और विश्व-युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

जुलाई के तूफानी दिन : सेराजोवो-हत्या से यूरोप का राजनीतिक वातावरण एक अभूतपूर्व उत्तेजना से भर गया। अपने युवराज की हत्या को निमित्त बनाकर आस्ट्रिया ऐसे उपायों का अवलंबन करने के लिए उत्सुक था, जिनसे सर्ब-राष्ट्रीय आंदोलन को पूर्ण रूप से कुचल दिया जाय। वर्शटोल्ड सर्बिया के साथ अंतिम

निर्णय करने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। अब उसे अवसर मिल गया था और इसका उपयोग करने के लिए वह कृतसंकल्प था। प्रधान सैनिक-अधिपति कॉनराड ने तुरंत ही युद्ध करने की आज्ञा मांगी। बेलग्रेड में स्थित आस्ट्रिया के राजदूत ने भी अपने प्रधानमंत्री को सर्बिया के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने की सलाह दी। आस्ट्रिया-सम्राज्य में केवल एक ही व्यक्ति था, जो किसी प्रकार की जल्दीबाजी के विरुद्ध था। आस्ट्रिया साम्राज्य के हंगरीवाले हिस्से का प्रधानमंत्री काउन्ट स्टिफन टिस्जा के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ को एक स्मरण-पत्र द्वारा चेतावनी दी कि इस बात का कोई यथेष्ट प्रमाण नहीं है क़ि बेलग्रेड पर अपराध का आरोप लगाया जा सके और यदि ऐसा किया गया तो सभी देश यह समझने लगेंगे कि शांति भंग करने कि जिम्मेवारी आस्ट्रिया पर है। लेकिन, वियना के शासकगण सर्बिया के साथ अंतिम फैसला करने के लिए तैयार बैठे थे। ऐसी स्थिति में जर्मनी ही आस्ट्रिया के शासकों पर कोई रोक लगा सकता था, पर जर्मनी इस तरह की कोई कार्रवाई करने को तैयार नहीं था। जब कैसर ने युवराज की हत्या की खबर सुनी तो उसके होश उड़ गये। 5 जुलाई को उसको सम्राट फ्रांसिस जोसेफ के हाथों में लिखी एक चिट्ठी प्राप्त हुई। इस पत्र में सम्राट ने निराशापूर्ण विचार व्यक्त किये थे और त्रिगुट की शर्तों के अनुसार जर्मनी से हर हालत में सहायता का आश्वासन मांगा गया था।

कैसर और जर्मनी के अन्य शासकों के सामने स्थिति स्पष्ट थी। उसने आस्ट्रिया के राजदूत को आश्वासन दिया कि अन्य सभी मामलों के समान इस मामले में भी आस्ट्रिया जर्मनी के पूर्ण समर्थन पर निर्भर रह सकता है। सर्बिया के विरुद्ध कार्रवाई करने में देर नहीं लगनी चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि रूस इसका विरोध करेगा, परन्तु वे इस संभावना के लिए पहले से तैयार थे। अगर आस्ट्रिया और रूस के बीच युद्ध अनिवार्य हो जाता है तो जर्मनी निस्संकोच अपने साथी की ओर से लड़ेगा। रूस अभी युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार नहीं था। यदि आस्ट्रिया वास्तव में इस निष्कर्ष पर पहुंच गया है कि सर्बिया के विरुद्ध कार्रवाई करना आवश्यक है तो उसके लिए अनुकूल अवसर यही है और उसका उपयोग नहीं किया गया तो कैसर को बहुत दुख होगा। कैसर के उत्तर का यही सारांश था। वेथमान-हौलबेग से भी राजदूत को ऐसा ही आश्वासन मिल गया।

पोट्सडाम का निर्णय : 6 जुलाई को कैसर अपने वार्षिक सामुद्रिक भ्रमण पर जानेवाला था। भ्रमण पर निकलने के पहले उसने युद्ध-विराम तथा नौ-सेना के प्रतिनिधियों को बुलाकर राजनीतिक स्थिति से उन्हें अवगत कराया। इस समय यूरोप में यह अफवाह फैल गयी कि 5 जुलाई के दिन पोट्सडाम में जर्मनी के सैनिक और असैनिक नेताओं का एक सम्मेलन हुआ था जिसमें युद्ध की तैयारी करने का निर्णय लिया गया था। लेकिन, यह अफवाह भी उतनी ही झूठ थी जितनी दूसरी अफवाह, जिसको फैलाने के लिए समाचार-पत्रों के संवाददाता कोई कसर नहीं उठा रहे थे।

काउन्ट टिस्जा का विरोध : इसी समय आस्ट्रिया का राजदूत काउंट होयोस जर्मनी के समर्थन का आश्वासन पाकर वियना लौटा। अब वर्शटोल्ड उस भयंकर वज्रपात की तैयारी करने लगा, जिसके कारण सारा यूरोप महाप्रलय में डूब गया। 7 जुलाई के दिन आस्ट्रिया सरकार के मंत्रिमंडल की बैठक हुई। वर्शटोल्ड ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने की अनुमति मांगी। लेकिन, हंगरी का प्रधानमंत्री काउन्ट टिस्जा कोई खतरनाक कदम उठाने के विरोध में था। अतः यह बैठक बिना कोई अंतिम निर्णय के ही समाप्त हो गयी।

अब वर्शटोल्ड काउन्ट टिस्जा (Count Tisja) को अपने पक्ष में करने का प्रयास करने लगा। इस समय बीजनर नाम का एक आस्ट्रियन पदाधिकारी, जिसको सरकार ने हत्या की जाँच पड़ताल के लिए सेराजोवा भेजा था अपनी रिपोर्ट वर्शटोल्ड के पास भेज दी। बीजनर इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि कोई ऐसी बात नहीं पायी गयी जिसके द्वारा यह प्रमाणित किया जा सके कि हत्याकांड में सर्बिया की सरकार का कोई हाथ था, पर इसके साथ-साथ बीजनर ने यह भी बतला दिया था कि षड़यंत्र की जानकारी सर्बिया की सरकार को पहले से ही थी। वर्शटोल्ड ने इन बातों को सर्बिया के अखबारों की कड़ी भाषा को दिखलाकर काउन्ट टिस्जा को अपने पक्ष में कर लिया। 14 जुलाई को जब मंत्रिमंडल की दूसरी बैठक बैठी तो टिस्जा ने सर्बिया के विरुद्ध

युद्ध का समर्थन कर दिया। अब वर्शटोल्ड उस अंतिमेत्थम् की रूपरेखा तैयार करने लगा तो सर्बिया के पास भेजा जानेवाला था। 19 जुलाई को मंत्रिमंडल की एक तीसरी बैठक में यह अंतिमेत्थम् स्वीकृत कर लिया गया। यह निर्णय किया गया कि 23 जुलाई को सर्बिया सरकार के सम्मुख इस अंतिमेत्थम् को प्रस्तुत कर दिया जायगा। उस दिन 48 घंटे की अवधि के साथ यह युद्ध की चुनौती बेलग्रेड में प्रस्तुत कर दी गयी।

आस्ट्रिया की चुनौती : सर्बिया ने इस चुनौती का जवाब दिया और राजदूत गिश्ल ने जिस शीघ्रता के साथ आस्ट्रिया-सर्बिया का कूटनीतिक संबंध विच्छेद कर दिया, इसका विवरण हम पहले ही कर चुके हैं। 24 जुलाई को आस्ट्रिया के अंतिमेत्थम् की एक प्रति सर एडवर्ड-ग्रे को प्राप्त हुई। इस पर दृष्टिपात करके उन्होंने इस बात पर अपना खेद प्रकट किया कि ऐसी नाजुक स्थिति में समय की अवधि रखी गयी। "उन्होंने कभी एक राज्य को दूसरे के पास इस प्रकार की धमकी भरा पत्र" भेजे जाते हुए नहीं देखा था। सर ग्रे इस बात पर स्पष्ट थे कि सर्बिया एक प्रभुसत्ता संपन्न राज्य होने के नाते किसी भी हालत में आस्ट्रिया की शर्तों को स्वीकार नहीं करेगा और आस्ट्रिया की सेनाएँ दो दिनों के भीतर सर्बिया में प्रवेश कर जायेंगी। ज्योंही आस्ट्रिया सर्बिया पर चढ़ाई करेगा रूस कार्यवाही करने के लिए विवश हो जायेगा और उसके बाद स्थिति काबू में नहीं रह जायेगी। फिर फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन की बारी आयगी और उसके बाद न जाने क्या होगा। अतः सर ग्रे मध्यस्थता करके यूरोप को कठिन परिस्थिति से निकालना चाहते थे।

विभिन्न देशों की प्रतिक्रिया : केवल चौबीस घंटे पूर्व जर्मनी को आस्ट्रिया के अंतिमेत्थम् की एक प्रति प्राप्त हुई। जर्मन सरकार बहुत पहले से कोशिश कर रही थी कि किसी तरह इसं अंतिमेत्थम् का सारांश उसको कुछ पहले मिल जाय। लेकिन, आस्ट्रिया की सरकार इस ताक में थी कि उसके अंतिमेत्थम् के रहस्य का किसी को पता नहीं लगे। इसका एक कारण था। राष्ट्रपति पोआंकारे 20 जुलाई को रूस पहुंचनेवाला था और तीन दिनों तक वहां उसके ठहरने की बात थी। अगर आस्ट्रिया का शर्त उसको पहले प्राप्त हो जाती तो निश्चय ही रूस को सर्बिया को बेशर्त मदद करने की राय देता। वर्शटोल्ड इस संभावना से बचना चाहता था। इसलिए आस्ट्रिया जर्मनी से भी अंतिमेत्थम् की बात छिपाकर रखना चाहता था। बर्लिन में अब अंतिमेत्थम् की एक प्रति प्राप्त हुई तो वहाँ के शासकगण घबड़ा उठे। अंतिमेत्थम् देखने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि इसमें यूरोपीय युद्ध की पूरी संभावना है। इंतना होने पर भी जर्मनी के शासकों ने सभी विपत्तियों के बावजूद आस्ट्रिया को मदद देने का वचन दे दिया।

जर्मनी को सबसे अधिक चिंता ब्रिटिश प्रतिक्रिया से थी। उस समय आयरलैंड में गृहयुद्ध चल रहा था और ब्रिटेन की जनता उसी समस्या में व्यस्त थी, पर जब संकट गंभीर हो गया तो ब्रिटेन के शासकों का ध्यान इस तरफ आकृष्ट हुआ। लंदन में नीति-निर्धारकों का विश्वास था कि संकट के समाधान का कुंजी केवल बर्लिन के पास है। आस्ट्रिया किसी की बात मानने को तैयार नहीं था। जर्मन ही एक ऐसा देश था जो उस पर दबाव डाल सकता था। अतः सर एडवर्ड ग्रे ने जर्मन-सरकार को यह चेतावनी दे दी कि अगर वह संसार को सर्वनाश से बचाना चाहती है तो वियना पर जबर्दस्त दबाव डाले। सर ग्रे का विश्वास था कि जर्मन के दबाव के फलस्वरूप अगर वियना ने अपनी नीति में कुछ संशोधन किया तो पीछे चलकर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन करके संकट का कोई समाधान कर लिया जायगा। 1912-13 में लंदन-राजदूत सम्मेलन को आशातीत सफलता मिली थी। उसी आधार पर सर ग्रे का विश्वास था कि सम्मेलन के द्वारा यह संकट टाला जा सकता है।

इसी बीच आस्ट्रिया के अन्तिमेत्थम् का जवाब सर्बिया ने भेज दिया। सर्बिया ने आस्ट्रिया की करीब सभी मांगे स्वीकार कर ली थीं। कैंसर को जब इस जवाब का पता लगा तो उसने संतोष की एक गहरी सांस ली। "इससे बढ़कर आत्मसमर्पण तथा मानहानि और क्या हो सकती है। सर्बिया ने सभी बातें मान ली हैं। अब युद्ध

की कोई आवश्यकता नहीं है।" कैसर का यही विचार था। जब वह अफवाह फैली कि सर्बिया ने बेशर्त आस्ट्रिया की मांगों को मान लिया है तो वियना में कुछ क्षणों के लिए गहरी निराशा की भावना फैल गयी, पर ज्यों ही पता लगा कि सर्बिया का उत्तर पूर्णतया संतोषजनक नहीं है और गिश्ल ने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिया है तो वियना में हर्ष की एक लहर दौड़ पड़ी और रात्रि में अन्तिम पहर तक बड़े-बड़े जनसमूह सड़कों पर जुलूस बनाकर निकलते रहे और देशभक्ति से भरे गीत गाते रहे। आस्ट्रिया का समाचारपत्र विशेषांक निकालकर घृणित सर्ब जाति को तुरन्त कठोर सजा देने की मांग कर रहे थे, लेकिन आस्ट्रिया से बाहर खासकर लंदन में सर्बिया के उत्तर का स्वागत किया गया। सर ग्रे को मध्यस्थता करने में इससे काफी प्रोत्साहन मिला।

युद्ध रोकने का प्रयास

सर ग्रे की मध्यस्थता : 26 जुलाई को सर एडवर्ड ग्रे ने अपनी मध्यस्थता का प्रस्ताव पेरिस, बर्लिन और रोम की सरकारों के पास भेजा। इस प्रस्ताव में इस सरकारों से अनुरोध किया गया था कि वे लंदन में अपने राजदूतों को एक सम्मेलन में भाग लेने का आदेश दें जिससे कोई उपाय निकाला जा सके। इसके अतिरिक्त यह भी सुझाव दिया गया कि चारों देश सम्मिलित रूप से आस्ट्रिया, रूस और सर्बिया पर यह दबाव डालें कि जबतक यह सम्मेलन कोई उपाय नहीं निकाल लेता तकतक वे अपनी सैनिक कार्यवाही को बंद रखें। फ्रांस और इटली ने शीघ्र ही इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, पर बेथमान-हौलवेग ने यह कह कर इस प्रस्ताव को टाल दिया कि जर्मनी तबतक इस मध्यस्थता में भाग नहीं ले सकता जबतक आस्ट्रिया उसके लिए अपनी स्पष्ट इच्छा प्रकट नहीं कर दे। यह यूरोपीय शान्ति के लिए दुर्भाग्य की बात थी कि जर्मन-चांसलर को सर ग्रे के प्रस्ताव में कुछ संदेह हो गया। उनका संदेह यह था कि ब्रिटेन समय बिताने की चाल चल रहा है, जिससे रूस को तैयारी करने का कुछ और मौका मिल जाय। बर्लिन में आस्ट्रिया का पक्ष इतना न्यायपूर्ण माना जा रहा था कि यह कल्पना भी नहीं की जा रही थी कि कोई देश उसका मार्ग रोकने का प्रयत्न करेगा। जर्मनी के शासक दिल से चाहते थे कि आस्ट्रिया सर्बिया के साथ अन्तिम फैसला कर ले। उनकी एक ही इच्छा थी कि युद्ध सीमित रहे और यूरोपव्यापी रूप धारण न कर ले। यह बात तभी संभव थी कि जब ब्रिटेन युद्ध की स्थिति में चुपचाप बैठा रहे। जर्मनी इस बात के लिए प्रयास करने लगा। बेथमान हौलवेग ने सर ग्रे के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इसके बदले में उसने यह सुझाव रखा कि आस्ट्रिया और रूस को सीधे बातचीत करके कोई फैसला कर लेना चाहिए।

फ्रांस का रुख : जब यूरोप की अवस्था इस तरह गिरती जा रही थी तो उस समय फ्रांस की सरकार चुपचाप बैठी हुई थी। वास्तव में, फ्रांस की सरकार शान्ति के लिए प्रयास करने के बदले रूस को उग्र नीति अपनाने के लिए उकसा रही थी। फ्रांसीसी राष्ट्रपति और विदेश मंत्री दोनों अपने देश में इस समय नहीं थे। 29 जुलाई, के दोपहर में पोआंकारे पेरिस पहुँचा। वह प्रतिरोध की भावना का समर्थक और युद्ध को अवश्यम्भावी समझता था। अतः रूस पर दबाव डालने के बदले वह उसको और उकसाने लगा। वास्तव में, पोआंकारे की यह चाल थी कि वह ऐसी कूटनीतिक स्थिति पैदा करा दे जिससे जर्मनी आक्रामक के रूप में प्रकट हो और ब्रिटेन की सहायता पाने में कोई कठिनाई नहीं हो।

इसी बीच रूस और आस्ट्रिया के बीच प्रत्यक्ष रूप से बातचीत प्रारम्भ हो गयी थी। यह बातचीत कभी सफल होने को नहीं थी। रूस और आस्ट्रिया दोनों में कोई अपने स्थान से एक इंच भी डिगने वाला नहीं था। वर्शटोल्ड किसी भी हालत में इस मौके को छोड़ने के पक्ष में नहीं था। वह शीघ्र ही अन्तिम कदम उठा लेना चाहता था जिससे मध्यस्थता की बातें आगे नहीं बढ़ें। 27 जुलाई को युद्ध घोषणा का मसविदा तैयार कर लिया और फ्रांसिस जोसेफ का उस पर हस्ताक्षर भी प्राप्त कर लिया। 28 जुलाई को दोपहर के समय तार द्वारा युद्ध की घोषणा सर्बिया भेज देने का फैसला कर लिया।

कूटनीतिज्ञों की परेशानी : इस समय यूरोप के विभिन्न विदेश-मन्त्रालयों में बेचैनी फैल गयी। कूटनीतिज्ञों का धैर्य जाता रहा। उनको जिन दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा था उनसे वे घबड़ा गये थे। करीव-करीब सभी कूटनीतिज्ञों की यही हालत थी। उन्हें न तो भोजन करने की फुर्सत मिलती थी और न सोने की। इसका प्रभाव उनके शरीर और दिमाग पर काफी बुरा पड़ता था। उनके पास सोचने की शक्ति नहीं रह गयी थी। प्रत्येक विदेश-मंत्रालय में एक घंटे में दर्जनों तार आते रहते थे। तरह-तरह के प्रस्तावों से उनका दिमाग भरा रहता था। कौन-सा जवाब किस प्रश्न के लिए भेजा जा रहा है, इसका भी ख्याल उनको नहीं रहता था। जब देश के नेता और कर्णधार ही अपना संतुलन खो दें तो क्या नहीं हो सकता है। परिस्थिति पर उनका नियन्त्रण नहीं रह गया था और काम के दबाव में सन्तुलन खो देना स्वाभाविक था। जुलाई, के तूफानी दिनों का विवरण प्रस्तुत करने में हम इन बातों को नहीं भूल सकते हैं। अगर कूटनीतिज्ञों के बीच इस तरह की घबराहट और बेचैनी नहीं पैदा हुई रहती तो शायद संभव था कि युद्ध होने से बच जाता।

जर्मनी का प्रयत्न : जर्मनी को आस्ट्रिया के अगले कदम का पता पहले ही लग चुका था। आस्ट्रिया सर्बिया पर शीघ्र ही युद्ध उद्घोषित करनेवाला था और जर्मनी की इच्छा अभी तक पूरी नहीं हो सकी थी। जर्मनी चाहता था कि आस्ट्रिया और सर्बिया में युद्ध फैले नहीं। इसमें यूरोप के अन्य देश सम्मिलित नहीं हों। लेकिन, 27 जुलाई, को यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध सीमित नहीं रह सकता है। रूस अपने अनुयायी सर्बिया की अवश्य सहायता करेगा। वैसी हालत में जर्मनी को अपने साथी देश को सन्धि के अनुसार अवश्य सहायता देनी होगी। जर्मनी ने आस्ट्रिया पर कोई दबाव नहीं डाला था, बल्कि युद्ध के लिए उसको प्रोत्साहित ही किया था। वह इसी भरोसे पर ठहरा था कि जर्मनी किसी तरह युद्ध को सीमित बना कर रखेगा। यह संभावना अब नहीं रही। अगर अपने को विश्व युद्ध से बचाना है, फ्रांस के प्रतिशोध से रक्षा करना है तो अन्तिम घड़ी मे जर्मनी आस्ट्रिया पर दबाव डालकर उसको उग्र नीति का परित्याग करने को बाध्य करे। खासकर सर्विया का उत्तर आ जाने के बाद जर्मनी ने अपने मित्र देश पर अंकुश लगाने का काम आवश्यक समझा। कैसर ने फ्रांसिस जोसेफ को लिखा - "आस्ट्रिया की सभी इच्छाएँ पूरी हो गयी हैं। जो थोड़ी बातें शेष रह गयी हैं, उन्हें बातचीत करके तय किया जा सकता है।" आस्ट्रिया पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। रूस के साथ आस्ट्रिया की जो बातचीत चल रही थी उसको समाप्त कर दिया गया और 28 जुलाई को 11 बजकर 10 मिनट पर दिन में वियना से युद्ध की घोषणा का तार बेलग्रेड भेज दिया गया। साढ़े बारह बजे यह तार सर्बिया की सरकार को मिला। आस्ट्रिया की सेना आगे बढ़ने लगी। उधर सर्बिया पहले से तैयार था। जिस समय निकोला पाशिष आस्ट्रिया के राजदूत गिश्ल को अन्तिमेत्थम का जवाब देने गया था उसी समय सर्बिया की सेना को हथियार उठाने की आज्ञा मिल चुकी थी।

29 जुलाई को बेथमान-हौलवेग ने स्थिति को संभालने के लिए अन्तिम उपाय किया। सर्बिया के साथ आस्ट्रिया का सम्बन्ध विच्छेद हो चुका था और दोनों देश युद्ध की स्थिति में चले आये थे। लेकिन, रूस के साथ बातचीत कर लेने से क्या लाभ था ? जर्मनी ने एक बार फिर युद्ध को सीमित करने का प्रयत्न किया। 29 जुलाई, को जर्मन चांसलर ने अपने राजदूत को इस आशय का आदेश भेजा। "हम आस्ट्रिया से यह आशा नहीं कर सकते कि वह सर्बिया के साथ बातचीत करे; क्योंकि इसके साथ युद्ध छिड़ चुका है। लेकिन, रूस के साथ बातचीत वन्द कर देना एक भयंकर भूल है। हम अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए तैयार हैं। परन्तु एक साथी के नाते यदि आस्ट्रिया हमारी सलाह नहीं मानता तो हमें अपने को विश्वयुद्ध में झोंक देने से इन्कार कर देना चाहिए। आप को यह वात वर्शटोल्ड को पूरी गम्भीरता तथा जोरदार शब्दों में कह दें।" यह एक बहुत अफसोस की बात है कि समय निकल जाने के बाद जर्मनी ने आस्ट्रिया के साथ ऐसा कड़ा रूख अपनाया। अगर इस तरह का रुख प्रारम्भ में ही अपनाया गया होता तो शायद स्थिति काबू में आ सकती थी। लेकिन, जर्मनी को आस्ट्रिया को 'ब्लैंक चेक' देने की आदत हो गयी थी; इसलिए आस्ट्रिया पर इस कड़ी चेतावनी

का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। एक ही दिन में चांसलर ने तीन तार वियना भेजे और सब में रूस के साथ बातचीत करने का सुझाव दिया गया था। बाध्य होकर आस्ट्रिया ने पुनः बातचीत प्रारम्भ कर दी।

ब्रिटेन का प्रयास : इसी समय शान्ति-रक्षा के लिए ब्रिटेन ने एक अन्तिम प्रयत्न किया। जब सर एडवर्ड ग्रे को यह सूचना मिली की जर्मनी की अभ्यर्थनाओं के फ़लस्वरूप रूस और आस्ट्रिया के बीच बातचीत पुनः प्रारम्भ हो गयी है तो उसने संतोष प्रकट किया। परन्तु सर ग्रे को इस बात की आशंका बनी रही कि जबतक आस्ट्रिया के द्वारा अपनी सैनिक कार्रवाई को नहीं रोक दिया जाता तबतक रूस से यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वह अपनी सैनिक तैयारी को रोक दे। किसी को ऐसी उम्मीद नहीं थी कि जब आस्ट्रिया अपने शत्रु को पैरों तले रौंदता हुआ कुचलता जा रहा हो तब रूस चुपचाप शान्त बैठा रहेगा। बातचीत की सफलता की संभावना इसी शर्त पर थी कि सर्बिया के खिलाफ की जानेवाली कार्यवाही को बन्द कर दिया जाय। आस्ट्रिया इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं था। शान्ति के सभी प्रयास विफल रहे। आस्ट्रिया इस समय शक्ति के मद में चूर हो रहा था। वह किसी की बात सुनने को तैयार नहीं था।

रूस में लामबंदी : जब यह बात स्पष्ट हो गया कि आस्ट्रिया किसी तरह मानने को तैयार नहीं है और सर्बिया के साथ उसका युद्ध अवश्यंभावी है तो रूस में लामबंदी (mobilization) की कार्रवाई प्रारम्भ हो गयी। 29 जुलाई को रूस ने अपनी सेना को हथियार उठाने की आज्ञा दे दी। दूसरे दिन जार ने व्यापक लामबंदी की आज्ञा दे दी। व्यापक लामबंदी का मतलब काफी भयंकर होता है। लामबंदी की आज्ञा देना युद्ध की घोषणा के समान होता है। आधुनिक युद्ध में समय और गति का बहुत महत्व होता है। जिस देश ने पहले लामबंदी कर दी और शत्रु पर हमला कर दिया; उसकी स्थिति सामरिक दृष्टिकोण से काफी अच्छी हो सकती है। थोड़ी देर करने से सारी योजनाएं मिट्टी में मिल जा सकती हैं। अतः जब एक देश व्यापक लामबंदी कर देता है तो उसका शत्रु संशक्ति हो जाता है और अपनी रक्षा के लिए सैनिक कार्यवाही शुरू कर देता है। इसका अर्थ व्यापक संघर्ष का प्रारम्भ है।

जर्मनी की लामबंदी : ऐसी हालत में जर्मनी चुपचाप नहीं बैठ सकता था। जब रूस ने व्यापक लामबन्दी की आज्ञा दे दी तो जर्मन-राजदूत को ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद जार अपनी कार्यवाही की गंभीरता को अच्छी तरह नहीं समझ रहा है। 25 जुलाई को जर्मनी ने यह चेतावनी दे दी थी कि अगर रूस ने लामबंदी की आज्ञा दे दी तो जर्मन शीघ्र ही अपनी कार्यवाही शुरू कर देगा। ऐसी हालत में व्यापक लामबंदी की आज्ञा देकर रूस संसार के लिए एक बहुत बड़ा संकट मोल ले रहा था। लेकिन, जब एक बार लामबंदी हो गयी तो उसको रोके रखना आसान नहीं था। तलवार जब म्यान से निकल गयी तो वार करना आवश्यक था। रूस की व्यापक लामबंदी के बाद जर्मनी को कुछ करना था। 1 अगस्त को जर्मनी ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

फ्रांस का युद्ध में प्रवेश : 1894 की सन्धि के अन्तर्गत फ्रांस रूस पर जर्मन आक्रमण की स्थिति में अपने मित्र को सैनिक सहायता देने के लिए वचनबद्ध था। लेकिन, 1 अगस्त तक फ्रांस ने इस संबंध में कोई निर्णय नहीं लिया था। फ्रांस नहीं चाहता था कि वह दुनिया के सामने आक्रमणकारी के रूप में उपस्थित हो। **पोआन्कारे** ने कहा है - "अगर जर्मनी हमलोग पर चढ़ाई करता है तो फ्रांस हिम्मत के साथ उसका विरोध करेगा।" 31 अगस्त को जर्मनी राजदूत ने फ्रांसीसी सरकार से यह प्रश्न पूछा की रूस-जर्मन-युद्ध की स्थिति में फ्रांस क्या करने की सोच रहा है।" अपने देश के हित में जो अच्छा होग फ्रांस वही करेगा।" फ्रांसीसी विदेश मन्त्री का यही जवाब था। इस जवाब पर बर्लिन के सैनिक अफसर बड़े पेशोपेश में पड़ गये। उनकी सभी योजानाएं बेकार पड़ रही थीं। जर्मनी चाहता था कि उसको दो सीमाओं पर युद्ध करना है। अतः वह शीघ्र ही फ्रांस की स्थिति जानना चाहता था। देर करने से सारा काम चौपट हो सकता था। जल्दीबाजी करने से संसार के द्वारा आक्रमणकारी कहलाने का भय था। अंत में जर्मनी के शासकों ने शीघ्रता करने का ही निर्णय लिया और 3 अगस्त को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया गया।

बेल्जियम की तटस्थता का प्रश्न : जब जर्मनी ने फ्रांस पर युद्ध की घोषणा कर दी तो उसके सामने अब यही प्रश्न था कि वह जल्द-से-जल्द फ्रांस पर आधिपत्य कर ले और फिर अपनी संपूर्ण सेना को रूस के साथ भिड़ा दे। प्रश्न केवल समय का था कि कौन कितना जल्द अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जर्मनी के लिए कम समय में पूर्ण विजय पाने का एक ही उपाय था—वह था बेल्जियम होकर फ्रांस पर हमला करना। लेकिन बेल्जियम एक तटस्थ देश था और तटस्थता के नियम के अनुसार वह किसी युद्धरत (belligrent) देश को किसी प्रकार की सहायता या सुविधा नहीं दे सकता था। जर्मनी के जीवन-मरण का प्रश्न था। इस दशा में वह कहां तक अन्तर्राष्ट्रीय विधि की पवित्रता की परवाह कर सकता था। 2 अगस्त को संध्या समय उसने बेल्जियम के सामने युद्ध की चुनौती के साथ यह मांग रख दी कि वह जर्मनी को अपने प्रदेश से सेनाएं ले जाने की अनुमति दे दे। दूसरे दिन सुबह में जर्मनी की सेना बेल्जियम की तरफ चल चुकी थी।

युद्ध में ब्रिटेन का प्रवेश : बेल्जियम के प्रश्न ने ब्रिटेन को भी युद्ध में सम्मिलित कर दिया। बेल्जियम की तटस्थता को भंग करना तथा उस पर आक्रमण करना ब्रिटेन की सुरक्षा के लिए एक बहुत खतरे की बात थी। 3 अगस्त को सर एडवर्ड ग्रे ने ब्रिटिश संसद में एक भाषण दिया। इसमें उसने स्वीकार कर लिया कि यूरोप में शांति का निर्वाह करना असंभव हो गया है। फ्रांस पर आक्रमण हो रहा था। ऐसी हालत में, सर ग्रे ने कहा, ब्रिटिश-संसद को निर्णय करना है कि ब्रिटेन को क्या करना चाहिए। इससे भी अधिक गंभीर प्रश्न बेल्जियम की तटस्थता का था। सर एडवर्ड ग्रे ने कहा - "यदि यह सच है कि जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता को भंग कर दिया तो यह बड़ी गम्भीर घटना है। यदि फ्रांस जर्मनी से हार जाता है, यदि बेल्जियम को उसी शक्तिशाली प्रभाव के सामने झुक जाना पड़ता है, इसके बाद हालैंड और डेनमार्क की यही दुर्गति है तो सोचिये कि ब्रिटेन के हितों का क्या होगा। यदि हम इस प्रकार के संकट में...पीछे हट जायें....तो संसार में हमारा कुछ भी महत्व नहीं रह जायगा। हम अपनी सेना को युद्ध के लिए तैयार कर रहे हैं। हम किसी की सहायता करने के लिए वचनबद्ध नहीं हैं। लेकिन, अगर हमें युद्ध में सम्मिलित होने के लिए विवश किया जाता है तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि समस्त देश हमारा साथ देगा।" 4 अगस्त को लंदन में यह समाचार पहुँचा कि जर्मन सेनाओं ने बेल्जियम की सीमाओं को पार करके आक्रमण का काम शुरू कर दिया है। शीघ्र ही ब्रिटिश-मंत्रिमंडल की बैठक हुई, युद्ध-घोषणा का मसविदा तैयार किया गया और बर्लिन के लिए उसे रवाना कर दिया गया। अब ब्रिटेन भी जी-जान से यूरोपीय युद्ध में सम्मिलित था।

जब ब्रिटिश राजदूत जर्मनी के चांसलर को ब्रिटेन का अंतिमेत्थम् देने आया तो उस समय चांसलर "बहुत व्यग्र" था। चांसलर के साथ अपनी मुलाकात का वर्णन ब्रिटिश-राजदूत इन शब्दों में करता है-"मैंने उसको बहुत ही उत्तेजित अवस्था में पाया।" उसने कहना शुरू किया-"केवल एक शब्द 'तटस्थता' के लिए, केवल एक 'कागज के टुकड़े' (scrap of paper) के लिए, ब्रिटेन अपने उस स्वजातीय राष्ट्र के विरुद्ध में शामिल हो रहा है जिसकी सबसे बड़ी इच्छा यह थी कि उसके साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाये रखा जाय।" इसके पूर्व बेल्जियम की चर्चा करते हुए वह जर्मन संसद में निम्नलिखित बातें बोल चुका था - "सज्जनों ! यह अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के प्रतिकूल है, पर हम संकट की स्थिति में हैं और ऐसे अवसरों पर नियमों की दुहाई देना व्यर्थ है। आवश्यकता कानून की परवाह नहीं करती है।"

इस तरह एक लंबी अवधि की प्रतीक्षा के बाद 4 अगस्त, 1914 के दिन यूरोप में विश्वयुद्ध छिड़ गया। उस दिन संध्या के समय सर एडवर्ड ग्रे दुखी अवस्था में विदेश-मंत्रालय की एक खिड़की से झांक रहे थे। एक लम्बी चीख के बाद उनके मुख से निम्नलिखित शब्द निकल पड़े। यूरोप से प्रकाश लुप्त हो रहा है। शायद हम लोगों के जीवनकाल में फिर नहीं लौट सकता।

यूरोपीय युद्ध का विश्वयुद्ध में परिणित होना : ब्रिटेन के युद्ध में सम्मिलित होने के बाद धीरे-धीरे युद्ध का क्षेत्र बढ़ने लगा। 7 अगस्त को सर्बिया का पक्ष लेकर मान्टिनीग्रो युद्ध में सम्मिलित हो गया। इसके बाद 26 अगस्त को जर्मनी के विरुद्ध जापान युद्ध में शामिल हुआ। 29 अक्टूबर को जर्मनी के साथ एक गुप्त संधि करके तुर्की ने मित्रराष्ट्रों के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी।

केन्द्रीय सत्ताओं के मित्र होते हुए भी युद्ध के आरम्भ में इटली और रूमानिया तटस्थ रहे क्योंकि उनके अनुसार जर्मनी और आस्ट्रिया आत्मरक्षा के लिए नहीं लड़ रहे थे। अप्रैल, 1915 में मित्रराष्ट्रों ने इटली के साथ लंदन में एक गुप्त सन्धि करके और उसे प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। 23 मई को आस्ट्रिया के खिलाफ इटली ने युद्ध की घोषणा कर दी। 14 अक्टूबर को बुल्गेरिया ने जर्मनी का पक्ष लेकर सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 1916 तक रूमानिया युद्ध से अलग रहा। लेकिन अगस्त 1916 में उसने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और महायुद्ध में सम्मिलित हो गया। इसके पूर्व, मार्च 1916 में पुर्तगाल जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर चुका था। यद्यपि यूनान 1917 में विधिवत युद्ध में शामिल हुआ लेकिन शुरू से ही उसकी सहानुभूति मित्रराष्ट्रों के पक्ष में थी और वे युद्ध-संचालन के लिए यूनानी भूमि का प्रयोग 1915 से ही करते आ रहे थे। इस प्रकार नार्वे, स्वेडन, स्वीट्जरलैंड तथा स्पेन को छोड़कर यूरोप के सभी देश युद्ध में शामिल हो गये थे।

जिस समय युद्ध में ब्रिटेन का प्रवेश हुआ उसी समय ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देश युद्ध में शामिल हो गये। संयुक्त राज्य अमेरिका ने युद्ध में तटस्थ रहने का अपना इरादा प्रकट किया। लेकिन आगे चलकर जब जर्मनी ने अनियंत्रित पनडुब्बी युद्ध शुरू किया और अमरीकी जहाजों पर आक्रमण होने लगा तो अप्रैल 1917 में उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके मित्रराष्ट्रों की ओर से लड़ना आरंभ कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका के युद्ध में शामिल होने से मध्य और लैटिन अमेरिका के अनेक देश भी मित्रराज्यों की ओर से युद्ध में शामिल हो गये। स्याम, लिबेरिया और चीन ने भी केन्द्रीय शक्तियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार, इन राज्यों के युद्ध में शामिल हो जाने से यूरोपीय युद्ध वस्तुतः विश्व-युद्ध बन गया जो नवंबर, 1918 तक चलता रहा।

अध्याय 18

युद्ध का दायित्व

(Responsiblity for the Great war)

युद्ध के दायित्व निर्धारण की कठिनाइयां : 1914 अगस्त में यूरोपीय युद्ध के छिड़ते ही लगभग सभी युद्धरत देशों में युद्ध के दायित्वों के संबंध में घोर विवाद शुरू हो गया। कोई पक्ष युद्ध की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेना नहीं चाहता था। सभी कहते थे कि उन्होंने शांति बनाये रखने के लिए अधिकतम प्रयास किये हैं, लेकिन विरोधी राष्ट्रों की नीति के कारण युद्ध छिड़ गया है। अपने पक्ष को युद्धापराध से मुक्त रखने तथा शत्रु देशों पर इसकी सारी जिम्मेवारी लादने के उद्देश्य से विविध युद्धरत देशों की सरकारों ने गुप्त कूटनीतिक प्रलेखों को इस तरह साज-संवार कर प्रकाशित करना शुरू किया ताकि विश्व जनमत के समझ उनका अपना दोष ढंक जाय।

सबसे पहले जर्मनी का "श्वेत पत्र" (White Book) प्रकाशित हुआ। जर्मनी संसद के सम्मुख इसको पेश करते हुए जर्मनी के चांसलर ने कहा कि जर्मनी रूसी आक्रमण के विरुद्ध रक्षात्मक कार्रवाई कर रहा है। इसमें सत्ताईस प्रलेख (documents) थे। त्रिपक्षीय समझौता (Triple Entente) के देशों में इसको झूठ का पुलिंदा कहा गया।

जर्मनी के "श्वेत पत्र" के जवाब में ब्रिटेन ने 6 अगस्त को ब्लू बुक (Blue Book) प्रस्तुत किया। इसमें 159 प्रलेख थे। इनको पढ़कर यही धारणा बन सकती थी कि सर एडवर्ड ग्रे ने ईमानदारी के साथ शांति को भंग नहीं होने देने के लिए यत्न किया था। लेकिन ज़र्मनी द्वारा सभी प्रस्ताव ठुकरा दिये गये और सर्बिया के विरुद्ध आस्ट्रिया ने तुरंत कार्रवाई करके यूरोप कों युद्ध में ढकेल दिया। इसका विश्व के जनमत पर बड़ा प्रभाव पड़ा और माना ज़ाने लगा कि जर्मनी और आस्ट्रिया ने मिलकर युद्ध के लिए साजिशें की थीं और उसकी सारी जिम्मेवारी उन्हीं पर है।

7 अगस्त को रूस का ऑरेंज बुक (Orange Book) प्रकाशित हुआ। इसमें 79 प्रलेख थे। इसका उद्देश्य रूस के शांति प्रयत्नों को प्रचरित करना था। इसमें प्रलेखों को बड़ी चालाकी से संग्रहीत किया गया था ताकि लोग मान लें कि युद्ध भड़कने की सारी जिम्मेवारी आस्ट्रिया और जर्मनी पर थी।

8 नवंबर, 1914 को सर्बिया की सरकार ने अपनी ब्लू बुक (Blue Book) का प्रकाशन किया। इसका उद्देश्य आस्ट्रिया को युद्ध के लिए एकमात्र दोषी बतलाना था। इसमें सिद्ध करने की कोशिश की गयी थी कि सेराजोवा हत्याकांड में सर्बिया का किंचित् भी हाथ नहीं था।

फ्रांस की सरकार ने 1 दिसंबर, 1914 को अपनी सफाई में पीत पुस्तिका (Yellow Book) प्रकाशित की। इसमें फ्रांस की शांतिप्रियता की तुलना में जर्मनी और आस्ट्रिया की दुरंगी चाल और युद्ध लोलुपता पर बल दिया गया था। इसमें जर्मनी के आक्रामक रवैया तथा सामरिक तैयारियों का विस्तृत विवरण दिया गया था।

सबसे अंत में (3 फरवरी, 1915) आस्ट्रिया ने अपनी लाल पुस्तिका (Red Book) का प्रकाशन किया। इसमें 69 प्रलेख संकलित थे। इसमें आस्ट्रिया को बिल्कुल निर्दोष बतलाने का यत्न किया गया था। लेकिन मित्र राष्ट्रीय देशों में इस पर जरा भी विश्वास नहीं किया गया। जर्मनी के श्वेत पत्र की तरह ही इसे अविश्वसनीय करार दिया गया।

इसी बीच भयंकर रूप से यूरोपीय युद्ध चलता रहा और अंततः इसने विश्वयुद्ध का रूप धारण कर लिया। ऐसे वातावरण में विभिन्न युद्धरत देशों में प्रचार-प्रसारण का काम होता रहा जिसका उद्देश्य शत्रु के विरुद्ध घृणा पैदा करना था। अतः प्रत्येक युद्धरत देश में नेताओं का प्रयास रहा कि अपने को निर्दोष सिद्ध किया जाय और शत्रु देश के सर युद्ध भड़काने की सारी जिम्मेवारी मढ़ी जाय।

केंद्रीय राज्यों की पराजय के साथ युद्ध का अंल हुआ और पेरिस में शांति-सम्मेलन की व्यवस्था की गयी। सम्मेलन में युद्ध भड़काने के लिए दायित्व का निर्धारण करने के लिए लैंसिंग की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया गया। इस आयोग की रिपोर्ट में केंद्रीय शक्तियों और उनके मित्र राज्यों पर युद्ध भड़काने का सारा दायित्व रखा गया। इसी रिपोर्ट के आधार पर वर्साय की संधि की धारा 231 में युद्ध का सारा दायित्व केंद्रीय शक्तियों पर मढ़ दिया गया। इस धारां में कहा गया था : "मित्रराष्ट्र तथा उनकी सहयोगी सरकारें" (Allied and Associated Powers) उद्घोषित करती हैं तथा जर्मनी स्वीकार करता है कि अपने सहयोगी राज्यों सहित जर्मनी की आक्रामक कार्रवाइयों के फलस्वरूप उनपर लादे गये युद्ध से मित्रराष्ट्रों, उनकी सहयोगी सरकारों तथा उनके नागरिकों को जो नुकसान तथा क्षतियां उठानी पड़ी हैं उनकी पूरी जिम्मेवारी जर्मनी और उनके मित्रराज्यों पर ही है।"[1]

धारणा में परिवर्तन : वर्साव-संधि के इस अन्यायपूर्ण एवं एकपक्षीय निर्णय के बाद भी इस प्रश्न पर वाद-विवाद होता रहा। क्या एकमात्र जर्मनी ही युद्ध के लिए जिम्मेवार था ? क्या उसी ने अपने सहयोगियों के साथ युद्ध लादा था ? क्या जर्मनी के गुट के विपक्षी राष्ट्र एकदम दोषमुक्त थे या उनका भी दायित्व था ? इसी वाद-विवाद के संदर्भ में जर्मनी में काट्स्की प्रलेखों (Kaustsky Documents) का प्रकाशन (दिसंबर 1919) हुआ। इसमें 1123 प्रलेख संकलित थे और इसको बड़ी ईमानदारी और सावधानी से प्रस्तुत किया गया था। इसको पढ़ने से यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने के पूर्व के संकटपूर्ण दिनों में जर्मनी ने युद्ध नहीं होने देने के लिए वास्तविक प्रयत्न किये थे। इसने इस धारणा को मिथ्या सिद्ध कर दिया कि जर्मनी ने जान-बूझकर युद्ध भड़काने की साजिश की थी।

इसी तरह 1919 में आस्ट्रिया की एक दूसरी लाल पुस्तिका (Red Book) प्रकाशित हुई। इसमें 352 प्रलेख संकलित थे जिसने यह सिद्ध कर दिया कि आस्ट्रिया की असंयमित कूटनीति ने जर्मनी को एक ऐसे युद्ध में घसीट लिया जिसे स्वयं आस्ट्रिया नहीं चाहता था। इसके पूर्व रूस की क्रांतिकारी बोल्शेविक सरकार ने गुप्त संधियों और उनसे संबंधित अनेकानेक प्रलेखों को छपवाकर जारशाही की साम्राज्यवादी तथा जंगखोरी नीतियों का पूरा-पूरा पर्दाफाश कर दिया 1926 में ब्रिटिश सरकार ने अपने सभी गुप्त प्रलेखों को छपवा दिया।

इन नवीन तथ्यों के प्रकाश में आने से दुनिया के निष्पक्ष इतिहासकारों ने इस विवादास्पद विषय पर शोध कार्य शुरू किये। एस.बी. फे (S.B. Fay) की प्रसिद्ध पुस्तक **'द ऑरिजिन्स ऑफ दी वर्ल्ड वार'** (The Origins of the World War) इसी शोध का परिणाम था। फे ने बड़े ही निष्पक्ष भाव से तथ्यों का विवेचन करके दायित्व का निर्धारण किया है। फे की पुस्तक के प्रकाशन के बाद और भी कई सरकारी प्रलेखों, संस्मरण तथा प्रमुख व्यक्तियों के निजी कागजात प्रकाशित हुए। इन सब को देखकर वर्नादोत ई० स्मिट की **"द ऑरिजिन्स ऑफ दी फर्स्ट वर्ल्ड वार"** तथा ए० जे० पी० टेलकर की **"द स्ट्रग्ल फौर मास्टरी इन यूरोप"** छपी। इन सभी पुस्तकों का उद्देश्य युद्ध के दायित्व का निष्पक्ष निर्धारण था। नवीन प्रलेखात्मक साक्ष्यों तथा महान ऐतिहासिक ग्रंथों के प्रकाश में आने से अब कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति 1919 के विजेताओं के इस फतवा को स्वीकार नहीं

करेगा कि जर्मनी तथा उसके सहयोगी राज्य ही युद्ध के विस्फोट के लिए एकमात्र जिम्मेवार थे। इन साहित्यों के अध्ययन के उपरांत इसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि युद्ध के लिए हर बड़े या छोटे देश की कुछ-न-कुछ जिम्मेवारी थी। यूरोप में युद्ध छिड़ गया। इसके कई कारण हो सकते हैं। लेकिन सबसे प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक देश में राजनीतिक और सैनिक नेताओं ने कुछ ऐसे काम किये जिनके फलस्वरूप लामबंदिया (mobilisation) और युद्ध-घोषणाएं हुईं अथवा वे कुछ ऐसे काम नहीं कर सके जिनसे ये रुक सकते थे। इस दृष्टि से सभी यूरोपीय देश न्यूनाधिक रूप में उत्तरदायी थे।

दायित्व-निर्धारण के भेद : युद्ध-दायित्व का निर्धारण करने में हमारे लिए आवश्यक है कि हम पहले युद्ध के मौलिक या अंतर्निहित कारण (Fundamental cause) और तात्कालिक कारण का भेद समझ लें। इसका कारण यह है कि मौलिक कारण की जिम्मेवारी और तात्कालिक कारण की जिम्मेवारी हमेशा एक नहीं होती। यह संभव है कि युद्ध भड़कानेवाली परिस्थिति को पैदा करने में कोई एक देश ज्यादा दोषी हो, युद्ध भड़काने में तत्काल उसका हाथ बहुत कम रहा हो। इसका प्रतिकूल भी सत्य हो सकता है। युद्ध के मौलिक कारणों के विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलेगा कि यह कुछ देशों या लोगों का काम नहीं था। इसके लिए गुप्त राजनय की प्रथा, साम्राज्यवाद, उग्र राष्ट्रवाद, शस्त्रीकरण की होड़ आदि जिम्मेवार थे। विविध देशों के समाचारपत्रों की भूमिकाएं भी कम उत्तरदायी नहीं थीं। इन कारणों का विश्लेषण हम इस पुस्तक में कर चुके हैं। जहां तक तात्कालिक कारणों को लेकर युद्ध के विस्फोट का प्रश्न है, उसके संदर्भ में हम विविध देशों पर दायित्व का निर्धारण इस प्रकार कर सकते हैं—

सर्बिया का दायित्व : युद्ध के विस्फोट के लिए सर्बिया की सरकार का दायित्व कम नहीं था। यह सत्य है कि यह राष्ट्रवाद का युग था और सर्बिया इसी भावना से प्रेरित होकर सभी बिखरे हुए सर्ब लोगों को एक झंड़े के नीचे लाना चाहता था। आस्ट्रिया साम्राज्य के अंदर बहुत-सारे सर्ब लोग रहते थे और उन्हें मुक्ति दिलाना सर्बिया अपना कर्तव्य समझता था। इस कार्य में उसे रूस से पूरा प्रोत्साहन भी मिलता था। सेराजेवो का हत्याकांड इसी सर्ब राष्ट्रवाद का परिणाम था। इसमें उग्र सर्ब राष्ट्रवादियों का एकमात्र हाथ था। फिर भी सर्बिया सरकार ने आर्कड्यूक की हत्या के बाद उन सर्ब षड़यंत्रकारियों को, जिनका हत्या षड़यंत्र में पूरा हाथ था, गिरफ्तार करने तथा न्यायालय के सुपुर्द करने की कोई चेष्टा नहीं की। उनमें से एक को फरार हो जाने में उसने सहायता भी दी। इसके पूर्व सर्बिया की सरकार के कई प्रमुख पदाधिकारियों को षड़यंत्र की पूरी जानकारी थी। फिर भी इन लोगों ने कोई यत्न नहीं किया कि षड़यंत्रकारी बोस्निया नहीं पहुंच सकें। आस्ट्रिया को चेतावनी या कोई सूचना भी नहीं दी गयी। यदि कोई चेतावनी समय पर मिल जाती तो संभव था कि आर्क ड्यूक की हत्या नहीं होती। हत्या के बाद जब आस्ट्रिया ने मांग की कि उसके अधिकारियों का भी अभियुक्तों की तलाश में सहयोग लिया जाय तो सर्बिया की सरकार इसके लिए राजी नहीं हुई। इस तरह का रवैया अपनाकर सर्बिया ने युद्ध-विस्फोट के लिए तात्कालिक कारण प्रस्तुत कर दिया और इस आधार पर युद्ध के लिए उसका दायित्व हो जाता है।

आस्ट्रिया का दायित्व : आस्ट्रिया के दायित्व पर विचार करते समय सर्बिया के विरुद्ध उसकी आक्रामक नीति, सर्बिया की आस्ट्रिया-विरोधी नीति और उससे आस्ट्रिया की नाराजगी तथा आस्ट्रिया की आंतरिक दुर्बलता का विशेष महत्व है। वृहत्तर सर्बिया की योजना एवं अखिल स्लाव आंदोलन से उसका अस्तित्व खतरा में पड़ गया था। यह आशा नहीं की जा सकती है कि कोई भी राष्ट्र अपने पड़ोसियों के हाथों अपना विघटन की प्रतीक्षा हाथ-पर-हाथ धरे करता रहे। सर्ब उग्रवादियों के द्वारा जिस तरह आस्ट्रिया के भावी सम्राट की हत्या की गयी थी उसको देखते हुए सर्बिया को दंड देना आवश्यक था। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो आस्ट्रिया की प्रतिष्ठा पूर्णतया समाप्त हो जाती। अतः, वर्शटोल्ड ने सर्बिया को कुचल देने का

निश्चय किया तथा ऐसा अल्टीमेटम तैयार किया जिसको सर्बिया द्वारा अस्वीकृत होना ही था। कोई मध्यस्थ बीच में नहीं आ सके, इस संभावना को टालने के लिए उसने शीघ्र ही युद्ध की घोषणा कर दी। उसको आशा थी कि जर्मनी रूस को रोके रहेगा और युद्ध स्थानीय होगा। लेकिन उसकी यह योजना सफल नहीं हो सकी। उसने सर्बिया पर हमला करके रूस को उत्तेजित किया और इस अंश में आस्ट्रिया युद्ध के विस्फोट के लिए दोषी हुआ।

रूस का दायित्व : आस्ट्रिया और सर्बिया के संघर्ष के लिए कुछ अंशों में रूस प्रत्यक्षतः जिम्मेवार था। वह आस्ट्रिया के विरुद्ध सर्बिया को हमेशा प्रोत्साहित करता रहता था। सर्बिया भी आस्ट्रिया के साथ युद्ध होने पर रूस के समर्थन की आशा करता था। महाशक्तियों में रूस पहला देश था जिसने अपनी सेना की लामबंदी की थी। एक तरफ तो वह राजनायिक वार्ता चला रहा था और दूसरी तरफ गुप्त रूप से सैनिक तैयारियां भी कर रहा था। यह उसकी सबसे बड़ी जिम्मेवारी थी। इससे जर्मनी और आस्ट्रिया दोनों भयभीत हो गये। जिस समय जर्मनी आस्ट्रिया पर दबाव डालकर समस्या के शांतिपूर्ण समाधान के लिए यत्न कर रहा था, ठीक उसी समय रूस ने आभ लामबंदी की घोषणा कर दी। रूस की यह घोषणा जर्मनी की आम लामबंदी तथा युद्ध घोषणा का कारण बन गयी। रूस के अधिकारी यह भलीभांति जानते थे कि यदि रूस अपनी सेना की लामबंदी कर देता है तो जर्मनी को केवल रूस की सामरिक योजनाओं पर ही नहीं वरन् फ्रांस की योजनाओं पर पर ध्यान देना होगा। इस प्रकार रूस ने जल्दीबाजी में कदम उठाकर समस्या के कूटनीतिक क्षेत्र से सैनिक क्षेत्र में ले जाने का अवसर प्रदान किया। यदि रूस इस तरह की कारवाई नहीं करता तो शायद बिना युद्ध के ही समस्या का समाधान हो जाता।

जर्मनी का दायित्व : यह नहीं कहा जा सकता है कि जर्मनी युद्ध के लिए आकांक्षी था। वस्तुतः जुलाई के तूफानी दिनों में युद्ध रोकने के लिए उसने ईमानदारी के साथ प्रयत्न किया था। यद्यपि यह प्रयत्न काफी विलंब से हुआ था। आस्ट्रिया उसका एकमात्र मित्र राज्य था जिस पर वह पूरा भरोसा कर सकता था। फलतः वह आस्ट्रिया को छोड़ नहीं सकता था। यदि वह ऐसा करता तो उसके लिए बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती। एक ओर रूस और दूसरी ओर आस्ट्रिया से वह घिरा हुआ था। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि त्रिपक्षीय समझौता के देश उस पर बिल्कुल भरोसा नहीं करते थे। रूस, फ्रांस और ब्रिटेन में यह आम धारणा थी कि आस्ट्रिया सब कुछ जर्मनी से पूछकर करता था और उसकी सभी सलाहों को मान लेता था। लेकिन बात ऐसी नहीं थी। जब बेथमान हौलवेग समझ गया कि रूस सर्बिया का पक्ष लेकर कूदने को तैयार है, ब्रिटेन तटस्थ नहीं रह सकता और यूरोपीय युद्ध छिड़ने की संभावना है तब उसने आस्ट्रिया को रोकने की चेष्टा की। किंतु तबतक बहुत देर हो चुकी थी।

इस स्थिति में जर्मनी अपनी भौगोलिक स्थिति को नजरंदाज नहीं कर सकता था। उसके लिए यह आवश्यक था कि युद्ध छिड़ने पर जल्दी-जल्दी कार्रवाई करे। पहले फ्रांस की सेना को पूरी तरह पराजित कर दे और तब रूस की खबर ले। इसके लिए आवश्यक था कि वह बेल्जियम के रास्ते अपनी सेना फ्रांस भेज दे। रूस की लामबंदी के बाद चुपचाप बैठे रहना खतरा से खाली नहीं था। सामान्तयः सभी देशों के सैनिक अधिकारी आम लामबंदी का अर्थ युद्ध की घोषणा समझते थे। इस स्थिति में रूसी लामबंदी की खबर मिलते ही जर्मनी ने रूस और फ्रांस को अल्टीमेटम दिया। फ्रांस से अपना रवैया स्पष्ट करने की मांग की गयी और रूस को चेतावनी दी गयी की यदि वह अपनी सेना को लामबंदी को रद्द नहीं करता तो जर्मनी भी आम लामबंदी का आदेश देने पर विवश हो जायगा। जब दोनों के उत्तर संतोषप्रद नहीं आये तो जर्मनी ने युद्ध की घोषणा की। इस प्रकार जर्मनी आस्ट्रिया के साथ अपनी मित्रता और अपनी मूर्खता का शिकार बना।

फ्रांस का दायित्व : फ्रांस का दायित्व इस कारण बढ़ जाता है कि उसने रूस को पूरा समर्थन दिया और किसी समय संयम बरतने की सलाह न दी। अपनी रूस-यात्रा के दरम्यान पोआन्कारे ने जार को आश्वासन दिया कि सर्बिया को कुचल देने में आस्ट्रिया को रोकने में एक मित्र राज्य के रूप में फ्रांस हर हालत में उसका समर्थन करेगा। इससे रूस को कड़ा रुख अपनाने में प्रोत्साहन मिला। उसने रूस को सैनिक कार्रवाई शुरू करने से रोका नहीं, यद्यपि वह भली-भांति जानता था कि ऐसा करने पर जर्मनी चुपचाप नहीं बैठेगा।

ब्रिटेन का दायित्व : सर एडवर्ड ग्रे ने शांति बनाये रखने के लिए अनेक कार्य किये किंतु वे सब विफल रहे। इसके लिए अंशतः जर्मनी का रवैया जिम्मेवार था। फिर भी, ब्रिटेन को दोषमुक्त नहीं किया जा सकता है। सर एडवर्ड ग्रे को निम्न दो में से एक काम करना आवश्यक था। संकट के प्रारंभिक दिनों में उसे जर्मनी को चेतावनी दे देनी चाहिए थी कि यूरोपीय युद्ध छिड़ने पर ब्रिटेन अपने मित्र राज्यों (फ्रांस और रूस) का साथ देगा। ऐसा होने पर जर्मनी आस्ट्रिया पर पूरे जोर से दबाव डालता तथा रूस और आस्ट्रिया की वार्ता सफल होती; अथवा फ्रांस और रूस को स्पष्ट चेतावनी दे दी होती कि यदि वे युद्ध में उलझते हैं तो ब्रिटेन तटस्थ रहेगा। इस हालत में रूस लामबंदी करने के निर्णय पर सौ बार सोचता। लेकिन सर एडवर्ड ग्रे ने ऐसा कुछ नहीं किया। यह ठीक है उसके साथ कुछ राजनीतिक और वैधानिक विवशता थी। उसे अपने मंत्रिमंडल का पूरा समर्थन प्राप्त नहीं था; ब्रिटेन का जनमत भी बड़ा अनिश्चित था। उसकी यह धारणा भी बन गयी कि जर्मनी अपने मित्र राज्य आस्ट्रिया के एक गलत काम का समर्थन कर रहा था और बर्लिन में स्थिति पर असैनिक अधिकारियों का नहीं वरन् प्रशा के सैनिकवादियों का नियंत्रण हो गया है।

इस विश्लेषण के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि किसी एक देश पर युद्ध का दायित्व थोपना उचित नहीं है। युद्ध के लिए लगभग सभी देश जिम्मेवार थे।

FOOT NOTES

1. "The Allied and Associated Governments affirm and, Germany accepts, the responsibility of Germany and her allies or causing all the loss and damage to which the Allied and Associated Government and their nationals have been subjected as a consequence of the war imposed upon them by the aggression of Germany and her allies."

_Article 231 of the Treaty of Versailles.

अध्याय 19

पेरिस का शांति-समझौता

प्रथम विश्व युद्ध : अगस्त, 1914 में सर्बिया तथा आस्ट्रिया के झगड़े को लेकर केंद्रीय शक्तियों (Central Powers) तथा मित्रराष्ट्रों (Allied and Associated Powers) के मध्य जो विश्वयुद्ध छिड़ा वह मानव-इतिहास का बड़ा ही भयंकर और दीर्घकालीन युद्ध था। यह लड़ाई चार वर्षों से भी अधिक दिनों तक चली थी। इतिहास में इतने बड़े पैमाने पर विध्वंसक युद्ध अबतक नहीं हुआ था। युद्ध में भाग लेनेवाले समस्त राष्ट्रों के कोई एक करोड़ तीस लाख व्यक्ति रणचंडी की भेंट चढ़ चुके थे। युद्ध-संचालन में दोनों पक्षों को लगभग दो खरब, सत्तर अरब डॉलर खर्च करने पड़े थे।

केंद्रीय शक्तियों (Central Powers) में सर्वप्रथम बुल्गेरिया ने 29 सितंबर, 1918 को हथियार डाले। उसके लगभग एक महीने बाद तुर्की की बारी आयी और उसने भी आत्मसमर्पण कर दिया। 3 नवंबर, 1918 को आस्ट्रिया ने युद्ध का मैदान छोड़ दिया। ऐसी स्थिति में जर्मनी ने भी युद्ध बंद करने और विराम-संधि के लिए याचना की और 11 नवंबर को जर्मनी ने भी अपने हथियार डाल दिये। इस प्रकार मित्रराष्ट्रों (Allied and Associated Powers) की पूर्ण विजय के साथ प्रथम विश्वयुद्ध का अंत हुआ।

शांति-स्थापना की समस्या : चार वर्ष और पंद्रह सप्ताह के भीषण संघर्ष और विनाश के बाद जब युद्ध-पीड़ित विश्व ने विरांम संधि की खबर सुनी तो सारे संसार में अपार प्रसन्नता और आनन्द की लहर दौड़ पड़ी। लेकिन युद्ध का अंत तो समस्याओं की शुरुआत थी। अब विश्व के समक्ष स्थायी शांति कायम करने की जटिल समस्या उपस्थित हुई। इसके लिए एक शांति सम्मेलन (Peace Conference) का बुलाया जाना आवश्यक था। लेकिन कई कारणों से ऐसे सम्मेलन को प्रारंभ करने में अनेकानेक कठिनाइयां थीं। सर्वप्रथम दूर-दूर के देशों से प्रतिनिधि दलों को आना था। युद्ध के बाद आवागमन के साधन क्षत-विक्षत हो गये थे और इस कारण पेरिस (जो सम्मेलन का स्थल चुना गया था) पहुंचने में विलंब की संभावना थी। द्वितीयत: राष्ट्रपति बुडरो विल्सन ने स्वयं शांति-सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया, लेकिन अनेक कठिनाइयों के कारण वे मध्य दिसंबर से पहले पेरिस नहीं पहुंच सकते थे, तृतीयत; इंगलैंड के लायड जार्ज सम्मेलन में उपस्थित होने के पहले अपने देश में आम निर्वाचन करा लेना चाहते थे ताकि शांति समझौता पर ब्रिटिश लोकमत स्पष्ट हो जाय। इन्हीं कारणों से युद्ध बंद होने और शांति-सम्मेलन के शुरू होने में दो महीने का समय लग गया।

पेरिस का शांति सम्मेलन : विश्व युद्ध ने जर्मनी का सबसे प्रबल और घातक प्रहार फ्रांस पर हुआ। इसलिए फ्रांस की राजधानी पेरिस को शांति-सम्मेलन के लिए सबसे उपयुक्त स्थान माना गया और वहीं इस सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसके कुछ और भी कारण थे। विराम संधि के लिए वार्ताएं पेरिस से ही की गयी थीं। सर्वोच्च युद्ध परिषद के कई कार्यालय पेरिस में ही स्थित थे। इसके अलावे, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया आदि देशों की "निर्वासित सरकारें" पेरिस में ही थीं। इन बातों के बावजूद अब यह माना जाने लगा है कि पेरिस को शांति सम्मेलन के लिए स्थान चुनंना एक गलत निर्णय था। वस्तुत: इस शांति-सम्मेलन

का आयोजन जेनेवा या हेग- जैसे तटस्थ देशों के नगरों में होना चाहिए था। वस्तुत: पेरिस में सम्मेलन का होना अत्यंत ही दुर्भाग्यपूर्ण था; क्योंकि युद्ध-जन्य क्रोध सबसे अधिक वही व्याप्त था और वहां ठंडे दिमाग से विचार-विमर्श नहीं हो सकता था। सचमुच पेरिस का वातावरण शांति संधियों के लिए अनुकूल नहीं था। जैसा कि केन्स ने लिखा है : 'पेरिस का एक दिवास्वप्न था और प्रत्येक व्यक्ति वहां अस्वस्थ था। संपूर्ण वातावरण असंतोष, घृणा, प्रतिशोध, पागलपन तथा द्रोह की भावना से घनीभूत था।" इस वातावरण में एक न्यायपूर्ण संधि की आशा करना व्यर्थ था।

1919 के प्रारंभ से विभिन्न देशों के प्रतिनिधि मंडल पेरिस पहुंचने लगे। विजेता राष्ट्रों के कुल बत्तीस प्रतिनिधि-मंडल पेरिस आये थे और वहां प्रतिनिधि मंडलों की संख्या सैकड़ों में थी। इनमें मंत्री, कूटनीतिज्ञ, राजनेता, कानून और आर्थिक विशेषज्ञ, सैनिक, पूंजीपति, मजदूरों के नेता, संसदीय सदस्य और प्रमुख नागरिक सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त, संसार के कोने-कोने से पत्र-प्रतिनिधि एवं संवाददाता भी पेरिस पहुंचे हुए थे। इस समय पेरिस की रौनक और चहल-पहल देखने योग्य थी। सम्मेलन में भाग लेने के लिए स्वयं अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन तथा विभिन्न देशों के ग्यारह प्रधानमंत्री और बारह विदेश मंत्री पेरिस में उपस्थित थे। इस विशिष्ट जनसमूह में निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : फ्रांस के क्लिमेशों, पिसो, टंरडियू और केम्बों, अमेरिका के लामिगा और कर्नल हाउस; ब्रिटेन के लायड जार्ज, बालफर और बोनरलां; इटली के ओरलैंडो और सोनियो बेल्जियम के हुईमन्स; पोलैंड के डिमोस्की, यूगोस्लाविया के पाशिष, चेकोस्लोवाकिया के बेनेस, यूनान के बर्जिजेलोस तथा दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट्स तथा बोधा इत्यादि।

सोवियत रूस को सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित नहीं किया गया था। सम्मेलन में भाग लेने के लिए रूस को आमंत्रित किया जाय या नहीं इस बात पर कई दिनों तक विवाद होता रहा। क्लिमेंशो कम्युनिस्ट रूस को सम्मेलन में शामिल करने के प्रस्ताव का घोर विरोधी था लेकिन विल्सन का कहना था कि सोवियत रूस की सम्मति के अभाव में कोई भी यूरोपीय व्यवस्था स्थायी नहीं हो पायेगी। लायड जार्ज का भी यह विचार था। अतएव उसने यह प्रस्ताव रखा कि सोवियत रूस के सभी राजनीतिक दलों को पहले एक सम्मेलन पर बुलाया जाय और बाद में किसी निश्चय पर पहुंचकर उसे भी शांति सम्मेलन में भाग लेने के लिए बुलाया जाय। ऐसे प्रस्ताव को सोवियत सरकार नहीं मान सकती थी। अतएव सोवियत रूस के किसी भी प्रतिनिधि ने शांति सम्मेलन में कभी भी भाग नहीं लिया। पराजित राष्ट्रों को भी सम्मेलन में भाग लेने के लिए नहीं बुलाया गया था, क्योंकि उनका काम केवल इतना ही था कि संधि का प्रारूप तैयार हो जाने पर वे उनपर अपना हस्ताक्षर कर दें।[1] इस बार मित्रराष्ट्र बहुत सतर्क थे। 1814-15 के वियना-कांग्रेस में पराजित फ्रांस के प्रतिनिधि तेलरां को शांति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए बुलाया गया था; जिसने अपनी कूटनीति से मित्रराष्ट्रों के बीच मतभेद उत्पन्न करा दिया था। इस संभावना से बचने के लिए मित्रराष्ट्र यह निश्चय कर चुके थे कि इस बार के शांति सम्मेलन में किसी "जर्मन-तेलरां" को नहीं घुसने दिया जाय। लेकिन यह भी एक गलत निर्णय था। यदि जर्मनी प्रतिनिधि सम्मेलन में भाग लेते तो वर्साय की संधि संभवत: उतना कठोर, दोषपूर्ण तथा अस्थायी नहीं होती जितना अंतत: वह हुई।

सर्वोच्च शांति परिषद : 18 जनवरी, 1919 को फ्रांस के विदेश मंत्रालय में फ्रांसीसी राष्ट्रपति पोअन्कारे ने शांति सम्मेलन के प्रारंभिक अधिवेशन का उद्घाटन किया। फ्रांसीसी प्रधानमंत्री क्लिमेंशो सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। इतने बड़े सम्मेलन में इतने महत्वपूर्ण काम का होना व्यावहारिक दृष्टि से असंभव था। अत: सम्मेलन की कार्यवाही को चलाने के लिए दस व्यक्तियों की एक 'सर्वोच्च शांति-परिषद' बनायी गयी। इस परिषद में तत्कालीन महान राष्ट्रों—अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, जापान और इटली के दो-दो प्रतिनिधि थे। परिषद के सदस्य जो चाहते कर सकते थे। साधारण अधिवेशन में रखे जानेवाले विषयों का चुनाव नहीं करते थे। सम्मेलन उनके फैसलों को निर्विरोध स्वीकार कर लिया करता था। लेकिन यह एक आपत्तिजनक कार्य पद्धति थी जिसके द्वारा

विल्सन के "चौदह सूत्रों" के सर्वप्रथम सिद्धांत कि भविष्य में शांति संधियां प्रकट रूप से की जायें और गुप्त कूटनीति का अवलंबन न किया जाय, का उल्लंघन हो रहा था। अपनी पुस्तक में **हैरोल्ड निकोल्सन** ने लिखा है : "हमारी शांति की शर्तों का निर्णय खुलेआम नहीं हुआ। जितनी गुप्त इस सम्मेलन में बरती गयी उतनी कदाचित् किसी दूसरे सम्मेलन में नहीं बरती गयी थी।" यद्यपि इस कार्य-पद्धति से काम करने में बड़ी आसानी हुई लेकिन इसके कारण समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि बड़े नाराज हुए। उन्हें कुछ अवसरों को छोड़कर सम्मेलन कक्ष में प्रायः नहीं जाने दिया गया। अखबारवालों ने इस व्यवस्था के विरुद्ध काफी हो-हल्ला मचाया।

बात यहीं तक सीमित नहीं रही। कुछ ही दिनों के बाद यह अनुभव किया जाने लगा कि कार्य-संचालन और कार्यवाही की गोपनीयता रखने के दृष्टिकोण से दस व्यक्तियों की परिषद् भी बहुत बड़ी है। अतएव मार्च, 1919 में यह घोषणा की गयी कि भविष्य में संधि से संबंधित सभी कार्य 'चार व्यक्तियों की परिषद' करेगी। ये चार व्यक्ति थे : संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लायड जार्ज, फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लिमेंशो तथा इटली के प्रधानमंत्री ओरलैंडो। अब शांति-सम्मेलन की सारी जिम्मेवारी और संसार के भाग्य का निबटारा पूरी तरह से इन्हीं महापुरुषों के हाथ में था। यही लोग गुप्त रीति से सभी बातों का फैसला कर लिया करते थे। चूंकि शांति-सम्मेलन के सब महत्वपूर्ण निर्णय और उनके आधार पर युद्धोत्तर विश्व का पुनर्निर्माण इन्हीं लोगों ने किया, इसलिए इनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

विल्सन : महायुद्ध के समय तथा उसके तुरंत बाद संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) संसार का सबसे महान् और सर्वाधिक लोकप्रिय नेता था। यह एक ऐसा राज्य का प्रधान था जिसने युद्ध को जीतने में एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने बड़ी मुस्तैदी से अपनी सारी शक्ति लगाकर युद्ध जीतने का प्रयास किया था। लेकिन एक ओर जहां युद्ध जीतने के लिए व्यावहारिक कार्रवाइयां की जा रही थीं, वहां दूसरी ओर राष्ट्रपति विल्सन अपने आदर्शवादी सिद्धांतों के आधार पर युद्ध का अंत करने का प्रयास भी कर रहा था। युद्ध-पीड़ित विश्व में वह शांति के अग्रदूत का काम कर रहा था।

राष्ट्रपति विल्सन प्रथम विश्वयुद्ध को "युद्धान्तक युद्ध" (war to end war) मानता था। उसने यह नारा निकाला कि जर्मनी को हराकर "संसार को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित" (to make the world safe for democracy) बनाना है। इस नारे ने अमेरिका को ही नहीं, बल्कि बाहरी देशों को भी प्रभावित किया। उसने युद्ध के बाद न्याय के आधार पर एक नये संसार के निर्माण का वादा किया। उसने यह घोषणा की कि संधि की शर्तों के अनुसार किसी भी राष्ट्र को उसकी इच्छा के प्रतिकूल नहीं मिलाया जायगा और उससे क्षतिपूर्ति की कोई रकम दंड के रूप में नहीं मांगी जायगी। उसने एक सुंदर संसार की रूपरेखा तैयार की जिसमें एक राष्ट्रसंघ (League of Nations) की देखरेख में शांति और न्याय की स्थापना हो। वस्तुतः विल्सन के सामने केवल दो उद्देश्य थे : राष्ट्रसंघ की स्थापना और आत्मनिर्णय के सिद्धांत (principle of self- determination) की मान्यता। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर वह युद्धोत्तर विश्व का निर्माण करना चाहता था। अतएव युद्ध के बाद शांति-संधि के संबंध में उसकी अपनी एक महान् आदर्शवादी धारणा थी जिसकी व्याख्या उसने 8 जनवरी 1918 को अमेरिकी कांग्रेस में भाषण देते हुए की थी। इसी भाषण में उसने अपने प्रसिद्ध "चौदह सूत्रों"[2] (Fourteen Points) का प्रतिपादन किया था। लेकिन विल्सन को इन सूत्रों के प्रतिपादन से ही संतोष नहीं हुआ। इसके कुछ ही दिनों के उपरांत, 11 जनवरी, 1918 को कांग्रेस के ही सामने उसने अपने "चार सिद्धांतों" का प्रतिपादन किया। इसके उपरांत 4 जुलाई को माउंट बर्नन में भाषण करते हुए उसने "चार लक्ष्यों" को घोषित किया और फिर 27 सितंबर को न्यूयार्क में भाषण करते हुए उसने "पांच व्याख्याओं" (Five Interpretations) की स्थापना की। विल्सन की इन सभी घोषणाओं के मूल में यह बात थी कि नयी शांति-व्यवस्था करते हुए लोकतंत्र, राष्ट्रीयता, आत्मनिर्णय और राष्ट्रसंघ के सिद्धांतों का पालन हो। उसका दृढ़ निश्चय था कि इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर विश्व में स्थायी शांति का निर्माण हो सकता है।

हैरोल्ड निकोल्सन के मतानुसार विल्सन अपने को मानव जाति को एक नयी व्यवस्था देने वाला एक पैगम्बर मानता था। इन्हीं धारणाओं और मान्यताओं को लेकर शांति का यही मसीहा और प्लेटो की कल्पना का "दार्शनिक राजा" (Philesopher-king) अपने देश की वैधानिक परंपरा को तोड़कर असीम जिम्मेवारी लेकर शांति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिका से यूरोप चला था। समस्त संसार में उस समय यही एक ऐसा व्यक्ति था जिस पर सभी लोगों की निगाहें टिकी हुई थीं। विजित और विजेता सभी उससे आशा रखते थे। मानवता के त्राता के रूप में वह जहां भी गया, उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। लाखों की संख्या में जनता उसके स्वागत के लिए उमड़ पड़ी। लंदन और रोम का भ्रमण करते हुए जब वह पेरिस पहुंचा तो पेरिस की जनता उसे देखकर आनन्दाश्रुओं से गद्‌गद् हो गयी। वास्तव में प्राचीन रोमन साम्राज्य की समाप्ति के बाद यूरोप में विल्सन का जैसा शानदार स्वागत हुआ वैसा स्वागत किसी दूसरे राजनेता का अभी तक नहीं हुआ था।[3]

विल्सन एक घोर आदर्शवादी था और राजनीति के कटु सत्य से बहुत दूर रहनेवाला व्यक्ति था। कूटनीति में वह बिल्कुल पारंगत नहीं था। उसे यूरोपीय स्थिति का उतना ज्ञान नहीं था जितना कि चतुर राजनीतिक लायड जार्ज अथवा क्लिमेशों या ओरलैंडो को था। विल्सन के अन्य साथी केवल चतुर ही नहीं बल्कि उतने आदर्शवादी भी नहीं थे। विल्सन का दृढ़ विश्वास था कि मानव जाति की रक्षा और उद्धार राष्ट्रसंघ की स्थापना से हो सकता है और इसलिए वह इसे सभी शांति संधियों का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग बना देना चाहता था। राष्ट्रसंघ उसके लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था। लेकिन जो व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे उसके साथ ऐसी बात नहीं थी। कहा जाता है कि क्लिमेंशो प्रातःकाल यह वाक्य दुहराया करता था "मैं राष्ट्रसंघ की स्थापना का समर्थन करूंगा।" किंतु ओरलैंडों से जब एक बार पूछा गया कि राष्ट्रसंघ के बारे में आपका क्या मन है तो उसने उत्तर दिया था : "हम निस्संदेह राष्ट्रसंघ की स्थापना का स्वागत करेंगे किंतु फ्यूम का प्रश्न पहले जिर्नित होना चाहिए।"

शांति-सम्मेलन में राष्ट्रसंघ की स्थापना की बात विल्सन की सबसे बड़ी कमजोरी थी और इससे उसके अन्य सभी सहकर्मियों ने नाजायज फायदा उठाया। अन्य देश राष्ट्रसंघ के निर्माण की बात मान लें इसके लिए विल्सन सब कुछ त्यागने के लिए तैयार था। यहां तक कि राष्ट्रसंघ के लिए वह चौदह सूत्रों के अनेक सिद्धांतों की अवहेलना करने के लिए तैयार हो जाता था। जैसा कि पांल बर्डसल ने लिखा है कि क्षतिपूर्ति की समस्या के अतिरिक्त अन्य सभी प्रश्नों पर ब्रिटेन, फ्रांस और जापान विल्सन से राष्ट्रसंघ के नाम पर प्रायः अपनी अधिकांश बातें मनवाने में सफल हुए। फिर भी, पेरिस सम्मेलन में यदि पराजितों के साथ थोड़ी नरमी बरती गयी तो वह विल्सन के कारण ही। वास्तव में यदि सम्मेलन में विल्सन न होता तो न जाने लायड जार्ज और विशेषकर विलमेंशो क्या से क्या कर देते। विल्सन ही उनकी असीम आकांक्षाओं पर अंकुश लगाता रहा। यदि विल्सन न होता तो फ्रांस जर्मनी का नामोनिशान मिटा देता।

कुछ लोगों का कहना है कि स्वयं पेरिस में आकर विल्सन ने एक भारी भूल की। यदि वह वाशिंगटन में ही रहकर अमरीकी प्रतिनिधियों को आदेश देता रहता तो संभव था कि उसका प्रभाव और अधिक होता। लेकिन विल्सन को सबसे अधिक चिंता राष्ट्रसंघ के लिए थी और वह चाहता था कि विश्व संस्था के विधान का निर्माण वह स्वयं करे।[4]

विल्सन के सामने एक और कठिनाई थी। इस समय अमरीकी जनता का समर्थन उसे प्राप्त नहीं था। नवंबर, 1918 में अमरीकी कांग्रेस का चुनाव हुआ जिसमें विल्सन की डेमोक्रेटिक पार्टी को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। विल्सन के सहयोगी विशेषकर क्लिमेंशो उसकी इस कमजोरी को समझते थे और उन्होंने इससे खूब लाभ उठाया।[5]

लायड जार्ज : इंगलैंड के लिबरल दल के नेता तथा प्रधानमंत्री लायड जार्ज (Lloyd George) अपने युग का सर्वश्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ था। शांति-संधि के संबंध में उसकी अपनी अलग धारणा थी। सम्मेलन में आने से पूर्व ब्रिटेन में आम चुनाव हुआ था। इसमें जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार करने का नारा लगाया गया था और इन्हीं प्रतिशोधात्मक नारों[6] के आधार पर लिबरल पार्टी चुनाव में जीती थी। किंतु लायड जार्ज एक दूरदर्शी राजनेता था। फ्रांस जर्मनी को सदा के लिए कुचल देना चाहता था, लेकिन इंगलैंड का हित इस बात में था कि जर्मनी पूरी तरह कुचला न जाय और उसे धीरे-धीरे प्रगति करने का अवसर दिया जाय। अतएव शांति सम्मेलन में लायड जार्ज जर्मनी के प्रति फ्रांस की अपेक्षा अधिक नरम और उदार व्यवहार-समर्थक था। लेकिन वह कोरा आदर्शवादी कभी नहीं था। उसके सामने राष्ट्रसंघ और आत्मनिर्णय का सिद्धांत उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना ब्रिटेन का सम्राज्यवादी स्वार्थ। लायड जार्ज सही अर्थों में व्यावहारिक राजनीतिज्ञ (practical politician) था। उसकी तीव्र बुद्धि, चातुर्यपूर्ण कूटनीति, अनर्थक कार्यशक्ति और बिजली की तेजी से निर्णय करने और बदलने की क्षमता ने उसे शांति-सम्मेलन का एक महान् कूटनीतिज्ञ साबित किया। सम्मेलन में लायड जार्ज के सामने तीन मुख्य उद्देश्य थे : प्रथमतः, वह जर्मनी का एक नाविक प्रतिद्वंद्वी के रूप में सर्वनाश कर देना चाहता था। द्वितीयतः, वह फ्रांस को उतना शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहता था जिससे यूरोपीय शक्ति संतुलन अस्थिर हो जाय। लायड जार्ज का तीसरा उद्देश्य ब्रिटेन के लिए लूट के माल में अधिक-से-अधिक हिस्सा प्राप्त करना था। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसको इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति में बहुत सफलता मिली। ई० जे० डिल्लोन ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। उसके कथनानुसार लायड जार्ज की अंतर्दृष्टि बड़ी विलक्षण थी और उसके निकटतम साथी भी कई बार कूटनीति में उसकी अगली चाल का अनुमान करने में असफल हो जाते थे।

क्लिमेंशो : फ्रांस का प्रधानमंत्री क्लिमेंशो (Clemenceau) कूटनीति और अनुभव में अपने सभी साथियों से कहीं आगे था। इस समय उसकी अवस्था अठहत्तर वर्ष की थी और 1870 में जर्मनी द्वारा फ्रांस के लज्जापूर्ण पराभव को उसने अपनी आंखों से देखा था। अतएव प्रतिशोध लेने की इच्छा उसमें बड़ी प्रबल थी। वह न तो आदर्शवादी था और न विल्सन के आदर्शवादी सूत्रों की कोई परवाह ही करता था। विजय के बाद उसकी महत्वाकांक्षा इतनी बढ़ गयी थी कि परास्त देशों के न्याययुक्त अधिकारों की उपेक्षा करने में उसे जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती थी। विल्सन का कहना था कि इस समझौते में केवल विजयी राष्ट्रों के स्वार्थ तथा हित का ही ध्यान न रखा जाय, बल्कि उन राष्ट्रों की इच्छाएं भी ध्यान में रखी जायें जिन पर समझौते का असर पड़ेगा। अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता और न्याय की प्रतिमूर्ति राष्ट्रपति विल्सन एक नयी दुनिया बनाने का मनसूबा बांध रहा था। लेकिन फ्रांस के 'शेर क्लिमेंशो' (तथा ब्रिटेन के राजनीति लायड जार्ज) के सामने वह असमर्थ और शक्तिहीन था। लायड जार्ज में कम-से-कम एक गुण तो था कि उसे जो अच्छी सलाह दी जाती थी उसे वह मान लेता था, लेकिन क्लिमेशों के साथ ऐसी बात नहीं थी। पेरिस सम्मेलन के अपने साथियों में वह सबसे अधिक प्रभावशाली और सबसे अच्छा कूटनीतिज्ञ था। संपूर्ण सम्मेलन में यही एक ऐसा व्यक्ति था जो यह जानता था कि कब और कैसे क्या करना चाहिए। 1870 के पराभव की याद उसके दिमाग में ताजी था। उस समय फ्रांस हारा था और उसे पराजय के सब परिणाम भुगतने पड़े थे। इस बार जर्मनी हारा है। अतएव इस हार का परिणाम उसको भुगतना है। उसको पूर्ण विश्वास था कि जर्मनी शक्ति के अतिरिक्त किसी चीज में विश्वास नहीं करता। अतः फ्रांस की सुरक्षा के लिए वह जर्मनी को बिल्कुल पंगु बना देना चाहता था। वह शक्ति संतुलन के सिद्धांत में विश्वास करता था; विल्सन के सूत्रों में नहीं। विल्सन की हंसी उड़ाते हुए उसने कहा था "ईसा मसीह केवल दस आदर्शों से संतुष्ट हैं लेकिन विल्सन चौदह आदर्शों पर जोर देते हैं।[7] एक अन्य अवसर पर उसने कहा ''लायड जार्ज तो अपने को नेपोलियन समझता है, परंतु विल्सन अपने को ईसा मानता है।"[8] शांति-सम्मेलन के प्रधान के रूप में क्लिमेंशो का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण था।

शांति सम्मेलन में उसका परम लक्ष्य जर्मनी को कुचलना था। वह चाहता था कि जर्मनी को इतना कुचल दिया जाय कि वह फ्रांस के लिए कभी खतरे का कारण नहीं बन सके।[9] क्लिमेंशो में फासिस्टवादी प्रवृत्ति कूट-कूटकर भरी थी। वह युद्ध को आवश्यक मानता था। उसका कहना था कि जर्मन और फ्रांसीसी लोगों के बीच संघर्ष अनिवार्य है और यह वर्षों से चला आ रहा है। इस बार जर्मनी बुरी तरह हारा है तो उसको बिना पूर्णतया कुचले छोड़ देना एक महान् भूल होगी। अतएव वह जर्मनी का नामोनिशान मिटाने का दृढ़ संकल्प करके सम्मेलन में आया था। वह हमेशा फ्रांस के हित की बात सोचता था और उसके रक्षार्थ हमेशा तैयार रहता था। उसके संबंध में एक लेखक ने लिखा है : "वह नियंत्रणहीन तथा अनियंत्रित खुमारी से भरा तथा झगड़ालू था; वह नींद की लंबी खुमारी से तभी जगता था जबकि फ्रांस के हित को खतरा होता या जब कभी किसी छोटे राज्य की कीमत पर अपने देश को मजबूत बनाने का अवसर देखता था।"

ओरलैंडो : इन तीन महापुरुषों के अतिरिक्त इटली के प्रधानमंत्री विट्टोरियो ओरलैंडो (Vittorio Orlando) को भी "चार बड़ों" में गिना जाता था। ओरलैंडो कानून का बहुत बड़ा ज्ञाता, चतुर राजनेता और प्रभावशाली वक्ता था। उसे अंग्रेजी का ज्ञान नहीं था इसलिए शांति-सम्मेलन की कार्यवाही पर वह कोई विशेष असर नहीं डाल सका।

आयोग और समितियाँ : इन चार बड़ों की "सर्वोच्च शांति-परिषद" के अतिरिक्त सम्मेलन में अड़तालीस के लगभग छोटे-बड़े आयोग और उपसमितियां थीं। इनका कार्य था कि वे विविध समस्याओं—राष्ट्रसंघ का संगठन, हरजाने की रकम, अल्पसंख्यक जातियों की समस्या इत्यादि प्रश्नों पर विशद रूप से विचार करके अपनी रिपोर्ट पेश करें। पर, इनकी रिपोर्ट पर अंतिम निर्णय देने का अधिकार सर्वोच्च शांति-परिषद को ही था। सम्मेलन का काम केवल इसी निर्णय का अनुमोदन करना था।

गुप्त संधियां और सम्मेलन की कठिनाइयां : इस प्रकार सैद्धांतिक मतभेद के कटु वातावरण में पेरिस का शांति-सम्मेलन प्रारंभ हुआ। सम्मेलन के सामने सबसे बड़ी कठिनाई विल्सन के अंतर्राष्ट्रीय आदर्शवाद और यूरोप के विभिन्न विजेता राष्ट्रों की राष्ट्रीय सुरक्षा को तात्कालिक आवश्यकता के बीच एक मध्यम मार्ग खोजने की थी।[10] मित्रराष्ट्रों की युद्धकालीन गुप्त संधियों के कारण यह कठिनाई और भी बढ़ गयी थी। इन संधियों के द्वारा विभिन्न राज्यों ने एक-दूसरे को यह आश्वासन दिया कि अंतिम समझौते के समय वे एक-दूसरे की साम्राज्यों लिप्सा को तृप्त होने में सहायता प्रदान करेंगे। प्रथम विश्व युद्ध उदार सिद्धांतों को सामने रख कर लड़ा गया था। युद्ध के समय समानता, स्वतंत्रता, लोकतंत्रावाद के नारे बुलंद किये गये थे, पर युद्ध के बाद विजय के मद में चूर होकर मित्रराष्ट्र इन सारे सिद्धांतों को भूल गये थे। वे अब चिंता में थे कि पराजित शत्रुओं से किस प्रकार अधिक-से-अधिक हरजाना वसूल किया जाय और किस प्रकार उसके भग्नप्राय साम्राज्य को आपस में बांट लिया जाय। कहने को तो अब भी सारे फैसलों का आधार राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सूत्र था, पर वास्तव में विल्सन के सूत्र केवल आदर्श-मात्र ही थे, क्रिया में उन्हें कोई महत्व नहीं दिया गया। विश्वयुद्ध के समय की गयी गुप्त संधियां विल्सन के उदार सिद्धांतों के प्रतिकूल और विरोधी थीं। ब्रिटेन और फ्रांस गुप्त आश्वासनों को पूरा करने के लिए विवश थे। उन्हें विल्सन के आदर्शवादी सूत्रों की कोई परवाह नहीं थी।

लेकिन गुप्त संधियों को कार्यान्वित करने में कठिनाइयां भी कम नहीं थीं। नवंबर, 1917 में समाजवादी क्रांति के बाद सोवियत रूस की सरकार ने इन संधियों को प्रकाशित करके साम्राज्यवादियों के युद्ध के वास्तविक उद्देश्यों का भंडाफोड़ कर दिया। इस कारण मित्रराष्ट्र बड़े पेशोपेश में पड़ गये। इसके अतिरिक्त इसकी सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि इन संधियों में संयुक्त राज्य अमेरिका सम्मिलित नहीं था। अतएव इनको पूरा करने का दायित्व उस पर नहीं था लेकिन अंतिम समझौते में अमेरिका के विचारों की अवहेलना भी नहीं की जा सकती थी। अमेरिका के राष्ट्रपति ने स्पष्ट शब्दों में इन गुप्त संधियों का विरोध किया था क्योंकि यदि इन संधियों को कार्यान्वित किया जाता तो राष्ट्रीयता और आत्मनिर्णय के सिद्धांतों का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। गुप्त

संधियों के साथ एक और कठिनाई उपस्थित हो गयी थी कि समाजवादी क्रांति के उपरांत सोवियत सरकार ने स्वेच्छा से इन संधियों से अपने को अलग कर लिया था। अतएव अब यह प्रश्न था कि उन प्रदेशों, जो युद्धों के बाद गुप्त संधियों के अनुसार रूस को मिलनेवाले थे, का क्या होगा।

परंतु इन कठिनाइयों के बावजूद शांति-समझौते में इन संधियों को स्थान दिया गया। सम्मेलन में जब भी विल्सन के सिद्धांत और इन संधियों में टक्कर हुई तो उस समय इन संधियों को ही प्रथम स्थान मिला। पेरिस की शांति-संधियों पर इन संधियों का अत्याधिक प्रभाव पड़ा।

वातावरण : पेरिस का वातावरण सम्मेलन के लिए दूसरी कठिनाई उपस्थित कर रहा था। विजयी राष्ट्रों में प्रतिशोध की भावना चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी और वे पराजित राष्ट्रों को सदा-सर्वदा के लिए कुचल देना चाहते थे। जर्मनी और उसके साथी राज्य हारे हैं और हम विजयी हैं, यह बात हमेशा उनके दिमाग में बनी रहती थी और इस स्थिति से पूरा लाभ उठाना चाहते थे। स्थायी शांति के लिए ऐसी मनोवृत्ति या इस प्रकार का वातावरण उपयुक्त नहीं होता।[12]

जैसा कि स्पष्ट है, शांति-सम्मेलन में दो विचारधाराओं में सघर्ष था। एक चाहता था कि ऐसा निष्पक्ष न्याय हो जिससे विजित देशों की भावनाओं पर विचार किया जाय। दूसरा पक्ष चाहता था—जैसा कि प्रायः शांति-सम्मेलनों में हुआ करता है-कि शक्ति संतुलन बना रहे, पराजित देश पुनः शांति भंग न कर सकें तथा विजित राष्ट्रों को प्रादेशिक और आर्थिक लाभ हो। अतः, शांति-सम्मेलन का काम बड़े अशांत और संघर्षपूर्ण वातावरण में हुआ। कई बार "चार बड़ों" में तीव्र मतभेद के कारण संधिवार्ता भंग होने की नौबत भी आ गयी। विजितों के साथ विल्सन नरम रुख का अवलंबन करना चाहता था। इसलिए फ्रांस के समाचार-पत्रों में उसकी कटु आलोचना होने लगी। उस पर व्यक्तिगत आक्षेप भी किये गये। इन आलोचनाओं और आक्षेपों के कारण एक बार तो स्थिति इतनी गंभीर हो गयी कि राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिका लौट जाने का निर्णय कर लिया। इटली का प्रधानमंत्री ओरलैंडो फ्यूम के प्रश्न पर रुष्ट होकर अपने साथियों सहित सम्मेलन से हट गया और रोम चला गया। बाद में तीन राष्ट्रों के निमंत्रण पर वह फिर वापस आया। जापानी प्रतिनिधिमंडल ने भी सम्मेलन का बहिष्कार करने की धमकी दी, पर मनमुटाव के इस वातावरण में भी सम्मेलन ने किसी तरह अपना काम पूरा किया। सम्मेलन ने अपने अड़तालीस आयोगों द्वारा लगभग सोलह सौ बैठकें करके जर्मनी के साथ एक संधि का प्रारूप तैयार किया जिसको वर्साय की संधि कहते हैं।

वर्साय संधि

(Treaty of Versailles)

संधि पर हस्ताक्षर : पेरिस शांति-सम्मेलन में अनेकानेक संधियों एवं समझौताओं के प्रारूप तैयार किये गये और उन पर हस्ताक्षर किये गये, लेकिन इन सभी संधियों में जर्मनी के साथ जो बर्साय की संधि हुई वह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है और सभी संधियों से अधिक प्रमुख है। चार महीने के अनवरत परिश्रम के बाद इस संधि का प्रारूप तैयार हो सका था। दो सौ तीस पृष्ठों में छपी हुई यह संधि पंद्रह भागों में विभक्त थी और इसमें चार सौ चालीस धाराएं थीं। 6 मई, 1919 को यह एक सम्मेलन के सम्मुख पेश हुई और स्वीकृत हो गयी। 30 अप्रैल को ही विदेश मंत्री काउन्ट फान ब्राक्डोर्फ रान्टाजु ने नेतृत्व में जर्मन-प्रतिनिधि मंडल वर्साय पहुंच चुका था। प्रतिनिधियों को ट्रायनन पैलेस होटल में ठहराया गया। मित्रराष्ट्रों के अफसर उनकी सुरक्षा की देखभाल कर रहे थे। होटल को कांटेदार तारों से घेर दिया गया था और जर्मन प्रतिनिधियों को मनाही कर दी गयी थी कि वे मित्रराष्ट्रों के किसी भी प्रतिनिधि या किसी पत्रकार से किसी प्रकार का संपर्क न रखें। 7 मई, 1919 को क्लिमेंशो ने अन्य प्रतिनिधि मंडलों के समक्ष ट्रायनन होटल में, जर्मनी प्रतिनिधिमंडल के सम्मुख संधि का प्रारूप प्रस्तुत किया। इस पर विचार-विमर्श करने के लिए उन्हें केवल दो सप्ताह का समय दिया गया।

जिस समय क्लिमेंशो ने जर्मन विदेश मंत्री के सामने संधि का मसविदा प्रस्तुत किया उस समय होटल के कटु वातावरण को देखकर ब्रोकडोर्फ रान्टाजु को चुप नहीं रहा गया। उसने कहा कि जर्मनी यद्यपि एक पराजित देश है और वह पस्त हो चुका है तो भी युद्ध की सारी जिम्मेवारी उसी पर लादना न्यायसंगत नहीं है, पर जर्मनी की बात सुनता ही कौन था। जर्मनी में संधि के मसविदे पर काफी बहस हुई। सभी जर्मनों ने संधि की शर्तों का घोर विरोध किया। इस पर लायड जार्ज ने गरजते हुए कहा : "जर्मन लोग कहते हैं कि वे संधि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मन समाचार पत्र कहते हैं कि वे संधि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मनी के राजनीतिज्ञ भी यही बात कहते हैं। लेकिन हम लोग कहते हैं : महानुभावों ! आपको इस पर हस्ताक्षर करना है। अगर आप वर्साय में ऐसा नहीं करते हैं तो आपको बर्लिन में करना ही होगा।"

संक्षेप में विजयी राष्ट्र विजित राष्ट्र पर अपनी शर्तें जबरदस्ती लाद सकते थे। वर्साय की संधि निश्चय ही एक आरोपित संधि (dictated peace) होने जा रही थी।

इस हालत में जर्मनी को किसी तरह संधि पर हस्ताक्षर करना था। जर्मन राजनीतिज्ञों ने गंभीरता के साथ संधि के प्रारूप पर विचार किया और छब्बीस दिनों के बाद अपनी तरफ से साठ हजार शब्दों का एक विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किया। जर्मनी ने इस बात की शिकायत की थी कि उसने जिन शर्तों पर आत्मसमर्पण किया था, प्रस्तावित संधि में उस सिद्धांत का उल्लंघन हुआ है। उसका कहना था कि जर्मनी की सरकार पूर्णरूप से प्रजातांत्रिक है और राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए इच्छुक है। निरस्त्रीकरण की शर्त केवल जर्मनी पर ही नहीं, अपितु समस्त राज्यों पर लागू की जानी चाहिए। विश्वयुद्ध के लिए जर्मनी को एकमात्र जिम्मेवार ठहराना गलत है। जर्मन प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि संधि की सभी शर्तों को मानना असंभव है। उनका कहना था कि संधि की शर्तें विराम संधि की शर्तों से बिल्कुल विपरीत हैं। एक बड़े राष्ट्र को कुचलकर तथा उसे गुलाम बनाकर स्थापित नहीं की जा सकती है।

मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के प्रस्तावों पर विचार किया और कुछ छोटे-छोटे परिवर्तनं के बाद जर्मनी को पांच दिनों के भीतर ही संशोधित संधि पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। इस बार जर्मनी को यह अवसर नहीं दिया गया कि वह संधि के मसविदे के संबंध में किसी प्रकार का संशोधन या निवेदन प्रस्तुत कर सके। मित्रराष्ट्रों ने स्पष्ट कर दिया था कि हस्ताक्षर नहीं करने का अर्थ जर्मनी पर पुन: आक्रामण होगा। संपूर्ण जर्मनी में रोष का वातावरण छा गया। शिडेमान-सरकार ने संधि को अस्वीकार करके त्यागपत्र दे दिया। अंत में एक नयी सरकार जिसमें गुस्टाव प्रधानमंत्री तथा मूलर विदेश मंत्री था, ने संधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया। अभी तक वर्साय के राजप्रासाद के शीशमहल में जहां फ्रांस को हराने के बाद 1871 में प्रशा के राजा को जर्मन सम्राट घोषित किया गया था, शांति-समझौता संबंधी कोई कार्यवाही नहीं की गयी थी, पर पेरिस के नाटक का अंतिम दृश्य इसी जगह खेला गया।[13] 28 जून, 1919 को पांच वर्ष पूर्व ठीक इसी दिन सराजेवो-हत्याकांड हुआ था। जर्मन प्रतिनिधिमंडल ने संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए शीशमहल में प्रवेश किया और संधि पर हस्ताक्षर कर दिया। इसके बाद चीन को छोड़कर अन्य राष्ट्रों ने भी संधि पर अपने-अपने हस्ताक्षर कर दिये। हस्ताक्षर करने के बाद जर्मन प्रतिनिधि ने कहा "हमारे प्रति फैलायी गयी उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित हैं। मेरा देश दबाव के कारण आत्मसमर्पण कर रहा है; किन्तु जर्मनी यह कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण संधि है।" हस्ताक्षर करने के बाद जब जर्मन प्रतिनिधिमंडल शीशमहल से बाहर निकला तो पेरिस की भीड़ ने उन पर ईंटें फेंकीं। दूसरे दिन जर्मन के एक समाचार-पत्र में "कहीं हम भूल न जायें" शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें कहा गया था कि "संसार के राष्ट्रों की मंडली में जर्मनी अपना न्यायसंगत स्थान प्राप्त करने का प्रयास करेगा और तब 1919 का बदला।" इन्हीं शब्दों में द्वितीय महायुद्ध के बीज थे।

अब हम इस संधि की महत्वपूर्ण शर्तों और उसके द्वारा स्थापित व्यवस्थाओं पर विचार करेंगे।

राष्ट्रसंघ

राष्ट्रसंघ (League of Nations) का निर्माण एवं वर्साय-संधि का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग था। संधि के प्रथम भाग का संबंध इसी में है। यह मूलतः राष्ट्रपति विल्सन का सृजन था। उसका ख्याल था कि राष्ट्रसंघ को शांति-सम्मेलन की सबसे महान् कृति होनी चाहिए। लायड जार्ज ने लिखा है कि विल्सन शांति-संधियों के केवल उस भाग को, जिसमें राष्ट्रसंघ की व्यवस्था थी और सबसे अधिक महत्त्व देता था। इसके लिए वह कोई भी त्याग करने के लिए तैयार था और अंत में उसके कठिन प्रयास से ही राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ। राष्ट्रसंघ के विधान के तैयार हो जाने के बाद प्रारंभ में इस बात पर विवाद होता रहा कि राष्ट्रसंघ-संबंधी धाराओं को वर्साय संधि के अंतर्गत स्थान दिया जाय या नहीं। विल्सन को छोड़कर मित्रराष्ट्र के अन्य प्रतिनिधियों का यह विचार था कि राष्ट्रसंघ-संबंधी बातों को वर्साय-संधि के अंतर्गत रखना आवश्यक नहीं है, पर विल्सन का विचार कुछ दूसरा ही था। वह इस बात पर बहुत अधिक जोर देता रहा कि राष्ट्रसंघ के संविधान (Covenant) को संधि के अंतर्गत रखा जाय, अंततः विल्सन की बात मान ली गयी और राष्ट्रसंघ संविधा . को वर्साय संधि के अंतर्गत ही रख दिया गया। वर्साय-संधि की प्रथम 26 धाराएँ राष्ट्रसंघ का संविधान ही है, जिसका उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा तथा अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को कायम रखना था। राष्ट्रसंघ के संबंध में बाद में द्वितीय अध्याय में विशद् रूप से विचार किया जायगा।

प्रादेशिक व्यवस्थाएं

एल्सेस-लोरेन : वर्साय संधि द्वारा प्रादेशिक परिवर्तन करके जर्मनी का अंग-भंग कर दिया गया। 1871 में जर्मनी ने फ्रांस से एल्सेस-लोरेन के प्रदेश छीन लिये थे। सब ने एक स्वर से इस बात को स्वीकार किया कि यह गलत काम हुआ था और इसका अंत आवश्यक है। अतः संधि की शर्तों के द्वारा एल्सेस-लोरेन के प्रदेश फ्रांस को वापस दे दिये गये।

राइनलैंड : क्लिमेंशो इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। उन्नीसवीं सदी में दो बार फ्रांस को जर्मनी द्वारा नीचा देखना पड़ा था। फ्रांस के भविष्य की सुरक्षा को ध्यान में रखकर क्लिमेंशो ने यह मांग की कि राइन नदी के पश्चिम के प्रदेश को जर्मनी से पृथक करके एक ऐसे राज्य में परिवर्तित कर दिया जाय, जो अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से फ्रांस के प्रभाव में रहे। लायड जार्ज का कहना था कि ऐसा करने से एक दूसरे एल्सेस-लोरेन की समस्या उठ खड़ी हो जायगी। विल्सन का कहना था कि इस तरह की व्यवस्था में 'आत्मनिर्णय के सिद्धांत' का उल्लंघन होगा। काफी विचार और बहस के बाद क्लिमेशो राइन के संबंध में इस समझौते को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया कि कुछ निश्चित समय के लिए इस प्रदेश में मित्रराष्ट्रों की सेनाएं रखी जायें ताकि जर्मनी इसका उपयोग अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने के लिए नहीं कर सके। राइनलैंड को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया—उत्तरी, मध्यवर्ती और दक्षिणी। यह तय हुआ कि मित्रराष्ट्रो की सेनाएं उत्तरी भाग पर पांच साल तक, मध्यवर्ती भाग पर दस साल तक और दक्षिणी भाग पर पंद्रह साल तक कब्जा किये रहे। इसके अतिरिक्त यह भी तय हुआ कि राइन नदी के दहिने भाग के एकतीस मील चौड़े प्रदेश पर जर्मनी किसी भी प्रकार की किलाबंदी नहीं करे और यदि जर्मनी संधि की किसी शर्त का पालन नहीं करे तो मित्रराष्ट्रों के सैनिक कब्जे की अवधि और अधिक बढ़ायी जा सके।

सार : जब क्लिमेंशो को राइन के तटवर्ती प्रदेशों पर कब्जा करने का मौका नहीं मिला तो उसने सार (Saar) के भूभाग पर दावा किया। सार का भूभाग जिसका क्षेत्रफल लगभग सात सौ तेईस वर्गमील है, बहुत ही महत्वपूर्ण इलाका था और यह कोयले की खानों से भरा पड़ा था। फ्रांस का कहना था कि जर्मनी ने युद्ध के समय उसके संपूर्ण कोयले की खानों को बर्बाद कर दिया है। अतः, इस महत्वपूर्ण प्रदेश पर उसका आधिपत्य

होना चाहिए। विल्सन और लायड जार्ज सार की खानों से संबंधित फ्रांसीसी मांग की पूर्ति करना चाहते थे; लेकिन फ्रांस के साथ उसके राजनीतिक अनुबंधन का उन्होंने विरोध किया; क्योंकि सार की प्रायः संपूर्ण जनता जर्मन थी। अंत में सार के प्रश्न पर भी एक समझौता हो गया। सार प्रदेश की शासन-व्यवस्था की जिम्मेवारी राष्ट्रसंघ को सौंप दी गयी और उसकी खानों को फ्रांस के जिम्मे कर दिया गया। शासन का काम एक आयोग को सौंपा गया जिसमें फ्रांसीसियों की प्रधानता रही। यह व्यवस्था की गयी कि पंद्रह साल के बाद लोकमत द्वारा निश्चय किया जाय कि सार पर किसका कब्जा रहे। यदि सार की जनता जर्मनी के साथ रहने का निर्णय करे तो जर्मनी को वहां की खानें फ्रांस से खरीदनी पड़ेगी। इसके मूल्य का निर्धारण एक फ्रैंच, एक जर्मन तथा एक राष्ट्रसंघ के विशेषज्ञ द्वारा होगा। इस प्रकार वर्साय-संधि के द्वारा जर्मनी का एक बहुत बड़ा भूभाग फ्रांस को दिया गया।

बेल्जियम और डेनमार्क की प्राप्ति : यूपेन, मार्सनेट तथा मल्मेडी के प्रदेश में जो जर्मनी के अधीन थे, लोकमत लिया गया और इसके बाद इन प्रदेशों को बेल्जियम को सुपुर्द कर दिया गया। श्लेसविग का प्रश्न भी लोकमत के द्वारा ही तय किया गया। 1864 में बिस्मार्क ने इस प्रदेश को डेनमार्क से जीत लिया था। परंतु यहां के अधिकांश निवासी डेनमार्क के साथ मिलना चाहते थे। अतः, उत्तरी श्लेसविग को, जहां के लोग डेनमार्क के साथ मिलना चाहते थे, वर्साय की संधि के द्वारा डेनमार्क को दे दिया गया।

जर्मनी की पूर्वी सीमा : जर्मनी को सबसे अधिक नुकसान पूर्वी सीमा में उठाना पड़ा क्योंकि इस तरफ के अधिकांश भूभाग को जर्मनी से छीनकर पोलैंड के दे दिया गया। युद्ध के समय ही मित्रराज्यों ने वादा किया था कि युद्ध समाप्ति के बाद एक स्वतंत्र पोलैंड का सृजना किया जायगा। विल्सन के चौदह सूत्रों में भी इस बात की चर्चा की गयी थी पर इस बात को मतैक्य नहीं था कि पोलैंड का सृजन और उसकी सीमा का निर्धारण किस प्रकार हो। पोलैंड की बड़ी-बड़ी मांगें थीं और क्लिमेशो उनका समर्थन करता था; लेकिन विल्सन लायड जार्ज ने यहां भी उसका विरोध किया। अंत में इस प्रश्न पर भी समझौता हो गया। इसके फलस्वरूप एक ऐसे विशाल पोलैंड का निर्माण किया गया जिसका मार्ग समुद्र तट से हो। इसके लिए डान्जिंग के शहर को, जो तेरहवीं सदी में जर्मनी द्वारा बसाया गया था और अभी भी जिसकी अधिकांश आबादी जर्मनी की ही थी; जर्मनी से छीन लिया गया और उसको एक स्वतंत्र 'नगर' के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। डान्जिंग को राष्ट्रसंघ की संरक्षता में रख दिया गया, लेकिन प्रत्येक दृष्टि से यह पोलैंड के प्रभाव क्षेत्र में ही रहा। समुद्र तक बिना रोक-टोक प्रवेश रखने के लिए डान्जिंग का बंदरगाह पोलैंड के लिए आवश्यक था, पर इसको जर्मनी से छीन लेना 'स्वशासन के सिद्धांत' का भयंकर उपहास था और 1939 में द्वितीय महायुद्ध के छिड़ने तक यह संकट का एक महान कारण बना रहा।

पोलैंड को डान्जिंग तक पहुंचने के लिए गलियारे की आवश्यकता थी। जर्मनी के बीचोबीच इस तरह का एक गलियारा निकालकर पोलैंड को दे दिया गया। इसके कारण पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से बिल्कुल अलग पड़ गया। वर्साय-संधि की यह एक भयंकर कमजोरी थी। जर्मनी जैसे वीर और प्रतापी देश के शरीर को दो टुकड़ों में विभक्त कर देना एक बहुत बड़ा अत्याचार था, पर विजय के मद में मित्रराज्यों ने इस बात पर जरा भी ध्यान नहीं दिया कि जर्मनी का इस प्रकार अंग-भंग करके वे भविष्य के लिए खतरनाक कांटा बो रहे हैं।

इसके अतिरिक्त साइलेसिया का छोटा हिस्सा चेकोस्लोवाकिया को, पोसेन और पश्चिमी प्रशा रोलैंड को, मेमल नामक बाल्टिक तटवर्ती बंदरगाह मित्रराज्यों को प्राप्त हुआ। पीछे चलकर इस बंदरगाह को 1923 में लिथुएनिया को दे दिया गया।

जर्मन-उपनिवेश : जर्मनी के अंग-भंग करने के बाद मित्रराज्यों का ध्यान संसार में फैले हुए जर्मन उपनिवेशों की ओर आकृष्ट हुआ। पेरिस सम्मेलन की बैठक के पूर्व ही यह बात निश्चित थी कि जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य उसको नहीं लौटाए जायेंगे। सम्मेलन के सामने जब यह प्रश्न आया तो यूरोप के महान्

राष्ट्रों ने इन उपनिवेशों को अपने-अपने साम्राज्य में मिला लेने का समर्थन किया। विल्सन ने यहां भी यूरोपीय राष्ट्रों का विरोध किया। विल्सन चाहता था कि इन उपनिवेशों पर राष्ट्रसंघ की संरक्षणता कायम हो। इस पद्धति को संरक्षण-प्रणाली (mandate system) कहा जाता है। अफ्रीका में जर्मनी के जो उपनिवेश थे उसके निवासियों की संख्या सवा करोड़ के लगभग थी। विल्सन के सिद्धांतों के अनुसार इन उपनिवेशों का भाग्य-निर्णय वहां के निवासियों की सम्मति के अनुसार होना चाहिए था, पर इन देशों को संरक्षण पद्धति के अंतर्गत भिन्न-भिन्न देशों को दे दिया गया। जर्मनी, दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका ब्रिटिश दक्षिण संघ का अंग हो गया। जर्मनी पूर्वी अफ्रीका भी ब्रिटेन के हाथ लगा। फ्रांस ने कैमरून तथा तोगोलैंड पर अधिकार कर लिया। दक्षिण प्रशांत द्वीप आस्ट्रिया को, सेमोआ न्यूजीलैंड को और नाउरू के द्वीप ब्रिटेन को दे दिये गये। कहने को तो इन प्रदेशों पर राष्ट्रसंघ की संरक्षता ही कायम रही, लेकिन वास्तव में प्रत्येक व्यावहारिक दृष्टिकोण से ये प्रदेश विविध साम्राज्यवादी राष्ट्रों के ही अधीन रहे। संरक्षण-पद्धति साम्राज्यवाद के नग्न रूप को छिपाने के लिए एक अच्छा आवरण था।

प्रशांत महासागर में जर्मनी के जो उपनिवेश थे उनको जापान के अधिकार में दे दिया गया। इस श्रेणी में बहुत-से ऐसे भूभाग थे जिन्हें चीन को वापस मिलना चाहिए था। क्याऊ चाऊ और शांतुंग के प्रदेश वास्तविक रूप से चीन के अंग थे और वे उसी को मिलना चाहिए था लेकिन जापान ने इसका विरोध किया और शांति-सम्मेलन में भाग नहीं लेने की धमकी भी दी। इस पर इन प्रदेशों को मित्रराष्ट्रों ने जापान को सुपुर्द कर दिया।

इस प्रकार प्रादेशिक परिवर्तन करके वर्साय-संधि ने जर्मनी का अंग-भंग कर दिया। स्वयं जर्मनी के अंग-भंग से उसके पंद्रह प्रति सकड़े प्रदेश, जिसमें जर्मनी की कुल आबादी का दसवां हिस्सा निवास करता था, उसके हाथ से निकल गये। इसके अतिरिक्त उसके अपने संपूर्ण उपनिवेशों से, जो अफ्रीका और पूर्वी एशिया में स्थित थे हाथ धोना पड़ा। पोलैंड के लिए एक गलियारे का इंतजाम करना, राइनलैंड पर मित्रराष्ट्रों का आधिपत्य रखना, सार पर राष्ट्रसंघ तथा फ्रांस का नियंत्रण रखना, जर्मनी के अन्य प्रदेशों को कांट-छांट कर पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया को दे देना इत्यादि कार्यों को केवल जुर्म ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ये सारी व्यवस्थाएं राष्ट्रीयता के सिद्धांत के सर्वथा विपरीत थीं। एक लेखक का कहना है कि वर्साय संधि के द्वारा द्वितीय महायुद्ध का बीजारोपण हुआ। वास्तव में यह उक्ति अक्षरण: सत्य है। 1939 में यूरोप में जो एक बार फिर युद्ध की अग्नि धधक उठी, उसका एक अत्यंत महत्वपूर्ण कारण यह था कि वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी का पुनर्निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धांत की सर्वथा उपेक्षा की गयी थी।

सैनिक व्यवस्था

जर्मनी की निरस्त्रीकरण : विजयी होने के कारण मित्रराष्ट्रों के मन में इस इच्छा का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि वे अपने शत्रुओं को यथासंभव दीर्घकाल तक के लिए सैनिक दृष्टि से पंगु बना दें। जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्रों की सुरक्षा को भी ध्यान में रखकर उसका निरस्त्रीकरण आवश्यक था। विराम संधि के समय जर्मनी ने अपने अधिकांश जहाजी बेड़े और भारी तोपखाने मित्रराष्ट्रों को समर्पित कर दिये थे। अब वर्साय संधि के द्वारा उसकी सैनिक शक्ति पर स्थायी प्रतिबंध लगा दिया गया। जर्मन सेना में सैनिक की संख्या बारह साल के लिए केवल एक लाख कर दी गयी। जर्मन-प्रधान सैनिक कार्यालय उठा दिया गया। अनिवार्य सैनिक सेवा को निषेध कर दिया गया। अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य युद्धोपयोगी सामग्रियों के उत्पादन को अत्यन्त सीमित कर दिया गया। उसकी नौ-सेना में केवल छह युद्ध-पोत और इतने ही गश्ती जहाज और विध्वंसक रह सकते थे।

पन्डुब्बी जहाज का बनाना बंद कर दिया गया। राइन नदी के किनारे इकतीस मील तक के भूभाग का असैनिकीकरण कर दिया गया। बाल्टिक सागर पर किलेबंदी करना भी बंद कर दिया गया और हैलीगोलैंड का किला तोड़ दिंया गया। निरस्त्रीकरण के इन उपबंधों को पालन करवाने और उनके निरीक्षण के लिए जर्मनी के खर्च से मित्रराष्ट्रों ने अपना एक सैनिक आयोग स्थापित किया। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सैनिक दृष्टि से जर्मनी को एकदम पंगु बना देने के लिए मित्रराष्ट्रों ने कोई भी कसर नहीं उठा रखी। ई० एच० कार का कहना है कि "जर्मनी का जिस कठोरतापूर्वक और संपूर्ण रूपेण निरस्त्रीकरण किया गया उतना और किसी देश का कभी नहीं किया गया था। इसका उल्लेख लिखित रूप में प्राप्त आधुनिक इतिहास में नहीं मिलता।" इसमें सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि यह निरस्त्रीकरण केवल एकतरफा था। जर्मनी जैसे देश के लिए इस बात को सहना असंभव था। इसलिए उसने संधि की इंस शर्त का घोर विरोध किया था, पर पसस्त जर्मनी के लिए यह बुद्धिमत्ता थी कि वह आंख मूंदकर वर्साय-संधि के कड़वे घूंट को चुपचाप पी जाय।

आर्थिक व्यवस्था

क्षतिपूर्ति : विजेता को अपने पराजित प्रतिपक्षी से युद्ध का समस्त व्यय वसूल करने का अधिकार प्राचीन युग से ही माना जाता आ रहा है, लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के समय अनेक देशों में यह भी मत व्यक्त किया गया था कि इस बार पराजित शत्रु से युद्ध की क्षतिपूर्ति (reparation) नहीं ली जाय। युद्ध के विशाल रूप ने ही स्पष्ट कर दिया कि इस बार क्षतिपूर्ति के दावे को पूरा करना किसी भी राष्ट्र की शक्ति के बाहर है। इसलिए मित्रराष्ट्रों ने विराम-संधि के समय सिर्फ यह दावा किया कि स्थल, जल या आकाश के जर्मनी के आक्रमण के कारण मित्रराष्ट्रों के नागरिकों और उसकी संपत्ति को जो क्षति पहुंची है उसकी पूर्ति की जाय। लेकिन पेरिस-सम्मेलन में ब्रिटेन और फ्रांस के प्रतिनिधि मंडलों ने यह मांग की कि जर्मनी युद्ध के संपूर्ण लागत की अदायगी करे। विल्सन ने इस मांग का विरोध किया। अंत में, इस प्रश्न पर एक समझौता हो गया। यह तय हुआ कि "जर्मनी मित्रराष्ट्रों के नागरिकों के धन-जन की जो भी हानि हुई उसकी क्षतिपूर्ति करे।" जर्मनी को संधि की 231वीं धारा के अनुसार सारे नुकसान और क्षति के लिए उत्तरदायी ठहराया गया।[14] हरजाने की वास्तविक रकम क्या हो, इस प्रश्न पर भी झगड़ा हुए बिना नहीं रह सका। अंत में यह तय हुआ कि मई, 1921 तक जर्मनी पंद्रह अरब रुपये प्रदान कर दे और बाद में एक अरब पचास करोड़ रुपये हर साल देता रहे। इस रकम से पहले मित्रराष्ट्रों की उन सेनाओं का खर्च चलाया जाय जो जर्मनी में ठहरी हुई थी। बाकी रकम की क्षतिपूर्ति कोष में मिनहा किया जाय। जर्मनी से कहा गया कि वह पांच सैकड़े के हिसाब से बेल्जियम की उतनी सारी रकम को शीघ्र लौटा दे जितना बेल्जियम ने युद्ध काल में मित्रराष्ट्रों से ऋण लिया था। संधि के द्वारा एक क्षतिपूर्ति आयोग की स्थापना की गयी। क्षतिपूर्ति की रकम निश्चित करने का काम इसी आयोग पर छोड़ दिया गया।

हरजाने की यह मात्रा कितनी अधिक थी, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। पर मित्रराष्ट्र इतने से संतुष्ट नहीं हुए। जर्मनी से यह भी कहा गया किं उसके पास चौआलीस हजार आठ सौ मन से अधिक वजन के जितने व्यापारिक जहाज हैं उन्हें वह मित्रराष्ट्रों को सौंप दे और पांच वर्षों तक मित्रराष्ट्रों के लिए प्रतिवर्ष छियासठ लाख मन का जहाज बनाता रहे। जर्मनी के जंगी जहाज तथा पनडुब्बियों पर मित्रराष्ट्रों का विराम-संधि के समय आधिपत्य हो गया था। अब व्यापारिक जहाज भी उससे छीन लिंये गये। युद्ध के पूर्व ब्रिटेन के बाद जर्मनी ही संसार की द्वितीय सामुद्रिक शक्ति था। लेकिन, अब जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति बिल्कुल नष्ट हो गयी। जर्मनी नौ-सेना का सबसे बड़ा केंद्र कील नहर थी। इस पर भी मित्रराष्ट्रों ने परोक्ष रूप से अपना अधिकार कायम कर लिया।

जिन क्षेत्रों पर जर्मनी का आक्रमण हुआ था उन क्षेत्रों पर पुनर्निर्माण के लिए जर्मनी को आर्थिक साधन लगाने को कहा गया। यद्यपि कोयले और लोहे की खानों के सभी मुख्य-मुख्य प्रदेश-सार और एल्सस-लोरेन जर्मनी के हाथ से ले लिये गये थे, फिर भी जर्मनी सत्तर लाख टन कोयला प्रतिवर्ष फ्रांस को, अस्सी लाख टन ब्रिटेन को और उतना ही हर साल बेल्जियम को दे। इसके अतिरिक्त जर्मनी से फ्रांस को कुछ महत्वपूर्ण रासायनिक पदार्थ भी देने को वादा कराया गया। 1870 ई० में जर्मनी ने फ्रांस से जो झंडा और कलात्मक वस्तुएं इत्यादि प्राप्त की थीं उन्हें लौटाने के लिए कहा गया। लोमे विश्वविद्यालय के कागजात और पाण्डुलिपियां, जो युद्ध में नष्ट कर दी गयी थीं, उनकी प्रतियां भी लौटाने को कहा गया।

अन्य व्यवस्थाएँ

युद्ध अपराध : वर्साय संधि की 231वीं धारा के अनुसार जर्मनी को युद्ध के लिए एकमात्र जिम्मेवार ठहराया गया। इनका अर्थ यह भी था कि जर्मनी नेता युद्ध-अपराधी हैं और उन्हें इस अपराध के लिए सजा मिलनी चाहिए। जर्मनी के सम्राट विलियम कैजर को सार्वजनिक और अंतर्राष्ट्रीय नियम एवं संधियों के विरुद्ध अपराध करने के लिए दोषी ठहराया गया। मित्रराष्ट्रों को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि कैजर तथा उसके प्रमुख साथियों पर अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने का मुकदमा चला सकें। मित्रराष्ट्रों ने एक अदालत की नियुक्ति की जिसको इन मुकदमों की जांच का भार दिया गया। इस अदालत का कार्य दंड निश्चित करना था। संधि के लागू होने के तुरंत बाद मित्रराष्ट्रों ने डच सरकार से अनुरोध किया कि वह कैजर को उन्हें सौंप दें। परंतु, हॉलैंड की सरकार ने 'राजनीतिक शरणार्थी' को वापस करने से इंकार कर दिया।

संधि के अनुसार जर्मनी को वादा करना पड़ा कि मित्रराष्ट्रों ने जिन व्यक्तियों पर आरोप लगाया है, उन व्यक्तियों को वह सैनिक न्यायालयों में मुकदमा चलाने के लिए सौंप देगा। इस शर्त के अनुसार 1921 में छह अपराधियों पर मुकदमें चले और उन्हें कारावास की सजा दी गयी। केवल जर्मनी के युद्ध-अपराधियों को ही सजा देना किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं था। मित्रराष्ट्रों के देश में ही बहुत-से ऐसे व्यक्ति थे जिनपर उन्हीं नियमों को भंग करने का दोषारोपण किया जा सकता था, पर उन्हें कोई सजा नहीं दी गयी। यदि मित्रराष्ट्रों की सरकारें भी इसी प्रकार के अपराध के लिए अपने देशवासियों पर मुकदमा चलाने के लिए तैयार हो जातीं तो अंतर्राष्ट्रीय नियम के इतिहास में एक नया अध्याय ही शुरू हो जाता।

अंत में वर्साय-संधि में ही इस संधि को कार्यान्वित करने के लिए कुछ व्यवस्थाएं की गयी थीं। राइन नदी से पश्चिम और जर्मनी के विशाल भूभाग पर मित्रराष्ट्रों को सैनिक अड्डा स्थापित करने की सुविधा दी गयी थी, अगर जर्मनी ने संधि के विरुद्ध कोई काम किया तो उस पर फौजी अधिकार का समय अनिश्चित काल तक के लिए बढ़ाया जा सकता था।

जर्मनी पर संधि का प्रभाव : इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्साय संधि की सभी शर्तें जर्मनी के लिए अपमानजनक थीं, लेकिन जर्मनी इन्हें आंख मींचकर स्वीकार करने के लिए विवश था। संधि के फलस्वरूप जर्मनी को यूरोप में अपने भूभाग के लगभग अठाईस हजार वर्गमील से वंचित हो जाना पड़ा। आबादी में उसके साठ लाख व्यक्ति कम हो गये। कच्चे लोहे के भंडार का 65 प्रतिशत, कोयले का 45 प्रतिशत, कच्चे जस्ता का 72 प्रतिशत, शीशे का 57 प्रतिशत, कृषि उत्पादन का 75 प्रतिशत और तैयार किये गये माल के लगभग 10 प्रतिशत भाग से उनको हाथ धोना पड़ा।

समुद्र-पार अफ्रीका और एशिया में जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य थे। ये सभी उपनिवेश भी उसके हाथ से निकल गये। इन उपनिवेशों से जर्मनी को तरह-तरह के कच्चे माल प्राप्त होते थे। जर्मनी को इनसे भी वंचित हो जाना पड़ा।

युद्ध के पूर्व जर्मनी सैनिक दृष्टिकोण से एक महान देश था, लेकिन वर्साय-संधि के कारण जर्मनी का सैनिक महत्व भी जाता रहा। उसकी सेना की संख्या में काफी कमी कर दी गयी और तरह-तरह की सीमाएं निर्धारित कर दी गयीं। यही दशा जर्मन नौ-सेना की भी हुई, जिसका स्थान युद्ध के पूर्व संसार में द्वितीय था। जर्मनी के भूभाग पर विदेशी सेनाएं रखी गयीं। इनका खर्च जर्मनी को ही देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त जर्मनी में विविध अंतर्राष्ट्रीय आयोग स्थित थे जो जर्मनी के राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक मामलों में बराबर हस्तक्षेप किया करते थे। इन सभी बातों के अतिरिक्त जर्मनी को क्षतिपूर्ति करनी थी जिसकी रकम निश्चित नहीं थी। क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चेक पर हस्ताक्षर कर दिये। वास्तव में जर्मनी को सदा के लिए कुचल देना ही वर्साय संधि का उद्देश्य था। जर्मनी पर संधि के प्रभाव का वर्णन करते हुए एक लेखक ने ठीक ही कहा है : "आर्थिक दृष्टि से पंगु, राजनीतिक दृष्टि से भग्न, सैनिक दृष्टि से पराजित, राष्ट्रीय दृष्टि से अपमानित, भौतिक दृष्टि से चूर्ण जर्मनी खेल से बाहर पीले व्यक्ति की तरह खड़ा था।"[15]

वर्साय संधि का मूल्यांकन

विविध प्रतिक्रियाएं : पेरिस का शांति-सम्मेलन अत्यन्त आशापूर्ण वातावरण में प्रारंभ हुआ था, परंतु उसका अंत व्यापक नैराश्य में हुआ। वर्साय संधि की शर्तों का कहीं भी स्वागत नहीं हुआ और उससे सबको निराशा ही हुई। संधि में फ्रांस के हितों पर सर्वाधिक ध्यान रखा गया था, परंतु जब क्लिमेशो ने अनुमोदन के लिए उसे फ्रांस की राष्ट्रीय सभा में प्रस्तुत किया तो उसके दोनों सदनों ने उस पर ब्रिटेन और अमेरिका के समक्ष कायरतापूर्वक अपने राष्ट्रीय हितों के बलिदान का दोष लगाया। लायड जार्ज पर अमरीका शांतिवाद के सामने कठोर न्याय का बलिदान करने तथा फ्रांस को प्रसन्न करने के लिए जर्मनी पर विनाशकारी संधि लादने का दोष लगाया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका की सिनेट ने तो वर्साय संधि को नामंजूर ही नहीं किया, वरन् विल्सन की सर्वाधिक प्रिय वस्तु राष्ट्रसंघ का सदस्य भी अमेरिका को नहीं बनने दिया। छोटे-छोटे राज्यों की भी यही स्थिति थी। वास्तव में इस नयी व्यवस्था में अनेक त्रुटियां थीं और संधि के जन्मदाता और हस्ताक्षरकारी भी उसमें अत्यन्त असंतुष्ट थे। दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमंत्री **जनरल स्मट्स** ने कहा था कि "मैंने संधि पर इसलिए हस्ताक्षर नहीं किया है कि मैं उसको ठीक मानता हूं, वरन् मैंने इस पर इसलिए हस्ताक्षर किया है कि मैं युद्ध की स्थिति का अंत देखना चाहता हूं।" उसके मतानुसार वर्साय-संधि द्वारा जो व्यवस्था हुई थी वह ऐसी थी जिसमें संशोधन की आवश्यकता पड़ेगी और क्षतिपूर्ति की रकमें भी इतनी अधिक थीं कि यूरोप के औद्योगिक पुनरुत्थान को गहरी चोटं पहुंचाये बिना वे वसूली नहीं जा सकती थी।[16] स्वयं राष्ट्रपति **विल्सन** ने स्वीकार किया था कि सम्मेलन के कार्य के लिए पुनरावृत्ति आवश्यक होगी। सम्मेलन में राष्ट्रसंघ पर अपना विचार व्यक्त करे हुए उसने कहा था : "यूरोप महायुद्ध की विभीषिकाओं को सहन कर श्रांत, क्लांत और उत्तेजित हो उठा। अतः उसके लिए एक अच्छी संधि करना असंभव था। परंतु यदि राष्ट्रसंघ को वैधानिक रूप दिया जाय तो फिर यह संधि की आपत्तिपूर्ण धाराओं में संशोधन करने का साधन बन सकेगा। फलस्वरूप जिस परिमाण में यूरोप की पारस्परिक घृणा कम होती जायगी उसी परिमाण में राष्ट्रसंघ की शक्ति बढ़ती चली जायगी जिससे त्रुटियों का संशोधन और उपयुक्त उपचार का प्रयोग होने लगेगा। संधि अस्थायी है और राष्ट्रसंघ स्थायी है। संधि रूपी छोटा-सा यंत्र अंत में राष्ट्रसंघ रूपी बड़े यंत्र में विलीन हो जायगा।"

आरोपित संधि : वर्साय संधि को एक "आरोपित संधि" की संज्ञा दी जाती है। इस संबंध में सबसे पहली विचारणीय बात यह है कि इसमें अंतर्राष्ट्रीय शिष्टाचार एवं रिवाज का उल्लंघन किया गया था। इस संधि को तैयार करते समय विजित राष्ट्रों को अलग रखा गया था। 1814 के वियना सम्मेलन में एकत्रित राज्यों में सम्मेलन में पराजित फ्रांस को भी आमंत्रित किया था, परंतु इस समय ऐसा नहीं किया गया। संधि का आधार

दो पक्षों में विचारों का आदान-प्रदान होता है। इस दृष्टि से वर्साय की संधि तो कोई संधि ही नहीं थी। यह मित्रराष्ट्रों का आदेश था, उनका हुक्म था जिसको स्वीकार करने के अतिरिक्त जर्मनी के सामने कोई अन्य मार्ग नहीं था। इसलिए प्रारंभ से ही जर्मनी के राजनीतिज्ञ इस संधि को "आरोपित शांति" (dictated peace) की संज्ञा देने लगे। उसका कहना था कि यह विजेताओं द्वारा विजितों पर लादी गयी संधि है और उसका आधार विचारों का परस्पर आदान-प्रदान नहीं है। वैसे तो युद्ध समाप्त करने वाली लगभग प्रत्येक संधि आरोपित होती है, लेकिन जैसा **प्रोफेसर कार** का कथन है, वर्साय संधि में आरोप का भाव सभी शांति-संधियों, की अपेक्षा अधिक स्पष्ट था।[17] संधि पर अपना विचार व्यक्त करने के लिए जर्मनी को एक ही अवसर दिया गया और दूसरी बार संधि का संशोधित मसविदा उसको दिया गया तो धमकी के साथ कि अगर वह एक निश्चित समय तक हस्ताक्षर नहीं कर देगा तो युद्ध पुनः प्रारंभ कर दिया जायगा। जैसा कि **एडम्स गिबन्स** ने लिखा है : "पारस्परिक सहानुभूति की अनुपस्थिति में वह एक शक्ति की शांति थी और उसकी शर्तों का कार्यान्वयन केवल उस समय तक संभव था जब तक कि यह शक्ति जिसने जर्मनी को हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया था, उसे कार्यान्वित करती रहे।" पीछे चलकर अगर जर्मनी ने इस आरोपित संधि का उल्लंघन भी किया तो इसको ,किसी भी दृष्टिकोण से अनुचित नहीं कहा जा सकता है। ब्रिटिश पार्लियामेंट में **लार्ड ब्राइस** ने कहा था कि शांति केवल संतोष से हो सकती है। इन संधियों का परिणाम राष्ट्रों को असंतुष्ट बनाना है और इससे क्रांतियां और युद्ध होंगे।

साधारण शिष्टाचार का उल्लंघन : संधि के संबंध में एक दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि संपूर्ण वार्तालाप के समय और हस्ताक्षर करने के समय जर्मनी के साथ मामूली शिष्टाचार के नियम का भी पालन नहीं किया गया। सार्वजनिक अप्रतिष्ठा से परेशान होकर एक जर्मन प्रतिनिधि को कहना पड़ा था कि "हमारे प्रति फैलायी गयी उग्र घृणा की भावना से हम सुपरिचित हैं।" हस्ताक्षर करने के अवसर पर जर्मन के प्रतिनिधियों के साथ समानता का भाव नहीं बरता गया, बल्कि अपराधी की तरह उन्हें हाल के बाहर और भीतर ले जाया गया। 28 जून, 1919 का आंखों देखा हाल का वर्णन एक सज्जन ने इस प्रकार किया : "आज मैंने जर्मन प्रतिनिधियों को हस्ताक्षर करते देखा...तीन बजे सहसा शांति का वातावरण छा गया और तब जर्मन प्रतिनिधि पधारे, इसके आगे दो-चार शस्त्र सज्जित अफसर चल रहे थे। ...घृणा का वातावरण अत्यन्त भयंकर था। मेज पर संधि-पत्र रखा था। इसके बाद क्लिमेंशो उठा और उसने जर्मन प्रतिनिधि को हस्ताक्षर करने को कहा। इसके पश्चात् वे उठकर आगे आये और अत्यंत निस्तब्ध में हस्ताक्षर किये। उधर तोपें दगने लगीं।"

क्या ये तोपें शांति की थीं या विजय की अथवा वे भावी युद्ध का आह्वान कर रही थीं ? इन अनावश्यक अपमानों का जर्मनी पर बहुत जबर्दस्त मानसिक प्रभाव पड़ा। "आरोपिती शांति" की धारणा जर्मन लोगों में और मजबूत हो गयी और वे शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुंच गये कि उपरोक्त परिस्थिति में जर्मनी से कराये गये हस्ताक्षर उन पर नैतिक रूप में बंधनकारी नहीं है। इसलिए संधि की दो महत्वपूर्ण शर्तों को जर्मन लोग संधि पर हस्ताक्षर करने के पूर्व ही तोड़ चुके थे। प्रथम तो 1870 में पकड़े गये फ्रांसीसी बेड़े का डुबोना और दूसरे बर्लिन में फ्रांसीसी राष्ट्रीय झंडे को जलाना।

संधि का विश्वासघात : वर्साय की संधि जर्मनी के साथ एक महान विश्वासघात था। जर्मनी में विल्सन के 'चौदह सूत्रों' के आधार पर आत्मसमर्पण किया था, लेकिन इन सूत्रों का खुलेआम उल्लंघन किया गया। संधि के संबंध में किसी ने ठीक ही कहा है कि यह पाखंड, घृणा, प्रतिशोध, आदर्शवाद तथा भौतिकवाद का विभिन्न संबंध है। इसे अनैतिक शब्दावलियों में तैयार किया गया था जो युद्धकालीन प्रयुक्त भाषा से बिल्कुल भिन्न था। वास्तव में पेरिस-सम्मेलन प्रधान मंत्रियों के एक विशेष गुट की स्वेच्छाचारिता का नमूना था और उसका प्रमुख काम युद्ध की लूट को बांटना और पराजित को अच्छी तरह रौंदना था। फ्रांस द्वारा राइन प्रदेश

पर अधिकार की चेष्टा, इटली द्वारा डालमेशिया पर अधिकार कर लेना और पोलैंड द्वारा समस्त उत्तरी साइलीशिया अपहरण इस बात के उदाहरण हैं। जर्मनी के साथ राष्ट्रीयता के सिद्धांत का पालन नहीं किया गया। फिर इस संधि की शर्तें एकपक्षीय थीं। पराजित पक्ष पर तो बहुत शर्तें लाद दी गयीं, परंतु विजेताओं को उनसे पूर्णत: मुक्त रखा गया। जर्मनी के साथ यह घोर अन्याय और विश्वासघात तथा चौदह सूत्र के साथ मजाक था। विल्सन के "चौदह सूत्रों" का उद्देश्य यह था कि विजेता और विजित दोनों ही अपना-अपना निरस्त्रीकरण कर देंगे। जर्मनी का निरस्त्रीकरणं तो कर दिया गया, किंतु विजयी राष्ट्रों ने अपनी सैन्यशक्ति में कोई कमी नहीं की। वास्तव में "चौदह सूत्रों" का पालन उन्हीं अवस्थाओं में किया गया जब मित्रराष्ट्रों को उसे कुछ लाभ प्राप्त होने को था; अंन्यथा अन्य अवस्थाओं में उसका उल्लंघंन ही होता रहा।[18] इन बातों से जर्मनी में यह धारणा उत्पन्न हुई कि उसके साथ जो अन्याय हुआ है, उसका कारण युद्ध नहीं, वरन् युद्ध में उसकी पराजय है। अत: उन्हें इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वे युद्ध की तैयारी करें कि अगले युद्ध में उन्हें कोई नहीं हरा सके। यदि निरस्त्रीकरण आदि की शर्तें दोनों पक्षों पर लागू होतीं तो जर्मनी में कोई असंतोष नहीं होता। जर्मनी की मुख्य शिकायत यही थी। यह कहा जाता है कि पेरिस का शांति-सम्मेलन कोई अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन नहीं, वरन् मित्रराष्ट्रों की अदालत था, जहां जर्मनी और उसके साथी राज्यों को केवल फैसला सुनाने के लिए बुलाया गया। सम्मेलन शुरू होने पर क्लिमेंशो ने कहा था इसमें सभी पक्षों को बुलाया जायगा और जो भी कुछ कहना चाहे कह सकता है। लेकिन इस वचन का पालन नहीं किया गया और वर्साय-संधि की यह सबसे बड़ी त्रुटि साबित हुई। चूंकि सम्मेलन में जर्मनी शामिल नहीं हुआ, इसलिए कठोर शर्तों का किसी ने विरोध नहीं किया। विरोध के अभाव में संधि का स्वरूप एकपक्षीय हो गया। इसके अतिरिक्त चूंकि जर्मनी सरकार के किसी प्रतिनिधि को सम्मेलन में शामिल नहीं होने दिया गया, अतएव वहां की सरकार के लिए जनमत का संधि के पक्ष में करना कठिन तथा असंभव दोनों हो गया। यदि जर्मनी को भी शांति-सम्मेलन में शामिल होने दिया जाता तो संभव था कि संधि की वह दुर्गति नहीं होती जो बाद में उसकी हुई।[19]

कठोर संधि : वर्साय की संधि जर्मनी को भविष्य के लिए एक सबक देने के उद्देश्य से की गयी थी। ब्रिटेश प्रधानमंत्री लायड जार्ज के निम्न वाक्यों में यह साफ-साफ झलकता है। उन्होंने कहा था : "इस संधि की धाराएं युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गयी हैं। जिन लोगों ने इस युद्ध को शुरू किया था उन्हें दुबारा ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देना है।" यही कारण है कि संधि की शर्तें इतनी कठोर थीं। क्षतिपूर्ति की कठोर शर्तों का विरोध करते हुए ब्रिटिश मंत्रिमंडल के सदस्य मि० केन्स ने अपना त्यागपत्र दे दिया था। इसको उसने कार्थेजीनियन" संधि[20] (Carthaginian Peace) कहा था। भूतपूर्व जर्मन चांसलर बेथमान-हालवेग का कहना था कि "पराजित को गुलाम बनाने का इससे बढ़कर विश्व में कभी भी भयानक उपाय नहीं देखा।" यदि संधि की शर्तों को स्थायी बनाने में मित्रराष्ट्रों की सफलता मिल जाती तो जर्मनी का नाम संसार की महान शक्तियों में से हमेशा के लिए मिट जाता। क्षतिपूर्ति की शर्तें तो अत्यन्त कठोर और दर्दनाक थीं। संधि की इस आर्थिक व्यवस्था को चर्चिल ने मूर्खतापूर्ण कहा है उसके शब्दों में : "इतिहास इन लेन-देन को पागलपन की संज्ञा प्रदान करेगा। उन्होंने सैनिक अभिशाप और आर्थिक संकट की उत्पत्ति में सहायता पहुंचायी, ये सब उस जटिल मूर्खता की दुखद कहानी है जिसकी रचना से पर्याप्त भ्रम और सद्‌गुणों का अपव्यय हुआ था।"[21]

कठिन सिद्धांतों पर आधारित संधि : वर्साय की संधि स्थायी बुद्धि पर आधारित न होकर कठिन भावावेश पर आधारित थी। इसमें बुद्धिमत्ता, न्याय और संतुलित निर्णय का सर्वथा अभाव था और इसका एकमात्र उद्देश्य जर्मनी को पूर्णतया कुचल देना था। इसके अतिरिक्त इस संधि में ऐसे-ऐसे सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया था जिसका पूरी तरह पालन करना असंभव था। उदारणार्थ आत्मनिर्णय के सिद्धांत की दृष्टि से तो यह सराहनीय था, पर इसको व्यावहारिक रूप देना अत्यधिक कठिन था। इसका प्रयोग किस हद तक होगा इसका निर्धारण इस संधि में नहीं किया गया था। इस कारण इस सिद्धांत ने यूरोप में नयी समस्याएं उत्पन्न कर दीं।

द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण : वर्साय-संधि जैसी कठोर और अपमान जनक संधि की शर्तों को कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र एक लंबे काल तक के लिए बर्दास्त नहीं कर सकता था। जर्मनी जैसे स्वाभिमानी राष्ट्र के लिए एक तरह की स्थिति कोई "सबक" नहीं हो सकती थी। यह एक घोर अपमान था जिसको जर्मनी कभी नहीं सह सकता था। उसके लिए यह स्वाभाविक था कि भविष्य में वह फिर युद्ध द्वारा ही अपने अपमान को धोने का प्रयत्न करे। इस प्रकार भावी युद्ध के बीज वर्साय-संधि में आरंभ से ही विद्यमान थे। पेरिस के शांति सम्मेलन की सबसे बड़ी "सफलता" यह है कि उसने "एक विष-वृक्ष के बीज का आरोपण किया जो 1939 में एक विशाल संहारक वृक्ष के रूप में परिवर्तित हो गया और उसके कटु फलों को संपूर्ण संसार को बुरी तरह चखना पड़ा।"[22] जर्मनी अभी असहाय था। उसको वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर करना ही था, पर जैसा **एर्जबर्गर** ने विराम-संधि के समय में कहा था : "जर्मन जाति कष्ट सहेगी, परंतु मरेगी नहीं।" जर्मनों को जैसे-जैसे मौका मिलता गया वैसे-वैसे वह संधि की शर्तों का उल्लंघन करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही वर्षों में यूरोप का राजनीतिक वातावरण अत्यंत अशांत हो गया और संसार को प्रथम महायुद्ध से भी अधिक भयंकर एवं प्रलयकारी युद्ध देखना पड़ा।

जर्मन आक्रमण के विरुद्ध फ्रांसीसी सुरक्षा की गारंटी देना वर्साय-संधि का एक प्रमुख लक्ष्य था, परंतु दुर्भाग्यवश फ्रांस को चैन नहीं मिला। लायड जार्ज का विचार था कि "साठ वर्ष तक जर्मनी का उत्थान नहीं हो सकता है," लेकिन क्लिमेंशो तथा अन्य फ्रांसीसी राष्ट्रवादियों का दूसरा ही विचार था और वे पराजित जर्मनी के भय से बराबर सशंकित रहते थे। संधि पर हस्ताक्षर होने के कुछ ही दिनों बाद फ्रांस का वयोवृद्ध राजनेता पोआंकारे अवकाश ग्रहण कर लोरेन में विश्राम करने के लिए चला गया। वहां वह अपने बंगले की पूर्वी खिड़की पर खड़ा होकर बराबर कहा करता था-"वे पुन: आयेंगे।" करीब-करीब सभी फ्रांसीसी पोअंकारे के इस विचार से सहमत थे। 1919 में **क्लिमेंशो** ने कहा था : "मैं जो कहता हूं उसको ध्यानपूर्वक सुनो। छह महीने में, एक साल में, पांच साल में जब वे चाहेंगे पुन: हम पर आक्रमण करेंगे।" फ्रांस का यह भय कोई काल्पनिक नहीं था। अंततः यह सत्य साबित हुआ और वे पुन: आ धमके। लार्डस सभा में इस समझौते पर भाषण करते हुए **लार्ड ब्राइस** ने कहा था : "शांति केवल संतोष के द्वारा आ सकती है। इन संधियों का परिणाम राष्ट्रों को असंतुष्ट बनाना है। इससे विद्रोह और युद्धों के लिए भूमि तैयार होगी।" संधि के अवसर पर **मार्शल फॉच** (Foch) ने भी कहा था कि वर्साय की सन्धि कोई सन्धि नहीं है; यह बीस वर्षों के लिए एक विराम सन्धि है।"[23] फॉच की भविष्यवाणी सत्य निकली और बीस वर्ष में ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध को युद्धांतक युद्ध कहा गया था। उसी तरह वर्साय की संधि को शांति को अंत करनेवाली शांति (peace to end peace) कहा जा सकता है।

वर्साय-संधि की इन विशेषताओं के कारण इसके संवंध में यह कहा जाता है कि वह शांति की व्यवस्था न होकर वस्तुतः दूसरे विश्वयुद्ध की व्यवस्था थी अर्थात् इसमें द्वितीय विश्व युद्ध के बीज विद्यमान थे। 1939 में संसार के रंगमंच पर जिस तांडव नृत्य का दृश्य प्रारंभ हुआ उसकी तैयारी इसी के साथ शुरू होती है। वास्तव में दो विश्व-युद्धों के बीच का काल इस संधि की व्यवस्थाओं को तोड़ने का काल है। इस दृष्टि से इस संधि को बहुत सफल नहीं कहा जा सकता है। इसके भाग अनेक मित्रराष्ट्रों की सहमति, उपेक्षा और विरोध से संशोधित एवं भंग होते चले गये। 1926 में जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता देकर संधि के प्रथम भाग में संशोधन किया गया। संधि के पांचवें भाग को जर्मनी 1935 में अपने आप ठुकरा दिया। इसके युद्धबंदियों संबंधी सातवें और क्षतिपूर्ति विषयक आठवें भाग को कभी पूरी तरह लागू नहीं किया गया। 1935 से 1938 के बीच जर्मनी ने संधि के बारहवें भाग की कटु आलोचना की। चौदहवें भाग को स्वयं मित्रराष्ट्रों ने 1930 में समाप्त कर दिया। 1938 में जर्मनी ने संधि के दूसरे, तीसरे और चौथे भाग को भी ठुकरा दिया। जब हिटलर ने संधि के पांचवें और बारहवें भाग पर आक्रामण किया तो उसका विरोध न करके उसको प्रोत्साहित किया गया।

अतएव मार्च 1938 में उसने आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिला लिया। उसी वर्ष सितंबर में चेकोस्लोवाकिया को वह निगल गया। लेकिन अंत में जब उसने पोलैंड से संबंधित व्यवस्थाओं को तोड़ने का यत्न किया तो द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ हो गया। इस प्रकार वर्साय की संधि पूर्णतया असफल रही और यह द्वितीय विश्वयुद्ध का मूल साबित हुई।[24]

राजनेतृत्व की महान् पराजय : इन सब कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 1919 का सम्मेलन और उसके कृत्य राजनेतृत्व की महान् असफलता (the great failure of statesmanship) थी। यह एक ऐसी संधि थी जिससे न तो विजेताओं को संतोष मिला और न विजितों को ही। यूरोप में इसने एक ऐसे अशांत वातावरण को उत्पन्न कर दिया जिसका परिणाम आनेवाले पीढ़ी को भी भुगतना पड़ा। विल्सन, लायड जार्ज, क्लिमेंशो आदि नेताओं को 1919 में एक स्वर्णिम अवसर मिला था। यदि वे संयम से काम लेते लो संसार में स्थायी शांति की नींव डाली जा सकती थी। लेकिन क्षणिक भावावेश के प्रभाव में आकर वे मानसिक संतुलन खो बैठे और एक महान अवसर उनके हाथ से निकल गया। राजनेताओं से इस तरह की बात की आशा नहीं की जाती है।

वर्साय संधि का औचित्य

वर्साय-संधि की कठोरता के विषय में जो कुछ भी कहा जाय वह थोड़ा ही है; लेकिन और उस पर विचार करते समय हमें कई बातों पर भी ध्यान रखना चाहिए। पहली बात यह है कि अगर जर्मनी प्रथम महायुद्ध में जीत जाता तो वह ठीक इसी प्रकार की कठोर संधि को मित्रराष्ट्रों पर लादता। यह बात ब्रेस्ट लिटोव्स्क की संधि से स्पष्ट है। यह वर्साय-संधि से किसी प्रकार भी कम कठोर नहीं थी। इस संधि के द्वारा विजेता जर्मनी ने ठीक उसी प्रकार विजित रूसियों की दुर्दशा की थी जिस प्रकार पीछे चलकर विजेता मित्रराष्ट्रों ने विजित जर्मनी की। मित्रराष्ट्रों ने एक प्रकार से जर्मनी का ही अनुकरण किया। स्वयं **लायड जार्ज** ने ब्रिटिश संसद में इस प्रकार के उद्‌गार व्यक्त किये गये थे। "प्रस्तावित संधि को जर्मनी के साथ किसी प्रकार अन्याय नहीं कहा जा सकता। कुछ शर्तें अवश्य भयानक जंचती हैं, परंतु यदि जर्मनी कहीं जीत जाता तो इससे भी अधिक भयानक परिणामों का आज हमें सामना करना पड़ता।" कुछ लोग इसको कठोर और अन्यायपूर्ण संधि मानने से लिए तैयार नहीं है। इतिहासकार **हॉल** एवं **डेविस** ने लिखा है : "यह संधि राइनलैंड पर फ्रांस को अधिकार दे सकती थी, जर्मनी को 1869 की भाँति मेन नदी पर विभक्त कर सकती थी...पर इसमें इस तरह की बेहूदी व्यवस्था नहीं की गयी। अतः यह कहना गलत है कि कार्थेज जैसी शांति थी। कार्थेज को विध्वंस कर दिया गया था, उसकी मिट्टी में नमक मिला दिया गया था। पराजित जर्मनी के साथ उससे कहीं अच्छा व्यवहार किया गया था जो जर्मनी के लोगों ने ब्रेस्ट लिटोव्स्क की संधि में रूसवालों के साथ किया था। वर्साय की संधि में विजेताओं ने न केवल जर्मनी का विध्वंस किया किंतु अपनी शर्तों की कठोरता कम करने के लिए दो उपायों की व्यवस्था भी कर दी। एक तो क्षतिपूर्ति आयोग की नियुक्ति थी जो उसके हरजाने की रकम को कम कर सकती थी और दूसरा राष्ट्रसंघ था, जो इसके अन्याय को हटा सकता था।"

जनमत : ध्यान देने योग्य एक दूसरी बात यह है कि मित्रराष्ट्रों में जनमत जर्मनी के एकदम विरुद्ध था और यूरोप की जनता चाहती थी कि पेरिस में बैठे हुए उनके प्रतिनिधि जर्मनी पर कड़ी शर्तें लादें। यह भावना फ्रांस में काफी तीव्र थी। संधि ऐसे समय में की गयी थी जब कि शत्रु द्वारा किये गये भयंकर विनाश और अपार कष्टों की स्मृति राष्ट्रों में अभी भी ताजी थी और विजित राष्ट्रों के विरुद्ध भावनाएं बड़ी तीक्ष्ण थीं। अगर सम्मेलन में शामिल हुए प्रतिनिधि जर्मनी के प्रति थोड़ा भी नरम रुख अपनाते तो संभव था कि कुछ देशों में सरकार के विरुद्ध विद्रोह हो जाता। मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि स्वतंत्र नहीं थे। उन्हें अपने देश की जनता के तीव्र प्रतिरोध की भावनाओं को ध्यान में रखना था। जनमत की उपेक्षा करना उनके लिए असंभव था।[25]

विविध आयोग और कार्य पद्धति : संधि के कठोर होने का एक और कारण था। वर्साय की संधि कई प्रयोगों द्वारा तैयार की गयी थी। अलग-अलग आयोगों ने अपने निर्णय अलग-अलग दिये थे और वे सब संधि में शामिल कर लिये गये। यह देखने का प्रयत्न नहीं किया गया कि जर्मनी पर उनका सबका सम्मिलित प्रभाव क्या होगा। इसका परिणाम यह हुआ कि संधि अत्यंत कठोर बन गयी।

यदि शांति-सम्मेलन की कार्य-पद्धति दूसरी होती तो यह संभव था कि वर्साय की संधि का स्वरूप ऐसा नहीं हो पाता। सम्मेलन के प्रारंभ में ही यह प्रश्न उठा था कि विजितों के साथ जो संधि हो वह अंतिम हो या अस्थायी। बहुत लोगों, जिनमें मार्शल फॉच का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, का कहना था कि अभी तत्काल के लिए अस्थायी शांति-संधि कर ली जाय और बाद में काफी सोच-समझकर एक स्थायी शांति-संधि की जाय। यदि ऐसा होता तो वर्साय की संधि उतनी कठोर न होती और यूरोप में जो भी व्यवस्था कायम होती वह स्थायी रहती क्योंकि कुछ समय बीत जाने के बाद घृणा और कटुता का वातावरण समाप्त हो जाता। लेकिन शांति-सम्मेलन के कर्णधार किसी तरह की विलंब नहीं चाहते थे। अनेक कारणों से वे चाहते थे कि जो कुछ करना हो वह तुरंत और तत्काल हो जाय। वस्तुतः वे "अभी और तुरंत कर लो" की नीति के समर्थक थे।[26] बात यह थी कि मित्र राष्ट्रीय देशों के नागरिक जर्मनी से बदला लेने के लिए अधीर थे और राजनीतिज्ञों को अपने देश के जनमत का ख्याल करना था। कर्नल हाउस ने इसीलिए कहा था कि छोटी-छोटी बातों पर आवश्यकता से अधिक विचार करने की अपेक्षा जल्द-से-जल्द शांति स्थापना कर लेना श्रेयस्कर है। एक अच्छी शांति-व्यवस्था की अपेक्षा एक तात्कालिक शांति-व्यवस्था को वह अधिक उचित मानता था। शुरू में यद्यपि विल्सन भी एक अस्थायी शांति-संधि का ही समर्थक था, लेकिन बाद में वह भी इसका विरोधी हो गया। साम्यवादी रूस का प्रादुर्भाव अशांत जनमत, यूरोप की ढुलमुल राजनीतिक स्थिति, नये-नये राज्यों की परेशानी, लूट में अधिक-से-अधिक हिस्सा प्राप्त करने की आकांक्षा आदि तथ्यों ने पेरिस में एकत्र राजनेताओं को बाध्य कर दिया कि बिना खूब सोचे-समझे ही वे इतने महत्वपूर्ण शांति समझौते की रचना कर लें। वर्साय-संधि का मूल्यांकन करते समय हमें इन सारी परिस्थितियों पर ध्यान रखना होगा।

विविध आकांक्षाएं : पेरिस में भिन्न-भिन्न देशों के जितने प्रतिनिधि-मंडल आये थे उनकी अपनी- अपनी आकांक्षाएं थीं और सभी चाहते थे उनकी मांगें पूरी कर दी जाएं। लेकिन यह असंभव था। ऐसी स्थिति में शांति-सम्मेलन के समक्ष इन विविध विचारों तथा मांगों में समन्वय कराने की समस्या थी। सभी को खुश करना था और साथ ही एक न्यायपूर्ण व्यवस्था का निर्माण करना भी था। निश्चय ही, यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है और शांति सम्मेलन को इस कार्य को संपन्न करने में पूरी सफलता नहीं मिली।[27]

राष्ट्रीयता का सिद्धांत : लेकिन संधि का निर्माण केवल भय और प्रतिशोध की भावनाओं के आधार पर ही नहीं हुआ, इसमें उदार आदर्शों को भी ध्यान दिया गया था। प्रादेशिक व्यवस्था का आधारभूत सिद्धांत राष्ट्रीयता और आत्म-निर्णय का सिद्धांत था। नये यूरोप का निर्माण बहुत हद तक इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर हुआ। पाल बर्डसाल लिखते हैं : "अनेक अन्यायों के बावजूद पेरिस की इन संधियों ने यूरोप के जिस मानचित्र का निर्माण किया उसमें विभिन्न राष्ट्रों की सीमाएं, जातियों का प्रदर्शन करने वाले यूरोप के मानचित्र भी सीमाओं से अधिकतम साम्य रखती थी।" कुछ बातों में राष्ट्रीयता के सिद्धांत का उल्लंघन अवश्य हुआ परंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि अधिकांश मामले में इस सिद्धांत का पालन हुआ और राष्ट्रीयता की दृष्टि से 1919 के बाद यूरोप का मानचित्र 1914 के पहले के यूरोप से अधिक संतोषजनक था। इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी कार्य ऐसा नहीं हो सकता जिससे सभी लोग संतुष्ट हों।

हमें यह भी मानना पड़ेगा कि पेरिस की शांति-व्यवस्था से आत्म-निर्णय के सिद्धांत को अधिक-से-अधिक प्रश्रय दिया गया। चेक, पोल, फिन, क्रीट, लेट्ट, अलसेसियन आदि जातियां पराधीनता से मुक्त हुईं। वियना

शांति-व्यवस्था (1814-15) में इस तरह की कोई बात नहीं थी। वर्साय तथा अन्य शांति-संधियों के द्वारा बहुत से स्थानों में जनमत संग्रह की व्यवस्था की गयी जिससे वहां के निवासियों को विचार अभिव्यक्ति का अवसर मिले। इन संधियों के फलस्वरूप जितने लोग पराधीनता से मुक्त कराये गये उतने किसी भी संधि से अभी तक मुक्त नहीं कराये गये थे। चार करोड़ पराधीन लोगों की संख्या घटकर एक करोड़ साठ लाख पर आ गयी। यूरोप में अब केवल तीन प्रतिशत लोग ही विदेशी दासता के चंगुल में बच गये, शेष सभी स्वाधीन हो गये। अल्पसंख्यकों के विशिष्ट हितों की रक्षा के लिए भी प्रयत्न किये गये। 'एक राष्ट्र एक राज्य' के सिद्धांत के आधार पर कई राज्य निर्मित हुए।

सम्मेलन की कठिनाइयां : हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि जब पेरिस में सम्मेलन की कार्यवाही शुरू हुई तो उसके समक्ष कई कठिनाइयां आयीं। तरह-तरह के व्यक्ति थे और तरह- तरह की आकांक्षाएं थीं। इस हालत में संधि की शर्तों को आसानी से तय कर लेना कोई सहज काम नहीं था। हर कठिनाइयों के संबंध में लैंगसम ने ठीक ही लिखा हैं : "पेरिस की जमघट केवल ऐसी शांति-संधि का मसविदा तैयार करने के लिए नहीं बुलाया गया था, जो 23 मित्र राष्ट्रों में से कम-से-कम महत्वपूर्ण राष्ट्रों को संतुष्ट करे तथा एक ऐसे राष्ट्रसंघ की मसविदा पर सहमत हो, जो 40 या 50 राष्ट्रों को, जो मित्रवत् नहीं थे, मंजूर बल्कि प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर उसे केंद्रीय तथा पूर्वी यूरोप के भूखे करोड़ों लोगों के भोजन का प्रबंध करना, बेचैन विजयी सेनाओं को नियंत्रित करना, देश में मूर्छाग्रस्त जनमत को संतुष्ट करना तथा दर्जनों राष्ट्रों के बीच शांति स्थापित करना था, जिन्होंने अपने छोटे-छोटे युद्ध लड़े थे। पोल, यूक्रेनीं, रूमानियावासी, हंगरीवासी, यूनानी, तुर्क, सर्बलोग, मोटेनेग्रिवन, चेक, जर्मन, रूसी आर्मिनियाई, इटलीवासी तथा युगोस्लाव लोग सभी संघर्ष में शामिल हुए थे। इन सबसे भी ऊपर अमेरिका के विल्सन के साथ आदर्शवाद तथा युद्धकालीन आवश्यकताजनित विभिन्न यूरोपीय राज्यों के बीच की गयी गुप्त संधियों के बीच संघर्ष था। बड़े राष्ट्र अपनी नीतियों तथा दृष्टिकोणों पर एक दूसरे से इतने दूर थे तथा उनके हित इतने विभिन्न थे कि यदि कोई दूसरा बिस्मार्क या तेलरां जर्मनी के हित को देखनेवाला होता तो अंतिम रूप से वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर ही नहीं हो पाता।"

रूस की क्रांति : वर्साय संधि के संबंध में एक और बात विचारणीय है और वह है रूस की समाजवादी क्रांति। 1917 की क्रांति के फलस्वरूप में जो व्यवस्था कायम हुई थी वह समस्त संसार के लिए चुनौती बन रही थी। फलतः पेरिस-सम्मेलन में एकत्रित नेताओं ने अपने विचार-विमर्शों में इस चुनौती को हमेशा ध्यान में रखा। उन्होंने घबड़ाकर यह निश्चय किया कि कोई ऐसा काम नहीं किया जाय जिससे जर्मनी सोवियत-व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाय। अमेरिकी प्रतिनिधिमंडल के एक सदस्य रे स्टैंर्ड बेकर ने लिखा है : "सभी समय, सम्मेलन में बातचीत के प्रत्येक मोड़ पर, अव्यवस्था का एक भूत खड़ा होता था जैसे पूर्व से एक काला बादल उठकर समूचे संसार पर आच्छादित होने और उसे निगल जाने की धमकी दे रहा हो।"[26]

राष्ट्रसंघ : वर्साय-संधि के पक्ष और विपक्ष में जो कुछ भी कहा जाय परंतु एक महत्वपूर्ण बात तो माननी ही पड़ेगी कि संसार में शांति-स्थापित करने के लिए इसने एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की थी। प्रथम विश्वयुद्ध इस उद्देश्य से भी लड़ा गया था कि भविष्य में कभी युद्ध नहीं हो। वर्साय-संधि के द्वारा इस दिशा में एक निश्चित कदम उठाया गया और एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया गया जिसके द्वारा युद्ध को तथा उसके कारणों को दूर किया जा सके। साथ ही, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ और अनेक संस्थाओं का भी निर्माण किया गया। यद्यपि राष्ट्रसंघ अपने कार्य में सफलीभूत नहीं हुआ, फिर भी अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों को न्याय के आधार पर तय करने की चेष्टा तो प्रारंभ हुई और इस आधार पर प्रोफेसर माउथगेट के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "वर्साय की संधि संसार के इतिहास में एक नये मार्ग की सूचक थी।"

अन्य शांति संधियां

पेरिस शांति-सम्मेलन की समाप्ति के पूर्व जर्मनी के अन्य पराजित सहयोगियों के साथ होनेवाली संधियों का मसविदा तैयार हो गया। इन संधियों की रूप-रेखा तैयार करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि जर्मनी के अन्य सहयोगी राज्य आस्ट्रिया, हंगरी, बुल्गेरिया तथा तुर्की आदि भी युद्ध में बेशर्त आत्मसमर्पण कर चुके थे और पूर्णतया मित्रराष्ट्रों के हाथों में थे। इन संधियों को तैयार करने में वर्साय संधि को नमूना के रूप में व्यवहार किया गया और कुछ शाब्दिक परिवर्तन के बाद वर्साय-संधि की धाराओं को ही अन्य संधियों का रूप दे दिया गया। क्लिमेंशो की अध्यक्षता में फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका और इटली को मिलाकर एक आयोग का निर्माण किया गया। इसी आयोग ने अन्य संधियों की रूपरेखा तैयार की और भिन्न-भिन्न राज्यों को उन पर हस्ताक्षर करने के लिए आमंत्रित किया।

(1) सांजर्मे (St. Germain) की संधि

10 सितंबर, 1919 को आस्ट्रिया और मित्रराष्ट्रों के बीच पेरिस के समीप सांजर्मे नामक प्राचीन स्थान में एक संधि हुई जिसको सांजर्मे की संधि कहते हैं। इस संधि में 381 धाराएं थीं। इसके फलस्वरूप प्राचीन आस्ट्रिया-हंगरी का वृहत् साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े में विभक्त हो गया। युद्ध के पूर्व इस साम्राज्य में विविध जातियां निवास करती थीं और इसमें राष्ट्रीय भावना का पूर्णतया विकास हो चुका था। जातियों को स्वतंत्र कर दिया गया और उनका पृथक् राज्य स्थापित हुआ। आस्ट्रिया ने हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया को स्वतंत्र राज्यों के रूप में स्वीकार कर लिया। इन राज्यों को पुराने आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य के बहुत-से भूभाग प्राप्त हुए। चेकोस्लोवाकिया को आस्ट्रिया के भूभाग का निचला हिस्सा तथा मोराविया, बोहेमिया और साइलेशिया का प्रदेश प्राप्त हुआ। पोलैंड को गलेशिया, रूमानिया को बोकोविनया, यूगोस्लाविया को कारनियोला तथा डालमीटियन-तट के द्वीप प्राप्त हुए। इस लूट में इटली को भी हिस्सा मिला। उसको दक्षिणी ताइरल, त्रैन्तिनों ट्रिस्ट, इरिट्रिया और डालमेटियन तट पर स्थित दो द्वीप प्राप्त हुए। ताइरल वाले भूभाग में लगभग ढाई लाख जर्मन निवास करते थे और इसलिए इटली को इस भूभाग को देना राष्ट्रीयता के सिद्धांत के विरुद्ध था। लेकिन, इटली इन्हीं प्रदेशों की लालच से मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हुआ था और मित्रराष्ट्र गुप्त संधि द्वारा इटली को इन प्रदेशों का आश्वासन भी दे चुके थे। अतः, राष्ट्रीयता के सिद्धांत की उपेक्षा करना उनकी दृष्टि में कोई बुरी चीज नहीं थी।

इस प्रकार सांजर्मे की संधि के फलस्वरूप आस्ट्रिया को क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से तीन-चौथाई हिस्से की हानि उठानी पड़ी। अब जो आस्ट्रिया बच गया उसका क्षेत्रफल बहुत ही छोटा हो गया और उसकी आबादी केवल सत्तर लाख रह गयी थी।

आस्ट्रिया की सैनिक व्यवस्था में तरह-तरह के परिवर्ता किये गये। युद्ध बंद होने के साथ-साथ उनकी संपूर्ण जल-सेना जब्त कर ली गयी। डेन्यूब नदी का अंतर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। फौज की संख्या घटाकर तीस हजार कर दी गयी। जर्मनी की तरह उस पर भी तरह-तरह के प्रतिबंध लगा दिये गये।

संधि के अनुसार आस्ट्रिया को बाध्य किया गया कि वह युद्ध की जिम्मेवारी स्वीकार करे और इसके लिए जर्मनी की तरह एक बहुत बड़ी रकम मित्रराष्ट्रों को हर्जाना के रूप में दे। आस्ट्रिया को युद्ध के अपराधियों को सौंपने के लिए कहा गया और उसकी राष्ट्रीय कला की निधियां बीस साल के लिए जब्त कर ली गयीं।

आस्ट्रिया के निवासी जर्मन जाति के थे। वे जर्मनी के साथ मिलकर एक वृहत् जर्मन-राज्य की स्थापना करना चाहते थे। इससे मित्रराष्ट्रों को भय था। अतः सांजर्मे की संधि की 88वीं धारा द्वारा आस्ट्रिया पर यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि वह भविष्य में ऐसा कोई प्रयत्न न करे जिससे स्वतंत्र राज्य के रूप में उसका नामोनिशान मिट जाय।

(2) त्रियानो (Trianon) की संधि

युद्ध के बाद हंगरी की राजनीतिक स्थिति इतनी डावांडोल थी कि नवंबर, 1919 के पूर्व वहां कोई सुसंगठित सरकार ही नहीं कायम हो सकी। अतः हंगरी के साथ संधि करने में कुछ विलंब हो गया। अंत में 4 जनवरी, 1920 की हंगरी के प्रतिनिधि काउंट एलबर्ट एपोनी के सम्मुख एक संधि का मसविदा पेश किया गया, जिसको त्रियानो की संधि कहते हैं। एपोनी ने संधि की शर्तों का कड़ा विरोध किया, लेकिन मित्रराष्ट्रों ने उसकी एक न सुनी और 4 जून, 1920 को इस संधि पर हंगरी को हस्ताक्षर करना पड़ा।

संधि के अनुसार हंगरी को अपने सभी पड़ोसी राष्ट्रों को अपने भूभाग से कुछ-न-कुछ हिस्सा देना ही पड़ा। ट्रांसिलवेनिया और उसके साथ के कुछ प्रदेश रूमानिया को दे दिये गये। क्रोटिया, स्लावोनिया, वोस्निया-हर्जेगोबिना, यूगोस्लाविया को तथा स्लोवाकिया का प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को मिला।। आस्ट्रिया को हंगरी का पश्चिमी हिस्सा बीर्जनलैंड प्राप्त हुआ। हंगरी के समुद्री मार्ग फ्यूम के भाग्य का निर्णय इटली और यूगोस्लाविया के समझौते पर छोड़ दिया गया।

अन्य पराजित राज्यों की तरह हंगरी को युद्ध के लिए जिम्मेवार ठहराया गया और उसको हरजाने के रूप में एक बहुत बड़ी रकम देने को विवश किया गया। हंगरी की जल सेना भंग कर दी गयी और उसकी सेना की संख्या घटाकर 35000 कर दी गयी।

त्रियानों की संधि का परिणाम यह हुआ कि जनसंख्या एवं क्षेत्रफल के विचार से हंगरी एक छोटा और साधारण राज्य हो गया। युद्ध के पूर्व हंगरी की आबादी दो करोड़, दस लाख थी। त्रियानों की संधि के फलस्वरूप जिसे नये हंगरी का निर्माण हुआ उसकी जनसंख्या केवल पचहत्तर लाख रह गयी। इसके अतिरिक्त तीस लाख के लगभग हंगेरेयिन लोग अब अन्य राज्यों की प्रजा बनाने के लिए विवश किये गये। इस कारण हंगरी के लोगों में गहरा असंतोष फैला। उनका कहना था कि इस संधि के द्वारा यूरोप में अनेक एल्सस लोरेन बना दिये गये हैं। सारे हंगरी में संधि के विरुद्ध प्रदर्शन हुए। काउंट एपोनी ने विरोध में अपना पदत्याग भी कर दिया, पर उसके अनुभव विनय और विरोध का कोई फल नहीं हुआ और 4 जून, 1920 को हंगरी को संधि पर हस्ताक्षर कर देना पड़ा।

(3) निउली (Neuilly) की संधि

पेरिस के पास निउली नामक स्थान में 27 नवंबर, 1919 को बुल्गेरिया के साथ मित्रराष्ट्रों की संधि हुई, जिसको निउली की संधिं कहते हैं। संधि के अनुसार बुल्गेरिया को उन अधिकृत प्रदेशों को लौटा देना पड़ा जिनको उसने युद्ध काल में जीता था। दोब्रदेजा का प्रदेश रूबानिया को, मैसीडोनिया का अधिकांश हिस्सा युगोस्लाविया को तथा थ्रेस का प्रदेश यूनान को दिया गया। बुल्गेरिया एक बहुत ही छोटा देश हो गया। युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए उस पर भी एक बहुत बड़ी रकम लाद दी गयी। उसकी सेना की संख्या घटाकर छत्तीस हजार कर दी गयी। बुल्गेरिया में भी संधि का घोर विरोध हुआ। राजधानी में सार्वजनिक शोक मनाया गया और विरोध में बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए। मित्रराष्ट्रों पर इनका कोई असर नहीं पड़ा और बुल्गेरिया को संधि पर हस्ताक्षर कर देना पड़ा।

(4) सेव्र (Sevres) की संधि

सबसे अंतिम संधि तुर्की के साथ हुई, जिसको सेव्र की संधि कहते हैं। इस संधि को तुर्की की सरकार ने कभी नहीं माना, फिर भी विश्व-राजनीति के पाठकों के लिए इसके विषय में थोड़ा जान लेना आवश्यक है। युद्ध के समय में ही मित्रराष्ट्रों के बीच में अनेक गुप्त संधियां हो चुकी थीं, जिसका उद्देश्य तुर्की साम्राज्य का बंटवारा था। सेव्र की संधि से इस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती थी। इस संधि के अनुसार थ्रेस और इगिवन सागर

में स्थित द्वीप समूहों को यूनान को दे दिया गया। स्मर्ना का प्रदेश भी यूनान को मिला। डीडेकनीज, रहोड्स और अडेलिया के प्रदेश इटली को दिये गये। मिस्र, अरब, यूनान, साइप्रस, ट्रिपालिटानिया, मोरक्को, ट्यूनिसिया, फिलिस्तान, मेसोपोटामिया और अर्मेनिया पर से सुल्तान का कब्जा उठ गया। डार्डेनेल्स के जलडमरूमध्य को एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग के नियंत्रण में रख दिया गया।

इस व्यवस्था से तुर्की का एक बहुत बड़ा भूभागं उसके हाथ से निकल गया। उस पर तरह-तरह के सैनिक प्रतिबंध भी लगाये गये। लेकिन सेब्र की संधि को कार्यान्वित नहीं किया जा सका, क्योंकि मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की में इस संधि के विरुद्ध एक जबरदस्त राष्ट्रीय आंदोलन उठ खड़ा हुआ। उसने मित्रराष्ट्रों को सेब्र की संधि बदलने के लिए मजबूर किया और 1923 में लुसान में तुर्की के साथ एक दूसरी संधि हुई। इस पर पीछे प्रकाश डालेंगे।

पेरिस शांति-व्यवस्था पर एक दृष्टि

सेब्र की संधि को छोड़कर महायुद्ध के बाद पेरिस में जो विविध संधियां हुईं और उनके फलस्वरूप जो राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की गयी, उनके परिणामस्वरुप यूरोप में अनेक नये राज्यों का निर्माण हो गया। 1919 के पहले यूरोप में केवल उन्नीस राज्य थे, लेकिन 1919 में उनकी संख्या छब्बीस हो गयी। इसके अतिरिक्त बहुत से राज्यों की सीमा में भी काफी परिवर्तन हुए। इसलिए कहा जाता है कि पेरिस शांति-सम्मेलन का वास्तविक काम 'यूरोप का बाल्कनीकरण' (Balkanisation of Europe) करना था। नये-नये राज्यों के प्रादुर्भाव से नयी-नयी समस्याएं उठ खड़ी हुईं और यूरोप की राजनीति सुलझने के बदले और भी उलझती गयी।.1919 की शांति-संधियों में यूरोप में अनेक 'खतरनाक स्थल' पैदा कर दिये गये जिसके कारण कुछ ही वर्षों में यूरोप युद्ध-पूर्व स्थिति में आ गया। नये-नये राज्यों के निर्माण के कारण यूरोप में बारह हजार मील लंबी नयी सीमाएं बन गयीं। इसकी सुरक्षा का एक विकट प्रश्न उपस्थित हुआ जिसके फलस्वरूप हथियारबंदी की होड़ चल पड़ी। तीव्र आर्थिक राष्ट्रीयता ने चुंगी-संबंधी रुकावटें पैदा कर दीं। अगले बीस वर्षों में यूरोप की कठिनाइयों तथा राजनीतिक अस्थिरता के मुख्य.कारण यही था।

युद्ध के पूर्व बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति की एक मुख्य समस्या राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों (national minorities) की थी। युद्ध के बाद इन संधियों के फलस्वरूप अल्पसंख्यकों की जटिल समस्या फिर खड़ी हो गयी जिसके कारण यूरोप का राजनैतिक वातावरण अगले वर्षों में बड़ा क्षुब्ध बना रहा और राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि सुलगती रही। इन अल्पसंख्यकों की संधियों के संरक्षण के लिए अल्पसंख्यक की व्यवस्था की गयी, लेकिन किसी देश ने इन संधियों के अंतर्गत दिये गये अपने वचनों का पालन नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध पूर्व बाल्कन राजनीति की तरह कुछ ही वर्षों में सारे यूरोप का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त अशांत हो गया और 1939 में संसार को एक दूसरा महायुद्ध देखना पड़ा। 1919 की सारी शांति संधियां असफल रहीं। इनकी असफलता इस तथ्य में भी व्यक्त होती है कि उनकी व्यवस्थाओं को पूर्ण रूप से कभी कार्यान्वित नहीं किया गया। उनको व्यवहार में लाते समय बहुत-सी छूटें दी गयीं, बहुत-से उलट-फेर किये गये और बहुत सी गलतियां की गयीं। फ़लत: जिस शांति-व्यवस्था एवं समृद्धि को स्थापित करने के लिए इतना समय लगा और शक्ति व्यय की गयी, उनकी उपलब्धि व्यावहारिक राजनीति में कभी नहीं हो सकी।

लेकिन इसके लिए पेरिस की शांति-संधियों को दोष देना गलत होगा। ये शांति-संधियां असफल रहीं, इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम, जिन लोगों पर इस संधि को कार्यान्वित करने का भार आया, उन लोगों ने कभी भी दृढ़ता के साथ इस कार्य को नहीं किया। यदि संधि की शर्तों का पालन सभी पक्षों की ओर से होता, तो पेरिस की शांति-संधियों की वह दुर्दशा नहीं होती जो बाद में हुई।[29]

संधियों की असफलता का एक अन्य कारण फ्रांस में क्लिमेंशो का पतन तथा उग्रवादी पोआंकारे का सत्तारूढ़ होना था। पोआंकारे ने प्रारंभ से ही पेरिस की संधियों का विरोध किया था और जब फ्रांस के शासन पर उसका प्रभुत्व कायम हुआ तो उसका एकमात्र ध्येय ऐसी नीति पर चलना था जिसके फलस्वरूप संधि की शर्तें बेकार हो जाएं और उसे खुलकर जर्मनी से बदला लेने का मौका मिले। फ्रांस की राजनीति में पोआंकारे का पुनः प्रवेश यूरोप के लिए बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ।

शांति-संधियों को एक और धक्का लगा जो बड़ा ही घातक था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसको मानने से इंकार कर दिया और राष्ट्रपति विल्सन के कार्यों का अमरीकी सिनेट ने अनुमोदन नहीं किया। शांति-संधियों से अमेरिका का संबंध-विच्छेद वस्तुतः सांघातिक सिद्ध हुआ। अमेरिका के समर्थन के अभाव में शांति-संधियों की असफलता निश्चित थी। उसको संसार के सबसे महान देश के समर्थन से वंचित हो जाना पड़ा तथा संधियों को कार्यान्वित करने का भार केवल उन्हीं लोगों पर रह गया जो केवल प्रतिशोध की भावना में जल रहे थे।

FOOT NOTES

1. "Not were any delegation from defeated powers present during the drafting of the peace terms, and their's was a role which called merely for the signing of the completed documents. This was to be a dictated not a negotiated peace."—*Lee Benns, Europe Since 1914, p.* 110.

2. विल्सन के चौदह सूत्र निम्नलिखित थे —

(1) खुले ढंग से खुली शांति की जाय। शांति का समझौता गुप्त रूप से नहीं हो।

(2) युद्ध और शांति के दिनों में सामुद्रिक आवागमन की स्वतंत्रता हो।

(3) यथासंभव सभी आर्थिक अवरोध हटाये जायें, अर्थात राष्ट्रों के बीच किसी प्रकार की आर्थिक दीवार न रहे।

(4) अस्त्र-शस्त्रों को निम्नतम सीमा तक घटा दिया जाय जिससे राष्ट्रों के बीच हथियारबंदी की होड़ बंद हो।

(5) जनता की इच्छा और हितों पर पूरा ख्याल रखते हुए उपनिवेश संबंधी समस्याओं का उचित निष्पक्ष फैसला हो।

(6) रूस के प्रदेशों को खाली कर दिया जाय और अपने राजनीतिक विकास तथा राष्ट्रीय नीति के निर्धारण की उसकी स्वाधीनता को मान्यता दी जाय।

(7) बेल्जियम को खाली कर दिया जाय, उसके तटस्थीकरण को मान लिया जाय और उसकी प्रभुसत्ता सीमित करने का प्रयास नहीं किया जाय।

(8) संपूर्ण फ्रांसीसी प्रदेशों को मुक्त कर दिया जाय। उसके वे प्रदेश जिनपर विदेशियों का अधिकार है, लौटा दिये जायें। 1871 में एल्सस-लोरेन को लेकर उसके साथ जो अन्याय हुआ था उसको समाप्त किया जाय।

(9) राष्ट्रीयता के सिद्धांत को ध्यान में रखकर इटली की सीमाओं का पुनर्निर्धारण हो।

(10) आस्ट्रिया के साम्राज्य की विविध जातियों के राष्ट्रीय विकास का समुचित प्रबंध किया जाय।

(11) रूमानिया, सर्बिया और माण्टिनिग्रो को खाली कर दिया जाय। उनके जिस प्रदेशों पर अधिकार कर

लिया गया है, उन्हें लौटा दिया जाय। सर्बिया को समुद्र तट तक पहुंचने की सुविधा दी जाय। ऐतिहासिक परंपरा के आधार पर बाल्कन राज्यों के पारस्परिक संबंध को निर्धारित किया जाय।

(12) तुर्की साम्राज्य को अपने वास्तविक भूभाग पर बने रहने दिया जाय। परंतु, तुर्की के शासन में रहनेवाली अन्य जातियों के स्वतंत्र राष्ट्रीय विकास का समुचित प्रबंध किया जाय। डार्डेनल्स को स्थायी रूप से सभी राष्ट्रों के लिए खोल दिया जाय जिससे सभी देशों को जहाजों और व्यापार के लिए यातायात का खुला मार्ग प्राप्त हो सके।

(13) एक ऐसे स्वाधीन पोल-राज्य की स्थापना की जाय जिसमें पोल जाति के सभी लोग यथासंभव सम्मिलित हो सकें। उन्हें समुद्र तट तक पहुंचने के लिए स्वतंत्र और सुरक्षित मार्ग प्राप्त हो और एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता के द्वारा पोलैंड को स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखंडता की गारंटी दी जाय।

(14) राष्ट्रों का एक आम संघ कायम किया जाय जिसके द्वारा बड़े और छोटे राज्यों को समान रूप से राजनीतिक स्वाधीनता और प्रादेशिक अखंडता का पारस्परिक आश्वासन प्राप्त हो।

3. He was received in Paris on his first appearance with an organised adultation of applause in the streets and in the Press which was intoxicating Streets were named after him, Senate and chamber of Deputies gave him official welcome, a palace was placed at his disposal, the picked regiments of France provided his escorts and their best band played him through most impressive avenues of the city. There was not a honour, not a mark of trust and devotion which was not laid at his feet.—*D. Lyoyd George, Truth About Peace Treaties, Vol. 1 P. 237*

4. "Wilsons's attendance at the pairs Peace Conference was a grave error of judgement.... it would undoubtedly have been better if he had chosen a mixed team of Democrats and Republicans to represent his views. He would have wielded much greater authority and achieved his own purpose more surely."

—*Lloyd George, Truth About Peac* Treaties, Vol 1 p. 234

5. The immediate and probably the most important tactical cause of Wilson's failure was his own false position in Paris. He, the greatest democrat, did not really represent the people."

—*Chamber, Harns and* Bayley, op. cit, p. 116

6. चुनाव के अवसर पर इंगलैंड में जो नारे लगे थे उनके कुछ नमूने निम्नलिखित हैं —

'कैसर को फांसी पर लटकाया जाय', 'जर्मनी से हर्जाना लिया जाय,' 'शिलिंग के बदले शिलिंग और टन के बदले टन वसूल किया जाय।'

7. Even God was satisfied with Ten Commandments but Mr. Wilson insists on Fourteen."

8. "Lloyd George believes himself to be Nepoleon, but Wilson believes himself to be Christ.

—*Quoted in Albjerg, Europe from 1914 to the* Present p. 68.

9. "Clemenceau is terrible. He hates the Germans like poison and would destroy the whole of them if he could." —*Lyoyd George,* Quoted in Lansing.

The Big Four and Other of the Peace Conference, p. *87.*

10. "Almost inevitably conflict arose among the four statesmen when, the time came for the various personal and national programmes to be presented for the fulfilment, for the abstract Fourteen points to be transformed into definite treaty provisions. In the latter case, the very elasticity and vagueness which had made it easy for the powers to accept the points in principle made it likewise easy for differences in interpretation to arise when they came to be examined form the conflicting nationalistic points of view." —*Lee Benns, op., cit, p. 112*

11. इस तरह की लगभग सात गुप्त संधियां हुई थीं जिनका विवरण इस प्रकार है —

(1) मार्च, 1915 में फ्रांस, ब्रिटेन और रूस के बीच तुर्की साम्राज्य के बंटवारे के लिए गुप्त संधि।

(2) अप्रैल, 1915 में इटली को प्रलोभन देकर युद्ध में सम्मिलित करने के लिए इटली, फ्रांस, ब्रिटेन तथा रूस के बीच गुप्त संधि।

(3) अगस्त, 1916 में रूमानिया तथा मित्रराष्ट्रों की गुप्त संधि।

(4) मई, 1916 को तुर्की साम्राज्य के वंटवारे के लिए फ्रांस और ब्रिटेन में साइक्स पीको समझौता।

(5) अप्रैल, 1917 में इटली को तुर्की साम्राज्य के लूट में हिस्सा देने के लिए ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के बीच गुप्त संधि।

(6) फरवरी, 1919 में चीन के शातुंग प्रदेश जापान को देने के लिए ब्रिटेन और जापान में गुप्त संधि।

(7) मार्च, 1917 में फ्रांस और रूस के बीच जर्मनी और आस्ट्रिया के कुछ प्रदेश के लिए गुप्त संधि।

12. "Another influence that sullused the atmosphere of Paris in, 1919 was a triumphant bitterness...four years of planned carnage, that is, war, had generated unbounded anger and unlimited avarice. Germany should be made to pay. The last casualty of World war I was idealism; the first heir was cynicism. The delegates who assembled at paris convened to lick the blood of their kill."

—*Albjerg and Albjerg, op. cit., p. 71*

13. A fortiori if Paris was a mistake, the final signing of the German Treaty at Versailles was a brutal and miserable blunder."

—*Chamber, Harris & Bayley, op. cit., p. 111*

14. "The Allied and Associated Governments affirm and Germany accepts the responsibility of Germany and har Allies for causing all the losses and damages to which the Allied and Associated Governments and their nationals have been subjected as a consequence of the war imposed upon them by the aggression of Germany and her Allies."

—*Article 231 of the Treaty of Versailles*

15. Economically crippled, politically segregated, militarily humbled, nationally humiliated, physically exhausted, Germany stood like a pale person just out of the game."

—*Langsm, World Since, 1914, p. 34*

16. वर्साय की संधि पर कुछ महत्वपूर्ण विचार इस प्रकार व्यक्त किये गये थे —

(1) "I should have preferred a different peace." —*Colonel House.*

(2) "It is stern but just treaty." —*Lioyd George*

(3) "This is not peace. It is an armisitice for twenty years." —*Marshall Foch*

(4) "Do not expect us to be our own executions." —*Ergberger*

(5) "What hand would not wither that signed such a peace." —*Schidemann*

(6) "The day has come when might and right—terribly divorced hither to have united to give peace to the peoples in travail." —*Clemenceau*

(7) "The promise of the new life, the victory of great human ideals are not written in this treaty. The will of the peoples ought to follow, complete and amend the peace of the statesmen."

—*General Smuts*

(8) "I think it would be found that the compromises, which were accepted as inevitable nowhere, cut at the heart of any principle, the work of the conference squares, as a whole, with the principles agreed upon as the basis of peace as well as with the practical possibilities. —*President Wilson*

17. Nearly every treaty which brings a war to an end is, in one sense, a dictated....But in the Treaty of Versailles the element of dictation was more apparent in any previous treaty of modern time."
—*Carr, op. cit., p.4*

18. वर्साय की सन्धि में विल्सन के सिद्धान्तों और विशेषकर उसके चौदह सूत्रों का पालन हुआ या नहीं, इस प्रश्न पर इतिहासकारों के बीच और मतभेद है। जर्मनी और पश्चिम के कुछ विचारकों का मत है कि शांति-समझौते में विल्सन के चौदह-सूत्रों का अधिकतम उल्लंघन हुआ। इसे विपरीत लायड जार्ज ने कहा था कि इस सन्धि की कोई ऐसी बात नहीं है जो युद्ध समाप्ति के पूर्व मित्रराष्ट्रों द्वारा की गयी घोषणाओं के प्रतिकूल हो। प्रोफेसर गैथोर्नहार्डी के मतानुसार वर्साय-सन्धि में विल्सन के चौदह सूत्रों का अधिकतम पालन किया गया था। (देखिए ***Gathorn Hardy**, the Foruteen Points and the Treaty of* Versaillco, p. 11) *डॉ० सेटन वाटसन ने भी सिद्ध किया है कि वर्साय सन्धि में केवल इटली की सीमान्त वाली नवीं शर्त को छोडकर चौदह सूत्र के शेष सभी शर्तों का पालन हुआ। लेकिन हेरल्ड निकोल्सन ने साफ-साफ लिखा है कि "विल्सन की कोई भी शर्तवर्साय सन्धि में पूरी नहीं हुई है।" (देखिए* **Herold Nicholson**, Peace making *1919 p. 43*) प्रोफेसर लैंगासम ने बीच का रास्ता अपनाया है। उसका कथन है कि विल्सन को चौदह सूत्रों में पांच (7, 8, 11, 13, 14) का पालन हुआ, चार (5, 6, 9,10) का पालन इस तरह किया गया कि मित्रराष्ट्रों को उससे लाभ पहुँचे और पांच (1, 2, 3, 4, 12) की अवहेलना की गयी (देखिए *Languag, World Since, 1919, pp.* 34, 82 और 116)।

इस प्रकार वर्साय-सन्धि पर विल्सन का प्रभाव (Wilsonian impact) एक अत्यन्त हीविवादापस्द विषय है और इस पर किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। विल्सन के सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन हुआ या नहीं, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसके आदर्शों और "सिद्धान्तों का सन्धि पर गहरा प्रभाव पड़ा।

19. "Germany's presence at the Conference, it accepted in good faith would have moderated the terms and facilitiated the realisation of Castlereagh's objective as he went to the Congress of Vienna "not to bring back trophies of victory, but to restore Europe to the Paths of peace."
—***Albjerg and Albjerg**, Europe from 1919* to the present pp. 83-84

20. इसका तात्पर्य प्राचीन रोम और कार्थेज के युद्ध से है। जिस प्रकार प्राचीन काल में रोम ने कार्थेज को हराकर उसंका समूलोन्मलन किया था, उसी प्रकार वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी को विनष्ट और विध्वंस करने का प्रयत्न किया था।

21. History will characterise all these transactions as insane. They helped to breed the material curse and economic bilzzard. Germany now borrowed from all directions; swallowing greedily every credit which was lavishly offered to her. All this is a sad story of complicated idioey in the making of which much toil and virtue was consumed.
—*Churchill, The Second World War, Vol : 1, p. 58*

22. "At the Peace Conference of Paris the festering germs of decomposition were injected into the world's body-politic, germs which however long and deceptive the delay would ultimately show their symptoms." —***Chambers, Harris and Bayley**, This age of Confilict, p. 383.*

23. ***Churchill**, op. cit, p.6*

24. वर्साय-संधि को द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए जिम्मेदार कहना भी एक विवादास्पद विषय है। कुछ इतिहासकार ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि संधि नहीं वरन् उसको कार्यान्वित करने में परम नीति का अवलंबन द्वितीय विश्वयुद्ध का एक कारण था। लैंगसम ने लिखा है कि मित्र राष्ट्रों, विशेषकर फ्रांस और ब्रिटेन के परस्पर विरोधी तथा संधि की शर्तों का कठोरतापूर्वक पालन न कर पाने की नीति ही इसका मुख्य कारण था। यदि संधि को कठोरतापूर्वक पालन कराया जाता तो जर्मनी को यह अनुभव हो जाता कि वह युद्ध में

हारा ही नहीं वरन् भविष्य में युद्ध प्रारंभ करना भी खंतरे से खाली नहीं है। लेकिन मित्रराष्ट्रों की उदासीनता से उसका हौसला बढ़ गया और उसने फिर युद्ध प्रारंभ कर दिया। देखिए *Langsam, World Since 1919. P.* 733 तथा **A. J.P. Taylor,** Origins of the Second World War. P. 18.

25. "It was a severe treaty, but it was in response to popular demands in the Allied countries, and should always be read in connection with the treaty which the Central Powers : dictated to Russia at Brest-Litovsk." ***—Lee Benns,*** *op, cit., p. 126.*

26. "Nor has there ever been a treaty of comparable importance that was finished and perfect document. But Pairs in 1919, was obsessed with finality. So, unique and opportunity to legislate for the mellennium was unlikely to recur and the most had to be made of it." (Stress provided) **—Chambers, Harrsi** and **Bayley**, op. cit. p. 334.

27. "The chief problem of the statesmen at Paris was to draft terms which would reconcile the opposing veiw points of the Allied powers. No one man dominate a group like "Big Four". Agreement was possible only through compromise, though frequently affiars had to reach an acutal crisis before a settlement was finally affected." ***—Lee Bennsm,*** *op. cit. p. 112.*

28. "At all times at every turn of negotiations there aros'c thespecitre of chaos like a black cloud of the East thretening to overwhelem and swallow up the world," ***—R. S. Backer,*** *Woodrawm Wilon & World Settlement, vol. I, p.* 283.

29. "We should all agree the Treaties were never given a chance by a miscellaneous and unimpressive array of second rate statesmen who have handled them for the past fifteeen years ...... Had the stipulation of these treaties been faithfully and honesty interpreted and fulfilled, the dark millitary and economic menacenow hangine over Europe would have been averted." ***—Lioyd George,*** Truth About Peace Treaties, Vol. II, pp. 1403- 1407

30. "It is not only that the impressive might of the greatest democracy in the world was withdrawn from the forces behind Convernant. The damage done to the carefully planned structure of the Treaty as a whole was almost irreparable for thebalance was entirely changed. Its interpretation was left entirely in the hands of victorious belligerents with the animoisities of centuries stirred and stimulated by the horrible wounds of war ....Between the retreat of America and the treacheries of Europethe Treaties of peace were never given a fair trial." ***—Ibid,*** *pp. 1412-1413.*

अध्याय 20

फ्रांसीसी सुरक्षा का समस्या

(Problem of French Security)

फ्रांस की आशंका : प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोपीय राजनीति के क्षेत्र में सबसे विकट समस्या सुरक्षा की थी। युद्ध की विभीषिका की पृष्ठभूमि में सभी राष्ट्र त्रस्त थे। यह सत्य है कि वर्साय की संधि द्वारा एक ऐसी व्यवस्था कायम करने का प्रयास किया गया था जिसमें भविष्य में राष्ट्रों के बीच युद्ध न हो। लेकिन वर्साय व्यवस्था से यूरोपीय सुरक्षा की पेचीदी समस्या का समाधान न हो सका। वस्तुतः पेरिस की शांति-संधियां यूरोपीय सुरक्षा की समस्या का अंत नहीं वरन प्रारंभ थीं। इसके बाद भी सुरक्षा की खोज का प्रयत्न पहले से अधिक गंभीरता से जारी रहा।

विश्वशांति को सुरक्षित रखने और सुरक्षा की मांग को पूरा करने के लिए ही शांति-सम्मेलन में राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना की गयी थी। लेकिन सुरक्षा की समस्या इतनी गंभीर थी कि राष्ट्रसंघ इसके लिए पर्याप्त प्रतीत नहीं हो रहा था। अतएव सुरक्षा-प्राप्ति के लिए कई दूसरे तरह के प्रचार भी किये गये।

युद्ध के बाद फ्रांस के लिए सुरक्षा की समस्या सबसे अधिक गंभीर थी। सवा चार वर्षों के भीषण संघर्ष के उपरांत फ्रांस को विश्वयुद्ध में विजय मिली थी और संपूर्ण देश में इस विजय की खुशी बड़े ही उल्लास के साथ मनायी गयी थी, परंतु यह खुशी अत्यंत क्षणिक थी। दूसरे ही दिन से वह अपने को भयभीत अवस्था में पाने लगा और विजयोल्लास के साथ ही गंभीर चिंता भी शीघ्र ही परिलक्षित होने लगी। उसको सबसे अधिक डर पराजित जर्मनी से था। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में फ्रांस की शक्ति यूरोप में अद्वितीय थी। वह यूरोप का सबसे शक्तिशाली सैनिक राष्ट्र था, पर 1870 में जब सेडान के मैदान में वह जर्मनी से बुरी तरह परास्त हुआ, तब उसकी शक्ति का भ्रम एकाएक दूर हो गया। उस समय मध्य यूरोप में एक ऐसे राष्ट्र का जन्म हो चुका था जो न केवल क्षेत्रफल और जनसंख्या में फ्रांस से बड़ा था, अपितु कोयले, लोहे आदि प्राकृतिक साधनों में भी वह (फ्रांस) उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त जर्मन लोगों में सैन्य संगठन की अपूर्व क्षमता थी। 1914 में फ्रांस को छह सप्ताह के लिए भी युद्ध में टिकना असंभव हो जाता यदि ब्रिटेन उसकी सहायता के लिए रणक्षेत्र में नहीं उतर पड़ता। फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों का कहना था कि जर्मनी अभी भी सैनिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली है। जर्मनी की आबादी यूरोप के अन्य राज्यों से अधिक थी और फ्रांस के अनुपात में तो बहुत अधिक। फ्रांस को भय था कि यदि उसकी आबादी में तनिक भी गिरावट हुई तो वह जर्मनी का शिकार हुए बिना नहीं रहेगा। इसके अतिरिक्त फ्रांस का एकमात्र मित्र रूस इस समय बोल्शेविकों के हाथ में चला गया था और फ्रांस उनसे यह आशा नहीं कर सकता था कि मौका पड़ने पर वे उसकी मदद करेंगे। इन त्रुटियों को फ्रांसीसी अच्छी तरह जानते थे और कोई ऐसा उपाय करना चाहते थे कि जिससे भविष्य में उन्हें इस तरह के संकट का सामना न करना पड़े। अतः युद्ध के समाप्त होते ही फ्रांस अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के उपायों की खोज में व्यस्त हो गया। वास्तव में, जैसा प्रोफेसर कार का कहना है 1919 के बाद फ्रांसीसी सुरक्षा की मांग यूरोपीय राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण एवं स्थायी तथ्य था।[1]

भौगोलिक गारंटी : जर्मनी के भावी आक्रमण से फ्रांस को सुरक्षित करने के लिए पेरिस-शांति- सम्मेलन में फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने मांग की कि राइन नदी के बायें तट के प्रदेश को जर्मनी से पृथक करके एक अलग राज्य बना दिया जाय और यह राज्य फ्रांस के प्रभाव में रहे। फ्रांस इस तरह की व्यवस्था को भौगोलिक गारंटी (physical guarantee) कहता था, पर अन्य मित्रराष्ट्र फ्रांस को इस प्रकार की 'भौगोलिक गारंटी' देने के लिए उद्यत नहीं हुए। विल्सन और लायड जार्ज ने राइन नदी तक फ्रांसीसी सीमा को बढ़ाने से इंकार कर दिया। उनका कहना था कि इस प्रकार की व्यवस्था करने से राइनलैंड के पचास लाख के लगभग जर्मनी के लोग अपने राष्ट्र से अलग हो जायेंगे और यह राष्ट्रीयता के सिद्धांत के विपरीत होगा। विल्सन और लायड जार्ज राइनलैंड को एक दूसरा एल्सस लोरेन नहीं बनाना चाहते थे। काफी सिर पटकने के बाद फ्रांस को अपनी मांग छोड़नी पड़ी और उसको अपने 'भौगोलिक गारंटी' संबंधी निम्न बातों पर राजी होना पड़ा : (1) पंद्रह साल तक राइन नदी के दायें तट के प्रदेश पर मित्र राष्ट्र की सेनाओं का कब्जा रहे; (2) राइन क्षेत्र का पूर्ण रूप से असैनिकीकरण हो जाय जिससे जर्मनी वहां कोई किलाबंदी नहीं कर सके और (3) एक त्रिदलीय संधि की जाय जिसके अनुसार अमेरिका और ब्रिटेन यह वादा करे कि यदि भविष्य में कभी जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करे तो वे उसकी सहायता करेंगे। ब्रिटेन और अमेरिका ने ऐसा करने का वचन दे दिया।

अमेरिका ने पीछे चलकर वर्साय में हुई संधियों का अनुमोदन करने से इंकार कर दिया। फलस्वरूप ब्रिटेन और अमेरिका द्वारा दिए गए वचन व्यर्थ हो गये। ब्रिटेन अपने वचन को निभाने में असमर्थ था; क्योंकि उसका भाग देना अमेरिका के आने पर ही निर्भर था। फ्रांस को ऐसा अनुभव हुआ कि उसको धोखा दिया गया है। उसे 'भौगोलिक गांरटी' की आशा छोड़ देनी पड़ी। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में फ्रांस अपनी स्थिति को बहुत निर्बल एवं अरक्षित समझने लगा। जर्मनी के प्रतिशोध से बचने के लिए वह कूटनीतिक उधेड़-बुन में डूब गया।

फ्रांस जब अपनी सुरक्षा के लिए ब्रिटेन और अमेरिका से अनुत्तेजित आक्रमण के विरुद्ध गारंटी पाने के प्रयत्न में असफल हो गया तब इसके सामने केवल दो मार्ग बच गये जिनका अवलंबन करके वह अपनी सुरक्षा कर सकता था। फ्रांस के सामने पहला, उपाय था कि जर्मनी कूटनीतिक क्षेत्र से एकदम अलग कर दिया जाय तथा उसको चारों तरफ से घेर लेने के लिए यूरोप के विभिन्न राज्यों के साथ संधि करके गुटबंदी की जाय। दूसरे, राष्ट्रसंघ के द्वारा ऐसी सुरक्षा-प्रणालियों का सृजन कराया जाय जिससे अकारण आक्रमण के विरुद्ध वास्तविक गारंटी प्राप्त हो सके। फ्रांस ने दोनों मार्गों का एक ही साथ अवलंबन करना शुरू किया जिसके फलस्वरूप यूरोप में फ्रांस के नेतृत्व में अनेक गुट तथा राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में अनेक सुरक्षा समझौता कायम हुए।

वर्साय-संधि के बाद फ्रांस को अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ के अस्तित्व के सिवा कोई गारंटी प्राप्त नहीं थी। फ्रांस इसको अपर्याप्त समझता था। उसकी दृष्टि में राष्ट्रसंघ के विधान में उस प्रक्रिया को भली-भांति स्पष्ट नहीं किया गया जिसके अनुसार वह विभिन्न राज्यों के वाह्य आक्रमण से रक्षा करने का उद्योग करेगा। फ्रांस को संशय था कि राष्ट्रसंघ के विधान में पाबंदी (sanctions) संबंधी धाराएं (10, 16 और 17) प्रभावशाली नहीं हो सकी हैं। वास्तव में एसेम्बली की प्रथम बैठक में ही इन धाराओं की कड़ी आलोचना हुई। कोई राष्ट्र 10वीं धारा को बिल्कुल निकलवा देना चाहता था तो कोई 16वीं धारा में अपवाद की धारा जोड़वाना चाहता था। राष्ट्रसंघ एसेम्बली की प्रथम बैठक में यह स्पष्ट हो गया कि कोई देश राष्ट्रसंघ के ऊपर अपनी सुरक्षा के लिए निर्भर नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत रूप से संधियां और गुटबंधियां ही सुरक्षा का एकमात्र उपाय थीं। फ्रांस इसी उपाय पर जोर देने लगा।

आंग्ल-फ्रांसीसी मतभेद : फ्रांस ब्रिटेन की मित्रता का एक बहुत बड़ा इच्छुक था। उसका विश्वास था कि अगर ब्रिटेन उसकी सुरक्षा की गारंटी दे दे तो उसकी बहुत बड़ी समस्या का समाधान हो जायेगा। अत: फ्रांस ब्रिटेन के साथ संधि करने के लिए बराबर आग्रह करने लगा। अंत में जनवरी, 1922 में ब्रिटिश

सरकार फ्रांस के साथ एक संधि करने के लिए तैयार हो गयी। इस संधि की प्रस्तावित शर्तें वे ही थीं जिनपर 1919 में ब्रिटेन हस्ताक्षर नहीं कर सका था। "यदि जर्मनी ने अकारण ही फ्रांस पर आक्रमण करने की कोई गतिविधि की तो ब्रिटेन तुरंत ही फ्रांस की सहायता करेगा।" तत्कालीन फ्रांसीसी प्रधानमंत्री पोआंकारे इस स्पष्ट संधि से संतुष्ट नहीं था। उसकी यह मांग थी कि इस आश्वसान के साथ एक सैनिक समझौता भी किया जाय जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि ब्रिटिश सेना किस प्रकार की सहायता देगी। ब्रिटिश सरकार इतनी दूर जाने के लिए तैयार नहीं थी। अत: आंग्ल-फ्रांसीसी वार्तालाप पूर्णतया निरर्थक हो गया।

अब प्रश्न यह उठता है कि ब्रिटेन और फ्रांस के बीच इस तरह के मतभेद के क्या कारण थे। वास्तव में, युद्ध के बाद आंग्ल-फ्रांसीसी मतभेद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास का एक महत्वपूर्ण तथ्य था। जिस दिन तोपों की गर्जना बंद हुई और विराम-संधि पर हस्ताक्षर हुए उसी दिन से ये दोनों भूतपूर्व मित्र-राज्य प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय मामले पर एक-दूसरे से विल्कुल विपरीत विचार व्यक्त करने लगे। लायड जार्ज को विश्वास था कि जर्मनी को इतना पस्त कर दिया गया है कि कम-से-कम साठ साल के पूर्व अपनी खोई हुई शक्ति को पुन: प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिए वह फ्रांस की उग्र नीति पर रोड़े अटकाने लगा। लेकिन क्लिमेंशो का विचार दूसरा ही था। उसका विश्वास था कि जर्मन जब चाहेंगे फ्रांस पर आक्रमण कर देगें। अत: वह अपने देश को इस भावी आक्रमण के संकट से सुरक्षित करना चाहता था। ब्रिटेन को इस तरह के किसी संकट का भय नहीं था। युद्ध से अपार क्षति हुई थी और अंगरेज लोग अपने आर्थिक पुनरोत्थान के लिए उत्सुक थे। ब्रिटेन की आर्थिक प्रगति के लिए जर्मनी का अपने पैरों पर खड़ा होना बहुत आवश्यक था, क्योंकि जर्मनी ब्रिटिश मालों का बहुत बड़ा बाजार था। इसलिए ब्रिटेन जर्मनी का पुनर्निर्माण देखना चाहता था, परंतु फ्रांस के लिए एक पुननिर्मित जर्मनी सबसे बड़ा खतरा था। क्लिमेंशो ब्रिटेन के इस रवैये को नापसंद करता था। युद्ध के बाद से उसने लायड जार्ज से शिकायत की, 'आप हमेशा हम लोगों के विरुद्ध रहे हैं।' यह तो हमारी परंपरा की नीति है, लायड जार्ज ने जवाब दिया। वास्तव में, चौदहवीं शताब्दी से ही ब्रिटेन और फ्रांस एक दूसरे के विरोधी रहे हैं। विवश होकर ब्रिटेन को 1904 में फ्रांस से मित्रता करनी पड़ी थी। यह मित्रता 1918 तक कायम रही; लेकिन जिस समय उसका उद्देश्य पूरा हो गया दोनों देश अपने पुराने स्थान पर चले गये। नतीजा यह हुआ कि ब्रिटेन का प्रोत्साहन पाकर जर्मनी संधि की शर्तों का उल्लंघन करने लगा और कुछ दिनों में यूरोप की एक महान् शक्ति बन बैठा।

आंग्ल-फ्रांसीसी मतभेद के कुछ और कारण भी थे। ब्रिटेन यूरोपीय शक्ति-संतुलन को पुनर्स्थापित करना चाहता था। एक बहुत शक्तिशाली फ्रांस संसार में ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के हक में अच्छा नहीं था। इससे जर्मनी के आर्थिक जीवन को पुनर्जीवित करने में भी कठिनाई होती। इस तरह एक कमजोर जर्मनी न तो ब्रिटिश-व्यापार के हक में अच्छा था और न क्रांतिकारी रूस के विरुद्ध में ही। ब्रिटेन को रूसी साम्यवाद से बहुत डर था। ब्रिटिश साम्राज्य के लिए यह एक बहुत बड़ा खतरा था। इस खतरे को रोकना ब्रिटेन की एक मुख्य नीति थी। यह तभी संभव था जब जर्मनी को शक्तिशाली बनाया जाय।

इस तरह वर्तमान शताब्दी की तीसरी दशब्दी में आंग्ल-फ्रांसीसी संबंध में काफी मनमुटाव पैदा हो गया। दोनों के राष्ट्रीय स्वार्थ एक-दूसरे के विपरीत थे और इसलिए मनमुटाव का बढ़ना अवश्यभावी था। युद्ध के समय दोनों सहयोगी एक-दूसरे के विरोधी हो गये। इसका नतीजा न तो इन दोनों देशों के हक में ही अच्छा था और न विश्वशांति के हक में ही।

वेल्जियम के साथ संधि : जब फ्रांस ब्रिटेन की तरफ से निराश हो गया था तो वह यूरोप के उन विविध "तृप्त" राज्यों की तरफ झुका जिनका हित वर्साय-संधि द्वारा स्थापित यथास्थिति को बनाये रखने में था। फ्रांस को अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए छोटे राष्ट्रों की ओर देखना पड़ा। उनको मिलाकर गुटबंदियां

कायम करने के सिवा उसके सामने कोई मार्ग नहीं रह गया। इस दिशा में फ्रांस ने जो पहला कदम उठाया वह बेल्जियम के साथ समझौता था। विगत युद्ध से यह अनुभव प्राप्त हुआ था कि दोनों देशों के हित इसी में है कि वे मिल-जुलकर अपनी सुरक्षा की योजना बनायें। अत: 7 सितंबर, 1920 को दोनों देशों के सैनिक अधिकारियों ने एक समझौता किया। यद्यपि यह समझौता राष्ट्रसंघ में दर्ज करा दिया गया था; किंतु इसकी महत्वपूर्ण शर्तें गुप्त रखी गयी थीं। फिर भी यह स्पष्ट कर दिया गया कि फ्रांस और बेल्जियम जर्मनी के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए सैनिक दृष्टि से एक हो गये हैं। इस सैनिक गुटबंदी के कारण पश्चिम में फ्रांस की स्थिति सुरक्षित हो गयी।

पोलैंड के साथ संधि : फ्रांस का काम केवल बेल्जियम के साथ समझौता कर लेने से ही चलनेवाला नहीं था, उसे एक शक्तिशाली राज्य को मित्र बनाने की आवश्यकता थी। शांति-संधि द्वारा स्थापित पोलैंड ही एक ऐसा देश था, जो क्षेत्रफल तथा आबादी की दृष्टि से बड़ा था और जिनका हित फ्रांस के हित से मिलता जुलता था। नवनिर्मित पोलैंड की जनसंख्या तीन करोड़ के लगभग थी और उसमें जर्मन-जाति के लोग बहुत बड़ी संख्या में निवास करते थे। पोलैंड का निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के सिद्धांत का पूर्ण रूप से अनुसरण नहीं किया गया था और उसमें अनेक ऐसे प्रदेशों को शामिल कर दिया गया था जिन्हें वस्तुत: जर्मनी का अंग होना चाहिए था। इस कारण फ्रांस के समान उसे भी जर्मनी का डर बना हुआ था। गलियारे के निर्माण के कारण जर्मनी दो भागों में बंट गया था और वह स्वाभाविक था कि जर्मनी इस गलियारे का नामोनिशान मिटा दे। पोलैंड को जर्मनी के आक्रमण की आशंका हमेशा बनी रहती थी। इस तरह फ्रांस और पोलैंड दोनों को आपसी आवश्यकताओं में पूरा-पूरा मेल बैठता था। जर्मन-आक्रमण की आशंका ने इस दोनों देशों को एकसूत्र में बांध दिया। ऐसा कहा गया कि फ्रांस और पोलैंड एक-दूसरे के ऐतिहासिक मित्र रहे हैं। इस मित्रता का परिचय फ्रांस ने उस समय पोलैंड को मदद देकर जब 1920 में वोल्शेविकों ने वारसा पर हमला कर दिया था। इसके बाद पोलैंड की सेना को आधुनिक ढंग से संगठित करने के लिए फ्रांस से एक सैनिक शिष्टमंडल वारसा पहुंचा। दोनों देशों के बीच एक राजनीतिक समझौता करने के लिए बातचीत शुरू हुई और अंततोगत्वा 19 फरवरी, 1921 को फ्रांस और पोलैंड के बीच एक संधि हो गयी जिसमें दोनों देशों ने न केवल राजनीतिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग का वचन दिया, अपितु गुप्त रूप से यह भी तय किया कि सैनिक दृष्टि से भी वे एक-दूसरे से सहयोग करें। बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए दोनों देशों ने एक-दूसरे का साथ देने का वचन दिया। 1922 में इस संधि का अनुमोदन हो गया और 1932 में इसकी अवधि दस वर्ष के लिए और बढ़ा दी गयी। उक्त दो संधियों से फ्रांस को यह लाभ हुआ कि यदि जर्मनी ने उस पर हमला किया तो पश्चिम में बेल्जियम और पूर्व में पोलैंड से उसको सहयोग मिलेगा।

फ्रांस पोलैंड की सेना को आधुनिक ढंग से संगठित करने और युद्ध सामग्री द्वारा उसकी सहायता करने लगा। इस संधि से दोनों देशों के बीच काफी असंतोष भी हुआ। कुछ फ्रांसीसी का मत था कि पोलैंड की मित्रता से फ्रांस को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी। इसी तरह वारसा में स्थित फ्रांसीसी सैनिक मिशन को लेकर पोलैंडवासियों में घोर असंतोष था, किंतु जैसा प्रोफेसर कार कहते हैं : "यह गुटबंदी समान हित के सुदृढ़ आधार पर हुई थी। इस कारण मामूली असंतोष से टूट नहीं सकती थी। अंतर्राष्ट्रीय महत्व के हर राजनीतिक प्रश्न पर फ्रांस और पोलैंड दोनों एक-दूसरे का बराबर साथ देते रहे तथा हर सार्वजनिक वादविवाद में साथ-साथ मत देते रहे एवं एक तरह के ही भाषण देते रहे।"

लघु मैत्री संघ : फ्रांसीसी नेताओं को इतने पर भी संतोष नहीं हुआ। वे किसी महान राज्य के साथ संधि करना चाहते थे। दिसम्बर, 1921 में उसने ब्रिटेन का साथ इसी ढंग की सन्धि करने का असफल प्रयास किया था। फ्रांस ने अब अपने नेतृत्व में छोटे-छोटे राज्यों को संगठित करने का काम शुरू किया। अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए 1920-21 में उसने चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और रूमानिया का एक त्रिगुट

संगठित किया। यह 'छोटा त्रिगुट या लघु मंत्री-संघ' (Little Entente) के नाम से प्रसिद्ध है जिसका उद्देश्य यह देखना था कि जर्मनी फिर से सर न उठा सके और हाप्सबुर्ग-राजवंश के सम्राट फिर से अपने राज्य की स्थापना न कर सकें। इस समझौता के अनुसार तीनों हस्ताक्षरकारी देशों ने इस बात को स्वीकार किया कि अकारण आक्रमण होने पर तीनों मिलकर आक्रमण से प्रभावित देश की सैनिक सहायता करेंगे और यथास्थिति बनाये रखने में एक-दूसरे की मदद करेंगे। फ्रांस इस त्रिगुट का संरक्षक था। त्रिगुट की सरकारें पूरी तरह से फ्रांसीसी प्रभाव में थीं। ये तीनों राज्य विदेशी मामलों में फ्रांस के विश्वासपात्र पिछलगुआ हो गये। फ्रांस ने यह वचन दिया कि हंगरी से वह 'छोटा त्रिगुट' के सभी देशों की रक्षा करेगा तथा यूगोस्लाविया को इटली से विशेष रूप से बचायेगा। इंन सारे प्रयत्नों के फलस्वरूप फ्रांसीसी सुरक्षा की समस्या बहुत हद तक हल हो गयी। फ्रांस जर्मनी के खिलाफ आत्मरक्षा के लिए जो साधन जुटा रहा था उसमें इन तीन नये राज्यों को अपने साथ रखना महत्वपूर्ण था। इन राज्यों के हित इसमें था कि जर्मनी, आस्ट्रिया और हंगरी फिर से अपनी शक्ति न बढ़ा सकें। फ्रांस भी यही चाहता था और इसलिए 'छोटा-त्रिगुट' के राज्यों के साथ उसका घनिष्ठ संपर्क स्थापित हो सका। 1922 में उक्त समझौता में पोलैंड भी शामिल हो गया।

इतना होने पर भी फ्रांस को संतोष नहीं हुआ। 'छोटा-त्रिगुट' उसकी संरक्षता में स्थापित हुआ था; लेकिन वह स्वयं इसका सदस्य नहीं था। वह इन राज्यों के साथ प्रत्यक्ष रूप से संधि करना चाहता था। अत: 24 जनवरी, 1924 को फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया के बीच एक संधि हुई। संधि की शर्तों के अनुसार विदेश-नीति संबंधित मामलों पर दोनों देशों ने एक दूसरे से परामर्श लेने तथा आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे की मदद करने का वादा किया। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इस संधि का महत्व बहुत बड़ा था। इससे फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये और अंतर्राष्ट्रीय मामलों से एक तरह की नीति का अवलंबन करने लगे।

ठीक इसी तरह की एक संधि दो साल बाद 1926 में फ्रांस ने रूमानिया के साथ की। इसमें भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में परस्पर सहयोग करने की बात दुहरायी गयी थी। इसके अतिरिक्त दोनों देशों ने यह वादा किया कि अगर उसमें से किसी एक पर कोई अकारण हमला हुआ तो वे परस्पर मिलकर इस बात को तय करेंगे कि दूसरे राज्य को अपने मित्र की सहायता के लिए क्या करना चाहिए। 1927 में फ्रांस ने यूगोस्लोवाकिया के साथ भी इसी ढंग की संधि कर ली।

इस तरह सुरक्षा के नाम पर छ: देशों के साथ संधि करके फ्रांस ने यूरोप की राजनीति में एक नया प्रभुत्व कायम किया। यूरोप में फ्रांस की शक्ति और गौरव चरम सीमा पर पहुंच गयी। फ्रांस यूरोप का एक अग्रणी राष्ट्र बन गया।

फ्रांसीसी गुटबंदी का खोखलापन : इसमें संदेह नहीं कि इन संधियों के द्वारा मानसिक दृष्टि से फ्रांस ने अपनी सुरक्षा की समस्या का समाधान बहुत हद तक कर दिया। किंतु ये संधियां फ्रांस को बहुत महंगी पड़ीं। इन संधियों के कारण वह अब न केवल वर्साय-संधि का पालन कराने के लिए ही निश्चित रूप से वचनबद्ध था, अपितु सारे यूरोपीय शांति-समझौते के लिए भी। इस व्यवस्था में अनेक कमजोरियां थीं। महायुद्ध के बाद स्थापित नये राज्यों की आर्थिक स्थिति अति शोचनीय थी और अनिश्चित थी और उसके पास सैनिक साधन भी पर्याप्त नहीं थे। क्षेत्रफल की दृष्टि से वे काफी छोटे राज्य थे। वे अपनी शक्ति तभी बढ़ा सकते थे जब आर्थिक दृष्टि से इनकी भरपूर सहायता की जाय। फ्रांस इन्हें सदैव कर्ज देने के लिए विवश था। फ्रांस इन राज्यों को अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए बराबर कर्ज देता रहा। इसकी सेना को शिक्षा देने के लिए फ्रांसीसी अफसर भेजे गये। इस तरह ये राज्य फ्रांस के लिए अस्थायी रूप से बोझ बन गये।

इस व्यवस्था की दूसरी दिक्कत यह थी कि ये राज्य फ्रांस की सीमा से बहुत दूर पर स्थित थे। इन राज्यों की सीमाओं में कहीं भी लगाव नहीं था। युद्ध के समय यह संभव नहीं था कि इनकी सेनाएं फ्रांस की सहायता के लिए दौड़ी चली आएं। इसके अतिरिक्त इन राज्यों की अपनी-अपनी समस्याएं थीं। पोलैंड और

चेकोस्लोवाकिया में काफी संख्या में जर्मन लोग निवास करते थे। इससे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में जटिलता का आना अवश्यंभावी था। अपने पड़ोसी राज्य से इनका बराबर झगड़ा होता रहता था और फ्रांस ने इन झगड़ों में मदद करने का वादा किया था। इस तरह का वचन देकर फ्रांस ने अपनी सैनिक जिम्मेवारियों को इतना बढ़ा लिया कि जब आवश्यकता पड़ी तो उसको पूरा करना उसके लिए असंभव हो गया। इससे भी बढ़कर फ्रांस को यह घाटा हुआ कि उक्त-सुरक्षा-व्यवस्थाओं के कारण फ्रांस के प्रति पूर्वी और पश्चिमी यूरोप में संदेह पैदा होने लगा। भय से भय की उत्पत्ति होती है। यूरोप के अन्य राज्यों को संदेह होने लगा कि सुरक्षा के नाम पर फ्रांस यूरोप पर आधिपत्य जमाने की योजना बना रहा है। अत: फ्रांस की गुटबंदियों का विरोध करने के लिए विरोधी गुटबंदियों की स्थापना अनिवार्य हो गयी। जर्मनी, इटली और सोवियत संघ अपना-अपना गुट तैयार करने की बात सोचने लगे और कुछ दिनों में इन देशों का गुट भी कायम हो गया। गुटबंदियों का वह दूषित वातावरण, जिसके कारण प्रथम विश्वयुद्ध का विस्फोट हुआ था, यूरोप में एक बार पुन: छा गया तथा कुछ ही दिनों के बाद यूरोप तीन शक्तिशाली गुटों में विभाजित हो गया।

FOOT NOTES

1. "The most important and persistence single factor in European affairs in the years following was the French demand for security."

—Carr, International Relations Between Two World Wars, p. 25

अध्याय 21

जेनेवा प्रोटोकोल, लोकार्नो पैक्ट तथा पेरिस पैक्ट
(Geneva Protocol, Locarno Pact & Paris Pact)

जेनेवा प्रोटेफोल : महायुद्ध का छिड़ना इस बात का स्पष्ट प्रमाण था कि हथियारबंदी की होड़ से विश्व शांति सुरक्षित नहीं रह सकती है। अत: पेरिस शांति-सम्मेलन में राष्ट्रों के बीच हथियारबंदी की होड़ को रोकने का निर्णय किया गया। इस विचार को व्यावहारिक रूप देने के लिए सबसे पहले पराजित जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बुल्गेरिया तथा तुर्की को अनिवार्य रूप से निरस्त्र कर दिया गया, पर निरस्त्रीकरण के सभी प्रयास बेकार हैं यदि उनके फलस्वरूप विश्वव्यापी निरस्त्रीकरण नहीं हो जाय। अत: राष्ट्रसंघ के विधान की आठवीं धारा में विश्वव्यापी निरस्त्रीकरण की चर्चा कर दी गयी : "राष्ट्रसंघ के सदस्य इस बात को मानते हैं कि शांति बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा से संगति रखते हुए राष्ट्रीय शस्त्रों का कम-से-कम करना आवश्यक है।" 1920 में राष्ट्रसंघ की एसेम्बली ने निरस्त्रीकरण-समस्या पर अध्ययन करने के लिए एक आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने रिपोर्ट दी कि निरस्त्रीकरण की कोई भी योजना तबतक सफल नहीं हो सकती जबतक राज्यों की आत्मरक्षा के लिए कोई दूसरा संतोषजनक गारंटी न मिल जाय। वास्तव में, फ्रांस ने निरस्त्रीकरण के प्रस्ताव पर उस समय तक विचार करने से साफ-साफ इंकार कर दिया जबतक उसे सुरक्षा की कोई ठोस गारंटी प्राप्त नहीं हो जाती। निरस्त्रीकरण के पूर्व फ्रांस राष्ट्रसंघ द्वारा एक पारस्परिक सुरक्षा (mutual security) की गारंटी चाहता था। अत: राष्ट्रसंघ की तीसरी एसेम्बली ने आयोग से अनुरोध किया कि वह पारस्परिक सुरक्षा संबंधी एक संधि (Treaty of Mutual Assistance) का मसविदा तैयार करे। आयोग ने एक मसविदा तैयार भी किया। उसका सारांश यह था : (1) संधि पर हस्ताक्षर करनेवालों को आश्वासन देना पड़ेगा कि उनमें से किसी पर आक्रमण होने की दशा में बाकी हस्ताक्षरकर्ता देश उनकी सहायता करेंगे, (2) आक्रमण की हालत में आक्रमणकारी कौन है, इसका निर्णय राष्ट्रसंघ की कौंसिल करेगी, (3) ऐसे राज्य को कौंसिल द्वारा निर्धारित अनुपात के अनुसार दो साल के अंदर अपना निरस्त्रीकरण नहीं कर लेगें वे पारस्परिक सहायता पाने के अधिकारी नहीं होंगे।

सितंबर, 1923 में राष्ट्रसंघ की चौथी एसेम्बली में उक्त मसविदा-संधि निर्विरोध स्वीकार कर ली गयी। इस सभा में किसी भी बड़े राष्ट्र के जिम्मेवार मंत्रियों ने भाग नहीं लिया। अत: इस मसविदे को संबंधित सरकारों के विचारार्थ भेजना आवश्यक था। फ्रांस और इसके अधिकांश साथियों ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। लेकिन ब्रिटेन, अमेरिका इत्यादि देशों में इस संधि को निश्चित रूप से अस्वीकार कर दिया। ये देश अपनी जिम्मेवारियों को नहीं बढ़ाना चाहते थे। उनकी शिकायत थी कि संधि में आक्रमण की परिभाषा स्पष्ट नहीं की गयी है तथा आक्रमणकारी राज्य के साथ कठोर व्यवहार करने के लिए राष्ट्रसंघ की कौंसिल को पर्याप्त अधिकार नहीं दिया गया है। उनका यह भी कहना था कि जो संधि निरस्त्रीकरण के अनिश्चित आधार पर स्थित है वह विश्वसनीय नहीं हो सकती।

अगले वर्ष 1924 में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के दूषित वातावरण में बहुत सुधार हो चुका था। ब्रिटेन अभी तक अपने भूतपूर्व मित्र का विरोध करता आ रहा था। इस बार फ्रांस को किसी प्रकार की गारंटी देने के लिए वह भी उत्सुक था। जब सितंबर, 1924 में ब्रिटेन और फ्रांस के दोनों समाजवादी प्रधानमंत्री—मैकडोलन्ड और हेरियो - जेनेवा में राष्ट्रसंघ सभा मे एक ही साथ उपस्थित हुए तो दोनों विरोधी दृष्टिकोणों में समझौता संभव दिखाई देने लगा। इन प्रधानमंत्रियां ने राष्ट्रसंघ की पांचवीं एसेम्बली में एक संयुक्त प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव के आधार पर एक पारस्परिक सहायता-संधि का मसविदा तैयार किया गया, जो 2 अक्टूबर को राष्ट्रसंघ की एसेम्बली द्वारा निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया। इस संधि का पूरा नाम अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए समझौता (Protocol for the Settlement of International Disputes) था। इसी को जेनेवा प्रोटोकोल भी कहते हैं। पंचायती निर्णय (arbitration) को अनिवार्य बना देना प्रोटोकोल की मुख्य विशेषता थी। जेनेवा प्रोटोकोल की और प्रमुख बातें निम्न थीं-(1) वैधानिक विवादों को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में तथा राजनीतिक विवादों को राष्ट्रसंघ कौंसिल में निबटारा के लिए अवश्य ही भेजा जाय। (2) युद्ध को एक अंतर्राष्ट्रीय अपराध घोषित किया गया। राष्ट्रसंघ के सदस्यों पर किसी प्रकार के आक्रमण को अपराध बतलाया गया। (3) जिस समय न्यायालय अथवा कौंसिल में किसी विवाद पर विचार हो रहा हो उस काल में कोई सैनिक तैयारी नहीं की जा सकती। (4) जो राष्ट्र विवादास्पद मामले को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय या कौंसिल में नहीं रखेगा अथवा न्यायालय के निर्णय को अस्वीकार करके आक्रमण कर देगा वह आक्रमणकारी समझा जायगा। (5) आक्रमणकारी के खिलाफ राष्ट्रसंघ-विधान की सोलहवीं धारा के अनुसार आर्थिक पाबंदी और सैनिक कार्यवाई की जायगी। (6) युद्ध का सारा खर्च आक्रमणकारी राज्य को अदा करना पड़ेगा। (7) सभी राज्य निरस्त्रीकरण संबंधी राष्ट्रसंघ के निर्णय को मानेंगे।

जेनेवा प्रोटोकोल का अंत : जेनेवा प्रोटोकोल की भी वही दशा हुई जो 1923 के पारस्परिक सहायता संधि की हुई थी। नवंबर, 1924 में ब्रिटेन की मेकडोलन्ड-सरकार का पतन हो गया और उसकी जगह पर बाल्डविन की अनुदार दलीय सरकार बनी। इस सरकार के नेतृत्व में ब्रिटिश संसद में जेनेवा प्रोटोकोल का अनुमोदन (ratification) करने से इंकार कर दिया। ब्रिटेन के इस इंकार के अनेक कारण थे। ब्रिटेन समझता था कि इस प्रोटोकोल से उसे यूरोप के झगड़ों में व्यर्थ ही अपने धन और जन का विनाश करना होगा। यूरोप में फ्रांस की प्रभुता थी। राष्ट्रसंघ में भी उसका महत्वपूर्ण स्थान था। यूरोप के बहुत से राज्य आंख मूंदकर उसका साथ देते थे। यदि फ्रांस के नेतृत्व में राष्ट्रसंघ ने किसी राज्य को 'अपराधी' ठहरा दिया तो ब्रिटेन को उसके खिलाफ सैनिक कार्रवाई करने के लिए विवश किया जायगा। ब्रिटेन उसके लिए तैयार नहीं था। इससे अमेरिका से भी उसका युद्ध छिड़ सकता था, जो राष्ट्रसंघ में न होने के कारण किसी सदस्य राष्ट्र से झगड़ा करने पर आक्रमणकारी घोषित किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त पंचायती निर्णय के सिद्धांत और राष्ट्रों के प्रभुसत्ता के सिद्धांत में मेल नहीं खाता था। ब्रिटेन को ऐसा लगता था कि राष्ट्रसंघ विधान की सोलहवीं धारा को पुनः जबरदस्त शब्दों में दुहराकर राष्ट्रसंघ के स्वरूप में ही परिवर्तन कर दिया गया है। जेनेवा प्रोटोकोल के अनुसार राष्ट्रसंघ का प्रमुख काम युद्ध संगठन करके शांति स्थापित करना और बड़े पैमाने पर युद्ध छेड़ना हो जाता। इन्हीं सब कारणों से ब्रिटेन ने प्रोटोकोल को अनुमोदित करने से इंकार कर दिया। परंतु, प्रोटोकोल को अस्वीकार करने का मुख्य कारण निःसंदेह समुद्र पार के ब्रिटेन-डोमीनियनों का रुख था। उसके विरोध का आंशिक कारण यह था कि वे इस बात से डरते थे कि जापान के कहने पर कहीं राष्ट्रसंघ उसके प्रवास नियम (Immigration Law) में हस्तक्षेप न कर दें, परंतु मूलतः वे आर्थिक पाबंदी और सैनिक कार्रवाई संबंधी उपबंधों को नापसंद करते थे। भौगोलिक दृष्टि से ब्रिटेन के डोमीनियन यूरोपीय संकट-स्थलों में बहुत दूर थे और वे इन झंझटों में नहीं फंसना चाहते थे। कनाडा अमेरिका की तरह पृथकतावाद का समर्थक था। एसेम्बली में वाद-विवाद के अवसर पर कनाडा के प्रतिनिधि ने कहा था : "पारस्परिक अग्नि-बीमे के इस संघ में विभिन्न

राज्यों की जोखिम एक समान नहीं है। हम अग्नि-अवरोधी मकान में रहते हैं जो ज्वलनशील वस्तुओं से बहुत दूर हैं।"[1] दक्षिणी अफ्रीका, भारत, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी इस तरह का कोई उत्तरदायित्व देना नहीं चाहते थे। इन परिस्थितियों में प्रोटोकोल का अस्वीकृत होना अनिवार्य ही था और मार्च, 1925 को राष्ट्रसंघ की कौंसिल में भाषण देते हुए चैंबरलेन में उसे अंतिम धक्का लगा दिया। जेनेवा प्रोटोकोल रद्द हो गया। जेम्स सोटवेल के शब्दों में ब्रिटेन के इस रुख से प्रोटोकोल और राष्ट्रसंघ पर ऐसा सांघातिक प्रहार हुआ कि वह कभी अपने को संभाल नहीं सका। ब्रिटेन के विरोध के कारण फ्रांस का एक और प्रयत्न धूल में मिल गया।

लोकार्नो पैक्ट
(Locarrio Pact)

लोकार्नो समझौता की पृष्ठभूमि : जेनेवा-प्रोटोकोल की अकाल-मृत्यु हो गयी। इससे फ्रांस में घोर असंतोष का वातावरण छा गया। राष्ट्रसंघ द्वारा अपनी सुरक्षा के प्रयत्न से निराश होकर उसने एक बिल्कुल नयी नीति का आश्रय लिया जो बड़ा ही महत्वपूर्ण था। जेनेवा प्रोटोकोल यद्यपि रद्द हो गया; किंतु यह जाते-जाते यूरोपीय मामलों पर अपनी गहरी छाप छोड़ गया। राष्ट्रों के बीच समझौते और भाईचारे की भावना उत्पन्न होने लगी। सब लोग इस बात पर सहमत थे कि यूरोपीय शांति को भंग करनेवाले मुख्य खतरों के विरुद्ध किसी-न-किसी प्रकार का उपाय करना आवश्यक है। यह बात ठीक मामूली स्थितियों का खतरे का सामना करने के लिए कुछ निश्चित कदम उठाना आवश्यक था। फ्रांस अपने निरस्त्रीकरण के लिए कभी भी राजी नहीं होता जबतक शक्तिशाली जर्मनी के खतरे के खिलाफ कोई निश्चित कदम नहीं उठाया जाता। परंतु, जेनेवा-प्रोटोकोल के भंग हो जाने से इस दिशा में कोई व्यापक व्यवस्था नहीं की जा सकती थी। इसलिए पुन: प्रादेशिक समझौते (regional arrangements) की ओर ही ध्यान दिया गया।

इस समय इस तरह की व्यवस्था के लिए वातावरण भी अनुकूल था। क्षतिपूर्ति की अदायगी के बारे में डावस योजना के अनुसार जर्मनी से समझौता हो चुका था और रूर-प्रदेश से फ्रांसीसी सेनाएं भी वापस बुलायी जा चुकी थीं। फ्रांस ब्रिटेन की तरफ से निराश हो चुका था। अत: वह भी जर्मनी से किसी तरह समझौता करके अपने सरदर्द को दूर करना चाहता था। इस समय फ्रांस का प्रधानमंत्री हेरियो और विदेशमंत्री ब्रियां था। दोनों इस बात के लिए उत्सुक थे कि आत्मरक्षा के लिए जर्मनी के साथ किसी नये समझौते की बात चलायी जाय। फ्रांस का असल खतरा राइन भूमि की ओर से था। वह इसके लिए स्पष्ट रूप से गारंटी पाना चाहता था। आश्चर्य की बात है कि इस समस्या का समाधान एक ऐसे प्रस्ताव से हुआ जिसे दो वर्ष पूर्व सबसे पहले जर्मनी सरकार ने रखा था।

1932 के अंत में जर्मन सरकार ने फ्रांसीसी सरकार के सामने यह सुझाव रखा था कि वे आपस में प्रतिज्ञा करें कि कम-से-कम एक दशाब्दी तक युद्ध नहीं करेंगे। इस प्रतिज्ञा में ब्रिटेन और बेल्जियम को तथा न्यासी (trustee) के रूप में एक तटस्थ शक्ति को भी सम्मिलित किया जाय। इस समय रूस पर फ्रांसीसी अधिकार का क्रम जारी था और यह योजना फ्रांस की अपेक्षा जर्मनी के हित में अधिक थी, क्योंकि फ्रांस द्वारा ही जर्मनी पर आक्रमण किये जाने की अधिक आशंका थी, न कि जर्मनी द्वारा फ्रांस पर। अत: पोआंकारे ने इस प्रस्ताव को एक 'भौंडी चाल' कहकर ठुकरा दिया। जर्मन सरकार आगामी दो वर्षों तक इसके लिए लगातार प्रयत्न करती रही। इसी बीच 1933 में जर्मनी के राजनीतिक रंगमंच पर स्ट्रेस्मेन नामक एक राजनेता का प्रादुर्भाव हुआ। उसके प्रयास से जर्मनी की आर्थिक स्थिति में काफ़ी सुधार हुआ। संसार के बाज़ारों में जर्मनी की साख जम गयी। डावस योजना के अमल में आने से फ्रांस तथा जर्मनी की पारस्परिक कटुता कम हो चली थी। उसके स्थान पर सौहार्द की भावना उत्पन्न होने लगी थी और परस्पर सहयोग की इच्छा जाग्रत हो रही थी। स्ट्रेस्मेन ने 1923-24 में फ्रांस के साथ समझौता करने के अनेक प्रयास किये, पर इन प्रयासों में भी उनको सफलता

नहीं मिली। इन असफलताओं के बावजूद फरवरी, 1925 में स्ट्रेस्मेन ने एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का प्रस्ताव किया। बर्लिन स्थित ब्रिटिश राजदूत का संकेत पाकर स्ट्रेस्मेन ने तत्कालीन फ्रांसीसी प्रधानमंत्री हेरियो के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि फ्रांस, ब्रिटेन, इटली और जर्मनी मिलकर एक अनाक्रमण समझौता कर लें। हेरियो समझौते की नीति को पसंद करता था। जेनेवा प्रोटोकोल के अस्वीकृत हो जाने के बाद फ्रांस स्वयं इस बात के लिए उत्सुक था कि आत्मरक्षा के लिए कोई प्रादेशिक समझौता कर लिया जाय।

समझौता की कठिनाइयां : समझौता के मार्ग में अभी भी अनेक कठिनाइयां थीं। इस समय तक फ्रांसीसी लोकमत अनुकूल नहीं हुआ था। फ्रांस, बेल्जियम तथा जर्मनी में शासकों के परिवर्तन के कारण कुछ विलंब होने की संभावना बढ़ गयी। फरवरी, 1925 में राष्ट्रपति एबर्ट की मृत्यु हो गयी। उसके स्थान पर फॉन हिन्डेनवर्ग जर्मनी क़ा राष्ट्रपति हुआ। वह समझौते की नीति का समर्थक नहीं था। बेल्जियम में थीयूनिस-मंत्रिमंडल के पतन के कारण वह देश इस प्रश्न की ओर तत्काल ध्यान न दे सका। अप्रैल में हेरियो की पराजय से और बाधा पड़ गयी। परंतु फ्रांस का नया विदेश मंत्री ब्रियां समझौता का पक्षपाती था और इसलिए कूटनीतिक मार्गों द्वारा बातचीत चलती रही।

बातचीत के सिलसिले में जर्मनी की तरफ से अनेक बाधाएं थीं। जर्मनी के द्वारा यह शर्त रखी गयी कि उसे बेशर्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना दिया जाय। दूसरी कठिनाई सोवियत संघ और जर्मनी की मित्रता से, जो रेपलो-संधि के समय से ही चली आ रही थी, उत्पन्न हुई। जर्मनी को यह भय था कि पश्चिमी राष्ट्र सोवियत-संघ के विरुद्ध किसी भी दिन सैनिक कार्रवाई कर सकते हैं तथा इस प्रकार की कार्यवाही में शामिल होने के लिए उसे भी आमंत्रित किया जा सकता है। वार्तालाप के द्वारा जर्मनी की इस शंका को भी दूर कर दिया गया। यह निश्चित किया गया कि निरस्त्र होने के कारण जर्मनी के सैनिक कार्यवाही में भाग लेने को नहीं कहा जायगा। तीसरी कठिनाई चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड से लगी जर्मनी की सीमाओं को लेकर थी। वर्साय-संधि द्वारा निश्चित पश्चिमी सीमा को स्वीकार करने के लिए जर्मनी तैयार था। किंतु पूर्वी सीमा के निर्धारण को वह अंतिम फैसला मानने के लिए तैयार नहीं था, पर वह इस बात को मानने के लिए तैयार था कि बल प्रयोग करके वह उसको बदलने का विचार नहीं रखता। वार्तालाप के द्वारा इन कठिनाइयों का भी यथासंभव समाधान निकाल लिया गया।

लोकार्नो की संधियां : 5 अक्टूबर, 1925 को जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, बेल्जियम, पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधियों की वार्ता स्विट्जरलैंड में झील के किनारे बसे लोकार्नो नामक नगर में आरंभ हुई। युद्ध के बाद वह प्रथम अवसर था जब जर्मनी को मित्रराष्ट्रों के साथ समानता के स्तर पर बातचीत करने का मौका मिला। लोकार्नो जैसे मनमोहक स्थान के आनन्ददायक वातावरण में बारह दिनों तक बातचीत चलती रही। वस्तुतः इस सम्मेलन में इतने अधिक स्नेह और सौहार्द्र का वातावरण था कि इसे पुरानी कटुता और शत्रुता को अंत करनेवाली 'लोकार्नो की भावना' (Spirit of Locarno) कहा जाने लगा। 16 अक्टूबर को सम्मिलित राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा एक संधि पर हस्ताक्षर किये गये जो लोकार्नो पैक्ट के नाम से विख्यात हैं। इसमें कुल मिलाकर सात संधियों पर हस्ताक्षर किये गये जिनका विवरण इस प्रकार है—

(1) इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण संधि जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन, बेल्जियम तथा इटली के बीच फ्रांस-जर्मनी तथा बेल्जियम जर्मनी की सीमाओं की गारंटी संबंधी संधि थी। यह संधि असल 'लोकार्नो संधि' थी। इसके द्वारा सभी हस्ताक्षरकारी शक्तियों ने इस बात की गारंटी दी कि वे वर्साय की संधि द्वारा निश्चित की गयी जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस की सीमाओं को सुरक्षित बनाये रखने तथा राइन प्रदेश के असैनिकीकरण का वचन देते हैं। जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस ने यह समझौता किया कि वे एक-दूसरे पर तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त कभी आक्रमण नहीं करेंगे और न एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध छेड़ेंगे। जिन तीन अवस्थाओं में युद्ध छेड़ा जा सकता था वे निम्नलिखित थे : (1) आत्मरक्षा, (2) असैनिकीकरण की व्यवस्था का ज्वलंत उल्लंघन तथा (3) राष्ट्रसंघ

द्वारा आदेशित सैनिक कार्रवाई। इसके अतिरिक्त हस्ताक्षरकर्त्ता राज्यों ने अपने बीच उत्पन्न होने वाले सब प्रकार के विवादों को शांतिपूर्ण उपायों द्वारा हल करने तथा संधि का उल्लंघन करनेवाले राज्यों के विरुद्ध सम्मिलित कार्यवाही करने का निश्चय किया। संधि का उल्लंघन हुआ है या नहीं इसका फैसला राष्ट्रसंघ की कौंसिल कर सकती थी। जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने का वादा किया गया और यह संधि उसके राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाने पर ही लागू होती थी।

(2) एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर फ्रांस, बेल्जियम, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया के बीच चार पंच निर्णय संधियां : मध्यस्थता संबंधी यह संधि जर्मनी ने उपर्युक्त चारों देशों से अलग-अलग की। इन संधियों का उद्देश्य यह था कि यदि हस्ताक्षरकर्ता देशों के बीच कोई झगड़ा हो तो उसका फैसला पंचायती तरीके से किया जाय। लेकिन यह व्यवस्था 'इस संधि के बाद उत्पन्न होनेवाले नये विवादों के लिए थी; पुराने विवादों के लिए नहीं।'

(3) एक ओर फ्रांस और दूसरी और पोलैंड तथा चेकोस्लोविकिया के बीच गारंटी की दो संधियां : इनमें यह व्यवस्था थी की यदि लोकार्नो समझौते का पालन नहीं होता और बिना उत्तेजना के युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों राष्ट्र एक-दूसरे की सहायता अविलंब करेंगे। इस प्रकार यह संधि एक पारस्परिक सहायता-संधि थी और उसके अंतर्गत हस्ताक्षरकर्ताओं ने यह वादा किया कि जर्मनी द्वारा आक्रमण किये जाने की स्थिति में एक-दूसरे की पारस्परिक सहायता करेंगे।

लोकार्नो समझौता का मूल्यांकन

जर्मनी और फ्रांस के विद्वेष का अंत : लोकार्नो के मधुर वातावरण में तैयार किये गये इन सात संधियों पर 1 सितंबर, 1925 को लंदन में विधिवत हस्ताक्षर किया गया और 14 सितंबर, 1926 को इसे लागू कर दिया। इन सभी संधियों में पहली बार श्रेणी की संधि सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के बीस वर्षों की कूटनीति के इतिहास में सबसे बड़ी घटना थी। इसके द्वारा एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर फ्रांस तथा बेल्जियम की पूर्वी सीमाओं की वस्तुतः गारंटी हो गयी। जर्मनी ने वर्साय-संधि द्वारा निर्धारित फ्रांस तथा बेल्जियम की पूर्वी सीमाओं को सदा के लिए स्वीकार कर लिया अर्थात उसने एल्सेस लोरेन पर से अपने दावे का परित्याग कर दिया। उसने राइन नदी के पूरब जर्मन सीमा को सैन्यविहीन दशा में बनाये रखने का भी वचन दिया। जर्मनी और फ्रांस दोनों ने इस सीमा पर आत्मरक्षा को छोड़ अन्य किसी कारण से परस्पर युद्ध न करने का वचन दिया और प्रत्येक को यह अधिकार मिला कि यदि दूसरा पक्ष बिना कारण युद्ध छेड़े तो अन्य हस्ताक्षरकर्ता राज्य आक्रांत राज्य को सैनिक सहायता देंगे। जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सहायता दिलाने का भी वादा किया गया।

यूरोप की राजनीति पर इस व्यवस्था का अत्यंत लाभदायक प्रभाव पड़ा। इसके द्वारा फ्रांस और जर्मनी के बीच कम-से-कम कुछ दिनों के लिए स्थायी शत्रुता और वैमनस्य का मूल आधार नष्ट हो गया। जिस समय जर्मनी ने एल्सेस-लोरेन पर से अपने दावे का परित्याग कर दिया उस समय फ्रांस जर्मनी के आक्रमण की दुश्चिन्ता से मुक्त हो गया। इसने दोनों ही देशों में सौहार्द बढ़ाकर अंतर्राष्ट्रीय शांति की संभावना को प्रोत्साहित किया। क्षतिपूर्ति की समस्या का समाधान भी संभव दिखायी पड़ने लगा।

जर्मनी की स्थिति में सुधार : फ्रांस और जर्मनी में लोकार्नो संधि की बड़ी प्रशंसा की गयी और इसको यूरोपीय शांति की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम बताया गया। यूरोप में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ा। जर्मनी ने वर्साय-संधि को स्वेच्छा से कभी स्वीकार नहीं किया था। परंतु यह संधि उसने स्वेच्छा से स्वयं बातचीत करके की थी। युद्ध के बाद पहले-पहल उसको मित्रराष्ट्रों के साथ समान स्तर पर बातचीत

करने का मौका मिला था। लोकार्नो में इस बात की भरसक कोशिश की गयी थी कि वहां वर्साय का वातावरण नहीं आने पाये। चेम्बरलेन, ब्रियां और स्ट्रेस्मेन एक साथ घूमते थे और झील में मुस्कुराते हुए नौका बिहार करते थे। संसार भर के समाचारपत्रों में उनके हंसते हुए और कंधे से कंधा मिलाये चित्र छापे गये जिससे लोगों के दिल पर यह छाप पड़ जाय कि वर्साय का अध्याय अब समाप्त हो चुका है, जर्मनी केवल राष्ट्रसंघ का सदस्य ही नहीं हुआ, अपितु वह कौंसिल का सदस्य भी चुन लिया गया। अब वह यूरोप की राजनीति में एक स्वतंत्र और सम्मानास्पद देश के सदृश भाग लेने गया। वह यूरोप के अन्य राज्यों के समकक्ष स्थान पा गया था। बदले में उसने स्वेच्छा से अपनी पश्चिमी सीमा को स्वीकार कर लिया। अब वह यह नहीं कह सकता था कि उस पर एक आरोपित संधि लादी गयी है। जर्मनी की शिकायत दूर हो गयी। इसके साथ ही फ्रांस का भी अपनी पूर्वी सीमा की सुरक्षा की गारंटी मिल गयी। अब दोनों के बीच परस्पर वैमनस्य का कोई कारण नहीं रह गया।

प्रतिशोधात्मक नीति का अंत : लोकार्नो समझौते का एक और सुपरिणाम यह हुआ कि इसने वर्साय की प्रतिशोधपूर्ण नीति का अंत कर दिया। इसके पूर्व अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सदा जर्मनी को कुचलने, उससे बदला लेने की कटुतापूर्ण चर्चाएं होती थीं। अब इसका स्थान "लोकार्नो की भावना" (Spirit of Locarno) ने ले लिया जिसके मूल में समझौता, शांति चर्चा और सुलह थी। इस प्रकार इस संधि ने पोअंकारे को उग्रतापूर्ण नीति का अंत कर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग तथा स्नेह के एक नये युग का उद्घाटन किया। इस युग में अब बदला लेने की बात नहीं कही जा सकती थी। राष्ट्रसंघ में जर्मनी को प्रवेश प्राप्त हुआ। इसके परिणामस्वरुप राष्ट्रसंघ का स्वरूप बदल गया। अंत तक इसमें प्रथम विश्वयुद्ध की विजेता शक्तियों का ही बोलबाला था, जिनका मुख्य उद्देश्य वर्साय-व्यवस्था को सुरक्षित तथा स्थायी रखना था। लेकिन अब इसमें पराजित पक्ष को भी स्थान मिला। अतएव वे राष्ट्रसंघ में अपनी शिकायत पेश कर सकते थे और अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं को अंत करने का प्रस्ताव रख सकते थे। उस समझौते के महत्व की चर्चा करते हुए बास तथा क्लिफ ने लिखा है : "लोकार्नो समझौते ने जर्मन सीमांत को स्थिर किया, जर्मनी के राष्ट्रसंघ में प्रवेश का मार्ग खोला। इसके पूर्व वह कानून को भंग करने वाला भयंकर अंतर्राष्ट्रीय व्यक्ति माना जाता था। अन्य पराजित राष्ट्रों को संघ का सदस्य बना लेने पर भी उसे यह सुविधा नहीं दी गयी थी। किंतु इस समझौते के बाद उसे अपने आकार, जनसंख्या तथा महानता की पुरानी श्रेणी के अनुसार संघ की कौंसिल का स्थायी सदस्य बनाया गया। जर्मनी के साथ प्रतिशोधात्मक नीति का परित्याग कर दिया गया।"

निरस्त्रीकरण की सफलता की संभावना : लोकार्नो संधि से यूरोप के राजनीतिक वातावरण में पुनः स्थिरता आयी, निराशा के बादल उड़ गये और लोगों ने उसका बड़े हर्ष और संतोष से स्वागत किया। संधि होने के बाद निरस्त्रीकरण की आशाएं भी बढ़ गयीं। फ्रांस की सुरक्षा की मांग इस समय उसके मनोनुकूल पूरी कर दी गयी थी और सबों ने निरस्त्रीकरण संबंधी काम में अपना हार्दिक सहयोग देने का और एक व्यापक समझौता द्वारा इसे कार्यान्वित करने का वचन दिया था। उस समय के आशावादी वातावरण में राष्ट्रसंघ-कौंसिल ने नये सिरे से इस दिशा में कांम शुरू किया। इसका मुख्य कारण यह था कि लोकार्नो समझौते के द्वारा युद्ध के बाद पहली बार फ्रांस को सुरक्षा की आवश्यकताओं और वर्साय-संधि संशोधन की जर्मन मांगों के बीच संतुलन स्थापित किया गया। इसकी व्यवस्थाएं फ्रांस और जर्मनी दोनों के लिए लाभदायक थीं। यदि जर्मनी सीमांत व्यवस्था का उल्लंघन करता तो इंगलैंड और इटली फ्रांस की सहायता करते। इसी तरह की सहायता जर्मनी को भी प्राप्त होती यदि फ्रांस उस पर आक्रमण करता। इस प्रकार शक्ति का एक अच्छा संतुलन स्थापित हो गया और इस वातावरण में निरस्त्रीकरण की सफलता पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गयी।

युद्ध और शांति के वर्षों की विभाजक रेखा : लोकार्नो समझौता से ब्रिटेन बहुत प्रसन्न था। वँह इसको एक महान् कूटनीतिक सफलता मानता था। चेंबरलेन जब लोकार्नो से लंदन लौटा तो उसने बड़े गर्व के साथ कहा कि "लोकार्नो समझौता युद्ध के वर्षों और शांति के वर्षों के बीच वास्तविक विभाजन रेखा को अंकित करता

है।"[2] इसका अर्थ यह था कि 11 नवंबर, 1918 को प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने पर भी जिस प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना का अंत नहीं हुआ, वह लोकार्नो की संधि के साथ 1926 में समाप्त हो गया। ब्रिटिश सम्राट अपने मंत्री की सफलताओं पर खुश होकर उसको नाइट की उपाधि से विभूषित किया। ब्रियां का भी कहना था कि "लोकार्नो से नये युग का प्रारंभ होता है।" संधि का महत्व बतलाते हुए उसने कहा था—"यह जर्मनी के लिए शांति है, फ्रांस के लिए शांति है। इससे इतिहास के पृष्ठों को काला करने वाले भयंकर और रक्त-रंजित संघर्षों के एक लंबी शृंखला का अंत होता है...राइफलों, मशीनगनों और तोपों का जमाना लद गया, ये अब समझौते, मध्यस्थता और शांति के लिए मार्ग प्रशस्त कर रही हैं।" स्ट्रेस्मेन तो एक कदम और बढ़ गया। उसने कहा, "हम सभी अपने देश के नागरिक हैं लेकिन हम लोग यूरोप के भी नागरिक हैं। हमलोगों को यूरोप के लिए बोलने का अधिकार है।" स्ट्रेस्मेन को लोकार्नो की संधियों में यूरोपीय एकता का आभास मिला।

लोकार्नो समझौते की त्रुटियां : पर जैसे-जैसे समय बीतता गया लोकार्नो का वास्तविक स्वरूप भी प्रकट होने लगा और आज कहा जा सकता है कि लोकार्नो युद्ध और शांति के वर्षों के बीच विभाजन-रेखा नहीं बल्कि एक महान् 'कूटनीतिक' भ्रम था। समय के बीतने के साथ इसकी कमजोरियां स्पष्ट होने लगीं। सर्वप्रथम लोकार्नो से जर्मनी की पूर्वी सीमा की समस्या का समाधान नहीं हुआ। जर्मनी ने अपनी पूर्वी सीमा को अंतिम नहीं माना था जो गारंटी फ्रांस और जर्मनी तथा बेल्जियम और जर्मनी की सीमाओं के संबंध में प्राप्त हुई थी; वह जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया तथा जर्मनी और पोलैंड की सीमाओं को बारे में प्राप्त नहीं हुई थी। यह बात बड़े महत्व की थी। इसका अभिप्राय यह था कि जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न कर सकता है या वह पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया के उन प्रदेशों पर, जिनमें जर्मन लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे, फिर से कब्जा करने का प्रयास कर सकता है। ब्रिटेन ने भी पूर्वी सीमा से संबंधित धाराओं पर अपनी गारंटी नहीं दी थी। अतः इसका अर्थ था कि पूर्वी सीमा की समस्या से उत्पन्न युद्ध में ब्रिटेन जर्मनी के खिलाफ लड़ाई शुरू करने के लिए मजबूर नहीं होगा।

इन बातों पर ध्यान रखते हुए प्रोफेसर कार का कहना है कि लोकार्नो वर्साय संधि और राष्ट्रसंघ विधान दोनों के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। सबसे पहले तो इस संधि के कारण यह धारणा बनने लगी कि वर्साय संधि से उत्पन्न दायित्व यदि कानूनी दृष्टि से नहीं तो नैतिक दृष्टि से उतने बंधनशील नहीं थे जितना स्वेच्छा से स्वीकृत दायित्व। दूसरे ब्रिटेन कुछ सीमाओं की गारंटी देने को तैयार था; परंतु अन्य सीमाओं की गारंटी देने के लिए राजी नहीं हुआ था। इससे यह स्पष्ट होने लगा कि सुरक्षा की दृष्टि से सीमाएं दो कोटि की हैं। ब्रिटेन राष्ट्रसंघ विधान के अंतर्गत अपने समस्त दायित्व को पूरा करने के लिए सदा तैयार रहने की बात तो करता रहा, परंतु लोकार्नो की संधि से यह धारणा बन गयी कि पूर्वी यूरोप में संधियों द्वारा निर्धारित सीमाओं की रक्षा के लिये वह युद्ध नहीं करेगा। इस प्रकार, प्रोफेसर कार के अनुसार, इस संधि से यूरोपीय राज्यों में यह धारणा कार्य करने लगी कि वर्साय-संधि तभी बंधनशील होगी जबकि स्वेच्छा से किये गये समझौतों द्वारा उसकी पुष्टि हो जाय। इसके साथ ही यह भी सोचा जाने लगा कि किसी भी सरकार से ऐसी सीमाओं की रक्षा के लिए सैनिक कार्यवाही करने की आशा नहीं की जा सकती, जिसका कोई सीधा हित न हो। दस वर्ष बाद सभी राज्य इसी धारणा पर काम करने लगे।

लोकार्नो संधि वास्तविकता से भी बहुत दूर थी। प्रथमतः संधि के अंतर्गत ब्रिटेन से जर्मनी द्वारा आक्रमण किये जाने पर फ्रांस को और फ्रांस द्वारा आक्रमण किये जाने पर जर्मनी को सशस्त्र सहायता देने का वचन दिया था। ब्रिटिश गारंटी से फ्रांसीसियों और जर्मनों के मन में सुरक्षा की भावना बढ़ गयी। पर, अब प्रश्न यह था कि क्या अवसर आने पर ब्रिटेन के लिए अपने दायित्वों को पूरा करना संभव होगा। वास्तव में ब्रिटेन का यह दायित्व भ्रमात्मक एवं एकपक्षीय था; क्योंकि जर्मनी के फ्रांस पर आक्रमण करने पर ब्रिटेन की सहायक सेना जिनकी संख्या अस्सी हजार थी; फ्रांस की कुछ सहायता कर सकती थी। परंतु फ्रांस की सुसज्जित तीन लाख सेना से जर्मनी की एक लाख सेना पर, जो पूर्णतया सुसज्जित नहीं थी, आक्रमण होने की दशा में ब्रिटेन

की सैनिक सहायता (अस्सी हजार सैनिकों के साथ) का कोई विशेष अर्थ नहीं हो सकता था। ब्रिटेन ने आक्रमण की स्थिति में जर्मनी की मदद करने का वादा किया था। लेकिन, वह अपनी इस गारंटी को शस्त्रों की सहायता से पूरा नहीं कर सकता था। इस प्रकार लोकार्नो में वास्तविकता का परित्याग कर दिया गया था।

लोकार्नो पैक्ट से गलतफहमियां भी कम नहीं फैलीं। जर्मनी के साथ प्रथम बार समानता के स्तर पर व्यवहार किया गया; लेकिन सोवियत संघ को लोकार्नो सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमंत्रित नहीं किया गया। इससे सोवियत संघ का लोकार्नो-शक्तियों पर संदेह होना स्वाभाविक था। जर्मनी ने पूर्वी सीमा की गारंटी नहीं दी थी। इससे उसके इस संदेह की और पुष्टि हो गयी कि पश्चिमी राज्य मिलकर उसके विनाश के लिए कोई षड्यंत्र कर रहे हैं।

राष्ट्रसंघ के समर्थकों को भी लोकार्नो से काफी निराशा हुई। प्रादेशिक समझौता और विश्वव्यापी समझौता एक-दूसरे के दुश्मन होते हैं। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, लोकार्नो समझौता के कारण राष्ट्रसंघ पर लोगों का विश्वास घटने लगा। यह राष्ट्रसंघ के भविष्य के लिए शुभ नहीं था।

लोकार्नो समझौता की मुख्य कुंजी जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाना तथा कौंसिल में उसको स्थायी स्थान दिलाना था। सितंबर 1926 में मित्रराष्ट्रों ने उसे राष्ट्रसंघ में शामिल कर लिया और कुछ दिनों के बाद उसे कौंसिल में भी एक स्थायी जगह प्राप्त हो गयी। लेकिन, राष्ट्रों की मंडली में जर्मनी का प्रवेश सरलता से नहीं हो सका। उस समय राष्ट्रसंघ-कौंसिल में चार स्थायी सदस्य—ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान — और छह अस्थायी सदस्य थे। जब जर्मनी को कौंसिल का एक स्थान देने का प्रस्ताव आया तब पोलैंड, स्पेन, ब्राजील और चीन जैसे राज्य भी अपने लिए स्थायी स्थान पाने की मांग करने लगे। इसका परिणाम यंह हुआ कि कौंसिल में एक नयी तरह का संकट उठ खड़ा हुआ। फ्रांस ने स्वभावत: अपने मित्र-राज्य पोलैंड की उम्मीदवारी का समर्थन किया। इस पर काफी झगड़ा हुआ और राष्ट्रसंघ के प्रति जर्मनी का अविश्वास और भी बढ़ गया। इन घटनाओं से उसको जो-क्षोभ हुआ उसके फलस्वरूप उसने 24 अप्रैल, 1926 को सोवियत-संघ के साथ एक मित्रता की संधि कर ली। अंत में कौंसिल की जगह को लेकर जेनेवा जो बवंडर खड़ा हुआ था वह शांत हो गया और जर्मनी को एक स्थायी जगह प्राप्त हो गयी।

इन सब बातों के अतिरिक्त स्ट्रेस्मेन ने लोकार्नो का अर्थ वही लगाया जो जर्मनी के हित में अच्छा हो सकता था। लोकार्नो में जर्मनी को सांस लेने का एक अच्छा मौका मिल गया। स्ट्रेस्मेन का कहना था कि अगर वह शांति-समझौता वास्तव में शांति स्थापित करता है तो राइनलैंड से मित्रराष्ट्रों को अपनी सेना हटा लेनी चाहिए। लोकार्नो के वातावरण में जर्मनी को ये सभी चीजें मिलनी चाहिए जिस पर उसका न्यायपूर्ण दावा है। जर्मनी की इस मांग को पूरा करने से मित्रराष्ट्र इंकार नहीं कर सके और जिस दिन लोकार्नो संधि पर हस्ताक्षर हुआ उसी दिन से मित्रराष्ट्रों की सेना राइनलैंड से हटने लगी। मित्रराष्ट्रों ने संयुक्त सैनिक-आयोग को भी जनवरी, 1927 में हटा दिया गया। 1928 में इसका परिणाम दृष्टिगोचर होने लगा। उस वर्ष से जर्मनी ने अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने का काम शुरू कर दिया। अंत में उसकी शक्ति इतनी बढ़ गयी कि वह यूरोपीय शांति के लिए काफी खतरनाक सिद्ध हुई। लोकार्नो का वास्तविक महत्व इसी बात में है।

इन सब बातों के बावजूद लोकार्नो पैक्ट ने यूरोप में शांति स्थापना के कार्य में महत्वपूर्ण योग दिया। फ्रांस और जर्मनी दोनों में इसका हर्ष के साथ स्वागत हुआ। एक अर्थ में यह कहना अधिक सत्य होगा कि प्रथम महायुद्ध का अंत 1919 की वर्साय-संधि से नहीं वरन् 1925 की लोकार्नो- संधि से हुआ। युद्ध के बाद पहली बार फ्रांस और जर्मनी की आवश्यकताओं के बीच न्यायोचित और निष्पक्ष सन्तुलन स्थापित हुआ। जिस कार्य को डावस योजना ने प्रारम्भ किया था उस कार्य को इस समझौता ने पूरा किया। इस दृष्टिकोण से ऑस्टिन चेम्बरलेन का 'युद्ध और शांति के वर्षों के बीच वास्तविक विभाजन रेखा' के कथन को ठीक माना जा सकता है लेकिन, अन्य दृष्टियों से यह कथन यथार्थता से उतना ही दूर है जितना 1878 के बर्लिन सम्मेलन के बाद

डिजरैली का कथन। खासकर फ्रांसीसी सुरक्षा के प्रश्न को लोकार्नो समझौता हल नहीं कर सका। अगर फ्रांस की सुरक्षा निश्चित हो गयी होती तो वह तथाकथित पेरिस पैक्ट और अन्य सुरक्षा मार्गों के लिए फिर से प्रयास नहीं करता।

लोकार्नो पैक्ट की सफलता के पक्ष में और विपक्ष में अनेक तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं और उसमें सभी तर्कों का महत्व है; लेकिन इसको स्थायी करने में कमी नहीं की जा सकती। यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मामलों पर व्यापक और दूरस्थ प्रभाव छोड़ गया। 1954 में हिंद-चीन समस्या पर विचार करने के लिए जेनेवा में एक सम्मेलन का आयोजन हुआ तब ब्रिटिश संसद में बोलते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री सर ईडनं और भारतीय संसद में बोलते हुए प्रधानमंत्री नेहरू ने लोकार्नो भावना (Spirit of Locarno) तैयार करने की अपील की थी। 1963 में वियतनाम-शांति वार्ता के समय भी लोकार्नो-भावना की याद की गयी थी। अनेक त्रुटियों के बावजूद लोकार्नो सदा के लिए राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण सहजीवन (peaceful co-existence) का प्रतीक बन गया। लोकार्नो का यह स्थायी प्रभाव है।

पेरिस पैक्ट
(Pact of Paris)

पैक्ट की पृष्ठभूमि : लोकार्नो पैक्ट से फ्रांसीसी सुरक्षा के प्रश्न का वास्तविक समाधान नहीं हो सका। इसलिए सुरक्षा के अन्य साधनों की खोज पहले की तरह ही होती रहीं। इस संधि से फ्रांस और जर्मनी के संबंध पहले की अपेक्षा बहुत अच्छे हो गये थे। दोनों देशों ने एक दूसरे की सीमाओं को स्वीकार कर लिया था और एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे, पर जर्मनी की पूर्वी सीमा की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। जर्मनी ने इस सीमा की गारंटी नहीं दी थी। यदि जर्मनी अपनी पूर्वी सीमा को अनुचित समझकर पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करे तो फ्रांस का जर्मनी के साथ युद्ध में फंस जाना अवश्यंभावी था, क्योंकि सैनिक संधियों के आधार पर फ्रांस को इन देशों की सहायता करनी थी। पूर्वी सीमा में उत्पन्न किसी भी युद्ध में फ्रांस के लिए तटस्थ रह सकना असंभव था। इसके अतिरिक्त फ्रांस और जर्मनी दोनों लोकार्नो-संधि का भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते थे। फ्रांस समझता था कि इस संधि के द्वारा जर्मनी ने वर्साय संधि को पूर्णतया स्वीकार कर लिया है। जर्मनी को आशा थी कि इस संधि के फलस्वरूप वर्साय संधि में संशोधन किया जायगा। इन सब कारणों से लोकार्नो से फ्रांसीसी सुरक्षा की समस्या हल नहीं हो पायी। फ्रांसीसी नीति-निर्धारकों द्वारा सुरक्षा की खोज ज़ारी रही। केलौंग-ब्रियां पैक्ट वा पेरिस-पैक्ट इसी खोज का परिणाम था।

संयुक्त राज्य अमेरिका के गैर-सरकारी हलकों में कुछ समय युद्ध को अवैध घोषित करने के लिए आंदोलन चल रहा था, पर युद्ध का अंत तब तक नहीं हो सकता जबतक संसार के राज्य अंतर्राष्ट्रीय विवादों को निबटाने के लिए बल प्रयोग के उपाय को सदा के लिए परित्याग नहीं कर दें। इसी भावना से प्रेरित होकर पोलैंड के प्रतिनिधि ने 1927 में राष्ट्रसंघ एसेम्बली के सामने युद्ध को निषिद्ध करने तथा अंतर्राष्ट्रीय विवादों को निबटाने के लिए शांतिपूर्ण-साधनों को अपनाने का प्रस्ताव रखा था। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ था। इस दिशा में एक प्रभावशाली प्रयत्न पेरिस में भी हो रहा था। अप्रैल, 1927 में फ्रांसीसी विदेश मंत्री ब्रियां ने अमरीकी जनता के नाम एक संदेश भेजा। इसमें उसने यह सुझाव दिया कि अमेरिका के युद्ध में प्रवेश के दसवें वार्षिकोत्सव के अवसर पर फ्रांस और अमेरिका सिद्धांततः युद्ध को एक साधन के रूप में अस्वीकार करने को एक पारस्परिक समझौता करें। फ्रांस और अमेरिका के पारस्परिक सम्बन्ध उस समय बिल्कुल मधुर थे। उनमें आपस में किसी भी प्रश्न पर झगड़ा होने की कोई संभावना नहीं थी। इस दशा में इस प्रकार के समझौते का व्यावहारिक महत्व कुछ नहीं था। इसलिए अमरीकी विदेश सचिव केलौग ने प्रारंभ में फ्रांसीसी प्रस्ताव का उत्तर देने में शिथिलता दिखायी, पर इस समय अमेरिका में 'युद्ध को अवैध घोषित करो' आंदोलन काफी जोर पकड़ रहा था। अतः

छः मास बाद अमरीकी विदेश-सचिव कैलौग ने सुझाव रखा कि प्रस्तावित समझौता बहुपक्षीय होना चाहिए, जिसमें विश्व के समस्त राष्ट्र शामिल हो सकें और इसमें सभी "राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का प्रयोग त्याग देने' (to renounce war as an instrument of national policy) की प्रतिज्ञा करें। यह सुझाव फ्रांसीसी मंत्री को तुरंत स्वीकार न हुआ, पर अप्रैल में ब्रियां ने फ्रांसीसी अमरीकी पत्र व्यवहार को जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और जापान की सरकारों के समक्ष प्रस्तुत करना स्वीकार कर लिया।

पेरिस का समझौता : केलौग के प्रस्ताव के अनुसार अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान, बेल्जियम, पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधि 27 अगस्त, 1927 को पेरिस में एकत्र हुए। इन नौ राज्यों ने मिलकर एक समझौता पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार उन्होंने निश्चित किया कि वे राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का प्रयोग नहीं करेंगे और अपने झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। यह समझौता पेरिस पैक्ट अथवा कैलोग ब्रियां पैक्ट ने नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार हस्ताक्षरकर्ता केवल उसी हालत में अस्त्र-शस्त्र उठा सकते थे जब उनका अपनी सुरक्षा का सवाल हो। ब्रिटेन ने यह स्पष्ट कर दिया कि उसकी आत्मरक्षा के अधिकार में विश्व के कुछ ऐसे भागों की रक्षा करने का अधिकार भी सम्मिलित है जिनका कल्याण और अखंडता दोनों हमारी सुरक्षा के लिए विशेष तथा महत्वपूर्ण हित रखते हैं। अमेरिका के लिए आत्मरक्षा में ऐसी कोई भी कार्रवाई शामिल न थी जो 'मुनरो सिद्धांत' का उल्लंघन रोकने के लिए आवश्यक हो। दूसरे शब्दों में प्रत्येक राज्य अपने कामों का एकमात्र निर्णायक था। इसलिए बहुत लोग इस समझौते को व्यावहारिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा सैद्धांतिक घोषणा ही अधिक मानते हैं। समझौते को कार्यान्वित करने के लिए किसी प्रकार की संस्था या संगठन का निर्माण नहीं किया गया।

पेरिस-पैक्ट पर हस्ताक्षर करने के लिए अन्य राज्यों को भी निमंत्रण दिया गया। केवल अरब के हेजाज और ओमन राज्य को शामिल होने के लिए नहीं कहा गया। कुछ सप्ताहों के भीतर तीस राज्य उसे स्वीकार करने को तैयार हो गये, जिनमें सोवियत-रूस भी एक था। 17 जनवरी, 1929 को संयुक्त राज्य अमेरिका ने समझौते का अनुमोदन कर दिया और दो वर्षों के अंदर पैंसठ देशों ने इस समझौते को मान लिया। केवल अर्जेन्टाइना, ब्राजील, बोलिविया और सेलवेडोर ने इस समझौते में शामिल होने से अपनी असमर्थता प्रकट की। आरंभ में कुछ हिचकिचाहट के बाद सोवियत संघ का उत्साह इतना बढ़ गया कि उसने अपने पड़ोसियों के साथ उस तरह का समझौता करने के लिए तुरंत ही कदम उठाया। उस समय (1928 में) राष्ट्रसंघ के कुल सदस्यों की संख्या अठावन थी। पेरिस-पैक्ट पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों की संख्या राष्ट्रसंघ के सदस्यों से भी अधिक थी।

समझौते का मूल्यांकन : पेरिस समझौता इतिहास की एक अपूर्व घटना थी और नैतिक दृष्टि से इसने एक नवीन-युग की सृष्टि की। इतिहास में यह पहला राजनीतिक समझौता था, जिसमें इतनी बड़ी संख्या में संसार के विभिन्न राज्य सम्मिलित हुए थे। कुछ समय के लिए इस पैक्ट से संसार में नयी आशा का संचार हुआ। लोग समझने लगे कि अब युद्धों का अंत होकर शांति का युग आ गया है। युद्ध अंतर्राष्ट्रीय अपराध घोषित कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त पेरिस-पैक्ट केवल युद्ध को बहिष्कार करने का संकल्प मात्र ही नहीं था। अपितु वह एक ऐसा निर्णय था जिसके अनुसार राष्ट्रसंघ के बाहर के राज्य प्रत्यक्ष रूप से शांति के सामूहिक संगठन में भाग ले सकते थे। इन्हीं कारणों से प्रेरित पैक्ट का सारे संसार में उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ। इस कारण उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा कि पेरिस पैक्ट राष्ट्रसंघ के लिए चुनौती है। राष्ट्रसंघ के विधान में युद्ध का पूर्णतया बहिष्कार नहीं किया गया था। खास-खास अवस्था में युद्ध किया जा सकता था। लेकिन पेरिस-पैक्ट के अनुसार सभी प्रकार के युद्ध अवैध घोषित कर दिये गये थे। इसलिए पेरिस पैक्ट के सामने राष्ट्रसंघ का विधान महत्वहीन पड़ जाता था। पर वास्तविकता कुछ दूसरी ही थी। प्रोफेसर कार के अनुसार पेरिस समझौता एक नैतिक घोषणा थी और राष्ट्रसंघ का विधान एक राजनीतिक संधि पेरिस समझौते के द्वारा सभी प्रकार के युद्धों की निंदा की गयी थी, पर यदि कोई राज्य युद्ध शुरू करे तो उसको रोकने के लिए इसके द्वारा कोई

व्यवस्था नहीं की गयी थी। राष्ट्रसंघ में कुछ युद्ध का आश्रय लेने की अनुमति थी और कुछ युद्ध का उसमें निषेध था। इसके विधान ने युद्ध का सर्वथा बहिष्कार बेशक नहीं किया था, पर इसमें एक बात की व्यवस्था अवश्य विद्यमान थी कि युद्ध शुरू करने वाले राज्य के खिलाफ कार्रवाई की जा सके। निषिद्ध युद्धों के लिए दंड देने की व्यवस्था इसमें मौजूद थी। इस दृष्टिकोण से पेरिस-पैक्ट में बहुत बड़ी-बड़ी त्रुटियां थीं। लेकिन, इसके बावजूद यह राष्ट्रसंघ के सदस्यों को प्रेरणा देता रहा।

1929 में कुछ राज्यों ने यह प्रयत्न किया कि पेरिस-पैक्ट के निर्णयों के अनुसार राष्ट्रसंघ के विधान में संशोधन किया जाय और युद्ध का सर्वथा बहिष्कार करते हुए लड़ाई करनेवाले राज्यों को दंड देने की व्यवस्था की जाय। इस वर्ष ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल ने राष्ट्रसंघ के सम्मुख इस आशय का एक प्रस्ताव भी उपस्थित किया। फ्रांसीसी प्रतिनिधिमंडल ने इसका हार्दिक स्वागत किया क्योंकि इसमें उसको अपनी सुरक्षा का शुभ चिह्न दिखाई पड़ता था। प्रस्ताव पर उस समय मत लिया जाता तो यह संभव था कि वह बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाता। लेकिन, अनुमोदन के समय शायद उसकी यही दुर्गति होती जो जेनेवा प्रोटोकल की हुई थी। अत: दूरदर्शिता के साथ यह निश्चित किया गया कि इस प्रश्न को दूसरे अधिवेशन तक स्थगित कर दिया जाय। इसके बाद आर्थिक संकट का युग आया और ब्रिटेन में सरकार भी बदल गयी। अतएव यह प्रस्ताव ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया।

सभी युद्धों को निषिद्ध कर देने से पेरिस पैक्ट का दूसरा नतीजा यह हुआ कि जिन राष्ट्रों ने इस संधि पर हस्ताक्षर किये थे वे बिना युद्ध घोषणा किये ही युद्ध लड़ने लगे। उदाहरण के लिए 1931 में जापान ने बिना घोषणा किये ही चीन के साथ युद्ध जारी कर दिया। इस तरह 1933 के बाद 'अघोषित युद्ध' (undeclared war) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक दुर्भाग्य पूर्ण सिद्धांत बन गया। इन सब बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि पेरिस पैक्ट एक पवित्र घोषणा या संकल्प मात्र था जिसका व्यावहारिक मूल्य कुछ भी नहीं था। संकल्प से अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल नहीं किया जा सकता और इसीलिए पेरिस-पैक्ट के बावजूद दुनिया में युद्ध होते रहे। आश्चर्य का विषय तो यह है कि यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस पैक्ट का अनुमोदन किया था, फिर भी उसने एक विशेष बिल पास करके अमेरिकी नौ शक्ति को दुगुना कर दिया। जर्मनी, इटली और जापान जैसे राज्य पेरिस-पैक्ट के शुभ संकल्पों पर निर्भर रहने की अपेक्षा सैनिक संधियों और तैयारियों को अधिक महत्व देने लगे। यंही हाल फ्रांस और उसके सभी साथी राज्य की भी थी। सुरक्षा और चिरशांति केवल शुभेक्षा और कल्पना की बात रह गयी थी।

FOOT NOTES

1. In this association of mutual assistance against fire, the risks assumed by different states are not equal. We live in a fire-proof house, far removed from inflammable materials."

   ___*Gathorn Hardy, A short History of International Affairs, pp.*71-72.

2. "Locarno marks the real dividing line between the years of war and years of peace."

   ___*Chemberlane*

अध्याय 22

निरस्त्रीकरण की समस्या

(The Disarmament Problem)

राष्ट्रों के बीच जबतक हथियारबंदी की होड़ चलती रहेगी तबतक शांति और सुरक्षा की कल्पना एकदम व्यर्थ है। वस्तुतः निरस्त्रीकरण का प्रश्न विश्व-शांति की समस्या से कोई भिन्न प्रश्न नहीं है वरन् दोनों एक प्रकार से एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संवद्ध हैं।

निरस्त्रीकरण मनुष्य का प्राचीन स्वप्न है। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व "सशक्त शांति" (Armed Peace) के युग में निरस्त्रीकरण के लिए अनेक प्रयास किये गये थे, लेकिन किसी में विशेष सफलता नहीं मिली थी। प्रथम विश्वयुद्ध इस असफलता का एक परिणाम था। इसलिए हथियारबंदी की होड़ उस युद्ध का एक प्रमुख कारण माना जाता है। युद्ध के समय संसार के राजनीतिज्ञों ने इस तथ्य को महसूस किया और शांति के विविध प्रस्तावों में हथियारबंदी की होड़ रोकने की चर्चा कर दी गयी। विल्सन के 'चौदह सूत्रों के चौथे सूत्र' में यह बात कही गयी थी कि 'इस बात की पर्याप्त गारंटी होनी चाहिए कि राष्ट्रीय सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र कम-से- कम दिये जायें।' राष्ट्रसंघ के विधान की आठवीं धारा द्वारा राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने यह स्वीकार किया था कि राष्ट्रीय सुरक्षा का ध्यान रखते हुए किसी भी राष्ट्र को शस्त्रास्त्रों में निम्नतम सीमा निर्धारित करना शांति बनाये रखने के लिए आवश्यक है। वर्साय-संधि और अन्य संधियों के द्वारा भी पराजित राज्यों के शस्त्रास्त्रों पर नियंत्रण कर दिया गया। मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को यह वचन दिया था कि जर्मनी का निरस्त्रीकरण की दिशा में यह पहला कदम है। परस्त राज्यों को सेनाओं के कम करने के प्रयोजन में यह बतलाया गया कि अन्य राज्य भी अपनी सेनाएं कम कर देंगे। जब जर्मनी और उनके साथियों की तरफ से लड़ाई का खतरा कम हो जायगा तो फ्रांस, ब्रिटेन, पोलैंड आदि के लिए भी यह संभव हो जायगा कि वे अपनी सेनाओं में कमी कर सकें, पर जहां एक तरफ मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को यह वचन दिया था कि जर्मनी को निरस्त्र कर दिये जाने के बाद व्यापक निरस्त्रीकरण किया जायगा वहां साथ-ही-साथ 'राष्ट्रीय सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए' का उपबंध भी जोड़ दिया गया था। इसका अर्थ था मित्रराष्ट्र अपनी सुरक्षा का ख्याल रखते हुए अपना निरस्त्रीकरण करेंगे। ये दोनों बातें कुछ परस्पर विरोधी थीं और इन विरोधी सिद्धांतों के बीच परस्पर संघर्ष ही निरस्त्रीकरण की समस्या है।

युद्ध के बाद प्रश्न यह था कि व्यापक निरस्त्रीकरण की दशा में किस तरह कदम उठाया जाय। सब राज्य समझते थे कि उनकी सेना राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य है, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती है। सेनाएं या हथियारबंदी की होड़ शांति के लिए बेशक खतरनाक है; पर उनका अभाव या कमी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से और भी अधिक खतरनाक है। निरस्त्रीकरण के विरुद्ध इस तरह के तर्क बराबर उपस्थित किये जाते थे। उसके बावजूद करीब पंद्रह वर्षों से (1919 से 1933 तक) संसार में बड़े राजनीतिज्ञ इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रयास करते रहे। दो विश्व युद्ध के बीच का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास इन प्रयासों की असफलता की दुखद कहानी है।

प्रारंभिक प्रयास : युद्ध के समाप्त होने के तुरंत वाद निरस्त्रीकरण के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया था। संसार के लोग युद्ध की विभीषिका से तबाह हो गये थे। उनकी उत्कृष्ट इच्छा थी कि युद्ध के कारणों को दूर करके सदा के लिए युद्ध का अंत हो जाय। राष्ट्रसंघ की स्थापना से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नवयुग का सूत्रपात हुआ था। इस पृष्ठधार में शस्त्रास्त्रों में संतोषजनक पाबंदी लगाने का यह एक बहुत अच्छा अवसर था। ऐसी स्थिति में **लायड जार्ज** ने यह प्रस्ताव रखा कि "राष्ट्रसंघ-विधान पर हस्ताक्षर हो जाने के पूर्व प्रमुख शक्तियों के बीच उनके शस्त्रास्त्रों की मात्रा सीमित करने के बारे में समझौता हो जाना चाहिए। राष्ट्रसंघ की सफलता की पहली शर्त यह थी है कि बड़े राज्यों के बीच एक पक्का समझौता हो जाय कि वे सैनिक क्षेत्रों में एक दूसरे से होड़ नहीं करेंगे। यदि राष्ट्रसंघ विधान पर हरताक्षर होने के पूर्व यह समझौता न हुआ तो राष्ट्रसंघ एक विडम्बनामात्र होगा। इससे यह बात प्रमाणित हो जायगी कि राष्ट्रसंघ के प्रमुख प्रवर्तकों को उनके प्रभाव में कोई विश्वास नहीं है, पर यदि राष्ट्रसंघ के प्रमुख सदस्य अपने शस्त्रास्त्रों पर पाबंदी लगा दें तो यूरोप के सभी छोटे-छोटे राज्य भी अपनी सैनिक शक्ति को सीमित रखेंगे।"

पर इस अनुकूल अवसर से लाभ नहीं उठाया गया और बड़े राज्यों ने इस स्वर्ण अवसर को यों ही खो दिया। राष्ट्रसंघ की आठवीं धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ-कौंसिल को यह आदेश था कि 'वह विभिन्न सरकारों द्वारा विचार-विमर्श और कार्रवाई' के लिए शस्त्रास्त्रों में कमी संबंधी योजनाएं बनाएं। मई 1920 में राष्ट्रसंघ-विधान की नयी धारा के अनुसार एक स्थायी सलाहकार आयोग (Permanent Advisory Commission) को संगठित किया गया। इस आयोग में सैनिक, नौ-सैनिक और वायु-सैनिक विशेषज्ञ थे। इसके सात महीने वाद नवंबर, 1920 में कौंसिल ने एक अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) की स्थापना की, जिसमें नागरिकों और सेना दोनों ही के प्रतिनिधि थे। 1922 में अस्थायी मिश्रित आयोग ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड एशर ने एक योजना प्रस्तुत की जिसमें प्रत्येक राज्य की सेना के लिए एक निश्चित संख्या निश्चित की गयी थी।

वाशिंगटन सम्मेलन (1921-22) : निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में पहली सफलता वाशिंगटन सम्मेलन में मिली। नाविक क्षेत्र में शस्त्रों की कमी करने का यह प्रथम प्रयास था। नौ सेना को सीमित करने का प्रस्ताव राष्ट्रसंघ की ओर से नहीं वरन् संयुक्त राज्य अमेरिका से हुआ। महायुद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका सामुद्रिक जहाज बनाने की होड़ में भाग लेना चाहता था। परंतु, नाविक स्पर्द्धा काफी खर्चीली थी। अतः बुद्धिमानी इसी बात में थी कि नाविक शक्तियां आपस में समझौता करके अपनी-अपनी सौ-सेना को मर्यादित कर लें। इसके साथ ही अमरीकी सरकार यह दिखाना चाहती थी कि यद्यपि अमेरिका राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं हो सका तो भी संसार में शांति बनाये रखने के लिए वह उत्सुक है। अतः राष्ट्रपति हार्डिन्ज के आमंत्रण पर 1921-22 में वाशिंगटन में नाविक शक्तियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें भाग लेनेवाला देश—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान थे। यह सम्मेलन नाविक निरस्त्रीकरण के अतिरिक्त प्रशांत महासागर तथा पूर्वी एशिया-संबंधी अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भी विचार करने के लिए आयोजित किया गया था। अतः इसमें चीन, हालैंड, वेल्जियम तथा पुर्तगाल भी आमंत्रित किये गये थे।

वाशिंगटन सम्मेलन को जितनी सफलता मिली उतनी सफलता किसी दूसरे निरस्त्रीकरण सम्मेलन को नहीं मिली थी। इस सम्मेलन की सफलता का रहस्य यह था कि इसमें भाग लेनेवाले देशों को नाविक स्पर्द्धा को जारी रखकर किसी राजनीतिक उद्देश्य को पूरा करना नहीं था। सभी नौ-सेना के तत्कालीन स्तर को कायम रखते हुए अपनी राजनीतिक और आर्थिक संतुलन को बनाये रखना चाहते थे। अगर नौ-सेना के स्तर में यथास्थिति बनी रहे तो सबके हक में अच्छा हो सकता था। सम्मेलन का उदघाटन करते हुए अमरीकी

विदेश सचिव चार्ल्स इबनह्यूग ने प्रस्ताव रखा कि अमेरिका अपनी नौ सेना में वृद्धि को रोकने के लिए तैयार है यदि ब्रिटेन और जापान भी इस काम में उसका साथ दें। वह अमेरिका की तरफ से नाविक शक्ति में यथास्थिति (Status quo) बनाये रखने का समर्थक था।

सम्मेलन में जंगी जहाजों की संख्या को नियंत्रित करने के प्रश्न पर विचार हुआ। अंत में यह निर्णय किया गया कि अगले दस साल तक विविध राज्यों के जंगी जहाजों में यह अनुपात कायम रखा जाय—अमेरिका 5, ब्रिटेन 5, जापान 3, फ्रांस 1.67 और इटली 1.67। छोटे जहाजों के संबंध में कोई समझौता नहीं हो सका। अमेरिका चाहता था कि इस तरह का कोई फैसला छोटे जंगी जहाजों के संबंध में भी हो जाय पर ब्रिटेन ने इसका विरोध किया। उसका कहना था कि सारे संसार में फैले हुए विशाल साम्राज्य की रक्षा के लिए छोटे जंगी जहाजों के निर्माण में किसी भी प्रकार के नियंत्रण को स्वीकार करना उसके लिए संभव नहीं है। वह पनडुब्बियों को प्रयोग को बंद करना चाहता था। फ्रांस इससे सहमत नहीं था। अत: इस बात पर अधिक दबाव नहीं डाला गया था।

वाशिंगटन-सम्मेलन से यह लाभ अवश्य हुआ कि नौ-सेना में वृद्धि करने की जो होड़ चल रही थी वह कम-से-कम दस साल तक रुक गयी। बड़े जहाजों पर होनेवाले भारी खर्च को दस साल के लिए रोक दिया गया। अन्य प्रकार के जहाजों के संबंध में कोई समझौता नहीं होने का अर्थ यह था कि उनके संबंध में प्रतिस्पर्द्धा चलती रही जिससे सुरक्षा की भावना बढ़ने की अपेक्षा कम हो गयी। ब्रिटेन छोटा-छोटा जंगी जहाज बनाता रहा। अन्य राज्यों को उससे यह सख्त शिकायत थी। उधर ब्रिटेन की शिकायत थी कि फ्रांस सैनिक जहाज बनाने की ओर कदम उठा रहा है। इसके अतिरिक्त वाशिंगटन-समझौते में दो और कठिनाइयां थीं। वाशिंगटन सम्मेलन में फ्रांस और इटली की नाविक शक्ति में समानता स्वीकार कर ली गयी थी। परंतु फ्रांस को इस निर्णय से आपत्ति थी। उनका कहना था कि इटली को तो केवल भूमध्य सागर में अपनी रक्षा करनी है, परंतु स्वयं फ्रांस को भूमध्यसागर के अतिरिक्त उत्तरी सागर तथा अटलांटिक महासागर के तट की रक्षा करनी है। इस कारण फ्रांस की मांग थी कि उनकी नाविक शक्ति इटली की शक्ति से अधिक हो। इस विषय पर भी कोई समझौता नहीं हो सका।

दूसरी कठिनाई जापान के संबंध में थी। उसने अमेरिका और ब्रिटेन के दबाव के कारण अपने जहाजों में कमी स्वीकार कर ली थी। इसके अतिरिक्त उसे चीन को भी अधिक राजनीतिक सुविधाएं देनी पड़ी। उदाहरण के लिए शांतुंग प्रायद्वीप को जापान ने चीन को लौटा देने का वचन दिया। जापान को अपनी महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगाने के लिए बाध्य होना पड़ा था। प्रोफेसर कांर के अनुसार जापान इंसमें अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझता था और आगे चलकर इस समझौते को भंग करने का प्रयत्न करना उसके लिए स्वाभाविक था।

राष्ट्रसंघ के प्रयास : वाशिंगटन-सम्मेलन राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में नहीं हुआ था। अभी तक राष्ट्रसंघ विधान की आंठवीं धारा ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई थी और उसके संबंध में कुछ-न-कुछ कदम उठाना आवश्यक था। इस क्षेत्र में राष्ट्रसंघ के सामने अनेक कठिनाइयां थीं। सबसे बड़ी अड़चन फ्रांस की तरफ से थी। फ्रांस का कहना था कि जबतक राष्ट्रीय सुरक्षा की पर्याप्त गारंटी नहीं मिल जाती तबतक निरस्त्रीकरण का वार्तालाप बेकार है। 1922 में अस्थायी मिश्रित आयोग के ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड एशर ने सुझाव रखा कि विभिन्न देशों में अनुपात के अनुसार सेना होनी चाहिए। यह सुझाव कुछ प्राविधिक कारणवश बाद में रद्द कर दिया गया। इसी बीच आयोग ने विभिन्न देशों के शस्त्रीकरण संबंधी आंकड़े प्राप्त किये तथा सैनिक बजट राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी आवश्यक सूचनाएं इकट्ठी कीं। आयोग की उक्त रिपोर्ट पर राष्ट्रसंघ एसेम्बली ने शस्त्रीकरण संबंधी व्यय पर नियंत्रण लगाने की सिफारिश की। इस साल आयोग के सदस्य लार्ड राबर्ट सेसिल ने आयोग के सामने निरस्त्रीकरण के लिए चार प्रस्ताव प्रस्तुत किये जिन्हें आयोग ने निम्न रूप में स्वीकार कर लिया

: (1) शस्त्रों में कमी का प्रस्ताव तभी सफल हो सकता है जब इसको व्यापक रूप दिया जाय। (2) यह कमी सुरक्षा की संतोषजनक गारंटी पर निर्भर है। (3) वह गारंटी व्यापक होनी चाहिए अर्थात सबकी ओर से हो। (4) यह गारंटी तभी निश्चित मानी जायगी जब सभी सदस्य-राष्ट्र अपने यहां शस्त्रीकरण में कमी करने का निश्चित वचन दें। इस प्रस्ताव पर असेंबली में काफी वाद-विवाद चला। इस वाद-विवाद का परिणाम निरस्त्रीकरण नहीं हुआ; बल्कि आयोग को एक पारस्परिक सुरक्षा संधि का मसविदा तैयार करने को कहा गया जो पीछे चलकर जेनेवा-प्रोटोकल के रूप में आया। इस संपूर्ण अवधि में निरस्त्रीकरण के दशा में दो बातों को छोड़कर कोई विशेष प्रगति नहीं हुई—एक तो वाशिंगटन-समझौते के आधार पर छोटे-छोटे राष्ट्रों की नाविक शक्ति को सीमित करने का असफल प्रयास और दूसरे, शस्त्रों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर नियंत्रण करने के लिए एक समझौता, पर इस समझौते पर कभी भी अमल नहीं किया गया। युद्ध में गैसों के प्रयोग को रोकने के लिए भी एक समझौता हुआ था और इटली के लगातारं पचीस राज्य इस समझौते में सम्मिलित थे। एक शताब्दी के अंदर ही अबीसिनिया में इस समझौते का उल्लंघन भी हो गया।

लोकार्नो-संधियों पर हस्ताक्षर होने के बाद निरस्त्रीकरण की आशा पुनः बढ़ गयी। जर्मनी आक्रमण से फ्रांसीसी सुरक्षा की मांग इस समय प्रभावशाली रूप से पूरी कर दी गयी थी और लोकार्नो के हस्ताक्षरकर्ताओं ने अपने-आपको इस बात के लिए वचनबद्ध किया था कि इस समझौते के परिणामस्वरुप राष्ट्रंसंघ विधान की आठवीं धारा की दशा में वे प्रभावशाली कदम उठायेंगे। दिसम्बर, 1925 में कौंसिल ने एक निरस्त्रीकरण-सम्मेलन प्रारंभिक आयोग (Preparatory Commission for the Disarmament Conference) की नियुक्ति की। जर्मनी, अमेरिका और सोवियत-संघ सबों ने इस आयोग के सदस्य बनने का अनुरोध किया गया था। प्रथम दोनों देशों ने तुरंत ही और सोवियत-संघ ने अगले वर्ष यह आमंत्रण स्वीकार कर लिया। आयोग का काम निरस्त्रीकरण समस्या का अध्ययन और सिफारिश का मसविदा तैयार करना था, ताकि उस मसविदे पर एक अंतर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण-आयोग में विचार हो सके। आयोग को नाविक निरस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करने के लिए नहीं किया गया था; क्योंकि इस पर संसार की नाविक शक्तियों ने अपनी ओर से पहले ही विचार शुरू कर दिया था। इस आयोग की पहली बैठक मई, 1926 में हुई। इसके कार्यों पर हम आगे के पृष्ठों पर विचार करेंगे।

जेनेवा सम्मेलन (1921-22) के वाशिंगटन नौ-सेना सम्मेलन में छोटे जंगी जहाजों के संबंध में कोई फैसला नहीं हो सका था। इन जहाजों के उत्पादन को मर्यादित करने के लिए ब्रिटेन तैयार नहीं था। 10 फरवरी, 1927 को अमरीकी राष्ट्रपति काल्विन कूलिज के लड़ाकू विध्वंसक जहाज तथा पनडुब्बियों का निर्माण सीमित करने के लिए 'वाशिंगटन शक्तियों,' (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली तथा जापान) को एक सम्मेलन के लिए आमंत्रित किया। ब्रिटेन और जापान ने अमरीकी प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया; किंतु फ्रांस और इटली ने अस्वीकार कर दिया। अतः उनकी अनुपस्थिति में अमेरिका, ब्रिटेन तथा जापान को मिलाकर 20 जून, 1927 को जेनेवा में दूसरी नौ-सेना सम्मेलन आरंभ हुआ। इस सम्मेलन में तीनों देशों के वही प्रतिनिधि भाग ले रहे थे जो निरस्त्रीकरण-सम्मेलन प्रारंभिक आयोग में अपने-अपने देश का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। लेकिन, जेनेवा-सम्मेलन में प्रतिनिधिमंडलों में उन्हीं प्रतिनिधियों की प्रमुखता थी, जो नौ-सेना के अफसर थे। स्वभावतः ये अफसर वैसा कोई काम नहीं करना चाहते थे जिसके परिणामस्वरुप उनके पेशे का अंत हो जाय।

सम्मेलन की कार्यवाही को देखने से ऐसा प्रतीत होता था कि इसमें भाग लेनेवाले देश पहले से ही इसको असफल बनाने के लिए तैयार बैठे थे। एक तो सम्मेलन बुलाने के पहले कोई कूटनीतिक तैयारी नहीं की गई थी। अमरीकी प्रतिनिधिमंडल ने यह प्रस्ताव रखा कि वाशिंगटन अनुप्रात को छोटे-छोटे जंगी जहाजों पर भी लागू किया जाय। अमेरिका ने सुझाव रखा कि ब्रिटेन और अमेरिका चार-चार लाख टन के युद्धपोत रखें, जिसमें पचीस बड़े जहाज और बीस छोटे जहाज हों। पर ब्रिटेन का विचार था कि उसके सुविशाल

साम्राज्य की विशेष परिस्थिति के कारण उसके लिए ऐसा करना संभव नहीं होगा। उसका कहना था कि सत्तर युद्धपोत से कम में उसका काम नहीं चल सकता; क्योंकि उसको समस्त विश्व से रसद मंगानी पड़ती है। ब्रिटेन और अमेरिका में परस्पर इतना मतभेद पैदा हुआ कि सम्मेलन बिल्कुल भंग हो गया। सम्मेलन की समाप्ति पर यह स्वीकार कर लिया गया कि सम्मेलन असफल रहा है। निरस्त्रीकरण की दिशा में यह प्रथम पराजय थी।

जेनेवा सम्मेलन की असफलता के कई कारण थे। ब्रिटेन छोटे जहाजों को अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक समझता था। सम्मेलन अधिवेशन के दिनों में ब्रिटिश-मंत्रिमंडल से एक ऐसी विचारधारा प्रबल हो रही थी जो गणितीय समता के सिद्धांत को किसी भी अंश में मानने की मूलत: विरोधी थी। इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने का अर्थ व्यावहारिक रूप से अमेरिका की प्रधानता स्वीकार कर लेना समझा जाता था। समाचार-पत्रों द्वारा फैलाई गयी कुछ गलतफहमियों के कारण भी सम्मेलन असफल रहा। ब्रिटेन के लोगों की यह धारणा हो गयी थी कि अमेरिका के अस्त्र-शस्त्र से संबंधित पूंजीपति-वर्ग और निहित स्वार्थ (vested interest) जेनेवा सम्मेलन को असफल बनाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं। वास्तव में दो साल बाद यह भेद खुला कि विलियम सियरर नामक व्यक्ति को इन पूंजीपतियों ने जेनेवा में रख छोड़ा था जिसका मुख्य काम इस सम्मेलन को किसी तरह असफल बनाना था। 4 अगस्त, 1927 को यह सम्मेलन भंग हो गया।

जेनेवा-सम्मेलन की असफलता की काली छाया तो राष्ट्रसंघ पर पड़ी ही, किंतु इससे आंग्ल-अमरीकी संबंध भी खराब हो गया। ब्रिटेन में आंग्ल-जापानी संधि को पुन: दुहराने की बात चलने लगी। अमेरिका वाले इस निष्कर्ष पर पहुंचने लगे कि अमेरिका को अपनी नौ-सेना में इतनी वृद्धि करनी चाहिए जिससे अन्य राष्ट्र डरकर अपनी नाविक शक्ति सीमित करने के लिए बाध्य हो। अत: फरवरी, 1929 में अमेरिकी कांग्रेस ने नौ-सैनिक निर्माण-विधेयक को स्वीकृत कर जहाजों के निर्माण में वृद्धि का आदेश दे दिया।

लंदन सम्मेलन : जेनेवा सम्मेलन की असफलता से ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका का संबंध काफी खराब हो चुका था। पर 1929 में राजनीतिक वातावरण कुछ सुधरने लगा। उस वर्ष हर्वर्ट हुवर अमेरिका का राष्ट्रपति चुना गया। इसके तीन महीने बाद मैकडोनल्ड के नेतृत्व में ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार बनी। उधर पेरिस-पैक्ट हो चुका था। इससे दुनिया के लोगों में कुछ आशा बंधी। इसी समय सारा संसार आर्थिक संकट से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में हथियारबंदी की होड़ एक भारी बोझ प्रतीत होती थी। आंग्ल-अमेरिकी संबंध बिगड़ जाने से कनाडा में काफी बेचैनी थी। कनाडा की डोमीनियन-सरकार इस बात पर दबाव डालती रही कि ब्रिटेन और अमेरिका नौ-सेना के प्रश्न पर मेलमिलाप कर लें। 1929 के शरद् में मैकडोनल्ड ने अमेरिका की यात्रा की। इस यात्रा के परिणामस्वरुप अमेरिका और ब्रिटेन में समझौता होने की आशा बढ़ी। यह निश्चय किया गया कि जनवरी 1930 में लंदन में एक नौ-सैनिक सम्मेलन का आयोजन किया जाय जिसमें वाशिंगटन शक्तियां शामिल हों। इस बार फ्रांस और इटली ने भी आमंत्रण को स्वीकार कर लिया, यद्यपि इससे समस्या का समाधान और भी जटिल हो गया।

जनवरी, 1930 में लंदन-सम्मेलन शुरू हुआ। इस समय निरस्त्रीकरण के लिए वातावरण काफी अनुकूल था। केलौग पैक्ट स्वीकार होने के बाद संसार के राजनीतिक संबंधों में सुधार हो गया था। ब्रिटेन ने क्रूजरों को अपनी आवश्यकता सत्तर से घटाकर पचास कर दी थी। पर जो काम पहले ब्रिटेन ने किया था वह काम अब फ्रांस ने करना शुरू कर किया। वह प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन से लाभ उठाना चाहता था। यहां भी उसने अपनी सुरक्षा की समस्या सामने रखी। जबतक उसकी सुरक्षा की पर्याप्त गारंटी नहीं मिल जाती तबतक यह निरस्त्रीकरण की दिशा में कोई कदम उठाने को तैयार नहीं था। उसके प्रतिनिधियों ने इस बात पर जोर दिया कि औपनिवेशिक प्रदेश के कारण यह आवश्यक है कि फ्रांस क्रूजरों का एक बड़ा बेड़ा रखे। इन्होंने वाशिंगटन-अनुपात को अन्य जहाजों पर लागू करने तथा इटली का यह दावा कि इस मामले में

उसे फ्रांस के बराबर माना जाय, दोनों बात को अस्वीकार कर दिया। सम्मेलन में जापान ने पहली बार वाशिंगटन संधियों द्वारा उस पर लादी गयी असमानताओं के प्रति विरोध किया और सभी प्रकार के जहाजों के मामले में ब्रिटेन तथा अमेरिका के साथ समानता का दावा किया। इटली ने फ्रांस के साथ समानता की मांग की। ऐसी स्थिति में किसी निर्णय पर पहुंचना काफी कठिन था। फिर भी तीन मास की लगातार बहस के बाद 22 अप्रैल, 1930 को पांचों राष्ट्रों के बीच एक संधि हुई। पीछे चलकर फ्रांस इस संधि से अलग हो गया। इस कारण यह समझौता ब्रिटेन, अमेरिका और जापान तक ही सीमित रहा।

लंदन-संधि के दो भाग थे। प्रथम भाग में 1922 की वाशिंगटन-संधि द्वारा निर्धारित जहाजों के अनुपात संबंधी समझौते का उल्लेख किया गया था। पांच राष्ट्र इस बात पर सहमत हो गये कि वाशिंगटन संधि की अवधि में पांच साल की और वृद्धि कर दी जाय। इस तरह 1922 का समझौता, जो दस साल के लिए किया गया था, उसकी मियाद 1937 तक बढ़ा दी गयी। दूसरा भाग जिस पर केवल ब्रिटेन, अमेरिका और जापान ने हस्ताक्षर किये थे उसनें उक्त देशों के युद्धपोतों की संख्या में क्रमशः 5, 5, 3 का अनुपात निश्चित किया गया। ब्रिटेन के छोटे जंगी जहाज ब्रिटेन अमेरिका के मुकाबले में जिस हद तक अधिक हों उसी हद तक अमेरिका अपने बड़े जंगी जहाज के मुकावले में अधिक रख सके। संधि की एक धारा में कहा गया था कि राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे में पड़ने की स्थिति में उक्त राष्ट्र आवश्यक सूचना देकर अपने युद्धपोतों की संख्या में वृद्धि कर सकेंगे। 1 जनवरी, 1931 को संधि लागू कर दी गयी।

लंदन-सम्मेलन के निर्णयों से जापान काफी असंतुष्ट था। यों तो तीनों देशों में संधि की काफी आलोचना हुई, लेकिन इसकी जितनी आलोचना जापान में हुई उतनी किसी अन्य देश में नहीं। जापानी प्रधान नौ-सैनिक कार्यालय के एक अफसर ने लंदन-संधि के विरोध में आत्महत्या कर ली और नौ-सेना मंत्री के, जिसने संधि पर हस्ताक्षर किये थे, लौटने पर एक कटार भेंट की गयी, जो इस बात का संकेत था कि वह भी यही मार्ग अपनाये। लंदन-सम्मेलन में जापान ने यह मांग की थी कि उसे अपनी नौ-सेना को ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर करने का अधिकार दिया जाय, पर अन्य राज्य इसके लिए तैयार नहीं थे। अंत में जापान की मांग को आंशिक रूप में पूरा करने के लिए यह तय किया गया कि यदि कोई राज्य अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए नौ-सेना में वृद्धि करना चाहे तो उसको यह करने का अधिकार है। मतलब यह था कि राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर प्रत्येक राज्य अपनी नौ-सेना को मनमाने तरीके से बढ़ा सकता था। जापान इस उपबंध को पाकर भी खुश नहीं हुआ। 1934 में उसने अमेरिका को सूचित कर दिया कि या तो उसे अमेरिका और ब्रिटेन की तुलना में समान नौ-सैनिक सुविधा दी जाय, अन्यथा वह अपने को इस संबंध में किसी भी अंतर्राष्ट्रीय समझौते के अधीन नहीं समझेगा। अमेरिका और ब्रिटेन इस बात को मानने के लिए राजी नहीं हुए और 1937 में जापान ने इस मामले में पूर्ण स्वतंत्रता ग्रहण कर ली। इसके बाद भी विभिन्न राज्यों में कुछ वातचीत चलती रही; परंतु अब उसका कोई महत्व नहीं रहा।

18 जून, 1935 को ब्रिटेन और जर्मनी ने एक नौ-सैनिक संधि पर हस्ताक्षर किये। संधि के अनुसार जर्मनी को ब्रिटिश नौ-सैनिक शक्ति के पैंतीस प्रतिशत के बराबर नौ-सेना रखने का अधिकार दिया गया। इस वर्साय-सन्धि द्वारा जर्मनी पर लादा गया नौ-सेना संबंधी प्रतिबंध उठा दिया गया। 25 मार्च, 1936 को फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन के बीच एक नयी नौ-सैनिक संधि हुई। इसका कोई विशेष महत्व नहीं था। सब यथेष्ट रूप से अपने जंगी जहाजों को बढ़ाने में लग गये। इस संबंध में उनमें एक प्रतिस्पर्द्धा सी उत्पन्न हो गयी। 1939 के बाद सभी नाविक शक्तियां अपनी राष्ट्रीय आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा जंगी जहाजों के निर्माण में खर्च करने लगीं। इस समय तक प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा को इतना महत्त्व देने लग गया था कि सामान्य कल्याण के विचार से किसी प्रकार की मर्यादाएं स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। यह स्थिति एक कारण से और भी अधिक खराब हो गयी। अभी तक जर्मनी और सोवियत संघ की नाविक सेना

नगण्य थी। 1935 से वे नाविक प्रतियोगिता में कूद पड़े। अब सामुद्रिक तैयारी पर इतना अधिक खर्च होने लगा जितना पहले कभी नहीं हुआ। नगण्य समझौता कें सभी प्रयत्न व्यर्थ साबित हुए। सबों ने अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू कर दी। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए भयंकर दौरा आरंभ हो गया।

राष्ट्रसंघ के अंतर्गत निरस्त्रीकरण के प्रयास

नौ-सेना के क्षेत्र में निरस्त्रीकरण का काम संसार की प्रमुख नाविक शक्तियां कर रही थीं। उसकी सफलता और असफलता पर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है, पर इससे भी बढ़कर स्थल सेनाओं में कमी करने का प्रश्न था। यह प्रश्न बड़ा ही जटिल था। इस समस्या का अध्ययन करने के लिए 1925 में राष्ट्रसंघ ने एक आयोग की नियुक्ति की थी। इस आयोग को शीघ्र ही मालूम हो गया कि निरस्त्रीकरण की समस्या इतनी पेचीदी और उलझी हुई है कि उसके विषय में कुछ भी निश्चित सिफारिशें करना संभव नहीं है। यह मालूम कर लेना आसान था कि किस राज्य के पास कितनी सेना और कितने शस्त्रास्त्र हैं, पर स्थायी सेना के अतिरिक्त राज्यों के पास संभावित सेनाएं भी होती हैं और इसका पता लगाना काफी कठिन था। अनेक देशों में सैनिक शिक्षा और सैनिक सेवा अनिवार्य थीं : वे बात-ही-बात में लाखों सैनिकों को युद्ध के मैदान में उतार सकते थे। इसके अतिरिक्त साधारण चीजों को युद्धोपयोगी सामग्रियों में परिवर्तित किया जा सकता था। सवारी ले जानेवाले और माल ढोनेवाले हवाई जहाज सरलता से जंगी हवाई जहाजों के रूप में परिवर्तित किये जा सकते थे। कितने ही प्रकार के कारखानों को बड़ी सुगमता के साथ अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए प्रयोग किया जा सकता था। यह कहना भी काफी कठिन था कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से किस राज्य के पास कितनी सेना होनी चाहिए। स्थल सेना में कमी करने के प्रश्न पर इस तरह की अनेक कठिनाइयां थीं और राष्ट्रसंघ के आयोग को इन सबों का सामना करना था।

इन कठिनाइयों के बावजूद निरस्त्रीकरण-सम्मेलन के प्रारंभिक आयोग ने अपना काम शुरू कर दिया। इसकी पहली बैठक मई, 1926 में हुई। इस बैठक का अधिकांश समय केवल इसी बात को तय करने में लग गया कि आयोग को अपना काम कैसे शुरू करना चाहिए। आयोग ने एक प्राविधिक उप-आयोग की स्थापना की। उप-आयोग का अधिकांश समय इसी बात को परिभाषित करने में लग गया कि किस प्रकार के शस्त्रास्त्र सीमित और कम किये जायं। इस वर्ष जर्मनी का एक प्रतिनिधि मंडल आयोग के काम में हिस्सा लेने आ गया। जर्मनी-प्रतिनिधि मंडल ने वर्साय-संधि की उस धारा की याद दिलायी, जिसमें कहा गया था कि जर्मनी के अनिवार्य निरस्त्रीकरण के बाद व्यापक निरस्त्रीकरण किया जायगा। जर्मनी के विचार से किसी को विरोध नहीं था; लेकिन इस दिशा में किस प्रकार का काम किया जाय, इसी प्रश्न पर मतैक्य नहीं था। 1927 में आयोग का तृतीय और चतुर्थ दोनों अधिवेशन हुए। चौथे अधिवेशन में सोवियत संघ ने भी विदेशमंत्री लिटविनोफ के नेतृत्व में पहले पहल अपना प्रतिनिधिमंडल भेजा। लिडविनोफ ने हर प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, सेना, युद्धोपयोगी सामग्री, युद्ध-यंत्राणालय, जनरल स्टाफ, सैनिक कालेज पर प्रतिबंध लगाने की मांग की। आयोग के अन्य सदस्यों ने लिटविलोफ के प्रस्ताव को 'अव्यावहारिक' कहते हुए मजाक में उड़ा दिया।

इसी बीच अमरीकी सरकार ने वाशिंगटन नौ-सेना संधि के अन्य हस्ताक्षरकर्ताओं को एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया। जेनेवा में तीन राष्ट्रों का एक सम्मेलन जून, 1927 में प्रारंभ हुआ। यहां पर केवल इतना कह देना असंगत नहीं होगा कि जेनेवा सम्मेलन पूर्णतया असफल रहा और इस असफलता की काली छाया राष्ट्रसंघ निरस्त्रीकरण आयोग पर भी पड़ी। सोवियत प्रतिनिधि मंडल के आने और क्रांतिकारी प्रस्ताव रखने पर भी आयोग के कामों में जान नहीं डाली जा सकी। ऐसी परिस्थिति में आयोग एक पंचनिर्णय-सुरक्षा-समिति की स्थापना की जिसका कार्य इस बात पर विचार करना था कि वे कौन से उपाय हो सकते हैं, जिनका आश्रय लेकर सभी राज्यों की सुरक्षा की ऐसी गारंटी मिल जाय कि वे अंतर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण

संधि में अपने शस्त्रों की यथासंभव न्यूनतम संख्या निर्धारित कर सकने में समर्थ हो सकें। 1927-28 में राष्ट्रसंघ इसी काम में व्यस्त रहा और इस प्रकार निरस्त्रीकरण समस्या एक वार फिर दो वर्षों की पृष्ठभूमि में चली गयी।

इसी बीच लंदन नौ-सेना सम्मेलन का आयोजन हुआ और इस सम्मेलन को कुछ आंशिक सफलता प्राप्त हो गयी। इस सफ्लता से राष्ट्रसंघ आयोग को निरस्त्रीकरण की दिशा में पुनः प्रयत्न करने की प्रेरणा मिली। इस समय तक संसार खतरों से घिरा जा रहा था। सभी देशों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ रहा था। ऐसी स्थिति में सेना और हथियारबंदी पर खर्च करना एकदम कठिन प्रतीत हो रहा था। इसलिए यह निश्चय किया गया कि प्रस्तुतकारी आयोग का अंतिम अधिवेशन 1930 की शरद में हो और उसके चाहे सर्वमान्य निर्णय हो या नहीं, निरस्त्रीकरण-सम्मेलन, जो बहुत दिनों से स्थगित होता चला जा रहा है, आयोजित किया जाय। अंतिम अधिवेशन में अनेक निर्णय लिये गये। पांच साल की निरंतर मेहनत के बाद आयोग ने एक रिपोर्ट तैयार की। रिपोर्ट में यह सिफारिश की गयी थी कि प्रत्येक राज्य के लिए यह निर्णय कर दिया जांय कि उसकी थल, जल और नभ सेनाओं में अधिक-से-अधिक कितने आदमी हों। कौन राज्य अधिक- से-अधिक कितना खर्च अस्त्र-शस्त्रों पर कर सके, यह भी निश्चित हो जाय। युद्ध में जहरीली गैसों तथा रोग के कीटाणुओं का प्रयोग न किया जाय और एक स्थायी आयोग-नियुक्ति किया जाय जो निरस्त्रीकरण की प्रगति के विषय में जानकारी प्राप्त करता रहे और समय-समय पर अपनी रिपोर्ट देता रहे। अनेक बातों पर आयोग किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सका। इसलिए रिपोर्ट में बहुत-से रिक्त स्थान छोड़ दिये गये। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में एक और बात की चर्चा करके उसके महत्व को कम कर दिया। रिपोर्ट में यह कहा गया था कि समझौते पर हस्ताक्षर करनेवाले राज्यों को अधिकार होगा कि यदि परिस्थिति में परिवर्तन हो जाने से उसकी अपनी सुरक्षा में खतरा दिखाई पड़े तो वे युद्धकालीन शर्तों को छोड़कर अन्य शर्तों को स्थायी रूप से स्थागित कर सकते हैं। वास्तव में आयोग ने केवल उन सिद्धांतों का ही प्रतिपादन किया, जिसका अनुसरण कर भिन्न-भिन्न राज्य निरस्त्रीकरण के मार्ग पर अग्रसर हो सकते थे। इस प्रकार मसविदे का व्यावहारिक मूल्य बहुत कम था। शायद इसीलिए निरस्त्रीकरण सम्मेलन ने रिपोर्ट का उपयोग भी नहीं किया। परंतु निरस्त्रीकरण सम्मेलन का मार्ग अब प्रशस्त हो चुका था। सम्मेलन होने में काफी विलंब हो चुका था और इसलिए 2 फरवरी, 1932 को सम्मेलन जेनेवा में आयोजित किया गया।

जेनेवा का निरस्त्रीकरण-सम्मेलन

जेनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन में एकसठ राज्य सम्मिलित हुए। इसमें पांच राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य भी नहीं थे जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ब्रिटेन के प्रतिनिधि आर्थर हण्डरसेन ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। सम्मेलन के प्रारंभ से ही अपशकुन होना शुरू हुआ। अपनी नियुक्ति के समय हण्डरसन ब्रिटिश मजदूर दलीय सरकार में विदेशमंत्री थे। किंतु अगस्त में इस सरकार का पतन हो गया और ब्रिटिश आम चुनावों में हण्डरसन संसद का सदस्य नहीं चुना जा सका। इसलिए एक गैर सरकारी व्यक्ति की हैसियत से ही उसको सम्मेलन की अध्यक्षता करनी पड़ी। यह पहला अपशकुन था। यदि इस समय वह ब्रिटिश सरकार का उच्च पदाधिकारी रहा होता तो संभव था कि उसके विचारों का और अधिक वजन होता। फ्रांस से भी मंत्रिमंडलीय प्रतिनिधि न भेजकर स्थिति को और भी खराब कर दिया। इसी समय आर्थिक संकट से सारा संसार परेशान हो रहा था। दुर्भाग्यवश जिस समय सम्मेलन का काम शुरू हुआ उस समय शंघाई में जोरों से युद्ध चल रहा था। मई, 1932 में जर्मनी में ब्रुनिग की सरकार का, जो समझौते के मांग पर अधिक जोर देती थी, पतन हो गया। उसकी जगह पर पोपन की उग्र सरकार बनी। इन सब बातों ने सम्मेलन में भाग्य का फैसला कर डाला।

सम्मेलन ने पांच मुख्य समितियों की स्थापना की—बजट, राजनीतिक, जल, थल और नभ समिति। इन मृत प्रस्तावों को विस्तार में देने की कोई उपयोगिता नहीं थी जो इस सम्मेलन में भाग लेनेवाले राष्ट्रों ने प्रस्तुत किये थे। सम्मेलन में कम से कम छः सौ भिन्न-भिन्न प्रस्ताव पेश किये गये थे और वे एक दूसरे से इतने विरोधी थे कि उनमें समन्वय स्थापित करना असंभव था। **सर एल्फ्रेड जिमर्म** ने ठीक ही कहा था कि "यह आशा करना कि विविध राज्यों में निरस्त्रीकरण समस्या पर सहमति हो जायगी, वृत्त को वर्ग बनाने में सफल होने की आशा करना था।" जब इस जटिल समस्या का कुछ चुने हुए विशेषज्ञ ही समाधान नहीं ढूंढ सके तो इतने बड़ा सम्मेलन के लिए अनेक विवादग्रस्त मामलों का संतोषप्रद हल ढूंढ निकालना असंभव था। शीघ्र ही विभिन्न राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण सामने आये और सम्मेलन में निरर्थक वाद-विवाद होने लगा।

फ्रांसीसी प्रस्ताव : सबसे पहले फ्रांस की तरफ से एक प्रस्ताव आया। प्रमुख फ्रांसीसी प्रतिनिधि पाल बानकूर ने यह प्रस्ताव रखा कि सेना और हथियार में कमी तभी की जा सकती है जब राष्ट्रसंघ एक अंतर्राष्ट्रीय सेना और पुलिस का संगठन करे, जिसके हाथ में विभिन्न राज्यों की सुरक्षा की जिम्मेवारी हो। फ्रांस का सर्वोपरि लक्ष्य सुरक्षा था, जिसका अर्थ था हथियारबंदी में उसकी श्रेष्ठता। उसका कहना था कि अंतर्राष्ट्रीय सेना के अभाव में यदि उसकी सेना कम करके जर्मनी की सेना के बराबर कर दी जाती है तो फ्रांस की सुरक्षा खतरे में पड़ जायगी। अनेक छोटे- छोटे यूरोपीय राज्यों ने फ्रांसीसी प्रस्ताव का समर्थन किया, पर ब्रिटेन, अमेरिका और जर्मनी ने इसका विरोध किया। ब्रिटेन और अमेरिका अंतर्राष्ट्रीय सेना के सुझाव का बराबर से विरोध करते आ रहे थे। जर्मनी को फ्रांस के इस प्रस्ताव में 'वास्तविक प्रश्न को टालने की एक और कुचेष्टा' दिखलाई पड़ी। जर्मनी फ्रांस के साथ बराबरी चाहता था और कहता था कि यदि फ्रांस की सैन्य शक्ति कम नहीं की गयी तो वह अरक्षित रह जागया। उसने इस बात पर जोर दिया तो मित्रराष्ट्र अपनी सेना कम करके जर्मनी के स्तर पर आ जाय या जर्मनी को उनके स्तर तक पहुंचने की अनुमति दी जाय।

ब्रिटिश प्रस्ताव : फ्रांसीसी प्रस्ताव के बाद ब्रिटिश प्रस्ताव आया। ब्रिटिश प्रतिनिधि सर साइमन ने अपना 'गुणात्मक निरस्त्रीकरण' (quallitative disarmament) का प्रस्ताव रखा। इसका अर्थ यह था कि जिन अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग केवल आत्मरक्षा के लिए किया जाता है उनके संबंध में कोई मात्रा निश्चित कर दी जाय। इस प्रस्ताव को भी बहुत अधिक समर्थन मिला। परंतु अब प्रश्न यह था कि कौन से हथियार आत्मरक्षा के लिए और कौन से आक्रमण के लिए हैं। अंत में शस्त्रास्त्रों की कोटि निर्णय करने के लिए भू-सैनिक, नौ-सैनिक तथा वैमानिक विशेषज्ञों की उपसमितियां नियुक्त की गयीं। यहां भी यह स्पष्ट हो गया कि आक्रमणात्मक तथा रक्षात्मक शस्त्रों में उसकी एक राय हो सकनां कठिन है। ब्रिटेन और अमेरिका कहते थे कि पनडुब्बियां आक्रमणकारी हैं और जंगी जहाज रक्षा करनेवाले। दूसरे देश इस परिभाषा को बिल्कुल गलत मानते थे। केवल जर्मनी के पास ही एक सुसंगत कसौटी था। उसके अनुसार वर्साय संधि द्वारा निषिद्ध सभी अस्त्र-शस्त्र आक्रमणात्मक कोटि में आते थे और बाकी रक्षात्मक कोटि में। इस प्रकार इस विषय पर मतैक्य होना भी असंभव था।

रूसी प्रस्ताव : सोवियत-संघ ने एक तीसरा प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का आशय यह था कि अस्त्र-शस्त्र में जल्द-से-जल्द काफी मात्रा में कटौती की जाय और अंततोगत्वा सभी प्रकार के हथियारों पर सदा के लिए नियंत्रण लगा दिया जाय। किसी प्रतिनिधिमंडल ने इस प्रस्ताव पर गौर से विचार नहीं किया। तीनों प्रस्ताव में कोई भी प्रस्ताव सर्वमान्य नहीं था। नतीजा यह हुआ कि सम्मेलन का काम ठप्प पड़ गया।

अमरीकी प्रस्ताव : इसी बीच क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर विचार करने के लिए लुसान-सम्मेलन प्रारंभ हो गया और सम्मेलन का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो जाने से उसके काम में कुछ विलंब हो गया। इसके बाद निरस्त्रीकरण सम्मेलन का अधिवेशन प्रारंभ हुआ तो अमरीकी राष्ट्रपति हूवर की तरफ से एक चौथा प्रस्ताव आया जिसका आधारभूत सिद्धांत यह था कि वर्तमान शस्त्र सेना और अशस्त्र-शस्त्रों में एक तिहाई कमी की जाय। अमरीकी राष्ट्रपति के प्रस्ताव का जर्मनी, इटली और रूस ने स्वागत किया। किंतु ब्रिटेन, फ्रांस और

जापान इसका इतना जबर्दस्त विरोध किया कि प्रस्ताव पास नहीं हो सका। ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव को एक 'कपटपूर्ण योजना' बतलाया। बहुत वाद-विवाद के बाद 20 जुलाई, 1932 को जेनेवा-सम्मेलन में एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया जिसमें कहा गया कि (1) बम-वर्षा को रोका जाय। सैनिक और असैनिक वायुयानों की संख्या परस्पर समझौते से सीमित किये जायें। (2) भारी तोपों और टैंकों के संबंध में यह व्यवस्था की जाय कि एक लाख वजन से ज्यादा की तोपें या टैंक न बनाए जा सकें। (3) रासायनिक युद्ध को निषिद्ध किया जाय। एकतालीस राज्यों के प्रतिनिधियों ने इस प्रस्ताव के पक्ष में मत दिये। इटली सहित आठ राज्य तटस्थ रहे और जर्मनी तथा सोवियत संघ के प्रस्ताव के विपक्ष में वोट दिये। इस समय जर्मन-प्रतिनिधि जोरशोर से समानता के सिद्धांत की मांग कर रहा था। जुलाई, 1932 में जर्मनी ने स्पष्ट कर दिया कि वह आगे के सम्मेलन में तभी भाग लेगा जब कि सभी राष्ट्रों के अधिकारों की समानता को सिद्धांततः स्वीकार कर लिया जाय। जब उस वर्ष अक्टूबर में सम्मेलन की बैठक हुई तो जर्मनी उसमें शामिल नहीं हुआ। दो महीनों तक सम्मेलन का नाम बिल्कुल बंद पड़ा रहा। इस समय की महत्वपूर्ण घटना केवल यही थी कि फ्रांस ने एक नयी सुरक्षा-योजना प्रस्तुत की और यह प्रस्ताव रखा कि शास्त्रास्त्रों के निर्माण पर सभी देशों में राज्य का एकाधिकार रहे, किंतु इस समय जर्मनी का कार्य सबसे महत्वपूर्ण था।

जर्मनी का मार्ग : 16 सितंबर को जर्मनी सरकार ने वर्तमान हालत में सम्मेलन में भाग नहीं लेने के अपने निर्णय की सूचना दी थी। दो दिन बाद ब्रिटिश-सरकार ने अपने विचारों का एक विवरण प्रकाशित किया, जिससे जर्मन-समानता के प्रश्न उठाने की बात को अनुचित बताया गया था, फिर शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि यह वात दूर किये बिना प्रगति की कोई आशा नहीं है। जून, 1932 में ब्रूनिग-मंत्रिमंडल के हट जाने पर पेपन का मंत्रिमंडल जर्मनी में कायम हो चुका था और नयी सरकार जर्मन-समानता के दावे पर काफी जोर दे रही थी। आखिर 11 दिसंबर को एक रास्ता निकाला गया। जेनेवा में फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और अमेरिका का एक सम्मेलन बुलाया गया। पांच दिनों के घोर परिश्रम के बाद एक प्रस्ताव के आधार पर सम्मेलन ने सुरक्षा व्यवस्था के अधिकारों की समानता का जर्मनी दावा स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जर्मन को अन्य राष्ट्रों के साथ समानता का पद प्राप्त हो गया।

2 फरवरी, 1933 को सम्मेलन का काम पुनः प्रारंभ हुआ। इस समय तक यूरोप के इतिहास में एक नया युग शुरू हो चुका था। जर्मनी के प्रति फ्रांस के कड़े रुख के कारण जर्मनी में नात्सी पार्टी का उत्थान हो रहा था। 30 जनवरी को हिटलर जर्मनी का प्रधानमंत्री बन चुका था। वर्साय-सन्धि का अन्त करना उसका प्रमुख उद्देश्य था। 24 फरवरी को जापान ने यह सूचना दे दी कि वह राष्ट्रसंघ से अलग हो रहा है। यद्यपि उसके प्रतिनिधि सम्मेलन के कार्यों में अभी भी भाग ले रहे थे, फिर भी सम्मेलन की सफलता की आशा और अधिक धूमिल हो गयी। हिटलर के शासनारूढ़ होने पर भी जर्मनी ने निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में अपना प्रतिनिधि भेजा परंतु इस बार सम्मेलन में फ्रांस की सुरक्षा-मांग और जर्मनी की निरस्त्रीकरण मांग दोनों खुलेआम टकरा गयीं। जर्मनी में नात्सी पार्टी का पैर दृढ़तापूर्वक जम रहा था। इस कारण यह स्वाभाविक था कि फ्रांसीसी सरकार जर्मनी दावों को स्वीकार करने में अधिक अनिच्छा प्रदर्शित करे। सम्मेलन के ठप पड़ जाने की पूरी आशंका दीखने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि निरस्त्रीकरण सम्मेलन का सदा के लिए अंत हो जायगा, लेकिन ऐसा होने से बच गया। मार्च के अंत में जब कि गतिरोध पूर्ण हो चुका था, ब्रिटिश प्रधानमंत्री राम्जे मैकडोनाल्ड ने जेनेवा आकर सम्मेलन की कार्यवाही में कुछ दिनों के लिए नयी जान डाल दी। उन्होंने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसको 'मैकडोनाल्ड योजना' कहते हैं।

मैकडोनल्ड योजना : मैकडोनाल्ड योजना पांच भागों में बंटी हुई थी और इसमें मुख्यतः उन सब प्रस्तावों का संग्रह था जिनके स्वीकार किये जाने की अब तक अधिक-से-अधिक आशा थी। पहला भाग सुरक्षा के बारे में था और कैलोग पैक्ट में भंग होने की आशंका में कार्रवाई करने के विषय में विचार किया था। दूसरे भाग

में प्रत्येक देश के लिए कम-से-कम पांच साल के लिए सैनिक की संख्या एक तालिका के अनुसार रखने का प्रस्ताव किया गया था। इस तालिका में प्रत्येक राज्य के लिए सैनिकों की संख्या निश्चित की गयी थी। तीसरे भाग में युद्ध सामग्री पर गुणात्मक आधार पर विचार किया गया था। चौथा भाग रांसायनिक और कीटाणु-युद्ध पर पाबंदी लगाना था और अंतिम भाग में एक ऐसे निरस्त्रीकरण आयोग का प्रस्ताव था जिसको निरीक्षण और नियंत्रण का विस्तृत अधिकार प्राप्त हो।

चार सप्ताहों तक इस योजना पर वाद-विवाद होता रहा। विवाद में यह स्पष्ट हो गया कि मूलभूत सिद्धांतों पर काफी मतभेद है। जर्मनी इस समय तक अपना रवैया काफी बदल चुका था। 11 मई, 1933 को जर्मन अखबारों में फ्रांस न्यूरथ का एक लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में यह प्रतीत होता था कि जर्मनी पुनः हथियारबंदी की दिशा में कोई महत्वपूर्ण कदम उठानेवाला है। 13 मई को फॉन पेपन ने भाषण दिया जिसमें युद्ध की प्रशंसा करते हुए जर्मन माताओं को अधिक बच्चा पैदा करने की अपील की ताकि अधिक संख्या में उनके बच्चे मातृभूमि की रक्षा के लिए मर सकें। इससे स्थिति और भी बिगड़ गयी। 16 मई को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यूरोप के राष्ट्रों से निरस्त्रीकरण करने की अपील की। हिटलर पर इसका कुछ प्रभाव पड़ा और 17 मई को उसने जो सरकारी नीति की घोषणा की वह बहुत हद तक नरम थी। इससे वातावरण काफी साफ हो गया और जर्मनी ने 'मैकडोनाल्ड-योजना' को स्वीकार कर लिया।

फ्रांस का रुख : अब फ्रांस की बारी आयी। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर फ्रांस निरस्त्रीकरण करने के लिए तैयार नहीं था। उसको कोई योजना पसंद नहीं थी। 22 मई, 1933 को अमरीकी सचिव नारमन डेनिस ने यह घोषणा की कि आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक या आर्थिक कार्रवाई करने का विरोध अमेरिका नहीं करेगा। फ्रांस पर इसका भी कोई असर नहीं हुआ। मतभेद अब भी स्पष्ट दिखाई दे रहा था। अतएव जून में सम्मेलन को इस आशा पर स्थगित कर दिया गया कि बीच के अवकाश काल में निजी वार्ताओं द्वारा शेष गतभेद दूर कर दिये जायेंगे। किंतु निरस्त्रीकरण समझौते की आशा अब बिल्कुल ही समाप्त हो चुकी थी।

फ्रांसीसी योजना : सम्मेलन के अवकाश-काल में निरस्त्रीकरण विषय पर वार्तालाप होता रहा। आर्थर हन्डरसन यूरोप की मुख्य राजधानियों में बातचीत करने के लिए भ्रमण करते रहे। यह उनका 'निरस्त्रीकरण अभियान' था। इस अभियान से यह शीघ्र ही पता चल गया कि फ्रांस अपनी सेना घटाने के लिए राजी नहीं हो सकता है। किंतु समझौता करना आवश्यक था। 1933 के मध्य में एक योजना तैयार की गयी। इसके अनुसार निरस्त्रीकरण समझौते को दो कालों में बांट दिया गया। वर्ष की एक अवधि को दो भागों में विभक्त किया गया। प्रथम दो वर्ष में जो परीक्षा-काल कहलाया, शस्त्रास्त्रों पर अंतर्राष्ट्रीय निरीक्षण की प्रणाली स्थापित की जाने वाली था तथा राष्ट्रीय सेनाओं का पुनर्गठन प्रारंभ किया जानेवाला था। हथियारबंदी की होड़ को द्वितीय काल में सीमित किये जाने का सुझाव रखा गया था। यह योजना मूलतः फ्रांसीसी थी और ब्रिटेन तथा इटली का समर्थन इसे प्राप्त था।

14 अक्टूबर को सर जॉन साइमन ने सम्मेलन के ब्यूरो में उपयुक्त प्रस्ताव को विधिवत् पेश किया। आमतौर से इस प्रस्ताव का समर्थन हुआ, लेकिन तुरंत ही निरस्त्रीकरण सम्मेलन पर एक वज्रपात होनेवाला था। ब्यूरो की बैठक दोपहर के साढ़े बारह बजे समाप्त हुई और दो बजे हणडरसन को तार द्वारा यह सूचना मिली कि जर्मन सम्मेलन से अपना सहयोग हटा रहा है। कुछ ही समय के बाद जर्मनी ने राष्ट्रसंघ से अलग हो जाने की सूचना भी भेज दी। जर्मनी की यह नीति एक दिन पहले ही मंत्रिमंडल की बैठक में निर्धारित हो चुकी थी।

सम्मेलन का अंत : जर्मनी के इन निर्णयों से निरस्त्रीकरण की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। 12 नवंबर को जर्मन-जनमत के द्वारा हिटलर की इस नीति का जबर्दस्त समर्थन हुआ। 8 दिसंबर को इटली ने भी बतला दिया कि संभवतः कुछ दिनों के बाद वह भी राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दे। जर्मनी की नीति

को इससे प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ। जर्मनी के अलग हो जाने के छह महीने बाद तक सम्मेलन कुछ भी प्रगति नहीं कर सका और इस अवधि में जर्मन सहित प्रमुख राष्ट्र कूटनीतिक पत्र-व्यवहार द्वारा विचारों का आदान-प्रदान ही करते रहे। इन पत्र- व्यवहारों में अनेक प्रस्तावों पर विचार किया गया, लेकिन इनका कोई नतीजा नहीं निकला। फरवरी, 1934 में श्री ईडन पेरिस, रोम और बर्लिन गये। बर्लिन में वे हिटलर से मिले। उसके प्रभाव से जर्मनी की मूल मांगों में कुछ परिवर्तन हुआ। हिटलर ऐसी सीमा को स्वीकार करने के लिए तैयार था जिसे फ्रांसीसी, इटालियन और पोलिश सेनाओं के लिए समान रूप से स्वीकार की जाय। जर्मनी वायुसेना के लिए भी प्रतिशत निश्चित करने के लिए तैयार था। 19 मार्च को फ्रांस से यह सवाल पूछा गया कि वह शर्त पर आगे बातचीत करने के लिए तैयार है या नहीं। उत्तर में फ्रांसीसी सरकार ने जर्मनी पुनर्शस्त्रीकरण के प्रति विरोध प्रकट करते हुए यह व्यक्त किया कि किसी निरस्त्रीकरण-समझौते के पहले गारंटी आवश्यक है। फ्रांस से फिर यह पूछा जाय कि जिस प्रकार की ग़ारंटी फ्रांस परमावश्यक समझता है, उसका स्वरूप क्या है ? इसी बीच जर्मन का बजट प्रकाशित हुआ। इसमें सैनिक व्यय पर काफी वृद्धि दिखाई गयी थी। स्थिति पर इसका असर पड़े बिना नहीं रह सका। 17 अप्रैल को फ्रांसीसी सरकार ने यह उत्तर दिया कि जर्मनी का जो बजट प्रकाशित हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि जर्मनी पुनर्शस्त्रीकरण करना चाहता है। फ्रांसीसी सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब कोई भी गारंटी क्यों न दी जाय, वे जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण के किसी भी प्रस्ताव से सहमत नहीं होंगे। फ्रांस ने जर्मनी के प्रस्तावों पर वार्ता करने से साफ-साफ इन्कार कर दिया।

निरस्त्रीकरण में असफलता : फ्रांस का यह उत्तर सम्मेलन का वास्तविक अंत था। 29 मई, 1934 को सम्मेलन का अधिवेशन पुनः बुलाया गया। सम्मेलन में जो बहस हुई उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्मेलन में दो विचारधाराएं थीं। ब्रिटेन, अमेरिका और इटली का विचार था कि पहले निरस्त्रीकरण की दिशा में कोई कदम उठा लिया जाय और तब उसके बाद सुरक्षा की समस्या पर विचार किया जाय। इसके विपरीत फ्रांसीसी और रूसी प्रतिनिधियों का विचार था कि पहले सुरक्षा की बात तय हो फिर निरस्त्रीकरण पर वार्ता की जाय। 11 जून को सम्मेलन पुनः स्थगित कर दिया गया। आर्थर हन्डरसन ने खुले तौर पर फ्रांस को निरस्त्रीकरण की असफलता के लिए जिम्मेवार ठहराया। दो वर्षों के निरंतर प्रयास के बाद भी राष्ट्रसंघ का निरस्त्रीकरण सम्मेलन एक भी बंदूक, टैंक या हवाई जहाज में कमी नहीं कर सका। 1934 के बाद सम्मेलन का अधिवेशन होना भी बंद हो गया, यद्यपि नियमानुसार इसको समाप्त नहीं किया गया। 1935 में सम्मेलन के अध्यक्ष हंडरसन की मृत्यु भी हो गयी।

सम्मेलन की विफ़लता के कारण

इस प्रकार निरस्त्रीकरण का सम्मेलन असफल हो गया और मनुष्य की आशाओं पर पानी फिर गया। इस सम्मेलन की विफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

विभिन्न शक्तियों के मतभेद : निरस्त्रीकरण सम्मेलन को सफलता नहीं मिली, इसका एक प्रमुख कारण विभिन्न शक्तियों के बीच उग्र मतभेद था। फ्रांस अंतर्राष्ट्रीय सेना और सुरक्षा का दृढ़ समर्थक था। वह राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में एक अंतर्राष्ट्रीय सेना का निर्माण करना चाहता था। इससे वह जर्मनी के आक्रमण से निश्चित हो सकता था। इसके बाद वह अपने हथियारों को घटाने के लिए तैयार था। लेकिन इसके विपरीत ब्रिटेन का कहना था कि हथियारबंदी की होड़ को तुरंत समाप्त करना चाहिए। हथियारों की वृद्धि राष्ट्रों में असुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है। यदि हथियारों को घटा दिया जाय तो असुरक्षा और आक्रमण की आशंका अपने आप समाप्त हो जायगी। वह सुरक्षा से पहले निरस्त्रीकरण को आवश्यक मानता था। ब्रिटेन तथा कुछ अन्य राज्य अंतर्राष्ट्रीय सेना के संगठन की बात को अक्रियात्मक मानते थे। इसके अतिरिक्त फ्रांस की सुरक्षा की मांग जर्मनी की सुरक्षा की मांग से सर्वथा प्रतिकूल थी। इन दोनों के बीच किसी प्रकार का संबंध स्थापित करना असंभव था।

युद्ध संबंधी मनोवृत्ति : निरस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता का दूसरा कारण युद्ध संबंधी मनोवृत्ति में मौलिक मतभेद था। कुछ राज्य शांति के समर्थक थे और युद्ध के निवारण को परम आवश्यक मानते थे। लेकिन फासिस्ट इटली तथा नात्सी जर्मनी के नेता युद्ध को मानव जाति के विकास के लिए आवश्यक मानते थे। वे शांतिवाद को कोरी कायरता और नपुंसकता मानते थे। इन जंगखोरों की सामरिक प्रवृत्ति की चट्टान से टकराकर सम्मेलन की नौका चूर-चूर हो गयी।

निरस्त्रीकरण में अविश्वास : सम्मेलन की विफलता का कारण महाशक्तियों का निरस्त्रीकरण के सिद्धांत में अविश्वास और पक्षपातपूर्ण व्यवहार था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी को जबरदस्ती निःशस्त्र कर दिया गया और विजेताओं ने वादा किया कि बाद में वे भी निरस्त्रीकरण कर लेंगे। लेकिन वे हमेशा इस वादे को टालते रहे। यह बड़ा ही स्वार्थपूर्ण था। वस्तुतः बात यह थी कि निरस्त्रीकरण में उन्हें विश्वास नहीं था।

उपनिवेशों की सुरक्षा का प्रश्न : पश्चिमी यूरोप के राज्यों को निरस्त्रीकरण पर विश्वास भी कैसे होता। वे सब-के-सब साम्राज्यवादी राज्य थे और संसार भर में उनके उपनिवेश फैले हुए थे। इन उपनिवेशों पर अपना अपवित्र शासन कायम रखने के लिए प्रबल सैनिक शक्ति की आवश्यकता हमेशा बनी रहती थी। अतएव निरस्त्रीकरण के संबंध में उनके जो भी प्रस्ताव होते वे केवल प्रचार के उद्देश्य से होते, ईमानदारी की भावना उसमें बहुत ही कम थी।

समस्या का प्राविधिक रूप : निरस्त्रीकरण की समस्या का यह दुर्भाग्य था कि इसे मौलिक रूप से नहीं वरन् ऊपरी तौर से तथा प्राविधिक रूप से सुलझाने का यत्न किया गया। इस संबंध में **हुजर** तथा **डिग्रेजिया** ने ठीक ही लिखा है कि "निरस्त्रीकरण हथियारों को मर्यादित करने की प्राविधिक समस्या नहीं किंतु ऐसे प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक समस्या है, जो शास्त्रों के बिना अन्य साधनों से सुरक्षा स्थापित करे तथा विवादों का हल करे। हथियारबंदी की होड़ पैदा करनेवाली आर्थिक, मानसिक और राजनीतिक परिस्थितियों को दूर करने के स्थान पर सम्मेलन में प्रतिनिधियों के कुछ शस्त्रों पर प्रतिबंध लगाने चाहे। इन प्रयत्नों में बीमारी के बाह्य लक्षणों का इलाज किया गया, अंतर्राष्ट्रीय अराजकता की व्याप्ति का अनुसंधान या निदान नहीं दिया गया।"

शस्त्रीकरण का स्वरूप निर्धारण : शस्त्रीकरण की यथार्थ व्याख्या और उसका स्वरूप निर्धारण करने के प्रयास में भी निरस्त्रीकरण सम्मेलन असफल हो गया। निरस्त्रीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि तोपों, लड़ाकू विमानों, टैंकों, युद्धपोतों, क्रुजरों तथा पनडुब्बियों की संख्या को सीमित किया जाय। आजकल का युद्ध बड़ा जटिल हो गया है। जो चीजें नागरिक सेवा के काम आती हैं वे बात-ही- बात में युद्धोपयोगी सामान के रूप में परिवर्तित की जा सकती हैं। शांति-कालीन प्रयोजनाओं के लिए विभिन्न सामग्री तैयार करनेवाले कल-कारखाने बड़ी सुगमता और शीघ्रता से हथियार तैयार करनेवाले कारखानों में बदले जा सकते हैं। इन परिस्थितियों में शस्त्र बनानेवाले कारखानों का निर्धारण और नियंत्रण एक बड़ा जटिल काम है।

सहयोग की भावना का अभाव : इन सारी कठिनाइयों के बावजूद निरस्त्रीकरण हो सकता था यदि राष्ट्रों के बीच सहयोग की भावना रहती। लेकिन जेनेवा में इस भावना का पूरा अभाव था। जेनेवा में विभिन्न राष्ट्र इसलिए इकट्ठा नहीं हुए थे कि निरस्त्रीकरण करके विश्वशांति की स्थापना करेंगे, उनका मुख्य उद्देश्य अपनी प्रभुता बढ़ाना और प्रतिपक्षी की शक्ति को सीमित करना था। कोई भी राज्य दिल से हथियारों को कम करने को तैयार नहीं था। प्रत्येक देश अपने शस्त्रों को आत्मरक्षा के लिए आवश्यक समझता था और दूसरे के हथियारों का उद्देश्य आक्रमण मानता था। सम्मेलन का पूरा वातावरण संदेह, आशंका और भय का था। इस कारण सम्मेलन की असफलता निश्चित थी।

हथियारों का निहित स्वार्थ : सम्मेलन को विफल बनाने का मुख्य प्रयास हथियार व्यवसाय के निहित स्वार्थ के लोगों ने किया। इस व्यवसाय के लोगों ने जेनेवा में अपने प्रतिनिधि भेजे जिन्होंने यह प्रयास किया कि सम्मेलन किसी तरह असफल हो जाय क्योंकि यदि सम्मेलन सफल हो जाता तो उनके अत्याधिक लाभदायक व्यवसाय को गहरी क्षति और धक्का पहुंचता। शीयरर एक इसी प्रकार का प्रतिनिधि था जिसको हथियार बनानेवाली तीन अमरीकी कंपनियों ने जेनेवा में भेजा था। उसका काम था राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को घूस देकर निरस्त्रीकरण का विरोधी बनाना। जब जेनेवा-सम्मेलन विफल हो गया तो शीयरर को इन कंपनियों ने केवल इक्यावन हजार दो सौ डालर दिये तद्यपि उसे दो लाख पचपन हजार छह सौ पचपन डालर देने का वादा किया था। अतएव शीयरर ने इन कंपनियों पर शेष राशि को प्राप्त करने के लिए मुकदमा किया। इस मुकदमें की जांच के क्रम में पता चला कि हथियार व्यवसाय ने किस प्रकार जेनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन को असफल बनाने का प्रयास किया था।

आत्मसंहार की तैयारी : असफल निरस्त्रीकरण सम्मेलन से कोई सम्मेलन नहीं होना ही अच्छा है, क्योंकि इसकी असफलता से मनमुटाव और गलतफ़हमी बढ़ती है। 1919 में जिस कुचक्र से मनुष्य वचना चाहता था वह एक बार फिर पूरे वेग से चलने लगा। सब-के-सब आत्महत्या करने की तैयारी करने लगे। निरस्त्रीकरण की सारी आशाएं लुप्त हो गयीं। यूरोप के सभी राज्य अपनी-अपनी सैन्यशक्ति बढ़ाने लगे और संसार उसी अंतर्राष्ट्रीय अराजकता की स्थिति में पहुंच गया, जिसमें यूरोप प्रथम विश्वयुद्ध के अवसर पर था। इटली और जर्मन सेनाएं बढ़ाने में व्यस्त हो गयीं। उनकी देखा-देखी फ्रांस, पोलैंड और यूरोप के अन्य छोटे-छोटे राज्य भी लड़ाई की तैयारी में लग गये। करोड़ों रुपये खर्च करके फ्रांस ने 'मैगिनो-लाइन' तैयार की। फ्रांस की पूर्वी सीमा पर सैनिक इंजीनियरों ने बड़ी कुशलता के साथ इस 'लाइन' को तैयार किया था। जमीन की सतह के नीचे किलाबन्दीयाँ की गयी थीं। इन किलों में बड़ी-बड़ी पलटनें रह सकती थीं। इसमें बिजली, अस्पताल, सैनिकों के निवास, भोजन आदि का समुचित प्रबंध था। इन किलों को इस्पात, सीमेंट और क्रक्रीट से इतना मजबूत बनाया गया था कि तोपों, बमों और टैंकों से उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता था। ऊपर से देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि जमीन के नीचे इतने बड़े-बड़े किले मौजूद हैं। फ्रांस का जवाब देने के लिए हिटलर ने भी समानांतर रूप से किलाबंदियों की एक श्रृंखला तैयार करायी थी जिसको 'सीगफ्रिड-लाइन' कहा जाता था। यह किलाबंदी 'मैगिनों- लाइन' की तरह ही मजबूत थी। प्रत्येक देश सैनिक आवश्यकताओं पर करोड़ों रुपये खर्च करने लगा, ब्रिटेन भी अपनी सुरक्षा सेना पर व्यय के लिए वजट में सुरक्षा-कोष बढ़ा दिया। शस्त्रीकरण की होड़ को रोकने के लिए जेनेवा में किये गये प्रयास के विफल होने के साथ वाशिंगटन और लंदन के नाविक समझौते भी भंग हो गये। प्रशांत महासागर के संभावित संघर्ष को दृष्टि में रखकर जापान और अमेरिका भी अपनी नाविक शक्ति वढ़ाने लगे। इस वातावरण में निरस्त्रीकरण पर वार्तालाप करना ही बेकार था। निरस्त्रीकरण मनुष्यमात्र का स्वप्न बना रह गया।

अध्याय 23

क्षतिपूर्ति की समस्या

(The Reparation Problem)

विषय-प्रवेश : युद्धोत्तर काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में क्षतिपूर्ति की समस्या एक अत्यधिक जटिल और विवादास्पद समस्या थी। इसका प्रभाव समस्त संसार के करोड़ों व्यक्तियों के जीवन पर पड़ा। यह विषय इतना विशिष्ट था कि वर्षों तक यह संसार के राजनीतिज्ञों का ध्यान आकृष्ट किये रहा और जनसाधारण में भी इस पर सर्वत्र चर्चा चलती रही। क्षतिपूर्ति समस्या को समझने के लिए एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। युद्ध के बाद क्षतिपूर्ति उन्हीं देशों को करना था जो आर्थिक दृष्टि से इसके योग्य नहीं थे, जो क्षतिपूर्ति की अदायगी करने मे शान्ति-सन्धियों द्वारा बिल्कुल असमर्थ बना दिये थे। इसका अन्तिम नतीजा केवल यही नहीं हुआ कि पराजित राज्यों की आर्थिक कमर टूट गयी; बल्कि समस्त संसार एक महान् आर्थिक प्रलय में डूब गया। इससे बढ़कर इसका परिणाम यह हुआ कि मित्रराष्ट्रों के गुट में, खासकर ब्रिटेन और फ्रांस में, परस्पर तनाव पैदा हो गया, जिससे लांभ उठाकर जर्मनी ने तुरन्त ही अपना पुनर्निर्माण किया और यूरोपीय राज्यों को चुनौती देने लगा।

क्षतिपूर्ति की समस्या : विजेता को अपने पराजित प्रतिपक्षी से युद्ध का समस्त व्यय वसूल करने का अधिकार प्राचीन युग से ही माना जाता रहा है। लेकिन महायुद्ध के समय कई देशों में यह मत व्यक्त किया गया था कि परम्परा से चली आनेवाली युद्ध-क्षतिपूर्ति की प्रथा का इस बार आश्रय न लिया जाय। युद्ध के विशाल रूप ने शुरू में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि इस प्रकार के दावे को पूरा करना इस बार किसी भी राष्ट्र की शक्ति के बाहर है। महायुद्ध के कारण मित्र-राष्ट्रों के धन और जन की काफी क्षति हुई थी और जर्मनी तथा उसके साथियों को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया गया था। जिन राज्यों की लड़ाई के कारण नुकसान उठाना पड़ा था, वे समझते थे कि इसकी क्षति की पूर्ति जर्मनी तथा उसके साथियों को करना है। लेकिन, युद्ध के अन्त होते-होते यह स्पष्ट हो गया कि ऑस्ट्रिया, हंगरी, बुल्गेरिया क्षतिपूर्ति की कोई भी रकम अदा करने में असमर्थ हैं। लड़ाई के बाद वे निर्बल हो गये थे और उनके प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र उनके हाथ से निकल चुके थे। उनकी आर्थिक अवस्था सम्हालने के लिए उन्हें स्वयं कर्ज की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त फ्रांस को इन छोटे देशों से कोई भय नहीं था। वह तो इस फेरे में था कि जर्मनी की आर्थिक कमर इस तरह तोड़ दी जाय कि फ्रांस पर आक्रमण करने की कभी हिम्मत न हो। इस प्रकार क्षतिपूर्ति का सारा बोझ जर्मनी पर ही पड़ने वाला था।

विराम-सन्धि के समय मित्रराष्ट्रों ने दावा किया था कि वे जर्मनी के साथ क्षतिपूर्ति प्रश्न पर रियायत करना चाहते हैं और इसलिए जर्मनी से केवल यही माँग की गयी कि वह स्थल, जल या आकाश से आक्रमण करने के कारण "मित्रराष्ट्रों की नागरिक जनता के धन-जन की जो भी क्षति हुई उसकी क्षतिपूर्ति करे।" जर्मनी ने इस दावे के आधार पर हथियार डाले थे और वर्साय-संधि की 232 वीं धारा में इस बात को अक्षरशः दोहराया गया था। कुछ दिनों के बाद यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि यह कोई खास रियासत नहीं थी;

क्योंकि जर्मनी के वर्तमान साधनों के द्वारा इस क्षतिपूर्ति को चुकाना असम्भव था। वर्साय-सन्धि के द्वारा उसका अंग-भंग कर दिया गया था और उसके सारे उपनिवेश छीन लिये गये थे। जर्मनी के खनिज पदार्थ वाले प्रदेश एवं व्यावसायिक केन्द्र पर मित्रराष्ट्र का अधिकार हो गया था। ऐसी स्थिति में जर्मनी के लिए क्षतिपूर्ति करना असंभव था। क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर वर्साय-सन्धि और पहले की अन्य संधियों में अन्तर केवल इतना ही था कि इस बार शान्ति-संधि में अदायगी की कोई रकम निश्चित नहीं की गयी थी। इस काम को पीछे के लिए छोड़ दिया गया।

क्षतिपूर्ति की कठिनाइयाँ : अनेक दृष्टियों से महायुद्ध के बाद की क्षतिपूर्ति की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक नवीन चीज थी। मित्रराष्ट्रों के सामने 1871 की फ्राँसीसी क्षतिपूर्ति का उदाहरण था। उन्होंने सोचा कि जिस सुगमता के साथ जर्मनी ने फ्रांस से 1871 में हरजाने की रकम वसूल कर ली थी, उसी सुगमता के साथ वे भी जर्मनी से वसूल कर लेंगे। किन्तु यह उनकी महान् भूल थी। वे इस बात को नहीं देख सके कि क्षतिपूर्ति की समस्या और युद्ध ऋणों (war detbts) में घना सम्बन्ध है। लड़ाई के समय यूरोप के विभिन्न राज्यों को बहुत बड़ी रकम दूसरे देशों से कर्ज लेनी पड़ी थी। शुरू में ब्रिटेन ने कर्ज दिया। लेकिन युद्ध बढ़ जाने के कारण ब्रिटेन कर्ज देने की स्थिति में नहीं रहा और वह स्वयं अमेरिका से भारी रकम लेने को विवश हुआ। जब अमेरिका ने युद्ध में प्रवेश किया तब उसने भी बहुत देशों को कर्ज दिया। युद्ध समाप्त होने के बाद स्थिति यह थी कि यूरोप के बहुत-से राज्य अमेरिका ब्रिटेन के कर्जदार थे और स्वयं ब्रिटेन अमेरिका का ऋणी था। प्रश्न यह था कि इन कर्जों को कैसे अदा किया जाय। इसके लिए विजित राज्य जर्मनी की क्षतिपूर्ति की अदायगी पर ही आश्रित थे।

क्षतिपूर्ति-समस्या की दूसरी विशेषता यह थी कि इस पर मित्रराष्ट्रों के बीच एकमत नहीं था। इस प्रश्न को लेकर खासकर ब्रिटेन और फ्रांस में तनाव हो गया। ब्रिटेन जर्मन का आर्थिक पुनरुत्थान चाहता था। इसके दो कारण थे। जर्मन ब्रिटिश मालों के लिए एक अच्छा बाजार था। ब्रिटेन का हित इसमें था कि जर्मनी जल्द-से-जल्द आर्थिक दृष्टि से अपने पैर पर खड़ा हो जाय। फिर, ब्रिटेन रूसी साम्यवाद की बाढ़ को जर्मनी का पुनरुत्थान करके रोकना चाहता था। इन्हीं कारणों से ब्रिटेन क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर लड़ाई का रुख नहीं अपनाना चाहता था। फ्रांस का विचार ठीक इसके विपरीत था। वह अपने घृणित शत्रु जर्मनी का पूर्ण ह्रास चाहता था। उसके विचार में जर्मनी के साथ वैसा ही बर्ताव हो जैसा एक दिवालिये के साथ किया जाता है। जिस तरह एक दिवालिया की सारी सम्पत्ति पर महाजन लोग अपनी रकम प्राप्त करने के लिए अधिकार जमा लेते हैं उसी तरह का व्यवहार फ्रांस जर्मनी के साथ करना चाहता था। ऐसी स्थिति में फ्रांस और ब्रिटेन में पारस्परिक तनाव निश्चित था। इसके अतिरिक्त अमेरिका की दिलचस्पी केवल युद्ध-ऋणों में थी। अपने दिये हुए ऋण की अदायगी चाहता था और क्षतिपूर्ति को केवल एक यूरोपीय समस्या मात्र समझता था।

शान्ति-सम्मेलन में क्षतिपूर्ति की कोई रकम निश्चित नहीं की गयी थी। यह काम एक क्षतिपूर्ति आयोग के ऊपर छोड़ दिया था कि वह बिल तैयार करे और यह निश्चित करे कि इस बिल की रकम किस प्रकार चुकायी जाय। ब्रिटेन, फ्रांस, इटली तथा जर्मनी के प्रतिनिधि इस आयोग के सदस्य थे। इन चार प्रमुख प्रतिनिधियों के अतिरिक्त आयोग में अन्य मित्रराष्ट्रों की तरफ से भी एक-एक प्रतिनिधि लेने की व्यवस्था की गयी थी। आयोग को मई, 1921 तक अपनी रिपोर्ट देने को कहा गया। इस तारीख से पहले जर्मनी को सोना या माल के रूप में एक अरब पौंड अदा करना था। इस धनराशि से जर्मनी में स्थित मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का खर्च चलाना था और इससे बाकी बची रकम को क्षतिपूर्ति के खाते में जमा करना था। यह अनुमान लगाया गया था कि इसके बाद के भुगतान कम-से-कम तीन वर्षों में जाकर हो सकेंगे।

वर्साय-सन्धि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद यह प्रश्न उठा कि जर्मनी क्षतिपूर्ति में कितनी रकम दे और कैसे दे। जर्मनी से जो कुछ वसूल हो सके उसे किस प्रकार मित्रराष्ट्र आपस में बाँटे ? जर्मनी से कहा गया कि वह क्षतिपूर्ति की अदायगी के निमित्त कुल कितनी रकम देगा, इसकी सूचना मित्र राष्ट्रों को शीघ्र दे। उसे कहा गया कि यदि पूरे दायित्व के निबटाने में कोई एक मुस्त रकम देना चाहे तो मित्रराष्ट्र ऐसे प्रस्ताव पर विचार करेंगे। लेकिन जर्मनी की तरफ से कोई सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला। अत: मित्रराष्ट्र इस विषय का निर्णय स्वयं कर लेने का प्रयास करने लगे। अप्रैल, 1920 में सानरेमो नामक स्थान पर एक सम्मेलन (Sanermo Conference) हुई और निश्चित किया गया कि केवल दायित्व तय करने के लिए जर्मन सरकार को आमने-सामने सम्मेलन में निमंत्रित किया जाय। उसी वर्ष जुलाई में यह सम्मेलन स्पा (Spa) नामक स्थान पर हुआ। इस सम्मेलन में जर्मनी के चांसलर और विदेश मंत्री मित्र राष्ट्रों के प्रमुख मन्त्रियों से पहले बराबरी के स्तर पर बातचीत की। सम्मेलन में जर्मनी ने कुछ प्रस्ताव रखे। किन्तु ये प्रस्ताव बेहूदे और बेकार कहकर अस्वीकार कर दिये गये। यद्यपि सपा-सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य पूरा नहीं हो सका किन्तु अगले छह मास तक जर्मनी कितना कोयला देगा इस सम्बन्ध में एक समझौता हो गया। क्षतिपूर्ति के वितरण के महत्वपूर्ण प्रश्न पर यहाँ निर्णय हो गया। मित्रराष्ट्रों में यह समझौता हो गया कि जर्मनी से जो कुछ मिले उसका वावन प्रतिशत फ्रांस को और बाईस प्रतिशत ब्रिटेन को, आठ प्रतिशत बेल्जियम को, दस प्रतिशत इटली को और शेष आठ प्रतिशत अन्य मित्रराष्ट्रों में बाँट दिया जाय।

मित्रराष्ट्र जर्मनी से कुल एक मुश्त रकम चाहते थे। लेकिन, इस प्रश्न पर इतना मतभेद था कि कोई समझौता हो सकना कठिन था। दिसम्बर, 1920 में इस बात को तय करने के लिए ब्रुसेल्स में एक सम्मेलन हुआ, पर इसका कोई नतीजा नहीं निकला। जनवरी, 1921 में पेरिस में एक दूसरा सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में जर्मनी से ग्यारह अरब पौंड की माँग की गयी, जिसको बयालीस वार्षिक किश्तों में अदा करना था। जर्मनी के निर्यात व्यापार आय का बारह प्रतिशत की माँग भी की गयी। यह योजना अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों द्वारा नहीं बनाया गयी थी और स्वेच्छा से जर्मनी के लिए इतनी बड़ी रकम अदा करना असम्भव था। जर्मनी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। मित्रराष्ट्रों ने भी इस योजना को स्वीकार करने के लिए जर्मनी पर दबाव नहीं डाला। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए मार्च, 1921 में लन्दन में एक सम्मेलन हुआ और अपना उत्तर देने कि लिए जर्मनी को आमन्त्रित किया गया। सम्मेलन में जर्मनी ने अपना एक स्वतन्त्र प्रस्ताव प्रस्तुत किया। जर्मनी डेढ़ अरब पौंड क्षतिपूर्ति देने को तैयार हो गया और इसके साथ-साथ यह माँग कर बैठा की जर्मनी पर से सारे व्यापारिक प्रतिबन्ध उठा लिया जाय, उसकी भूमि पर स्थित मित्रराष्ट्रीय सेना हटा ली जाए तथा ऊपरी साइलेशिया पर जर्मनी का अधिकार रहे। मित्रराष्ट्र को यह प्रस्ताव मंजूर नहीं हुए। वे जर्मनी पर काफी रंज हुआ। 3 मार्च, 1921 को जर्मनी के पास एक अन्तिमेत्थम् भेजा गया। जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति की प्रारम्भिक चुकती नहीं करने के अपराध में मित्रराष्ट्रों की सेना ने राइन के पूर्व में स्थित डुजेलडोर्फ, डयूसवर्ग तथा रूहरोर्ट नामक तीन औद्योगिक केन्द्रों पर अधिकार कर लिया। मित्र राष्ट्रों की यह कार्रवाई नैतिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से आपत्तिपूर्ण थी। लेकिन उसको सुनने वाला कौन था ? जर्मनीं ने राष्ट्रसंघ में अपील की। उसका कहना था कि उसने आरम्भ की क्षतिपूर्ण अदा कर दी है। लेकिन जर्मनी की अपील बेकार सिद्ध हुई। मित्रराष्ट्रों को अपनी सैनिक कार्रवाई की वैधता और नैतिकता पर किसी तरह पर्दा डालना था। इसलिए इस विवाद को क्षतिपूर्ण आयोग के सामने रखा गया। आयोग ने मित्रराष्ट्रों के मनोनुकूल ही उसके पक्ष में अपना फैसला दिया।

जब राजनैतिक वार्तालाप असफल हो गया तो क्षतिपूर्ति-आयोग ने इस मामले को अपने हाथ में ले लिया। 27 अप्रैल, 1921 को आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी। जर्मनी का कुल दायित्व छह अरब साठ करोड़ पौंड निश्चित किया गया। लेकिन, इस समय जर्मनी से इतनी बड़ी रकम के भुगतान की आशा

नहीं की जा सकती थी। इसलिए अदायगी का ब्योरा अ, ब, स, तीन प्रकार के बाण्डों में विभक्त किया गया। 'अ' और 'ब' बाण्ड के अन्तर्गत दो अरब साठ करोड़ पौंड अर्थात् सम्पूर्ण क्षतिपूर्ति का एक-तिहाई भाग था और जर्मनी को यह रकम एक अरब पौंड प्रतिवर्ष के हिसाब से देना था। इसके साथ-साथ उसको निर्यात-वस्तुओं को मूल्य का 25 प्रतिशत भी देना था। 'स' बाण्ड की रकम चार अरब पौंड थी। भुगतान करने की क्षमता स्थिर हो जाने पर जर्मनी को यह रकम अदा करनी थी। इस प्रकार पूरे कर्ज की दो-तिहाई रकम की वसूली अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी गयी। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह भी बतला दिया कि 1 मई, 1931 तक जर्मनी ने जो रकम अदा की है वह बहुत ही अपर्याप्त है और जर्मनी के द्वारा अब तक दी गयी रकम को कोई महत्व नहीं दिया गया।

मित्रराष्ट्रों को सम्भवतः यह विश्वास था कि जर्मनी क्षतिपूर्ति को इतनी बड़ी रकम मानने को तैयार न होगा। अतः सैनिक तैयारियाँ की जाने लगीं। 5 मई को क्षतिपूर्ति का उपर्युक्त ब्योरा जर्मन सरकार के पास इस अन्तिमेत्थम के साथ भेजा गया कि 12 मई तक यहं उसे स्वीकार नहीं किया गया तो मित्रराष्ट्र की सेना रूर पर कब्जा कर लेगी। रूर जर्मनी के धातु-उद्योग का केन्द्र था। जर्मनी के कोयले, लोहे तथा इस्पात का अस्सी प्रतिशत के लगभग वहाँ उत्पन्न होता था। जिस समय यह अन्तिमेत्थम, जर्मनी पहुँचा उस समय वहाँ एक आन्तरिक संकट चल रहा था, जिसके कारण सरकार ने त्यागपत्र दे दिया था। अन्तिमेत्थम् की अवधि समाप्त होने के एक दिन पूर्व जर्मनी में एक नया मंत्रिमंडल बन गया। नये मंत्रिमंडल ने 16 मई को मित्रराष्ट्रों की माँगों को स्वीकार कर लिया और अगस्त में जर्मनी ने क्षतिपूर्ति की पहली किस्त पाँच करोड़ पौंड चुका दिया।

जर्मनी की कठिनाइयाँ : यद्यपि जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों के अन्तिमेत्थम् को स्वीकार कर लिया किन्तु उसकी आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय थी कि वह क्षतिपूर्ति अदा करने में समर्थ नहीं था। सबसे पहले यह कोशिश की गयी कि जर्मनी माल की शक्ल में क्षतिपूर्ति करे। जर्मनी ने बहुत तरह के माल दिये भी, पर इसका परिणाम मित्रराष्ट्रों के हक में अच्छा नहीं हुआ। जर्मनी के माल उनके बाजारों में भर गये। ये माल जर्मनी से मुफ्त में आये थे और इसलिए मित्रराष्ट्रों के बाजार में बहुत सस्ते मूल्य पर बिकने लगे इसके मुकाबले में अपने देश का माल बिकना कठिन हो गया। मित्रराष्ट्रों के पूजींपति-वर्ग इस व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठानी शुरू की। यह तय हुआ कि जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी माल की शक्ल में न देकर नकद दिया करे। तब प्रश्न यह था कि जर्मनी नकदी में कैसे भुगतान करे। इसके सामने केवल एक ही उपाय था कि वह अपने सामानों को अन्य बाजारों में बेचकर नकद में क्षतिपूर्ति की रकम अदा करे, पर जर्मनी अपने माल को कहाँ बेचे। युद्ध के पूर्व रूस और मध्य यूरोप के देश उसके बाजार थे। लेकिन युद्ध के बाद ये बाजार भी उसके हाथ से निकल गये। रूस में साम्राज्य का प्रादुर्भाव और मध्य यूरोप में नये-नये देशों का निर्माण हो चुका था, जो राष्ट्रीय व्यापार की रक्षा के लिए संरक्षण नीति का अनुसरण कर रहे थे। जर्मनी के पास कोई उपनिवेश भी नहीं बच रहा था, जहाँ वह अपना माल बेच सके। इस दशा में विदेशी बाजारों में अपने माल को बेचकर क्षतिपूर्ति देना जर्मनी के लिए सम्भव नहीं था। जर्मनी के पास अब जो एकमात्र उपाय बच गया था, वह यह था कि वह अपनी मुद्रा का प्रसार करे। मुद्रा के प्रसार से विदेशी विनिमय में जर्मनी के सिक्के का मूल्य गिरेगा, मूल्य गिरने से विदेशों में जर्मनी माल सस्ता पड़ेगा, सस्ता पड़ने से उसकी बिक्री अधिक होगी और एक तरह अपना माल बेचकर जर्मनी क्षतिपूर्ण की अदायगी कर सकेगा। जर्मनी ने ऐसी नीति का अनुसरण करने का फैसला किया। विदेशी विनिमय में जर्मन सिक्के का मूल्य गिरने लगा, जिसके फलस्वरूप विदेशी बाजारों में जर्मन माल सस्ते बिकने लगे। फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशों में जर्मन माल इन देशों के माल से भी सस्ता बिकने लगा। मित्रराज्य के पूंजीपतियों ने पुनः हल्ला मचाना शुरू किया कि विदेशी मालों पर

आयात-कर लगया जाय तथा संरक्षण-नीति का अवलम्बन किया जाय। यह क्षतिपूर्ति समस्या का हास्यापद पहलू था। लेकिन, इसके तुरन्त ही बाद नाटक का दुखान्त पहलू भी शुरू हुआ। संरक्षण कर के कारण जर्मनी का माल विदेशों में बिकना बन्द हो गया और जर्मनी के लिए अदायगी असम्भव हो गयी।

अब जर्नेनी के लिए केवल एक उपाय बचा रहां कि वह विदेशों से कर्ज ले। पर अन्तर्राष्ट्रीय साख नहीं होने के कारण वह विदेशी ऋण भी नहीं पा सकता था। अमेरिका को छोड़कर कोई देश जर्मनी को कर्ज देना नहीं चाहता था इसलिए विदेशी कर्ज के द्वारा जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी नहीं कर सकता था। दूसरे, जर्मनी अपना आर्थिक संतुलन ही खो बैठा था। युद्ध में हुई क्षति के कारण उसके आयात बढ़ गये थे और निर्यात की मात्रा कम हो गयी थी। इसका नतीजा यह हुआ कि सोने का भंडार निरंतर खाली होता गया। मुद्रास्फीति बढ़ गयी और जर्मन सिक्का—मार्क की कीमत गिर गयी। जर्मन शीघ्र मुद्रा-संकट में फँस गया। संकट के पहले बीस मार्क का सामान्य मूल्य एक पौंड था। 1920 में इसकी कीमत गिरकर दौ सौ पचास मार्क तक पहुँच गयी। 1922 में एक पौंड के बदले चौंतीस हजार मार्क खरीदे जा सकते थे। आर्थिक स्थिति अजीब हो गयी। चीजों की कीमत बेहद बढ़ गयी। आम मजदूर की दैनिक मजदूरी में कीमतें बढ़ने के साथ-साथ वृद्धि भी हो सकती थी, लेकिन मध्यवर्ग के लोग नौकरी पेशेवाले थे और उनके मासिक वेतन में हमेशा वृद्धि नहीं हो सकती थी। इस दशा में मध्यमवर्ग के लोगों को अपार कष्ट उठाना पड़ा। उनकी आमदनी आम मजदूरों के समान रह गयी: लेकिन उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा था। जर्मन मध्यमवर्ग काफी असन्तुष्ट और बेचैन था। कुछ दिनों के बाद मासिक वेतन भी प्रतिदिन दुहराए जाने लगा, पर इससे कोई लाभ नहीं हुआ। दुकान पर सामान खरीदने के लिए लाइन में खड़े रहने के समय भी मुद्रा की कीमत घट सकती थी। जहाँ एक ओर जर्मन लोगों को यह दुर्दशा थी वहां दूसरी ओर एक विदेशी कुछ ही पौंड, फ्रांक, डालर या रुपया लेकर जर्मनी में एक राजकुमार के समान जीवन बिता सकता था।

जर्मनी की आर्थिक स्थिति खराब होने का तीसरा कारण यह था कि वहाँ के बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने भी सरकार से सहयोग करने से इन्कार कर दिया। जर्मन पूँजीपति जर्मनी में अपनी पूँजी नहीं लगाना चाहते थे, क्योंकि उन्हें यह भय था कि उनकी पूँजी क्षतिपूर्ति के खाते में रख दी जा सकती है। वे अपनी पूँजी विदेशों में ही लगाना चाहते थे और इस तरह जर्मनी की एक बहुत बड़ी पूँजी वहाँ से गायब हो गयी (flight of German capital) जिस पर जर्मनी सरकार का नियंत्रण नहीं को सकता था। अन्त में, सबसे बड़ी बात यह थी कि जर्मनी में क्षतिपूर्ति अदा करने की बिल्कुल इच्छा नहीं थी। जर्मनी शुरू से ही वर्साय-सन्धि को 'आरोपित सन्धि' समझता आ रहा था जर्मन लोगों का विश्वास था कि नैतिक रूप से यह सन्धि उन पर बन्धनकारी नहीं हो सकती है।

ऐसी परिस्थितियों में जर्मनी के लिए कोई भी रकम अदा करना असम्भव हो गया। समझौते के अनुसार अगस्त, 1921 तक जर्मनी ने पाँच करोड़ पौंड की प्रथम किश्त चुका दी। किन्तु अब जर्मनी एक पैसा देने के स्थिति में नहीं था। अतः उसने अगले वर्ष तक के लिए अदायगी स्थगित करने के लिए मुहलत (moratorium) माँगी। जर्मनी की इस प्रार्थना पर जनवरी, 1922 में कैनिस सम्मेलन में विचार किया गया। निर्णय हुआ कि जर्मनी अदायगी का थोड़ा-सा हिस्सा आगे के लिए स्थगित कर सकता है। लेकिन जर्मनी की स्थिति इससे भी नहीं सम्हली। मुद्रा की कीमत निरंतर गिरती जा रही थी। आर्थिक संकट के कारण जर्मनी सरकार ने क्षतिपूर्ण देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। जर्मनी नें एक दूसरी मुहलत के लिए प्रार्थना की कि नकद अदायगी 1925 तक के लिए स्थगित कर दी जाय।

आंग्ल फ्रांसीसी मतभेद : जर्मनी की पूर्ण मुहलत (total moratorium) की माँग के फलस्वरूप क्षतिपूर्ति की समस्या कुछ समय के लिए मित्रराष्ट्रों और जर्मनी के बीच की समस्या न रहकर आंग्ल-फ्रांसीसी मनमुटाव के रूप में परिवर्तित की गयी। 1920 में राइन भूमि पर संयुक्त अधिकार के प्रश्न को लेकर फ्रांस और ब्रिटेन के दृष्टिकोण में पहली बार मतभेद हुआ था। युद्ध-समाप्ति के समय जर्मन विरोधी भावनाएँ ब्रिटेन में उतनी

ही तीव्र थीं जितनी फ्रांस में। किन्तु, ब्रिटेन में यह तीव्रता तेजी से कम होने लगी। फ्रांस को पराजित जर्मनी से भी भय था। लेकिन, जर्मन-नौ सेना के नष्ट हो जाने के ब्रिटिश-साम्राज्य पूरी तरह सुरक्षित हो गया था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन परम्परा से शक्ति संतुलन के सिद्धान्त का अनुसरण करता चला आ रहा था। यूरोपीय प्रायद्वीप में वह किसी एक राष्ट्र को अत्यन्त शक्तिशाली नहीं होने देना चाहता था। ऐसी स्थिति में जर्मनी को धूल में मिलाने के लिए फ्रांस को छूट देना उसकी परम्परा के विरुद्ध की बात होती थी। इसलिए राइन-भूमि पर जहाँ एक ओर फ्रांसीसी सेना ने घोर अत्याचार किये, वहाँ दूसरी ओर ब्रिटिश सेना से जर्मन लोगों को शीघ्र ही अपना घनिष्ठ मित्र बना लिया। ब्रिटिश सेना अपने भूतपूर्व शत्रुओं से अधिक लोकप्रिय हो गयी थी। फ्रांस ने जान-बूझकर अफ्रीका के अश्वेत नीग्रो की सैनिक टुकड़ी को जर्मनी में भेजा था। फ्रांसीसियों द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर इन सैनिकों ने जर्मनी पर काफी अत्याचार किया। इस 'अश्वेत अपमान' के कारण ब्रिटेन और अमेरिका का लोकमत फ्रांस से काफी क्षुब्ध था।

राइन में पार्थक्यवादी आन्दोलन : आंग्ल-फ्रांसीसी मतभेद का एक दूसरा, कारण राइन-भूमि के पार्थक्यवादी आन्दोलन (separatist movement) को प्रोत्साहन दिये जाने से सम्बन्धित था। शान्ति-सम्मेलन में फ्रांस ने राइन-भूमि पर अधिकार जमाने का काफी प्रयत्न किया था। लेकिन लायड जार्ज और विल्सन के विरोध के कारण ऐसा नहीं हो सका। जब फ्रांस को इस दिशा में सफलता नहीं मिली तो क्षेत्र में पार्थक्यवादी आन्दोलन को प्रोत्साहित करने का निर्णय किया। फ्रांसीसी सरकार का इशारा पाकर कुछ सैनिक अधिकारी इस क्षेत्र की जर्मन जनता को बर्लिन की सत्ता से अलग हो जाने और राइन-भूमि को एक स्वतन्त्र राज्य घोषित करने के लिए उभाड़ रहे थे। यह आन्दोलन नकली था और राइन-भूमि का कोई भी व्यक्ति फ्रांस की संरक्षता में स्वायत्त शासन नहीं चाहता था. परन्तु फ्रांसीसियों को किराये पर कुछ टट्टू भी मिल गये थे या फ्रांसीसी उनको बाहर से ले आये थे। विद्रोहियों को फ्रांस और बेल्जियम को गाडियों द्वारा कार्यस्थल पर पहुँचाया जाता था। जर्मन नागरिकों से छीने गये हथियारों को उन्हें दे दिया था और जो हथियार जर्मन नागरिकों से छीनती थी फ्रांसीसी अधिकारियों द्वारा उन्हें पुनः सौंप दिये जाते थे। पीछे चलकर पुलिस के हथियार भी छीन लिये गये और उसके काम में तरह-तरह की रुकावटें डाली गयीं। इस आन्दोलन द्वारा उद्घोषित राइनलैंड गणराज्य को फ्रांसीसी हाई कमिश्नर ने मान्यता भी दे डाली।

तीन साल तक पार्थक्यवादी आन्दोलन का भूत बनाये रखा गया। किन्तु 1923 के अन्त में परिस्थिति बिल्कुल बिगड़ गयी। वेवेरिया के एक भाग पालेटिनेट में एक घटना ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया कि फ्रांस और ब्रिटेन में पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद का खतरा पैदा हो गया। 24 अक्टूबर, 1923 को पेलेटिनेट को एक स्वायत्त राज्य घोषित किया गया और स्थानीय फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने इसको एक स्वतन्त्र सरकार के रूप में मान्यता भी दे दी। 'नयी सरकार' ने विधिवत अपना शासन आरम्भ किया। ब्रिटिश-सरकार को यह बात बहुत बुरी लगी। जब यह विवाद राइन भूमि में स्थित मित्रराष्ट्रों के उच्च आयोग में उठायी गयी तो फ्रांस और बेल्जियम ने ब्रिटेन के विरोध में मत दिये। ब्रिटिश-सरकार ने अपने वाणिज्य-दूत को आन्दोलन की यथार्थता की जाँच करने को कहा। इस जाँच से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि आबादी का प्रबल बहुमत पार्थक्यवादी आन्दोलन के विरुद्ध है। ब्रिटिश सरकार फ्रांसीसियों पर दबाव डालने लगी। उसने इस बात को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जाने की धमकी दी और अपने प्रतिनिधियों को आदेश दिया कि वे पार्थक्यवादी को किसी प्रकार की मदद न दें। फ्रांस के सामने कोई उपाय नहीं रह गया। उसे अन्त में झुकना पड़ा और सारा आन्दोलन कुछ ही समय में समाप्त हो गया। पिरमासेंस नामक स्थान में पंद्रह विद्रोहियों को कत्ल कर दिया गया। फरवरी, 1924 के बाद राइन-भूमि में पार्थक्यवादी आन्दोलन मिट गया। इस प्रकार ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो चुका था, जिसके कारण जर्मनी सम्बन्धी कई घटनाओं को लेकर फ्रांस और ब्रिटेन में मतभेद हो सकता था।

क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर दोनों के बीच मतभेद होने के और भी कई कारण थे। युद्ध के तुरन्त बाद ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार काफी उन्नति कर रहा था। लेकिन, 1920 के बाद से स्थिति ऐसी नहीं रही और ब्रिटेन का निर्यात गिरने लगा। इसका असर ब्रिटेन के आर्थिक जीवन पर पड़ा। ब्रिटेन का आर्थिक उत्थान तभी सम्भव था जब विदेशी बाजारों में उसके मालों की बिक्री हो। जर्मनी ब्रिटिश मालों का सबसे बड़ा खरीददार था। अतः ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति तभी सुधर सकती थी जब उसके खरीददार देश जर्मनी की आर्थिक स्थिति अच्छी हो जाय। ब्रिटिश अधिकारी क्षतिपूर्ति की समस्या पर फ्रांस का समर्थन करने के लिए तैयार थे। लेकिन उनका विचार था कि क्षतिपूर्ति की अदायगी के पूर्व जर्मनी का आर्थिक पुनरोत्थान आवश्यक है।

फ्रांस का विचार कुछ दूसरा ही था। युद्ध में फ्रांस को काफी नुकसान उठाना पड़ा। उसकी कृषि-योग्य भूमि और औद्योगिक केन्द्र बर्बाद हो चुके थे। फ्रांस के सामने इन्हीं बर्बादियों का पुनर्निर्माण करना था। वर्साय-सन्धि के अनुसार जर्मनी से हरजाना वसूल करके ही उन क्षेत्रों को पुनः बसाना था। लेकिन मई, 1921 तक फ्रांस को क्षतिपूर्ति के खाते में प्रायः कुछ नहीं मिला था। इसलिए जब जर्मनी ने मुहलत की माँग की तब फ्रांस की यह बात बिल्कुल पसन्द नहीं आयी। फ्रांसीसी नेताओं का कहना था कि जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयों का कारण क्षतिपूर्ति की समस्या नहीं, बल्कि आर्थिक व्यवस्था का कुशासन और जर्मन लोगों की बदनामी है। उनकी राय से क्षतिपूर्ति की अदायगी शीघ्र होनी चाहिए और जर्मनी को मुहलत नहीं मिलनी चाहिए।

ऐसी स्थिति में जब 14 नवम्बर, 1922 को जर्मनी ने तीन-चार साल के लिए पूर्ण मुहलत की माँग की तो यह अवश्यम्भावी हो गया कि मित्रराष्ट्रों के बीच, जो लन्दन में एक सम्मेलन पर इकट्ठे हुए थे, गहरा मतभेद हो जाय। पोअन्कारे इस बात पर तुला हुआ था कि चूँकि जर्मनी अपने दायित्वों को निभाने में असफल रहा, इसलिए उसके विरुद्ध कड़ी कार्रवाईं की जाय। इसके विपरीत ब्रिटिश प्रधानमंत्री बोनर लॉ का कहना था कि रूर पर अधिकार जमा लेने से क्षतिपूर्ति की समस्या हल नहीं हो सकती। जर्मनी को अपराधी नहीं घोषित किया जा सकता है क्योंकि क्षतिपूर्ति-आयोग के आदेशानुसार ही उसने अदायगी कर दी है। फ्रांसीसी प्रतिनिधि का कहना था कि जर्मनी ने निर्धारित मात्रा में फ्रांस को लकड़ी नहीं भेजी है। जनवरी, 1923 में पेरिस-सम्मेलन में क्षतिपूर्ति आयोग ने बहुमत से ब्रिटिश प्रतिनिधि का मत विरोध में होते हुए भी, यह घोषित कर दिया कि "जर्मनी ने जान-बूझकर पूर्ति नहीं की है।" इस घोषणा की महती सन्धि की उस धारा में निहित थी, जिसके अनुसार मित्रराष्ट्रों को यह अधिकार था कि यदि जर्मनी जान-बूझकर क्षतिपूर्ति नहीं करे तो सम्बन्धित सरकारें आवश्यक कदम उठा सकती हैं। 10 जनवरी, 1923 को फ्रांसीसी सरकार ने यह ऐलान के साथ-साथ क्षतिपूर्ति की समस्या का दूसरा चरण समाप्त हुआ।

रूर-आधिपत्य से डावस योजना तक : रूर के आधिपत्य से क्षतिपूर्ति-नाटक का सबसे दुःखद दृश्य प्रारम्भ होता है। इस कुकार्य में फ्रांस ने ब्रिटिश-सरकार का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। लेकिन पोअन्कारे को इसमें सफलता नहीं मिली और 11 जनवरी, 1923 को फ्रांसीसी और बेल्जियम सेनाएँ रूर में प्रवेश कर गयीं। रूर आधिपत्य के कानूनी औचित्य पर विचार करना ही बेकार है क्योंकि दुष्परिणामों को देखते हुए कानूनी पहलू का महत्व गौण पड़ जाता है। पोअन्कारे ने घोषणा की कि रूर पर कब्जा करने का फ्रांस का कोई इरादा नहीं है, किन्तु क्षतिपूर्ति न मिलने तक हम उस पर अधिकार रखना चाहते हैं। यद्यपि अधिकृत प्रदेश की लम्बाई पचास मील और चौड़ाई अट्ठाईस मील ही थी, किन्तु यह जर्मनी का औद्योगिक केन्द्र था। इस इलाके में अस्सी प्रतिशत कोयला, लोहा और इस्पात का उत्पादन होता था। इसमें नौ नगर थे और जर्मनी की आबादी की दस प्रतिशत जनता यहाँ निवास करती थी।

रूर पर आधिपत्य के बाद जर्मन के सामने दो मार्ग थे : या तो वह फ्रांस की माँगों को स्वीकार कर ले अथवा आधिपत्याधिकारियों के साथ असहयोग करके निष्क्रिय प्रतिरोध (passive resistance) करे। जर्मन सरकार को यह विश्वास था कि यदि वह फ्रांस के साथ असहयोग कर देती है तो अधिक दिनों तक आधिपत्य

कायम नहीं रहेगा। इसलिए फ्रांस और बेल्जियम को दी जाने वाली क्षतिपूर्ति सारी बन्द कर दी गयी। जर्मनी ने ब्रुसेल्स और पेरिस में स्थित अपने राजदूतों को वापस बुला लिया। सरकार ने अधिकृत क्षेत्र के निवासियों को यह आदेश दिया कि वे शत्रु के साथ सहयोग नहीं करें। उसे किसी प्रकार का कर न दें। रेलवे और डाक-तार कर्मचारियों ने फ्रांसीसी तथा बैल्जियम अधिकारियों का आज्ञा पालन करने से इन्कार कर दिया। जर्मन सरकार ने हड़तालियों और सत्याग्रहियों को आर्थिक सहायता भी प्रदान की।

उग्र फ्रांसीसी राष्ट्रवाद का नेता पोअन्कारे भी फौलादी तत्वों का बना हुआ पुरुष था। वह ईंट का जवाब पत्थर से देना जानता था। उसने समूचे इलाके पर घेरा डाल दिया। रूर प्रदेश की सारी जर्मन चीजें जब्त कर ली गयीं। सत्याग्रहियों और बड़े-बड़े उद्योगपतियों को कैद कर लिया गया। सैकड़ों नागरिकों को रूर से निकाल दिया गया। अधिकृत क्षेत्र से तैयार माल भेजना बन्द कर दिया गया। रूर-क्षेत्रों के सभी नगरों के मेयरों को कैद कर लिया गया। मारपीट और हत्याएँ तो मामूली बात हो गयीं। आधिपत्याधिकारियों की कार्रवाई से 76 जर्मन मारे गये और घायल हुए। जर्मनी पर जो जुर्म ढाये गये वह किसी भी सभ्य सरकार के लिए लज्जा का विषय है। जर्मनी के ऊपर इसका परिणाम बहुत बुरा हुआ। जर्मनी का सारा आर्थिक जीवन ठप्प पड़ गया। बहुत-से लोग बेकार हो गये। गरीबी और भूखमरी से लोग तबाह होने लगे। राजकोष बिल्कुल खाली हो गया। मार्क की कीमत दिन-प्रतिदिन गिरती गयी। विदेशी आधिपत्य के कुछ समय पूर्व ही मार्क का मूल्य गिरकर प्रति पौंड पैंतीस हजार हो चुका था। 1923 के अन्त तक इसका मूल्य एक पौंड के मुकाबले में पचास हजार अरब तक बढ़ गया जर्मनी बर्बाद हो गया। सरकार ने भी मुद्रास्फीति को रोकने का प्रयास नहीं किया क्योंकि वह जानती थी कि राष्ट्रीय आमदनी से उनको कोई लाभ होने वाला नहीं है। सारे पैसे क्षतिपूर्ति कोष में चले जायेंगे।

मुद्रास्फीति से सबसे अधिक घाटा मध्यम वर्ग को हुआ। धनिकों और उद्योगपतियों को तो इससे लाभ ही हुआ। श्रमिक वर्ग को भी किसी प्रकार की हानि नहीं उठानी पड़ी। परन्तु मध्यम वर्ग को इससे काफी हानि हुई। उन्हें सर्वहारा वर्ग की कोटि में आना पड़ा। जर्मनी के यहूदी निवासियों ने भी मुद्रास्फीति से काफी मुनाफाखोरी की। आगे चलकर जर्मनी में जो यहूदी-विरोधी आन्दोलन चला उसका एक प्रमुख कारण यह भी था। यह भी कह देना कोई असंगत नहीं होगा की यही तबाह और बर्बाद मध्यमवर्ग एक दिन हिटलर के राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी का सबसे बड़ा समर्थक हुआ। बर्बादी होने पर भी जर्मन जनता असहयोग आन्दोलन में अपनी सरकार का साथ देती रही।

असहयोग आन्दोलन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। रूर जर्मनी के आर्थिक जीवन का केन्द्र था और इससे आधिपत्य का असर देश के अन्य भागों पर पड़ रहा था। मार्क की कीमत गिरती चला जा रही थी। असहयोग आन्दोलन असफल रहा और इसका विरोध होने लगा। जर्मन सरकार ने फ्रांस से वार्ता शुरू की और रेलों को बन्धक रखकर अदायगी का वादा किया। लेकिन पोअन्कारे की माँग थी कि जर्मनी को सर्वप्रथम अपना आन्दोलन समाप्त करना होगा। 12 अगस्त, 1963 को चान्सलर ने कुनो से इस्तीफा दे दिया और स्ट्रेस्मेन के नेतृत्व में एक नया मन्त्रिमंडल बना। 26 सितम्बर को उसने आन्दोलन समाप्त किये जाने की घोषणा कर दी। निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन के पक्ष में जो अध्यादेश जारी किये गये थे, वापस ले लिये गये। पोअन्कारे अपनी जीत पर फूला नहीं समाया। यह क्षतिपूर्ति नाटक का तीसरा दृश्य था।

रूर-आधिपत्य के फलस्वरूप ब्रिटेन और फ्रांस के बीच तनाव तथा मनमुटाव और भी अधिक बढ़ गया। ब्रिटेन ने प्रारम्भ में इस कार्रवाई का विरोध किया था और जब इस विरोध के बावजूद पोअन्कारे रूर में अपनी सेना भेजने लगा तो ब्रिटिश सरकार ने फ्रांस का एकदम साथ नहीं दिया। रूर में फ्रांसीसी कठोरता और अत्याचार के कारण आंग्ल-फ्रांसीसी सम्बन्ध और भी खराब हो गया।

जर्मनी में पार्थक्यवादी आन्दोलन को फ्रांस द्वारा प्रोत्साहित करने के कारण भी ऑग्ल-फ्रांसीसी सम्बन्ध में मतभेद पैदा हुआ। फ्रांस द्वारा प्रोत्साहित पेलिटिनेट के पार्थक्यवादी आन्दोलन का अन्त ब्रिटिश-विरोध के कारण ही हुआ था। जब फ्रांस ने रूर पर आधिपत्य जमा लिया तो इसके फलस्वरूप 9 नवम्बर, 1923 को जनरल लूडेनडोर्फ के नेतृत्व में इसी प्रकार का एक दूसरा आन्दोलन बवेरिया में उठ खड़ा हुआ। हिटलर लुडेनडोर्फ का बहुत बड़ा सहयोगी था। यह विद्रोह फ्रांसीसी आधिपत्य के विरुद्ध बर्लिन-सरकार की नीति के विरुद्ध हुआ था। यद्यपि इस विद्रोह को तत्परता से साथ दबा दिया गया, किन्तु इसका ऐतिहासिक महत्व था। कारण इसका नेता एक ऐसा व्यक्ति था जिसका नाम संसार को कुछ दिनों के बाद बहुत बार सुनना था। यह व्यक्ति था एडोल्फ हिटलर। विद्रोह के अभियोग में हिटलर को कैद कर लिया गया। कैदखाने में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मेरा संघर्ष' (Mein Kampf) लिखी, जिसमें उसने राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक व्याख्या की। कुछ दिनों के बाद इसी व्यक्ति ने फ्रांस को रूर-आधिपत्य का मजा चखाया।

रूर आधिपत्य से जो भी लाभ-हानि हुई, इसका तात्कालिक परिणाम बहुत ही महत्वपूर्ण था। इसके फलस्वरूप जर्मनी में, खासकर पूँजीपति वर्ग के लोगों का ह्रदय-परिवर्तन होने लगा। पहले इन लोगों ने क्षतिपूर्ति की अदायगी में सरकार के साथ असहयोग की नीति का अनुसरण किया था, लेकिन रूर-आधिपत्य के फलस्वरूप जब जर्मनी की आर्थिक दशा गिरने लगी, उसके उद्योग-धन्धे जब्त कर लिये गये और मार्क की कीमत गिरने लगी तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे कि किसी तरह क्षतिपूर्ति की अदायगी करके रूर-क्षेत्र को मुक्त करना आवश्यक है। जर्मनी की जनता ने भी समझा कि फ्रांस उनसे बिना क्षतिपूर्ति लिए छोड़नेवाला नहीं है। इस प्रकार जनता के ह्रदय परिवर्तन के फलस्वरूप जर्मन सरकार के लिए क्षति-पूर्ति की अदायगी में काफी सहूलियत हो गयी।

रूर आधिपत्य का प्रभाव फ्रांस पर भी पड़ा। फ्रांसीसी जनता ने यह अनुभव किया कि रूर पर अधिकार एक भयंकर भूल थी। जर्मनी का दिवाला निकालने से कोई लाभ नहीं था। फ्रांस में भी आर्थिक संकट उत्पन्न हो रहा था और फ्रैंक की कीमत घट रही थी। फ्रांस का पुनर्निर्माण क्षतिपूर्ति की रकम से ही सम्भव था और इस रकम को शक्ति के बल पर वसूलना आसान नहीं था। अतः फ्रास में क्षतिपूर्ति वसूल करने के दूसरे उपायों पर जोर दिया जाने लगा। दूसरे शब्दों में फ्रांस अब नरम नीति को अपनाने के लिए तैयार था। सम्भवतः इसिलए 1924 के फ्रांसीसी चुनाव के फलस्वरूप उग्र नीति का सबसे बड़ा समर्थक पोअन्कारे का मंत्रिमंडल गिर गया और उसकी जगह समझौते की नीति का समर्थक हेरियों मन्त्रिमंडल ने ली।

डावस योजना : फ्रैंको जर्मनी सम्वन्ध के निरंतर बिगड़ने से ब्रिटिश सरकार काफी चिन्तित थी। वह कुछ ऐसा उपाय करना चाहती थी कि जिससे दोनों देशों का सम्बन्ध कुछ अच्छा हो जाय। 24 अक्टूबर, 1923 को जर्मनी ने क्षतिपूर्ति आयोग को एक पत्र भेजा। जर्मनी ने यह विचार व्यक्त किया कि वह क्षतिपूर्ति की अदायगी के लिए तैयार है। लेकिन, उसने आयोग से यह प्रार्थना की कि वह उसकी आर्थिक क्षमता का पता लगाये कि वह किस प्रकार क्षतिपूर्ति को अदा कर सकता है। इस दिशा में ब्रिटिश-सरकार पहले ही तत्पर थी। उसने अमरीकी सरकार से अनुरोध किया कि वह जर्मनी आर्थिक क्षमता को पता लगाने में सहयोग दे। अमरीकी सरकार इस प्रस्ताव पर राजी हो गयी। फलस्वरूप दिसम्बर, 1923 में क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी की आर्थिक स्थिति की जाँच के लिए दो समितियों की स्थापना की। पहली समिति के अध्यक्ष एक अमरीकी चार्ल्स टी. डावस था और उन्हीं के नाम पर इस समिति को **डावस-समिति** कहते हैं। इस समिति में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, और बेल्जियम के दो-दो प्रतिनिधि थे। जर्मनी बजट को सन्तुलित करना तथा जर्मन मुद्रा का स्थिरीकरण करना, समिति का मुख्य काम था। दूसरी समिति में, जिसका मुख्य काम जर्मनी द्वारा आयात किये गए साधनों का मूल्यांकन करना तथा उसको वापस मँगाने के साधनों पर विचार करना था, उपर्युक्त देशों के एक-एक प्रतिनिधि थे। इसके अध्यक्ष ब्रिटेन के रेजिनाल्ड मैकन्ना थे। 14 जनवरी,

1924 को इन समितियों ने अपना काम पेरिस में शुरू किया। ध्यान देने की बात है कि इन दोनों समितियों के सदस्य राजनीतिज्ञ नहीं अपितु अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ थे और इनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ की जाती थीं। विशेषज्ञों की दो समितियाँ नियुक्त हो जाने पर क्षतिपूर्ति समस्या का चौथा अध्याय प्रारम्भ होता है।

क्षतिपूर्ति समस्या की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि यह मूलतः एक आर्थिक प्रश्न था किन्तु अभी तक इसका राजनीतिक समाधान (आर्थिक नहीं) ढूँढ़ा गया था। डावस-समिति ने इस कठिनाई को समझा और उसने जो रिपोर्ट तैयार की उसका आधार आर्थिक न कि राजनीतिक था। अप्रैल, 1924 की समिति ने अपनी सवा सौ पृष्ठों की रिपोर्ट क्षतिपूर्ति आयोग के समक्ष पेश कर दी। रिपोर्ट पेश होने के कुछ ही दिनों बाद फ्रांस में आम चुनाव हुआ जिसके फलस्वरूप पोआन्कारे-मन्त्रिमंडल का पतन हो गया और उसके बाद 11 मई, 1924 को हेरियो फ्रांस का प्रधानमंत्री बना। क्षतिपूर्ति-समस्या के लिए यह एक अच्छा शकुन था, क्योंकि हेरियो समझौता की नीति का समर्थक था।

डावस-समिति के सामने मुख्य प्रश्न जर्मन मुद्रा को स्थिर करना था, क्योंकि इसके बिना जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी नहीं कर सकता था। इस बात को ध्यान में रखकर डावस समिति ने जो रिपोर्ट पेश की उसके सारांश निम्नलिखित हैं - (1) पचास वर्ष के लिए एक प्रचलन बैंक की स्थापना की जाय जो नयी मुद्रा (रीशमार्क) को जारी करे। बैंक पर सात जर्मनी और सात विदेशियों का नियन्त्रण रहे। (2) जर्मनी को चार करोड़ का विदेशी कर्ज मिले, जिससे वह अपना मुद्रा-कोष कायम कर सके। (3) जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति का भुगतान मार्क में किया जाय तथा विदेशी मुद्राओं में इन रकमों का विनिमय कराने का उत्तरदायित्व मित्र-राष्ट्रीय सरकारों का रहे। (4) जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी के बन्धक रूप में चुंगी, शराब, तम्बाकू तथा चीनी पर कर से प्राप्त होनेवाली आय वार्षिक रूप में कर दिया। (5) आर्थिक क्षतिपूर्ति का भुगतान पाँच करोड़ पौंड से शुरू हो और धीरे-धीरे चार वर्ष की अवधि में बढ़कर एक अरब पौंड पहुँच जाय। (6) भविष्य का भुगतान आर्थिक प्रगति के अनुसार घटता या बढ़ता रहे। (7) जर्मनी के पास पर्याप्त आर्थिक साधन हैं। अगर उसके साथ सहानुभूति का बर्ताव किया जाय को वह क्षतिपूर्ति अदा करने में समर्थ हो सकता है। इस दृष्टि से रूर से अविलम्ब विदेशी सेना को हटा लेना आवश्यक है। (8) योजना को शीघ्र कार्यान्वित किया जाय।

रिपोर्ट मिलने के दो दिनों के बाद क्षतिपूर्ति आयोग ने सिद्धान्त के रूप में समिति की सिफारिशें स्वीकार कर ली। इसी बीच मैकडोनल्ड और हेरियो में कूटनीतिक वार्तालाप होते रहे। यह तय हुआ कि डावस-योजना को विचारार्थ एक सम्मेलन में पेश किया जाय। जुलाई और अगस्त के महीनों में लन्दन में यह सम्मेलन होता रहा। 5 अगस्त को जर्मनी प्रतिनिधि के रूप में स्वयं स्ट्रेस्मैन आया और लन्दन में उसका काफी स्वागत हुआ। समझौते के इस नये वातावरण में डावस-योजना बिना अधिक कठिनाई के स्वीकार कर ली गयी। महीने के अन्त में जर्मनी रीहस्टाग (Rechstag) ने समझौते का अनुमोदन कर दिया और 1 सितम्बर को योजना लागू कर दी गयी। अक्टूबर में जर्मन ऋण जारी किया गया। आधी से अधिक रकम (ग्यारह करोड़ डालर) अमेरिका से मिली और एक चौथाई से भी अधिक ब्रिटेन से। शेष रकम अन्य देशों से मिली। नवम्बर के मध्य में फ्रांस और बैल्जियम की अन्तिम सेनाओं ने रूर को छोड़ दिया। राजनीतिक गतिरोध समाप्त हुआ और यूरोप में आर्थिक स्थिरता आने की सम्भावना बढ़ गयी।

डावस-योजना का मूल्यांकन : डावस योजना युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे बड़ी सफलता थी। इसके तीन कारण थे। सबसे पहले, उसमें माँगों क़ो उतना ही सीमित रखा था जितना परिस्थिति के अनुकूल जर्मनी चुका सकता था। फिर, योजना में विदेशी विनिमय का उत्तरदायित्व लेनदारों पर ही छोड़ दिया गया था। सवसे बड़ी बांत तो यह थी कि इस जटिल समस्या को क्षतिपूर्ति आयोग के क्षेत्र से हटाकर आर्थिक विशेषज्ञों की एक समिति को सौंप दिया गया, जिसने इसका हल एक निष्पक्ष राजनीतिक तथा व्यापारिक दृष्टिकोण से किया। किन्तु डावस-योजना में गम्भीर दोष भी थे। इसमें वार्षिक अदायगी तो निश्चित

की गयी थी, लेकिन इनमें न तो वार्षिक भुगतान की अवधि ही निश्चित थी और न क्षतिपूर्ति की कुल राशि का ही उल्लेख था। इस कारण जर्मनी को अपनी आर्थिक उन्नति में कम दिलचस्पी रह गयी, क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार के फलस्वरूप उसका दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त डावस-योजना के फलस्वरूप जर्मनी को विदेशी कर्ज लेने की आदत पड़ गयी। एक ऋण की सफलता के बाद उसने खूब ऋण लिये। विदेशी ऋण के कारण जर्मनी ने अपनी अनेक आर्थिक कठिनाइयों को सम्हाल लिया। लेकिन, यह विदेशी ऋण भावी आर्थिक दिवालियापन का आधार भी बन गया।

डावस-योजना के विपक्ष में जो भी कहा जाय, किन्तु एक बात तो निश्चित है कि इसके फलस्वरूप तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ। लन्दन-सम्मेलन में जो अनुकूल वातावरण तैयार हुआ उसके कारण मित्रराष्ट्रों और जर्मनी तथा ब्रिटेन और फ्रांस के बीच एक सौहार्द्र की भावना का सूत्रपात हुआ। क्षतिपूर्ति का भुगतान भी ठीक समय पर होता रहा यद्यपि उस समय बहुत थोड़े ही लोग यह अनुभव करते थे कि जर्मनी अमेरिका से पैसा लेकर क्षतिपूर्ति अदा कर रहा है। क्षतिपूर्ति नाटक का यह एक बहुत ही हास्यास्पद दृश्य था। जर्मनी अमेरिका से कर्ज लेकर क्षतिपूर्ति का भुगतान करता और मित्रराष्ट्र उसी धन से अपना अमरीकी कर्ज भी चुकाते। अमेरिका का डालर घूमते-फिरते फिर अमेरिका ही आ पहुँचता। लेकिन, डावस-योजना की सबसे बड़ी देन यह है कि इसने सुरक्षा की आशा पैदा करने में काफी योग दिया। योजना स्वीकार हो जाने के बाद मैकडोनल्ड तथा हैरियो सितम्बर के महीने में राष्ट्रसंघ के अधिवेशन में सम्मलित होने के लिए जेनेवा गये और वहाँ उन्होंने एक दूसरी महत्वपूर्ण समस्या - फ्रांस की सुरक्षा - माँग का समाधान निकालने के लिए महत्वपूर्ण प्रयत्न किया। जेनेवा प्रोटोकोल तथा लोकार्नो- सन्धियाँ इन्हीं प्रयासों के परिणाम थीं। इन बातों को देखकर कम-से-कम उस समय के लिए यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि रूर-आधिपत्य अभिशाप के रूप में एक वरदान सिद्ध हुआ।

यंग-योजना : इसमें कोई संदेह नहीं कि डावस-योजना को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। जर्मनी बराबर क्षतिपूर्ति का भुगतान करता रहा और किसी को किसी से कोई विशेष शिकायत नहीं रही। पर डावस-योजना की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें न तो वार्षिक भुगतान की अवधि ही निश्चित की गयी थी और न क्षतिपूर्ति की कुल राशि का उल्लेख ही था। क्षतिपूर्ति समस्या में अब असल प्रश्न यही था कि जर्मनी का पूर्ण दायित्व तथा इसके भुगतान की अवधि निश्चित कर दी जाय। लोकार्नो समझौते के हो जाने के बाद यूरोपीय राजनीति में सद्भावना का वातावरण फैल रहा था। स्ट्रेस्टमेन राइन-भूमी को खाली करने के फिक्र में था और इसके लिए वह फ्रांसीसी और ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों से बातचीत कर रहा था। सितम्बर, 1928 में राष्ट्रसंघ एसेम्बली के अधिवेशन के दिनों में जर्मनी क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित राज्यों के बीच औपचारिक वार्ता के परिणामस्वरूप ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, इटली, जापान और जर्मनी के प्रतिनिधि इस बात पर सहमत हो गए कि राइन-भूमि को शीघ्र ही खाली करने के लिए वार्ताएँ प्रारम्भ की जायें और क्षतिपूर्ति समस्या के सम्पूर्ण और निश्चित समाधान के लिए अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की जाय। इस निर्णय के अनुसार एक नयी समिति बनायी गयी जिसने 11 फरवरी, 1929 से अपना काम पेरिस में शुरू किया। समिति का प्रथम अधिवेशन अमरीकी अर्थशास्त्र विशेषज्ञ यंग के सभापतित्व में हुई। उन्हीं के नाम पर इसका नाम 'यंग-समिति' पड़ा।

चार महीने के निरंतर परिश्रम के बाद 7 जून 1929 को समिति ने अपनी चालीस पृष्ठों की रिपोर्ट तैयार की और उसको क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित सरकारों के सामने रखा। यंग योजना की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित थीं - (1) क्षतिपूर्ति का भुगतान 56 वर्षों में हो। इस अवधि के प्रथम 37 वर्षों में वार्षिक अदायगी का औसत दस करोड़ पौंड होना चाहिए। डावस-योजना में अधिकतम राशि साढ़े बारह करोड़ पौंड थी। शेष भुगतान 12 वर्षो में हो। (2) प्रत्येक वार्षिक अदायगी का एक-तिहाई हिस्से का भुगतान बिना किसी शर्त के

हो। इसको किसी हालत में स्थगित नहीं किया जाय। शेष के लिए यह शर्त रखी गयी कि विनिमय कठिनाइयाँ उत्पन्न होने पर जर्मनी अधिक-से-अधिक दो वर्षों तक अदायगी को स्थगित कर सकता है। (3) वार्षिक अदायगी जर्मनी के रेलवे और सरकारी बजट से हो। (4) सितम्बर, 1923 के बाद राइन-क्षेत्र से अधिकार हट जाय। (5) एक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक की स्थापना की जाय जिसका काम क्षतिपूर्ति भुगतानों को प्राप्त करना, उतना वितरण करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों को जारी करना हो।

डावस-योजना का प्रयास था कि क्षतिपूर्ति-समस्या को राजनीतिक क्षेत्र से हटाकर आर्थिक क्षेत्र में लाया जाय। यंग योजना इस कार्य में एक कदम और आगे चला गया। इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक की स्थापना की। बैंक पर किसी प्रकार का राजनीतिक नियन्त्रण नहीं रखा गया। इसका प्रबन्ध यंग समिति में प्रतिनिधित्व करनेवाले सात राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंकों की संचालन समितियों को सौंपा गया। नयी योजना द्वारा वार्षिक अदायगियों तथा क्षतिपूर्ति की कुल रकम भी निश्चित हो गयी। क्षतिपूर्ति समस्या से अनिश्चितता का काल भी समाप्त हो गया। बाह्य नियंत्रण की प्रणाली हट गयी और जर्मनी को पूरा अधिकार प्राप्त हुआ। पूरी योजना एक आर्थिक संस्था को सौंप दी गयी जिसके प्रबन्ध में जर्मनी भी हिस्सा ले सकता था।

यंग-योजना पर विचार करने के लिए अगस्त, 1929 में सम्बन्धित राज्यों का एक सम्मेलन हुआ। सम्मेलन को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस बार कठिनाई जर्मनी फ्रास की तरफ से नहीं अपितु ब्रिटेन की तरफ से डाली गयी। यंग-योजना में मित्र-राष्ट्रों के बीच क्षतिपूर्ति की रकम का जो बँटवारा हुआ था, वह 1920 के स्पा-समझौता से कुछ भिन्न था। इससे ब्रिटेन को कुछ घाटा हो रहा था और फ्रांस के प्रतिशत में काफी वृद्धि हो गयी थी। ब्रिटिश-प्रतिनिधि फिलिप स्नोडन को फ्रांस को मिली विशेष सुविधाएँ पसन्द नहीं आयीं। उसने माँग की कि स्पा-सम्मेलन में निश्चित की गयी प्रतिशत कायम रखा जाय। सम्मेलन में उसने बहुत कड़ा रूख अपनाया और अपनी मांगें बहुत कुछ पूरी करा लीं। 20 जनवरी, 1920 को संशोधन के साथ यंग योजना स्वीकार कर ली गयी और 17 मई को यह लागू कर दी गयी। इस प्रकार क्षतिपूर्ति समस्या का पाँचवा परिच्छेद समाप्त हुआ।

यंग-योजना के लागू होने से संसार के राजनीतिक वातावरण में काफी सुधार हुआ। राइन भूमि पर अधिकार समाप्त करने की बात चलने लगी। यंग योजना के लागू होने के छह सप्ताह बाद मित्रराष्ट्रों की अन्तिम सैनिक टुकड़ियों ने जर्मन की भूमि को छोड़ भी दिया। इस समय फ्रांसीसी विदेश-मंत्री ब्रियां 'संयुक्त यूरोपीय राज्य' (United State of Europe) की बात करने लगा। किन्तु यह एक भ्रम था।

जर्मनी में यंग-योजना का भी स्वागत नहीं हुआ। जर्मनी के बैंक के रीह अध्यक्ष डॉ० हजल्मार शाश्टने, जो, यंग समिति में जर्मन विशेषज्ञ रह चुका था, यह भविष्यवाणी करते हुए कि क्षतिपूर्ति की वार्षिक अदायगी जर्मनी की शक्ति के बाहर है अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। यंग योजना के स्वीकृत होने के पूर्व ही स्ट्रेस्मैन की मृत्यु हो गयी। लगभग उसी समय न्यूयार्क स्टाक-एक्सचेंज में तहलका मच गया। विश्वव्यापी आर्थिक संकट का चक्र घूमने लगा था। इसी समय जर्मनी में हिटलर की राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी जोर पकड़ रही थी। हिटलर यंग योजना की आलोचना करने लगा। यंग-योजना के अनुसार क्षतिपूर्ति की अदायगी 1988 में जाकर पूरी होती। यह कैसा न्याय है कि पूर्वजों के 'अपराध' का दण्ड भावी सन्तति को भोगना पड़े। नात्सियों ने यंग योजना पर जनमत लेने की माँग की। सरकार ने जनमत के लिए इन्तजाम कर दिया और एक छोटे बहुमत से योजना स्वीकृत हो गयी। लेकिन, घटना नात्सी लोगों के उत्थान की सूचक थी। 1930 के अन्तिम दिनों में जर्मन संसद रीहस्टाग के लिए चुनाव हुआ और नात्सी पार्टी एक सौ सीट जीत गयी। क्षतिपूर्ति समस्या का पूर्ण और अन्तिम समाधान दूसरी तरह से ही होना था।

हूवर-मुहलत : यंग-योजना के लागू होने के साथ क्षतिपूर्ति समस्या का छठा अध्याय शुरू होता है। योजना को लागू हुए अभी थोड़े ही दिन हुआ होगा कि सारा संसार एक अनिश्चित आर्थिक महप्रलय में डूब गया। इसके कारण पर अगले पृष्ठों में विचार किया जायगा, पर इसका प्रभाव क्षतिपूर्ति-समस्या पर पड़ना अवश्यम्भावी था। यह आर्थिक संकट जर्मनी में विशेष रूप से तीव्र था। इसके अनेक कारण थे। उस पर कर्ज का बहुत बड़ा बोझ था और पिछले पाँच वर्षों में उसने ही सबसे अधिक ऋण लिये थे। डावस-योजना के स्वीकृत होने के बाद पाँच साल में जर्मनी ने चौदह सौ पचास करोड़ रुपये विदेशों से कर्ज लिये थे, इसका बड़ा हिस्सा अमेरिका द्वारा दिया गया। 1929 में अमेरिका ने फैसला किया की जर्मनी को अब भविष्य में कोई कर्ज न दिया जाय। इस नीति-परिवर्तन के कई कारण थे। न्यूयार्क स्टॉक-एक्सचेंज में तहलका मचने का कारण अमेरिका स्वयं आर्थिक संकटों से घिर गया था। अमेरिका को अपने पहले के दिये गये कर्ज वसूलने में दिक्कतें हो रही थीं। यूरोप के विभिन्न देशों में राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि उनकी साख पर भरोसा नहीं किया जा सकता था। इस समय तक कीमतें गिरनी शुरू हो गयीं थी। सब जगह सिक्के का अनुभव होने लगा था। अमेरिका को स्वयं इस बात की आवश्यकता थी कि वह अपने आर्थिक संकट को टालने के लिए कार्यकारी उपाय अपनाये। इस दिशा में यह सम्भव नहीं था कि वह यूरोप के विभिन्न राज्यों को कर्ज देता रहे। अमेरिका के इस नीति-परिवर्तन का परिणाम जर्मनी के लिए बड़ा भयंकर सिद्ध हुआ। वहाँ की आर्थिक व्यवस्था एकदम छिन्न-भिन्न हो गयी। जर्मनी का बजट बिल्कुल असन्तुलित हो गया। उसको क्षतिपूर्ति, कर्ज और उसका सूद देना था। लेकिन वह भुगतान करे तो कहाँ से ? जर्मनी में घोर आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। कल-कारखाने बन्द होने लगे। बेकारी की समस्या बढ़ने लगी। जर्मन सरकार के सामने वे सारे जटिल प्रश्न उपस्थित थे।

इस संकट का सामना करने के लिए जर्मनी ने ऑस्ट्रिया के साथ मिलकर एक चुंगी संघ कायम करने का प्रयास किया, परन्तु यह योजना फ्रांस और उसके साथी राज्यों को फूटी आँख नहीं सुहायी। इस लोगों ने इसका जबरदस्त विरोध किया। उसका कहना था कि प्रस्तावित संघ शान्ति-सन्धियों के विरुद्ध है। इस बात को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भेजा गया और न्यायालय ने अपना निर्णय फ्रांस के पक्ष में देकर चुंगी संघ निर्माण को रोकवा दिया। इसी समय आस्ट्रिया की सबसे बड़ी गैर-सरकारी बैंक क्रेडिट आन्सटाल्ट का दिवाला निकल गया। इस दिवालियापन का आतंक जर्मनी में फैला। विदेशी कर्जदारों ने शीघ्र ही अपने ऋणों का तकाजा करना शुरू किया। तीन सप्ताह के भीतर ही जर्मनी के रीह-बैंक से पाँच करोड़ पौंड का सोना निकाल लिया गया। स्वयं जर्मन लोगों में तहलका मच गया। प्रसिद्ध जर्मन डार्मस्टेडर एण्ड नेशनल बैंक से सब अपनी-अपनी रकम निकालने लगे। एक सप्ताह के बाद बैंक बन्द हो गया। अगले दिन सरकार ने अध्यादेश जारी करके सभी बैंकों और स्टॉक-एक्सचैंन्जों को बन्द कर दिया। ऐंसा प्रतीत होने लगा कि सारा जर्मनी ही दिवालिया हो जायगा।

ऐसी संकटकालीन स्थिति को देखते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने जून, 1930 को विश्व के सामने एक वर्ष की मुहलत का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का आशय था कि अमेरिकी सरकार विदेशी सरकारों से अपना पैसा वसूल करना एक वर्ष के लिए इस शर्त पर स्थगित कर सकती है कि सभी अन्तर्सरकारी कर्ज जिसमें क्षतिपूर्ति-कर्ज भी शामिल रहे, की वसूली इसी प्रकार स्थगित कर दी जाय। हूवर का प्रस्ताव मानो डूबते को तिनके सा सहारा था और इससे चारों ओर उत्साह फैल गया। किन्तु फ्रांस को यह प्रस्ताव बिल्कुल पसन्द नहीं आया। फ्रांस को जितना युद्ध-कर्ज चुकाना था उससे भी अधिक उसे क्षतिपूर्ति की रकम लेनी थी। उसकी इच्छा थी कि क्षतिपूर्ति का भुगतान जारी रहे। जर्मनी के प्रति विश्वव्यापी सहानुभूति देखकर फ्रांस जल रहा था। उसके विचार में हूवर-मुहलत एक ऐसा षडयन्त्र था, जो जर्मनी में अमेरिकी पूँजीपतियों की साख बनाये रखने के लिए रचा गया था। उसकी दृष्टि में मुहलत का मतलब क्षतिपूर्ति को समाप्त करने

की दिशा में पहला कदम था। इसलिए फ्रांस ने हूवर-प्रस्ताव का घोर विरोध किया। पेरिस और वांशिगटन के बीच तारों का ताँता लग गया। आर्थिक विशेषज्ञ एक देश से दूसरे देश में घूमने लगे। जुलाई, 1931 में लन्दन में सात सम्बन्धित राज्यों का सम्मेलन हुआ और यह तय किया गया कि जर्मनी को कर्ज देना बन्द नहीं किया जाय। लेकिन, फ्रांस अपने विषय पर राजी होने को तैयार नहीं था। फ्रांसीसी प्रधानमंत्री दौड़े हुए वाशिंगटन गये। वहाँ अमेरिकी सरकार से एक स्थायी समझौता हुआ। यह तय हुआ कि यंग-योजना द्वारा निर्धारित बशर्त भुगतान को जर्मनी चुकाता रहे और भविष्य में कोई मुहलत बिना फ्रांस की राय लिये नहीं दी जाये। इस शर्त पर हूवर योजना फ्रांस द्वारा स्वीकारं कर लिया गया। इस शर्त को मनवाने में पन्द्रह दिन लग गये और इस विलम्ब के कारण हूवर-योजना से जो लाभ होना चाहिए था नहीं हो सका।

लुसान-सम्मेलन और क्षतिपूर्ति का अन्त : आर्थिक संकट के समय जर्मनी की राजनीति तीव्र गति से मोड़ ले रही थी। वहाँ राष्ट्रीय भावना जोर पकड़ रही थी और जर्मन-जनता मित्रराष्ट्रों के सम्मुख झुककर प्रत्येक बात को सुगमता से स्वीकार करने के लिए अब तैयार नहीं थी। हिटलर के नेतृत्व में नात्सी-पार्टी का तीव्र गति से उत्थान हो रहा था। वर्साय-सन्धि का अन्त करना इस पार्टी का मुख्य लक्ष्य था। जर्मनी से किसी भी सरकार के लिए अब क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर झुकना देशद्रोह समझा जाता था। इस राजनीतिक और आर्थिक संकट के पृष्ठाधार में जर्मन सरकार ने देखा की हुवर-मुहलत के समाप्त हो जाने के बाद क्षतिपूर्ति का भुगतान उसके लिए सम्भव नहीं हो सकेगा। अतः, नवम्बर, 1931 में जर्मनी सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से यह अनुरोध किया कि वह इस बात की जाँच करे कि हूपर-मुहलत की समाप्ति के बाद जर्मनी क्षतिपूर्ति देने की स्थिति में रहेगा या नहीं। बैंक की समिति ने जाँच-पड़ताल के बाद यह रिपोर्ट दी कि जर्मनी वर्तमान स्थिति में क्षतिपूर्ति का भुगतान करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। इस आधार पर जर्मन चांसलर ब्रुनिंग ने घोषणा की कि गम्भीर आर्थिक स्थिति के कारण ज़र्मन क्षतिपूर्ति की अदायगी नहीं कर सकता। इस समय तक ब्रिटेन आर्थिक संकटों के चंगुल में फँसा था। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की थी कि हूवर-मुहलत के समाप्त होने के पूर्व क्षतिपूर्ति समस्या पर किसी प्रकार समझौता कर लिया जाय। इसके अतिरिक्त सारा संसार आर्थिक कठिनाइयों से घिरा पड़ा था, इसका भी कोई उपाय निकालना था। इन सब प्रश्नों को तय करने के लिए 16 जून, 1932 को लुसान में सम्बन्धित राज्यों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसको लुसान-सम्मेलन कहते हैं।

जर्मन चांसलर पहले ही घोषणा कर चुका था कि जर्मनी क्षतिपूर्ति देने की स्थिति में नहीं है। लेकिन फ्रांस सार्वजनिक रूप से इस 'अवश्यम्भावी' को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। लुसान-सम्मेलन में जर्मनी ने क्षतिपूर्ति-नाटक को समाप्त करने की माँग की। लेकिन फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं हुआ। एक यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि क्षतिपूर्ति की कुल रकम घटाकर पन्द्रह करोड़ पौंड कर दी जाय। राशि पाँच प्रतिशत बॉण्डों के रूप में अदा करने को कहा गया। शर्त के अनुसार तीन साल के बाद बॉण्डों को खुले बाजार में बेचा जा सकता था। ऐसा न होने पर पन्द्रह वर्षों के बाद वे रद्द समझे जायेंगे। दूसरे शब्दों में, यह क्षतिपूर्ति को पूर्ण रूप से समाप्त कर देना था।

फ्रांस और अन्य कुछ देश इसके लिए तैयार हो गये, पर उनका यह कहना था कि उन्हें स्वयं जो रकम अमेरिका और ब्रिटेन को देनी है उसमें भी हिसाब से कमी की जाय। अतः मित्रराष्टों की सरकारों ने लुसान में एक पृथक समझौता कर अपने आपसी कर्जों को भी रद्द कर दिया और यह शर्त लगा दी कि अमेरिका को उन्हें जो कर्ज चुकाना है उसका सन्तोषजनक समाधान हो जाने पर ही लुसान समझौते का अनुमोदन किया जाय। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह था कि यदि मित्रराष्ट्रों ने क्षतिपूर्ति के मामलों में जर्मनी को सुविधाएँ प्रदान की हैं, तो इसके बदले में मित्रराष्ट्रों को भी अमेरिका की तरफ से सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। एक बार फिर युद्ध-त्रऋण और क्षतिपूर्ति की समस्या को एक साथ जोड़ने की चेष्टा की गयी। लेकिन, अमेरिकी

सरकार इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुई। उसका कहना था कि क्षतिपूर्ति की समस्या एक समस्या है और युद्ध-ऋणों की समस्या दूसरी। दोनों को एक साथ नहीं जोड़ा जा सकता। अमरीकी संसद् ऋणों को रद्द करने के पक्ष मे नहीं थी। ऐसा करने से उसने साफ-साफ इन्कार कर दिया। इसी बीच हुवर-मुहलत समाप्त होने वाले था और अमरीकी कर्ज का प्रश्न व्यावहारिक रूप से समाने आ गया। दिसम्बर में कुछ हिचकिचाहट के बाद ब्रिटेन ने अपनी किस्त चुका दी। किन्तु, फ्रांस, बेल्जियम, हंगरी, पोलैंड, यूगोस्लाविया इत्यादि देशों ने इन्कार कर दिया। 1934 के आते-आते यह स्पष्ट हो,गया कि अमेरिका का कर्ज अब वापस नहीं लौटेगा। उधर लुसान का समझौता भी असफल हो चुका था। इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती थी कि कोई जर्मनी से क्षतिपूर्ति की रकम वसूल करने के लिए पुनः प्रयत्न करेगा। इतिहास का एक लम्बा अध्याय अब सदा के लिए बन्द होने वाला था। 1934 के अमरीकी कर्ज की अदायगी प्राय: बन्द ही हो गयी। इसलिए प्रोफेसर कार ने लिखा है कि 'वास्तव में 1933 में क्षतिपूर्ति और मित्रराष्ट्रों के आपसी कर्जों के नाटक का, जिसने कि संसार को दस से अधिक वर्षों से परेशान कर रखा था अन्तिम दृश्य समाप्त हो गया।'

जिस क्षतिपूर्ति-समस्या के कारण हजारों लोग तबाह और बर्बाद हो गये, सारे संसार में आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया, जर्मनी के हजारों व्यक्ति भिखमंगे हो गगे, उसका अन्त अत्यन्त ही असम्मानपूर्वक हुआ। 1932 के बाद न जर्मनी ने कोई क्षतिपूर्ति की रकम मित्रराष्ट्रों को दी और 1934 के बाद न अमेरिका ही अपने दिए कर्ज की रकम अन्य राज्यों से वसूल कर सका। उधर जर्मनी में नात्सी-पार्टी जोर पकड़ रही थी। इस पार्टी के नेता हिटलर ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी कि सारी क्षतिपूर्ति अदा कर दी गई है और भविष्य में किसी प्रकार की रकम अदा करने को वह तैयार नहीं है। इस प्रकार क्षतिपूर्ति की समस्या स्वयमेव हल हो गयी।

अध्याय 24

आर्थिक संकट

(The Chrisis, 1929-30)

आर्थिक संकट के कारण

1929-30 का आर्थिक संकट पूँजीवादी व्यवस्था का संकट था। उस समय संसार में केवल एक ही देश सोवियत संघ था जिसको इस विश्वव्यापी आर्थिक संकट का शिकार नहीं बनना पड़ा। अन्यथा सारे संसार में त्राहि-त्राहि मची हुई थी।

युद्धोत्तर अभिवृद्धि : प्रथम युद्ध के बाद अनेक देशों में आर्थिक दृष्टि से अभिवृद्धि का काल (period of boom) था। शांति स्थापित होने के साथ-साथ चीजों की माँग बढ़ने लगी और पुराने व्यापारिक संपर्क, जो युद्ध के समय टूट गये थे, पुनः स्थापित होने लगे। युद्ध के समय बहुत से उद्योग-धन्धे बन्द हो गये थे। शान्ति-स्थापना के बाद इन्होंने अपना काम फिर शुरू कर दिया। युद्ध के कारण असंख्य चीजें नष्ट हो गयी थीं। उसका पुनर्निर्माण करना था। इन सब कारणों से व्यापार, कारोबार तथा उद्योग-धन्धों में काफी अभिवृद्धि हुई।

पर यह अभिवृद्धि केवल मूल्य की अभिवृद्धि थी, उत्पादन की नहीं। जब युद्धकालीन सभी अर्थ-व्यवस्थाएँ समाप्त हो गयीं तो राष्ट्रों के सम्मुख अपनी अर्थ-व्यवस्था में शान्तिकालीन पुनर्निर्माण करने का प्रश्न था। युद्ध के समय खासकर जापान और अमेरिका में बड़े-बड़े कल-कारखाने खुले थे। इनकी उत्पादन-शक्ति असीम थी। चीजों का उत्पादन उसी रफ्तार में होता रहा जिस रफ्तार में युद्ध के समय हुआ था। पर इन चीजों को खरीदनेवालों की कमी थी। वस्तुओं से बाजार भरा पड़ा था किन्तु खरीददारों में क्रय-शक्ति नहीं थी। युद्धोत्तर अभिवृद्धि का वास्तविक रहस्य खुलने लगा।

युद्धकालीन ऋतु : आर्थिक संकट का दूसरा कारण युद्धकालीन ऋण था। युद्ध के खर्च का बहुत बड़ा हिस्सा कर्ज लेकर चलाया गया था। लड़ाई के समय यूरोपीय राज्यों की बहुत बड़ी रकमें दूसरे कर्ज के रूप में लेनी पड़ी थीं। युद्ध के प्रारम्भ में अमेरिका युद्ध में शामिल नहीं हुआ था। पर उसने मित्रराष्ट्रों को भारी रकम कर्ज में दी थी। शुरू में ब्रिटेन भी अन्य देशों को कर्ज दिये। पर पीछे चलकर उसके लिए कर्ज देना असम्भव हो गया। वह स्वयं अमेरिका से भारी रकम कर्ज लेने को विवश हुआ। युद्ध समाप्त होने पर यूरोप के अनेक राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के कर्जदार थे और स्वयं ब्रिटेन अमेरिका का ऋणी था। इस कर्ज की मात्रा बहुत अधिक थी। इन कर्जों के भुगतान के फलस्वरूप संसार के सामने सोना की समस्या आ गयी। सोना मुद्रा-पद्धति का आधार होता है और कीमतें उसी पर माँगी जाती हैं।

यंत्रों का वैज्ञानिकीकरण : आर्थिक संकट का एक और अन्य कारण यन्त्रों का अधिक प्रयोग और उनका वैज्ञानिकीकरण था। युद्ध के समय रणक्षेत्रों में अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता हुई। अधिकांश जनता युद्ध में भेज दिये गये। फलतः कारखानों और खेतों में मजदूरों की कमी हो गयी। इस कमी को दूर करने

के लिए वैज्ञानिक आविष्कार हुए तथा यन्त्रों की कार्य-क्षमता बढ़ायी गयी और बहुत-से स्वचालित मशीनें बनीं। इन आविष्कारों के फलस्वरूप मशीनों की उत्पादन क्षमता कई गुना बढ़ गयी। खेतिहर मजदूरों का स्थान कृषि के नये-नये यन्त्रों ने ले लिया। उद्योग-धन्धों में स्वचालित मशीनों के प्रयोग के परिणास्वरूप मजदूरों की बेकारी बहुत बढ़ गयी। इस प्रकार यह आर्थिक संकट का एक कारण बना।

क्रय शक्ति की कमी : यन्त्रों के द्वारा अमेरिका और आस्ट्रेलिया आदि देशों में गेहूँ आदि अनाज बहुत बड़ी मात्रा में पैदा किये जाने लगे। फलतः उसका भाव मन्दा पड़ने लगा। किसानों को अपने पैदावार का बहुत कम दाम मिलने लगा। अतएव उनमें कारखानों में बने माल को खरीदने की क्षमता घट गयी और मजदूरों की भी यही दशा हुई। वे बेकार हो गये। अतएव उनकी क्रय-शक्ति का ह्रास हो गया।

सोना का विषम-विभाजन : युद्ध के बाद संसार का बहुत अधिक सोना अमेरिका में एकत्र होने लगा। इसका कारण यह था कि माल के रूप में अमेरिका अपना कर्ज वापस लेने के लिए तैयार नहीं था। यह रकम अमेरिका ने सोने के रूप में प्राप्त की। नतीजा यह हुआ कि संसार भर का सोना खिंच-खिंचकर अमेरिका में एकत्र हो गया। अन्य देशों में सोने की कमी का मतलब यह था कि वहाँ के सिक्के की कीमत बढ़ गयी और मालों की कीमतें गिर गयीं। फलस्वरूप इन देशों में आर्थिक संकट उपस्थित हो गया।

अमेरिका के बाद फ्रांस में भी बहुत अधिक मात्रा में सोना एकत्र होने लगा था। जर्मनी को जो क्षतिपूर्ति देनी पड़ी थी उसका आधे-से-अधिक हिस्सा फ्रांस को मिलनेवाला था। पहले यह तय हुआ कि जर्मनी माल की शक्ल में क्षतिपूर्ति का भुगतान करे। जर्मनी ने इस तरह से बहुत-से माल दिये भी। लेकिन जब जर्मनी के माल क्षतिपूर्ति प्राप्त करनेवाले देशों में भर गये और सस्ते बिकने लगे तो राष्ट्रीय व्यवसाय को काफी धक्का पहुँचा। अतएव जर्मनी द्वारा इस प्रकार क्षतिपूर्ति को भुगतान करना बन्द कर दिया गया। अब उसको नकद में क्षतिपूर्ति देने को कहा गया। इसका मतलब था कि जर्मनी सोना के रूप में क्षतिपूर्ति दे। नतीजा यह हुआ कि फ्रांस को बहुत बड़ी मात्रा में सोना मिलने लगा। अनुमान किया गया है कि 1920 के अन्त में संसार का साठ प्रतिशत सोना अमेरिका और फ्रांस के हाथ में था। ऐसी स्थिति में संसार में अधिक संकट का आना अवश्यम्भावी था।

आर्थिक राष्ट्रीयता : आर्थिक राष्ट्रीयता को आर्थिक संकट का एक दूसरा कारण बतलाया जाता है। अगर विदेशी व्यापार खुले रूप से चले, एक देश से दूसरे देश में माल का का आना-जाना बन्द नहीं हो; संसार के राज्य परस्पर सहयोग से काम करें तो अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था ठीक से चल सकती है। लेकिन, पूजीवादी व्यवस्था में इस तरह के सिद्धान्त पर काम नहीं चलता है। इस व्यवस्था में एक देश दूसरे देश को कुचल कर आगे बढ़ने के प्रयत्न करता रहता है। अपने देश की आर्थिक उन्नति के लिए तरह-तरह की संरक्षण नीति, आयात-कर आदि का आश्रय लिया जाता है। युद्ध के बाद यह नीति सभी देशों ने अपनायी। ब्रिटेन, जो अभी तक खुले व्यापार का समर्थक था, अब तरह-तरह की संरक्षण नीति को अपनाने लगा था। एशिया में स्वदेशी आन्दोलन, रूस में वोल्शेविक क्रान्ति तथा युद्ध के फलस्वरूप यूरोप के नये स्थापित राज्यों की संरक्षण-नीति से पश्चिम यूरोप के हाथ से एक बहुत बड़ा बाजार निकल गया। इसके सामने अब प्रश्न यह था कि वे अपनी चीजों को किस बाजार में बेचें। इन्हीं कारणों से संसार को एक महान् आर्थिक विपत्ति का सामना करना पड़ा था।

प्रलय का आरम्भ : विश्वव्यापी आर्थिक संकट आने के पूर्व ही खाद्य पदार्थों—धन, कपास आदि अन्य प्राथमिक पदार्थों की कीमत में गिरावट शुरू हो चुकी थी। माल से बाजार भरा पड़ा था, पर उन्हें खरीदनेवाला कोई नहीं था। बहुत-सी कंपनियाँ बन्द होने लगी थीं और बेकारी की समस्या करीब-करीब प्रत्येक देश के सामने खड़ी थी। किसी भी देश का बजट सन्तुलित नहीं था। केवल कर्ज के आधार पर सबका काम किसी

तरह चल रहा था। कर्ज का अधिकांश हिस्सा अमेरिका से आता था। पर 1929 के शरद् में अमेरिका द्वारा यूरोप को ऋण देना बिल्कुल बन्द कर देने की घोषणा से मूल्यपात (slump) हो गया। अमेरिका के सामने सबसे विकट प्रश्न यह था कि महायुद्ध के समय वहाँ की उत्पादन-क्षमता में जो असाधारण वृद्धि हुई थी, उससे तैयार हुए माल को कहाँ खपाया जाय। इन मालों को दूसरे देशों में ही खपाया जा सकता था, क्योंकि वे अमेरिका की जरुरत से बहुत अधिक थे। पर अन्य देशों के पास अमरीकी माल खरीदने के लिए सिक्के नहीं थे। इस हालत में अमरीकी माल का खपना मुश्किल हो गया। माल की अधिकता से वहाँ आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। चीजों की कीमतें गिरने लगीं। उद्योग-धन्धों का घाटा होने लगा। कारखाने बन्द होने लगे। बहुत-से मजदूर बेकार हो गये। अक्टूबर, 1929 को न्यूयार्क स्टॉक-एक्सचेंज में एकाएक शेयरों का मूल्य पचास अरब डालर गिर गया। अमरीकी सरकार तथा बड़े-बड़े पूंजीपतियों के प्रयास से स्थिति कुछ देर के लिए सम्हल गयी। पर, नवम्बर में शेयरों के मूल्य में फिर अधिक गिरावट हुई। बहुत-सी कम्पनियों और धनिकों का दिवाला निकल गया। परिकल्पक (speculators) बेकार हो गये और उधार देना सर्वथा वन्द हो गया। परिणामत: संसार धड़ाम से आसमान से जमीन पर गिर पड़ा। अमेरिका में जो प्रतिक्रिया शुरू हुई उससे अन्य देश बच नहीं सके। 1932 में केवल ब्रिटेन में ही बेकारों की संख्या तीस लाख के लगभग थी। सोवियत रूस को छोड़कर इस तरह की हालत संसार के सभी देशों की थी।

संकट की ऐसी स्थिति में अमेरिका के लिए दूसरे देशों को कर्ज देना सम्भव नहीं था। उसने कर्ज देना बिल्कुल बन्द कर दिया। इसके बाद शीघ्र ही सारे संसार की क्रय-शक्ति में ह्रास हो गया, जिसके फलस्वरूप कीमतों में व्यापक गिरावट शुरू हो गयी। यूरोप के कर्जदार देशों को इससे दोहरी चोट लगी। एक तो अपने कर्ज चुकाने के लिए उन्हें अमेरिका से डालर उधार मिलना बन्द हो गया और दूसरे वस्तुओं को बेचकर वे अपना कर्ज चुकाने की आशा करते थे। क्रयशक्ति के ह्रास होने के कारण उनकी बिक्री ही बन्द हो गयी। सामान्य वाणिज्य का क्रम बिल्कुल टूट गया। बेकारी की समस्या बढ़ गयी और सारा संसार दिवालिया हो गया।

जर्मनी की स्थिति : जर्मनी की स्थिति सबसे शोचनीय थी। ड़ावस-योजना के अनुसार जर्मनी को विदेशों से कर्ज लेकर क्षतिपूर्ति को भुगतान करने का अवसर दिया गया था। जर्मनी ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया और पिछले पांच वर्षों में उसने लगभग तेरह सौ पचास करोड़ रुपये विदेशों से कर्ज लिया। इसका बहुत बड़ा हिस्सा अमेरिका से प्राप्त हुआ था। पर जब 1929 में अमेरिका ने कर्ज नहीं देने का फैसला किया तब जर्मनी के आर्थिक जीवन मे तहलका मच गया। वहाँ की सारी आर्थिक व्यवस्थाएँ एकदम छिन्न-भिन्न हो गयीं। सिक्के और पूँजी में भारी कमी आ गयी। सरकारी बजट बिल्कुल असंतुलित हो गया। बहुत-से कारोबार बन्द हो गये और भयंकर बेकारी की समस्या उत्पन्न हो गयी।

आर्थिक संघ का प्रभाव : ऑस्ट्रिया के साथ एक घनिष्ठ आर्थिक संघ का निर्माण करके जर्मनी ने अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया। उस समय राष्ट्रसंघ में एक 'यूरोप का संयुक्त राज्य' कायम करने की बात चल रही थी। किन्तु उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता आर्थिक सहयोग थी राजनीतिक सहयोग नहीं। ऑस्ट्रिया और जर्मनी ने इस तथ्य को महसूस किया और एक आर्थिक संघ के लिए दोनों देशों में गुप्त रूप से वार्ताएँ चलने लगीं। मार्च, 1931 में आस्ट्रिया के प्रधानमंत्री ने यह घोषणा की कि जर्मनी और आस्ट्रिया ने आर्थिक संघ बनाने की संधि पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। जिस समय यह घोषणा हुई उसको सुनकर सारा संसार विस्मित हो गया।

आस्ट्रिया और जर्मन का संघ एक बहुत ही पुराना स्वप्न था। युद्ध के तुरन्त बाद दोनों देश एक दूसरे के साथ मिल जाना चाहते थे। आस्ट्रिया के निवासी जर्मन-जाति के थे और जर्मनी के साथ मिलकर वे एक शक्तिशाली जर्मन राज्य की स्थापना करना चाहते थे। युद्ध समाप्त होते ही इस दिशा में कदम उठाया गया

और आस्ट्रिया का नाम 'जर्मन-आस्ट्रिया' रखा दिया गया। किन्तु मित्र राष्ट्रों ने इसका विरोध किया और इस कारण यह संघ सफलीभूत नहीं हो सका। भविष्य में ठीक इसी तरह का दूसरा प्रयास नहीं हो इसको रोकने की व्यवस्था वर्साय सन्धि और सांजर्मे की सन्धि में कर दी गयी। जर्मनी को यह मानना पड़ा कि आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अक्षुण्णता को बनाये रखने के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं करेगा। सांजर्मे की संधि में भी यह व्यवस्था कर दी गयी कि आस्ट्रिया भविष्य में कोई ऐसा प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रयत्न न करे जिससे आस्ट्रिया के पृथक या स्वतन्त्र राज्य रहने में बाधा पड़ सके। फ्रांस, इटली, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया कभी इस प्रकार के संघ की स्थापना को नहीं सह सकते थे।

अतएव कर्टियस ने जब संघ की घोषणा की तब इसका व्यापक विरोध हुआ। विरोधियों का नेता फ्रांस था। उसका कहना था कि एक बड़े और एक छोटे राज्य के बीच आर्थिक संघ बनाने का परिणाम छोटे राज्य पर बड़े राज्य द्वारा राजनीतिक प्रभुत्व जमाना है। यदि यह योजना सफल हो गयी तो जर्मनी में आस्ट्रिया का विलयन अवश्यम्भावी हो जायगा। इस सन्धि में शामिल होने के लिए अन्य पड़ोसी राज्यों को भी आमन्त्रित किया गया था। इटली, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया इत्यादि देशों पर इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। फ्रांस को भय था इन क्षेत्रों पर पहले जर्मनी का आर्थिक प्रभाव और फिर राजनीतिक प्रभाव कायम हो जायगा। जर्मनी इस समय अपना हथियारबन्दी कर रहा था। वहाँ नात्सी पार्टी का महत्व बढ़ रहा था। ऐसी दशा में फ्रांस, आस्ट्रिया और जर्मनी के प्रस्तावित संघ को कैसे सह सकता था।

ब्रिटिश सरकार का रूख कुछ स्पष्ट नहीं था। इस तरह के आर्थिक संघ के निर्माण से ब्रिटेन को ही लाभ था। किन्तु ब्रिटिश सरकार को दूसरी आशंका थी। उसको विश्वास था कि इस तरह के संघ क़ायम हो जाने से उस क्षेत्र में राजनीतिक उपद्रव की सम्भावना बढ़ सकती है। इसके अतिरिक्त इस संघ में एक कानूनी प्रश्न भी था कि प्रस्तावित संघ शान्ति-सन्धियों की धारा के अनुसार कहाँ तक वैध है।

फ्रांस और उसके साथियों के जबरदस्त विरोध के फलस्वरूप यह बात राष्ट्रसंघ कौंसिल में पेश की गयी। कौंसिल ने मई, 1931 में सर्वसम्मति से यह निर्णय किया कि प्रस्तावित संघ की वैधता के प्रश्न को जाँचने का काम हेग स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप दिया जाय। पर फ्रांस को भय था कि कहीं आस्ट्रिया और जर्मनी के पक्ष में न्यायालय अपना निर्णय न दे दे। इस प्रकार की जोखिम वह नहीं उठाना चाहता था। अतः संघ की योजना त्याग देने के लिए वह आस्ट्रिया पर जबरदस्त दवाब डालने लगा। घनघोर कूटनीतिक युद्ध के बाद आस्ट्रिया के प्रधानमन्त्री को यह घोषणा करनी पड़ी की आस्ट्रिया ने संघ की योजना त्याग दी है। डॉ० कर्टियस को प्रस्तावित संघ के असफल हो जाने के कारण इस्तीफा दे देना पड़ा। इनके दो दिन बाद हेग न्यायालय ने अपना निर्णय दिया कि पस्तावित संघ शान्ति-सन्धियों के विरुद्ध है।

क्रेडिट-ऑन्स्टाल्ट का दिवाला : आर्थिक संघ की असफलता का प्रभाव आस्ट्रिया और जर्मनी दोनों देशों पर पड़ा। इसी समय आस्ट्रिया का सबसे बड़ा बैंक क्रेडिट-ऑन्स्टाल्ट का दिवाला निकल गया। आस्ट्रिया का पुराना बैंक उस देश के आर्थिक जीवन का केन्द्र था और कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इसका दिवाला निकल जायगा। इसमें कोई शक नहीं कि बैंक की आंतरिक गड़बड़ियों तथा प्रस्तावित आर्थिक संघ को असफल बनाने का लिए फ्रांसीसी आर्थिक नाकेबन्दी इसके दिवालियापन के मुख्य कारण थे। लेकिन, संसार के लिए इस बैंक का दिवाला निकलना दुर्भाग्यपूर्ण था। आस्ट्रिया सरकार ने आस्ट्रियन राष्ट्रीय बैंक क्रेडिट-अन्स्टाल्ट को बहुत आर्थिक मदद की। इस विपत्ति को रोकने के लिए बैंक ऑफ इंगलैंड ने भी एक बहुत बड़ी रकम कर्ज के रूप में प्रदान की। क्रेडिट-ऑन्स्टाल्ट तो किसी तरह बच गया। किन्तु एक जहाज की रक्षा करके तूफान को नहीं रोका जा सका। जर्मनी पर इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ा। वहाँ घोर तहलका मच गया। विदेशी महाजनों ने शीघ्र ही अपने ऋणों का तकाजा किया। तीन सप्ताह के भीतर जर्मन रीह द्वारा

बैंक से पचास करोड़ पौंड का सोना निकाल लिया गया। एक सप्ताह बाद सुप्रसिद्ध जर्मन बैंक डार्मस्टेर एण्ड नेशनल बैंक का दिवाला निकल गया। अगले दिन सरकार ने अध्यादेश जारी करके सभी बैंकों को बन्द कर दिया। जर्मनी के लिए ही नहीं अपितु सारे संसार के लिए यह सर्वनाश का वर्ष था।

ब्रिटेन में संकट : इस सर्वनाश से संसार को वचाने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने एक वर्ष की मुहलत की घोषणा की। इसी समय ब्रिटेन भी विकट आर्थिक संकट के चुंगल में फंस गया। जुलाई के अन्त में बैंक ऑफ इंगलैंड आर्थिक संकट की चोट महसूस करने लगा। सभी लोग अपने-अपने पैसों को बैंक से निकालने के लिए दौड़ पड़े। 1 अगस्त को यह एलान किया गया कि बैंक ऑफ फ्रास तथा न्यूयार्क के फेडरल रिजर्व बैंक दोनों ने ढाई-करोड़ पौंड का उधार बैंक ऑफ इंगलैंड को दिया है, पर इस घोषणा से स्थिति नहीं सम्हली और धन निकालने का कार्य तीव्र गति से चलता रहा। 24 अगस्त, 1931 को मजदूरदलीय प्रधानमंत्री रामजे मेकडानल्ड ने इस्तीफा देकर सभी पार्टियों को मिलाकर एक 'राष्ट्रीय सरकार' की स्थापना की जिसका मुख्य काम आर्थिक संकट का सामना करना था। 15 दिसम्बर को चालू वर्ष के बजट को संतुलित करने के लिए ब्रिटिश-संसद में एक पूरक बजट पेश किया गया। मितव्ययिता इस बजट का मुख्य विशेषता थी। इस बजट का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। उसी दिन अखबारों में सिपाही विद्रोह का समाचार प्रकाशित हुआ। निचले दर्जे के कुछ नौ-सैनिकों ने जो प्रस्तावित मितव्ययिता से असंतुष्ट थे, विद्रोह कर दिया। ब्रिटिश अखबारों ने इस घटना को कोई खास महत्व नहीं दिया। किन्तु विदेशी अखबारों ने इस घटना में नमक-मिर्च मिलाकर खूब प्रचार किया। नयी सरकार विश्वास स्थापित करने के लिए जो काम शुरू कर चुकी थी उसके सारे प्रयास एक झटके में विनष्ट हो गये। बैंकों में एक बार फिर जनसमूह का ताँता लग गया। केवल 18 सितम्बर को ही 18 ,000,000 पौंड निकाल लिया गया। 21 दिसम्बर को ब्रिटेन को स्वर्ण-मान (gold standard) छोड़ देना पड़ा। सरकार ने सोने का निर्यात बन्द कर दिया। कहा कि 'पौंड स्वर्ण से मुक्त' हो गया और कुछ ही दिनों के भीतर स्वर्ण रूप में उसका मूल्य पच्चीस प्रतिशत गिर गया।

स्वर्ण-मान परित्याग से ब्रिटेन को लाभ हुआ, परन्तु अन्य देशों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। विदेशों में जहाँ कीमतें पहले से ही गिरी पड़ी थीं, और भी गिरावट शुरू हुई। यूरोप के प्राय सभी स्टॉक-ऐक्सचेंज बन्द हो गये। बैंकों की दर में काफी वृद्धि हो गयी। आर्थिक संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, फिनलैंड, ब्रिटिश-साम्राज्य के सभी डोमिनियन और उपनिवेश (दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर) तथा दक्षिण अफ्रीका के अधिकांश देशों को स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा। तीन महीने बाद जापान को भी यही करना पड़ा। जिन देशों का विदेशी विनिमय का आधार स्टर्लिंग था उन सबों को स्वर्णमान त्याग देना पड़ा और जिन्होंने ऐसा नहीं किया उन्हें काफी कष्ट का सामना करना पड़ा। केवल फ्रांस, अमेरिका, इटली, बेल्जियम, हालैंड, पोलैंड, रूमानिया, स्विटजलैंड के ही कुछ देश बच गये जिन्होंने स्वर्ण-मान को बनाये रखा। नाम के लिए जर्मन भी स्वर्ण-मान को कायम रखे रहा, पर उसके लिए भी यह अत्यन्त कठिन काम था। फ्रांस अभी तक आर्थिक संकटों से बचा हुआ था। लेकिन पौंड के गिरावट के एक सप्ताह बाद उसकी हालत भी डावांडोल होने लगी। यहाँ भी हजारों की संख्या में लोग बेकार हो गये। आर्थिक संकट ने किसी को भी नहीं छोडा—यहाँ तक फ्रांस को भी नहीं।

विश्व-अर्थ-सम्मेलन : एक तरफ संसार घनघोर आर्थिक संकट में फँसा हुआ था और उधर हूवर मुहलत की अवधि समाप्त हो रही थी। हुवर-मुहलत से आर्थिक संकट दूर करने में कुछ सहायता अवश्य मिली, पर उससे समस्या का पूर्णरूपेण हल हो सकना सम्भव नहीं था। अतः क्षतिपूर्ति और अन्य आर्थिक समस्याओं पर विचार करने कि लिए 1935 में लुसान में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में अन्य निर्णयों के अतिरिक्त यह भी निश्चय किया गया कि अगले वर्ष आर्थिक समस्या पर विचार करने के लिए एक विश्व-अर्थ-सम्मेलन का आयोजन हो। इरा सम्मेलन में अमेरिका का सहयोग आवश्यक था। पर इस समय अमेरिका

का अर्थ-संकट अपनी चरम सीमा पर था। उस समय अमेरिका में पन्द्रह करोड़ व्यक्ति बेकार थे। इसी समय अमेरिका में चुनाव हुआ और फ्रेंकलिन रूजवेल्ट राष्ट्रपति चुने गये। उनके कार्यभार ग्रहण करने के समय अमरीकी अर्थ-व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय हालत में थी। फलस्वरूप अमेरिका ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया। इस शोचनीय हालत में अमेरिका एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए इच्छुक नहीं था। मेकडानल्ड दौड़ा-दौड़ा वाशिंगटन पहुँचा और इस शर्त पर उसने अमरीकी राष्ट्रपति को सम्मेलन में शामिल होने के लिए राजी किया कि सम्मेलन में युद्ध-ऋणों के मामले पर विचार नहीं किया जायेगा।

6 जून, 1933 को भयंकर आर्थिक संकट की समस्या पर विचार करने के लिए लन्दन में 66 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई। लिखित इतिहास में यह राज्यों का सबसे बड़ा सम्मेलन था। इस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार साठ प्रतिशत कम हो गया था, बेकारों की संख्या तीन करोड़ तक पहुँच चुकी थी और इसके साथ ही कई देशों की राष्ट्रीय आय चालीस प्रतिशत तक घट गयी थी। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति इतनी भंयकर हो गयी कि परस्पर मिल कर उसे सम्हालना जरूरी हो गया। किन्तु सम्मेलन की असफलता अवश्यम्भावी थी। सम्मेलन में मुख्यतः इन प्रस्तावों पर विचार किया - (1) विदेशी व्यापार में संरक्षण नीति का अन्त कर परस्पर सहयोग की नीति का प्रारम्भ किया जाय; (2) मुद्रा का स्थिरीकरण किया जाय। फ्रांस ने यह प्रस्ताव रखा की संरक्षण नीति का अन्त करने के पहले मुद्रा का स्थिरीकरण करना आवश्यक है। ब्रिटिश-सरकार ने फ्रांसीसी प्रस्ताव का समर्थन किया। अमरीकी प्रतिनिधिमंडल ने भी उसका समर्थन किया, परन्तु राष्ट्रपति रूजवेल्ट को अपने प्रतिनिधि का रुख पसन्द नहीं आया। अमेरिका को मुद्रा-स्थिरीकरण में दिलचस्पी नहीं थी। राष्ट्रपति ने एक वक्तव्य दिया जो अमरीकी प्रतिनिधिमंडल के उदार रूख को अस्वीकार करने के ही समान था। मुद्रा-स्थिरीकरण के प्रस्ताव का विरोध करने के लिए दूसरा विशेषज्ञ अमेरिका में तुरन्त भेजा गया। यह घटना सम्मेलन के लिए प्राणघातक प्रहार सिद्ध हुआ। मुद्रा के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका। लन्दन में एकत्रित 66 राज्यों के प्रतिनिधि किसी एक नतीजे पर नहीं पहुँच सके। 27 जुलाई को सम्मेलन का कार्य अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया।

संकट का अन्त : 1934 आते-आते आर्थिक संकट दूर होना प्रारम्भ हो गया। इतने दिनों तक बहुत से कल-कारखाने बन्द पड़े थे। उत्पादन नहीं होने के कारण चीजों की कमी खटकने लगी थी। उधर यूरोप में पुनः युद्ध के काले बादल मँडराने लगे। हथियारबन्दी की होड़ तीव्र गति से चल रही थी। संसार के राज्य अस्त्र-शस्त्र और युद्धोपयोगी सामग्री बनाने में लग गये थे। सेनाओं की संख्या बढ़ाई जाने लगी थी। कल-कारखानों के पास काम की कमी नहीं थी। इसीलिए वेकारी की समस्या स्वयंमेव हल हो गयी। लुसान सम्मेलन के बाद क्षतिपूर्ति एवं युद्ध ऋण का प्रश्न भी नहीं था। मुद्रा-प्रसार की नीति का अवलम्बन करके विभिन्न देशों में सिक्कों की कीमत गिरा दी गयी थी। इन सब कारणों से वस्तुओं की कीमत बढ़ने लगी और संसार की आर्थिक व्यवस्था सन्तुलित होने लगी।

आर्थिक संकट के परिणाम

यह कहना सर्वथा गलत होगा कि आर्थिक संकट का प्रभाव केवल क्षतिपूर्ति और युद्ध-ऋण की समस्याओं पर ही पड़ा। वास्तव में, यह संकट इतना विकट था कि इसका परिणाम व्यापक हुआ और इसने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी पहलुओं को प्रभावित किया। किन्तु, यहाँ हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके प्रभाव पर ही विशेष रूप से विचार करेंगे।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था पर प्रभाव : आर्थिक संकट का सबसे बुरा परिणाम लोकतन्त्र के सिद्धान्त पर पड़ा। इस मन्दी के कारण संसार भर में बेकारी, असन्तोष, असुरक्षा और अस्थिरता की वृद्धि हुई। लोकतन्त्रीय देशों की सरकार इन समस्याओं को नहीं सुलझा सकीं। अतएव जनता ने इन सरकारों के विरुद्ध वोट देकर उन्हें अपदस्थ कर दिया। उस समय तक लोगों में लोकतन्त्र में विश्वास की भावना कम हो गयी। उस समय

तक लोकतन्त्र तथा उदार पूँजीवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे दोनों राष्ट्रीय उन्नति के लिए आवश्यक माने जाते थे। लेकिन आर्थिक मन्दी ने ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न कर दिया कि इन लोगों की आस्था उठ गयी। साधारण जनता को साम्यवाद बहुत आकर्षक लगने लगा।

अधिनायकवाद का उत्कर्ष : अधिनायकवाद का मार्ग प्रशस्त करना आर्थिक संकट का दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम था। यह तय था कि सामान्य शासन-पद्धति से इतने बड़े संकट का मुकाबला नहीं किया जा सकता था। संसद की बैठक जबतक हो तबतक असंख्य बैंक फेल कर जा सकते थे। अतः प्रत्येक देश का राजनीतिक और आर्थिक काम संसद द्वारा बनाये गये कानून से नहीं वरन् अध्यादेश से चलने लगा। कार्यकारिणी के हाथों में राज्य की सारी शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो गयीं। जिस देश में प्रजातान्त्रिक परम्पराओं का अभाव था वहाँ अधिनायकतन्त्र कायम होते देर नहीं लगी। इससे फासिज्म को बहुत प्रोत्साहन मिली। स्पेन, पुर्तगाल और मध्य यूरोप के प्रायः सभी देशों में तानाशाही शासन शुरू हुआ। ब्रिटेन में जहाँ प्रजातान्त्रिक परम्पराएँ थीं वहाँ भी एक राष्ट्रीय सरकार का संगठन हुआ और इसी नाम पर मनमानी शासन होने लगा। अमेरिका में भी 'नयी व्यवस्थापक' (New Deal) के अन्तर्गत राष्ट्रपति रूजवेल्ट को असाधारण अधिकार प्राप्त हुए। संसार के भविष्य के लिए यह एक शुभ लक्षण नहीं था। प्रजातान्त्रिक शासन में सरकारी नीति पर जनमत का नियन्त्रण रहता है, अधिनायकवाद में जनमत के द्वारा यह छेड़ने से रोका जा सकता है, लेकिन एक तानाशाह को नहीं। इस तरह तानाशाही के उत्थान के कारण विश्व-शान्ति का भविष्य अन्धकार में डूब गया।

आर्थिक राष्ट्रीयता : आर्थिक राष्ट्रीयता का विकास तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति का कम होना आर्थिक संकट का एक अन्य परिणाम सिद्ध हुआ। इस संकट का मुकाबला करने के लिए लगभग सभी राज्यों ने अपने उद्योग-धन्धों के संरक्षण की दृष्टि से तटकर, चुंगी, जकात की ऊँची दीवारें खड़ी कीं। अब सभी देश संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण से आर्थिक समस्या का हल करने का प्रयास करने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सौहार्द के विकास के लिए यह बड़ा घातक सिद्ध हुआ तथा इस समय इसी चीज की सबसे बड़ी आवश्यकता थी।

राष्ट्रसंघ की दुर्बलता : आर्थिक संकट ने राष्ट्रसंघ को एकदम दुर्वल वना दिया क्योंकि सदस्य राज्य राष्ट्रसंघ के आदर्शों को बिल्कुल भूल गये। किसी का सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था पर ध्यान नहीं रहा। सव अपनी आर्थिक स्थिति से परेशान थे। आर्थिक संकट को लेकर फ्रांस की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। मन्त्रीमंडलों का पतन जल्दी-जल्दी होने लगा। इस अस्थिरता के कारण वहाँ की सरकार सामूहिक सुरक्षा के लिए कोई दृढ़ और कठोर उपाय नहीं अपना सकती थी। इस संकट ने संयुक्त राज्य अमेरिका में पार्थक्यवादी आन्दोलन को और प्रोत्साहित किया। अब अमेरिका ने यूरोपीय राजनीति से अलग रहने की नीति का पालन और दृढ़ता से शुरू किया।

जापानी साम्राज्यवाद का पुनरोद्भव : आर्थिक संकट में सोये हुए जापानी साम्राज्यवाद को झकझोर कर उठा दिया। प्रोफेसर टायनबी का कहना है कि भीषण मन्दी से विवश होकर ही जापानी जनता ने व्यापारिक विस्तार के स्थान पर सैनिक विजय को जापानी सेनानायकों की नीति का समर्थन किया। इस मन्दी से जापानी वहुत परेशान हो गये। अतएव उन्होंने मंचूरिया पर आक्रमण करने में जरा भी संकोच नहीं किया। इसके लिए जापान को अच्छा मौका भी मिल गया क्योंकि सारा संसार इस समय आर्थिक संकट में फँसा हुआ था।

जापान के सामने अपनी बढ़ती हुई आबादी को भोजन देने का प्रश्न था। इसके अतिरिक्त उसके सामने विविध आर्थिक प्रश्न थे। इन प्रश्नों का समाधान जापानी साम्राज्य को फैलाकर ही किया जा सकता था और जापानी साम्राज्य-विस्तार का एक क्षेत्र चीन था। यूरोप के राज्य अपनी ही समस्याओं में व्यस्त थे। जापान के लिए यह स्वर्णिम अवसर था। इससे लाभ उठाकर उसने 1931 में चीन पर चढ़ाई कर दी। आक्रमणकारी प्रवृति ने पहले-पहल अपना सर उठाया और इसके अनुयायियों की कमी नहीं रही।

इटली की आक्रामक प्रवृति का विस्फोट : आर्थिक संकट ने अबीसिनीया-काण्ड को पैदा किया। इसके कारण इटली की आर्थिक दशा शोचनीय हो गयी थी। आर्थिक संकट ने मुसोलिनी की तानाशाही को खतरे में डाल दिया। अतएव उसने इटली जनता का ध्यान इस ओर से हटाने के लिए अबीसिनिया पर हमला करने का निश्चय किया।

हिटलर का उत्कर्ष : आर्थिक संकट का सबसे भयंकर परिणाम यह था कि इसने एकाएक सभी जर्मनों को राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी का अनुयायी बना दिया। इस पार्टी की नीति काफी उग्र थी और वह वर्साय-सन्धि को टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहती थी। संकट के पहले हिटलर और उसकी पार्टी की राजनीतिक शक्ति उपेक्षणीय थी। लेकिन, इन लोगों ने साफ-साफ शब्दों में यह कहना शुरू किया कि क्षतिपूर्ति का बोझ इतना भारी है कि उसको ढोना जर्मनी के शक्ति के बाहर की चीज है। जर्मनी जनता ने हिटलर की बातों को बड़े चाव से सुना और उसका खूब समर्थन किया। हिटलर ने मध्यम वर्ग को तथा पूँजीपति वर्ग को साम्यवाद का हौआ दिखाकर अपने वश में कर लिया। जनता को आर्थिक संकट के दलदल से उबारने के लिए बड़े सब्ज बाग दिखाये। इसे हल न कर सकने के लिए गणराज्य सरकार की भर्त्सना की। इससे उसे जनता का,प्रवल समर्थन मिल गया और वह शीघ्र ही जर्मनी का सर्वेसर्वा बन गया। यदि यह आर्थिक संकट नहीं होता तो हिटलर कभी इतना शक्तिशाली नहीं बन पाता।

साम्यवाद की श्रेष्ठता : आर्थिक संकट का ऐतिहासिक परिणाम यह हुआ की इसने साम्यवादी व्यवस्था की मजबूती को सिद्ध करके पूँजीवाद के वास्तविक स्वरूप का रहस्य खोल दिया। संघ ही संसार में एक ऐसा देश था, जो आर्थिक संकट के चंगुल में नहीं फँसा। साम्यवादी प्रचार के लिए यह एक बहुत अच्छा मसाला मिल गया। संसार में साम्यवाद के प्रसार का यह एक मुख्य कारण था। इसके अतिरिक्त आर्थिक संकट के कारण लाखों लोग बेकार हो गये। इन बेकार व्यक्तियों को साम्यवाद का सिद्धान्त काफी पसन्द आया। इस प्रकार पूँजीवादी राज्यों के सामने 'अन्तराष्ट्रीय साम्यवाद' का प्रश्न आ खड़ा हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध : आर्थिक संकट पूँजीवाद के विरुद्ध घोर असंतोष उत्पन्न कर दिया और लोग साम्यवाद की ओर आकृष्ट होने लगे। इस कारण यूरोप का पूँजीवादी जगत इससे बहुत आतंकित हुआ और किसी उपाय से वे इस संकट का अन्त करना चाहने लगे। फलतः इसके दमन के लिए ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों ने सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और उसकी जगह पर तुष्टीकरण की नीति को अपना लिया। वे किसी तरह साम्यवाद का अन्त करना चाहते थे। यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार ने मंचूरिया पर जापान के आक्रमण को साम्यवादी रूस के विरुद्ध अभियान समझा और गुप्त रीति से जापान के प्रति अपनी सहानुभूति रखी। हिटलर और मुसोलिनी दोनों साम्यवाद के घोर निंदक थे तथा सोवियत रूस का नामोनिशान मिटा देने की कसम रोज खाते थे। इस कारण उन्हें भी इंगलैंड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त हो गयी। इन दोनों तानाशाहों के प्रति वे संतुष्टिकरण की नीति को अवलम्बन करने लगे और उसके आक्रामक हौंसले को प्रोत्साहित करने लगे। द्वितीय महायुद्ध के मार्ग को प्रशस्त करने में यह नीति बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

इसके अतिरिक्त संसार के तबाह लोग पूछने लगे—क्या एक दूसरा युद्ध आर्थिक संकट से उसको त्राण नहीं दिला सकता है ? युद्ध के लिए तैयारी करनी पड़ती है। इस तैयारी में सैनिकों का संख्या बढ़ानी पड़ती है। इससे बेकारी की समस्या भी हल हो जाती है। फिर युद्धोपयोगी सामान बनाने के लिए नये-नये कल-कारखाने खुलते हैं, पुराने बन्द कारखाने फिर से चालू होते हैं, लोगों को काम मिलता है और बेकारी की समस्या स्वमेव हल हो जाती है। इस प्रकार आर्थिक संकट ने लोगों को द्वितीय विश्व-युद्ध की तैयारी के लिए प्रोत्साहित किया।

कई देशों में 'राष्ट्रीय सरकारों' का संगठन हुआ और इसी नाम पर मनमाना शासन होने लगा। अमेरिका

में भी 'नयी व्यवस्था' (New Deal) के अन्तर्गत राष्ट्रपति रूजवेल्ट को असाधारण अधिकार प्राप्त हुए। संसार के भविष्य के लिए यह अच्छा लक्षण नहीं था। प्रजातान्त्रिक शासन में सरकारी नीति पर जनमत का नियन्त्रण रहता है, अधिनायकवाद में जनमत का कोई स्थान नहीं होता। प्रजातान्त्रिक देश में जनमत के द्वारा युद्ध छेड़ने को रोका जा सकता है, लेकिन एक तानाशाह को नहीं। इस तरह तानाशाही के उत्थान के कारण विश्व-शान्ति का भविष्य अन्धकार में डूब गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध को जल्दी लाना आर्थिक संकट का विनाशकारी परिणाम हुआ। इसके लक्षण सर्वप्रथम पूर्व एशिया में प्रकट हुए। जिस समय यूरोप संकटों में उलझा था, उस समय जापान को अपने साम्राज्य फैलाव का खुला अवसर मिल गया। जापान के सामने अपनी बढ़ती हुई आबादी को भोजन देने का प्रश्न था। इसके अतिरिक्त उसके सामने विविध आर्थिक प्रश्न थे। इन प्रश्नों का समाधान जापानी साम्राज्य को फैलाकर किया जा सकता था और जापानी साम्राज्य के विस्तार का एकमात्र क्षेत्र चीन था। यूरोप के अन्य राज्य अपनी ही समस्याओं में व्यस्त थे। जापान के लिए यह स्वर्णिम अवसर था। इससे लाभ उठाकर उसने 1931 में चीन पर चढ़ाई कर दी। आक्रमणकारी प्रवृत्ति ने पहले-पहल अपना सर उठाया और बाद में इसके अनुयायियों की भी कमी नहीं रही।

अध्याय 25

राष्ट्रसंघ

(League of Nations)

राष्ट्रसंघ का जन्म : अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रसंघ की स्थापना पेरिस शान्ति-सम्मेलन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, क्योंकि इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन में एक नयी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। संसार के अनेक देशों में युद्ध के समय ही एक राष्ट्रसंघ बनाने की बात चल रही थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो राष्ट्रसंघ का निर्माण एक आम चर्चा का विषय बन गया था। 1915 में ही वहाँ के भूतपूर्व राष्ट्रपति टफ्ट के नेतृत्व में एक 'शान्ति लागू करने के लिए संघ' (League to Enforce Peace) नामक संस्था कायम हो गयी थी। उस वर्ष जून में फिलाडेल्फिया के 'इन्डेपेन्डेस हॉल' में इस संस्था के तत्वावधान में एक सभा हुई और उससे एक चार सूत्रीय कार्यक्रम निर्धारित किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में मध्यसभ्यता का आश्रय लेना, आक्रमणकारी के विरुद्ध आर्थिक पाबन्दी तथा सैनिक कार्रवाई करना, अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नियमबद्धीकरण करना तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यपालिका की स्थापना इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य बतलाया गया। संघ के कार्यक्रम को राष्ट्रपति विल्सन का समर्थन भी प्राप्त था। युद्ध के समय उसने अनेक भाषण दिये थे। इन भाषणों में वह भविष्य में युद्ध से बचने की बात पर बराबर जोर देता रहा। वह प्रथम विश्वयुद्ध को "युद्धान्तक युद्ध" समझता था। युद्ध के बाद वह ऐसी व्यवस्था का सृजन करना चाहता था जिसमें प्रजातन्त्र पूर्णरूप से सुरक्षित रहे। 8 जनवरी, 1918 को विल्सन ने सुप्रसिद्ध "चौदह सूत्रों" को प्रतिपादित किया। इसका अन्तिम सूत्र राष्ट्रसंघ के निर्माण से सम्बन्धित था। अमरीकी राष्ट्रपति का कहना था कि राष्ट्रसंघ के विधान (Covenant) को युद्धोत्तर शांति-समझौतों का भिन्न अंग होना चाहिए।

इस प्रकार युद्ध समाप्त होते-होते राष्ट्रसंघ की आवश्यकता प्रत्येक देशों में महसूस की जाने लगी। सभी यूरोपीय राज्य इसके लिए वचनबद्ध हो चुके थे। अतः जब 1919 में पेरिस में शांति-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो राष्ट्रसंघ के ऊपर गंभीरतापूर्वक विचार होना आवश्यक हो गया। राष्ट्रसंघ की रूपरेखा तैयार करने के लिए एक समिति की नियुक्ति की गयी। राष्ट्रपति विल्सन इसके अध्यक्ष बनाये गये। राष्ट्रसंघ का विधान तैयार होने लगा। इस समय राष्ट्रसंघ के लिए अनेक योजनाएँ बन चुकी थीं। विल्सन के सहयोगी कर्नल हाउस, ब्रिटेन के लार्ड फिलिमीर तथा लार्ज सेसिल, दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट्स इत्यादि तरह-तरह की योजनाएँ बना चुके थे। 3 फरवरी को इन योजनाओं को मिलाकर राष्ट्रसंघ की एक रूपरेखा तैयार की गयी। 14 फरवरी को इस रूपरेखा को शान्ति-सम्मेलन की आम सभा में पेश किया गया और बहस के बाद कुछ आवश्यक संशोधन के साथ राष्ट्रसंघ को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। राष्ट्रसंघ के विधान में 26 धाराएँ थीं। विल्सन राष्ट्रसंघ के विधान को शांति-सन्धियों का अभिन्न अंग बनाना चाहता था। मित्र-राष्ट्रों के कुछ व्यक्ति इनके पक्ष में नहीं थे। राष्ट्रसंघ की आवश्यकता को ये स्वीकार करते थे, पर उनका विचार था कि उसको सन्धियों के अन्तर्गत रखना आवश्यक है। विल्सन का कहना था कि राष्ट्रसंघ के बिना सन्धि अधूरी रह जायगी। अन्त में विल्सन की विजय हुई और राष्ट्रसंघ के विधान को सभी संधियों के अन्तर्गत रख दिया गया। 10 जनवरी, 1920 को राष्ट्रसंघ का जीवन विधिवत् प्रारम्भ हुआ।

राष्ट्रसंघ के उद्देश्य : साधारणत: राष्ट्रसंघ के तीन मुख्य उद्देश्य थे। सर्वप्रथम, शान्ति सन्धि के नियमों और उपबन्धों को लागू करने का एक साधन था। इस हैसियत से इसका काम पेरिस शान्ति-सम्मेलन द्वारा स्थापित व्यवस्था को बनाये रखना था। इसको कुछ प्रशासकीय कार्य भी दिये गये थे। उदाहरण के लिए पंद्रह साल के लिए डान्जिग नगर की व्यवस्था और सार के शासन का भार इसके ऊपर था। संरक्षण पद्धति को चलाना और अल्पसंख्यक जातियों की देख-भाल करना भी राष्ट्रसंघ का कार्य था। दूसरे, राष्ट्रसंघ को सार्वजनिक हित के लिए काम करना पड़ता था। मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए विविध उपाय करना राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख ध्येय था। इसके अन्तर्गत महामारियों को रोकना, स्वास्थ्य की दशा को उन्नत करना, दास-प्रथा का उन्मूलन करना, स्त्रियों के क्रय-विक्रय को रोकना; आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में सहयोग स्थापित करना और इसी प्रकार के अन्य सर्व-हितकारी मामलों से सम्बन्धित विषय आते थे। राष्ट्रसंघ का अन्तिम परन्तु महत्वपूर्ण उद्देश्य युद्ध का निराकरण एवं शान्ति की स्थापना करना था। राष्ट्रसंघ शांति की रक्षा के लिए कोई भी कदम उठा सकता था। राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य अपने साथी सदस्य-राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने की शर्त को स्वीकार किये थे। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शान्ति और सुरक्षा को प्रोत्साहित करना राष्ट्रसंघ का एक दूसरा प्रमुख कार्य था। इसके लिए राष्ट्रसंघ का युद्धोत्पादक कारणों को दूर करना भी एक काम था। हथियारबन्दी की होड़ को रोकना और राज्यों के झगड़ों को युद्ध के अतिरिक्त अन्य अन्तिम उपायों से फैसला करने का यत्न करना राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य था।

सदस्यता : कुछ लोगों का विचार था कि यूरोप के कुछ इने-गिने राज्य ही राष्ट्रसंघ के सदस्य बनाये जायें पर इस विचार का समर्थन नहीं मिला और राष्ट्रसंघ का दरवाजा सबों के लिए खुला रखा गया। राष्ट्रसंघ विधान की पहली धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ के प्रारम्भिक सदस्य वे 31 राज्य थे जिनका नाम विधान के परिशिष्ट (Annex to the convenant) में उल्लिखित था। परिशिष्ट में कुछ और राज्यों के नाम भी उल्लिखित थे जो राष्टसंघ में शामिल हो सकते थे। इसके अतिरिक्त अन्य देश भी राष्ट्रसंघ के सदस्य हो सकते थे। यदि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करने का वचन देते हुए सदस्यता के लिए आवेदन करता तो दो-तिहाई बहुमत से एसेम्बली उसको राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान कर सकती थी। इस तरह राष्ट्रसंघ में तीन प्रकार के सदस्य थे। व्यावहारिक दृष्टि से इस वर्गीकरण का कोई विशेष महत्त्व नहीं था क्योंकि सभी सदस्यों के वैधानिक अधिकार समान थे।

कोई राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़ सकता था। विधान की पहली धारा में ही इसकी व्यवस्था कर दी गयी थी। उनके अनुसार दो वर्ष पूर्व सूचना देकर कोई सदस्य राज्य राष्ट्रसंघ से अलग हो सकता था। 1932 में कोस्टारिका तथा ब्राजील और 1933 में जापान तथा जर्मनी राष्ट्रसंघ से अलग हो गये। राष्ट्रसंघ के नियमों की अवहेलना करने की दशा में किसी राज्य को राष्ट्रसंघ से निकाला जा सकता था। 1939 में सोवियत संघ को इसी नियम के अन्तर्गत निकाला गया था। उन राज्यों की सदस्यता भी समाप्त हो सकती थी जो राष्ट्रसंघ-विधान में किसी संशोधन को मानने को तैयार नहीं थे। विधान की 26वीं धारा में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया था। विधान में संशोधन का अधिकार एसेम्बली को दिया गया था, पर किसी भी संशोधन को सदस्य-राज्यों का समर्थन पाना आवश्यक था। कौंसिल की सहमति तो अनिवार्य ही थी।

वित्त: किसी भी संस्था को चलाने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। राष्ट्रसंघ की आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति सदस्य राष्ट्रों के चन्दे से होती थी। जनसंख्या, क्षेत्रफल और राष्ट्रीय धन के अनुपात से एसेम्बली चन्दे की रकम निश्चित करती थी।

प्रधान कार्यालय : राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्यालय जेनेवा में स्थित था। वहीं प्रत्येक सितम्बर में राष्ट्रसंघ का वार्षिक अधिवेशन हुआ करता था। यों तो अधिवेशन दूसरी जगह भी हो सकता था, पर सचिवालय के जेनेवा में स्थित होने के कारण यह सम्भव नहीं था। राष्ट्रसंघ के अधिकारियों एवं प्रतिनिधियों को सभी कूटनीतिक सुविधाएँ प्राप्त थीं।

राष्ट्रसंघ के अंग (Organs) : राष्ट्रसंघ के विधान की दूसरी धारा के अनुसार 'राष्ट्रसंघ का कार्य एक एसेम्बली, एक कौंसिल तथा एक स्थायी सचिवालय द्वारा होगा।' राष्ट्रसंघ के ये ही तीन प्रधान अंग थे। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ भी राष्ट्रसंघ के महत्वपूर्ण अंग थे। इनके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ के विविध-आयोग, जैसे- संरक्षण आयोग, सैनिक आयोग, परामर्शदाता आयोग इत्यादि थे।

राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा

राष्ट्रसंघ की स्थापना का मुख्य उद्देश्य संसार को युद्ध से बचाना था। इसका कार्यक्रम भविष्य में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध को छिड़ने के रोकना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राष्ट्रसंघ के विधान में चार व्यवस्था की गयी थीं—

(1) पहली व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने कुछ ऐसी कानूनी बाध्यताओं और उत्तरदायित्वों को स्वीकार किया जिनसे उनका युद्ध छेड़ने का अधिकार सीमित हो जाता था। राष्ट्रसंघ के विधान को स्वीकार करके सदस्य-राज्यों ने पहले-पहल युद्ध छेड़ने के अपने सर्वोच्च अधिकार पर प्रतिवन्ध लगाना स्वीकार किया। विधान की दसवीं धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने यह स्वीकार किया कि आपस में मिलकर सब देशों की वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा बाह्य आक्रमणों से करेंगे। यह प्रसिद्ध सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त था।

(2) दूसरी व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ के विधान में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निबटारे की प्रक्रिया का वर्णन था। इन प्रक्रियाओं का वर्णन विधान की ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं धाराओं में हुआ था। ग्यारहवीं धारा के अनुसार किसी युद्ध या युद्ध की धमकी को राष्ट्रसंघ के लिए चिन्ता का विषय (matter of concern) बताया गया। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालनेवाली किसी भी परिस्थिति की ओर कोई भी सदस्य एसेम्बली का ध्यान आकृष्ट करा सकता था तथा राष्ट्रसंघ के किसी भी सदस्य की प्रार्थना पर महासचिव युद्ध या युद्ध की स्थिति पर विचार करने के लिए तुरन्त कौंसिल की बैठक बुला सकता था। यह धारा राष्ट्रसंघ विधान की सर्वाधिक महत्वपूर्ण धारा थी और यह विल्सन की सिफारिश पर रखी गयी थी। राष्ट्रसंघ के समक्ष इस धारा के अन्तर्गत चालीस अन्तर्राष्ट्रीय विवाद लाये गये। इसका मुख्य उद्देश्य युद्ध के विरुद्ध जनमत तैयार करना था। ऐसा विश्वास किया गया था कि जब कौंसिल या एसेम्बली में शान्ति को संकट में डालनेवाली स्थिति पर विचार होगा तो संसार के शान्तिवादी लोकमत के द्वारा ऐसे संकटों का निराकरण हो सकेगा।

बारहवीं धारा में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के उपाय बतलाये गये थे। उपाय तीन प्रकार के थे। इसके अनुसार संघ के सदस्यों ने यह मान लिया कि यदि इनमें किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न हो जिनसे उनके सम्बन्धों को भंग होने की आशंका हो तो वे इसे किसी पंच (Arbitration) को सौंपेंगे या इसका अदालती समझौता करायेंगे अथवा कौंसिल द्वारा इसकी जाँच करायेंगे। साथ ही, उन्होंने यह भी तय किया कि पंचों, अदालतों या कौंसिलों की सिफारिसों के तीन महीने के अन्दर वे युद्ध का सहारा नहीं लेंगे। तीन महीने की व्यवस्था रखने का उद्देश्य यह था कि इस अवधि में विवाद की उग्रता कम हो जायगी, उत्तेजना शान्त हो जायगी और इस बीच शान्तिवादी लोकमत का दबाव पड़ेगा जिससे युद्ध की सम्भावना कम हो जायगी। लेकिन राष्ट्रसंघ के जीवन में कभी ऐसा अवसर नहीं आया जब सदस्य राज्यों ने इस व्यवस्था का सहारा लिया।

धारा तेरह के द्वारा किसी संधि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषयों तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों ने उल्लंघन के सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाले विवादों का निर्णय पंचायत द्वारा अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा कराने की व्यवस्था की गयी। राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने इन निर्णयों को मानने को स्वीकार किया और यह भी वादा किया कि इन निर्णयों को माननेवाले राज्य के विरुद्ध युद्ध का सहारा नहीं लेंगे।

विधान की पन्द्रहवीं धारा सबसे जटिल और लम्बी थी। इसमें उन्हीं विवादों का उल्लेख था जो कौंसिल के समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के लिए निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गयी थीं। यदि दो या दो से अधिक राज्यों में कोई विवाद उत्पन्न हो जाय तो विवाद से सम्बन्धित राज्य इसकी सूचना पहले संघ के महासचिव को देंगे। महासचिव इसकी जाँच और इस पर विचार किये जाने का प्रबन्ध करेगा। इसके लिए विवाद से सम्बन्धित देश अपना सारा मामला, आवश्यक तथ्य तथा आँकड़ें और कागजात महासचिव को भेज देंगे। महासचिव इनको प्रकाशित करेगा। इसके उपरान्त कौंसिल का काम हो जाता था कि वह अधिवेशन में दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करे। इस कार्य में यदि सफलता मिली तो वह जिन तथ्यों का प्रकाशन आवश्यक समझेगी उसे प्रकाशित कर देगी। लेकिन यदि विवाद को सुलझाने में उसे सफलता नहीं मिली तो वह विवाद पर प्रकाश डालनेवाले सभी तथ्यों को प्रकाशित करेगी। यदि कौंसिल की रिपोर्ट सर्वसम्मत से पास हो गयी तो राष्ट्रसंघ के सदस्यों का यह कर्तव्य हो जाता था कि वे कौंसिल की सिफारिशों का पालन करनेवाले राज्य के विरुद्ध युद्ध नहीं करे। लेकिन यदि रिपोर्ट सर्वसम्मत से स्वीकार नहीं होती तो उस दशा में सदस्य-राज्य न्याय के रक्षार्थ किसी भी उपाय का सहारा ले सकते थे। कौंसिल की सिफारिश का कोई कानूनी निर्णय नहीं होता था, पर इसे पालन करने की व्यवस्था ने राज्यों के लिए युद्ध को अवैध बना दिया था। कौंसिल की रिपोर्ट के बाद इस व्यवस्था का उल्लंघन करने वाला युद्ध अवैध था।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निबटारा की तीसरी व्यवस्था किसी राज्य द्वारा अपने दायित्वों का उल्लंघन करके युद्ध जारी रखने की दशा में उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों और फिर बाद में सैनिक कार्रवाई का प्रयोग था, इसका वर्णन राष्ट्रसंघ-विधान की सोलहवीं धारा में किया गया था। इसमें सबसे पहले आर्थिक प्रतिबन्धों की चर्चा थी। यदि राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य बारह या तेरह या पन्द्रहवीं धाराओं की अवहेलना करके युद्ध छेड़ता तो यह समझा जाता था कि उसने राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा है। इस हालत में संघ के सभी देशों का यह कर्तव्य हो जाता था कि वे आक्रामक देश के साथ अपने सारे आर्थिक और वित्तीय सम्बन्ध तोड़ लें। यह राष्ट्रसंघ के आर्थिक प्रतिबन्धों (economic sanctions) की प्रसिद्ध व्यवस्था की। इसके मूल में यह बात थी कि आर्थिक प्रतिबन्ध के भय से किसी देश को युद्ध छेड़ने का साहस नहीं होगा और यदि उसने युद्ध छेड़ने का साहस भी किया तो आर्थिक प्रतिबन्ध के कारण वह युद्ध को अधिक दिनों तक नहीं चला पाएगा। अन्त में बाध्य होकर उसे युद्ध को बन्द करना ही पड़ेगा। इस व्यवस्था के महत्व के सम्बन्ध में विल्सन ने कहा था "यह पूरा बहिष्कार होगा। आक्रामक देश अन्य देशों से एकदम अलग हो जायगा। कोई भी माल उस देश में न पहुँच सकेगा और न वहाँ से बाहर आ सकेगा........इस प्रकार के बहिष्कार के बाद युद्ध बन्द हो जायगा क्योंकि कोई भी देश छः महीने से अधिक आर्थिक बहिष्कार का प्रतिरोध नहीं कर सकेगा।"

विल्सन का कहना ठीक था, लेकिन आर्थिक प्रतिबन्धों की सफलता महान् राज्यों के सहयोग पर निर्भर करती थी। राष्ट्रसंघ के संक्षिप्त जीवन में इस अस्त्र का प्रयोग केवल एक बार 1935 में इटली के विरुद्ध किया गया जब उसने अबीसीनिया पर आक्रमण किया। लेकिन वड़े राष्ट्रों के असहयोग के कारण यह बिल्कुल असफल रहा।

युद्ध रोकने के लिए आर्थिक प्रतिबन्ध के अतिरिक्त सैनिक कार्रवाई की व्यवस्था भी राष्ट्रसंघ के विधान द्वारा की गयी थी। विधान में यह व्यवस्था थी कि राष्ट्रसंघ आक्रामक राज्यों के खिलाफ सैनिक कार्रवाई कर सकती है और इसके लिए सदस्य राज्यों को सेना प्रदान करना पड़ेगा। लेकिन विधान के अन्तर्गत ऐसी कोई धारा नहीं थी जिससे सदस्यों को सेना प्रदान करने के लिए बाध्य किया जा सके। यह बिल्कुल सदस्य-राज्यों की इच्छा पर निर्भर था। संघ के इतिहास में इस व्यवस्था का प्रयोग कभी नहीं हुआ। उसने कभी भी राष्ट्रसंघ के विधान को उल्लंघन करने वाले देशों के खिलाफ सैनिक कार्रवाई नहीं की।

(4) युद्ध के निर्धारण के लिए राष्ट्रसंघ विधान के अन्तर्गत चौथी व्यवस्था शस्त्रास्त्रों को घटाने तथा हथियारबन्दी की होड़ बन्द करने की थी। इसकी 8वीं धारा में शान्ति स्थापित करने के लिए शस्त्रास्त्रों की कमी को आवश्यकता बतलाया गया था। इसके लिए विस्तृत योजना बनाने का कार्य कौंसिल को सौंपा गया था।

शान्ति-संस्थापक के रूप में राष्ट्रसंघ

यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि महत्वपूर्ण कामों में और बड़े-बड़े राष्ट्रों के विवादों में राष्ट्रसंघ को कोई सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। झगड़ों का शान्तिपूर्ण समाधान निकाल कर युद्ध को रोकना राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख काम था; लेकिन इस काम में राष्ट्रसंघ असफल रहा। पर यदि राष्ट्रसंघ को महत्वपूर्ण विवादों में सफलता नहीं मिली तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह पूर्णतया असफल रहा। छोटे-छोटे राज्यों के झगड़ों को सुलझाने में राष्ट्रसंघ काफी सफल रहा और अपनी बीस वर्ष की छोटी-सी अवधि में इसने चालीस छोटे-बड़े राजनीतिक झगड़ों की जाँच करके अपना निर्णय दिया। समझौता, मध्यस्थता तथा अनुरोध के रास्ते को अपनाकर राष्ट्रसंघ कुछ छोटे-छोटे झगड़ों को तय करने में सफलीभूत रहा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यह एक उत्साहवर्द्धक लक्षण था।

आलैंड विवाद : राष्ट्रसंघ के सामने सबसे पहले जो अन्तर्राष्ट्रीय विवाद आया वह आलैंड द्वीपों से सम्बन्धित था। लगभग तीन सौ द्वीपों का समूह, जिसकी आबादी 1940 में सत्ताईस हजार थी; स्वेडन और फिनलैंड के बीच में स्थित है। प्रारम्भ में यह स्वेडन के कब्जे में था। नेपोलियन के युद्धों के समय (1809) यह फिनलैंड के साथ-साथ रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत चला गया। उस समय से रूसी क्रान्ति (1917) तक फिनलैंड द्वीप स्मूहों को एक इकाई मानकर रूस का शासन चलता रहा। 1917 में फिनलैंड स्वतन्त्र हो गया। आलैंड भी उसी के अन्दर रह गया, पर आलैंड के निवासी स्वेडिश थे और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर वे स्वायत्त शासन तथा स्वेडन के साथ मिलने की माँग करने लगे। इसके लिए उन लोगों ने जबरदस्त आन्दोलन खड़ा किया। फिनलैंड ने आन्दोलन का दबाना शुरू किया। प्रतिक्रियास्वरूप स्वेडन में फिनलैंड दमन के विरुद्ध घोर विरोध शुरू हुआ। स्वेडन युद्ध की तैयारी करने लगा। उस समय फिनलैंड राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था। इस मौके पर ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ विधान की 11वीं धारा के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ का ध्यान इस विवाद की ओर आकृष्ट किया। जुलाई, 1920 में यह मामला राष्ट्रसंघ कौंसिल के सामने आया। दोनों देशों के प्रतिनिधि कौंसिल के सामने उपस्थित हुए और अपने-अपने विचार प्रकट किये। कौंसिल ने क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में कानून-विशेषज्ञों से परामर्श लिया और फिर एक समिति की नियुक्ति की जिसका काम विवादग्रस्त क्षेत्रों का भ्रमण करके तथ्यों का पता लगाना था। समिति की रिपोर्ट के आधार पर कौंसिल ने 24 जून, 1921 को निम्नलिखित फैसले दिये-(1) आलैंड द्वीप समूह पर फिनलैंड की प्रभुसत्ता कायम रहे, (2) आलैंडवासियों की स्वायत्तता तथा उसके राजनीतिक अधिकारों की रक्षा की गारन्टी दी जाय, (3) उन्हें निजी सम्पत्ति तथा स्वेडिश भाषा का प्रयोग करने का अधिकार मिले तथा (4) आलैंड का तटस्थीकरण और असैनिकीकरण हो जाय। 6 अप्रैल, 1922 को आलैंड द्वीपसमूह का तटस्थीकरण कर दिया गया और इस तरह प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय विवाद, जो राष्ट्रसंघ के सामने आया, उसका फैसला सर्वमान्य ढंग से हो गया।

विलना विवाद : विलना लिथुएनिया की प्राचीन राजधानी और उसकी संस्कृति का केन्द्र था। वर्साय-सन्धि के द्वारा यह प्रदेश लिथुएनिया को सौंप दिया गया था। 1950 में बोल्शेविकों ने विलना पर कब्जा कर लिया। 12 जुलाई, 1920 को सोवियत रूस और लिथुएनिया के बीच एक सन्धि हुई जिसके अनुसार विलना पुनः लिथुएनिया को वापस मिल गया, पर पोलैंड पहले से ही विलना पर आँख गड़ाये हुए था। उसने राष्ट्रसंघ से अपील की। 10 अक्टूबर को राष्ट्रसंघ एक समझौता करने वाला था। इसके एक दिन पहले एक स्वतन्त्र

पोलिश कमाण्डर जनरल जेलीगोस्की ने इस देश पर जबरदस्ती अपना अधिकार कायम कर लिया। लिथुएनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की और राष्ट्रसंघ ने दोनों देशों की सरकारों को समझौता कर लेने का आग्रह किया। दो वर्षों तक यह विवाद चलता रहा। अन्त में यह स्थान पोलैंड के साथ मिला दिया गया। मार्च, 1923 में राजदूतों ने एक सम्मेलन ने इस स्थिति को मान्यता दे दी।

मेमेल विवाद : वर्साय सन्धि के अनुसार मेमेल का प्रदेश पोलैंड को मिला था। मित्रराष्ट्रों का विचार था कि मेमेल को डान्जिग की श्रेणी में रखा जाय, पर पोलैंड इस भू-भाग पर अपना कब्जा करना चाहता था। इस पर लिथुएनिया बिगड़ खड़ा हुआ; क्योंकि यह मेमेल को स्वयं चाहता था। जनवरी; 1923 में लिथुएनिया की फौजें मेमेल में प्रवेश कर गयीं और वहाँ एक अस्थायी सरकार की स्थापना कर दी। शान्तिपूर्ण ढंग से इस झगड़े को निबटाने के सारे प्रयत्न बेकार साबित हुए। इसके बाद यह समस्या राष्ट्रसंघ कौंसिल के जिम्मे सुपुर्द कर दी गयी। नार्मन डेविस के नेतृत्व में कौंसिंल ने एक समिति नियुक्त की। कौंसिल ने समिति की रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया और बाद में लिथुअनिया और मित्रराष्ट्रों ने भी इसे मान लिया। मेमेल पर लिथुएनिया की प्रभुसत्ता स्थापित हुई पर मेमेलवासियों को आन्तरिक स्वतन्त्रता मिली और मेमेल बन्दरगाह पर शासन करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बोर्ड की स्थापना हुई।

अल्बेनिया विवाद : यूगोस्लाविया और यूनान के पश्चिम में अल्बेनिया स्थित है। ये दोनों देश इसका आपस में बँटवारा कर लेना चाहते थे, पर राष्ट्रसंघ ने अलेबेनिया को एक स्वतन्त्र राज्य की मान्यता दी और 1920 में वह देश राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया, पर अल्बेनिया की रीमा निर्धारित करने में कुछ देर लग गयी। इस बीच यूगोस्लाविया वाले वराबर अल्बेनिया में घुस कर उपद्रव मचाया करते थे। 1921 में यूगोस्लाविया के कुछ सशस्त्र सैनिकों ने अल्बेनिया पर आक्रमण कर दिया। इससे एक छोटा-मोटा बाल्कन युद्ध का खतरा पैदा हो गया। अल्वेनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की। राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से यह मामला भी तय हो गया। कौंसिल ने राजदूतों की एक परिषद बनायी और इस परिषद ने अल्वेनिया की सीमा को निर्धारित कर दिया। यूगोस्लाविया को अपनी फौज हटा लेने की आज्ञा दी गयी।

ऊपरी साइलेंशिया का विवाद : 1921 में ऊपरी साइलेशिया को लेकर जर्मन और पोलैंड में एक विवाद उठ खड़ा हुआ। वर्साय-सन्धि में कहा गया कि इस इलाके के भाग्य का अन्तिम निर्णय वहाँ के निवासियों के जनमत द्वारा किया जायगा। मार्च, 1921 में मित्रराष्ट्रों के निरीक्षण में एक जनमत संग्रह हुआ। मतदान में अधिकांश लोगों ने जर्मनी में शामिल होने के पक्ष में वोट दिया, पर पोलैंड ने जनमत के बाद भी कुछ इलाकों पर दावा किया जहाँ पोलिस लोगों की संख्या अधिक थी। फ्रांस ने पोलैंड की इस माँग का समर्थन किया। जर्मनी ने दावा किया कि ऊपरी साइलेशिया का विभाजन आर्थिक दृष्टि से अनुचित होगा। जब यह विवाद चल ही रहा था कि उसी समय कोरफैंटी नामक एक पोलिस सेनापति ने ऊपरी साइलेशिया पर हमला करके उसके अधिकांश हिस्से पर अपना अधिकार कायम कर लिया। अन्य उपायों से इस झगड़ों को निबटाने का प्रयास विफल हुआ। इसके बाद सारा मामला राष्ट्रसंघ-कौंसिल के सामने रखा गया। कौंसिल ने समस्या पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की जिसके सदस्य बेल्जियम, ब्राजील, चीन तथा स्पेन थे। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर कौंसिल ने अपना निर्णय दिया जिसके अनुसार साइलेशिया का विभाजन कर दिया गया। एक हिस्से पर जर्मनी का और दूसरे हिस्से पर, जिसमें खनिज पदार्थ के क्षेत्र थे, पोलैंड की प्रभुसत्ता कायम हुई। जर्मनी और पोलैंड ने इस निर्णय को स्वीकार कर लिया।

कोर्फू-विवाद : कोर्फू की घटना ऐसी घटना थी जिसका सम्बन्ध एक बड़े राष्ट्र के साथ था। अगस्त, 1923 को यूनान में कुछ इटली के नागरिकों की हत्या कर दी गयी। इटली की सरकार ने तुरन्त ही एक अन्तिमेत्थम भेजा जिसमें उससे सरकारी तौर पर क्षमा माँगने को कहा गया था। अन्तिमेत्थम् में पाँच करोड़ डालर की क्षतिपूर्ति भी मांगी गयी थी। चुनौती को स्वीकार करने के लिए चौबीस घंटे का समय दिया गया

था। यूनान की सरकार ने इटली की बहुत-सी मांगें मान ली; पर कुछ ऐसी मांगें भी थीं जिनको वह एक प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य के नाते स्वीकार नहीं कर सकता था। इस पर इटली ने यूनान के द्वीप कोर्फू पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया। यूनान ने राष्ट्रसंघ में अपील की। मुसोलिनी ने दावा किया कि कोर्फू पर अधिकार बिल्कुल अस्थायी है।

जब राष्ट्रसंघ-कौंसिल में कोर्फू घटना पर बहस होने लगी तो इटली के प्रतिनिधि सालांड्रा ने बतलाया की राष्ट्रसंघ को इस मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है और इटली ने कभी भी युद्ध का इरादा नहीं किया, पर कौंसिल ने इस मामले को राजदूतों की परिषद को सुपुर्द कर दिया। जाँच-पड़ताल के बाद राजदूतों ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि यूनान में की गयी हत्याएँ गैर-कानूनी थीं और इनके साथ-ही-साथ इटली द्वारा भेजा गया अन्तिमेत्थम् भी। राजदूतों ने फैसला किया कि अपराधियों को दण्ड तथा इटली को क्षतिपूर्ति मिलनी चाहिए और यूनान को क्षमा माँगनी चाहिए। ये शर्तें मान ली गयीं और इटली ने कोर्फू पर से अपना अधिकार हटा लिया।

मोसुल-विवाद : लुसान सन्धि (1923) के अनुसार यह तय हुआ कि तुर्की और ईराक की सीमा मैत्रीपूर्ण समझौते के द्वारा निर्धारित की जाय। सन्धि में यह उपबन्ध भी रखा गया था कि यदि नौ मास की अवधि में कोई हल नहीं निकल सके तो यह प्रश्न राष्ट्रसंघ में भेजा जाय। मोसुल से तेल-कूपों को लेकर दोनों देशों में समझौता नहीं हो सका। इसलिए अगस्त, 1924 में यह मामला राष्ट्रसंघ-कौंसिल में आया। कौंसिल ने समस्या की जाँच के लिए एक सर्वथा तटस्थ जाँच आयोग नियुक्त कर दिया। अक्टूबर में दोनों पक्षों की ओर से ये शिकायतें आने पर कि पूर्वावस्थावाली रेखा का अतिक्रमण करने के यत्न किये गये हैं, ब्रूसेल्स में राष्ट्रसंघ-कौंसिल की साधारण बैठक हुई जिसने एक स्थायी सीमान्त स्थापित कर दिया जो बाद में ब्रुसेल्स रेखा कहलायी। 1925 में स्वेडन, हंगरी और बेल्जियम के तटस्थ आयोग ने इस मामले पर विचार करना आरम्भ किया। कौंसिल ने सितम्बर में इस आयोग की रिपोर्ट पर विचार करना शुरू किया। इसी बीच तुर्की के कैल्डियन ईसाइयों ने विद्रोह कर दिया और तुर्की सरकार ने इस विद्रोह का क्रूरतापूर्वक दमन किया। ईराक में धड़ाधड़ शरणार्थी आने लगे और तुर्की ने जो अत्याचार किये थे, वे राष्ट्रसंघ के एक प्रतिनिधि जनरल लेटोनर की तटस्थ रिपोर्ट से निश्चित रूप से सिद्ध हो गये। राष्ट्रसंघ ने अन्त में मोसुल-विवाद पर अपना फैसला दिया। 'ब्रुसेल्स लाइन' को ही सीमान्त मान लिया गया और प्रायः सारा मोसुल ईराक में शामिल हो गया। जून, 1923 में तुर्की, ईराक और ब्रिटेन में त्रिपक्षीय सन्धि हुई, जिसके अनुसार निर्धारित सीमान्त को मान लिया गया।

यूनान और बुल्गेरिया में विवाद : अक्टूबर, 1925 में यूनान और बुल्गेरिया के बीच सीमान्त को लेकर एक झगड़ा शुरू हो गया और डेमिर टापू में दोनों देशों के सैनिकों ने एक दूसरे पर गोली की खूब वर्षा की। यूनान की सेना बुल्गेरिया के एक नगर में घुस गयी और बुल्गेरिया के अन्दर सत्तर वर्गमील पर अपना अधिकार जमा लिया। बुल्गेरिया ने राष्ट्रसंघ में अपील की। कौंसिल ने एक युद्ध विराम प्रस्ताव पास करके दोनों देशों को अपनी फौंजे वापस हटाने का आदेश दिया। दोनों देशों ने इस आज्ञा का पालन किया। बाद में एक आयोग की नियुक्ति की गयी। आयोग ने यूनान के आक्रमण को अन्यायपूर्ण ठहराया। उसको बुल्गेरिया की क्षतिपूर्ति देने को कहा गया। 1 मार्च, 1926 को यूनान ने क्षतिपूर्ति चुका दी और इस तरह राष्ट्रसंघ ने एक और मामले को तय किया।

पिरुविया-कोलम्विया-विवाद : सितम्बर 1932 में पिरुविया की सेना ने कोलम्बिया के एक बन्दरगाह लेटाशिया पर कब्जा कर लिया। राष्ट्रसंघ ने अमेरिका के कूटनीतिक सहायता प्राप्त करके पिरुविया पर दवाब डाला की वह वहाँ से हट जाय।

इस प्रकार राष्ट्रसंघ ने अनेक विवादों को तय किया। लेकिन उन विवादों को तय करने में, जिनका सम्बन्ध बड़े राष्ट्रों के साथ था, राष्ट्रसंघ को सफलता नहीं मिल सकी, पर इसके लिए राष्ट्रसंघ को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इसके लिए तो स्वयं वे राष्ट्र ही दोषी थे जो राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप और निर्णय को मानने कि लिए तैयार नहीं थे।

राष्ट्रसंघ का पतन
(Liquidation of the League)

1924 से 1930 तक की अवधि में राष्ट्रसंघ अपनी उन्नति के चरम शिखर पर रहा। इस काल में उसकी प्रतिष्ठा सारे संसार में छायी हुई थी। लेकिन 1931 से उसका पतन धीरे-धीरे शुरू हुआ। पतन के इस नाटक की पृष्ठभूमि का सृजन 1930 के आर्थिक संकट ने किया। इस भीषण संकट ने सब देशों को अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए तरह-तरह के आर्थिक प्रतिबन्ध, संरक्षण सीमा कर आदि लगाने को बाध्य किया। प्रत्येक देश ने अपनी स्थिति को एक-दूसरे से पृथक रखकर दृढ़ बनाने की कोशिश की। फलतः अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना कमजोर पड़ने लगी और राष्ट्रीयता का फिर बोलबाला हो गया। इसी समय जापान ने राष्ट्रसंघ को एक जबरदस्त धक्का लगाया।

मंचूरिया का युद्ध

1931 के मंचूरिया-संकट ने राष्ट्रसंघ के विनाश को अवश्यम्भावी बना दिया। संकट पर विस्तारपूर्वक अध्ययन हम आगे करेंगे। लेकिन यहाँ राष्ट्रसंघ के पतन को समझने के लिए इसका संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

मंचूरिया रूस की सीमा से लगा हुआ एक विशाल चीनी प्रान्त था। जापानी उद्योगपतियों ने इस प्रान्त में अपनी विपुल धन-राशि लगा रखी थी। अतः, जापान की सरकार इस विशाल प्रदेश को अपने प्रभाव में रखना चाहती थी। 18 सितम्बर, 1931 को जापान ने, यह कह कर कि चीन ने उसकी रेलवे सम्पत्ति को नष्ट कर दिया है; अचानक मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। कुछ ही दिनों में उसने मंचूरिया के अधिकांश भू-भाग पर अधिकार जमा लिया और वहाँ मंचुकाओं सरदार के नाम से एक कठपुतली सरकार की स्थापना करके उसे मान्यता प्रदान कर दी।

जापान का यह आक्रमण कार्य राष्ट्रसंघ विधान पर घोर अतिक्रमण था, क्योंकि चीन राष्ट्रसंघ का सदस्य था। चीन की सरकार ने राष्ट्रसंघ के विधान की ग्यारहवीं धारा के अनुसार जापान के विरुद्ध राष्ट्रसंघ से सहायता की याचना की। मंचूरिया पर आक्रमण होते ही चीन की नामकिंग-सरकार ने तुरन्त इसका विरोध किया और उसने तीन दिनों के बाद 21 सितम्बर, 1931 को, राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार सारा चीन-जापान-विवाद कौंसिल के सम्मुख रखा। जापानी प्रतिनिधि ने कौंसिल को बताया कि जापान चीन के भू-भाग को अपने क्षेत्र में मिलाने का कोई विचार नहीं रखता। जापान और चीन सीधी वार्ताएँ करके आपसी झगड़े को तय कर सकते हैं; इसलिए उसने कौंसिल से अनुरोध किया कि वह कोई कदम नहीं उठाये जिससे इन बातों में कोई बाधा पड़े। जापानी सरकार ने ब्रिटिश सरकार को यह आश्वासन देकर कि उसका असल उद्देश्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना है, अपने पक्ष में कर लिया। चीन की शिकायत पर कौंसिल में बहस होती रही और 30 सितम्बर, 1931 को एक प्रस्ताव निर्विरोध रूप से स्वीकार कर लिया गया, जिसका उद्देश्य जापान को पीछे हटने के लिए तैयार करने तथा यथास्थिति को पुनःस्थापित करना था। प्रस्ताव के स्वीकृत होने के बाद कौंसिल का अधिवेशन दो सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया।

इस बीच में मंचूरिया को छोड़ने के बजाय जापान उसको अपने चंगुल में और कसकर जकड़ने का प्रयास करता रहा। अब स्पष्ट हो गया कि जापान केवल राष्ट्रसंघ विधान का ही उल्लंघन नहीं कर रहा है, अपितु, पेरिस-पैक्ट और वाशिंगटन-नौ-राष्ट्रसंघ का भी उल्लंघन कर रहा है। इन दोनों सन्धियों का सम्बन्ध संयुक्त राज्य अमेरिका से भी था। उस देश में जापानी आक्रमण के महत्व को समझा जाने लगा। शुरू में कौंसिल ने अमेरिका को वाद-विवाद में भाग लेने के लिए आमन्त्रित भी किया। पर अमरीकी सरकार ने कौंसिल के प्रयत्नों की सराहना करके उसमें सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। उसने चीन और जापान दोनों से कूटनीतिक तरीकों से अनुरोध किया कि वे कौंसिल के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें। लेकिन पूर्वी एशिया की स्थिति गम्भीर हो रही थी और अमेरिका उसको चुपचाप बैठा नहीं देख सकता था। उसने कौंसिल से अनुरोध किया कि यदि अमेरिका को कौंसिल की कार्यवाही में भाग लेने को कोई निमन्त्रण दिया गया तो वह ऐसे निमन्त्रण का स्वागत करेगा। मंचूरिया-प्रश्न पर विचार करने के लिए 14 अक्टूबर को कौंसिल का दूसरा अधिवेशन शुरू हुआ और तुरन्त ही कौंसिल के सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि अमेरिका को वाद-विवाद में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाय। जापानी प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। लम्बे वाद-विवाद के बाद यह तय हुआ कि अमेरिका को कौंसिल के कार्यों में भाग लेने के लिए बुलाया जाये और 16 अक्टूबर को अमरीकी प्रतिनिधि श्री गिलबर्ट ने कौंसिल में अपना स्थान ग्रहण किया। अमेरिका के इस सहयोग से कूटनीतिक क्षेत्रों में काफी उत्साह बढ़ गया। ऐसा समझा गया कि राष्ट्रसंघ ने जापान को खो दिया तो उसी जगह पर अमेरिका जैसा राष्ट्र उसे प्राप्त हो गया : किन्तु, इस आशा पर तुरन्त ही पानी फिर गया। अमरीकी प्रतिनिधि ने यह घोषणा की कि वह कौंसिल की कार्यवाही में उसी सीमा तक भाग लेगा जिसका सम्बन्ध पेरिस पैक्ट से होगा। वास्तव में अमरीकी सरकार राष्ट्रसंघ में कोई सक्रिय भाग लेने के लिए अभी तैयार नहीं थी।

इसी बीच कौंसिल में मंचूरिया-प्रश्न पर वाद-विवाद होता रहा। जापानी प्रतिनिधि इस बात पर जोर देता रहा कि मंचूरिया में उसने जो कार्रवाई की है, वह आत्मरक्षा के उद्देश्य से की गयी हैं और इसको युद्ध न मानकर 'पुलिस-कार्रवाई' मानी जाय। उसने यह रुख अपनाया कि चीन और जापान दोनों देश प्रत्यक्ष वार्ता करके ही इस मामले को तय कर सकते हैं। पर, जब प्रत्यक्ष वार्ता के तरीकों पर बहस होने लगी तो उसमें चीनी और जापानी विचार सर्वथा एक दूसरे के विपरीत थे। चीन का कहना था कि किसी वार्ता के प्रारम्भ करने के पूर्व चीन की भूमि से जापानी सेना का जाना परमावश्यक है और जापान का कहना था कि वार्ता द्वारा ही सेना हटाने के तरीकों को तय किया जाय। चीन को कौंसिल के अन्य सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। 24 अक्टूबर को इस आशय का एक प्रस्ताव कौंसिल के सामने पेश किया गया कि वार्ताएँ चलने के पहले 16 नवम्बर तक जापान अपनी सेना हटा ले। जापान को छोड़कर प्रस्ताव के पक्ष में सभी सदस्यों ने वोट दिये। समझौते का मार्ग निश्चित रूप से समाप्त हो चुका था।

16 नवम्बर को कौंसिल ने इस प्रश्न पर पुनः विचार करना शुरू किया। इस बार अमेरिका का प्रतिनिधि कौंसिल की कार्यवाही में सम्मिलित नहीं हुआ। 16 नवम्बर से 16 दिसम्बर तक कौंसिल में इस प्रश्न पर वाद-विवाद होता रहा। अन्त में जापान ने स्वयं एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसका ध्येय पूर्वी एशिया में चीन-जापान गतिरोध की जाँच करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति करना था। प्रस्ताव में कहा गया था कि "पूर्वी एशिया में एक राष्ट्रसंघ का आयोग भेजा जाय जो घटनास्थल पर जाकर इस बात की जाँच करे कि चीन और जापान के बीच शान्ति भंग होने की आशंका पैदा करनेवाली क्या ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ सकता है।" आयोग को स्पष्ट रूप से यह आदेश दिया गया था कि वह सम्बन्धित क्षेत्र के सैनिक प्रबन्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करे। 10 दिसम्बर को यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और अमेरिका के प्रतिनिधि इस आयोग के सदस्य बनाये गये। ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड लिटन् आयोग का अध्यक्ष बनाया गया, इसलिए इसको लिटन-आयोग का नाम दिया गया।

लिटन-आयोग : घटनास्थल पर पहुँचकर लिटन-आयोग धीरे-धीरे अपना काम जारी करने लगा। इसी बीच 20 जनवरी के दिन जापान ने शंघाई पर अपना आक्रमण शुरू कर दिया। शंघाई-युद्ध की तरफ संसार का ध्यान आकर्षित करते हुए चीनी सरकार ने यह माँग की कि राष्ट्रसंघ-विधान की 10वीं और 15वीं धारा को जापान के विरुद्ध लागू किया जाय। जापान के आक्रमण पर विचार करने के लिए उसने यह भी अनुरोध किया कि राष्ट्रसंघ ऐसेम्बली का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय।' चीन ने अनुभव किया कि कौंसिल में केवल बड़े राष्ट्रों का ही प्रतिनिधित्व है और वे जापान के विरुद्ध कोई कड़ी कार्रवाई करना नहीं चाहते। एसेम्बली में छोटे राष्ट्रों का जिन्हें आक्रमण का सबसे अधिक भय रहता था, बहुमत था और वे जापान के विरुद्ध कड़ी-सी-कड़ी कार्रवाई करने का समर्थन कर रहे थे। चीन ने सोचा कि शायद एसेम्बली द्वारा उसके प्रति न्याय हो, पर यह आशा भी व्यर्थ ही साबित हुई। 12 फरवरी, 1932 को यह विवाद एसेम्बली में भेजा गया और 3 मार्च को उनका विशेष अधिवेशन हुआ। इस प्रकार मामला ऐसी जगह पहुँच गया, जहाँ सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की वास्तविक जाँच पहले-पहल होने वाली थी। अधिवेशन में विश्व-शान्ति और सुरक्षा जैसे विषयों पर सुन्दर-सुन्दर भाषण दिये गये पर इसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यावहारिक काम नहीं किया गया। लिटन-आयोग की रिपोर्ट प्राप्त होने तक एसेम्बली का काम स्थगित कर दिया गया। जापान के विरुद्ध कोई भी कार्रवाई बड़े राष्ट्रों के समर्थन से ही सम्भव थी। बड़े राष्ट्रों में, सोवियत-संघ और अमेरिका जिनकी पूर्वी एशिया की राजनीति में दिलचस्पी थी, राष्ट्रसंघ के सदस्य ही नहीं थे और ब्रिटेन जो थोड़ा बहुत नौ-सैनिक कार्रवाई कर सकता था, जापान के इस अपवित्र कार्य का नैतिक समर्थन ही कर रहा था। इस दशा में जापान के विरुद्ध कुछ कर सकना कठिन कार्य था। अमेरिका ने 7 फरवरी को 'स्टिमसन सिद्धान्त' प्रतिपादित करके मंच-कुओं सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। कुछ और राष्ट्रों ने अमेरिका का अनुसरण किया, पर इससे लाभ ही क्या होने वाला था ? उधर लिटन-आयोग मन्थर गति से अपना कार्य कर रहा था। इसी समय जेनेवा में निरस्त्रीकरण और लुसान में क्षतिपूर्ति के प्रश्नों पर गम्भीर रूप से विचार हो रहा था। चीन के लिए किसी को फिक्र नहीं थी। उसको अपने भाग्य के ऊपर छोड़ दिया गया।

2 अक्टूबर, 1912 को लिटन-रिपोर्ट जेनेवा में प्रकाशित की गयी और नवम्बर में वह कौंसिल के समक्ष पेश की गयी। लिटन-रिपोर्ट एक लम्बा-चौड़ा दस्तावेज था और इसमें चीन तथा जापान के सम्बन्धों के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला गया था। आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि मंचूरिया में चीन से अलग होने का कोई जन-आन्दोलन नहीं है और मंचूरिया को चीन से अलग कर देने का परिणाम बहुत बुरा होगा। चीन और जापान का सम्बन्ध बहुत खराब है और इसके सुधारने तथा अन्य समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में दोनों देशों के बीच वार्तालाप होना चाहिए। मंचूरिया में जापान का विशेष स्वार्थ है; चीनी प्रभुसत्ता के अन्तर्गत इस क्षेत्र में स्वायत्त शासन की स्थापना होनी चाहिए।

राष्ट्रसंघ की निष्क्रियता : 3 दिसम्बर, 1932 को लिटन रिपोर्ट पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ एसेम्बली का एक विशेष अधिवेशन हुआ। राष्ट्रसंघ ने समझौता करने के अनेक प्रयत्न किये, पर 1933 के आरम्भ में सब आशाएँ विनष्ट हो गयीं। कारण 1 जनवरी को जापान ने फिर अपनी आक्रमणात्मक कार्रवाई शुरू कर दी। अन्त में एसेम्बली ने सारे मामले को उन्नीस व्यक्ति की एक समिति के जिम्मे सुपुर्द कर दिया। इस समिति को समझौता के लिए एक योजना तैयार करने का काम दिया गया। समिति ने इस तरह की कोई योजना प्रस्तुत करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की, जो दोनों दलों को मान्य हो। फिर भी इसने सिफारिश की कि चीन और जापान राष्ट्रसंघ की एक समिति के तत्वावधान में जापानी सेना को हटा लेने तथा चीनी प्रभुसत्ता के अन्तर्गत मंचूरिया में स्वायत्त शासन की स्थापना के लिए वार्ताएँ शुरू कर दें। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों से अनुरोध किया गया कि वे 'मंचकुओं सरकार' को मान्यता नहीं दे। इस रिपोर्ट में क्या नहीं कहा

गया था या किन बातों की उपेक्षा की गयी थी, यह बात और भी अधिक महत्वपूर्ण थी। चीन और जापान दोनों राष्ट्रसंघ के सदस्य थे और इस हैसियत से दोनों ने वादा किया था कि वे किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता पर अतिक्रमण नहीं करेंगे, पर जापान राष्ट्रसंघ के एक सदस्य-राष्ट्र पर खुले तौर से आक्रमण कर उसके प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा रहा था। राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार जापान को आक्रमणकारी घोषित करना चाहिए था और आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक और आर्थिक पाबन्दियाँ लागू करनी चाहिए थीं। समिति ने यद्यपि यह अस्वीकार किया कि जापान की सैनिक कार्रवाई पुलिस कार्रवाई है; पर उसने यह नहीं कहा कि इस देश ने राष्ट्रसंघ-विधान का उल्लंघन किया है। यह था अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का एक नमूना। जापान के नग्न और लज्जाहीन आक्रमण को केवल इसीलिए भुला दिया गया कि पश्चिम के साम्राज्यवादी बड़े राष्ट्रों को उम्मीद थी कि जापान अन्ततः सोवियत-संघ पर चढ़ाई करेगा। चीन की सामूहिक सुरक्षा के लिए उन्हें कोई परवाह नहीं थी। वास्तव में यह अन्तर्राष्ट्रीय मत्स्यन्याय का युग था—बड़ी मछली को छोटी मछली को निगल जाने का पूरा अधिकार प्राप्त था।

17 फरवरी को इस समिति की रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गयी। 24 फरवरी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ एसेम्बली की बैठक हुई। रिपोर्ट पर मत लिया गया और 42 वोटों से रिपोर्ट स्वीकार कर ली गयी। श्याम ने अपना मत नहीं दिया और जापान ने विरोध में अपना मत दिया। मतगणना के बाद जैसे ही परिणाम की घोषणा की गयी, जापानी प्रतिनिधि-मंडल के नेता ने उसके तुरन्त ही बाद एक छोटा-सा भाषण दिया, जिसमें उसने एसेम्बली की कार्यवाही पर खेद प्रकट किया। 'राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करना अब जापान के लिए असम्भव प्रतीत होता है।' जापानी प्रतिनिधि के ये अन्तिम शब्द थे। राष्ट्रसंघ के निर्णय के विरोध में जापानी प्रतिनिधि-मण्डल सभास्थल से उठकर चला गया। इसके एक माह बाद 20 मार्च 1933 को जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने की विधिवत् सूचना दे दी। आक्रमणकारी को सब कुछ मिला; आक्रान्त को कुछ नहीं।

राष्ट्रसंघ पर मंचूरिया-कांड का प्रभाव बहुत घातक हुआ। जिस समय इस विश्व-संस्था का निर्माण किया गया था उस समय दुनिया के लोगों में यह आशा उत्पन्न हुई थी कि संसार में शान्ति और सद्भावना के एक नये युग का सूत्रपात हुआ है, पर बारह वर्षों के अन्दर ही इस आशा पर पानी फिर गया। राष्ट्रसंघ के एक सदस्य पर बलात्कार होता रहा, उसके विधान का उल्लंधन होता रहा; लेकिन किसी ने इसको रोकने के लिए कोई सक्रिय या व्यावहारिक कदम नहीं उठाया। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धान्त एक कोरी कल्पना बन गया। इस कारण राष्ट्रसंघ पर से लोगों का विश्वास जाता रहा। छोटे-छोटे राज्य भयभीत हो गये। एक बार चीन पर आक्रमण हुआ, दूसरी बार किसी दूसरे पर भी हो सकता है। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धान्त बालू की भीत की तरह ढह गया। इसके लिए एकमात्र जापान को दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। इसमें उन लोगों का भी दोष था जिन्होंने इस पद्धति का सूत्रपात किया था और जब इसको लागू करने का समय आया तो पीछे हट गये। राष्ट्रसंघ के सदस्यों खासकर बड़े राष्ट्रों पर राष्ट्रसंघ विधान को पालन करवाने का मुख्य उत्तरदायित्व था, पर वे शक्तिशाली राज्य की आक्रमणात्मक कार्रवाई को रोकने के लिए तैयार नहीं थे। वास्तव में मंचूरिया-काण्ड ने राष्ट्रसंघ का सर्वनाश ही कर दिया। संसारं में पुनः अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता छा गयी।

अबीसीनिया का युद्ध

मंचूरिया-काण्ड से राष्ट्रसंघ को जबरदस्त धक्का लगा था। जिस समय राष्ट्रसंघ मंचूरिया में व्यस्त था, उसी समय वह एक और महत्वपूर्ण समस्या के समाधान में लगा हुआ था। हथियारबन्दी की होड़ कम करने कि लिए 1932 में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत जेनेवा में निरस्त्रीकरण सम्मेलन चल रहा था। कुछ ही दिनों में यह

स्पष्ट हो गया कि निरस्त्रीकरण के सारे प्रयास बेकार हैं और राष्ट्रसंघ इस समस्या के समाधान में कभी सफल नहीं हो सकता है। इससे राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा पर एक और धक्का लगा। इसी बीच 1935 में इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ के एक अन्य सदस्य राज्य अबीसीनिया पर आक्रमण करके राष्ट्रसंघ की बची हुई महत्ता को सदा-सर्वदा के लिए खत्म कर दिया।

वालवाल की घट्ना : इटली की विदेश-नीति पर विचार करते समय हम अबीसीसनिया युद्ध के कारणों पर भली-भांति विचार करेंगे। यहाँ पर इतना ही कहना है कि अफ्रीका में इटली के एक विशाल साम्राज्य कायम करने की भावना से प्रेरित होकर मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया। झंझट एक बहुत ही छोटी-मोटी घटना से शुरू हुई थी। 5 दिसम्बर, 1934 को वालवाल ग्राम के निकट अबीसीनिया की एक सैनिक टुकड़ी और सोमालीलैंड में स्थित इटली के एक सैनिक दल में अचानक मुठभेड़ हो गयी। इसके परिणामस्वरूप तीस इटालियन सैनिक मारे गये और एक सौ घायल हो गये। दूसरे पक्ष में हताहतों की संख्या इससे भी अधिक थी। इस घटना पर दोनों तरफ से विरोध प्रकट किये गये। इटली सरकार ने अबीसीनिया द्वारा क्षमायाचना करने और क्षतिपूर्ति के रूप में भारी रकम की माँग की। 13 दिसम्बर को अबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ-विधान की ग्यारहवीं धारा के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ से अपील कर दी। उधर इटली भयंकर रूप से सैनिक तैयारी करने लगा।

राष्ट्रसंघ और संकट : जेनेवा में अबीसीनिया की शिकायत का विरोध करने में फ्रांस ने अग्रणी का काम किया। जर्मनी के विरुद्ध इटली का समर्थन प्राप्त करने के लिए फ्रांस अत्यधिक उत्सुक था। जनवरी, 1935 में जब राष्ट्रसंघ-कौंसिल ने अबीसीनिया की अपील पर विचार करना शुरू किया, तब इटली के प्रतिनिधि ने ग्यारहवीं धारा के अन्तर्गत वालवाल घटना पर विचार किये जाने को आवश्यक बताया। इसके साथ ही उसने यह विचार भी व्यक्त किया कि 1927 की सन्धि के अधीन इटली समझौता और पंचनिर्णय द्वारा वालवाल-समस्या का समाधान निकालने के लिए तैयार है। इस आश्वासन पर कौंसिल ने समस्या पर विचार करना कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया, पर मुसोलिनी समझौते द्वारा मामला को तय करना नहीं चाहता था। इटली के तरफ से जोर-शोर से सैनिक तैयारियाँ होने लगीं। 1935 के जनवरी से मार्च तक इटली की सेना इरीट्रीया और सोमालीलैंड में प्रवेश करती रही। इसको देखकर किसी व्यक्ति के मन में उसके आक्रामक इरादों के बारे में कोई संदेह नहीं रहा। इस लम्बी अवधि में इटली की सरकार ने पंचों की नियुक्ति की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया। अबीसीनिया बार-बार राष्ट्रसंघ में अपील करता रहा। पीछे जब पंचों की नियुक्ति भी हुई तो आधारभूत मतभेद हो जाने के कारण पंचनिर्णय-कार्यवाहियों में गतिरोध पैदा हो गया और मार्च 17 को अबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ विधान की पंद्रहवीं धारा के अन्तर्गत राष्ट्रसंध में पुनः अपील कर दी।

राष्ट्रसंघ का रवैया : 4 सितम्बर, 1935 को राष्ट्रसंघ कौंसिल ने 17 मार्च की अबीसीनिया की अपील पर विचार करने का विरोध किया। इटालियन प्रतिनिधि ने राष्ट्रसंघ द्वारा इस अपील पर विचार करना शुरू कर दिया। इटली के विरोध के बावजूद कौंसिल ने अबीसीनिया के प्रश्न पर विचार करना शुरू कर दिया। 11 सितम्बर को ब्रिटेन के नये विदेश मंत्री सेम्युल होर ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार राष्ट्रसंघ विधान के अन्तर्गत स्वीकार किये गये सभी दायित्वों को पूरा करने का इरादा रखती है। जिन लोगों ने सर सैम्युअल के इस भाषण को सुना, उनका कहना था कि राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह एक ऐतिहासिक भाषण था। संसार को और खासकर ब्रिटिश-मतदाताओं की आँखों में सर सैम्युल धूल झोंक रहे थे। उन्हें शायद उस समय यह पता नहीं था कि मुसोलिनी को अबीसिनिया में छूट देने के लिए भीतर-ही-भीतर वार्ताएँ भी शुरू हो चुकी थी पर दुनिया को दिखलाने के लिए ब्रिटेन ने अपना बेड़ा भूमध्यसागर में एकत्र कर दिया।

1 अक्टूबर, 1935 को मुसोलिनी ने अपनी सेना को अबीसीनिया पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया और 6 अक्टूबर को आक्रमण बाजाब्ता शुरू हुआ। 7 अक्टूबर को कौंसिल की एक समिति ने एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें यह कहा गया था कि 'इटली ने राष्ट्रसंघ-विधान की अवहेलना का उल्लंघन किया है।'

9 अक्टूबर तक राष्ट्रसंघ के लगभग पचास सदस्य इस समस्या पर विचार करते रहे और अन्त में उन्होंने कौंसिल की समिति के निर्णय को मान लिया। राष्ट्रसंघ ने इटली को आक्रामक घोषित करके विधान की सोलहवीं धारा के अनुसार उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक समिति का संगठन कर दिया। मुसोलिनी ने उसके विरुद्ध राष्ट्रसंघ को धमकी दी। फिर भी समिति ने राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों से अनुरोध किया कि वे इटली से अपने सब प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध विच्छेद कर लें और उसे युद्धोपयोगी सामग्री देना बन्द कर दें। राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह पहला अवसर था जब आक्रमण के विरुद्ध आर्थिक पाबन्दियाँ लगाने का निर्णय किया गया।

होर-लावाल समझौता : फ्रांस की स्थिति बड़ी विचित्र थी। उसे अपने ऐसे साथी के विरुद्ध पाबन्दियाँ लगानी पड़ी, जिसको उसने हाल ही में अपना मित्र बनाया था। अत: लावाल का यह विचार था कि इटली पर अधिक दबाव नहीं डाला जाय। जेनेवा में उसने सर होर से मुलाकात की और दोनों ने मिलकर यह तय कर लिया कि इटली के विरुद्ध कोई भी कड़ी कार्रवाई न की जाय। होर ने वादा किया कि ब्रिटिश सरकार स्वेज नहर के मार्ग को इटली के विरुद्ध बन्द नहीं करेंगी। पर, इस समय सामरिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण वस्तु तेल थी। तेल पर पाबन्दी लगाने से मुसोलिनी के इथोपियाई अभियान की अकाल मृत्यु हो सकती थी। पर, ब्रिटेन और फ्रांस इस पाबन्दी को लगाने देना नहीं चाहते थे, अतएव जब राष्ट्रसंघ की पाबन्दीसमिति (Sanction Committee) तेल पर प्रतिबन्ध लगाने का विचार करने लगी तो मुसोलिनी ने धमकी दी कि यदि तेल पर प्रतिबन्ध लगाया गया तो युद्ध छिड़ जायगा। यह केवल एक धौंस थी। इटली अकेला ब्रिटेन और फ्रांस से नहीं लड़ सकता था। परन्तु मुसोलिनी की धौंस काम कर गयी। लावाल किसी-न-किसी बहाने तेल पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रयास को स्थापित करता रहा। उसने राष्ट्रसंघ के अन्य प्रयासों को विफल बनाने के लिए सेंम्युअल होर की बातचीत करने के लिए आमन्त्रित किया।

ब्रिटिश-सचिव सर सैंम्युअल होर बहुत ही अनुभवी व्यक्ति था। ब्रिटेन ने इटली के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने का सबसे बड़ा समर्थन किया था। मिस्र में ब्रिटिश हितों को ध्यान रखते हुए यह आवश्यक भी था। सर सैम्युअल को सम्भवत: यह भय हो रहा था कि निराशा की स्थिति में कहीं मुसोलिनी ब्रिटेन पर आक्रमण न कर बैठे, क्योंकि पाबन्दी लगवाने में ब्रिटेन का ही सबसे प्रमुख हाथ था। होर का पूर्ण विश्वास था कि ऐसे युद्ध में ब्रिटेन की विजय निश्चित होगी। पर तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ध्यान में रखकर वह इस प्रकार के युद्ध को मोल लेना नहीं चाहता था। ब्रिटेन के प्रतिद्वंद्वी बड़े जोर-शोर से अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहे थे। ऐसी स्थिति में अबीसीनिया को लेकर इटली के साथ युद्ध मोल लेना सर सैम्युअल को ठीक प्रतीत नहीं हो रहा था। वह समझता था कि इटली ने ठीक ही गलत काम किया है; पर, अबीसीनिया को लेकर उसके साथ युद्ध मोल लेना ब्रिटेन के हक में कभी अच्छा नहीं होगा। इसी विचार से प्रेरित होकर वह ब्रिटिश नीति का निर्धारण करता रहा।

राष्ट्रसंघ में इटली के विरुद्ध किसी भी प्रथम कार्रवाई को रोकना फ्रांस का काम था। अबीसीनिया में युद्ध चल रहा था। युद्ध के प्रथम तीन मास इटली के लिए इतने अच्छे नहीं रहे जैसी आशा की गयी थी। दिसम्बर, 1935 में फ्रांस को यह आशंका हो गयी कि यदि इटली अबीसीनिया में असफल हुआ तो यूरोप की स्थिति में उसकी प्रतिक्रिया हो सकती है। फ्रांसीसियों के लिए इटली की हार का सीधा अर्थ था उसकी सहानुभूति से सदा के लिए हाथ धो देना। अतएव लावाल ब्रिटिश विदेश सचिव सर सैम्युअल होर से एक ऐसा समझौता कर लेना चाहता था जिससे इटली को किसी खास कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े। उसने गुप्त रूप से मुसोलिनी को इस आशय का आश्वासन भी दे दिया। दिसम्बर, 1935 की कुख्यात होर-लावाल समझौते की यही पृष्ठभूमि थी।

दिसम्बर में सैम्युअल होर फ्रांसीसी विदेशी-मन्त्री लावाल से मिलने के लिए पेरिस गया। दोनों ने मिलकर इटली और अबीसीनिया के सामने प्रस्तुत करने के लिए एक 'शान्ति योजना' तैयार की। इस योजना के अनुसार यह निर्णय हुआ कि अभी तक इटली की सेना ने अबीसीनिया के जिन क्षेत्रों पर आक्रमण किया था, उससे भी काफी अधिक क्षेत्र को दे दिया जाय। इसके बदले में अबीसीनिया को समुद्र तट तक निकास के लिए लालसागर पर एक बन्दरगाह दे दिया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं की यह समझौता सम्पूर्ण संसार और राष्ट्रसंघ के सभी आदर्शों के प्रति महान् विश्वासघात था। अबीसीनिया को पूर्ण विनाश से बचाने के लिए सम्भवतः इस समझौते को उचित ठहराया जा सकता था। पर, उस समय तक इटली की सफलता की कोई खास सम्भावना नहीं दिखाई पड़ रही थी। सर सैम्युअल ने स्वयं भविष्यवाणी की थी कि यह युद्ध लम्बा और अनिर्णायक रहेगा और उसके बाद समझौते से फैसला होगा। पर, सर सैम्युअल मुसोलिनी को प्रोत्साहित करने पर तुला हुआ था। दोनों विदेश मन्त्रियों के बीच यह तय हुआ कि जब तक इस योजना पर और अधिक विचार न हो जाय तब तक इसे गुप्त रखा जाय। इसके बाद सर सैम्युअल अपनी बातचीत के परिणाम को लन्दन भेजकर छुट्टी मनाने स्विट्जरलैंड चला गया।

अधिक दिनों तक इस कुख्यात योजना को गुप्त नहीं रखा जा सका। लावाल ने तुरन्त ही इस योजना को फ्रांसीसी अखबारों को बतला दिया। दूसरे ही दिन सारी योजनाएँ अखबार में छप गयीं। ब्रिटिश-जनता में रोष और विरोध का तूफान उठ खड़ा हुआ। वहाँ के लोगों ने महसूस किया कि उनकी सरकार द्वारा अबीसीसिया और राष्ट्रसंघ के आदर्शों के प्रति विश्वासघात किया गया है। इस योजना का अर्थ मुसोलिनी के काले कारनामों में सहायता पहुँचाना था। ब्रिटिश जनमत ने इस समझौते का घोर विरोध किया जिससे सर सैम्युअल होर को अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। इसके बाद श्री ईडन ब्रिटेन के मन्त्री बने। इस घटना के बाद होर-लावाल योजना की कोई चर्चा सुनाई नहीं पड़ी। यह योजना तो मर गयी, पर इसका प्रभाव उन देशों पर पड़े बिना नहीं रह सका जिन्होंने अभी तक राष्ट्रसंघ में विश्वास किया था। वड़े राष्ट्रों के विश्वासघाती कारनामों के फलस्वरूप यह विश्वास जाता रहा।

अबीसीनिया का युद्ध : उन्नत और नये अस्त्र-शस्त्रों से सुजज्जित इटली की सेनाओं के सामने अबीसीनिया का टिक सकना असम्भव था। उसकी सेना अबीसीनिया में निरन्तर आगे बढ़ती गयी। अबीसीनिया को मदद देने की बात को दूर रही, ऐसे अनेक उपाय किये गये जिससे वह पूर्णतया अपनी आत्मरक्षा न कर सके। ब्रिटिश सरकार ने अस्त्र-शस्त्र भेजना बन्द कर दिया। अमेरिका की सैनिक सहायता भी अबिसीनिया को प्राप्त नहीं हो सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति देखते हुए अगस्त, 1935 में अमरीकी काँग्रेस ने अनेक 'तटस्था नियम' पास किये जिसके अनुसार युद्धरत देशों को अमरीकी शस्त्रास्त्र मिलना बन्द हो गया। इस कानून से इटली को तो कोई घाटा नहीं हुआ, पर शक्तिहीन अबसीनिया को अमरीकी अस्त्र-शस्त्र मिलना बन्द हो गया। प्रत्येक दृष्टिकोण से अबीसीनिया अकेला पड़ गया और ऐसी स्थिति में उसकी पराजय निश्चित थी। इटली ने केवल आक्रमण ही नहीं किया, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और खासकर युद्ध सम्बन्धी नियमों का उसने खुले आम उल्लंघन भी किया। विमानों से ऐसी विषाक्त गैसें गिरायी गयीं तथा दमदम के बने उन गोलियों का प्रयोग किया गया जिनका व्यवहार युद्ध-नियम के अनुसार निषिद्ध था। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक.जगह अबीसीनिया की सेना हारने लगी। 2 मई, 1936 को सम्राट् हाइले सिलेसी राजधानी छोड़कर भाग खड़ा हुआ। तीन दिनों के बाद इटालियन सेना आदिस अबाबा में प्रवेश कर गयी। 6 मई को अबीसिनिया इटली के साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। अब विशाल अफ्रीकी साम्राज्य का मुसोलिनी का स्वप्न पूर्ण हो गया।

प्रतिबन्धों का अन्त : यदि अबीसीसनिया को अकेला नहीं छोड़ दिया जाता और राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार उसकी सहायता क्री गयी होती तो मुसोलिनी की आकांक्षा कभी पूर्ण नहीं होती। हाइले सिलेसी को विवश होकर देश छोड़ देना पड़ा। जेरूसलम से उसने राष्ट्रसंघ के महासचिव को तार देकर यह सूचित

किया कि ''इथोपियावासियों को सर्वनाश से बचाने के लिए मैं राजधानी छोड़ चुका हूँ।" उसने राष्ट्रसंघ से पुनः अपील की कि वह अबीसीनिया की विजय को मान्यता नहीं दे और राष्ट्रसंघ-विधान की मर्यादा कायम रखने के लिए अभी भी प्रयास करे। 11 मई को राष्ट्रसंघ कौंसिल की बैठक हुई। इटली के प्रतिनिधि ने अबीसीनिया के प्रतिनिधि की उपस्थिति पर आपत्ति की। अबीसीनिया ने सोलहवीं धारा के अन्तर्गत कार्रवाई करने की माँग की, पर कौंसिल कोई कदम उठाने में लाचार थी। एक के बाद दूसरा देश प्रतिबन्ध उठा रहा था। अन्त में कौंसिल ने सारा विवाद एसेम्बली के जिम्मे सौंप दिया। पश्चिमी राष्ट्र अबीसीनिया के प्रति अब किसी प्रकार की सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए उत्सुक नहीं थे।

30 जून को एसेम्बली की बैठक शुरू हुई। सम्राट् हाइले सिलेसी स्वयं अपने देश का प्रतिनिधित्व करने जेनेवा आया। एसेम्बली में उसने एक जबरदस्त भाषण दिया, पर इसका किसी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सोवियत प्रतिनिधि को छोड़कर किसी ने अबीसीनिया का समर्थन नहीं किया। उसकी सभी माँगों को अस्वीकृत कर पाबन्दी हटा दी गयी। सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का तिरस्कार कर दिया गया और अबीसीनिया को उसके भाग्य पर छोड़ दिया गया। राष्ट्रसंघ में अबीसीनिया को अभी भी प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इसके विरोध में इटली ने राष्ट्रसंघ का बहिष्कार कर दिया। अब ब्रिटेन और फ्रांस का अन्तिम काम यह था कि अबीसीनिया को राष्ट्रसंघ से निकालकर इटली को राष्ट्रसंघ में पुनः वापस लाया जाय। जिस तरह हेनरी चतुर्थ पोप से माफी माँगने केनोसा गया था उसी प्रकार राष्ट्रसंघ के महासचिव मि० एवेनोल मुसोलिनी से क्षमा माँगने रोम गये। इसके बाद ब्रिटेन और फ्रांस के प्रयास से अबीसीनिया राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया। नवम्बर, 1938 में ब्रिटेन और फ्रांस ने अबीसीनिया पर इटालियन आधिपत्य को मान्यता दे दी। इसके केवल उन्नीस महीनों बाद मुसोलिनी ने इन दोनों देशों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके इस मान्यता का समुचित उत्तर दे दिया।

अबीसिनीया-काण्ड के परिणाम : इसमें कोई सन्देह नहीं कि इटली के नग्न और निर्लज्जतापूर्ण आक्रमण ने सारे संसार पर अपना गहरा असर डाला। प्रोफेसर गेयोर्न हार्थी के कथनानुसार इस घटना में युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ आरम्भ होता है। इटली की विजय राष्ट्रसंघ पर एक सांघातिक आघात था और इसके फलस्वरूप राष्ट्रसंघ का रहा-सहा प्रभाव भी जाता रहा। इस कांड से उसे ऐसा धक्का लगा जिससे वह कभी सम्हल नहीं सका। छोटे-छोटे राष्ट्र जो राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त पर आश्रित थे, उनका विश्वास सदा के लिए राष्ट्रसंघ पर से उठ गया। राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिए यह एक बहुत बड़ी विपत्ति थी। वस्तुतः यह अबीसीनिया की स्वतन्त्रता का नहीं स्वयं राष्ट्रसंघ की हत्या की थी।

राष्ट्रसंघ और स्पेन का गृहयुद्ध

मुसोलिनी के सांघातिक प्रहार से राष्ट्रसंघ बच नहीं सका। इसी बीच स्पेन में गृहयुद्ध (1937) शुरू हुआ। जनरल फ्रांकों के नेतृत्व में स्पेन के प्रतिक्रियावादी तत्वों ने उदारवादी गणतंत्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके एक भयंकर गृहयुद्ध का सूत्रपात किया। अबीसीनिया में विजय के बाद मुसोलिनी के हौसले बहुत बढ़ चुके थे। राष्ट्रसंघ की कमज़ोरी स्पष्ट हो चुकी थी। स्पेन के गृहयुद्ध में उसने जर्मनी को एक साथ करके जनरल फ्रांकों को मदद करनी शुरू की। इससे गणतन्त्रीय सरकार की स्थिति बहुत खराब हो गयी। उसने राष्ट्रसंघ से सहायता की याचना की। लेकिन सहायता देने की बात तो दूर रही; इंगलैंड और फ्रांस ने राष्ट्रसंघ से पृथक् एक अहस्तक्षेप समिति (Non-intervention Committee) की स्थापना करके उसे शस्त्र और ऋण देने पर पाबन्दी लगा दी। इस समय इन दोनों क्षेत्रों को यूरोप के तानाशाही से कोई भय नहीं था। उन्हें जो भय था वह साम्यवादियों से और इस भय से उन देशों को इतना अंधा बना दिया था कि वे अपना स्वार्थ नहीं देख सकते थे।

स्पेन की सरकार के लिए अहस्तक्षेप की नीति अत्यन्त अन्यायपूर्ण थी। 11 मई, 1938 को उसने राष्ट्रसंघ से इसका अन्त करने और विदेशों से शस्त्रास्त्र खरीदने की अनुमति प्रदान करने का अनुरोध किया। केवल रूस ने इसका समर्थन किया। लेकिन ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों के कारण अहस्तक्षेप की नीति समाप्त करने का अनुरोध अस्वीकृत हो गया। नतीजा यह हुआ की फ्रैंको का दल गृहयुद्ध में जीत गया और राष्ट्रसंघ के प्रमुख सदस्यों से तुरन्त ही उनको मान्यता मिल गयी। यह भी राष्ट्रसंघ की एक महान् असफलता थी।

अन्त्येष्टि क्रिया : इसके बाद राष्ट्रसंघ का पतन अत्यन्त तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। जुलाई, 1937 में जापान ने युद्ध की घोषणा किये बिना चीन पर फिर से जबरदस्त हमला कर दिया। इस पर चीन के प्रतिनिधि ने चीन के विरुद्ध 16वीं और 17वीं धाराओं के अनुसार जापान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की माँग की। लेकिन राष्ट्रसंघ के सदस्य इसके लिए तैयार नहीं हुए। इस समय तक हिटलर सम्पूर्ण आस्ट्रिया को निगल गया। चीन के साथ किसी की सहानुभूति नहीं रह गयी थी। इस स्थिति में चीन के प्रतिनिधि नेलिंगटन कू ने राष्ट्रसंघ के विषय में ठीक ही कहा था, "वह मिस्र की मम्मी की तरह सम्पूर्ण भोग ऐश्वर्य के साधनों से सम्पन्न होता हुआ भी निर्जीव हो चुका है।"[1]

राष्ट्रसंघ का गला अत्यन्त सम्मानपूर्वक घोंटा गया। सितम्बर, 1938 में जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया का अन्त कर दिया और राष्ट्रसंघ इसके विरुद्ध कुछ न कर सका। इसके एक वर्ष बाद पोलैंड पर जर्मन आक्रमण के कारण द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। हिटलर की आक्रामक कार्रवाईयों से भयभीत होकर आत्मरक्षा की तैयारी में 30 नवम्बर, 1939 को सोवियत रूस ने फिनलैंड पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रसंघ-विधान की 11वीं धाराओं के अनुसार फिनलैंड ने राष्ट्रसंघ से शिकायत की और इस बार राष्ट्रसंघ ने बड़ी तत्परता से काम किया। अर्जेनटाइना के प्रस्ताव पर आक्रमणकारी सोवियत रूस को राष्ट्रसंघ से निकाल दिया। इस पर चीन के प्रतिनिधि ने कहा कि चीन के मामले में ऐसा नहीं किया गया। "तात्पर्य यह है कि जापान (और जर्मनी तथा इटली) ने राष्ट्रसंघ के नियमों का भीषण उल्लंघन किया था, इस पर इसके विरुद्ध कभी ऐसा प्रस्ताव नहीं लाया गया। किन्तु, इस समय राष्ट्रसंघ के अधिकांश सदस्य साम्यवाद के कट्टर विरोधी थे, उसे फासिस्टवाद से अधिक भयंकर समझते थे, यद्यपि 1939 तक रूस ही एक ऐसा देश था जिसने राष्ट्रसंघ के नियमों का पालन करते हुए उससे सामूहिक सुरक्षा के लिए प्रभावशाली बनने का यत्न किया था।"[2] पर फिनलैंड को इस प्रस्ताव से कोई मदद नहीं मिली। राष्ट्रसंघ बिल्कुल प्राणहीन था।

अन्त में राष्ट्रसंघ को दफनाने का काम 1946 में किया गया। 8 अप्रैल को उसका अधिवेशन जेनेवा में शुरू हुआ और 19 अप्रैल को एसेम्बली ने एक प्रस्ताव स्वीकृत करके राष्ट्रसंघ का विघटन कर दिया।

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी थी कि वह संसार में शान्ति रखेगा। लेकिन जब समय बीतने लगा और परीक्षा का अवसर आया तो राष्ट्रसंघ एक शक्तिहीन संस्था साबित हुआ। जहाँ तक छोटे-छोटे राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों का प्रश्न था, राष्ट्रसंघ को उनमें कुछ सफलता मिली, लेकिन जब बड़े राष्ट्रों का मामला आया तो राष्ट्रसंघ कुछ भी नहीं कर सका। जापान ने चीन पर चढ़ाई कर दी, और इटली ने अबीसीनिया पर हमला किया; पर राष्ट्रसंघ उनको रोकने में बिल्कुल असमर्थ रहा। अधिनायकों को पता चल गया कि राष्ट्रसंघ बिल्कुल शक्तिहीन संस्था है और वे जो चाहें कर सकते हैं। इस हालत में शान्ति संस्थापक के रूप में राष्ट्रसंघ का सफल होना असम्भव था। इसकी असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

संयुक्त राज्य अमेरिका का असहयोग : राष्ट्रसंघ के लिए एक और दुर्भाग्य यह हुआ की उसके सबसे पड़े समर्थक संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसके साथ सहयोग नहीं किया। राष्ट्रसंघ की स्थापना विल्सन के सद्प्रयासों के फलस्वरूप हुई थी। लेकिन अमेरिका की सीनेट ने इसकी सदस्यता को इंकार कर दिया और इस कारण राष्ट्रसंघ अपने प्रबल समर्थक के सहयोग से वंचित हो गया। जैसा कि गेथोर्ण हार्डी ने कहा है : "एक बालक यूरोप के दरवाजे पर अनाथों की भाँति छोड़ दिया गया था जिसके चेहरे-मोहरे पर उसकी अमरीकी पैतृकता स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी।"[3]

राष्ट्रसंघ के जीवन पर इस घटना का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। उसको संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश के समर्थन और सहयोग से वंचित हो जाना पड़ा। चूँकि संयुक्त राज्य राष्ट्रसंघ में शामिल नहीं हुआ, अतएव उसका विधान उस पर लागू नहीं हो सकता था। इस हालत में यदि राष्ट्रसंघ किसी आक्रामक राज्य के विरुद्ध कोई आर्थिक प्रतिबन्ध लगाता तो वह देश अपनी आवश्यकता की चीजों को अमेरिका के बाजारों से खरीद सकता था।

राष्ट्रसंघ में शामिल नहीं होने के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका में संकीर्ण और संकुचित राष्ट्रवाद का प्रभाव बढ़ गया और पार्थक्यवादियों को अपनी नीति कार्यान्वित करने का पूरा मौका मिला। अमेरिका तटस्थता की ओर अधिकाधिक झुकने लगा जिसका विश्व की राजनीति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं होने से "अतृप्त राज्यों" के सामने एक उदाहरण आ गया। वे राष्ट्र अमेरिका का अनुसरण करके राष्ट्रसंघ को छोड़ने लगे।

इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं होने के चार परिणाम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथमतः इसके कारण राष्ट्रसंघ की शक्ति बहुत कम हो गयी और दूसरी नंयी दुनिया के विशाल क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से बाहर हो गया जिसके कारण राष्ट्रसंघ एक विश्वव्यापी संगठन होने का दावा नहीं कर सकता था। राष्ट्रसंघ की यह एक बहुत बड़ी त्रुटि थी। तीसरे, इस घटना ने आक्रामक राष्ट्रों को बहुत प्रोत्साहित किया क्योंकि अमेरिका के नहीं शामिल होने से राष्ट्रसंघ को अपने सदस्यों को आक्रमणों से सुरक्षित करने की क्षमता भी कम हो गयी। यदि अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य होता तो जापान और इटली की आक्रमणात्मक कार्रवाइयों को अधिक प्रभावकारी ढंग से रोका जा सकता था।

अमेरिका के संघ परित्याग का चौथा परिणाम बड़ा भयंकर सिद्ध हुआ। इसके परिणास्वरूप फ्रांस की सुरक्षा के लिए दी गयी आंग्ल अमेरिका गारण्टी व्यर्थ हो गयी। फ्रांस को हमेशा जर्मनी के आक्रमण का भय बना रहता था। इसलिए पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में उसने राइन के पश्चिमी तट पर दावा किया था। लेकिन विल्सन के आश्वासन पर उसने यह माँग छोड़ दी थी। जब अमेरिका राष्ट्रसंघ में शामिल नहीं हुआ तो उस आश्वासन का कोई महत्व नहीं रहा और फ्रांस की सुरक्षा खतरे में पड़ गयी। इस हालत में फ्रांस का चिन्तित होना स्वाभाविक था। अतएव वह सुरक्षा की उधेड़बुन में पड़कर यूरोप में गुटबन्दियों का जाल बिछाने लगा। यूरोप की राजनीति और राष्ट्रसंघ के जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा।

वर्साय सन्धि से सम्बद्ध होना : नौर्मन वेन्टविच ने लिखा है-"राष्ट्रसंघ एक कुख्यात माता की कुप्रतिष्ठित पुत्री थी।" इसका जन्म वर्साय की सन्धि के द्वारा हुआ था। अतएव युद्धोतर विश्व के "अतृप्त राज्य" इसको विजेताओं का संघ मानते थे और उसके प्रति वैसी ही घृणा रखते थे जैसी कि वर्साय की सन्धि के प्रति। राष्ट्रसंघ के लिए यह दुर्भाग्य था कि उसका जन्म एक ऐसी सन्धि के द्वारा हुआ जो विजितों के लिए घृणा का पात्र थी। वर्साय-सन्धि के साथ राष्ट्रसंघ का सम्बद्ध होना बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। हम कह आये हैं कि वर्साय-सन्धि की प्रथम 26 धाराएँ राष्ट्रसंघ का विधान थीं। इस प्रकार यह वर्साय-सन्धि का अभिन्न अंग बन गया था। जो देश पराजित थे, वे राष्ट्रसंघ को शान्ति-सन्धियों द्वारा स्थापित की गयी व्यवस्थाओं का संरक्षक मानते थे। राष्ट्रसंघ का नाम वर्साय-व्यवस्था से जुट गया था और पराजित देशों के लोग इसे "विजेता राष्ट्रों द्वारा अपनी

स्वार्थ-सिद्धि का यन्त्र" मानते थे। उसे यथास्थिति बनाये रखने वाले पश्चिमी राष्ट्रों का गुट और षड़यंत्र समझा जाने लगा। राष्ट्रसंघ के मुख्य संस्थापक राष्ट्रपति विल्सन ने इस बात की व्यवस्था की थी कि राष्ट्रसंघ आवश्यकता पड़ने पर सन्धियों में संशोधन करे, लेकिन फ्रांस के नेतृत्व में उन सभी राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ में शान्ति-सन्धियों के संशोधनों का विरोध किया। चूँकि वहाँ उनका बहुमत था, इसलिए राष्ट्रसंघ किसी तरह का संशोधन कार्यान्वित नहीं कर सका। इस प्रकार, राष्ट्रसंघ कई देशों की निगाहों में वर्साय-व्यवस्था को कायम रखनेवाला संगठन मात्र रह गया और जो देश सन्धि के विरोधी थे उन्होंने मौका मिलने पर इस संस्था को बदनाम करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। इसी आधार पर जर्मनी, इटली, और जापान राष्ट्रसंघ से निकल गये।

राष्ट्रसंघ के सिद्धांतों में अविश्वास : किसी भी संगठन की सफलता की एक शर्त है; उसके सिद्धान्त में पूर्ण विश्वास। राष्ट्रसंघ को अपने समर्थकों से विश्वास प्राप्त नहीं हो सका और इसलिए उसकी विफलता निश्चित थी। हॉब्स ने लिखा था कि अपने द्वारा दिये वचनों का पालन सभ्य समाज के अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक होता है। इसके अभाव में आदमी "प्राकृतिक अवस्था" में चला जाता है। जिस समय राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ उस समय सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े जोर में किया गया, राष्ट्रसंघ में सम्मिलित होनेवाले राज्यों ने उसके विधान पर हस्ताक्षर करके इस बात का वचन दिया कि वे आपस में मिलजुल कर सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के आधार पर सदस्य-राज्यों की राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखेंगे और यदि कोई राज्य विधान का उल्लंघन करेगा तो उसके विरुद्ध सम्मिलित रूप से कार्रवाई करेंगे। यह भी स्पष्ट था कि राष्ट्रसंघ की सफलता महान् राज्यों के सहयोग और समर्थन पर निर्भर करेगी। लेकिन जब इस वचन का पालन करने का समय आया तो ये महान् राज्य अपने दिये गये वचन से विमुख होने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऊपर से वे बराबर राष्ट्रसंघ और विश्व-शान्ति की दुहाई देते रहे लेकिन भीतर-ही-भीतर वे राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों का हनन करते रहे। उनका आचरण पीठ की तरफ से छुरा भोंकने वाली कहावत को चरितार्थ करती थी। जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया तो उन्होंने इसी नीति का अनुसरण किया। चीन को बचाने का कोई उपाय नहीं किया गया। फिर अबीसीनिया में इटली का आक्रमण हुआ। इस आक्रमण को रोकने के लिए उन्होंने दिखावटी प्रतिबन्ध अवश्य लगाया, लेकिन यह ढोंग के सिवा कुछ और नहीं था। एक तरफ तो आर्थिक प्रतिबन्ध लगया गया, दूसरी ओर से यह प्रयास भी होने लगा कि किस तरह इस आर्थिक प्रतिबन्ध को बेकार कर दिया जाय। इसके लिए फ्रांस और ब्रिटेन में एक गुप्त समझौता हुआ और यह तय किया गया कि मुसोलिनी के कुकर्मों को रोका नहीं जाय। हिटलर के साथ मुसोलिनी मिले नहीं, इसके लिए यह आवश्यक समझा गया कि मुसोलिनी के अफ्रीका में साम्राज्य-निर्माण के प्रयत्न में किसी तरह की बाधा नहीं डाली जाय। 1935 में इंगलैंड में चुनाव हुआ था। इस अवसर पर बाल्डविन ने राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा के नाम पर कसम खायी। लेकिन चुनाव जीतने के बाद उसकी ओर से अबीसीनिया के साथ विश्वासघात करने में कोई कसर नहीं छोड़ी गयी। फ्रांस तो दो कदम और आगे बढ़ गया। फ्रांसीसी प्रधानमंत्री, लावाल किसी भी मूल्य पर इटली की मित्रता पाने के लिए उत्सुक था। दुनिया को दिखाने के लिए यह विश्वासघाती राजनेता तो राष्ट्रसंघ के विधान में पूरी निष्ठा रखने का ढोंग करता रहा, लेकिन आर्थिक प्रतिबन्ध को व्यर्थ करने में उसने अधिकतम प्रयास किया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ के मुख्य कर्णधार ही उसको असफल बनाने पर तुले हुए थे। ऐसी हालत में राष्ट्रसंघ यदि सफल हो जाता तो बड़ी आश्चर्य की बात होती। शूमैन ने लिखा है-"संघ की सफलता थी सदस्य-राज्यों में इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, विश्वास और साहस होना। किन्तु उनमें इसका सर्वथा अभाव था। अतएव जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क में निर्मित उसका भव्य महल शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि-स्थल बन गया।"[4]

संघ के प्रति विभिन्न राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण : राष्ट्रसंघ विभिन्न राष्ट्रों के सहयोग का एक साधन था। इसकी सफलता की एक शर्त थी कि इसमें सम्मिलित राष्ट्र अपने भेद-भाव को भूलकर संघ को

सफल बनावें। लेकिन उसमें इस भावना का नितांत अभाव था। सभी राष्ट्रों का अपना दृष्टिकोण था और वे विभिन्न दृष्टिकोण से राष्ट्रसंघ को देखते थे। फ्रांस इसको जर्मनी से अपनी सुरक्षा का एक साधन मानता था। उसके विचार में इस संस्था का काम जर्मनी पर नियंत्रण रखना था। वह इसे सार्वभौम सुरक्षा का संगठन कभी नहीं मानता था। उसका हमेशा यही प्रयास रहता था कि संघ को यूरोप में स्थापित वर्साय व्यवस्था को बनाये रखने का एक प्रभावशाली साधन बनाया जाय और इसके माध्यम से जर्मनी को कुचला जाय।

ब्रिटेन का उद्देश्य भी बहुत संकीर्ण और संकुचित था। यह एक ऐसे विश्वव्यापी साम्राज्य का मालिक था जिसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता था और उसका उद्देश्य इसी साम्राज्य की रक्षा करना था। वह कभी भी नहीं चाहता था कि राष्ट्रसंघ ऐसा कोई कार्य करे जिससे उसके साम्राज्य पर खतरा उत्पन्न हो जाय। इस समय उसके साम्राज्य पर सबसे बड़ा खतरा सोवियत साम्यवाद का था। अतएव उसके समक्ष राष्ट्रसंघ को सफल बनाने की चिन्ता नहीं वरन् साम्यवाद को कुचलने की चिन्ता थी। मंचूरिया पर जापान के आक्रमण को उसने इसी उद्देश्य से माफ किया जिसका राष्ट्रसंघ पर सांघातिक प्रभाव पड़ा।

जर्मनी का दृष्टिकोण भी राष्ट्रीय हित के रंग में रंगा हुआ था। शुरू में जर्मनी को राष्ट्रसंघ में शामिल नहीं किया गया। अतएव उसमें राष्ट्रसंघ के प्रति कभी सहानुभूति उत्पन्न नहीं हुई। वह आरम्भ से ही इसको विजेताओं का संघ मानता आ रहा था। जब 1926 में वह इसका सदस्य बना तो उसका मुख्य उद्देश्य वर्साय-सन्धि में राष्ट्रसंघ द्वारा परिवर्तन करना था। वह बराबर इसी समस्या में व्यस्त रहा। बाद में जब हिटलर आया तो राष्ट्रंसघ उसकी आँखों का काँटा बन गया। नात्सीवाद के सिद्धान्तों से राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों में मेल नहीं हो सकता था। हिटलर की आकांक्षा विश्व पर जर्मनी की प्रभुता कायम करने की थी, इस मार्ग में राष्ट्रसंघ उसका बाधक था। अतएव वह शुरू से ही इस संस्था का विरोधी रहा।

राष्ट्रसंघ को सोवियत रूस का समर्थन भी नहीं मिल सका। शुरू में उसके साथ जैसा व्यवहार किया गया उस दृष्टि से रूस का ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक था। अतएव 1919 में ही रूसी नेताओं ने यह कह दिया कि "राष्ट्रसंघ जनक्रान्ति को दबाने के लिए बुर्जुआ वर्ग का अपवित्र संघ है।" बाद में कई वर्षों तक भी सोवियत संघ के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सोवियत नेताओं की दृष्टि में यह "पिछली शताब्दी की सबसे निर्लज्ज और चोरों की बनाई हुई वर्साय-सन्धि की उपज" ही बना रहा। 1934 में रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया लेकिन इसका तात्पर्य यह न था कि राष्ट्रसंघ में उसका विश्वास हो गया। जर्मनी में हिटलर के उदय से भयभीत होकर वह संघ मे शामिल हुआ। लेकिन इस समय भी पश्चिमी राष्ट्रों ने उस पर विश्वास नहीं किया। अतएव संघ के प्रति उसकी पूरी आस्था कभी नहीं हुई।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघ में विभिन्न महाशक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोण थे। वे इसे अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के साधन मात्र मानते थे। जब कभी उनके हितों और संघ के सिद्धान्तों में विरोध होता था, ये संघ के सिद्धान्तों का ही हनन करते थे। इस हालत में राष्ट्रसंघ को असफल होना ही था।

जहाँ तक छोटे राज्यों का सम्बन्ध है, उनका पार्ट भी निंदनीय ही रहा। वे बड़े राष्ट्रों का ही अनुकरण करते रहे। इसके अतिरिक्त उसने पास दूसरा विकल्प भी नहीं था।[5]

आर्थिक मंदी : अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास सन्तोष के वातावरण में होता है। इसके लिए जनता की संतोषजनक आर्थिक दशा परम आवश्यक है। लेकिन 1930 में जो भीषण आर्थिक संकट पैदा हुआ उसने राष्ट्रसंघ के भाग्य का फैसला ही कर दिया। इस आर्थिक संकट का सामना करने के लिए विश्व के देशों में संकुचित राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ। आर्थिक प्रतिबन्ध और संरक्षण की नीति आर्थिक संकट से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक माने जाने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सारी बातें हवा में उड़ गयीं। यह परिस्थिति राष्ट्रसंघ के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुई।

अधिनायकवाद का विकास : विश्व-शान्ति की कल्पना जनतन्त्र के वातावरण में ही हो सकती है। राष्ट्रसंघ की स्थापना इस भरोसा पर की गयी थी कि इसके सभी सदस्य-राज्य शान्ति तथा स्वतंत्रता के प्रेमी होंगे और वे जो भी काम करेंगे उन पर लोकतन्त्रवाद का प्रभाव रहेगा। इसका आधार सुलह, समझौता और वाद-विवाद था। राष्ट्रसंघ की पूरी नींव इसी विश्वास पर आधारित थी। लेकिन यूरोप ने राष्ट्रसंघ को जबरदस्त धोखा दिया। कई देशों में अधिनायकवाद का उदय हुआ और लोकतन्त्र का भविष्य खतरे में पड़ गया। हिटलर और मुसोलिनी के उत्कर्ष ने राष्ट्रसंघ को पंगु-बना दिया। इन दोनों व्यक्तियों के सिद्धान्त युद्ध को आवश्यक मानते थे। उनका विश्वास पाश्विक बल की शक्ति पर था, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व पर नहीं। इसके लिए वे कुछ भी कर सकते थे। वे हमेशा अपने उद्देश्य की प्राप्ति पर तुले रहते थे, "भले ही यह कार्य जेनेवा की सहायता से हो, उसकी सहायता के बिना हो या उसका विरोध करके हो" (With Geneva without or aganst Geneva)। इस अवस्था में संघ को सफल होने की आशा दुराशामात्र थी।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव : किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सफलता के लिए लोगों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का होना अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन संसार में अभी इस दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ था और इसलिए राष्ट्रसंघ का पतन अवश्यम्भावी था।[6]

संगठन की त्रुटियाँ : इन कारणों के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ में संगठन की अनेक त्रुटियाँ विद्यमान थीं। सर्वप्रथम यह एक अखिल विश्व संघ नहीं था। आरम्भ से ही संयुक्त राज्य अमेरिका इससे अलग हो गया। इससे राष्ट्रसंघ के प्रभाव को बहुत बड़ा धक्का लगा। जिस समय राष्ट्रसंघ का प्रभाव अपनी चरम सीमा पर था, उस समय में भी यह एक विश्वव्यापी संस्था नहीं हो सका। असेम्बली के प्रथम अधिवेशन में अर्जेन्टाइना के प्रतिनिधि ने यह सुझाव रखा कि विश्व के सभी राज्यों को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना दिया जाय। इससे राष्ट्रसंघ की महत्ता बढ़ जाती और वह विश्व-व्यापी संस्था बन जाता, लेकिन यह सुझाव नहीं माना गया। यह सम्भव भी नहीं था। राष्ट्रसंघ के पास वैसी कोई शक्ति नहीं थी, जिसके द्वारा वह उन राज्यों को सदस्य बनाने के लिए विवश कर सकता था जो इसका सदस्य होना नहीं चाहते थे।

राष्ट्रसंघ के विधान का दूसरा दोष यह था कि उसमें सदस्यता समाप्त करने की व्यवस्था कर दी गयी थी। कोई भी सदस्य दो वर्ष पूर्व सूचना देकर राष्ट्रसंघ से पृथक हो सकता था। यह एक बहुत बड़ा दोष था और इसलिए संयुक्त राष्ट्रसंघ में इस शर्त को नहीं अपनाया गया। समय पाकर ब्राजील, कोस्टारिका, जापान, जर्मनी और इटली राष्ट्रसंघ से पृथक हो गये। बड़े-बड़े राष्ट्रों के पृथक हो जाने से राष्ट्रसंघ को खास तौर से धक्का लगा।

सर्वसम्मति या मतैक्य: का सिद्धान्त राष्ट्रसंघ के विधान की सबसे बड़ी कमजोरी थी। राष्ट्रसंघ के सभी निर्णयों को एसेम्बली में उपस्थित सभी सदस्य राज्यों की सहमति का मिलना आवश्यक था। स्पष्ट है कि इस तरह के सिद्धान्त से कोई काम नहीं चल सकता है। वैधानिक तौरं पर राष्ट्रसंघ किसी भी राज्य को दबा नहीं सकता था। इस तरह एकमत का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए बड़ा बाधक सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त विधान में संशोधन लाने के लिए भी सर्वसम्मति आवश्यक थी। राष्ट्रसंघ के संगठन में यह एक महान् त्रुटि थी।

राष्ट्रसंघ एक असहाय संस्था थी। अपराधी को ठीक रास्ते पर लाने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है, पर राष्ट्रसंघ के पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय हवाई, जल या थल-सेना नहीं थी जिससे कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को भंग करनेवालों के खिलाफ जोरदार कार्रवाई कर सके। अगर राष्ट्रसंघ के पास अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की समुचित व्यवस्था होती तो संभव था कि आक्रमणकारी प्रवृत्तियों को उतना प्रोत्साहन नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टिकोण से भी राष्ट्रसंघ की स्थिति अच्छी नहीं थी। उसको सदस्य-राज्यों से चन्दा पर निर्भर करना पड़ता था; कर लगाने का कोई अधिकार नहीं था। अर्थाभाव से राष्ट्रसंघ को काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ा।

राष्ट्रसंघ के विधान में एक और दोष यह था कि वह सदस्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। यह दोष संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी विद्यमान है। नतीजा यह होता था कि सदस्य-राज्य राष्ट्रसंघ की उपेक्षा करने के लिए वैसी बातों को भी आन्तरिक मामलों के अन्तर्गत रख लेते थे जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से रहता था। यह शर्त कोई बुरी नहीं थी; लेकिन विधान के द्वारा इसकी कोई सीमा निर्धारित होनी चाहिए थी।

राष्ट्रसंघ का अन्त : राष्ट्रसंघ कभी सार्वभौम संघ नहीं बन सका। शुरू में ही कई देश इसके सदस्य नहीं बने या नहीं बनाये गये। लेकिन 1925 से राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़ने का ताँता बँध गया। 1 जनवरी, 1925 को कोस्टारिका इससे पृथक हो गया। 12 जून, 1926 को ब्राजील ने भी संघ छोड़ने की नोटिस दे दी। इसके बाद जापान और जर्मनी (1933) की बारी आयी, 1935 में परागुए ने भी यही किया। इसके बाद तो मानों राष्ट्रसंघ से निकल जाने के लिए राष्ट्रों में होड़ मच गयी। गुआटामाला, होन्ड्ढरस, नाइकारागुआ, सलावाडोर, इटली, चीन, बेज्यूला, पेरू, अल्बेनिया, स्पेन और रूमानिया सब-के-सब राष्ट्रसंघ के निकल आये। राष्ट्रसंघ के सदस्यों की अधिकतम संख्या 62 रही थी। 1938 के अन्त में यह संख्या घटकर 41 हो गयी। 1939-40 में राष्ट्रसंघ के कई सदस्य आक्रमण के शिकार हुए और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो गया। 1939 में सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ से 'निकाल' दिया गया। अन्त में, इसमें केवल 21 शक्तिहीन राज्य रह गये जिनमें केवल ब्रिटेन एक महान् राज्य था। 16 मई, 1940 को महासचिव एविनल ने सचिवालय के सभी पदाधिकारियों को पदच्युत कर दिया और स्वयं भी इस्तीफा दे दिया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश तितर-बितर हो गये। 1940 के मध्य में राष्ट्रसंघ केवल एक यादगारी की चीज रह गयी। बाद में द्वितीय विश्व युद्ध के भयंकर प्रलय के बीच में यह यादगारी भी लुप्त हो गयी।

इस प्रकार अनेक त्रुटिंयों के कारण राष्ट्रसंघ विफल हो गया। लेकिन ये त्रुटियाँ मौलिक नहीं थीं और उसके बावजूद राष्ट्रसंघ को सफल बनाया जा सकता था। सत्य तो यह है कि यदि राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य चाहते तो वह अवश्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर लेता। लेकिन सदस्यों में ही नेकनीयती का पूर्ण अभाव था। विन्सटन चर्चिल ने ठीक ही कहा था कि "राष्ट्रसंघ की असफलता के लिए राष्ट्रसंघ नहीं वरन् सदस्य-राज्य दोषी थे।"

राष्ट्रसंघ के गैर-राजनीतिक (non-Political) कार्य

युद्ध-बन्दियों और शरणार्थियों की सहायता : कहा जाता है कि राष्ट्रसंघ को असल सफलता गैर राजनीतिक क्षेत्र में प्राप्त हुई। जन-कल्याण के क्षेत्र में राष्ट्रसंघ ने बहुत-से काम किये। युद्ध के कैदियों को छुड़ाना और उन्हें घर वापस पहुँचाना राष्ट्रसंघ का प्रथम मानवहितकारी कार्य था। युद्ध के समय मित्रराष्ट्र पक्ष के बहुत-से सैनिक पकड़े जाने पर कैद कर लिये गये थे। इसी तरह जर्मनी और उसके सहयोगी राज्यों के सैनिकों को मित्रराष्ट्र ने कैंद कर लिया था। उन कैदियों की संख्या लाखों में थी। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार ऐसे कैदियों को युद्ध के बाद प्रायः मुक्त कर दिया जाता है। मुक्ति पाये हुए कैदियों को उसके घर पहुँचाने का काम राष्ट्रसंघ ने बड़ी कुशलता के साथ सम्पन्न किया।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद लाखों की संख्या में विस्थापितों एवं शरणार्थियों को पुनः बसाना एक विकट समस्या थी। युद्ध के समय लाखों रूसी, यूनानी, तुर्की, आर्मेनियन लोग बे-घरबार के हो गये थे। यूरोप की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि इस विस्थापित जनसमूह को किसी काम में लगाया जा सके। राष्ट्रसंघ ने

इस समस्या के समाधान का प्रयास किया। इसने डॉ० नानसेन नामक एक परोपकारी व्यक्ति के जिम्मे इस काम को सौंप दिया। वे विस्थापितों के हाई-कमिश्नर नियुक्त किये गये। उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से इस समस्या को सम्हाला। 1930 में उसकी मृत्यु के बाद राष्ट्रसंघ ने इस काम का उत्तरादायित्व अब स्वयं अपने ऊपर ले लिया।

स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्य : युद्ध समाप्ति के बाद रूस में टायफड का रोग फैला हुआ था। इस छूत की बीमारी को सारे यूरोप में फैलने की आशंका थी। राष्ट्रसंघ ने चिकित्सकों की सेवा को संगठित करके इस रोग को फैलने से रोका। राष्ट्रसंघ की स्वास्थ्य-समिति ने हैजा, मलेरिया, चेचक, तपेदिक इत्यादि भयानक रोगों के कारण की जाँच की और आरोग्य का साधन निकाला। राष्ट्रसंघ ने एक स्थायी स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा स्वास्थ्य की रक्षा करना था। इस स्वास्थ्य संगठन ने सिंगापुर में एक ईस्टर्न ब्यूरो की स्थापना की जो सार्वजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्ट मँगाकर उस पर निगरानी रखती थी।

आर्थिक कार्य : युद्ध के वाद यूरोप की आर्थिक स्थिति काफी डावांडोल थी और राष्ट्रसंघ के इस स्थिति को जिस खूबी के साथ सम्हाला वह अत्यन्त सराहनीय है। आस्ट्रिया की आर्थिक अवस्था सबसे अधिक खराब थी। वहाँ की सरकार इस अवस्था को सुधारने में सर्वथा असमर्थ रही। राष्ट्रसंघ ने उसकी सहायता करने का काम अपने हाथ में ले लिया। आस्ट्रिया को अन्न की सहायता भेजी गयी। राष्ट्रसंघ के प्रयास से उसको अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और इटली से कर्ज भी प्राप्त हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय कोष से भी उसे दस करोड़ डालर का कर्ज प्राप्त हुआ। राष्ट्रसंघ ने आस्ट्रिया पर अपना आर्थिक नियन्त्रण कायम करके उसकी आर्थिक दशा को एकदम सुधार दिया।

हंगरी की आर्थिक दशा भी आस्ट्रिया की तरह ही खराब थी। दिसम्बर, 1923 में राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने हंगरी के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए एक योजना स्वीकार करके उस पर अपना आर्थिक नियन्त्रण कायम किया। मई, 1924 में यह योजना लागू की गयी और जून, 1926 तक हंगरी की डगमगाती आर्थिक स्थिति स्थिर हो गयी। राष्ट्रसंघ ने तब हंगरी पर से आर्थिक नियन्त्रण हटा लिया।

इसी तरह राष्ट्रसंघ ने यूनान, बुल्गेरिया और एस्तोनिया को भी आर्थिक सहायता दी। अबीसीनिया को सोने के आधार पर मुद्रा निर्धारण करने तथा डान्जिग नगर को अपना बन्दरगाह विकसित करने के लिए राष्ट्रसंघ की सहायता से विदेशी कर्ज प्रदान किये गये।

सामाजिक कार्य : राष्ट्रसंघ ने नशीली वस्तुओं के सेवन तथा दास-प्रथा को रोकने के लिए अनेक ठोस कदम उठाये। स्त्रियों को शोषण से बचाने और बच्चों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए इसने अनेक काम किये। इसके लिये राष्ट्रसंघ ने एक परामर्शदाता आयोग की स्थापना की। 1921 में इस आयोग ने अनैतिक उद्देश्यों के लिए होनेवाले स्त्रियों के व्यापार को रोकने के लिए नियम बनाये। 1933 में इस नियम को और भी कड़ा बनाया गया। बाल-हितकारी समिति ने विभिन्न देशों के विवाह की आयु का अध्ययन किया। इस समिति ने गैर-कानूनी बच्चों की समस्या पर भी विचार किया।

मनुष्य के बौद्धिक विकास एक देश को दूसरे देश से बौद्धिक सम्पर्क स्थापित कराने के लिए इसने काफी प्रयास किये। राष्ट्रसंघ ने अश्लील प्रकाशन को रोकने का भी प्रयास किया। सबसे बढ़कर राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को समुचित ढंग के नियमबद्ध (codifification of Internation Law) करने कि दिशा में भी महत्वपूर्ण काम कराये। राष्ट्रसंघ के सारे काम काफी सराहनीय हैं और इसमें सफलता पाकर उसने अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया।

राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन : स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ को गैर-राजनीतिक कार्यों में पर्याप्त सफलताएँ मिलीं यद्यपि महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों में विशेषकर उन प्रश्नों में जिनमें महान् राज्यों के हित थे, वह पूर्णतया असफल रहा। फिर भी राष्ट्रसंघ की देन के महत्व को किसी भी दिशा में कम नहीं किया जा सकता है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सौहार्द की एक ऐसी परम्परा का सूत्रपात किया जो अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का अभिन्न अंग बन गया। इसने गुप्त कूटनीति के अनेक दुर्गुणों को दूर कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नया मार्ग दिखाया। जेनेवा में प्रतिवर्ष जो बैठक होती थी उससे बड़ा लाभ यह हुआ कि अब संसार के प्रतिनिधि एक जगह बैठकर सार्वजनिक रूप से विश्व की समस्याओं पर वाद-विवाद करने लगे। अब साधारण जनता को भी विदेश-नीति के गूढ़ तत्वों को समझने का अवसर प्राप्त हुआ। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर जनमत का प्रभाव पड़ना आवश्यक हो गया।

राष्ट्रसंघ ने असफल होकर भी राष्ट्रों के बीच सहयोग करने की आदत डाल दी। जैसा कि लैंगसम ने लिखा है कि "राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार को उन्नत करना था।" इसके अतिरिक्त इसने विश्व को एक बहुमूल्य अनुभव प्रदान किया। यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रथम प्रयोग था। बाद में इस प्रयोग से लाभ उठाया गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना में इस परीक्षण से बड़ी सहायता मिली। वाल्टर का कथन है कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों, सिद्धान्तों, अंगों तथा कार्यप्रणाली अर्थात् प्रत्येक पहलू पर राष्ट्रसंघ की स्पष्ट छाप है।"

FOOT NOTES

1. "To be no more than an Egyptian mummy dressed up with all theluxuries and splendours of living but devoid of life." —*Schuman, Internation Politics, p. 226*
2. *Ibid, p. 226*
3. "An infant has been abandoned on the door steps of Eurpoe whose every feature unmistakably proclaimed its trans-Atlantic paternity."
   —***Hardy, Gathorne,*** *A Short History of International* Affairs, p. 505
4. "The Government of democratic Great Powers upon with the future of League depended fell in to the hands of those who were utterly lacking in the loyalty, wisdom and courage through which alone the League could survive by fulfilling the dreams of its founders. League's white palace in Ariana Park by the shores of Genevas Lake Leman, therefore became in the end a sepulcher." —***Schuman,*** *op. cit. p. 33*
5. "The role of the lesser members of the League in this sordid sequence of events was that of a lack of sheeps deceived by jackals in sheeps clothing." —***Schuman,*** *op. cit., p. 317*
6. "Actually the League of Nations could not fulfil the dreams of its founders so long as nations thought exclusively of their own national ambitions. Each nation state seemed to possess a provincial mind in a Planetary era and professor Gooch has wisely observed, internation institutions without international mind are as hollow as democracies without public spirit."
   —***Albjerg and Albjerg,*** *Europe form 1914 to the Present, p. 105*

अध्याय 26

दो विश्व-युद्धों के बीच पश्चिम एशिया
(West Asia between the two World Wars)

प्रथम विश्वयुद्धों में तुर्की : अगस्त 1914 में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ने पर तुर्की साम्राज्य जर्मनी का पक्ष लेकर राष्ट्रों के खिलाफ युद्ध में शामिल हुआ। किन्तु युद्ध के दौरान तुर्की को कभी कोई महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिली। ओटोमन साम्राज्य पर मित्र राष्ट्रों का दबाव हमेशा बना रहा। उन्होंने साम्राज्य के अन्य भागों को एक-एक करके हड़पना शुरू किया। नवम्बर, 1914 में ईरान के तेल-क्षेत्रों की रक्षा के नाम पर उन्होंने बसरा पर कब्जा कर लिया और बगदाद पर चढ़ाई कर दी। जून, 1915 में कूत में तुर्की की हार हुई। अप्रैल, 1916 में दस हजार सैनिकों के एक ब्रिटिश दस्ते ने तुर्की के समक्ष हथियार अवश्य डाले लेकिन बगदाद के लिए खतरा बराबर बना रहा। मार्च, 1917 में एलनबी ने दक्षिण से फिलिस्तीन पर हमला कर दिया और 8 दिसम्बर को वह जेरूसलम में दाखिल हो गया। सितम्बर, 1918 से मेगीद्यो से अंगरेजों का महान् अभियान प्रारम्भ हुआ जिसने तुर्की की कमर तोड़ दी।

1918 के मध्य से विश्वयुद्ध की स्थिति बदलने लगी और मित्रराष्ट्रों की विजय निश्चित हो गयी। सबसे पहले 22 सितम्बर को बुल्गेरिया ने आत्मसमर्पण कर दिया। बुल्गेरिया की पराजय से तुर्की अपने साथी राज्यों से अलग पड़ गया और यह स्पष्ट हो गया कि इस स्थिति में वह अकेले शक्तिशाली मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लड़ाई नहीं रख सकेगा। इसी बीच साम्राज्य के अरब प्रदेशों के निवासियों ने अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए तुर्की शासन के खिलाफ विद्रोह करना शुरू कर दिया था। मित्रराष्ट्र इन विद्रोहियों की सक्रिय सहायता कर रहे थे। फ्रांस और इंगलैंड के कूटनीतिज्ञ जहां अरबों को तुर्की के विरुद्ध करने के लिए भड़का रहे थे, वहां दूसरी ओर उनकी सेनाएँ तुर्की की सेनाओं को परास्त करके पीछे खदेड़ने में भी व्यस्त थीं। उनकी सेनाओं ने मैसोपाटेमिया, सीरिया आदि क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। तुर्की की हस्ती मिटने को हो गयी। 30; अक्टूबर, 1918 को लेम्नीस द्वीप में मुद्रोस नामक स्थान पर तुर्की ने आत्मसमर्पण कर दिया।

पेरिस शान्ति-सम्मेलन और तुर्की

पश्चिम एशिया सम्बन्धित युद्धकालीन गुप्त संधियाँ : विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात पराजित राज्यों के साथ शान्ति-समझौता करने के लिए पेरिस में 1919 में एक शांति-सम्मेलन का आयोजन किया गया लेकिन तुर्की के साथ शांति समझौता एक बड़ा ही कठिन प्रश्न सिद्ध हुआ। इसका प्रमुख कारण यह था कि युद्ध के समय मित्रराष्ट्रों के बीच आपस में तथा दूसरे पक्षों के साथ कई गुप्त समझौते हुए थे जो एक-दूसरे के विरोधी थे। सर्वप्रथम 18 मार्च, 1915 को कान्स्टैण्टिनोपुल समझौता के द्वारा रूस, ब्रिटेन, और फ्रांस ने तुर्की साम्राज्य की समाप्त की प्रक्रिया शुरू कर दी। इसके अनुसार रूस को कान्स्टैण्टिनोपुल, डार्डनेल्स, बासफोरस का पश्चिमी तट, एशिया माइनर के तटवर्ती क्षेत्र तथा मारमोरा सागर पर अधिकार मिलना था। इसके बाद

26 अप्रैल, 1915 को ब्रिटेन, रूस, फ्रांस तथा इटली के बीच लन्दन की संधि हुई जिसके अनुसार इटली के लिए लिबिया, डाडेकानीज द्वीपसमूह तथा भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्र के कुछ हिस्से सुरक्षित कर दिए गये। इटली ने इसी समझौते के बाद मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में प्रवेश किया।

16 मई, 1916 को मित्रराष्ट्रों के मध्य सबसे महत्वपूर्ण गुप्त संधि, साइक्स-पिकॉट समझौता (Sykes-picot Agreement) हुई। यह समझौता फ्रांस और ब्रिटेन के बीच हुआ था, लेकिन बाद में इसको रूस की स्वीकृति भी मिल गयी। इस समझौते के अनुसार तीनों ने तुर्की के भू-भागों को हड़पने की योजना बनायी। इसके द्वारा रूस को तुर्क, आरमेनिया और कुर्दिस्तान का एक हिस्सा मिलना निश्चित हुआ। फ्रांस को सीरिया के कुछ भाग, साइलिसिया और आदान देना निश्चित किया गया। ब्रिटेन के लिए दक्षिणी मेसोपोटेमिया, बगदाद और एकर तथा हैफा का बन्दरगाह छोड़ रखा गया। फिलस्तीन के अन्तर्राष्ट्रीयकरण की योजना बनी और एलेक्जेण्ड्रेटा को स्वतन्त्र बन्दरगाह घोषित करने की व्यवस्था रखी गयी। शेष कुछ क्षेत्रों को अरबों के लिए छोड़ दिया गया परन्तु यह निश्चित कर दिया गया कि कुछ समय के लिए वे ब्रिटिश और फ्रांसीसी प्रभाव में रखे जाएँगे। साइक्स-पिकॉट समझौता एक गुप्त करार था तथा इसको युद्ध की समाप्ति के पश्चात लागू होना था।

17 अप्रैल, 1917 को ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के बीच तुर्की से सम्बन्धित एक और समझौता हुआ जिसको सेट जीन-डी-मौरिये (St. Jeen-de-Maurienne) समझौता कहते हैं। साइक्स-पिकॉट समझौता एक गुप्त करार था और इटली को इसके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं दी गयी थी। लेकिन 1917 में इटली को इन समझौता का पता लग गया और उसने उसका विरोध करना शुरू किया। अतएव ब्रिटेन तथा फ्रांस को विवश होकर इटली को भी उक्त सन्धि में शामिल करना पड़ा। तीनों देशों के प्रधानमंत्री सेंट जीन-डी-मौरियें से मिले और एक समझौता पर हस्ताक्षर हुआ। इसके अनुसार इटली का अनातोलिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा देने का निश्चय किया गया। यह समझौता ऑटोमन साम्राज्य को बाँटने का एक महत्वपूर्ण षड़यंत्र था। लेकिन रूस इसमें शामिल नहीं हुआ क्योंकि वहां बोल्शेविक क्रान्ति शुरू हो गयी थी।

ऑटोमन साम्राज्य से सम्बन्धित युद्धकाल में अन्तिम समझौता दिसम्बर, 1918 में हुआ। इस समझौते को लायड जार्ज क्लिमेंशों समझौता कहते हैं। मेसोपोटामिया के युद्ध के फलस्वरूप अंगरेजों को मोसुल का क्षेत्र प्राप्त हुआ। इसलिए अब साइक्स-पिकॉट समझौता में संशोधन करने का निश्चय किया गया। 1918 के दिसम्बर में फ्रांस और ब्रिटेन के प्रधानमंत्री मिले और यह तय किया कि मोसुल क्षेत्र (जो पहले के समझौते के अनुसार फ्रांस को मिलना था) ब्रिटेन को दिया जाय। इसके बदले फ्रांस को उत्तर मेसोपोटेमिया देने का निश्चय किया गया।

मित्रराष्ट्रों के आपसी समझौतों एवं संधियों के साथ-साथ अरबों एवं यहूदियों के साथ भी उनका समझौता हुआ जिनका उद्देश्य तुर्की साम्राज्य से उन्हें मुक्त करके स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्रदान करना था। जनवरी, 1916 में ब्रिटेन और शरीफ हुसेन के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौता के अनुसार 37 अंक्षाश से लेकर दक्षिण में अरब की खाड़ी तक तथा पूर्व में फ़ारस की खाड़ी से पश्चिम में लालसागर तक का प्रदेश एक अरब राज्य में परिणत होनेवाला था। इसमें केवल सीरिया का तट शामिल नहीं था। फिर, भी, इस समझौता के अनुसार एक विशाल अरब राज्य की रूपरेखा तैयार की गयी थी। दूसरी ओर 2 नवम्बर, 1917 को बालफोर घोषणा द्वारा यहूदियों को फिलिस्तीन में 'राष्ट्रीय गृह' स्थापित करने का वचन दिया गया। अँग्रेज़ लोग यहूदियों को अपने पक्ष में करना चाहते थे क्योंकि यहूदी पश्चिम के प्रत्येक देश में बसे हुए थे। यहूदियों ने एक विश्वव्यापी आन्दोलन चला रखा था। जिसका उद्देश्य खानाबदोश यहूदियों के लिए एक स्थायी घर बनाना था। उनकी निगाह फिलिस्तीन पर थी। अन्तर्राष्ट्रीय दबाव से प्रभावित होकर ब्रिटेन की ओर से 2 नवम्बर, 1917 को यह घोषणा की गयी कि ब्रिटिश सरकार फिलिस्तीन में यहूदियों का राष्ट्र बनाने की योजना के प्रति सहानुभूति रखती है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भरसक सहायता करेगी।

इन सारी संधियों के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जायेगा की इनमें अन्तर्विरोधों की भरमार थी और किसी तरह का सामन्जस्य सम्भव नहीं था। साइक्स-पिकॉट समझौता, बालफोर-घोषणा तथा ब्रिटिश-अरब समझौते के बीच विरोध की स्थिति स्पष्ट थी। अरबों की अभिलाषाओं और मान्यताओं का रत्तीभर ख्याल नहीं किया गया। 1917 में बोल्शेविक क्रान्ति के उपरान्त सोवियत रूस की सरकार ने इन गुप्त संधियों को प्रकाशित कर दिया। इससे अरबों को घोर निराशा हुई।

शान्ति-सम्मेलन की व्यवस्था : 1919 में पेरिस में शांति-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। उस समय विशाल ओटोमन साम्राज्य पस्त पड़ा हुआ था और उसके विभिन्न भू-भागों पर मित्रराष्ट्रों का कब्जा कायम था। इरान, सीरिया, मेसोपोटेमिया, फिलिस्तीन तथा तुर्की के विशाल भाग में ब्रिटिश सेनाओं का आधिपत्य था। साइलीसिया तथा अदाना में फ्रांसीसी सेनाएँ जमी हुई थीं तथा अदालिया इटली के कब्जे में था। सीरिया की राजधानी दमिश्क में अमीर फैजल ने अपना शासन कायम कर लिया था। अमीर फैजल अरब राष्ट्रवाद के प्रतिनिधि के रूप में पेरिस पहुँचा जहाँ उसने अरबों की स्वतन्त्रता की माँग की। यहूदी नेता डॉ० चैम विजमैन फिलस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना की माँग को लेकर पेरिस पहुँचे। इन दोनों को ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त था। दूसरी ओर फ्रांस और इटली और यूनान अपने-अपने हिस्से की माँग कर रहे थे। फ्रांस सीरिया और उसके इर्द-गिर्द के इलाकों की माँग कर रहा था और साइक्स-पिकॉट समझौता के कार्यान्वयन पर जोर दे रहा था। यूनान का प्रतिनिधि मंडल स्मर्ना पर आँखें गड़ाए हुए था तथा अदालिया में अपनी फौज भी भेज दी थी। इसने अतिरिक्त अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्रों ने एक अलग समस्या खड़ी कर दी थी। विल्सन के सिद्धान्त ने गुप्त संधियों को मान्यता देने से इन्कार कर दिया था और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसके अनुसार अरबों को स्वतन्त्रता मिल जानी चाहिए थी। यदि विल्सन के सिद्धान्तों को मान्यता दे दी जाती तो मित्रराष्ट्रों की सारी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं पर पानी फिर जाता। अतः पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में पश्चिम एशिया की समस्या अत्यन्त गम्भीर रूप में प्रकट हुई जिसका सन्तोषजनक समाधान किसी भी तरह से सम्भव नहीं था।

सेव्र की सन्धि

पराजित तुर्की के भाग्य का निर्णय पेरिस शान्ति-सम्मेलन में तैयार की गयी सेव्र (Sevres) की सन्धि (10 अगस्त, 1920) से हुआ। जर्मनी के साथ की गयी वर्साय की सन्धि की तरह ही सेव्र की सन्धि एक आरोपित सन्धि थी जिसको विजय राष्ट्रों ने तुर्की पर थोप दिया था।

सेव्र की सन्धि के अन्तर्गत की गयी प्रादेशिक व्यवस्थाओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, यूरोप विशेषतया थ्रेस की व्यवस्था जिसका प्रभाव, यूनान, बुल्गार और तुर्क लोगों पर पड़ा। दूसरे, जलडमरुमध्यों तथा कान्स्टेण्टिनोपुल का अन्तर्राष्ट्रीयकरण जिसका सम्बन्ध तुर्की, इंगलैंड, फ्रांस तथा इटली से था। तीसरे, एशिया माइनर इराक, फिलिस्तीन; सीरिया तथा अरबों की समस्याएँ जिनका सम्बन्ध यूनानी, तुर्क, अरब और यहूदी लोगों से था और जिसने पूर्व में राष्ट्र-निर्माण की विकट समस्या को जन्म दिया।

प्रादेशिक व्यवस्था : इस सन्धि के द्वारा सर्वप्रथम प्रादेशिक व्यवस्था में और परिवर्तन किये गये। हेजाज को एक स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया। सीरिया, फिलिस्तीन और मेसोपोटामिया पर से तुर्की का नियंत्रण समाप्त हो गया। इन क्षेत्रों का भविष्य मित्रराष्ट्रों पर छोड़ दिया गया। पूर्वी थ्रेस यूनान को दे दिया गया। बुल्गेरिया से प्राप्त पश्चिमी थ्रेस को भी मित्रराष्ट्रों ने यूनान के हवाले कर दिया। फिर, पाँच वर्षों के लिए स्मर्ना का शहर और जिला यूनानी शासन में रखा गया। एजियन द्वीप पर भी यूनान की प्रभुसत्ता मान ली गयी। आरमेनिया को स्वतन्त्र कर दिया गया। तुर्की ने कुर्दिस क्षेत्र के लिए स्थानीय स्वतन्त्रता मान ली और

इसके लिए कई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था मानने का वचन दिया। तुर्की ने जलडमरूमध्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण और उसके आस-पास के क्षेत्रों पर निःशस्त्रीकरण भी मान लिया। कान्स्टेण्टिनोपुल पर तुर्की का अधिकार बना रहा।

सैनिक व्यवस्था : सेव्र की सन्धि में कुछ सैनिक धाराएँ भी थीं जिसके अनुसार तुर्की पर कई तरह के सैनिक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। तुर्की के सैनिकों की संख्या निश्चित कर दी गयी और यह तय हुआ कि तुर्की पचास हजार से अधिक संख्या की सेना नहीं रख सकता है। अनिवार्य सैनिक सेवा को बन्द कर दिया गया। यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि तुर्की की सेना मित्रराष्ट्रों के परामर्श के बिना कहीं आ-जा नहीं सकती है। जल-सेना को एकंदम समाप्त कर दिया गया।

आर्थिक व्यवस्था : तुर्की पर सन्धि के द्वारा कई तरह के आर्थिक प्रतिबन्ध भी लगाये गये। ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली को मिला कर एक आर्थिक कमीशन का निर्माण किया गया। इस कमीशन का काम तुर्की के सार्वजनिक ऋण, राजकीय बजट, सिक्के, टैक्स इत्यादि पर कड़ा नियन्त्रण रखना था। तुर्की ने यह भी स्वीकार किया कि वह राज्य में रहने वाले आरमेनियम, यूनानी ईसाई अल्पसंख्यकों के साथ कभी बुरा बर्ताव नहीं करेगा और उनकी राष्ट्रीयता के विकास में पूरा-पूरा सहयोग प्रदान करेगा।

इस प्रकार, तुर्की साम्राज्य के सम्बन्ध में जो नयी व्यवस्था हुई, उसके अनुसार चार लाख चालीस हजार वर्गमील जमीन तुर्की के हाथ से निकल गयी। अब उसकी आबादी केवल अस्सी लाख रह गयी और एक करोड़ बीस लाख व्यक्ति उसकी अधीनता से मुक्त हो गये। यह व्यवस्था की गयी कि तुर्की की सेना में सैनिकों की संख्या पचास हजार से अधिक न बढ़ने पाये। तुर्की के पास जलसेना बिल्कुल ही नहीं रहने दी गयी और उसे एक छोटे से शक्तिहीन राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। सेव्र की सन्धि के कारण मिस्र, सूडान, साइप्रस, त्रिपोलितानिया, मोरक्को और टयूनीसिया से तुर्की का अधिकार पूर्ण रूप से उठ गया। इन देशों पर तुर्की को जो अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन सब का अन्त हो गया। अरब, फिलिस्तीन, मेसोपोटामिया और सीरिया तुर्की की अधीनता से मुक्त कर दिये गये और यूरोप में जो अनेक प्रदेश तुर्की के साम्राज्य में थे उन्हें ग्रीस को दे दिया गया।

तुर्की के देशभक्तों ने इन आरोपित और अपमानजनक संधि का एक स्वर से विरोध किया, लेकिन तुर्की की ओर से सुल्तान मुहम्मद चतुर्थ के प्रतिनिधि ने सेव्र के सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये।

कमाल पाशा का उदय और सेव्र की सन्धि का विरोध : सेव्र की सन्धि ने तुर्की की प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला दिया। इसलिए तुर्की के राष्ट्रवादियों ने इस सन्धि का बड़ा कड़ा विरोध किया। विरोधियों का नेतृत्व मुस्तफा कमाल पाशा ने किया। कमाल पाशा में इस तरह के नेतृत्व-प्रदान की क्षमता थी।

युद्ध में परास्त होने के बाद जब तुर्की के सम्मुख सेव्र की सन्धि पेश की गयी तो सुल्तान की सरकार यही समझती थी कि उसे स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त उनके सम्मुख अन्य कोई मार्ग नहीं है, पर कमाल पाशा का यह विचार नहीं था। उसका कहना था कि तुर्की को इस सन्धि को स्वीकार नहीं करना चाहिए और हो सके तो युद्ध का सहारा लेकर भी इसका प्रतिरोध करना चाहिए। वह सुल्तान की नीति का बड़ा आलोचक था। पहले उसे यह आशा थी कि वह सुल्तान को अपने रास्ते पर ला सकेगा। वह नहीं चाहता था कि सुल्तान को पदच्युत किया जाय। पर जब उसने देखा कि सुल्तान अपने दरबारियों और निकम्मे अफसरों के हाथ में कठपुतली के समान है और उसका सुधार कर सकना किसी प्रकार सम्भव नहीं है, तो वह क्रान्ति का पक्षपाती हो गया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के इतिहास से जो शिक्षाएँ उसने ग्रहण की थीं, उनका उसने अनुसरण किया और इसी का यह परिणाम हुआ कि तुर्की में सल्तनत का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई। इसके लिए कमाल पाशा को श्रेय देना ही पड़ेगा।

प्रथम ग्रैंड नेशनल एसेम्बली : जिस समय सुल्तान की सरकार सेब्र की सन्धि को स्वीकार कर रही थी उस समय मुस्तफा कमाल पाशा आनातोलिया में इन्सपेक्टर जनरल के पद पर कार्य कर रहा था। जब उसने सेब्र की सन्धि का प्रतिरोध किया तो तुर्की के राष्ट्रवादी और देशभक्त उसके चारों ओर एकत्र होने लगे। अनातोलिया में एक राष्ट्रीय सभा का संगठन हो गया था। इसमें कमाल पाशा ने हिस्सा लेना शुरू किया और शीघ्र ही उसका प्रधान बन गया। इसी सभा की ओर से सितम्बर, 1919 में एक अखिल तुर्की काँग्रेस का संगठन किया गया जिसका प्रथम अधिवेशन सिवारू नामक स्थान पर हुआ। इस घटना से सुल्तान की सरकार की चिन्ता बहुत बढ़ गयी। उसने कमाल पाशा को गिरफ्तार करने की आज्ञा दे दी। पर अनातोलिया के किसी सरकारी अफसर की यह हिम्मत नहीं हुई कि वह कमाल पाशा पर हाथ उठा सके। सारे अनातोलिया में इस समय विद्रोह और क्रान्ति की भावनाएँ प्रबल हो रही थीं। कमाल पाशा के नेतृत्व में वहाँ एक स्वतन्त्र समानांतर सरकार की स्थापना की गयी जिसकी राजधानी अंकोरा बनायी गयी। 23 अप्रैल, 1929 को अंकोरा में प्रथम ग्रैंड नेशनल एसैम्बली की बैठक हुई। इसमें घोषणा की गयी कि अंकोरा की सरकार तुर्की राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है, सुल्तान की सरकार नहीं। इस एसेम्बली ने निम्नलिखित छह सूत्रीय कार्यक्रम बनाया जिसको नेशनल पैक्ट कहा गया—

1. अरबों की स्वतन्त्रता मान ली जाय; तुर्की और कुर्दों को भी अपना अलग अस्तित्व प्राप्त हो।
2. बाटुम, कार्स तथा आरदाहन के तीन संजकों के लिए लोकमत लिया जाय।
3. पश्चिमी थ्रेस के लिए भी लोकमत लिया जाय।
4. कुस्तुन्तुनिया खलीफा और सुल्तान का निवास-स्थान था, इसलिए इसकी सुरक्षा की माँग की गयी, भले ही इसके बदले तुर्की जलडमरूमध्य (स्ट्रेट्स) का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो जाय।
5. अल्पसंख्यकों की अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रबन्ध हो और मुस्लिम-अल्पसंख्यकों को तुर्की के आस-पास के देशों में भी सुरक्षा प्रदान की जाय।
6. तुर्की की पूरी राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता की माँग की गयी और कहा गया कि कैंपिचुलेशन्स को एकदम हटा दिया जाय।

सेब्र की सन्धि का प्रत्याख्यान : कमाल पाशा की इस समानांतर सरकार ने केवल यह घोषणा की कि सेब्र की सन्धि उसे स्वीकार नहीं है, अपितु यूनान और इटली आदि ने तुर्की के जिन प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित करना शुरू किया था, उसके खिलाफ भी उसने लड़ाई छेड़ दी। सुल्तान इस समय पूरी तरह से मित्रराष्ट्रों के हाथ में था। उसने उद्घोषित किया कि अंकोरा की सरकार के कार्यों से तुर्की की न्याय सरकार किसी भी प्रकार सहमत नहीं है और प्रत्येक राजभक्त तुर्क का कर्तव्य है कि वह सुल्तान का साथ दे और अंकोरा से कोई सम्बन्ध न रखे। पर कमाल पाशा के वीर कृत्यों के कारण तुर्क जनता उसे अपना वीर नेता मानने लगी थी और उसके कार्यों के साथ पूरी तरह सहानुभूति रखती थी। कमाल पाशा ने यूनान और इटली के साथ युद्ध को जारी रखा।

यूनान के साथ युद्ध : उस समय यूनानि का प्रधान मंत्री बेनीजेलोस था। बेनीजेलोस मृतप्राय तुर्की साम्राज्य में अधिक-से-अधिक हिंस्सा प्राप्त करना चाहता था। सेब्र की सन्धि से उसको संतोष नहीं हुआ था। लेकिन मुस्तफा कमाल सेब्र की सन्धि का पूरा विरोध कर रहा था। उसने इस सन्धि के विरुद्ध खुली बगावत शुरू कर दी। तुर्की की सेना कमाल पाशा के नेतृत्व में एशिया माइनर में उत्पात मचाने लगी। सबसे पहले 1920 के आरम्भ में उसकी सेना फ्राँसीसियों पर धावा बोल दिया और उन्हें अलप्पो की और खदेड़ दिया। इसके बाद कमाल आरमेनिया की ओर बढ़ा। सेब्र की सन्धि के द्वारा आरमेनिया को बहुत से तुर्की आबादी वाले हिस्से मिले थे। उन क्षेत्रों पर फिर से अधिकार करने के लिए कमाल ने यह कार्रवाई की और एलेक्जेण्ड्रोपोल की सन्धि के अनुसार बहुत से हिस्से मिल भी गये।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत हुआ कि सेब्र की सन्धि का खात्मा उसके जन्म के साथ ही हो जायगा। तुर्की सेना की गतिविधि बड़ी खतरनाक हो रही थी। उनको बाहर निकालने का प्रश्न बड़ा जटिल था। युद्ध के बाद यूरोप के सभी राज्य थक गये थे। सन्धि को कार्यान्वित करने के लिए तुर्की सेना को शांत करने का साहस कोई नहीं कर रहा था। अन्त में ब्रिटिश ऋण की सहायता से बेनीजेलोस ने इस कार्य को करने का बीड़ा उठाया। यूनानियों ने तुर्की के खिलाफ सैनिक कार्रवाई शुरू कर दी।

इस हालत में कमाल पाशा ने यूनानियों से लोहा लेने का निश्चय किया। 1921 के आरम्भ में कमाल ने पश्चिमी अनातोलिया से यूनानियों को भगाने का कार्यक्रम बनाया। 13 मार्च को उसने इटली के साथ एक सन्धि कर ली। इसके अनुसार इटली कुछ आर्थिक सुविधाओं के बदले अनातोलिया पर से अपना अधिकार हटाने के लिए राजी हो गया। इसके अतिरिक्त 16 मार्च, 1921 को सोवियत संघ के साथ तुर्की की एक सन्धि हुई। तुर्की ने रूस को वातुम का प्रदेश दे दिया और इनके बदले में रूस ने आरमेनिया के सम्बन्ध में एलेक्जेण्ड्रोपोल की सन्धि को मान्यता दे दी। कमाल पासा को सोवियत संघ ने सैनिक सहायता देने का भी वचन दिया। उधर फ्रांस भी ब्रिटेन द्वारा यूनानियों के समर्थन को अच्छा नहीं समझता था, क्योंकि इससे पश्चिमी एशिया में ब्रिटिश प्रभाव के बढ़ जाने की आशंका थी। इसलिए यूनानी आक्रमणकारियों के विरुद्ध कमाल पासा की कार्रवाई को सफल बनाने के लिए फ्रांस ने साइलेसिया से भी अपना सैनिक सम्बन्ध समाप्त कर लिया।

रूस, फ्रांस और इटली से निश्चित होकर कमाल पाशा ने यूनानियों से लड़ने की पूरी तैयारी की। इस समय तक बेनिजेलोस का पतन हो चुका था और यूनान में पुनः राजतन्त्र की स्थापना हो गयी थी। नया राजा कान्सटेण्टाइन तुर्की की राजधानी अंकोरा पर अधिकार करना चाहता था।

मुस्तफा कमाल को स्थिति के बारे में पूर्णतया विश्वास था। उसने कहा "भले ही यूनान मुझको परास्त कर दें, परन्तु मैं उनके घेरे में नहीं आऊँगा। मैं ऐसे प्रदेशों में चला जाऊँगा जहां यूनानी मुझ तक कभी नहीं पहुँच पाएँगे और तबतक युद्ध करता रहूँगा जबतक कि यूनानी पराजय स्वीकार नहीं कर लेते।" 1921 में यूनान का महान् आक्रमण आरम्भ हुआ। बड़ी वीरता के साथ यूनानी लोग कठिन परिस्थितियों में लड़ते हुए आगे बढ़ते गये, परन्तु कैसी भी वीरता अंकारा की पथरीली और निर्जल तराई तक नहीं पहुँच सकती थी। वहाँ पहुँचने से पहले ही यूनानी आक्रमण समाप्त हो गया और अब यूनानी सेना एशिया माइनर के आर-पार एक अनिश्चित मोर्चे पर लगी थी। जिस लाइन पर अव यूनानी सेना मोर्चा डाले पड़ी थी, वहां कभी कोई स्थायो सीमा नहीं रही थी। समुद्रतट पर समुद्र शक्ति का आधिपत्य रहा है परन्तु देश का भीतरी भाग अंकारा या ऐसे ही अन्य किसी नगर के नियन्त्रण में रहा है। यूनानी सैनिक न आगे बढ़ सकते थे और न पीछे हटने का साहस कर सकते थे। ऐसी स्थिति का अन्त निश्चित था। अगस्त 1922 में मुस्तफा कमाल पूरे दल-बल के साथ पहाडियों से नीचे उतरा। उसने यूनानी पंक्ति को अनेक स्थानों पर तोड़ कर हताश यूनानी सैनिकों को अपने आगे-आगे खदेड़ लिया। यह एक पूर्ण एवं महान् विनाश था। सितम्बर में स्मर्ना का भी पतन हो गया, सारा नगर अग्निदेव को समर्पित कर दिया गया। इससे एशिया में यूनानियों के आधिपत्य का ही नहीं वरन् उसने निवास का भी अन्त हो गया, क्योंकि मुस्तफा कमाल ने केवल यूनानी सैनिकों को ही नहीं, वरन् प्रत्येक यूनानी निवासी को भी देश से निकाल-बाहर किया।

अब मुस्तफा कमाल अपनी विजयी सेना को लेकर जलसंयोजकों (straits) की ओर बढ़ा। वहाँ जाकर उसने देखा कि समस्त क्षेत्र को तीन भागों में बाँट कर एक-एक भाग पर ब्रिटिश, फ्रेंच और इटालियन सैनिकों ने अधिकार कर लिया है। कान्स्टैन्टिनोपुल में अभी तक ब्रिटिश सेना और मारोमारा सागर में ब्रिटिश जहाजी बेड़ा मौजूद था। तुर्क सेना के वेग के सामने फ्रेंच और इटालियन सैनिक तो हट गये, परन्तु ब्रिटिश सैनिक अपने स्थान पर अडिग रहे। लार्यो जार्ज ने कहा था कि वह "जल संयोजकों की स्वतन्त्रता" की रक्षा करेगा

और कमाल की सेना को यूरोप में प्रवेश करने से रोकेगा। उसका यह कथन इतना साहसपूर्ण नहीं था जैसा कि प्रतीत होता है, क्योंकि वह मुस्तफा कमाल को पहले ही सूचित कर चुका था कि पूर्वी थ्रेस तुर्की को लौटाया जा सकता है। वस्तुतः यह बात थी कि इस समय तक यह भली-भांति स्पष्ट हो गया था कि तुर्की में एक नयी भावना और नवीन शक्ति प्रगट हो गयी है, जिसका दमन करना संभव नहीं है। फ्रांस और ब्रिटेन अब यह अनुभव करने लगे थे कि तुर्की के साथ झगड़ा जारी रखने की अपेक्षा उत्तम यह है कि नवीन तुर्की के साथ सन्धि कर ली जाय और उसकी आर्थिक समस्या को हल करने के लिए उससे ऐसी आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त कर ली जायें, जिनसे फ्रांस और ब्रिटेन के पूँजीपतियों को लाभ पहुँचे। इसी का परिणाम यह हुआ कि सेब्र की सन्धि की जगह नयी सन्धि की योजना की गयी और इसके लिए स्विटजरलैंड के अन्यतम नगर लोजान में एक सम्मेलन की व्यवस्था की गयी। इस सम्मेलन में तुर्की की नयी सरकार के साथ सब विवादग्रस्त मामलों का नये सिरे से निबटारा किया गया।

लोजान सम्मेलन के शुरू होने से पहले ही कमाल पासा की सरकार तुर्की की एकमात्र सरकार रह गयी थी, क्योंकि 1922 के समाप्त होने से पहले ही सुल्तान मुहम्मद तुर्की से भाग कर बाहर चला गया था। इस हालत में कमाल पाशा की सरकार से बातचीत शुरू हुई और 24 जुलाई, 1923 को तुर्की के साथ नयी संधि लोजान की सन्धि (Treaty of Laussane) हुई।

लोजान की सन्धि

इस सन्धि के अनुसार तुर्की को यूनान से पूर्वी थ्रेस और बुल्गेरिया से एड्रियानोपिल प्राप्त हुआ। स्मर्ना पर तुर्की का अधिकार स्वीकार किया गया। अनातोलिया के वे सभी प्रदेश जो इटली को दिये गये थे, पुनः तुर्की को वापस लौटा दिये गये। कुर्दिस्तान पर तुर्की का अधिकार स्वीकार किया गया और इराक तथा कुर्दिस्तान की सीमा निश्चित करने का प्रश्न भविष्य के लिए टाल दिया गया। जलसंयोजकों पर से अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण हटा दिया गया, परन्तु साथ ही यह निश्चय किया गया कि तुर्की वहाँ पर कोई किलाबन्दी नहीं करेगा और संयोजकों में सभी देशों के जहाज बिना किसी रोक-टोक के आ-जा सकेंगे। इस सन्धि ने तुर्की को पुनः अनेक विशाल प्रदेश लौटा दिये जिससे उनकी जनसंख्या नब्बे लाख से बढ़कर एक करोड़ बीस लाख हो गयी।

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जितनी भी सन्धियाँ हुईं, उनमें से केवल लोजान-सन्धि ही ऐसी थी, जो कि दोनों पक्षों के मध्य आपसी समझौते से तय हुई थी। तुर्की का राजनीतिक क्षेत्रफल पहले की अपेक्षा अब काफी बढ़ गया था और तुर्की के नेताओं ने प्रायः वह सब कुछ प्राप्त कर लिया जो कि उनकी मुख्य माँग थी। "लोजान-सन्धि ही एक सन्धि थी जिसको सभी देशों ने आगामी तेरह वर्षों तक उचित माना।"

यह सन्धि यूरोप की महान् शक्तियों के लिए घोर अपमानजनक थी, परन्तु वे इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकते थे ? ऐसी गौरवपूर्ण विजय प्राप्त करके कमाल ने शस्त्रीकरण तथा सैनिक सन्धि को सीमित करने से भी इन्कार कर दिया और यूरोप की महान् शक्तियों को चुनौती देते रहने के अभिप्राय से उसने तुर्की की राजधानी अंकारा के अजेय पहाड़ी दुर्ग में स्थित की। इस प्रकार कमाल ने तुर्की के लिए लोजान की सन्धि के रूप में एक गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त की।

इस प्रकार, मुस्तफा कमाल पाशा ने लोजान की सन्धि करके सेब्र की सन्धि का कलंक धोया। इस सन्धि के द्वारा कैपिचूलेशन्स का अन्तिम रूप में दफना दिया गया। तुर्की पर लगाये गये सारे आर्थिक नियन्त्रण समाप्त कर दिये गये। उसकी सेना पर भी अब कोई बन्धन नहीं रहा। निस्संदेह लोजान की सन्धि तुर्की के राष्ट्रवादियों की एक बहुत बड़ी विजय थी। इसके द्वारा कमाल की सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिली

और राष्ट्रीय पैक्ट का कार्यक्रम लगभग पूरा हो गया। ओटोमन परम्परा को दफना दिया गया और तुर्की को स्वतन्त्र राष्ट्रीय आन्दोलन अस्तित्व प्राप्त हुआ। न्याय-व्यवस्था, सैनिक और आर्थिक बातों में तुर्की ने विदेशी प्रभाव को समाप्त कर दिया। तुर्की पहले की अपेक्षा छोटा अवश्य हो गया, लेकिन नये प्रगतिशील नेतृत्व में भविष्य के लिए उसमें अपूर्व आशा का संचार हुआ। पश्चिमी एशिया में शान्ति के लिए सेव्र की सन्धि की अपेक्षा लोजान की सन्धि अधिक प्रभावशाली साबित हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि वह आरोपित सन्धि नहीं थी, इसका आधार विचारों का आदान-प्रदान था।

तुर्की गणराज्य की स्थापना : लोजान सम्मेलन शुरू होने के पहले ही तुर्की का सुल्तान गद्दी छोड़कर भाग गया। उसके भाग जाने के बाद उसका भतीजा अब्दुल मजीज तुर्की का सुल्तान घोषित हुआ, लेकिन उसके सारे अधिकार छीन लिये गये। इसके कुछ दिनों के बाद सारे देश में एक चुनाव हुआ तथा ग्रैंड नेशनल एसेम्बली का संगठन किया गया। इस सभा ने 23 अक्टूबर, 1923 को तुर्की को गणतन्त्र घोषित कर दिया। सभा ने सर्वसम्मति से मुस्तफा कमाल पाशा को इस नवीन गणराज्य का राष्ट्रपति निर्वाचित किया। साथ-ही-साथ लोकमत को देखते हुए यह निश्चित किया गया कि यद्यपि सुल्तान मुहम्मद छठा का देश में शासन से कोई सम्बन्ध नहीं रहे; लेकिन खलीफा के पद पर उसे बना रहने दिया जाय, पर इस समय तुर्की में क्रान्तिकारी विचार बड़ी तेजी से पनप रहे थे। इसलिए मार्च, 1924 में खिलाफत के अन्त करने का भी निर्णय किया गया। शासन को धर्म से एकदम पृथक कर दिया गया और पुराने शासन में काजियों को मिले सारे न्याय सम्बन्धी अधिकार छीन लिये गये। उसमानी देश के लोगों को सदा के लिये तुर्की में आना बन्द कर दिया गया।

इसके बाद अप्रैल, 1924 में तुर्की गणराज्य के लिए एक नवीन संविधान की घोषणा की गयी।

दो विश्वयुद्धों के बीच तुर्की की विदेश-नीति

तुर्की की प्रारम्भिक विदेश-नीति : मुस्तफा कमाल पाशा ने तुर्की की विदेश-नीति को एक नया मोड़ दिया। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर तुर्की एक पतनोन्मुख देश था। युद्ध में उसकी पूर्ण पराजय हुई थी जिससे उसको सेव्र की अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश कर दिया। यह सन्धि 10 अगस्त, 1920 को की गयी जिसके अनुसार तुर्की को अपने सम्पूर्ण गैर-तुर्की क्षेत्र का परित्याग करना पड़ा। सेव्र की सन्धि पर सुल्तान के प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर अवश्य कर दिये, किन्तु यह सन्धि कार्यान्वित नहीं की जा सकी। सन्धि की शर्तों के प्रकाशन से तुर्की में एक गम्भीर उथल-पुथल हुई और उसके कार्यान्वित होने से पूर्व ही तुर्की के राष्ट्रवादियों के एक दल ने मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में इसको पलट देने का प्रयत्न किया। कमाल पाशा ने सेव्र की सन्धि को मित्रराष्ट्रों की सहायता से बलपूर्वक लागू करनेवाली यूनानी फौजों को अपनी मातृभूमि से खदेड़ना शुरू किया। इसी बीच इटली, फ्रांस और इंगलैंड ने यूनान को सहयोग देना छोड़ दिया। इससे राष्ट्रवादी और भी प्रबल हो गये और सितम्बर, 1922 तक उन्होंने यूनानियों को बुरी तरह परास्त कर उन्हें एशिया माइनर से निकाल दिया। इसके पश्चात् तुर्की गणराज्य के राष्ट्रपति के रूप में कमाल पाशा ने सेव्र की सन्धि की कब्र खोद दी। उसने साफ-साफ शब्दों में इस सन्धि को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। अब मित्रराष्ट्रों के समक्ष सेव्र की सन्धि को समाप्त करने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं रहा। अतः दूसरी और तुर्की के साथ शान्ति-समझौता करने के लिए लोजान में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमे एक ओर राष्ट्रवादी तुर्की और मित्रराष्ट्रों की सरकारों के प्रतिनिधि थे। वास्तव में तुर्की के सामने बैठकर समझौता वार्ता चलाने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस तभी तैयार हुए थे जब उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि तुर्की के साथ संघर्ष जारी रखना व्यर्थ है और उससे समझौता करके कुछ आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस सम्मेलन के फलस्वरूप 4 जुलाई, 1923 को लोजान की सन्धि सम्पन्न हुई। इस सन्धि ने तुर्की की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा

में भारी वृद्धि की। इसमें कोई संदेह नहीं की सेब्र की सन्धि को पूर्णतया नष्ट करके उसके स्थान पर लोजान की सन्धि करना अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कमाल पाशा की भारी विजय थी। पिछले दो सौ वर्षों से तुर्की को यूरोप का मरीज कहा जाता था और पश्चिमी राष्ट्र उसे निरन्तर लूटते रहते थे, परन्तु अब वह युग समाप्त हो गया और तुर्की के जीवन में आत्मसम्मान और प्रतिष्ठा के एक नये युग का शुभारम्भ हुआ। पराजित देशों में तुर्की ही ऐसा प्रथम देश था जिसने पहले सम्पन्न की गयी अपमानजनक सन्धि को ठुकराकर मित्रराष्ट्रों को एक ऐसी सन्धि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जो उसके स्वयं की इच्छा पर आधारित थी। इस दृष्टिकोण से लोजान की सन्धि वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में कमाल पाशा की पहली शानदार सफलता मानी जायगी।

कई पक्षों में तुर्की की आकांक्षाओं की पूर्ति करने पर भी लोजान की सन्धि तुर्की की सभी वैदेशिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकी थी। तुर्की और इराक की सीमा एवं मोसुल की समस्या और सीरिया के साथ सीमा एवं जिलें की स्वायत्तता के प्रश्न अनिश्चित ही छोड़ दिये गये थे। इसी तरह तुर्की और यूनान के मध्य आबादी की अदला-बदली का प्रश्न भी नहीं सुलझा था। ओटोमन काल के ऋण भुगतान और विभाजन का प्रश्न भी अभी तक उलझन में पड़ा हुआ था। अतः तुर्की के नये शासन की विदेश नीति का मूल उद्देश्य अपनी प्रादेशिक अखंड़ता और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना, पाश्चात्य देशों के स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होने देना, साम्यवादी रूस के साथ मित्रवत् सम्बन्धों की स्थापना करना, पश्चिम एशियाई देशों के साथ मैत्रीपूर्ण एवं सामान्य सम्बन्ध कायम करना, इटली के मनसूबों को असफल बनाने के लिए बाल्कन राज्यों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करना और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तूफानों से पृथक रहना था। लोजान की सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद तुर्की के लिए यह आवश्यक था कि वह एक व्यावहारिक विदेश-नीति का अवलम्बन करे। कमाल पासा ने बड़ी-बड़ी मुसीबतों का सामना करके तुर्की राष्ट्र को बचाया था। इस हालत में रूस का सबसे बड़ा उद्देश्य तुर्की को आंतरिक और बाह्य खतरों से बचाना था। एक नये राष्ट्र के लिए शान्ति की बड़ी आवश्यकता होती है। मुस्तफा कमाल तुर्की के नवनिर्माण में लगा हुआ था और इस महान् कार्य को शान्ति के वातावरण में ही पूरा किया जा सकता था। इसलिए नवीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तुर्की गणराज्य के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने पूर्ववर्ती ओटोमन साम्राज्य के आक्रामक और उग्र विदेश-नीति का परित्याग कर दे। कमाल के समय में पुराने साम्राज्य को फिर से कायम करने का प्रश्न नहीं था। स्वयं मुस्तफा कमाल ने कहा था, "एक आधुनिक रिपब्लिक के रूप में तुर्की का विकास तभी सम्भव है, जब उसमें कोई ऐसा प्रदेश शामिल नहीं हो जो भाषा, प्रजाति और सभ्यता की दृष्टि से पूर्णतया तुर्क न हो।" कमाल पाशा का विचार था कि तुर्की को साम्राज्य से कोई लाभ नहीं हुआ है। इसलिए उसने पुराने तुर्की साम्राज्य की विदेश-नीति के मुख्य आधार—पान इस्लामिज्म—का पूर्णतया परित्याग कर दिया। कमाल पाशा का ख्याल था कि राजनीति और धर्म दो अलग-अलग चीजें हैं और उनमें किसी तरह का संसर्ग नहीं होना चाहिए। देश की आन्तरिक नीति में उसने धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को अपनाया। पान इस्लामिज्म की पुरानी नीति का परित्याग करके उसने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति में भी धर्मनिरपेक्षता को स्थान दिया। जैसा कि 1931 में तुर्की के विदेश-मंत्री ने कहा था, "हमलोग आन्तरिक या बाह्य किसी भी नीति में धर्म का प्रयोग करना नहीं चाहते।"

रूस के साथ सम्बन्ध : बाहरी देशों में तुर्की गणराज्य का पहला महत्वपूर्ण सम्बन्ध सोवियत रूस के साथ कायम हुआ। उस समय की जैसी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति थी उसके कारण इन दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। अपने जन्म के समय जब नवीन तुर्की अन्तर्राष्ट्रीय संकटों से घिरा हुआ था और यूनान की सेना ब्रिटेन के प्रोत्साहन पर उसकी भूमि पर आक्रमण कर रही थी, उस नाजुक समय में सोवियत रूस ने तुर्की को मान्यता प्रदान करके उसके उत्साह को बढ़ाया था। युद्ध के बाद तुर्की और सोवियत संघ दोनों के साथ यूरोपीय राज्यों का व्यवहार अच्छा नहीं हो रहा था। इस कारण ये दोनों देश एक-दूसरे के निकट आने लगे थे। अतएव, 1921 में तुर्की और सोवियत सरकार के विदेश मन्त्रियों के

बीच बातचीत हुई और एक मित्रता सन्धि पर हस्ताक्षर किया गया। इस सन्धि में हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों ने पूर्व सामाजिक और राष्ट्रीय क्रान्तियों के अस्तित्व को स्वीकार किया और यह माना कि इन आन्दोलनों को नवीन सामाजिक व्यवस्था बनाने के लिए रूसी श्रमिक वर्ग के संघर्ष के साथ तालमेल है। सन्धि में "इन जन समूहों के लिए स्वतन्त्रता, स्वाधीनता तथा जैसी सरकार वे चाहें उसे निर्बाध ढंग से चुनने के अधिकारों" का जिक्र किया गया। तुर्की और साम्यवादी रूस परस्पर इसलिए भी निकट आये कि लोजान-सम्मेलन में रूस ने तुर्की के दृष्टिकोण को अपना समर्थन प्रदान किया था।

1922-23 में दोनों देशों के राजनीतिज्ञों और सैनिक कमाण्डरों की यात्राओं ने पारस्परिक सम्बन्ध में और भी सुधार किया। मोसुल की समस्या ने दोनों देशों को एक-दूसरे के और निकट ला दिया। तब 1925 में राष्ट्रसंघ के निर्णय के अनुसार मोसुल को इराक में मिला दिया गया तब तुर्की और सोवियत संघ के बीच एक अनक्रमण सन्धि हुई। इस सन्धि के अन्तर्गत तुर्की और सोवियत संघ में से प्रत्येक पक्ष ने यह वादा किया कि वे एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे, एक-दूसरे के विरुद्ध शत्रुवत् कार्य से विरक्त रहेंगे तथा ऐसे किसी भी कार्य में शामिल नहीं होंगे जिनसे उनकी मैत्री को क्षति पहुँचे। इसके अतिरिक्त, दोनों राष्ट्रं इस बात पर भी सहमत हुए कि किसी भी तृतीय शक्ति से वार्ता करते समय वे पहले विचार-विमर्श करेंगे। यह सन्धि दस वर्षों के लिए की गयी थी, किन्तु आवश्यकतानुसार इसे पुनः दुहराया भी जा सकता था। यह सन्धि बहुत ही महत्वपूर्ण मानी जाती है क्योंकि पिछले दो सदियों से दोनों देश एक-दूसरे के घोर शत्रु रहते आये थे। 1935 में इस सन्धि को पुनः दुहराया गया और इस प्रकार इसकी अवधि दस वर्ष के लिए बढ़ गयी। लेकिन इस काल में दोनों देशों के सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयाँ भी उपस्थित हुईं। तुर्की के भीतर साम्यवाद का जोर बढ़ने लगा और कमाल पाशा ने उसको दबाना शुरु किया। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि दोनों देश वैदेशिक सम्बन्धों की दृष्टि से और राजनीतिक दृष्टिकोण से ही परस्पर मैत्री-सन्धि से आबद्ध हुए थे अन्यथा आन्तिरक दृष्टि से तुर्की साम्यवाद का घोर विरोधी था।

यूरोपीय स्थिति में बिगाड़ आने के साथ-साथ तुर्की और रूस की मैत्री का महत्व बढ़ता गया। यद्यपि तुर्की ने साम्यवादियों के दमन की अपनी नीति जारी रखी, किन्तु सोवियत संघ ने उसमें अपना मैत्री सम्बन्ध नहीं तोड़ा। 1934 में तुर्की ने आक्रमण की परिभाषा-सम्बन्धी सोवियत समझौते पर हस्ताक्षर किये और 1936 में सोवियत संघ ने मोन्त्रों सम्मेलन में जलडमरुमध्यों के सम्बन्ध में लोजान-सन्धि की शर्तों को संशोधित करने के प्रश्न पर तुर्की को समर्थन प्रदान किया।

आनेवाले वर्षों में तुर्की और सोवियत संघ के सम्बन्धों ने एक नया मोड़ लिया और वे पहले की तरह मधुर नहीं रहे। तुर्की की भावनाओं को उस समय बड़ी ठेस पहुँची जब अगस्त, 1939 में जर्मनी और सोवियत संघ के बीच एक अनाक्रमण-समझौता सम्पन्न हो गया। तत्पश्चात 1 सितम्बर को पोलैंड पर जर्मन-आक्रमण और 17 सितम्बर को सोवियत-आक्रमण ने तुर्की में आतंक उत्पन्न कर दिया। सितम्बर 1939 में तुर्की का विदेशमंत्री बाल्कन-क्षेत्र में शक्ति-संतुलन बनाये रखने के उद्देश्य से अनाक्रमण-सन्धि पर बातचीत करने के लिए मास्को गया, परन्तु जर्मनी के दबाव से बाध्य होकर सोवियत संघ ने इस नयी संधि के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। अपने इस उद्देश्य में असफल होने पर अक्टूबर, 1939 में तुर्की ने ब्रिटेन और फ्रांस से मैत्री-सन्धि कर ली।

तुर्की और राष्ट्रसंघ : पेरिस की शान्ति-संधियों द्वारा राष्ट्रसंघ नामक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का जो निर्माण हुआ था उसके सदस्य बनने की इच्छा तुर्की में शुरू से ही थी। लोजान की सन्धि के बाद वह इस दिशा में बरारब प्रयत्न करता रहा लेकिन पश्चिमी देशों विशेषकर ब्रिटेन और फ्रांस के विरोध के कारण वह वर्षों तक इस सदस्यता से वंचित रहा। अन्त में 18 जुलाई, 1932 को तुर्की राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। इस सदस्यता से तुर्की की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि हुई।

पश्चिमी शक्तियों के साथ सम्बन्ध : प्रथम विश्व-युद्ध में तुर्की मित्रराष्ट्रों के विरोधी खेमे में था और पश्चिम शक्तियों ने उसे बुरी तरह परास्त कर उस पर सेब्र की सन्धि लाद दी थी। युद्धोपरान्त मित्रराष्ट्रों ने तुर्की में उठ रहे राष्ट्रीय आन्दोलन को पूरी तरह कुचल देने के सभी प्रयत्न किये, परन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। पश्चिमी शक्तियों, विशेषकर फ्रांस और इंगलैंड के ऐसे व्यवहार के कारण तुर्की के मन में उसके प्रति गहरा विक्षोभ छा गया। सेब्र की सन्धि ने तो तुर्की और पाश्चात्य शक्तियों के सम्बन्धों में कटुता पैदा की ही, मोसुल, एलेक्जेन्ड्रेटा, जलडमरूमध्यों आदि के प्रश्नों ने भी उनके पारस्परिक मतभेदों को अधिक उग्र बनाया। लोजान की सन्धि के द्वारा यह तय हुआ कि नौ महीने के अन्दर ब्रिटेन और तुर्की के बीच समझौता करके तुर्की और इराक की सीमा निर्धारित की जानी चाहिए। इराक उस समय ब्रिटेन के संरक्षण (मैंडेट पद्धति के अन्तर्गत) में था, इसलिए ब्रिटेन मोसूल के क्षेत्र को इराक में शामिल कर लेना चाहता था। लेकिन उधर तुर्की और ब्रिटेन के बीच गतिरोध उत्पन्न हो गया और जब कोई समझौता नहीं हो सका तो यह प्रश्न राष्ट्रसंघ में भेजा गया। राष्ट्रसंघ ने अपना निर्णय ब्रिटेन के पक्ष में दिया। तुर्की देशभक्तों को यह सारा कांड एक संगठित साम्राज्यवादी षडयन्त्र की तरह प्रतीत हुआ। लेकिन 1926 में तुर्की और ब्रिटेन के बीच मोसुल-विवाद के समाधान के लिए एक समझौता हो गया। इस सन्धि के द्वारा तुर्की मोसुल में अपने सारे दावे इस आश्वासन पर उठा लेने को सहमत हो गया कि "मोसुल का दस प्रतिशत तेल उसके उपयोग के लिए उपलब्ध रहेगा।" इस संधि में कुर्दों की स्वतन्त्रता का कोई उल्लेख नहीं किया गया था। अब ब्रिटेन और तुर्की का सम्बन्ध अच्छा हो गया।

अलेक्जेन्ड्रेटा के प्रश्न पर फ्रांस और तुर्की के बीच कटुता आयी और इस प्रश्न का समाधान कठिन सिद्ध हुआ। इसमें सिरया का स्वार्थ निहित था जो मैडेट-पद्धति के अन्तर्गत फ्रांस के संरक्षण में था। 1936 में फ्रांस ने सीरिया को अलेक्जेन्ड्रेटा के साथ स्वतन्त्र कर देने का आश्वासन दिया। तुर्की ने इस आश्वासन का घोर विरोध किया। यहाँ की आबादी का चालीस प्रतिशत भाग तुर्क था। तुर्की ने इस प्रश्न को राष्ट्रसंघ के सम्मुख पेश किया। मई 1936 में राष्ट्रसंघ ने एक विशेष घोषणा निकाल कर संजाक में बसनेवाली तुर्क जाति की सुरक्षा के लिए गारण्टी दी और उस क्षेत्र का निरस्त्रीकरण कर दिया गया। लेकिन इस घोषणा से अलेक्जेन्ड्रेडटा के तुर्क संतुष्ट नहीं हुए और वे शांति का वातावरण तैयार करते रहे। सारे अलेक्जेन्ड्रेडा शहर में खलबली मच गयी। तुर्की ने 1926 में सीरिया के साथ की गयी सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया। इस घटना को लेकर फ्रांस और तुर्की का सम्बन्ध भी खराब हो गया। इस बात की सम्भावना बढ़ गयी कि फ्रांस और तुर्की के मध्य युद्ध छिड़ जायगा। लेकिन स्थिति टल गयी। अन्ततः फ्रांस और तुर्की के बीच 3 जुलाई, 1938 को एक समझौता हो गया जिसके अनुसार यह क्षेत्र इन दोनों देशों के अधीन कर दिया गया और यह कहा गया कि आम चुनाव के बाद अलेक्जेन्ड्रेटा के लोग इस बात का निर्णय करेंगे कि वे किसके साथ रहेंगे। संधि के अनुसार फ्रांस और तुर्की दोनों की सेनाएँ अलेक्जेन्ड्रेटा पहुँच गयीं। दिसम्बर में चुनाव हुआ जिसमें तुर्की पक्ष के उम्मीदवार बहुमत में आये। अब 2 सितम्बर, 1934 को यहां एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना कर दी गयी और उसका नाम हेटे का गणतन्त्र रखा गया। इस नये राज्य ने तुर्की के राष्ट्रीय झण्डे को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अलेक्जेन्ड्रेटा की समस्या का समाधान हुआ। यद्यपि इस क्षेत्र में फ्रांसीसी सेना अब भी बनी रही, लेकिन यहाँ तुर्की का प्रभाव सीमित अर्थों में अवश्य ही कायम हो गया। तुर्की की विदेश-नीति की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

मोन्त्रो की सन्धि : प्रारम्भ से ही तुर्की की विदेश-नीति राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित रही। तुर्की के समाचार-पत्र बराबर इस बात को दुहराते रहे कि जलडमरूमध्यों पर तुर्की के अधिकार को किसी प्रकार सीमित करना उसका राष्ट्रीय अपमान है। 1930 के बाद तुर्की पश्चिमी शक्तियों से विशेष रूप से आग्रह करने लगा कि लोजान की सन्धि की असैन्यीकरण की धाराएँ समाप्त कर देनी चाहिए और तुर्की को जलमडरूमध्यों

को किलाबंदी करने का अधिकार मिलना चाहिए। लोजान की सन्धि ने जलड़मरूमध्यों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया था और इस क्षेत्र का निरीक्षण एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग को सौंप दिया था जिसकी अध्यक्षता तुर्की की प्रतिनिधि द्वारा की जा रही थी, परन्तु 1933-34 के बाद इटली, जापान और जर्मनी का आक्रामक नीति ने तुर्की की चिन्ता को बढ़ा दिया। तुर्की इस बात को महस्सू करने लगा कि यदि जलडमरूमध्य की किलाबन्दी नहीं की गयी तो तुर्की की सुरक्षा के लिए विशेष खतरा पैदा हो जायगा। जलडमरूमध्य का विश्वसनीय नियन्त्रण सोविय संघ के लिए भी आवश्यक था क्योंकि उसकी सुरक्षा पर ही कालासागर के क्षेत्र की सुरक्षा निर्भर करती थी। इसलिए रूस ने तुर्की का समर्थन किया। लेकिन तुर्की की उपयुक्त मांग पर पश्चिमी शक्तियों ने तबतक कोई ध्यान नहीं दिया जबतक हिटलर ने राइनलैंड पर अधिकार नहीं कर लिया और एक आक्रमक समुद्री शक्ति के रूप में इटली उनके लिए सिरदर्द न बन गया। फासिस्ट राष्ट्रों की आक्रमक नीति ने जब भूमध्यसागर की स्थिति को संकट में डाल दिया तो पश्चिमी शक्ति तुर्की की माँग को उचित समझने लगी। महाशक्तियों के इस प्रकार के परिवर्तित दृष्टिकोण ने मोन्त्रो (Montreaux) सम्मेलन में सुप्रसिद्ध जलडमरूमध्य समझौते का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जुलाई, 1936 में होने वाले इस सम्मेलन में ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत संघ, आयरलैंड और विभिन्न अधिराज्यों, बुल्गेरिया, यूनान, रूमानिया, तुर्की और यूगोस्लाविया ने भाग लिया। इस समझौते के अन्तर्गत तुर्की को जलडमरूमध्य की किलेबन्दी करने तथा काला सागर के अतिरिक्त अन्य देशों के युद्धपोतों को वहाँ से गुजरने पर नियन्त्रण लगाने का पूरा अधिकार दिया गया। युद्धकाल में काली सागरीय देशों के जहाजों के लिए भी जलडमरूमध्य को बन्द कर सकता था, जबतक कि वे समझौते की शर्तों के अनुसार ऐसा न कर रहे हों। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि यदि तुर्की स्वयं युद्धरत हो तो जलडमरूमध्य में आने-जाने का प्रश्न पूर्णतः उसकी इच्छा पर निर्भर होगा। शान्तिकाल में काला सागरीय देशों के व्यापारिक और सामरिक जहाजों को निर्बन्ध आवागमन का अधिकार था। यह समझौता बीस वर्षों तक लागू रहने वाला था।

मोन्त्रों-समझौता लोजान की सन्धि के बाद तुर्की की विदेश-नीति की दूसरी महत्वपूर्ण और गौरवशाली सफलता थी। इस सन्धि ने तुर्की और पश्चिमी शक्तियों के मध्य मैत्री के एक नये युग का आरम्भ किया। इसके बाद सोवियत संघ एव पाश्चात्य राष्ट्रों के साथ तुर्की के सम्बन्ध धीरे-धीरे सामान्य होते गये और तुर्की सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का समर्थक बन गया। 1932 में उसने राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण कर ली। 1933 के बाद से ही यूरोप की कूटनीतिक और राजनीतिक स्थिति तेजी से बिगड़ने लगी। इस हालत में तुर्की और पश्चिमी शक्तियां तेजी से एक दूसरे के अधिक निकट आने लगीं। 1937 में ब्रिटेन और तुर्की के बीच तीन आर्थिक समझौते हुए। मई, 1939 में पारस्परिक सुरक्षा-समझौता करने के लिए ब्रिटेन और तुर्की द्वारा घोषणा की गयी। यूरोप में मंडराते हुआ युद्ध के बादलों को दृष्टिगत करके यूरोप के दोनों ही शक्ति-दल तुर्की के महत्व को समझने लगे और उनकी ओर से उसे अपने खेमे में शामिल करने का यत्न होने लगा, किन्तु जर्मनी के साथ तुर्की का समझौता कठिन था। 1939 में जर्मनी और सोवियत संघ के मध्य एक अनाक्रमण समझौता हुआ। इसके प्रत्युत्तर में अक्टूबर 1939 में तुर्की ने ब्रिटेन और फ्रांस के साथ सुरक्षा की एक त्रिपक्षीय सन्धि कर ली। इस सन्धि के अन्तर्गत युद्ध के भूमध्य सागर तक फैलने की स्थिति में तुर्की द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस को सहायता दिये जाने के बदले तुर्की पर किसी यूरोपीय देश द्वारा आक्रमण की स्थिति में उसे सहायता और अनुदान का आश्वासन दिया गया। इस समझौते से संलग्न एक आर्थिक समझौते द्वारा तुर्की को पचीस लाख पौंड का ऋण दिया गया। उधर जर्मनी ने भी तुर्की को प्रसन्न करने का यत्न किया।

इटली और जर्मनी के साथ सम्बन्ध : दो विश्वयुद्धों की बीच के काल में तुर्की और जर्मनी के सम्बन्ध लगभग सामान्य रहे। इन दोनों ही देशों ने प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों के विरूद्ध युद्ध किया था, दोनों ही युद्ध में पराजित हुआ थे और दोनों ही को मित्रराष्ट्रों के हाथों अपमान एवं प्रादेशिक नुकसान सहना पड़ा था। अतः 1919 से 1939 की अवधि में दोनों ही देश एक दूसरे के प्रति मित्रवत बने रहे और उनमें आर्थिक

सहयोग स्थापित रहा। जर्मन विशेषज्ञों और निर्माणकार्य करने वाली फर्मों को तुर्की में तुरन्त काम मिल गया। 1930 में एक व्यापारिक समझौता ने तुर्की से जर्मनी में निर्यात की मात्रा को काफी बढ़ा दिया। इस समझौते ने तुर्की को इतना आर्थिक लाभ पहुँचाया कि 1939 तक उसके कुल निर्यात माल का पचास प्रतिशत जर्मनी में जाता था।

जर्मनी के विपरीत इटली के साथ तुर्की के सम्बन्ध भिन्न थे। इटली अनातोलिया पर दावा किये हुए था और तुर्की इस दावे को लेकर हमेशा संशकित रहता था। इसके अतिरिक्त तुर्की के तट पर स्थित कई द्वीपों पर इटली का कब्जा था। इस कारण भी तुर्की की सरकार इटली से भयभीत रहा करती थी। फिर भी, तुर्की ने इटली के प्रति मित्रता की नीति का ही अवलम्बन किया, क्योंकि वह इटली को नाराज करके उसकी शत्रुता मोल नहीं लेना चाहता था। जब मुसोलिनी शक्ति में आया तो उसने भी तुर्की के सम्मुख मैत्री का हाथ बढ़ाया, क्योंकि प्रथम तो अभी तक वह सत्ता पर अपना पूर्ण अधिकार नहीं जमा पाया था और दूसरे अपनी शक्ति में उसे अभी तक पूर्ण विश्वास नहीं था। 1928 में मिलान तुर्की के विदेशमंत्री का हार्दिक स्वागत किया और बाद में इसी वर्ष दोनों देशों के मध्य तटस्थता शान्ति, और न्यायिक समझौता सम्वन्धी सन्धि हुई। साथ-ही-साथ, इटली ने यूनान के साथ भी एक सन्धि की और यूनान एवं तुर्की के सम्बन्धों में सुधार लाने के लिए अपने प्रभाव का प्रयोग किया।

1933 में जर्मनी में नात्सी-शक्ति का उदय हुआ और अगले ही वर्ष इटली तथा अबीसीनिया के सम्बन्ध बिगड़ गये। जर्मनी में नात्सियों की सफलता से तुर्की में कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई और जर्मनी के साथ आर्थिक सहयोग की नीति जारी रही। जब इटली ने भूमध्यसागरीय क्षेत्र में अपनी विस्तारवादी नीति का शुभारम्भ किया तो तुर्की और इटली के सम्बन्धों में बिगाड़ शुरू हो गया और तुर्की ने इटली के विरूद्ध अबीसीनिया के मामले में राष्ट्रसंघ में लगातार विरोध प्रकट किया। इसी बीच इटली और जर्मनी एक-दूसरे की तरफ तेजी से निकट आये और रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण हो गया। अब तुर्की की आशंकाओं में वृद्धि हो गयी। 1937 में स्पेन के गृहयुद्ध में इटली-जर्मन हस्तक्षेप ने तो तुर्की में फासिट शक्ति के प्रति एक भयपूर्ण प्रतिक्रिया पैदा कर दी। इसलिए जब 1939 में इटली ने अल्बानिया पर हमला किया, तो तुर्की ने तुरन्त ही ब्रिटेन और फ्रांस के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। 1941 में ब्रिटेन पर हमला करने की दृष्टि से, जर्मनी तुर्की को इस बात के लिए बड़ा उकसाया कि वह ब्रिटेन और फ्रांस से अपने मैत्री सम्बन्धों का परित्याग कर दे। जर्मनी के निरन्तर दवाव के फलस्वरूप ही अन्त में जून, 1941 में तुर्की और जर्मनी के मध्य एक अनाक्रमण समझौता हुआ। तुर्की द्वारा जर्मन से इस तरह मैत्री सम्बन्ध कर लेने के परिणामस्वरूप सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अकेला पड़ गया। ठीक इसी वर्ष 22 जून को जर्मनी का सोवियत संघ पर आक्रमण शुरू हो गया।

पड़ोसी राज्यों के साथ सम्बन्ध : प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही तुर्की ने पान इस्लामिज्म की नीति का परित्याग कर दिया था। गणराज्य की स्थापना के बाद वह एशियाई देशों के राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम का समर्थन करने लगा। 1922 में तुर्की और अफगानिस्तान के बीच मास्को में एक समझौता हुआ जिसमें दोनों ही देशों ने किसी साम्राज्यवादी देश द्वारा आक्रमण की स्थिति में एक दूसरे की सहायता करने का वादा किया। इस सन्धि ने तुर्की को पश्चिमी एशिया की जनता के राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के नेता के रूप में मान्यता प्रदान की। उसी वर्ष तुर्की, ईरान और अफगानिस्तान के बीच त्रिपक्षीय समझौता हुआ। 1926 में तुर्की और ईरान के मध्य मैत्री और सुरक्षा की सन्धि हुई। 1933 के बाद से ही तुर्की की विदेश नीति का प्रधान लक्ष्य पश्चिम एशिया में प्रादेशिक सुरक्षा-पद्धति का निर्माण करना रहा और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर 1937 में तुर्की, ईरान, इराक और अफगानिस्तान के साथ सादावाद-समझौता संपन्न हुआ।

तुर्की और बाल्कन राज्य : बाल्कन प्रायद्वीप की राजनीति में रूचि लेना तुर्की के लिए बिल्कुल स्वाभाविक था। इस प्रायद्वीप में 1923 में हंगरी के साथ और 1924 में आस्ट्रिया के साथ तुर्की ने मैत्री-सन्धि की। यूनान, यूगोस्लाविया और बुल्गेरिया के साथ तुर्की का कुछ विरोध था। 1925 में यूगोस्लाविया और बुल्गेरिय के साथ मैत्री-संधि पर हस्ताक्षर करके कुछ कठिनाइयों को दूर किया गया। 1928 में इटली और 1929 में यूनान के साथ तुर्की की सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत हस्ताक्षरकर्ता ने यह वचन दिया कि वे पारस्परिक विवादों का फैसला शान्तिपूर्ण तरीकों से करेंगे। 1930 में तुर्की और यूनान के बीच एक समझौता हुआ। इसके द्वारा दोनों देशों के बीच अल्पसंख्यकों की अदला-बदली की समस्या का सामाधान किया गया। इसके उपरान्त 1933 में पुनः इन देशों के बीच एक दसवर्षीय मैत्री-सन्धि हुई जिसमें सीमाओं के पारस्परिक सुरक्षा और समस्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में संयुक्त रूप से दोनों ही राज्यों का एक ही व्यक्ति के द्वारा प्रतिनिधित्व कराने की व्यवस्था की गयी।

1921 में अंकारा में पहला बाल्कन सम्मेलन हुआ। तुर्की ने इस अवसर का प्रयोग रूमानिया और यूगोस्लाविया के साथ सम्बन्धों के अनुकूल सुधार लाने के लिए किया। 1 फरवरी, 1934 में तुर्की के प्रयासों के फलस्वरूप बाल्कन समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके द्वारा बाल्कन प्रदेशीय सुरक्षा-पद्धति विकसित हुई।

संयुक्त राज्य अमेरिका और तुर्की : प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और तुर्की के सम्बन्धों में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी। यद्यपि युद्ध के समय दोनों राज्यों ने एक-दूसरे के खिलाफ विधिवत युद्ध की घोषणा नहीं की थी, फिर भी युद्धकाल में दोनों के कूटनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध खत्म हो गये थे। इस सम्बन्ध को फिर से कायम करने के लिए एक नयी सन्धि की आवश्यकता थी। अमेरिका की सीनेट में तुर्की के साथ सम्बन्ध स्थापना पर वर्षों तक विचार होता रहा, लेकिन उसका कोई नतीजा नहीं निकला। इसी बीच तुर्की उन देशों के मालों पर अत्यधिक कर लगाने लगा जिनके साथ उनका कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं था। इससे अमेरिका के आर्थिक हितों को क्षति पहुँचने लगी और उसे बाध्य होकर 1927 में तुर्की के साथ सन्धि करनी पड़ी। दोनों देशों के बीच पुनः दौत्य सम्बन्ध कायम हुआ और तुर्की की राजधानी में एक अमेरिकी राजदूत रहने लगा।

1938 में कमाल की मृत्यु हो गयी। इस समय तक तुर्की की विदेश-नीति का वह मुख्य संचालक रहा था और गृहनीति की तरह विदेश-नीति के क्षेत्र में भी वह पूर्ण सफल रहा। कमाल पासा की महान् सफलता उसकी वैदेशिक नीति थी जिसके चलते तुर्की एक शक्तिशाली देश बना और संसार के कई देश उसके मित्र बन गये।

अरब राष्ट्रवाद और मैंडेट पद्धति

प्रथम विश्वयुद्ध और अरब राष्ट्रवाद : प्रथम विश्वयुद्ध में जब ओटोमन साम्राज्य जर्मनी के साथ मिल गया तो अंगरेजों ने अरबों को विद्रोह के लिए उकसाया और उनकी राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित किया। युद्धकाल में अरबों के विद्रोह का नेतृत्व शरीफ हुसेन इब्न अली (1853-1931) ने किया। 29 अक्टूबर, 1914 का ओटोमन सरकार के युद्ध में कूदने के दो ही दिन बाद उसने ब्रिटिश युद्धमंत्री लार्ड किचनर से सम्पर्क स्थापित किया। अंगरेज भी उसकी ओर काफी झुके रहे। दोनों में यह तय हुआ कि तुर्की के खिलाफ अरबों को मदद के बदले में अंगरेज उनकी स्वाधीनता के प्रयास में सहायता देंगे और उनकी राष्ट्रीय एकता को स्वीकार करेंगे। उधर जनवरी, 1915 में दमिश्क के बक्री-परिवार के एक सदस्य शरीफ के पास एक सन्देश जिसमें अरबों की प्रमुख संस्था अल-फतात ने उसने साथ मिलकर तुर्की शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का प्रस्ताव किया। शरीफ हुसेन के चार पुत्र थे—अली, अब्दुला, फैजल और अमीर जैद। हुसेन के निर्देश पर इन चारों ने अरब विद्रोहों में पूरा भाग लिया। अब्दुला अल्-फतात का सदस्य बन गया और अंगरेजों के साथ पूरा सहयोग करने लगा। उसने सभी अरब नेताओं को संगठित करना शुरू किया। इसी बीच अल-अहद और अल-

फताात ने विद्रोह की तैयारी शुरू कर दी और अपने प्रसिद्ध दमिश्क प्रस्ताव को अरब जनता के समक्ष रखा। मई में इन दोनों संस्थाओं ने मिलकर एक मसविदा तैयार किया जिसमें ओटोमन साम्राज्य के विरुद्ध अरबों के विद्रोह के बदले में अंगरेजों से उनके स्वतन्त्र राष्ट्र को मान्यता देने की मांग की गयी थी जिसमें अदन को छोड़कर अरब, फिलस्तीन, सीरिया और इराक के शामिल होने की बात थी। ब्रिटेन के साथ सुरक्षात्मक संधि, आर्थिक और कूटनीतिक सुविधाओं की बातें भी इसमें शामिल थीं। दमिश्क प्रस्ताव के आधार पर जुलाई, 1915 में शरीफ हुसेन ने काहिरा-स्थित ब्रिटिश राजदूत हेनरी मैकमोहन के साथ वार्ता आरम्भ की। जनवरी, 1916 तक उनके बीच पत्र-व्यवहार चलता रहा। इस दौरान अंगरेज प्रवक्ताओं ने स्पष्ट किया कि दमिश्क, हिम्स, हमा और अलेप्पो से पश्चिम के इलाकों को अरब नहीं कहा जा सकता। अतः इसे फ्रांसीसी हितों के साथ जुड़ा माना जायगा और इराक में उनके अपने हितों की समुचित रक्षा की व्यवस्था की जायगी। शरीफ ने कहा की इन मामलों को युद्ध के बाद तय किया जायगा। अंगरेजों ने इस बात को मान लिया। इन शर्तों के आधार पर शरीफ हुसेन ने मक्का में अरब-विद्रोह का झंडा खड़ा किया। इस विद्रोह के कारण ओटोमन साम्राज्य को अपार नुकसान उठाना पड़ा और मित्रराष्ट्रों को युद्ध-प्रयास में बड़ी सहूलियतें मिलीं।

अंग्रेजों का विश्वासघात : लेकिन अंग्रेजों की नियत कभी साफ नहीं थी। वे अरबों को धोखा में रखकर अपना काम निकालना चाहते थे। अरब-ब्रिटिश समझौता एकदम गुप्त रीति से हुआ था। अतएव ब्रिटेन के अन्य सहयोगियों को इसके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी। लेकिन मित्रराष्ट्रों के प्रायः सभी देश ओटोमन साम्राज्य पर अपनी ललचायीं निगाह डाले हुए थे और युद्ध के पश्चात् उसके किसी-न-किसी क्षेत्र पर अधिकार करने को उतावले थे। इसलिए ओटोमन साम्राज्य के सम्वन्ध में मित्रराष्ट्रों के बीच भी कई गुप्त सन्धियाँ हुईं। ये समझौते ऐसे थे जो ब्रिटिश-अरब समझौते के विरूद्ध थे। 1916 में फ्रांस, ब्रिटेन और रूस के बीच युद्धोपरान्त ओटोमन साम्राज्य के विभाजन के लिए एक गुप्त सन्धि हुई। इसकी शर्तों को ब्रिटिश राजदूत सर मार्क साइक्स और फ्रेंच राजदूत जार्ज पिकॉट ने निश्चित किया था। इसलिए इसको साइक्स-पिकॉट समझौता कहते हैं। इसके द्वारा निम्नांकित बातें तय की गयीं—

(1) सीरिया, इराक के मोसुल जिला तथा तुर्की के अनोतोलिया पर फ्रांस का दावा मान लिया गया।

(2) ब्रिटेन के क्षेत्र में इराक का क्षेत्र एवं फारस की खाड़ी से लकेर फ्रेंच क्षेत्र तक के इलाके एवं फिलस्तीन शामिल किये गये।

(3) बाद में जब रूस को इस सन्धि के सम्बन्ध में जानकारी हुई तो उसके कान्स्टैन्टनोपुल तथा अनातोलिया के प्रांतों को अपने हिस्से में सम्मिलित करवा लिया।

इस सन्धि में अरबों के विचार पर जरा भी ख्याल नहीं रखा गया। यह कहा जाता है कि जिन लोगों ने इस सन्धि को तैयार किया, उन्हें ब्रिटिश-अरब समझौते की कोई जानकारी नहीं थी। लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह कूटनीतिक् अनैतिकता की चरम सीमा थी। अरबों के प्रति यह घोर विश्वासघात था।

1917 में रूस में जब बोल्शेविक क्रान्ति हुई तब नयी सरकार ने गुप्त साइक्स-पिकॉट समझौते को प्रकाशित कर दिया। जब अरबों को इसके विषय में पता लगा तो वे बहुत नाराज हुए, लेकिन ब्रिटेन ने उन्हें आश्वासन देकर उनको फिर धोखा दे दिया।

इसके तुरन्त बाद अंगरेजों ने अरबों के साथ एक दूसरा विश्वसाघात किया। यह फिलिस्तीन से संबद्ध था इस समय यहूदी लोग अपने एक राष्ट्रीय आवास के लिए आन्दोलन कर रहे थे। वे फिलिस्तीन के मूल निवासी थे और उनकी मांग थी कि फिलिस्तीन में भी उनका एक राष्ट्रीय राज्य कायम हो। अंगरेजों ने यहूदियों के प्रति अपनी पूरी सहानुभूति प्रदर्शित की। अतः 2 नवम्बर, 1917 को अंगरेजों ने बालफोर-घोषणा की। इसके द्वारा यहूदियों को फिलिस्तीन में यहूदी राज्य कायम करने का ब्रिटेन की ओर से आश्वासन दिया

गया। इस घोषणा से अरबों पर घोर वज्रपात हो गया। शरीफ हुसैन ने पुन: विरोध किया। ब्रिटिश राजदूत जाराज होगार्थ ने जनवरी, 1918 में शरीफ हुसैन से मुलाकात की एवं उसे विश्वास दिलाया कि इस घोषणा से फिलिस्तीन-निवासियों के आर्थिक राजनीतिक अधिकारों को कोई भी हानि नहीं पहुँचेगी। अरब-नेताओं की आंखों पर पुन: परदा डाल दिया गया।

अरबों का विद्रोह : अरब लोग अंग्रेजों की कूटनीति में फंस गये और युद्धकाल में वे बराबर विद्रोह तथा संघर्ष में लीन रहे। उन्होंने हेजाज में स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। एक महीने के भीतर ओटोमन व्यवस्था टूटने लगी। मक्का की फौज ने हथियार डाल दिये। दिसम्बर के मध्य में अंगरेजों ने शरीफ हुसेन को हेजाज का राजा मान लिया। हुसेन के पुत्र फैजल, एक ईरानी अफसर जाफर अल अस्कारी और एक अंगरेज कर्नल टी० ई० लोरेन्स ने छापामार दस्ते तैयार किये। हेजाज और जोर्डन-पार की कुछ जातियों ने भी अरबों का साथ दिया। उन्होंने तोड़-फोड़ की कार्रवाई शुरू कर दी और जुलाई, 1917 में लाला सागर के बन्दरगाह पर कब्जा कर लिया। उन्हीं दिनों जनरल एलेनबी सिनाई से होकर बढ़ रहा था। अंगरेजी सेना और अरब गुरिल्ला ने फिलिस्तीन के अभियान को तेजी से पूरा कर लिया। सीरिया पर से ओटोमन शासन उठ गया। 30 नवम्बर, 1918 को फैजल दमिश्क आ पहुँचा।

इस प्रकार युद्धकाल में अरब राष्ट्रवाद और उनके विद्रोह से मित्रराष्ट्रों को बड़ा लाभ पहुँचा। इसके कारण तुर्की की शक्ति बिल्कुल खोखली हो गई। उसके बहुत सारे सैनिक अरबों का विद्रोह दबाने में ही लगे रहे। अरब-विद्रोह ने जेहाद के नारे को बिल्कुल खोखला कर दिया और संसार के मुसलमानों पर तुर्की के प्रचार का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

पेरिस शान्ति-सम्मेलन और अरब राष्ट्रवाद : 30, अक्टूबर, 1918 को आत्मसमर्पण करके तुर्की युद्ध से अलग हो गया। ओटोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों पर मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का कब्जा हो गया। फिलिस्तीन में एलेनबी की फौज थी। दमिश्क में फैजल था। इराक में भारत से गयी ब्रिटिश सेना का शासन था। अरब में शरीफ हुसेन हेजाज का राज था और इन सऊद नजद का। किसी को पता नहीं था कि अरब जगत में किस प्रकार की व्यवस्था होगी। 1919 के आरम्भ में पेरिस में शान्ति-सम्मेलन हुआ। अब फ्रांसीसी ब्रिटिश युद्ध संधियों तथा अरब ब्रिटिश समझौते की विभिन्नता स्पष्ट हो गयी। नवम्बर, 1918 में फजल ने फ्रांस की यात्रा की तथा दिसम्बर में लन्दन गया। यहीं पर उसे स्थिति की विषमता का आभास हुआ और उसे गुप्त सन्धियों का पता चला। फ्रांस, सीरिया को हस्तगत करने के लिए दृढ़ संकल्प किया था तथा फैजल को मान्यता देने के विरूद्ध था। उधर यहूदियो के नेता फिलिस्तीन में यहूदी राज्य बनने की तैयारियां कर रहे थे। फैजल को अपनी सारी योजनाएं ध्वस्त होती मालूम हुईं। फिर भी उसने धैर्य से काम लिया। ब्रिटिश दबाव के कारण उसने यहूदियों के साथ समझौते पर हस्ताक्षर कर दिया, किन्तु उसने अरब स्वतन्त्रता की शर्तें उसमें जोड़ दीं। शान्ति सम्मेलन जनवरी, 1919 में आरम्भ हुआ तथा फैजल हेजाज के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुआ। फरवरी में उसने अरबों की मांगों को शान्ति-सम्मेलन के सम्मुख रखा तथा राष्ट्रपति विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों के आधार पर अरब-स्वतन्त्रता की मांग की और अरब-प्रदेश में जनमत संग्रह पर जोर दिया। अन्त में इटली, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं फ्रांस के प्रतिनिधियों का संयुक्त मंडल अरब देशों में भेजना तय हुआ और फैजल फरवरी में दमिशक लौट आया।

अखिल सीरियाई सम्मेलन : इसी बीच फरवरी, 1919 में अल-फतात ने एक राजनीतिक दल का रूप धारण कर लिया। इसकी मांग पर एक अखिल सीरियाई प्रतिनिधि सभा के लिए चुनाव हुआ तथा 2 जुलाई, 1919 को इन प्रतिनिधियों का सम्मेलन दमिश्क में शुरू हुआ। इसमें यह तय किया गया कि इराक और सीरिया को पूरी तरह विदेशी नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिए। लेकिन फ्रांसवाले यह मानने के लिए तैयार

नहीं थे। शान्ति-सम्मेलन का एक जाँच-आयोग पश्चिम एशिया की स्थिति का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। संयुक्त राज्य अमेरिका को छोड़कर मित्रराज्यों ने इस आयोग के साथ असहयोग किया। आयोग के दो सदस्य डॉ० हेनरी किंग और चार्ल्स क्रेन ने अरब क्षेत्रों का दौरा किया। किंग-क्रेन आयोग ने यह मत प्रकट किया कि सीरिया को फ्रांस के अधीन नहीं रखना चाहिए। इसने सीरिया की एकता पर जोर दिया और वहाँ अमीर फैजल को सम्राट नियुक्त करने की सलाह दी। अन्य क्षेत्रों के लिए उसने मैडेट (संरक्षण-व्यवस्था) की सिफारिश की। परन्तु फ्रांसीसी इन सब बातों को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने फैजल का विरोध किया। उधर अंगरेजी फौज सीरिया से हटने लगी। इस पर वहां अनेक झड़पें और झगड़े हुए।

लेकिन यूरोप के लोग इस तरह की व्यवस्था को मानने के लिए तैयार नहीं थे। पेरिस में अरब जगत् से सम्बन्धित सौदाबाजी चलती रही। ब्रिटिश प्रधान मंत्री लायड़ जार्ज तथा फ्रांसीसी प्रधानमंत्री क्लिमेंशों के बीच इस विषय पर कई वार्ताएँ हुईं। फ्रांस अपनी मांगों पर डटा रहा। अगस्त 1919 में लायड जार्ज ने फैजल को पुनः फ्रांस से प्रत्यक्ष वार्ता करने के लिए आमंत्रित किया। 27 नवम्बर, 1919 को फैजल और क्लिमेंशो के बीच एक समझौता हुआ। यह तय हुआ कि सीरिया के तटवर्ती इलाकों में फ्रांसीसी फौजें रहेंगी और पूर्वी सीरिया में अरब शासन कायम रहेगा। इस समझौता के बाद जब फैजल सीरिया वापस लौटा तो लोगों ने उसके द्वारा किये गये समझौते का बड़ा उग्र विरोध किया। 8 मार्च, 1920 को दूसरा अखिल सीरियाई सम्मेलन हुआ जिसमें यह तय हुआ कि मिस्र और तुर्की के बीच के सारे इलाके सीरिया के राज्य के अन्तर्गत हो और फैजल उसका राजा हो; इराक एक अलग राज्य हो तथा उस पर अब्दुला का शासन रहे। लेकिन यूरोपीय राज्य इस तरह की किसी व्यवस्था को मानने के लिए तैयार नहीं थे। फ्रांसीसी फौज सीरिया में जमी हुई थी। उसी तरह इराक और फिलिस्तीन के क्षेत्र में अंगरेजों की फौज बनी हुई थी। इस हालत में पश्चिम एशिया से सम्बन्धित युद्धोत्तर-व्यवस्था एक अत्यन्त कठिन समस्या बन गई। इस समस्या का समाधान राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत कायम की गयी संरक्षण व्यवस्था (मैंडेट सिस्टम) से हुआ।

राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था : पश्चिम एशिया से सम्बन्धित युद्धोत्तर-व्यवस्था की कठिनाई के मूल में दो बातें थीं। एक ओर तो अरबों को मित्रराष्ट्रों द्वारा आश्वासन था कि युद्धोपरान्त तुर्की की पराजय के बाद के अरब देशों को स्वतन्त्र कर देंगे। इस आश्वासन को अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त और स्वशासन के अधिकारों के नारों से और बल प्राप्त हुआ। राष्ट्रपति विल्सन ने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि युद्ध की समाप्ति के बाद पराजित शत्रु राज्यों के उपनिवेशों या अधिकृत क्षेत्रों में वहां के निवासियों के इच्छानुसार शासन-पद्धति की व्यवस्था की जायगी। अतएव युद्ध खत्म होने के बाद अरबों की उम्मीदें बहुत बढ़ गयीं। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन के पहले मित्रराज्यों के बीच अरब-राज्यों के बटवारे के लिए गुप्त समझौता भी हो चुका था। युद्ध के समय स्वशासन के सिद्धान्त का नारा लगाया गया था। विल्सन के चौदह सूत्रों में भी इस बात की चर्चा की गयी थी। इन सिद्धान्तों के अनुसार वहां के निवासियों का भाग्य-निर्णय स्वयं वहां के निवासियों द्वारा होना चाहिए था। लेकिन विजयी राष्ट्र अपनी विजय का पुरस्कर चाहते थे। उनकी आंखें जर्मनी और तुर्की के उन प्रदेशों पर गड़ी हुई थीं जो पराधीन थे। वे उनको हड़पना चाहते थे। लेकिन यह कार्य उतना आसान नहीं था। स्वशासन की आवाज सबके कानों में गूंज रही थी और विल्सन के रहते उसके सिद्धान्तों की उपेक्षा करना सरल नहीं था। लेकिन व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से आवश्यक था कि युद्धकाल में घोषित स्वशासन के सिद्धान्त और साम्राज्यवाद के सिद्धान्त में किसी तरह समन्वय कराया जाय। एक ऐसा उपाय खोजना आवश्यक था जिसमें साँप भी मरे और लाठी भी नहीं टूटे—स्वशासन का नाम भी रह जाय और पराजित शत्रुओं के उपनिवेशों पर मित्रराज्यों का अधिकार भी हो जाय। इसके लिए अफ्रीका के राजनेता जनरल समट्स ने एक रास्ता ढूंढ निकाला। जिसे संरक्षक-प्रणाली (Mandate System) कहते हैं।

इस प्रणाली के अनुसार शत्रु-पक्ष के उपनिवेश पर किसी राज्य का विधिवत अधिकार नहीं कायम हुआ। ये प्रदेश राष्ट्रसंघ के जिम्मे सौंप दिये गये और राष्ट्रसंघ ने अपनी तरफ से इनको विविध मित्रराष्ट्रों की संरक्षता में दे दिया। यह कहा गया कि विजित शत्रुओं के उपनिवेशों पर जो कब्जा मित्रराष्ट्रों को दिया गया है वह वस्तुतः राष्ट्रसंघ का है और ये देश राष्ट्रसंघ की ओर से उपनिवेशों के अनुशासन और सुव्यवस्था के लिए नियत किये गये हैं। शासन की इसी पद्धति को संरक्षण-प्रणाली कहते हैं। इसके अनुसार यह मान लिया गया कि जर्मनी या तुर्की के भूतपूर्व औपनिवेशिक प्रदेशों पर शासन करने का जो अधिकार अब ब्रिटेन या फ्रांस को दिया गया है वह राष्ट्रसंघ के आदेश द्वारा उन्हें प्राप्त हुआ है और ये उपनिवेश वस्तुतः राष्ट्रसंघ की अधीनता में हैं। राष्ट्रसंघ के विधान की बाईसवीं धारा में संरक्षण-प्रणाली की चर्चा इस प्रकार की गयी थी—"उन उपनिवेशों और क्षेत्रों पर, जो कि पिछलें युद्ध के परिणास्वरूप उन राज्यों की प्रभुसत्ता में नहीं रह गये हैं, जिनका पहले उन पर शासन था तथा जिनमें ऐसे लोग बसते हैं, जो आधुनिक विश्व की कठिन परिस्थितियों में अपने पैरों पर खड़े होने योग्य नहीं हैं, यह सिद्धान्त लागूकिया जाय कि ऐसे लोगों का कल्याण और विकास सभ्य देशों का पवित्र कर्त्तव्य है, इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि ऐसे लोगों का संरक्षण उन समुन्नत राष्ट्रों को सौंपा जाय जो इस जिम्मेवारी को सबसे अच्छी तरह निभा सकते हैं तथा इस संरक्षण-अधिकार का उपयोग वे राष्ट्रसंघ की ओर से संरक्षक राज्य के रूप में करें।"

राष्ट्रसंघ-विधान की इसी धारा में संरक्षण-प्रणाली को कार्यान्वित करने की विधि का भी उल्लेख कर दिया था। शासन की सुविधा के लिए संरक्षित राज्यों को 'अ' 'ब' और 'स' तीन श्रेणियों में बाँट दिया गया था। 'ब' और 'स' वर्ग के संरक्षित प्रदेश जर्मनी के भूतपूर्व उपनिवेश से सम्बन्धित थे। लेकिन 'अ' वर्ग के संरक्षित प्रदेशों का सम्बन्ध ओटोमन-साम्राज्य के भूतपूर्व अधीनस्थ प्रदेशों से था जिसमें इराक, सीरिया, लेबनान, फिलिस्तीन और जोर्डन रखे गये थे। राष्ट्रसंघ के विधान में कहा गया था कि ये प्रदेश "विकास की ऐसी अवस्था तक पहुँच गये हैं कि इनके अस्तित्व को अस्थायी रूप से स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में माना जा सकता है। लेकिन, कोई एक संरक्षक राज्य उन्हें तबतक प्रशासकीय सलाह और सहायता देता रहेगा, जबतक वे अपने पैरों पर न खड़े हो जायें।" इसका तात्पर्य यह था कि इन प्रदेशों को प्रशासकीय योग्यता का अभाव था और इसलिए उन्हें एक 'सभ्य' राज्य के अधीन तबतक रखना आवश्यक था जवतक वे स्वयं शासन करने योग्य न हो जायं। अतः इराक, फिलिस्तीन तथा जोर्डन को ब्रिटेन और सीरिया एवं लेवनान को फ्रांस की संरक्षता में रखा गया। इस प्रकार पश्चिमी एशिया के इतिहास में संरक्षण-प्रणाली का सूत्रपात हुआ।

संरक्षक-प्रणाली के अन्तर्गत तीन और शर्तें थीं जो इस प्रकार हैं—

1. संरक्षित प्रदेशों पर शासन करने वाले संरक्षक राज्य उस देश की प्रगति के विषय में एक वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रसंघ की कौंसिल को भेजेंगे।

2. प्रत्येक संरक्षक प्रदेश पर नियंत्रण अथवा शासन राष्ट्रसंघ की कौंसिल के आदेशानुसार होगा।

3. संरक्षक राज्यों की वार्षिक रिपोर्ट का निरक्षण करने के लिए एक स्थायी संरक्षण-आयोग का गठन किया जायगा।

इन शर्तों के अनुसार 1920 के अन्त में एक स्थायी संरक्षक आयोग की स्थापना की गयी। प्रारम्भ में इस आयोग में नौ सदस्य थे जिनमें अधिकांश व्यक्ति गैर-संरक्षक राज्यों के नागरिक थे। 1924 में सदस्यों की संख्या ग्यारह कर दी गयी। एक जगह राष्ट्रसंघ सचिवालय के संरक्षक-विभाग के अध्यक्ष को मिली और दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंघ के प्रतिनिधि को 1927 में एक और जगह बढ़ा दी गयी और उस जगह पर एक जर्मन नागरिक रखा गया। इस आयोग का काम केवल सलाह देना था; किन्तु व्यावहारिक तौर पर यह कौंसिल के एजेण्ट के रूप में काम करने लगा और संरक्षित प्रदेशों का निरीक्षण करना शुरू किया। स्थायी आयोग प्रतिवर्ष संरक्षक राज्यों से वार्षिक रिपोर्ट प्राप्त करता था, संरक्षण राज्य के प्रतिनिधियों से प्रश्न पूछता था, और संरक्षित प्रदेशों के निवासियों से आवेदन-पत्र लेता था। संरक्षित प्रदेश के निवासी संरक्षण

राज्यों के द्वारा ही आवेदन-पत्र भेज सकते थे। आयोग को अन्य सूत्रों से भी संरक्षित प्रदेशों के समाचार मिलते थे। लेकिन, आयोग ने स्वयं कभी संरक्षित प्रदेशों का भ्रमण नहीं किया और न तो अपने प्रतिनिधियों को ही जाँच-पड़ताल के लिए घटनास्थल पर भेजा। स्थायी आयोग की बैठक वर्ष में दो बार होती थी। आयोग अपनी रिपोर्ट कौंसिल में पेश करता था।

राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार संरक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत संरक्षित प्रदेशों को अपना शासक चुनने का अधिकार था। विधान का आदेश था—"संरक्षण राज्य का चुनाव करते समय इन जातियों की इच्छाओं पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।" किन्तु इराक, फिलिस्तीन और सीरिया में जनता की इच्छा की उपेक्षा हमेशा की गयी और कभी उनकी राय नहीं ली गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि अरब देशों में संरक्षण राज्यों के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। सीरिया में 1927 तक विद्रोह चलता रहा। फिलिस्तीन में अरबों और यहुदियों के बीच दंगा होता रहा और इन विद्रोह को दबाने के लिए क्रूर उपायों का अवलम्बन किया गया। स्थायी संरक्षण-आयोग की रिपोर्ट को पढ़ने से पता चलता है कि संरक्षित प्रदेशों की जनता को अपनी शिकायतें पेश करने का मौका नहीं दिया जाता था। इससे अन्तोष की वृद्धि हुई और बाद में वे लगातार विद्रोह करने लगे।

सैनरेमो की सन्धि : अप्रैल, 1920 में ब्रिटेन और फ्रांस के प्रधानमंत्रियों ने सैनरेमो की सन्धि के द्वारा पश्चिमी एशिया का संरक्षण प्राप्त किया। इसके चार महीने के बाद सेब्र की सन्धि के द्वारा सुल्तान की सरकार ने इस व्यवस्था को मान लिया। हेजाज को स्वतन्त्र मान लिया गया। सीरिया और लेबनान का संरक्षण फ्रांस को मिला और इराक, फिलिस्तीन तथा ट्रांसजोर्डन का ब्रिटेन को। इस तरह ब्रिटेन और फ्रांस दोनों इस क्षेत्र के ट्रस्टी हो गये। लेकिन, यह व्यवस्था कई त्रुटियों से परिपूर्ण थी। इन क्षेत्रों के लोगों की स्वशासन-सम्बन्धी योग्यता का कोई मापदण्ड नहीं रखा गया था और न इस ध्येय की पूर्ति के लिए कोई रास्ता ही बतलाया गया था। इतना ही नहीं, संरक्षण-व्यवस्था इन देशों पर से कब समाप्त होंगे और यह भी राष्ट्रसंघ के विधान द्वारा निर्धारित नहीं किया गया था। यही कारण है कि दो विश्वयुद्धों के काल में हमेशा संरक्षक राज्यों और संरक्षित राज्यों के बीच झगड़ा तथा संघर्ष चलता रहा। फिर फ्रांस के संरक्षण-शासन और ब्रिटेन के संरक्षण-शासन और ब्रिटेन के संरक्षण-शासन में कुछ भेद भी था।

हाशिमवाशियों का पुनर्प्रतिष्ठापन : इस प्रकार अरबों से सम्बन्धित युद्धोत्तर-व्यवस्था ने अरबों की सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। अरब देशों को कोई राहत नहीं मिली। ओटोमन साम्राज्य तो समाप्त हो गया, लेकिन युद्धोपरान्त अरब देश पश्चिमी देशों के शिकंजे में जकड़ गये। युद्धकाल में शरीफ हुसेन ने कुछ समय के लिए अरब सम्राट की उपाधि धारण कर ली थी। अरबों ने हेजाज में शरीफ हुसेन, सीरिया में फैजल तथा इराक में अब्दुल्ला को शासक के रूप में प्रतिष्ठित करने की योजना बनायी थी, लेकिन इनमें से कोई योजना कामयाब नहीं हो सकी। अरबों की दृष्टि में उनके इस पलायन का मुख्य उत्तरदायित्व अंगरेज़ों पर था। अरब लोगों में ब्रिटेन के प्रति घोर असन्तोष था। ऐसी परिस्थिति में ब्रिटिश सरकार ने अपने औपनिवेशिक मन्त्रालय के अन्तर्गत एक 'मध्य-पूर्व-विभाग' की स्थापना की। तत्कालीन उपनिवेशमंत्री चर्चिल ने काहिरा में पश्चिमी एशियाई देशों के एक सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन ने फैजल को इराक का राजा बनाने का निश्चय किया और उसके भाई अब्दूल्ला के लिए इराक के निकट जोर्डन नदी के पूर्वी भाग में ट्रांसजोर्डन नामक एक नये राज्य की स्थापना का फैसला किया। इस व्यवस्था को अरब नेताओं ने मान लिया और 1 जुलाई, 1921 को फैजल को इराक का बादशाह घोषित कर दिया गया। 1 जुलाई, 1911 को अब्दुल्ला ट्रांसजोर्डन का बादशाह बन चुका था। इस तरह अंगरेजों ने आंशिक रूप से अपने युद्धकालीन आश्वासनों को पूरा किया। लेकिन अरबों की स्वतन्त्रता की मंजिल अभी दूर ही रही। इसके लिए अरबों को बड़ा कठिन संघर्ष करना पड़ा।

सीरिया और लेबनान में फ्रेंच मैंडेट

सीरिया में फ्रांसीसी संरक्षण की स्थापना : 25 अप्रैल, 1920 को सैंनरेमो-सम्मेलन के निर्णय के अनुसार सीरिया फ्रासीसी संरक्षण (फ्रेंच मैंडेट) के अधीन कर दिया गया। युद्ध के समय से ही फ्रांस इस क्षेत्र पर अपनी निगाहें गढ़ाये हुए था। इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कायम करना चाहता था। वस्तुत: सीरिया-लेबनान वाले क्षेत्र में फ्रांस की रूचि बहुत पुरानी थी इस क्षेत्र के साथ फ्रांस का सम्बन्ध मध्यकालीन क्रुमेड के समाय से ही था। इसलिए फ्रांसीसी शासकों का विश्वास था कि इस क्षेत्र के निवासी ओटोमन साम्राज्य के पतनोपरान्त फ्रांस के शासन का समर्थन करेंगे। 1916 में साइक्स-पिकॉट समझौता के अनुसार यह तय हुआ कि सीरिया-लेबनान वाले क्षेत्र में फ्रांस का प्रभाव-क्षेत्र कायम होगा। सीरिया-लेबनान पर फ्रांसीसी संरक्षता की उत्पति इसी समझौते द्वारा हुई।

1918 में युद्ध की समाप्ति पर सीरिया और लेबनान पर मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का कब्जा था। इस सेना में अंगरेजों की सेना की अधिकता थी और ब्रिटेन का इरादा था कि वह इन दोनों प्रदेशों पर भी अपना अधिकार कायम कर ले। लेकिन साइक्स-पिकॉट समझौते की पृष्ठभूमि में प्रत्यक्ष रूप से ऐसा करना सम्भव नहीं था। अतएव ब्रिटेन ने कूटनीति का सहारा लिया और अपने विश्वस्त मित्र अमीर फैजल को सीरिया पर अधिकार कर लेने के लिए प्रोत्साहित किया। ब्रिटेन का प्रोत्साहन पाकर 3 अक्टूबर 1918 को ही फैजल अपने सैनिकों के साथ दमिश्क आ पहुँचा तथा ब्रिटिश अधिकारियों की सहायता से उसने वहां अरब झण्डा फहरा दिया तथा शीघ्र ही एक स्वतन्त्र सरकार का निर्माण कर लिया। इस प्रकार युद्ध के खत्म होने के समय इस क्षेत्र की राजनीतिक स्थिति इस प्रकार थी : समुद्रतट की पट्टी फ्रांसीसी सैनिक अधिकारियों के अन्तर्गत और अन्दरूनी इलाके में अमीर फैजल का शासन था।

पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में फ्रांसीसी प्रतिनिधि दल ने सीरिया और लेबनान पर अपना दावा प्रस्तुत किया। लेकिन इसका विरोध कई दिशाओं से हुआ। राष्ट्रपति विल्सन ने इसको आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के विपरीत माना तथा लायड जार्ज ने कहा कि सीरिया पर फ्रांसीसी दावा मान लेना अरबों के साथ बहुत बडा विश्वासघात होगा। सीरिया के लोगों ने भी इस माँग का प्रबल विरोध किया। 1919 के अन्त में ब्रिटिश सेना के हट जाने पर मार्च, 1920 में दमिशक के एक सम्मेलन में सीरिया पर फ्रांसीसी आधिपत्य का घोर विरोध किया गया तथा फैजल को संयुक्त सीरिया का बादशाह घोषित कर दिया गया।

लेकिन फ्रांस अपने दावे को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। उसका कहना था कि सीरिया में फ्रांस बहुत दिनों से रुचि लेता आ रहा है और युद्धकालीन गुप्त सन्धियों की शर्तों के अनुसार यह भू- भाग केवल फ्रांस को ही मिलना चाहिए। लेकिन फ्रांस के लिए अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति बड़ी कठिन मालूम हो रही थी। सीरिया का शासक फैजल हो गया था जो पूर्णतया अंग्रेजों के प्रभाव में था।

इसी बीच 24 अप्रैल, 1920 को मैनरेमो का सम्मेलन हुआ और इसमें निर्णय लिया गया कि सीरिया-लेबनान पर फ्रांसीसी संरक्षण कायम हो, लेकिन इस निर्णय को कार्यान्वित कैसे किया जाता ? फ्रांस एक उपयुक्त मौके की ताक में लगा रहा। जिस समय सैनरेमो सम्मेलन के बाद सीरिया को फ्रांसीसी संरक्षण में सौंपने का एलान हुआ, सीरिया वाले विद्रोह कर बैठे। सीरिया में इस विद्रोह के क्रम में इतनी अशान्ति फैली कि फ्रांसीसियों को इस देश पर कब्जा करने का अनुकूल अवसर प्राप्त हो गया। उपद्रव के क्रम में अरबों और फ्रांसीसियों में मुठभेड़ हो गयी और फ्रांसीसियों ने इस अवसर से लाभ उठाकर सीरिया पर आक्रमण कर दिया। फ्रांसीसी सेनापति आरी गूरो ने 14 जुलाई, 1920 को फैजल को एक चेतावनी दी तथा फ्रांसीसी फौजों ने आगे बढ़कर 24 जुलाई को दमिश्क पर कब्जा कर लिया। फैजल के शासन का अन्त हो गया और सीरिया फ्रांस के मातहत हो गया।

फ्रांसीसी संरक्षण का कार्यान्वित रूप : सीरिया और लेवनान पर फ्रांसीसी संरक्षण का इतिहास 'क्षतिपूर्ण संघर्ष का इतिहास' है। अरब और फ्रांसीसी दोनों पक्ष को 1920 से 1936 तक भारी क्षति उठानी पड़ी। इस काल में, जैसा की एक लेखक लिखता है, बराबर फ्रांसीसियों की औपनिवेशिक अभिलाषा और अरबों की राष्ट्रीय अभिलाषा में संघर्ष होता रहा।

इस संघर्ष के मूल में दोनों पक्षों का एक-दूसरे पर पारस्परिक सन्देह था। अरब लोगों के मध्य फ्रांस का उपनिवेशवाद बहुत ही बदनाम था और फ्रांसीसी लोग अरब आन्दोलन को अत्यन्त भयंकर मानते थे। अरब लोग फ्रांसीसियों से बहुत भयभीत थे, क्योंकि अफ्रीका में फ्रासंसीसियों के अत्याचार की कहानी उन्हें मालूम थी। पश्चिम एशिया में अरबों ने उन्हें खुल कर ईसाइयों का पक्ष लेते हुए देखा था, इस कारण वे बहुत भयभीत थे। उधर फ्रांसीसी लोगों का भय भी निराधार नहीं था। वे यह अनुभव करते थे कि यदि सीरिया में स्वतन्त्र अरब राज्य कायम हो जाता है तो उसका असर उनके अन्य अफ्रीकी उपनिवेशों पर पड़े बिना नहीं रह सकेगा। ब्रिटिश अफसरों को वे अरब-आन्दोलन का पक्षपाती समझते थे, इसलिए अंगरेजों के समर्थक फैजल का सर्वनाश करने पर तुले हुए थे।

फ्रांसीसी सीरिया पर शासन करने का पक्का इरादा रखते थे और वे सीरियावालों के विरोध से परिचित थे। अतः फ्रांस की सरकार ने इस देश पर शासन करने के लिए भयंकर भेद-नीति अपनायी। वहाँ सुन्नी मुसलमान कुल जनसंख्या के तिरपन प्रतिशत ही थे। शेष जनता अल्पसंख्यकों के ठोस समूहों का योग थी। 3,40,000 मेरोनी ईसाई लेबनान पर्वत की घाटी में रहते थे; 3 ,25,000 नुसैटी उत्तरी तट पर जबल नुसैरिया में निवास करते थे; 1,60,000 द्रुज, जबल द्रुज तथा लेबनान के कुछ हिस्सों में जमे हुए थे तथा 2,00,000 कुर्द उत्तर-पूर्व के द्वीप के इलाके में फैले हुए थे। फ्रांसीसी शासन ने इनके आपसी मतभेदों को काफी उकसाया। लेबनान पर फ्रांसीसियों की विशेष कृपा रही। इसके बहुसंख्यक निवासी अरब ईसाई थे जो फ्रांसीसी शासन का समर्थन करते थे। लेबनान फ्रांसीसियों के प्रभाव का सबसे महत्वपूर्ण अड्डा था, अतः फ्रांसीसी उसे अक्षुण्ण रखना चाहते थे। इसलिए अगस्त, 1921 में उन्होंने लेबनान को सीरिया से अलग कर दिया। इसके लिए उन्होंने लेबनान में समुद्री तट और अन्दर का मैदान शामिल कर इसे विस्तृत बनाया। इसमें बेरूत, त्रिपोली और सैदा (सिदन) के मुस्लिम आबादी के शहर जुड़े और बिका का इलाका मिलाया गया, जिसमें मुसलमानी और यूनानी चर्च के ईसाइयों की बस्ती थी। इस विस्तृत लेबनान में मेरीनों ईसाइयों का बहुमत नहीं था, वरन् सर्व सम्प्रदायों के ईसाइयों की संख्या भी मुस्लमानों से कुछ ही ज्यादा थी। इस जोड़-तोड़ का आशय यह था कि ईसाई लोग कभी अपने को सुरक्षित अनुभव न करें और सदा फ्रांस के पिछलग्गू बने रहें। लेबनान में एक गणतांत्रिक सरकार थी जो फ्रांस की सहायता से अपना कार्य करती थी। 1925 में लेबनान के लिए एक विधान माना गया जिसके अनुसार वहाँ संसदीय शासन की व्यवस्था की गयी। छोटी-मोटी शिकायतों के होते हुए भी लेबनान की ईसाई प्रजा फ्रांसीसियों से सन्तुष्ट रहती थी। इसके अलावा, फ्रांसीसी शासन ने 1921 में जबल द्रूज को स्वतन्त्र रियासत घोषित कर दिया और 1922 में अलवी (नुसैरी) प्रदेश को अलग बना दिया जिससे इन लोगों को अन्य सीरियाइयों से गठबन्धन न हो सके। इस काट-छांट के बाद सीरिया का जो हिस्सा बचा उसे दमिश्क, अल्लेप्पो और लताकिया के तीन राज्यों का रूप देकर एक ढीले-ढाले संघ में शामिल कर दिया गया। उनका मतलब यह था कि दमिश्क और अलेप्पो में जो परम्परागत स्पर्धा है उसका पूरा लाभ उठाया जाय। इससे भी सन्तुष्ट न होकर उन्होंने 1939 में सीरिया के उत्तरी भाग में स्थित अलेक्जेनड्रेटा के इलाके को उससे अलग कर स्वायत्त घोषित कर दिया और उसी साल उसे तुर्की को सौंप दिया जिसने उसका नाम बदल कर खाताय रख दिया और उसे अपने राज्य में मिला लिया।

फ्रांस केवल प्रादेशिक काट-छांट से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। सीरिया पर आधिपत्य कायम रखने के लिए उस पर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद लादना भी जरूरी समझा गया। फ्रांसीसियों का विचार यह था कि लोगों के दिल-दिमाग इस तरह फेर दिये जायं ताकि उनमें गुलामी की मनोवृत्ति काम करती रहे। अतः फ्रांसीसी

भाषा और शिक्षा को बहुत प्रोत्साहन दिया गया। फ्रांसीसी भाषा पढ़ना लगभग अनिवार्य हो गया। इस क्षेत्र के लोग अरबी भी लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे, फिर भी उनके बच्चों को फ्रांस का राष्ट्रीय गीत रटवाया गया। हर जगह इतिहास के नये ग्रन्थ पाठ्यक्रम में रखे गये जिनके द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि सीरिया के लोग अरब के नहीं हैं। अरब संस्थाओं की भी उपेक्षा की गयी तथा नवीन फ्रांसीसी संस्थाओं को संगठित किया गया। इसके अतिरिक्त, फ्रांसीसी शासन ने सीरिया और लेबनान की मुद्रा को फ्रेंक के साथ जोड़ कर वहाँ की अर्थव्यवस्था पर अपना सिक्का जमा लिया। इस काल में फ्रेंक की कीमत घट गयी। इसका असर सीरियाई मुद्रा पर भी पड़ा। इसके साथ ही एकाधिकार अथवा व्यावसायिक सुविधाओं के मामले में फ्रांसीसी नागरिकों तथा व्यापारियों को प्रधानता दी गयी। समस्त शासन-तन्त्र में फ्रांसीसी कम्पनियों और व्यापारियों के लाभ का साधन बन गया। इसके परिणामस्वरूप सीरिया का व्यवसायी वर्ग भी फ्रांसीसी शासन से क्षुब्ध हो गया।

सीरियाइयों का विद्रोह : सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से सीरिया को पूरी तरह से फ्रांसीसी चंगुल में जकड़ लेने के प्रयास का अरबों ने कड़ा विरोध किया और फ्रांसीसी शासन के विरुद्ध उन्होंने आन्दोलन शुरू किया। समय-समय पर गम्भीर विद्रोह होने लगे जिसमें 1925 का विद्रोह बड़ा भयानक था।

इस समय सीरिया में फ्रांसीसी हाई कमिश्नर जनरल साराइ था। उसी के शासनकाल में 1925 का विद्रोह जबलद्रूज से शुरू हुआ। इसका मुख्य कारण जनरल साराइ का निरंकुश शासन था। 1925 में जबलद्रुज के शासक परिवार सुल्तान अल-अतराश के नेतृत्व में फ्रांस के विरुद्ध उठने लगे। विद्रोहियों ने फ्रांसीसी दफ्तरों पर हमला कर दिया। फ्रांसीसी शासन ने इस विद्रोह को दबाने के लिए तत्काल कदम उठाये। विद्रोहियों के चार नेता पकड़ लिए गये। इससे और लोगों ने विद्रोह कर दिया और इसने शीघ्र ही राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। विद्रोहियों का नारा एकता और स्वतन्त्रता हो गया। जमींदार और किसान भी इस विद्रोह में शामिल हो गये। आन्दोलन की लपटें सभी शहरों को लपेटने लगीं। कुछ भूतपूर्व ओटोमन अफसर विद्रोह का नेतृत्व करने लगे। फ्रांसीसी शासन डगमगाने लगा। आरम्भ में विद्रोहियों को काफी सफलता मिली। उन्होंने फ्रांस की दो सैनिक टुकड़ियों को परास्त कर दिया तथा होम्स, सुवैदा, अलेप्पो और दमिश्क पर कब्जा कर लिया। इन सफलताओं से फ्रांसीसी अधिकारी घबरा गये। लेबनान में फ्रांसीसी फौज की संख्या बढ़ा दी गयी तथा आर्मेनियम एवं सरकासियन लोगों को अस्त्र-शस्त्र देकर विद्रोहियों से भिड़ा दिया गया। अक्टूबर, 1925 में जनरल साराइ ने दमिश्क पर भीषण बमवर्षा की जिससे हजारों व्यक्तियों की जानें गयीं और करोड़ों की सम्पत्ति बर्बाद हो गयी। साथ ही, शुक्री अल- कुब्वतली और फारिस अल-खूरी जैसे जनप्रिय नेताओं को जेल में ठूँसना और देश निकाला का दण्ड देना पड़ा और जिससे विरोध और तेज हो गया। इस घटना से जनरल साराई की बड़ी बदनामी हुई और फ्रांसीसी अधिकारियों ने उसे वापस बुला लिया। उसके स्थान पर हेनरी द जुवनें हाई कमिश्नर नियुक्त हुआ। उसने विद्रोह का दमन जारी रखा और मई, 1926 में दमिश्क पर पुन: बमबारी की गयी। लेकिन हेनरी द जुवनें भी स्थिति को सम्हालने में असफल रहा। अतः स्थिति पर काबू पाने के लिए अगस्त, 1926 में एम० पौन सौ को हाई कमिश्नर बनाकर भेजा। 1926 के अन्त तक विद्रोह लगभग दब गया।

उदार शासन का युग : 1925-26 के झटके से फ्रांसीसी शासन को जँच गया कि केवल सैनिक सख्ती से काम नहीं चलेगा। पौन सौ एक उदार प्रवृत्ति का व्यक्ति था और वह सीरियावालों की शिकायत दूर करके उनको जीतना चाहता था। हाई कमिश्नर का पद सम्हालते ही उसने सार्वजनिक माफी की घोषणा की। वह चाहता था कि सीरिया वाले एक शासक-विधान तैयार करें और संसदीय शासन की परम्परा के अनुसार सीरिया की शासन-व्यवस्था बने। अप्रैल, 1928 में उसने सीरिया में संसद के निर्माण के लिए चुनाव कराया और निर्वाचित संसद को एक शासन-विधान तैयार करने के लिए कहा गया। सीरिया के अरबों को

यह भी आश्वासन दिया गया कि समय आ जाने पर सीरिया और फ्रांस का सम्बन्ध इराक और ब्रिटेन के सम्बन्ध की तरह एक सन्धि के आधार पर स्थापित किया जाय। 7 अगस्त को संसद ने एक संविधान की रूपरेखा तैयार की जिसमें फिलिस्तीन, ट्रांसजोर्डन और लेबनान को सीरिया में सम्मलित कर संयुक्त सीरिया की व्यवस्था की गयी। इसकी सुरक्षा और विदेश नीति पर भी फ्रांस का अधिकार नहीं रहने दिया जाय। संसद ने पहली बैठक में ही फ्रैंच मैंडेट का विरोध किया। पौन सौ को ये सारी बातें नापसन्द थीं। अतः उसने संसद को भंग कर दिया और संविधान को रद्दी की टोकरी में डाल दिया। 1930 में हाई कमिश्नर ने अपनी मर्जी का संविधान बनया जिसमें सीरिया को गणराज्य का रूप दिया गया। कुछ विरोध और प्रदर्शन के बाद सीरियावालों ने इसे स्वीकार कर लिया। 1932 में इस संविधान के अनुसार चुनाव हुआ और सीरियाई राष्ट्रवादियों को मिलाकर एक मंत्रिमंडल की स्थापना की गयीं। लेकिन इस संसद ने भी फ्रांससियों का विरोध किया, अतः दो वर्ष के बाद इसे भी भंग कर दिया गया।

राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव : फ्रेंच मैंडेट का काल सीरिया में अभूतपूर्व राजनीतिक जागरण का युग था। इस काल में वहाँ कई राजनीतिक दलों का संगठन हुआ। इनमें अल-कुतला अल-वतनिया (राष्ट्रीय दल) प्रमुख था। बाद में यह दल दो भागों में भक्त हो गया अल-हिज्ब-वतनी (राष्ट्रीय दल) तथा अल हिज्ब अल शाब (जनता दल)। इनमें जमींदार, उद्योगपति और कुछ मध्यमवर्ग के लोग शामिल थे। इन दिनों यूरोप में नात्सी और फासिस्ट विचारधारा की बड़ी प्रगति हो रही थी। इसका प्रभाव सीरिया की राजनीति पर भी पड़ा और नवयुवकों तथा विद्यार्थियों ने इस विचारधारा से प्रेरणा लेकर अनेक संगठन बनाये। 1932 में आत्वान सेआव ने पार्ती पौपुलेर सीरिया नामक दल बनाया।[1] इसका उद्देश्य लेबनान, सीरिया, जोर्डन, फिलिस्तीन, इराक और साइप्रस को मिलाकर एक 'वृहत्तर सीरिया' का निर्माण करना था तथा उसे आधुनिक राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष पद्धति पर संगठित करना था। इसके सदस्य हिंसात्मक तरीकों में विश्वास करते थे और इसके लिए उन्होंने अपने गुप्त अड्डे बना रखे थे। 1932 से 1935 तक यह दल गुप्त रीति से काम करता रहा, किन्तु इसके वाद यह खुलकर काम करने लगा। 1938 में इसके नेता को देश से निकालना पड़ा लेकिन संगठन बराबर चलता रहा।

भूमि की व्यवस्था : राजनीतिक दलों के अभ्युदय से सीरियावासियों का असन्तोष संगठित होने लगा। शासन ने इस असन्तोष में कमी करने के उद्देश्य से भूमि-व्यवस्था में कुछ सुधार करने का निश्चय किया। 1930 में धुराफ्फूर्द ने भूमि का सर्वेक्षण किया और उसके पंजीकरण की व्यवस्था की। एक कानून द्वारा भूमि को चार भांगों में विभाजित किया गया-(1) 'मुल्क', जो लोगों की अपनी सम्पत्ति थी और शरीयत के कानून के मातहत थी, (2) 'मीरो', जिस पर सरकार का स्वामित्व था किन्तु कब्जा किसान का था; (3) 'मतरूका', जिसका इस्तेमाल सार्वजनिक रूप से होता था तथा (4) 'मवात' जो बंजर थी। इस भूमिसुधार से वैयक्तिक सम्पत्ति को कोई नुकसान नहीं हुआ। इसके कारण कबीलों के सरदार बड़े-बड़े जमींदार हो गये और साधारण जनता को कोई राहत नहीं मिली।

फ्रांस की दमन नीति : इस युग में खेती, उद्योग और व्यापार में वृद्धि हुई। आधुनिक कपड़े की मिलें खुलीं। लेकिन सीरिया में उपनिवेशवादी शोषण भी ज्यों-का-त्यों चलता रहा। फ्रांसीसी शासन के विरुद्ध असन्तोष में कोई कमी नहीं आयी और राजनीतिक दलकों के संगठन ने इस असन्तोष को और भी उभाड़ा। अलहिज़्ब अल शाब (जनता दल) का प्रभाव बढ़ने लगा। अतः फ्रांसीसी शासन ने इस दल के नेताओं का दमन करना शुरू किया। शुक्री अब कबतली और फरसी अलकव तली जैसे नेताओं को कैद करके जेल में डाल दिया गया। अब बहुत-से सीरियाई नेताओं को पुलिस के कड़े नियन्त्रण में रहना पड़ता था। जब-तब सैनिक कानून भी लागू कर दिया जाता था। राष्ट्रवादी प्रेसों पर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया गया था और सरकारी पत्रों पर केवल वैसे ही सीरियाइयों की नियुक्ति की जाती थी जो फ्रांसीसी शासन के प्रति वफादार

रहने को तैयार होते थे। चुनावों में भी फ्रांसीसी अधिकारी बहुत अधिक जबरदस्ती और दबाव से काम लेते थे। फ्रांसीसी अफसर बहुत भ्रष्ट और बेईमान होते थे। वे अरबों के साथ बुरा बर्ताव करते थे। इससे सीरिया वाले बहुत चिढ़ गये।

1936 की सन्धि : इसी समय सीरिया की राजनीति पर पड़ोसी राष्ट्रों की राजनीति का प्रभाव पड़ा। 1930 में इराक और ब्रिटेन के मध्य एक सन्धि हुई और 1932 में इराक राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। सीरिया के निवासी स्वायत्त-शासन के लिए उतने योग्य अवश्य हो गये थे जितने इराक वाले। सीरिया के राष्ट्रवादी फ्रांस के साथ आंग्ल-इराकी संधि की तरह ही अपना सम्बन्ध कायम करना चाहते थे। अतएव, 1933 में आंग्ल-इराकी सन्धि के नमूने पर एक फ्रैंकों-सीरियन सन्धि करने के लिए वार्ता हुई। इस सन्धि के अनुसार सीरिया की सुरक्षा और विदेश-नीति पच्चीस साल तक फ्रांस के नियन्त्रण में रहनेवाली थी। सीरिया के नेताओं ने इस सन्धि की शर्तों का घोर विरोध किया। सीरियाई संसद में जब यह सन्धि अनुमोदन के लिए लायी गयी तो उसने उसे नामंजूर कर दिया। जब यह स्पष्ट हो गया कि संसद का अनुमोदन इस सन्धि को नहीं प्राप्त हो सकता तो फ्रांसीसी अधिकारियों ने अनिश्चित काल के लिए संसद को भंग कर दिया। इसके बाद सीरिया के संविधान को भी खत्म कर दिया गया।

इस घटनाओं के कारण सीरिया के राष्ट्रवादी अधीर हो गये। इसी समय मिस्र के राष्ट्रवादी आन्दोलन को कुछ सफलता मिली और 1936 में ब्रिटेन और मिस्र में एक सन्धि हो गयी। सीरिया के राष्ट्रवादियों पर इसका प्रबल प्रभाव पड़ा। फ्रांसीसी संरक्षता के विरुद्ध 1936 के प्रारम्भ में सीरिया में पुनः विद्रोह शुरू हुआ। इस बार का विद्रोह पहले की अपेक्षा बहुत भयानक था। गली- गली में फ्रांसीसी सैनिकों और सीरियाई राष्ट्रवादियों में मुठभेड़ हुई। सम्पूर्ण सीरिया में आम हड़ताल मनायी गयी। फ्रांस के लिए शासन का कार्य एक दम कठिन हो गया। अन्त में बाध्य होकर फ्रांसीसी हाई कमिश्नर को राष्ट्रवादियों को मिलाकर एक सरकार का संगठन करना पड़ा। सीरियाई विद्रोह से बचने के लिए मार्च के अन्तिम दिनों में फ्रांसीसी सरकार ने एक सीरियाई प्रतिनिधिमंडल को सन्धि की बातचीत करने के लिए पेरिस में आमन्त्रित किया। 9 सितम्बर 1936 को दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। यह सन्धि आंग्ल इराकी सन्धि के नमूने पर तैयारी की गयी थी। यह एक मैत्री-सन्धि थी जो सीरिया के राष्ट्रसंघ के सदस्य होने पर लागू होने वाली थी और सीरिया को राष्ट्रसंघ की सदस्यता इस सन्धि के अनुमोदन के तीन साल के भीतर प्राप्त करायी जाने वाली थी। फ्रांस को सीरिया की भूमि पर सेना तथा सीरियाई विदेश-नीति पर नियंत्रण रखने का अधिकार दिया गया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के अवसर पर : यह निश्चित था कि इस प्रकार की सन्धि सीरिया के उग्र राष्ट्रवादियों को किसी भी हालत में स्वीकार्य नहीं होती। अतएव वे इसका विरोध करने लगे। इस कारण सन्धि का अनुमोदन नहीं हो सका। फ्रांस की संसद भी इस सन्धि का अनुमोदन शीघ्र नहीं कर सकी। फ्रांस और सीरिया के सम्बन्धों के बिगड़ने का इस समय एक और भी कारण था। जून, 1939 में उसने तुर्की के साथ एक समझौता कर लिया जिसके अनुसार अलेक्जांड्रेटा का जिला तुर्की को इस शर्त पर सौंप दिया गया कि तुर्क लोग सीरिया पर अन्य सभी दावों का परित्याग कर देंगे तथा उस देश में फ्रांस विरोधी कोई कार्रवाई नहीं करेंगे। सीरिया के विखण्डन की इस नीति का सीरिया वालों ने घोर विरोध किया और राष्ट्रवादी उपद्रव पुनः आरम्भ हो गया। 7 जुलाई, 1939 को सीरिया के प्रधानमंत्री ने फ्रांसीसी नीति के विरोध में अपना पदत्याग कर दिया। इसके बाद सीरिया की संसद भंग कर दी गयी और उसकी जगह पर अब फ्रांसीसी हाई कमिश्नर का निरंकुश शासन प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः इस समय बात यह थी कि हिटलर की आक्रामक नीति के कारण यूरोप की राजनीतिक परिस्थिति बहुत खराब हो गयी थी। हिटलर का संकट बहुत निकट आ गया था, इस कारण फ्रांस, सीरिया को छोड़ने के लिए प्रस्तुत नहीं था। सीरिया को छोड़ने का मतलब यह था कि पूर्वी भूमध्यसागर

से फ्रांसीसी अड्डे को हटा लेना और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में फ्रांस के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था। ऐसी हालत में सीरिया के सम्बन्ध में कोई नयी बात नहीं हो सकती थी। इसी बीच यूरोप में 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया और फ्रांस ने सीरिया को अपने साम्राज्यवाद के चंगुल में बुरी तरह जकड़ लिया। फ्रांस ने सीरिया पर अपना प्रत्यक्ष शासन कायम कर लिया। नात्सियों और कम्यूनिस्टों से सहानुभूतिपूर्ण रखने वाली पार्टियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। लेबनान में भी ऐसी ही कड़ी कार्रवाई की गयी। लेबनान का संविधान खत्म कर दिया गया और संसद भंग कर दी गयी।

युद्धकालीन परिस्थिति : महायुद्ध के प्रारम्भ में फ्रांस ने सीरिया में बहुत सैनिक इकट्ठे किये। लेकिन जब 1940 में फ्रांस जर्मनी से हार गया तो उसकी सारी योजनाएँ बेकार हो गयीं। अब सीरिया और लेबनान फ्रांस की विसी (vichy) सरकार के नियंत्रण में आ गये, क्योंकि सीरिया में स्थिति फ्रांसीसी अवसर दगाल-सरकार की बात मानने को तैयार नहीं था। 1941 में विसी-सरकार ने जर्मन हवाई जहाजों को सीरियाई हवाई अड्डों पर उतरने की आज्ञा दे दी। इस पर ब्रिटेन ने हस्तक्षेप किया और सीरिया को दगाल-सरकार के अधीन करा दिया। इसके बाद फ्रांसीसी जनरल कार्टो ने सितम्बर 1941 में सीरिया की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। लेबनान के सम्बन्ध में भी ऐसी ही घोषणा की गयी। ब्रिटेन और अमेरिका ने इसको तुरन्त मान भी लिया और राजदूत भी भेज दिये। लेकिन इन मान्यताओं का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला, क्योंकि दगाल सीरिया-लेबनान को पूर्ण स्वतन्त्र करने के लिए तैयार नहीं था। अतएव युद्ध के समय भी सीरिया वाले अपनी स्वतन्त्रता पाने के लिए संघर्ष करते रहे। अन्त में 1844 में फ्रांस ने सीरिया और लेबनान दोनों को स्वतन्त्र करने की बात मान ली। तय हुआ कि युद्ध खत्म होने पर एक सर्वमान्य समाधान निकाल लिया जायगा।

द्वितीय विश्वयुद्धोपरान्त की स्थिति : द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्त होते समय यह निश्चय हुआ कि मई, 1945 में सीरिया-लेबनान के साथ फ्रांस की बातचीत शुरू होगी। लेकिन इसके तुरन्त ही बाद बहुत-से फ्रांसीसी सैनिक बेरूत में उतार दिये गये। इससे सीरिया-लेबनान दोनों देशों में सनसनी फैल गयी और हड़ताल तथा दंगे शुरू हो गए। सीरियावालों ने सोचा कि फ्रांस ने उन्हें धोखा देने का प्रयास किया है। जब फ्रांस की दमन-नीति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने लगी तो ब्रिटेन ने उसका विरोध किया। मजबूर होकर दगाल को शान्ति स्थापित करनी पड़ी और उसने सिद्धान्तः सीरिया-लेबनान की स्वतन्त्रता मान ली। शीघ्र ही सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका ने नये गणराज्यों को मान्यता दे दी। सीरिया ने एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में जापान और जर्मनी के विरूद्ध मार्च, 1945 में युद्ध उद्घोषित किया, अरब और लीग के निर्माण में भाग लिया तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा पर हस्ताक्षर भी किया। लेकिन अभी भी सीरिया को पूर्ण स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता था, क्योंकि उसकी भूमि पर अभी भी विदेशी सेना मौजूद थी। दिसम्बर, 1944 में फ्रांस ने अपनी सेना हटाने का आश्वासन दिया, लेकिन जब इस कार्य में विलम्ब होने लगा तो सीरिया-लेबनान की सरकार इस मामले को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद में ले गयी। परिषद ने सीरिया तथा लेबनान से विदेशी सेना यथाशीघ्र हटा लेने का प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसके बाद फ्रांस इस क्षेत्र से अपनी सेना हटाने लगा। 1946 के अन्त तक सभी विदेशी फौजें इन दोनों देशों से हटा ली गयीं और ये दोनों देश स्वतन्त्र हो गए।

लेबनान

लेबनान पहले सीरिया का ही अंग था, परन्तु सीरिया पर आधिपत्य करने के बाद जनरल गुरो ने उसे सीरिया से अलग कर उसके लिए पृथक शासन की व्यवस्था की। लेबनान फ्रांसीसी संस्कृति का केन्द्र था तथा यहाँ ईसाइयों का बहुमत था। फ्रांसीसी अधिकारियों ने लेबनान के प्रति पक्षपातपूर्ण नीति का अवलम्बन किया और उसे शक्तिशाली बनाने का यत्न किया। 1925 में सीरियाई संसद ने एक संविधान का निर्माण किया जिसे 1926 में लागू किया गया। यह एक लोकतन्त्रीय विधान था और इसमें धर्म का कोई उल्लेख नहीं किया

गया। कई बार फ्रांसीसी अधिकारियों ने इसे स्थगित किया और इसमें संशोधन किया। फिर भी यह किसी तरह चलता रहा। लेबनान में अपेक्षाकृत शान्ति कायम रही, परन्तु, 1931 की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी ने वहाँ की दशा बहुत खराब कर दी। मई, 1932 में हाई कमिश्नर पौन सौ ने संविधान को स्थगित कर दिया और एक सामयिक सरकार की स्थापना की जिससे आर्थिक संकट का समाधान किया जा सके। 2 जनवरी, 1934 को पौन सौ के उत्तराधिकारी काउंट द मार्टेल ने एक नवीन संविधान की घोषणा की जिसके अनुसार संसद के अधिकार को कम कर दिया तथा कार्यकारिणी की शक्ति बढ़ा दी गयी। संसद में विभिन्न व्यवसायों के लिए प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी। लेबनान में राजनीतिक सन्तुलन कायम रखने के लिए ईसाई राष्ट्रपति तथा मुस्लिम प्रधानमंत्री की नियुक्ति की परम्परा स्थापित की गयी।

लेबनान के लोगों ने भी सीरिया के लोगों की तरह स्वतन्त्रता की माँग की। 1936 में फ्रांस और लेबनान में एक सन्धि का मसविदा तैयार किया गया। इसमें लेबनान की स्वतन्त्रता को मानने किन्तु वहाँ पच्चीस वर्ष के लिए फ्रांसीसी सेना रहने देने का प्रस्ताव था। लेकिन पेरिस की सरकार ने इसे भी मानने में आना-कानी की। द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों में सैनिक शासन लागू किया गया। किन्तु फ्रांस की हार के बाद 27 नवम्बर, 1940 को जनरल द गॉल के प्रतिनिधि जनरल कात्रू ने मैण्डैट की समाप्ति की घोषणा कर लेबनान को स्वतन्त्रता की पुष्टि कर दी। लेकिन फ्रांसीसी शासकों का दिल साफ न था, अतः 1943 में जब लेबनान की संसद् ने संविधान में से मैडैंट-सम्बन्धी सदर्भों को निकालने का प्रस्ताव किया तो फ्रांसीसी अधिकारियों ने राष्ट्रपति बिशाराह अल- खूरा प्रधानमंत्री और मन्त्रीमंडल के अन्य सदस्यों को गिरफ्तार कर एक सोमावर्ती किले में बन्द कर दिया। इस पर जनता ने विद्रोह कर दिया। हड़तालों, प्रदर्शनों और दंगों का तूफान आ गया। फ्रांसीसी सरकार को झुकना पड़ा। 21 नवम्बर को राष्ट्रपति और उसके साथी रिहा किए गए और अगले दिन उन्होंने फिर अपना पद सम्हाला। इस दिन को राष्ट्रीय त्योहार के रूप में मनाया जाता है। 12 अप्रैल, 1954 को लेबनान संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य हो गया। 31 दिसम्बर, 1946 को फ्रांस के आखिरी सैनिक दस्ते ने उसका पीछा छोड़ा।

इराक में ब्रिटिश मैंडेट

इराक पर ब्रिटिश आधिपत्य : संरक्षित अरब राज्यों में ईराक की स्थिति अन्य अरब राज्यों से अच्छी रही। सीरिया-लेबनान की तुलना में इराक एक पिछड़ा हुआ देश था, लेकिन ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत इसकी स्थिति फ्रांस संरक्षित राज्यों से अवश्य ही अच्छी थी। भूतपूर्व ओटोमन साम्राज्य में निवास करनेवाली पिछड़ी हुई जातियों के लिए राष्ट्रसंघ ने जो संरक्षण स्कूल खोला था, उसका प्रथम स्नातक इराक ही हुआ।

प्राचीन काल का मेसोपोटेमिया आधुनिक इराक है। दजला और फुरात नदियों की घाटियों में प्राचीन मेसोपोटेमियाई सभ्यता का विकास इसी देश में हुआ था। सातवीं सदी में अरबों ने इस प्रदेश को जीत लिया और अब्बासी वंशीय खलीफाओं ने इराक में बगदाद को अपनी राजधानी बनायी। ओटोमन तुर्कों ने 1368 में इस पर अपना अधिकार जमाया। प्रथम विश्वयुद्ध तक यह ओटोमन साम्राज्य का ही अंग रहा। इसमें बसरा, बगदाद और मोसुल शहर स्थित थे तथा फारस की खाड़ी के तट पर स्थित होने के कारण ब्रिटेन के लिए इसका विशेष महत्व था। इसलिए प्रथम विश्वयुद्ध के समय ही ब्रिटेन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि मेसोपोटामिया और फारस की खाड़ी के क्षेत्रों में उसके महत्वपूर्ण स्वार्थ हैं और इन स्वार्थों की रक्षा करना उसके लिए परम आवश्यक है। अतएव युद्ध का आरम्भ होते ही ब्रिटिश भारत से एक बहुत बड़ी सेना मेसोपोटेमिया भेजी गयी और उस प्रदेश पर अंगरेजों ने अपना अधिकार कायम कर लिया। युद्ध के बाद इस प्रदेश को, जिसको हम इराक के नाम से सम्बोधित करेंगे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बेड़ी में कसकर जकड़ने का घोर प्रयास किया। वहाँ का सैनिक नियन्त्रण भारत की ब्रिटिश सरकार के अधीन था। उस शासन को अरब राष्ट्रवाद में कोई

रुचि नहीं थी तथा उसका लक्ष्य लूट-खसोट के सिवा और कुछ नहीं था। 1920 में उस शासन ने वहां से जितना कर वसूला वह उससे साढ़े तीन गुना अधिक था जिसे 1911 में ओटोमन शासन वसूल क़रता था। उसकी दर भारत में लगाये जानेवाले करों से भी ज्यादा थी। उसके व्यय में भी इराकियों की राय नहीं ली जाती थी। 1919-20 के वित्तीय वर्ष में कुल आय का सोलह प्रतिशत प्रशासन को चलाने में खर्च किया गया और ग्यारह प्रतिशत सार्वजनिक कार्य के नाम पर ब्रिटिश और भारतीय अफसरों की सुख-सुविधा के साधन जुटाने में लगाया गया। सब बड़े-बड़े पद ब्रिटिश या भारतीय अफसरों को दिये जाते थे। इन अफसरों में अरबों की संख्या चार प्रतिशत के से भी कम थी। यहाँ तक कि रेलवे में काम करने वाले भारतीयों की संख्या इराकियों से पाँच गुनी थी। इराक में अस्सी हजार ब्रिटिश भारतीय फौज रहती थी जिसका खर्च भी इराकियों को ही देना पड़ता था। संक्षेप में, ब्रिटिश भारतीय शासन का उद्देश्य इराक का अधिकतम शोषण करना था। अतः जनता में भारी असन्तोष और रोष था।

ब्रिटिश मैंडेट का विरोध : युद्धकाल में इराकियों को स्वशासन क़े अधिकार का आश्वासन दिया गया था और इसी आश्वासन के बाद उन्होंने मित्रराष्ट्रों की सहायता की थी। लेकिन युद्धोपरान्त मित्रराज्य अपना रंग बदल चुके थे। ब्रिटेन ने शीघ्र ही इराक को स्वतन्त्र करने के बजाय उसे गुलामी की जंजीर में जकड़ने का प्रयास किया। लेकिन इराक पर प्रत्यक्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद लादना कुछ कठिन था। अतः इस देश को संरक्षण-प्रणाली (मैंडेट-पद्धति) के अन्तर्गत रख दिया गया और ब्रिटेन राष्ट्रसंघ द्वारा इराक का संरक्षक शासन बना दिया गया।

जिस समय इराक पर ब्रिटिश संरक्षण शासन की घोषणा की गयी उसी समय से इराक के लोग इस व्यवस्था का विरोध करने लगे। अप्रैल, 1920 में इराक के प्रमुख नगरों में इस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह हो गया। जून में जमील मिदफाई की एक सेना ने मोसुल से तीस मील पश्चिम में तेल आफार पर कब्जा कर एक ब्रिटिश दस्ते को नष्ट कर दिया। उसी महीने के अन्त में फुरात की घाटी में कबाइलियों ने आन्दोलन छेड़ दिया जो जंगली आग की तरह तेजी से फैल गया। जुलाई से सितम्बर तक सव जगह गड़बड़ी रही। इसमें ब्रिटिश सरकार का बीस लाख पौंड का नुकसान हुआ। चार सौ ब्रिटिश और भारतीय सैनिक मारे गये और लगभग नौ हजार इराकी मारे गये, अतः संरक्षण-शासन स्थगित होने के तुरन्त बाद ही ब्रिटेन के लिए शान्ति व्यवस्था स्थापित करना एक प्रमुख काम हो गया। एक बहुत बड़ी सेना इराक भेजी गयी। पर्सी कोक्स उस समय इराक में ब्रिटेन का हाई कमिश्नर था। उसने बड़ी सावधानी से इस विद्रोह को दबाया। इराक के लोग इसको अपने राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रथम संघर्ष मानते हैं। विद्रोह का इराक के राजनीतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि इससे अंगरेजों को शुरू में ही एक अच्छा सबक मिला। उन्होंने समझ लिया कि पुरानी साम्राज्यवादी नीति से अब इराक का शोषण सम्भव नहीं है। अतएव इराक में पूर्ण शान्ति कायम होने के बाद कमिश्नर पर्सी कोक्स ने इराक के राष्ट्रवादियों की मनोवृत्ति समझने की चेष्टा की और शासन का संचालन इस भाँति करने लगा कि इराक के लोग असंतुष्ट नहीं हो। वह इराक की जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं का आदर करना जानता था, इसलिए शासन प्रबन्ध के लिए एक राज्य परिषद का निर्माण किया, बगदाद के नाजिब अब्दुर्रहमान को इसका अध्यक्ष बनाया गया। इस परिषद में सभी वर्गों के प्रतिनिधि लिये गये। ब्रिटिश सरकार द्वारा यह घोषणा की गयी कि यह परिषद इराक में शासन की व्यवस्था करेगी और इराक में स्थायी शासन इराकियों के लिए भविष्य में कायम करने का प्रयास करेगी। इस परिषद को इराक के लिए एक मौलिक विधि निर्मित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। इस प्रकार इराकी जनता और ब्रिटिश शासन के बीच सम्पर्क स्थापित करनेवाली संस्था के रूप में इस परिषद ने स्थान ग्रहण किया। इस समय तक अपार धन-जन की हानि के बावजूद विद्रोह दबा दिया गया था। 1921 में ही इराक के शासन-संचालन का कार्य ब्रिटिश भारतीय सरकार के हाथ से लेकर ब्रिटिश सरकार के उपनिवेश विभाग के हाथ में सौंप दिया गया। पर्सी कोक्स ने इराक की समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान का पूरा प्रयास किया।

फैजल का राज्यरोहण : लेकिन इराक के राष्ट्रवादी तत्व इस व्यवस्था से संतुष्ट नहीं हुए। वे इराक में एक विशुद्ध अरब सरकार बनाने का स्वप्न देखते आ रहे थे। ब्रिटेन का शासन अरबों के प्रति एक घोर विश्वासघात था। अंगरेज राजनीतिज्ञ भी ऐसा ही अनुभव करते थे। शरीफ हुसेन के प्रति किये अन्याय के कारण बहुत-से ब्रिटिश राजनीतिज्ञ क्षुब्ध थे। इसलिए अंगरेजों ने इराक के शासक के बाह्य स्वरूप का निर्माण इस तरह करना चाहा जिससे अरब की जनता संतुष्ट हो जाया उन लोगों ने इराक में राजतन्त्र स्थापित करने का निश्चय किया और एक ऐसे व्यक्ति को ढूढंने लगे जो इराकियों को स्वीकार हो। अगर एक ऐसे व्यक्ति को राजा नियुक्त कर दिया जाता है तो इराक के लोग यह समझने लगेगें कि उनका शासन उनके हाथों में है और तब उनका असन्तोष भी दूर हो जायेगा। 18 मार्च, 1921 को अरब क्षेत्र में स्थित ब्रिटिश अधिकारियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में शरीफ हुसेन के पुत्र फैजल को इराक का बादशाह बनाने का निश्चय किया गया जिसका अनुमोदन एक जनमत-संग्रह से होता। अरबों ने इराक का तख्त अब्दुला को देने का निश्चय किया था। अतः उसे सन्तुष्ट करने के लिए ट्रांसजोर्डन का बादशाह बनाया गया। इस प्रकार अंगरेजों ने फैजल को इराक का राजा बनाने का निश्चय् किया। फैजल से अरब के राष्ट्रवादी बड़े प्रभावित थे, क्योंकि वे युद्ध के समय उसने ओटोमन सुल्तान के खिलाफ अरबों की राष्ट्रीयता का नेतृत्व किया था। अतएव 13 मार्च, 1921 को फैजल को इराक का राजा बनाने की घोषणा कर दी गयी। 23 जून, 1921 को फैजल बसरा पहुँचा। 11 जुलाई को ईराक के राज्यपरिषद् ने उसका अपना राजा स्वीकार कर लिया और 23 अगस्त, 1921 को बगदाद में फैजल का राज्याभिषेक कर दिया गया और वह इराक का राजा बन गया।

फैजल का शासन : फैजल के राज्याभिषेक से इराक के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ होता है। जिस समय फैजल इराक का राजा बना उस समय उसके समक्ष अनेकानेक समस्याएँ थीं। इराक में कई सम्प्रदाय थे और उनमें से कुछ फैजल का घोर विरोध कर रहे थे। ऐसे लोगों के बीच फैजल को अपनी स्थिति सुरक्षित बनानी थी। फिर इराक के विविध नागरिक वर्गों के बीच झगड़ा था। शिया और सुन्नी पारस्परिक झगड़ों को भी समाप्त करना था। अरब तथा कुर्द जातियों में भी इसी तरह के झगड़े थे। इराक की सीमा को लेकर तुर्की तथा सऊदी अरेबिया से भी झगड़ा हो सकता था और इनके अतिरिक्त, इराक का ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध भी निर्धारण करना था।

ब्रिटेन के साथ 1922 की सन्धि : लेकिन इन सभी समस्याओं से महत्वपूर्ण ब्रिटेन और इराक के आपसी संबंध का निर्धारण था। इराकियों को आशा थी कि नये राजा के अभिषेक के बाद मैंडेट-पद्धति समाप्त कर दी जायगी, लेकिन अंग्रेज अपना पंजा हटानेवाले नहीं थे। इराक की शासन-व्यवस्था ऐसी बनायी गयी थी जिसके कारण उस पर ब्रिटेन का पूरा प्रभाव कायम हो गया था। ब्रिटिश हाई कमिश्नर के आदेश के बिना इराक की सरकार कोई काम नहीं कर सकती थी। इराक के शासन संबंधी सभी उच्च पदों पर अंग्रेज अफसर विराजमान थे। सेना पर भी उन्हीं लोगों का बोलबाला था। विदेश-नीति और आर्थिक नीति पर अंग्रेजों का पूर्ण प्रभाव था। इराक की जनता इस शासन-व्यवस्था को एकदम नापसन्द करती थी। लगता था कि इराक की जनता पुनः एक बार ब्रिटिश प्रभुत्व के खिलाफ विद्रोह कर देगी। अतएव इस संभावना से बचने के लिए अंग्रेजों ने संधियों की नीति का सहारा लिया। इराक के साथ अपने संबंध का निर्धारण करने के लिए उसने उसके साथ एक के बाद दूसरी कई संधियाँ कीं।

सर्वप्रथम ब्रिटेन और इराक के बीच 1922 में संधि हुई। इसके अनुसार इराक में ब्रिटेन को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हुए—

1. इराक में फैजल की सरकार के लिए अंग्रेज सलाहकार नियुक्त करना,

2. इराकी सेना को सहायता पहुँचाना,
3. विदेशियों की रक्षा करना,
4. वित्तीय मामलों में इराक को परामर्श देना, और
5. वैदेशिक मामलों में इराक को सलाह देना।

यह सन्धि शुरू में बीस वर्ष के लिए की गयी थी, पर बाद में इसकी अवधि चार वर्ष के लिए कर दी गयी। इसके द्वारा इराक के राजनीतिक, सैनिक, कूटनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर ब्रिटेन का प्रभाव कायम हो गया। इराक पर इस सन्धि का प्रभाव बड़ा बुरा पड़ा। इराक राष्ट्रवादी इससे बहुत असन्तुष्ट थे। शाह फैजल तक, जो अंगरेजों की कृपा से गद्दी पर आया था, राष्ट्रवादियों से सहमत था। अतः सन्धि की मंजूरी में देर होती रही। इस बीच गड़बड़ी बनी रही तथा जगह-जगह उपद्रव होते रहे। इन उपद्रवों को दबाने के लिए चार बार हवाई फौज को आकाश से बमवर्षा करनी पड़ी। हम्दा अल-पचाहजी आदि पाँच राष्ट्रवादी नेताओं को इराक से निष्कासित कर दिया गया। हाई कमिश्नर ने शाह फैजल को चेतावनी दी इसके पश्चात अक्टूबर में इराकी मंत्रिमंडल ने सन्धि को स्वीकार कर लिया, पर विधानसभा में जब सन्धि के मसविदे को अनुमोदन के लिए रखा गया तो वहां इसकी बड़ी कड़ी आलोचना हुई। यद्यपि इसमें अंगरेजों के पिट्ठुओं की कमी न थी, फिर भी सन्धि के पक्ष में केवल सैतीस मत आये। चौबीस सदस्यों ने खिलाफ में मतदान किया, आठ तटस्थ रहे तथा इकतीस सदस्यों ने अनुपस्थित रहना ही ठीक समझा।

1926 की सन्धि 13 जनवरी, 1926 को इराक और ब्रिटेन के मध्य एक दूसरी सन्धि हुई जिसकी अवधि पच्चीस साल के लिए निश्चित की गयी। इस सन्धि के आधार पर यह विश्वास था कि पच्चीस वर्ष की अवधि में इराक स्वतन्त्रता के लिए पूर्ण तैयार हो जायेगा। इस सन्धि में यह कहा गया था कि यदि पच्चीस वर्ष में इराक स्वतन्त्रता पाने योग्य अपने को बना लेगा तो ब्रिटेन उसको पूर्ण स्वतन्त्र करने में जरा भी संकोच नहीं करेगा। लेकिन इराक के लोग सन्धि से भी सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि इसकी अवधि बड़ी लम्बी थी। पच्चीस वर्ष तक वे ठहरना नापसन्द करते थे। इस सन्धि द्वारा तुर्की और इराक के बीच सीमा निर्धारण के लिए आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी जिसके आधार पर मोसुल की समस्या का समाधान हुआ।

1927 की सन्धि : 1926 की सन्धि से इराक के असन्तोष का अन्त नहीं हुआ और फैजल ने इराक के लिए राष्ट्रसंघ की सहायता की मांग की। फलतः 1927 में इराक के साथ ब्रिटेन की तीसरी सन्धि हुई जिसके फलस्वरूप इराक से ब्रिटेन का वित्तीय नियंत्रण कुछ कम हो गया। ब्रिटेन ने इस बात का आश्वासन दिया कि यदि इराकी योग्य समझे गये तो वह इराक को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनवाने का प्रयास करेगा। लेकिन योग्यता की शर्त लगा देने से इराक वाले ब्रिटेन को शंका की दृष्टि से देखने लगे, इसलिए इस सन्धि को इराकी संसद ने कभी अनुमोदन नहीं किया। इस बात को लेकर इराक में राजनीतिक सरगर्मी बहुत बढ़ गयी। इराक का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त दूषित हो गया और विद्रोह के काले बादल इराक के राजनीतिक नभमण्डल पर मंडराने लगे। तत्कालीन हाई कमिश्नर गिलबर्ट कलेटन ने स्थिति का गहरा अध्ययन करके ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया कि इराक के राष्ट्रवादियों की आकांक्षा को सन्तुष्ट करने के लिए अति शीघ्र आवश्यक कदम उठाना नितान्त जरूरी है। अतएव ब्रिटिश सरकार ने इराकियों को यह आश्वासन दे दिया गया कि 1932 तक इराक को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान कर दी जायगी। इस घोषणा के बाद इराक का विद्रोह शान्त हो गया।

1928 में इराकी सरकार ने मांग की कि उसे आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा के प्रबन्ध का पूर्ण अधिकार दिया जाय और सेना पर से ब्रिटिश नियंत्रण तुरन्त हटा दिया जाय। ब्रिटिश शासन ने इसके विरोध में कुछ दूसरे प्रस्ताव रखे। इराकी सरकार ने उसे ठुकरा दिया। एक गतिरोध उत्पन्न हो गया तथा तीन महीने तक देश में कोई सरकार नहीं रही। देश में भीषण असन्तोष छा गया और विद्रोह के बादल मंडराने लगे। अतः

1928 में गिलबर्ट क्लाइटन ने इराकी मांगों को मान लेने की सिफारिश की। 1929 में उसकी मृत्यु के बाद सर फ्रांसिस हम्फीज नया हाई कमिश्नर होकर आया। उसने भी कुछ ऐसे ही सुझाव दिये। गतिरोध दूर करने के लिए उसने ब्रिटिश सरकार से कुछ घोषणाएँ करने का अनुरोध किया। इनके आधार पर 1930 की सन्धि का प्रारूप तैयार हुआ और इराक तथा ब्रिटेन के मध्य एक चौथी सन्धि हुई।

1930 की सन्धि : राष्ट्रसंघ की सदस्यता को लेकर ब्रिटेन और इराक में सबसे अन्तिम सन्धि 1930 में हुई जिसके फलस्वरूप इराक का शासन-स्वरूप बदल गया और यहाँ स्वतन्त्र सरकार की स्थापना हो गयी। यह सन्धि 30 जून, 1930 को हुई। इस सन्धि की अवधि पच्चीस वर्ष की थी और इसके द्वारा 1932 में इराक को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनवाने का आश्वासन दिया गया था। इस सन्धि की मुख्य धाराएँ निम्नलिखित थीं—

(i) इस सन्धि की पहली धारा का सम्बन्ध इराक की विदेश-नीति से था। इसमें यह कहा गया था कि वैदेशिक नीति के निर्धारण और परिचालन में दोनों देश अपने-अपने देश से सम्बन्धित बातों पर एक-दूसरे से से परामर्श लेंगे और किसी ऐसी नीति का अवलम्बन नहीं करेंगे जिससे उसकी कठिनाई बढ़ जाय।

(ii) सन्धि की दूसरी धारा इराक की सुरक्षा से सम्बन्धित थी। इसके सम्बन्ध में यह कहा गया कि ब्रिटेन को इराक की ओर से यह अधिकार मिले कि वह बगदाद के पश्चिम स्थित हब्बनिया और बसरा के आसपास स्थित श्वैबा में अपने हवाई अड्डे बना सके और अपनी सेना तथा लड़ाई के सामानों को इराक में जहां चाहे, वहां ले जा सके।

(iii) तीसरी धारा युद्ध-सम्बन्धी थी जिसमें यह कहा गया कि युद्ध की स्थिति आ जाने पर इराक को सभी प्रकार की सुविधाएँ ब्रिटेन को देनी होंगी और ऐसे समय में ब्रिटेन इराक के रेल-मार्गों, नदियों, बन्दरगाहों, हवाई अड्डों और अन्य यातायात के साधनों को व्यवहार में लाएगा।

(iv) चौथी धारा इराकी सेना के प्रशिक्षण से सम्बद्ध थी। इसी सम्बन्ध में यह कहा गया कि इराकी अपनी सेना के प्रशिक्षण के लिए ब्रिटेन से सहायता लेगा। अगर इराक अपनी सेना को किसी अन्य देश में प्रशिक्षण के लिए भेजना चाहेगा, तो उसे ब्रिटेन में ही भेजना होगा।

(v) पाँचवीं धारा लड़ाई के हथियारों से सम्बद्ध थी जिसमें यह कहा गया कि ब्रिटिश सेना यदि इराक में उन हथियारों की आवश्यकता महसूस करेगी तो वह अपने अधीनस्थ भूखंडों और टैक्सों के जरिये इसका प्रबन्ध कर लेगी।

(vi) छठी धारा कूटनीतिक प्रतिनिधित्व से सम्बद्ध थी। इसमें यह कहा गया कि हाई कमिश्नर के बदले अब ब्रिटेन का राजदूत इराक में रहेगा जिसे अन्य देशों के राजदूतों की अपेक्षा प्राथमिकता तथा प्रमुखता दी जायगी।

(vii) अन्तिम धारा इराक की सदस्यता-सम्बन्धी थी जिसमें यह कहा गया कि ब्रिटेन यह ध्यान रखेगा कि जल्द इराक को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो जाय और इराक एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में आ जाय।

इराक के साथ ब्रिटेन की यह संधि अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इसके द्वारा दोनों देशों का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा अच्छा हो गया और इराक की अनिश्चितता के बादल समाप्त हो गये। एक और दृष्टिकोण से यह संधि महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसके द्वारा अन्य अरब राज्यों के साथ सन्धि की पद्धति निर्धारित हो गयी। मिस्र, सीरिया और लेबनान के साथ बाद में जो संधियाँ हुईं, वे इसी सन्धि पर आधारित थीं।

ब्रिटिश इराकी सम्बन्ध पर एक दृष्टि : ब्रिटेन और इराक के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा का होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। यह पूछा जाता है कि इतनी अल्प अवधि में ब्रिटेन ने इराक के साथ चार संधियाँ क्यों कीं? इसका एकमात्र कारण था अंगरेज और इराकियों के दृष्टिकोण में मतभेद। ब्रिटेन इराक पर अपना नियन्त्रण बनाये रखना चाहता था, लेकिन इराक के लोग इस नियंत्रण से मुक्त होना चाहते थे और उनकी राष्ट्रीय

चेतना बड़ी प्रबल थी। इराक की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ दृष्टिकोण भी बदलता रहा। 1925 में जब राष्ट्रसंघ ने मोसुल को इराक के संरक्षण-शासन में शामिल किया था तब कहा गया था कि यह संरक्षण आगामी पच्चीस वर्षों तक जारी रहेगा। लेकिन परिस्थिति ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि 1930 में ही ब्रिटेन को इराक से स्वतन्त्रता सम्बन्धी सन्धि करनी पड़ी। ब्रिटिश हाई कमिश्नर के बदले वहाँ अब इराक का राजदूत रहने लगा। 3 अक्टूबर, 1932 को ब्रिटेन ने अपने प्रयास से इराक को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना दिया। इसके साथ ही 1932 में ही इराक की पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा हुई और ब्रिटिश संरक्षण का अन्त हो गया। राष्ट्रसंघ से इराक ने यह वादा किया कि वह इराक में बसनेवाली अल्पसंख्यक जातियों की रक्षा करेगा; इराक में रहनेवाले विदेशियों के अधिकारों का किसी तरह हनन नहीं करेगा और मानवीय अधिकारों का आदर करेगा। इसके बाद शासन के सारे अधिकार इराकियों के हाथ में चले आये।

नयी व्यवस्थां : इस तरह इराक राष्ट्रसंघ की पिछड़ी जातियों के लिए 'संरक्षण स्कूल' का 'पहला स्नातक' हुआ। उसके लिए एक नया संविधान बना। इसके अनुसार प्रशासन की शक्ति एक मंत्रिमंडल के जिम्मे रखी गयी, जिसका नेता प्रधानमंत्री होता था। उसके मंत्रिमंडल में छः मन्त्री होते थे। यह मंत्रिमंडल सामूहिक रूप से इराकी संसद में निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी होता था। उसके अविश्वास के प्रस्ताव पर मन्त्रिमंडल को पदत्याग करना पड़ता था। लेकिन राजा को अधिकार था कि वह संसद को भंग कर दे।

मैंडेट-काल में पड़ोसी राज्यों के साथ इराक का सम्बन्ध : इराक के सीमावर्ती राज्य ईरान, सीरिया, तुर्की और सऊदी अरेबिया था। इनमें ईरान तथा सीरिया से उनका कोई सीमा-विवाद नहीं था परन्तु तुर्की के साथ मोसुल को लेकर एक विवाद था और सऊदी अरेबिया के शासक इब्न सऊद के साथ फैजल का वंशानुगत वैमनस्य था। संरक्षक होने के नाते 1924 में ब्रिटिश सरकार ने मोसुल-विवाद को राष्ट्रसंघ के समक्ष पेश किया। मौसुल का प्रदेश लोजान की सन्धि के अनुसार ब्रिटेन को मिला था, परन्तु तुर्की ने इस पर अपना दावा किया था। राष्ट्रसंघ ने इस समस्या की जाँच के लिए एक आयोग की नियुक्ति की। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में मोसुल को इराक में शामिल कर देने की सिफारिश की। तुर्की में इसका प्रबल विरोध हुआ। परन्तु 5 जून, 1925 को एक समझौता करके तुर्की ने अपने दावे का परित्याग कर दिया। यह तय हुआ कि मोसुल के तेल-उत्पादकों का दस प्रतिशत तुर्की को मिलता रहेगा।

इसी प्रकार ब्रिटेन ने सउदी अरेबिया के साथ 1925 तथा 1927 में दो संधियाँ करके दोनों देशों के बीच अच्छा सम्बन्ध कायम कराने का प्रयास किया। इन संधियों के फलस्वरूप सउदी अरेबिया की सरकार ने ईराकी सरकार के कबीले विद्रोहों को दबाने में मदद की। इसके उपरान्त 1930 में इब्न सउद ने इराक के साथ एक मैत्री सन्धि की जिसके द्वारा वंशानुगत वैमनस्य का अन्त हुआ और दोनों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम हुआ।

मैंडेट-काल में इराक की आन्तरिक समस्याएँ : बाह्य समस्याओं की तरह इराक को आन्तरिक समस्याओं का सामना भी इस युग में करना पड़ा। देश में कई तरह के कबीले रहते थे और धार्मिक अल्पसंख्यकों की संख्या भी लगभग बीस प्रतिशत थी। कबीले पर सरकारी नियंत्रण कठिन था और वे बराबर उपद्रव मचाते थे। ब्रिटिश अधिकारियों ने उन्हें उत्पात मचाने की छूट दे रखी थी। धार्मिक अल्पसंख्यकों में कूर्द जाति बड़ी लड़ाकू थी। वह एक स्वतन्त्र कुर्दिस्तान की मांग कर रही थी और ब्रिटिश सरकार इस पार्थक्यावादी आंदोलन को प्रोत्साहन देती रहती थी। अतः वे निरन्तर विद्रोह करते थे। 1920 और 1933 की अवधि के बीच उनके चार प्रबल विद्रोह हुए। कुर्दों की तरह असीरियन ईसाइयों में भी स्वतन्त्र सत्ता की जबरदस्त भावना थी। इनका संगठन उत्तरी इराक में था। ब्रिटेन का प्रोत्साहन इन्हें भी प्राप्त था। मुस्लिमों में शिया तथा सुन्नी का भेदभाव था। इराक में शिया सम्प्रदायवालों की संख्या अधिक थी और फैजल स्वयं एक सुन्नी मुसलमान था। इस कारण भी देश के अन्दर असंतोष था। मैंडेट-काल में इराक में कई तरह की राजनीतिक पार्टियों का भी प्रादुर्भाव हुआ।

हिज्बअल-नहदा (पुनर्जागरण दल), हिज्बअल वतनी (राष्ट्रवादी दल), हिज्ब अह- हरे (स्वतन्त्र दल) तथा अल-अहाली (जनता दल) आदि कई राजनीतिक दल कायम हुए। यद्यपि ये सारे दल संगठित नहीं थे, लेकिन किसी शासक के लिए इनकी उपेक्षा सरल काम नहीं था। ये बराबर तोड़-फोड़ के काम में लगे रहते थे। इनके कारण 1921 से 1931 तक पन्द्रह सरकारें बनी बिगड़ीं। इनके नेता अपने स्वार्थों के लिए कबीलों को उकसाते और गड़बड़ी फैलाते थे। इससे लोकतन्त्र की नींव कमजोर हो गयी। उधर यूरोप में फासिस्ट और नात्सी दलों की सफलता से प्रेरित होकर कुछ लोगों ने उनके नमूने पर भी संगठन बनाये। इसमें बगदाद और मोपुल का फुतुव्वा (नवयुवक दल) उल्लेखनीय है। देश में शिक्षा के अभाव ने समस्याओं को और भी गम्भीर बना दिया।

फैजल का मूल्यांकन : फैजल को इन सारी समस्याओं का सामना करना पड़ा था। वह एक असाधारण व्यक्तित्व वाला व्यक्ति था और उसने इन सारी समस्याओं का सामना बड़े ही धैर्य के साथ किया। युद्ध के काल में अरब विद्रोह का नेतृत्व करने के कारण उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी हुई थी। उसने ब्रिटेन के साथ इराक के सम्बन्ध में सुधार का प्रयत्न किया और इसमें उसको सफलता भी मिली इसके साथ-साथ उसने अल्पसंख्यकों को भी संतुष्ट करने का प्रयास किया। उसने अर्द्धस्वतन्त्र कबीलों को कई सुविधाएँ दीं तथा उनका सहयोग प्राप्त किया। उसने शिया सम्प्रदाय के व्यक्तियों को सरकार में यथायोग्य स्थान दिया और उनमें भी सहयोग प्राप्त किया। इसी तरह असीरियन ईसाइयों को भी अनेक सुविधाएँ प्रदान की गयीं। परन्तु जब आवश्यकता हुई तो फैजल ने उनका दमन भी किया। उनसे 1922 में ईरान से निर्वाचित चालीस शिया उलेमाओं को इराक से भी निकाल दिया और उन्हें अशान्ति फैलाने से रोक दिया। उसने अल्प-संख्यकों के हितों की रक्षा का वादा राष्ट्रसंघ के समक्ष भी किया और उनमें सुरक्षा की भावना लाने में सफलता पायी। इसी प्रकार उसने देश की समृद्धि एवं सुरक्षा पर ध्यान दिया। उसके शासनकाल में इराकी समाज तथा अर्थव्यवस्था में काफी परिवर्तित हुए। खास तौर से तेल की निकासी बहुत बढ़ी। 1925 में इराक पेट्रोलियम कम्पनी का पहला ठेका दिया गया।

14 अक्टूबर, 1927 को किरकुक का तेल कूप चालू हो गया। 1931 में तेल की नली डालने का काम तेज हुआ। अब इराक तेल के व्यापार के लिए प्रसिद्ध हो गया और सरकार को आमदनी का आधा हिस्सा तेल के व्यापार से आने लगा। इससे इराक के निर्माण-कार्य एवं विकास-योजनाओं को प्रोत्साहन मिला और उसकी आर्थिक उन्नति की नींव पड़ी।

8 सितम्बर, 1933 को अचानक फैजल की मृत्यु हो गयी। वह एक असाधारण व्यक्तित्व का राजा था। वह इराक की स्वतन्त्रता का कट्टर समर्थक था। वह अंगरेजों के साथ खुला संघर्ष करना नहीं चाहता था, लेकिन कूटनीति का सहारा लेकर वह अंगरेजों को इराक से निकालना चाहता था। वह इराक की स्वातंत्र्य संग्राम का प्रतीक बन गया था। यदि फजल के बदले इराक का राजा कोई अरब नेता होता को यह सम्भव था कि इराक में खूनी क्रान्ति का विस्फोट हो जाता जिसमें हजारों निर्दोष लोगों को अपनी जान गँवानी पड़ती। लेकिन फैजल ही एक ऐसा कूटनीतिज्ञ था जिसने ऐसा नहीं होने दिया। वह अंगरेजों का विश्वासपात्र बना रहा और धीरे-धीरे उनकी सहानुभूति प्राप्त करके अपने देश को स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर अग्रसर करता रहा।

1933-45 के बीच इराक : 1930 की आंग्ल-इराकी संधि के बाद इराक स्वतन्त्र हो गया, पर उस पर से अंगरेजों का पंजा नहीं हटा। अमीर फैजल की मृत्यु के बाद अमीर गाजी इराक का शाह बना और 1938 तक शासन करता रहा। वह उच्छृंखल प्रकृति का व्यक्ति था और राज्य की समस्याओं के प्रति कोई रुचि नहीं लेता था। उसके शासनकाल में राष्ट्रवादी तत्व अंगरेज-विरोधी माँग करते रहे। संधि द्वारा अंगरेजों को जो सुविधाएँ दी गयी थीं उसको वे इराक की संप्रभुता पर अतिक्रमण मानते थे। इस समय धुरी राष्ट्रों का अंग्रेज-विरोधी प्रचार भी जोरों पर था। इराक-स्थिति जर्मन राजदूत डॉक्टर ग्रोबा युवक राष्ट्रवादियों को उकसाने में लगा था। नात्सी नेता दौरा कर रहे थे और जर्मन फिल्में हर जगह दिखाई जाती थीं। इससे लोगों में बड़ी सरगर्मी थी। अतः जब अप्रैल 1939 में अमीर एक मोटर गाड़ी-दुर्घटना में मारा गया, तो लोगों ने इसे अंगरेजी षड्यंत्र

समझकर प्रबल विद्रोह कर दिया। गाजी का लड़का फैजल द्वितीय जो बच्चा ही था, गद्दी पर बैठा। उसका मामा अमीर अब्दुल इलाई राजकाज की देखभाल करता था। किसी तरह विद्रोह को दबाया गया और शान्ति कायम की गयी।

जिस समय फैजल द्वितीय इराक का शाह बना उस समय इराक के समक्ष कई तरह की उलझनें खड़ी थीं। यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध की तैयारी हो रही थी जिसमें ब्रिटेन तथा जर्मनी एक दूसरे के विरोधी थे। इराक के ब्रिटिश विरोधी भावना भी बहुत बढ़ रही थी। सितम्बर, 1339 में युद्ध छिड़ने पर इराक सरकार ने जर्मनी से सम्बन्ध तोड़ लिये तथा जर्मन राजदूत को स्वदेश लौटने को कहा। लेकिन सब लोग इससे खुश नहीं थे। 1941 में रशीद अली गीलानी ने चार और सैनिक अफसरों के सहयोग से सत्ता हथिया ली और उनकी सरकार ने धुरी राष्ट्रों के प्रति मित्रतापूर्ण रवैया अपनाया। इससे ब्रिटेन से सम्बन्ध बिगड़ गये। 2 मई तक इसने ब्रिटिश सेना को इराक से गुजरने से रोक कर 1930 की सन्धि को तोड़ दिया। दोनों में युद्ध छिड़ गया। रशीद अली ने जर्मनी से मदद चाही। कुछ हवाई जहाज आये भी, लेकिन पूरा काम न हो सका। 29 मई को रशीद अली भाग गया। बाद की सरकारें ब्रिटेन की तरफ थीं। जनवरी, 1943 में इराक ने धुरी राष्ट्रों के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया। इस प्रकार इराक ब्रिटेन एवं मित्रराष्ट्रों का सहयोगी बन गया और युद्ध के अन्त तक इसी गुट के पक्ष में रहा। 1951 में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर पर इराक ने हस्ताक्षर कर दिये।

ट्रांसजोर्डन

आधुनिक जोर्डन की नींव एक पृथक् राज्य के रूप में 1921 में पड़ी थी जब सर विन्सटन चर्चिल ने हासिमवंशी शरीफ हुसेन के द्वितीय पुत्र अमीर अब्दुल्ला के लिए फिलिस्तीन मैंडेट के अन्तर्गत जोर्डन नदी के पूर्व के क्षेत्र में ट्रांसजोर्डन नामक रियासत का निर्माण किया था। नवम्बर, 1918 और जुलाई 1920 के बीच यह क्षेत्र अरब राज्य का एक हिस्सा था। अमीर फैजल के नेतृत्व में मित्रराष्ट्रों ने इसे संगठित किया था और इसका मुख्य काम ओटोमन साम्राज्य के विरुद्ध अरबों की भावना को भड़काना था। लेकिन 1918 में जब युद्ध में मित्रराष्ट्र विजयी हो गये और उन्हें अरबों के समर्थन की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी तो उनका रुख अरब विरोधी हो गया। जुलाई, 1920 में फ्रांसीसी सेना ने सीरिया पर अधिकार कर लिया और अमीर फैजल को वहां से निकाल-बाहर किया। इसके उपरान्त मार्च 1921 तक ट्रांसजोर्डन में कोई स्थानीय शासन नहीं रहा। सैनरेमो सम्मेलन के द्वारा इस क्षेत्र पर ब्रिटेन का संरक्षण कायम कर दिया गया।

अब्दुल्ला के ट्रांसजोर्डन के शासक बनने की कहानी इस तरह है—फरवरी, 1921 में अब्दुल्ला एक छोटी-सी सेना लेकर ट्रांसजोर्डन में घुस पड़ा। उसका उद्देश्य फ्रांसीसियों से बदला लेना था। फ्रांसीसियों ने उसके भाई फैजल को सीरिया से मार भगाया था अतएव वह फ्रांस-अधिकृत सीरिया पर आक्रमण करके अपने भाई को पुनः वहां की ग़द्दी पर बैठाना चाहता था लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उनको ऐसा करने से रोक दिया और उसके बदले उसे ट्रांसजोर्डन का अमीर बना दिया। ट्रांसजोर्डन की जनता भी अब्दुल्ला को चाहती थी। उसने स्पष्ट बतला दिया कि वह ब्रिटिश सत्ता के अन्दर रहने की अपेक्षा अब्दुल्ला के शासन को पसन्द करेगी, अंगरेज चालाक थे। वे जानते थे कि यदि वे जनता के विचारों का आदर नहीं करेंगे तो व्यर्थ का बलबा-विद्रोह हो जायगा अतएव वे अब्दुल्ला को राजा मान लेने के पक्ष में हो गये। अब्दुल्ला भी ट्रांसजोर्डन का अमीर बन कर प्रसन्न हो गया। अंगरेजों का कठपुतली बन कर ट्रांसजोर्डन का अमीर कहलाना उसके लिए बहुत बड़ी बात थी। राष्ट्रसंघ ने भी 1922 में अब्दुल्ला के शासन को मान्यता दे दी। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ट्रांसजोर्डन में अमीर अब्दुल्ला का शासन प्रारम्भ हुआ जो ब्रिटेन के अनुसार शासन करने को तैयार हुआ और जिस पर राष्ट्रसंघ के निर्णय के अनुसार ब्रिटेन का नियन्त्रण स्थापित हुआ।

राष्ट्रसंघ के द्वारा ट्रांसजोर्डन का संरक्षण ब्रिटेन को प्राप्त हुआ था। संरक्षण की शर्तों में स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया था कि ट्रांसजोर्डन के भू-भाग में यहूदियों को नहीं बसने दिया जायगा। यही कारण है कि दो विश्वयुद्धों के बीच ट्रांसजोर्डन के इतिहास में कोई विवादपूर्ण या महत्वपूर्ण घटना नहीं घटी। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन को छोड़कर किसी अन्य यूरोपीय राज्य को इससे कोई सम्पर्क या सम्बन्ध नहीं था। अतएव ट्रांसजोर्डन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का भँवर जाल में नहीं फँस सका। ब्रिटेन अपने इच्छानुसार अब्दुल्ला से काम निकाल लेता था। उसकी सरकार का प्रत्येक विभाग अंगरेज सलाहकारों और अफसरों से नियंत्रित होता था। राज्य का इलाका अधिकांशत: बंजर होने के कारण ब्रिटेन ने आरम्भ से ही एक लाख पौंड सालाना आर्थिक सहायता देना आरम्भ किया जो कि निरन्तर बढ़ता ही गया। आन्तरिक शासन का दायित्व मुख्यत: अरब अधिकारियों के हाथ में रहा, परन्तु इस पर अन्तिम नियन्त्रण अंगरेजों का ही रहा। 16 अप्रैल, 1928 को ब्रिटिश अधिकारियों ने ट्रांसजोर्डन के लिए एक मौलिक विधि का निर्माण किया। इसके अनुसार एक निर्वाचित विधानसभा की स्थापना की गयी तथा अलसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी। इसके साथ ही एक कार्य-कारिणी का भी संगठन किया गया, परन्तु इन सभी संस्थाओं के ऊपर अम्मान-स्थित ब्रिटिश रेजिडेण्ट का पूर्ण नियन्त्रण था जिसके अधीन ब्रिटिश अधिकारी और सलाहकार शासन के विभिन्न विभागों का संचालन करते थे।

1928 में ब्रिटेन और ट्रांसजोर्डन के बीच एक सन्धि हुई। समझौते के द्वारा कुछ बातें स्पष्ट कर दी गयीं जिनके बाद यह आशा प्रकट की जाने लगी कि अब्दुल्ला अब ट्रांसजोर्डन में सांविधानिक शासन की स्थापना करेगा। अब्दुल्ला ने ब्रिटिश सलाहकारों की मदद से शासन चलाने का वचन दिया। इस सन्धि के द्वारा यह भी निश्चय हुआ की शासन की बातों पर अब्दुल्ला का निर्णय अन्तिम न होकर ब्रिटिश रेजिडेण्ट का निर्णय अन्तिम होगा। इस तरह 1928 की सन्धि के द्वारा ट्रांसजोर्डन पर ब्रिटेन का पूर्ण नियन्त्रण कायम हो गया। राज्य की शासन व्यवस्था पूरी तरह ब्रिटेन की आर्थिक सहायता पर आश्रित थी। सैनिक मामलों में ट्रांसजोर्डन पूर्णतया ब्रिटेन का गुलाम था। सर्वप्रथम कैप्टन पिक और उसके बान मेजर गल्ब के नेतृत्व में ट्रांसजोर्डन की सेना आधुनिक ढंग से संगठित की गयी और उसको अरब लीजान का नाम दिया गया। ट्रांसजोर्डन के वाशिन्दों में जो अधिकतर बंजारे थे, राजनीतिक जागृति नाममात्र की भी नहीं थी। इस तरह वहां किसी तरह के राष्ट्रवादी आन्दोलन का होना असम्भव था। फिर भी, कुछ मध्यमवर्गीय जागरूक लोग ब्रिटेन से यह माँग करते रहे कि वह अपना नियंत्रण कुछ ढीला करे। अत: 1934 में अंगरेजों ने अब्दुल्ला को वाणिज्य दूतों की नियुक्ति का अधिकार दे दिया। 1938 में राज्य की मौलिक विधि में भी कुछ परिवर्तन किये गये और 1941 में ब्रिटेन के साथ एक सन्धि हुई जिसके अनुसार अमीर पहले से अधिक शक्तिशाली हो गया, पर शाह ने ब्रिटेन को यह अधिकार दे दिया कि वह ट्रांसजोर्डन की रक्षा के लिए अपनी सेनाएँ रख सकेगा और वहां के लोगों को अपनी सेना में भरती कर सकेगा। बदले में ब्रिटेन ने युद्ध के बाद ट्रांसजोर्डन को पूर्ण स्वतन्त्र करने का वचन दिया। युद्ध के तुरन्त बाद 1946 के मार्च में ब्रिटेन और ट्रांसजोर्डन के बीच एक संधि हुई जिसको 1948 में दुहराया गया। इस सन्धि की अवधि बीस वर्ष की रखी गयी। इसके अन्तर्गत देशों के मध्य पारस्परिक सुरक्षा के लिए गठबन्धन; ट्रांसजोर्डन में ब्रिटिश नेताओं के रखने और ब्रिटिश रसद को देश के जल, थल और वायुमार्गों के जरिये ले जाने की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार, 1946 में ट्रांसजोर्डन की औपचारिक रूप से स्वतन्त्रता मिल गयी और उसका नाम जोर्डन पड़ा। नये राज्य को सभी देशों की मान्यता मिल गयी तथा उसने तुर्की, ईरान, इराक, अफगानिस्तान आदि देशों के साथ मैत्री-संधियाँ कीं, पर जोर्डन की स्वतन्त्रता नाममात्र की स्वतन्त्रता थी। ब्रिटेन का बन्धन उस पर कायम रहा और इस कारण युद्धोपरान्त में जोर्डन की राजनीति बराबर अशान्त बनी रही।

फिलिस्तीन की ब्रिटिश मैंडेट तथा जिओनी आन्दोलन

ब्रिटिश मैंडेट की स्थापना : आधुनिक काल में पश्चिम एशिया के इतिहास को फिलस्तीन की समस्या ने जिस हद तक प्रभावित किया उतना सम्भवतः किसी दूसरी समस्या ने नहीं। दो विश्वयुद्धों के बीच के काल में यह पश्चिम एशिया की राजनीति का मुख्य विषय रहा और आज भी यह इस क्षेत्र की सर्वाधिक प्रमुख समस्या बना हुआ है।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद फिलिस्तीन पर ब्रिटेन का संरक्षण-शासन कायम हुआ जो 1920 से 1948 तक कायम रहा। पश्चिम एशिया में स्थित इस क्षेत्र का व्यापक सामरिक राजनीतिक और धार्मिक महत्व था। स्वेज नहर पर ब्रिटिश आधिपत्य की सुरक्षा के लिए यह क्षेत्र बड़ा ही महत्वपूर्ण था। इसके अतिरिक्त, जेरुसलेम ईसाइयों, यहूदियों तथा मुसलमानों—तीनों का पवित्र धार्मिक स्थान था। इस क्षेत्र में कई तीर्थ स्थान थे। युद्ध के समय से ही ब्रिटेन इस क्षेत्र पर अपनी निगाहें गड़ाये हुए था और युद्धोपरान्त उसने इस क्षेत्र पर आधिपत्य कायम रखा। बाद में राष्ट्रसंघ की ओर से उसे इस प्रदेश का मैंडेट प्राप्त हुआ। फिलिस्तीन पर अपना आधिपत्य बनाये रखने के लिए उसने जिओनी आन्दोलन (यहूदी राष्ट्रीय आवास-आन्दोलन) को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप फिलिस्तीन अरब-यहूदी संघर्ष का अखाड़ा बन गया।

जिमओनी आन्दोलन की उत्पत्ति : यहूदी लोग फिलिस्तीन के मूल निवासी थे, लेकिन अपने शासकों के शोषण से बचने के लिए उन्हें फिलिस्तीन छोड़कर भागना पड़ा और वे संसार के विविध देशों में बस गये। 1935 ई० में बारकोखबा के विद्रोह के दमन के बाद से उन्हें वहां रहना नसीब नहीं हुआ और वहाँ अब मुसलमान बस गये। यहाँ से निष्कासित किये जाने के बाद यहूदियों के लिए यह बराबर अपना घर और देश रहा, यहूदियों के लिए भी जो यहाँ कभी आये नहीं। वैसे ऐसा कभी नहीं हुआ कि यहाँ जिओन सम्प्रदाय को माननेवाले यहूदी बिल्कुल ही न रहे हों। 1799 में जब नेपोलियन ने फिलिस्तीन पर हमला किया तो उसने यहूदियों को वहां फिर से आबाद करने का वचन दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में रूस की सरकार ने प्रोग्राम की नीति अपनाकर यहूदियों का घोर दमन किया। अन्य यूरोपीय देशों में भी उन पर घोर अत्याचार हुए। ऐसी अवस्था में भी यहूदी अपने को एक राष्ट्र मानते रहे और उस दिन का इन्तजार करते रहे जब फिलिस्तीन फिर से उनका निवास-स्थान होगा और वह एक यहूदी राष्ट्र बनेगा। ब्रिटेन की सरकार यहूदियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करती रही। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड पामर्सटन इस बात से सहमत था कि फिलिस्तीन में यहूदियों का निवास हो। उसने 1840 में ओटोमन सुल्तान को यह सलाह भी दी कि वहां यहूदियों को बसाने से न सिर्फ आर्थिक समृद्धि होगी बल्कि मिस्र के शासक मुहम्मद अली की महत्वकांक्षाओं पर भी अंकुश रखा जा सकेगा। किन्तु इन बातों का कोई नतीजा नहीं निकला। 1880 के आसपास रूस में यहूदियों पर बड़ी सख्ती की गयी की गयी क्योंकि उनपर जार की हत्या का आरोप था। लगभग इन्हीं दिनों फ्रांस मेड्रेइफस का कांड हो गया। इसको लेकर फ्रांस में जबरदस्त यहूदी-विरोधी भावना का विस्फोट हुआ। अतः यहूदियों को जगह-जगह पर भटकने के बजाय संसार के किसी एक भाग में अपना स्वतन्त्र राज्य कायम करने की चिन्ता हुई। उन्नीसवीं सदी के अन्त में बाहर से यहूदी आकर फिलिस्तीन में बसे और वहां मिल्लित कायम करके अपनी परम्परागत धार्मिक पद्धति जारी की। इसी समय एक यहूदी नेता मौरिस हिर्ष ने 'यहूदी औपनिवेशिक समाज' की स्थापना कर फिलिस्तीन में यहूदियों को समुदाय के रूप में बसने पर जोर दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर इस समाज का संगठन किया। फलतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप के बहुत-से देशों से यहूदी फिलिस्तीन में आकर बस गये तथा जुदिया, समारिया, गैलिली आदि में इनके केन्द्र कायम हो गए।

इस प्रकार, संसार के विभिन्न भागों से जाकर संगठित रूप से फिलिस्तीन के यहूदियों द्वारा बसने की जो हलचल उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हुई उसको जिओनी आन्दोलन कहते हैं। जिओनी आन्दोलन के प्रारम्भिक नेताओं में थियोदर हैर्त्सल का नाम पहले लिया जाता है। 1896 में उसने वियना से 'यहूदी राज्य' नामक एक

पुस्तक लिखी जिसमें यहूदियों के राष्ट्र की परिकल्पना को मूर्त्त रूप दिया। विश्वभर के यहूदी इस पर मुग्ध हो गये और उन्होंने फिलिस्तीन में अपने स्वतन्त्र राज्य करने के लिए एक संगठन बना लिया। हेर्त्सल का कहना था कि यहूदी-प्रश्न एक राष्ट्र का प्रश्न है और विश्व-राजनीति की समस्या बनाकर ही इसका समाधान किया जा सकता है। उसने यहूदियों को एक अत्यन्त उच्च नस्ल की जाति बताया और कहा कि यहूदियों के चरित्र का स्तर इतना ऊँचा है कि उनका एक राष्ट्र बनना ही चाहिए। 1897 में हेर्त्सल ने 'डी-बेल्ट' नामक एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। उसी वर्ष उसने स्विट्जरलैंड में वैस्ल नामक जगह में विश्व-यहूदी सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ जिसमें फिलिस्तीन में यहूदियों के राष्ट्रीय आवास की मांग की गयी। एक विश्व यहूदी संगठन की स्थापना भी की गयी। हेर्त्सल इसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उन्होंने सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय तथा उसके मित्र जर्मन सम्राट कैजर से फिलिस्तीन में यहूदियों के लिए राष्ट्रीय आवास प्राप्त करने की चेष्टा की, पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

1903 में रूस की सरकार ने यहूदियों पर घोर अत्याचार किया। इन अत्याचारों से अपनी रक्षा के लिए यहूदी लोग अपना एक देश कायम करने के लिए योजना बनाने लगे। ब्रिटिश सरकार यहुदियों के बसने के लिए सिनाई प्रायद्वीप का एक भाग देने को राजी हो गयी। लेकिन यहूदियों को यह भू-भाग पसन्द नहीं आया। तब ब्रिटिश अफ्रीका में उगाण्डा का एक भाग देने का प्रस्ताव रखा गया। लेकिन यहूदी नेताओं को यह भी मान्य नहीं हुआ। वे फिलिस्तीन के अलावा किसी अन्य जगह पर बसना नहीं चाहते थे। फिलिस्तीन से हजारों वर्ष पूर्व निकाले जाने पर और विभिन्न देशों में छितरा जाने के बाद भी अपने घर को लौट जाने की उनकी उत्कंठा मिटी नहीं थी। उनका कहना था कि तीन हजार वर्ष पहले भगवान ने उन्हें दान के रूप में फिलिस्तीन को दिया था जो दुर्भाग्य से उनसे छीन लिया गया। फिलिस्तीन पर उसका न्याय-संगत दावा है और उन्हें लौटाने का मौका मिलना चाहिए।

फिलिस्तीन में यहूदियों का आगमन : 1904 में यहूदी नेता हेर्त्सल की मृत्यु हो गयी और उसके यहूदी राज्य का स्वप्न पूरा नहीं हो सका। लेकिन संसार भर के यहूदी उसके आदर्शों से अनुप्राणित होते रहे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से संसार भर में फैले हुए यहूदी अत्यन्त संगठित रूप में फिलिस्तीन आकर बसने लगे। इस समय यहूदियों के कई संगठन बने। यहूदी राष्ट्रीय कोष तथा फिलिस्तीन स्थापना कोष दो मुख्य यहूदी संगठन थे। इन संगठनों का उद्देश्य फिलिस्तीन को यहूदी राज्य बनाना था। इन कोषों से फिलिस्तीन में जमीन खरीदकर यहूदियों को बसाया जाने लगा। विश्व के विभिन्न देशों से यहूदियों को लाकर फिलिस्तीन में बसाने का कार्यक्रम बनाया गया। नतीजा यह हुआ कि अब बहुत बड़ी संख्या में बाहर से आकर यहूदी फिलिस्तीन में बसने लगे।

प्रथम विश्वयुद्ध और जिओनी आन्दोलन : 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर जिओनी आन्दोलन ने एक नया रूप धारण कर लिया और वह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के भँवरजाल में आ गया। तुर्की के युद्ध में कूद पड़ने पर कतिपय यहूदी नेताओं ने मित्रराष्ट्रों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया। इस दिशा में ब्रिटेन के यहूदी नेता और मैंचेस्टर विश्वविद्यालय में रसायन-शास्त्र के प्रोफेसर डॉ. हटियम वाइजमान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के यहूदी वकील लुई दी ब्रान्देश ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। डॉ० वाइजमान बारूद के लिए एसिटोन बनाने का एक नया तरीका निकालक प्रसिद्ध हो गया। इस आविष्कार से ब्रिटेन को युद्ध में बड़ा लाभ हुआ और ब्रिटिश अधिकारियों को जिओनी आन्दोलन के पक्ष में कर लिया। जर्मनी और रूस में यह आन्दोलन पहले से ही प्रबल था। अब अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के यहूदी यह प्रयास करने लगे कि मित्रराष्ट्र उन्हें यह आश्वासन दे दें कि तुर्की की हार के बाद फिलिस्तीन में यहूदियों को घर बसाने का पूरा अधिकार मिल जायगा। डॉ० वाइजमान के प्रयास का यह फल हुआ कि कई प्रमुख ब्रिटिश राजनीतिज्ञ जिओनी

आन्दोलन के समर्थक हो गये। 1917 में रूस की बोल्शेविक क्रान्ति तथा विश्वयुद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रवेश ने यहूदियों के पक्ष को और भी मजबूत बना दिया। रूसी क्रान्ति में यहूदियों की प्रधानता थी, अतएव मित्रराष्ट्र यह सोचने लगे कि युद्ध में रूस को शामिल रखने के लिए जिओनी आन्दोलन का समर्थन आवश्यक है। ब्रिटेन के नये मित्रराज्य अमेरिका में भी यहूदियों की प्रधानता थी। इसके अतिरिक्त अंगरेजों को यह विश्वास था कि यहूदियों के पक्ष में घोषणा करने से जर्मनी के यहूदी भी उनके पक्ष में हो जाएँगे।

डॉ० वाईजमान ने यहूदियों के लिए अंगरेजों की सहानुभूति पाने का पूरा यत्न किया। उसने ब्रिटिश फिलिस्तीन समिति कि स्थापना की। ब्रिटिश सरकार के अनेक उच्च्य पदाधिकारी (जैसे सर सैमुएल होर, लार्ड रीडिंग, एडविन मांटेग्यू) आदि की पूरी सहानुभूति इस समिति के साथ थी। युद्धकालीन यहूदी नेताओं का यह विचार था कि विश्वयुद्ध की समाप्ति के उपरान्त जब फिलिस्तीन तुर्की की अधीनता से मुक्त हो जाय तो यह प्रदेश यहूदियों के हवाले कर दिया जाय। इसलिए युद्ध प्रयास में यहूदियों ने अंगरेजों की बड़ी सहायता की। ऐसी हालत में ब्रिटिश शासकों ने यहूदियों से बातचीत कर फिलिस्तीन में उनके राष्ट्रीय आवास का निर्माण किया और यहूदी नेताओं ने भी वादा किया कि वे फिलिस्तीन में ब्रिटिश संरक्षित शासन कायम करने का आन्दोलन करेंगे। तत्पश्चात ब्रिटेन से इस नीति पर फ्रांसीसी सरकार और अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन की भी स्वीकृति प्राप्त कर ली।

बालफोर घोषणा : जिओनी आन्दोलन के प्रति अंगरेजों की सहानुभूति के मूल में एक भयंकर कूटनीतिक चाल थी। फिलिस्तीन ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा-पंक्ति में एक आवश्यक कड़ी माना जाता था और स्वेज नहर की सुरक्षा की दृष्टि से भी इस पर ब्रिटिश आधिपत्य आवश्यक माना जाता था। अतः अंगरेज अरबों के मध्य एक ऐसे राज्य का सृजन कर देना चाहते थे जो सुगमता से ब्रिटेन के प्रभाव में रहे। यहूदियों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिए 2 नवम्बर, 1917 को ब्रिटिश पार्लियामेंट में लार्ड बालफोर ने घोषणा की कि "ब्रिटिश सरकार फिलस्तीन में यहूदी लोगों के राष्ट्रीय निवास की स्थापना से सहानुभूति रखती है और इस लक्ष्य की प्राप्ति को सुगम बनाने के लिए भरसक प्रयास करेगी। किन्तु यह स्पष्ट रूप से जान लिया जाना चाहिए की ऐसा कोई काम नहीं किया जायगा जिससे फिलिस्तीन में गैर-यहूदी लोगों के नागरिक या धार्मिक अधिकारों को हानि पहुँचे या अन्य देश में रहनेवाले यहूदियों के राजनीतिक स्थान या अधिकार की क्षति हो।" इसे बालफोर की घोषणा कहते है।

बालफोर घोषणा आरम्भ में ब्रिटिश यहूदी धनपति लार्ड राक्सचिल्ड के पास दिये गये पत्र का अंश था। परन्तु शीघ्र ही इसे सरकारी नीति के रूप में घोषित कर दिया गया और इस पर फ्रांसीसी एवं अमेरिकी स्वीकृति भी प्राप्त कर ली गयी। लेकिन शुरू में ही यह स्पष्ट था कि बालफोर कठिनाइयों का प्रारम्भ था। यह एक असम्भव राजनीतिक दस्तावेज था क्योंकि इसके द्वारा एक राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र को एक तीसरे राष्ट्र की सम्पत्ति देने की प्रतिज्ञा की थी। इसलिए यह पारस्परिक विरोधी बातों से परिपूर्ण थी। यदि अरबों को अधिकारों को सुरक्षित रहने दिया जाता तो यहूदियों का राष्ट्रीय घर नहीं बन सकता था। इसके अतिरिक्त, बालफोर-घोषणा 1916 के त्रिराष्ट्रीय समझौते के भी विरुद्ध थी। उसी वर्ष इंगलैंड, फ्रांस और रूस में एक समझौता हुआ था जिसके अनुसार युद्धोपरान्त फिलिस्तीन को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रखने की बात मान ली गयी थी। इस प्रकार यहूदियों की माँग को अब कानूनी आधार मिल गया।

बालफोर-घोषणा के प्रति अरब की प्रतिक्रिया : बालफोर घोषणा की खबर मिलते ही अरबों के कान खड़े हो गये। मक्का के शरीफ हुसेन ने इसका तत्काल विरोध किया इससे फिलिस्तीन में रहनेवाले अरबों को सख्त खतरा था। उसने ब्रिटिश सरकार से इसका स्पष्टीकरण माँगा लेकिन अंगरेजों ने यह कहकर बात टाल दी कि यहूदियों की आकांक्षाओं का वहीं तक समर्थन किया जायगा जहाँ तक वहाँ बसे हुए लोगों की

आर्थिक और राजनीतिक सत्ता से समन्वय किया जा सके। इससे शरीफ सन्तुष्ट हो गया और 1919 में उसके पुत्र फजल ने डॉ० बाइजमान से इस विषय में एक समझौता कर लिया। इस काल में वाइजमान ने मिस्र और सीरिया की यात्रा की एवं अरबों की आशंकाओं को निर्मूल घोषित किया। इस प्रकार उसे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई तथा फिलिस्तीन में यहूदी राष्ट्रीय निवास की स्थापना की भूमिका निर्मित हो गयी।

फिलिस्तीन पर ब्रिटिश संरक्षता : 1919 में युद्धोपरान्त विश्व के पुनर्निर्माण के लिए पेरिस में शान्ति-सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस सम्मेलन में डा० वाइजमान के नेतृत्व में यहूदियों का एक प्रतिनिधि-मंडल अपनी मांग रखने के लिए पेरिस पहुँचा। शान्ति-सम्मेलन में भाग लेनेवाले पश्चिमी राष्ट्रों की सहानुभूति यहूदियों के पक्ष में थी।

शान्ति-सम्मेलन में फिलिस्तीन पर ब्रिटेन का संरक्षण कायम करने का निश्चय किया गया। जुलाई, 1922 में राष्ट्रसंघ ने इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस निर्णय के द्वारा बालफोर-घोषणा को अक्षरशः मान लिया गया। फिलिस्तीन में संरक्षण-प्रणाली स्थापित करने की शर्तों के अनुसार संरक्षक राज्य का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया कि वह "उस देश को ऐसी राजनीतिक, प्रशासनिक तथा आर्थिक स्थिति में रखे कि यहूदियों के लिए स्वदेश स्थापित करना सम्भव हो सके तथा इसके साथ-ही-साथ फिलिस्तीन के सभी निवासियों के नागरिक और धार्मिक अधिकार सुरक्षित रहें।" फिलिस्तीन को 'क' वर्ग का संरक्षण-शासन दिया गया। लेकिन इस व्यवस्था से अरब लोग बहुत असन्तुष्ट थे, क्योंकि इसके द्वारा बालफोर-घोषणा की पुष्टि की गयी थी। अरबों के अधिकारों की सुरक्षा का जो वचन दिया गया था उसका अरबों की दृष्टि में कोई महत्व नहीं रह गया था। वे यह सोचकर क्षुब्ध थे कि ब्रिटेन के युद्धकालीन आश्वासनों या विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को नयी व्यवस्था में कोई स्थान नहीं दिया गया।

ब्रिटिश संरक्षण के अन्तर्गत फिलिस्तीन के आ जाने से ब्रिटेन को पर्याप्त लाभ हुआ। समारिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र का बहुत बड़ा महत्व था। उस समय मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन बड़ी तेजी से चल रहा था। इस कारण ब्रिटेन यह भरोसा नहीं रख सकता था कि मिस्र में सेना रखना उसके लिए सुरक्षित है। पर फिलिस्तीन पर संरक्षण कायम हो जाने के बाद ब्रिटेन निश्चिंत होकर वहां अपनी सेना रख सकता था। वहां से केवल स्वेज नहर पर ही नियन्त्रण रखना सुगम नहीं हो गया, वरन् वह अपने पूर्वीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए भी बहुत हद तक निश्चिन्त हो गया। ब्रिटेन ने यहूदियों को प्रोत्साहित भी किया। संरक्षक राज्य का प्रोत्साहन पाकर हजारों की संख्या में यहूदी फिलिस्तीन में आकर बसने लगे। यहूदियों का यह आगमन फिलिस्तीन के बहुसंख्यक निवासी अरबों को कतई पसन्द नहीं आया। हर दृष्टि से यहूदी उनसे बढ़े-चढ़े थे और अरबों को इस बात का भय था कि कहीं आगे चलकर सभ्य यहूदी पिछड़े हुए अरबों पर अपना आधिपत्य न कायम कर लें। इस कारण फिलिस्तीन में शीघ्र ही जातिगत विरोध की अग्नि प्रज्वलित हो उठी।

यहूदी तथा अरबों के दावे-प्रतिदावे : फिलिस्तीन पर ब्रिटिश मैंडेट कायम होते ही इस समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। अब यहूदी लोग बहुत बड़ी संख्या में फिलिस्तीन में आकर बसने लगे। यहूदियों के आगमन का विरोध वहां के अरब बाशिन्दों ने किया। यहूदी लोग अरबों से हर दृष्टि में श्रेष्ठ थे और इस कारण उनमें यह भ्रम उत्पन्न हुआ कि यहूदी यदि बहुत बड़ी संख्या में हो गये तो राज्य पर उनका आधिपत्य कायम हो जायेगा। इस कारण उन दोनों में संघर्ष होने लगा। अरब यहूदियों के आगमन का बलपूर्वक रोकना चाहते थे और यहूदी फिलिस्तीन में बसने के लिए कृतसंकल्प थे। इसके लिए उन्हें यहूदियों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ से सहायता मिल रही थी। इसी संघर्ष और रोकथाम के नाटक ने फिलिस्तीन में एक भयंकर समस्या को जन्म दिया जिसको फिलिस्तीन की समस्या कहते हैं। अरबों ने फिलिस्तीन पर अपना दावा पेश किया और यहूदियों ने अपनी, और इस तरह यह समस्या अत्यन्त पेचीदी हो गयी।

फिलिस्तीन पर अरबों के दावे के दो स्वरूप थे—राष्ट्रीय और राजनीतिक। उनका कहना था कि वे फिलिस्तीन में बहुत दिनों से रहते आ रहे हैं। सातवीं शताब्दी से ही वे यहां रहते आ रहे हैं। इस कारण फिलिस्तीन की सभ्यता-संस्कृति अरब सभ्यता-संस्कृति हो गयी है। फिर, फिलिस्तीन के सभी आर्थिक साधनों पर अरबों का अधिकार है। इस कारण उन्हें फिलिस्तीन से हटाया नहीं जा सकता। यह अरबों का फिलिस्तीन पर राष्ट्रीय दावा भी था।

इसके अतिरिक्त उनके राजनीतिक दावे थे। प्रथम विश्वयुद्ध के समय अरबों को यह आश्वासन दिया गया कि तुर्की की पराजय के बाद अरबों के स्वतन्त्र राज्य कायम होंगे। फिलिस्तीन के अरबों का कहना था कि इस आश्वासन के आधार पर वहां उनका भी राज्य कायम होना चाहिए। इस तरह फिलिस्तीन पर उनका राजनीतिक दावा भी था।

दूसरी ओर यहूदी फिलिस्तीन को अपना मूल निवास-स्थान मानते थे। उनका कहना था कि इतिहास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उनके साथ घोर अन्याय हुआ है। वे स्वभाव से शान्तिप्रिय थे, इसलिए विदेशी हमलावरों ने उन पर आक्रमण करके उन्हें उनके मातृभूमि से निकाल दिया। उन्हें बाध्य होकर अपना देश छोड़कर संसार के अन्य देशों में जाकर बसना पड़ा है। लेकिन दूसरे देशों में भी उनकी स्थिति अच्छी नहीं है। वहां भी वे बुरी तरह सताये जा रहे हैं। जाति के नाम पर वस्तुतः उन पर रूस, जर्मनी आदि देशों के घोर अत्याचार हो रहे थे। अतएव यहूदियों का कहना था कि इन अत्याचारों से उन्हें मुक्ति तभी मिलेगी जब उनका अपना एक देश कायम हो जाय। यह देश फिलिस्तीन ही हो सकता है, क्योंकि वे वही के मूल निवासी हैं। उनके विचारानुसार फिलिस्तीन पर अरबों का दावा गलत है। वे साम्राज्य-विस्तार के क्रम में जबरदस्ती फिलिस्तीन में घुसे थे और फिलिस्तीन के आर्थिक साधनों पर उनका अन्यायपूर्ण अधिकार है।

फिलिस्तीन-समस्या का प्रकट रूप : इस दावे प्रति-दावे के बीच युद्ध के बाद फिलिस्तीन की समस्या ने अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया। शुरू में जब यहूदी लोग फिलिस्तीन में आकर बसने लगे तो अरबों ने उसका विशेष विरोध नहीं किया था, क्योंकि उनकी धारणा थी कि यहूदी लोग किसी तरह फिलिस्तीन में आकर गुजर करना चाहते हैं। इस समय यहूदी लोग भी बड़े विनम्र थे और अपनी श्रेष्ठता का हवाला नहीं देते थे। लेकिन युद्ध के बाद के काल में अरबों का यहूदियों का आगमन खलने लगा, क्योंकि अब वे बहुत बड़ी संख्या में आने लगे थे। फिलिस्तीन में ब्रिटिश मैंडेट की स्थापना के बाद यहूदियों की सुविधा के लिए एक एजेन्सी बनायी गयी जो विश्व-यहूदी समाज का प्रतिनिधित्व करती थी। इस एजेन्सी के अध्यक्ष डॉ० वाइजमान तथा कार्यकारिणी के प्रधान डेविड बेन जुरियन थे। अरबों का ऐसा कोई संगठन नहीं था। उनकी मुस्लिम कौंसिल थी जो मुख्यतः धार्मिक कार्यों की देखरेख करती थीं। इस समय अरबों में भीषण असन्तोष फैला हुआ था। उधर यहूदियों में प्रबल उत्साह था। वे निरन्तर बड़ी से बड़ी संख्या में फिलिस्तीन पहुँचने लगे और अरबों के घर-बार, जमीन-जायदाद को खरीदना शुरू किया। ब्रिटिश सरकार यहूदियों का पक्ष लेने लगी। फिलिस्तीन में अरबों के दो दल थे जो क्रमश नसाशिबी और हुसेनी परिवारों पर केन्द्रित थे। नशाशिबी यहूदियों के प्रति कुछ नरमी का बर्ताव करते थे लेकिन हुसेनी उनके सख्त खिलाफ थे। दूसरे, अरबों में बड़े-बड़े परिवार सामन्ती ढंग से किसानों का शोषण करते थे और शहर के गरीब लोगों को सताते थे। यहूदियों ने इनकी बुराई कर किसानों और मजदूरों को स्वतन्त्र और समृद्ध जीवन का आश्वासन दिया। इस तरह अरबों के आपसी भेदों का लाभ उठाकर उन्होंने अपना संगठन जारी रखा। यहूदी सम्पन्न और शिक्षित थे तथा अरब अनपढ़, निर्धन और पिछड़े हुए थे। इस कारण अरबों के अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकी। फलस्वरूप, अरबों ने विद्रोह और मारकाट का सहारा लिया और यहूदियों ने इसका बदला लिया। 1948 में ब्रिटिश मैंडेट खत्म होने तक फिलिस्तीन का इतिहास इसी मारकाट और जातीय दंगे की कहानी है।

यहूदियों और अरबों के झगड़े : अप्रैल, 1920 में मैंडेट पद्धति की घोषणा के तुरन्त बाद जेरूसलम में यहूदी-विरोधी दंगे शुरू हो गये। समूचे प्रदेश में मारकाट प्रारम्भ हो गयी और दोनों जातियों के लोग एक-दूसरे के विरुद्ध जूझ पड़े। अरबों ने यहूदियों पर प्रत्यक्ष आक्रमण कर दिया। यह खूनखराबा 1921 तक चलती रही। अनेक यहूदी कत्ल कर दिये गये और उत्तेजना को रोकना असम्भव हो गया। इस गड़बड़ी से चिन्तित होकर ब्रिटिश सरकार ने 1922 में चर्चिल-श्वेतपत्र जारी किया जिसमें यहूदियों के अधिकारों के साथ-साथ अरबों के अस्तित्व को भी मान्यता दी गयी और यह स्पष्ट किया गया कि उनके हितों की पूर्ण रक्षा की जायगी। इससे अगले छह वर्षों तक कुछ शान्ति रही।

संरक्षण-पद्धति की यहूदी-सम्बन्धी शर्तों को पूरा करना एक कठिन कार्य था। युद्धकाल में अपने लाभ के लिए मित्रराष्ट्रों द्वारा अरबों की राष्ट्रीय महत्त्वकांक्षा को प्रोत्साहित किया गया था। किन्तु यहूदियों को दिये गये वचन और अरबों को दिये गये आश्वासनों में परस्पर विरोध था, इसलिए भविष्य में कठिनाइयों का उत्पन्न होना एकदम आवश्यक था। 1919 तक फिलिस्तीन में अरब ही बहुसंख्यक निवासी थे। लेकिन संरक्षण-पद्धति की स्थापना से इस देश का द्वार यहूदियों के लिए खुल गया और कुछ ही दिनों में फिलिस्तीन विश्वभर के यहूदियों की राष्ट्रीय गतिविधि का केन्द्र बन गया।

यूरोप में जब आर्थिक-संकट प्रारम्भ हुआ तो फिलिस्तीन में यहूदियों का आगमन और भी बढ़ गया। इसके अतिरिक्त, यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में बसे हुए यहूदियों की स्थिति दिन-ब-दिन खराब होती जा रही थी। ले लोग धन, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुए थे। जर्मनी, पोलैंड, हंगरी इत्यादि देशों के लोग उनकी ऊँची स्थिति से घृणा करते थे, इसलिए उन्हें अपने देश से भगाने का यत्न कर रहे थे। जर्मनी में हिटलर के सत्तारूढ़ होने के बाद जर्मनी यहूदियों में भगदड़ मच गयी। यहूदियों को नात्सी जर्मनी में तरह-तरह से कष्ट दिया जाने लगा। इसलिए जर्मनी में यहूदियों का टिकना असम्भव हो गया। वे जर्मनी छोड़कर भागने और फिलिस्तीन में आकर बसने लगे। 1919 में फिलिस्तीन में यहूदियों की संख्या सिर्फ तिरासी हजार थी। 1934 के अन्त तक यह संख्या तीस लाख तक पहुँच गयी।[2]

राजनीतिक एवं सभ्यता-संस्कृति की दृष्टि से यहूदी लोग अरबों से काफी बढ़े-चढ़े थे। उनका राजनीतिक संगठन अत्यन्त दृढ़ था। वे संगठित और उन्नतिशील थे। उनके प्रयासों से फिलिस्तीन पश्चिमी एशिया का एक मुख्य वाणिज्य-केन्द्र बन गया। इसके विपरीत अरब लोग अशिक्षित, असंगठित और पूंजीहीन थे तथा वे यहूदियों की समानता नहीं कर सकते थे। इस कारण यहूदियों के आगमन के कारण वे अपने ही देश में हीन बनते जा रहे थे। इस हालत में यहूदियों का विरोध करना उसके लिए स्वाभाविक था। फलतः फिलिस्तीन में हमेशा उपद्रव होता रहा। प्रायः ऐसा होता था कि पहले अरब लोग यहूदियों पर आक्रमण करते थे। इन दंगों में ब्रिटिश सरकार यहूदियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करती और उनका पक्ष लेकर ब्रिटिश सेना अरबों पर घोर अत्याचार करती।

फिलिस्तीन की शासन-व्यवस्था : फिलिस्तीन का शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश औपनिवेशिक मंत्रालय के मातहत था और एक ब्रिटिश हाई कमिश्नर वहां के शासन की देख-रेख करता था। 1921 में सर सैमुएल फिलिस्तीन का हाई कमिश्नर नियुक्त हुआ। 1 सितम्बर को उसने फिलिस्तीन के शासन के लिए एक विधान की घोषणा की जिसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—

(i) फिलिस्तीन पर शासन करने के लिए एक हाई कमिश्नर हो। वह एक कार्यकारिणी समिति की सहायता से शासन करे। कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार हाई कमिश्नर को ही रहे।

(ii) कानून-निर्माण के लिए एक विधानमंडल हो जिसके कुछ सदस्य जातियों के अनुपात के अनुसार निर्वाचित हों और कुछ को हाई कमिश्नर मनोनीत करे।

अरब लोग इस विधान से संतुष्ट नहीं हुए। वे फिलिस्तीन को एकमात्र अपना देश समझते थे, इसलिए स्वशासन का अधिकार माँगते थे। उनकी दूसरी माँग थी यहूदियों के आगमन को रोकना। अतएव उन्होंने 1922 के शासन-विधान को अस्वीकृत कर दिया। इस हालत में हाई कमिश्नर निरंकुश रूप से फिलिस्तीन पर शासन करने लगा।

अरबों की शिकायत : अरबों से जब पूछा गया तो उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों और यहूदियों दोनों के विरुद्ध स्पष्ट रूप से शिकायतें की। उनका कहना था कि बहुत बड़ी संख्या में यहूदी लोग फिलिस्तीन में आकर बस रहे थे। वहां के अरब बाशिन्दें काफी गरीब थे और इस कारण वे अच्छी-अच्छी जमीन यहूदियों के हाथों बेच रहे थे। यहूदी लोग बड़े उद्यमी और परिश्रमी थे और उनके प्रयासों से फिलिस्तीन का काफी विकास हो रहा था। यहूदी नगर तेल-अबीब, हैफा आदि आधुनिक संसार के मुख्य औद्योगिक केंद्र बन रहे थे। इस समृद्धि से अरबों को कोई लाभ नहीं पहुँचा। यहूदियों की तुलना में वे नगण्य थे। एक ही देश फिलिस्तीन में अलग-अलग दो दुनिया बस गईं—एक यहूदियों की और दूसरी अरबों की। अरब लोग अपनी गिरती हुई दशा को देखकर बेचैन थे। अतएव वे केवल ब्रिटिश शासन के प्रति असहयोग की नीति का ही अवलम्बन नहीं करते, यद्यपि यहूदियों के अप्रवास का भी घोर विरोध करते रहे। उन्होंने कड़े शब्दों में कहना शुरू किया कि ब्रिटिश सरकार द्वारा यहूदियों के फिलिस्तीन में बसाने के कार्यक्रम के प्रति सहानुभूति दिखलाना उन्हें कतई पसन्द नहीं है। वे बराबर इसका विरोध करते रहते थे। ये विरोध बराबर विद्रोह और दंगों का रूप धारण कर लेते थे। इन विद्रोह में 1929 का विद्रोह सबसे अधिक भयानक था।

वेलिंगवाल का झगड़ा : अरबों और यहूदियों के बीच झगड़े का एक कारण धार्मिक भी था। जेरूसलम का वेलिंगवाल इस झगड़े के मूल में था। जेरूसलम में एक स्थान है जिसको अरब और यहूदी दोनों ही पवित्र मानते हैं। इस स्थान को अरबों और यहूदियों को पृथक करने के लिए एक दीवार है। ओटोमन शासन के समय यहूदियों को इस दीवार के निकट खड़ा होकर प्रार्थना करने की अनुमति थी। लेकिन, इसके आसपास वे किसी प्रकार का चबूतरा या दीवार नहीं खड़ा कर सकते थे। 24 सितम्बर, 1928 को यहूदियों ने दीवार के पास एक और पक्की दीवार खड़ी कर दी। अरबों को यह बात पसन्द नहीं आयी और पुलिस ने आकर इस दीवार को हटा दिया। इस घटना को लेकर अरबों और यहूदियों के मध्य साम्प्रदायिक दंगा छिड़ गया। कुछ हि दिनों के अन्दर दो सौ के लगभग यहूदी मार डाले गये। अरबों ने यहूदी बस्तियों में आग लगा दी। स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि उपद्रव को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार को बाहर से सेना मँगानी पड़ी।

उपद्रव को दबाने के बाद ब्रिटिश सरकार ने इसके कारणों की जाँच-पड़ताल के लिए एक आयोग की नियुक्ति की जिसका अध्यक्ष था सर जॉन होप सिम्पसन। एक साल बाद इस आयोग ने अपना प्रतिवेदन दिया। इस प्रतिवेदन के अनुसार अरबों की शिकायत के मुख्य कारण राजनीतिक और धार्मिक थे। यहूदी लोग बहुत बड़ी संख्या में आकर फिलिस्तीन में बस रहे थे। विश्व यहूदी संस्था की ओर से बेघर-बार यहूदियों को फिलिस्तीन आने के लिए मार्ग-व्यय और वहां बसने के लिए आर्थिक सहायता दी जाती थी। सिम्पसन आयोग के प्रतिवेदन में कहा गया था कि यहूदियों को बहुत बड़ी संख्या में आकर बसने के कारण फिलिस्तीन के अरबों में काफी बेचैनी थी उसने सिफारिश की कि यहूदियों के आगमन को एकदम रोक दिया जाय तथा गैर-यहूदियों को दिये गये आश्वासनों का स्पष्टीकरण किया जाय और साथ ही अरबों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उनके खेतीबारी के तरीकों को आधुनिक रूप दिया जाय।

ब्रिटिश सरकार और यहूदियों में मतभेद : सिम्पसन आयोग की रिपोर्ट को मानते हुए ब्रिटिश सरकार ने यहूदियों के आप्रवास को एकदम रोक दिया। ब्रिटिश सरकार ने 1930 में पासफील्ड श्वेतपत्र जारी किया। जिसमें एक विकास विभाग के निर्माण की घोषणा की गयी जो भूमि की खरीद-बिक्री पर नियन्त्रण रखे ताकि

यहूदी अरबों से धड़ाधड़ जमीनें खरीदकर उन पर कब्जा न कर सकें। इससे अरब लोग कुछ संतुष्ट हुए और विधानमंडल के चुनाव में भाग लेने के लिए तैयार हो गये। अब यहूदियों ने इस बात का बड़ा कड़ा विरोध किया। विधानमंड़ल में वे अरबों के बराबर प्रतिनिधित्व चाहते थे। यह सम्भव नहीं था, इसलिए यह योजना भी नहीं लागू हुई। उधर ब्रिटिश सरकार की नीति का विरोध यहूदी लोग कर रहे थे। यहूदी आप्रवास को रोकने के खिलाफ उन्होंने विश्वव्यापी आन्दोलन खड़ा किया। ब्रिटिश सरकार इस आन्दोलन की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। टोर-विरोधी दल के नेता बाल्डविन, चर्चिल, चेम्बर लेन आदि ने यहूदियों का समर्थन किया। प्रधानमंत्री रामजे मेकडानेल्ड को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा और अब किसान या सौदागर बिना रोक के बस सकते थे, बशर्ते उनके पास कम-से-कम पच्चीस हजार डालर की पूँजी हो। इसके अलावा, हर महीने यहूदी मजदूरों को फिलिस्तीन के आर्थिक विकास के लिए आने दिया जाने लगा। इससे अरबों की बेचैनी फिर बढ़ गयी। अरबों की एक शिकायत यह थी कि यहूदी फाउण्डेशन फण्ड, जो यहूदियों को बसाने के लिए जमीन बन्दोबस्त किया करता था, उस पर अरब मजदूरों को काम करने नहीं दिया जाता था। यहूदी मजदूर संघ ने बिना जमीनवाले अरबों को काम देने के बदले बाहर से यहूदी मजदूर ले आने की नीति अपनायी थी। अरबों पर इसकी घोर प्रतिक्रिया हुई और उनका यहूदी-विरोधी आंदोलन फिर से जड़ पकड़ने लगा।

1935-36 का संघर्ष : 1935-36 में अरबों में बड़ी बेचैनी थी। उस समय का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की स्थिति ने अरबों को प्रभावित किया। उस समय अबीसीनिया का युद्ध चल रहा था। अबीसीनिया-युद्ध की घटनाओं से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि संसार में ब्रिटिश प्रभाव और शक्ति दोनों घट रहे हैं इटली के प्रचार ने इस धारणा को और पुष्ट किया। ठीक उसी समय मिस्र और सीरिया के राष्ट्रवादी आंदोलनों को भी सफलता मिल रही थी। इन घटनाओं ने अरबों को प्रभावित किया और नवम्बर, 1935 में उन्होंने ब्रिटिश शासन के सम्मुख निम्नलिखित माँगे पेश कीं—

1. फिलिस्तीन में प्रजातांत्रिक शासन-व्यवस्था अविलम्ब लागू की जाय।
2. ऐसा कानून बने कि भविष्य में कोई यहूदी फिलिस्तीन में जमीन नहीं खरीद सके।
3. फिलिस्तीन में यहूदियों के प्रवेश पर पूर्णतया रोक लगा दी जाय।

ब्रिटिश सरकार ने इस मांगों को अस्वीकृत कर दिया।

अब अरब राष्ट्रीयता, जियोनिज्म तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बीच एक त्रिकोणात्मक संघर्ष शुरू हो गया। अरबों ने फिर हिंसात्मक उपायों का आश्रय लिया। 1935 के अन्त में उन लोगों ने एक राष्ट्रीय हड़ताल की घोषणा की। शहर में हड़तालें हुईं और इधर-उधर गुरिल्ला युद्ध। हड़ताल को संचालित करने के लिए एक अरब उच्च समिति की स्थापना की गयी और जेरूसलम के मुफ्ती इसके संचालक नियुक्त हुए। जगह-जगह पर दंगे शुरू हुए और ब्रिटिश अफसर तथा यहूदी नागरिक अरब हमलों के शिकार बनाये गये। अन्त में एक बहुत बड़ी सेना फिलिस्तीन भेजी गयी। सेना ने बड़ी क्रूरता से बलवा को दबाया तब जाकर शान्ति कायम हुई।

पील आयोग : ब्रिटिश सरकार ने इन उपद्रवों के कारणों की जाँच करने के लिए पुनः एक आयोग नियुक्त किया। आयोग को संरक्षण-शासन के विरुद्ध लोगों की शिकायतों की जाँच करने का भी भार दिया गया। इस आयोग को अपना सुझाव भी प्रस्तुत करना था। इसके अध्यक्ष लार्ड पील थे, इसलिए इसको पील आयोग कहते हैं।

आठ महीनों की जांच-पड़ताल तथा दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों की बात सुनने के बाद आयोग ने ब्रिटेन लौटकर जुलाई, 1937 में एक रिपोर्ट प्रकाशित की। रिपोर्ट में आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया कि फिलिस्तीन में अरबों और यहूदियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं में किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करना असम्भव है। अतएव, उसने फिलिस्तीन की समस्या के समाधान के लिए निम्नलिखित योजनाएँ प्रस्तुत की—

पील आयोग ने सुझाव किया कि संरक्षण-शासन को समाप्त कर दिया जाय और फिलिस्तीन को तीन भागों में बाँट दिया जाय—(1) एक नया यहूदी देश, जिसमें देश का करीब एक-चौथाई भाग शामिल किया जाय और जिसका दक्षिणी हिस्सा सीरिया की सीमा तक चला जाय; (2) फिलिस्तीन के बचे हुए अरब-क्षेत्र का ट्रांसजोर्डन से जोड़कर एक इकाई बना दिया जाय; और (3) एक निरपेक्ष क्षेत्र ब्रिटिश-शासन के अधीन रखा जाय, जिसका क्षेत्रफल पाँच सौ वर्गमील हो और जिसमें जेरूसलम, बेथलेहम और दूसरे पवित्र स्थान हों, ग्रेट ब्रिटेन को नजरेथ यहूदी-राज्य में गैलिलि के समुद्र के लिए भी जिम्मेवार रहना था। इसके अलावा, यहूदी-क्षेत्र के हैफा, एकर, सफद और टाइवेरियस शहरों के लिए उसे उत्तरदायी रहना था। कारण, इन जगहों में कई जातियों के लोग थे। नये अरब और यहूदी राज्यों को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया जाना था, परन्तु उन्हें ग्रेट ब्रिटेन के साथ ऐसी ही सन्धि करनी थी जैसी मिस्र और इराक ने की थी। दोनों को वित्तीय क्षेत्र में नियंत्रण रखना था। नये अरब देश को ग्रेट ब्रिटेन और यहूदी देश दोनों से कुछ वित्तीय सहायता मिलती थी। दोनों देश आबादी की अदला-बदली के सम्बन्ध में अपना कानून बना सकते थे और अपना अलग इन्तजाम कर सकते थे।

पील आयोग के प्रतिवेदन की आलोचना चारों ओर से हुई। यह योजना न तो यहूदियों को पसन्द आयी और न अरबों को। यहाँ तक कि राष्ट्रसंघ के संरक्षण-आयोग ने भी इस योजना को नापसंद किया। इस योजना के अनुसार प्रस्तावित यहूदी राज्य में औद्योगिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण केन्द्र जैसे जोर्डन नदी पर जल-विद्युत शक्ति स्टेशन और मृत सागर (dead sea) पर पोटाश का कारखाना, सम्मलित नहीं थे। उन्होंने हैफ और गेलिली के अन्य नगरों पर ब्रिटिश शासन को अनिश्चित काल तक बनाये रखने पर भी आपत्ति की। अरबों ने गैलिली के अन्य भाइयों से बिछुड़ जाने पर भूमध्यसागर के बन्दरगाहों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने की शिकायत की। कोई भी पक्ष इस योजना को बिना महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हुए मानने को तैयार नहीं था। इराक सरकार ने इसके विरुद्ध राष्ट्रसंघ में विरोध-पत्र भेजा। यहूदी कांग्रेस के अधिवेशन में इसकी तीव्र आलोचना हुई। अरबों और यहूदियों दोनों ने स्पष्ट रूप से पील आयोग के प्रतिवेदन को अस्वीकृत कर दिया और 1937 के अन्तिम महीनों में अरब आन्दोलन पुनः गम्भीर रूप से भड़क उठा। अनेक स्थानों पर दंगे हुए और अनेक व्यक्ति अरबों के क्रोध के शिकार हुए। न केवल यहूदियों और अंगरेजों की ही वरन् उन अरबों की भी हत्याएँ की गयीं जो समझौता के पक्ष में थे। 1938 तक फिलिस्तीन की यही दशा रही। 1939 के मई तक छिटपुट बलवे-विद्रोह होते रहे।

उडहेड आयोग : इस तीव्र विरोध के कारण ब्रिटिश सरकार ने पूरा मामला राष्ट्रसंघ को सौंपने का निश्चय किया जिससे इस मामले पर फिर से विचार हो सके। राष्ट्रसंघ के आयोग ने फिर से फिलिस्तीन के पूरे मामले को जाँचने के लिए कहा। अतएव पील आयोग के प्रतिवेदन की व्यावहारिकता पर विचार करने के लिए एक और आयोग की नियुक्ति की गयी। इसके अध्यक्ष सर जॉन उडहेड थे। 1938 के शुरू में इस आयोग ने अपना कार्य प्रारम्भ किया और अक्टूबर में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। आयोग ने फिलिस्तीन के विभाजन का विरोध किया। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने भी फिलिस्तीन के विभाजन की योजना का परित्याग कर दिया।

गोलमेज सम्मेलन : अब ब्रिटिश सरकार ने एक बार फिर निश्चय किया कि फिलिस्तीन की शान्ति-व्यवस्था का सर्वोत्तम उपाय यह है कि अरबों और यहूदियों के बीच एक समझौता हो जाय। इसके लिए लन्दन में एक गोलमेज परिषद का आयोजन हुआ। यहूदियों और अरबों को ब्रिटेन के सामने अपना-अपना मामला पृथक रूप से रखने के लिए आमन्त्रित किया गया। पास-पड़ोस के अन्य अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया गया।

इस समय फिलिस्तीन में फिर उपद्रव शुरू हो गया था। अक्सर बम फेंके जाते थे और लुक-छिपकर एक-दूसरे पर हमला किया जा रहा था। दोनों पक्षों के बहुत-से लोग मारे जा रहे थे। विद्रोही अरब नेताओं ने जोरदार मांग की कि यहूदियों का फिलिस्तीन में बसना एकदम बन्द कर दिया जाय और फिलिस्तीन तथा

ब्रिटेन के बीच एक वैसी ही सन्धि हो जैसी मिस्र और इराक के साथ हुई है। ऐसी स्थिति में गोलमेज सम्मेलन फरवरी, 1939 में लन्दन में प्रारम्भ हुआ। अरव प्रतिनिधियों ने यहूदी प्रतिनिधियों के साथ सम्मेलन में एक साथ बैठने से इन्कार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि सम्मेलन में वार्ताएँ अलग-अलग हुईं। ऐसा मालूम होता था कि एक ही जगह दो सम्मेलन हो रहे हैं। अरबों और यहूदियों में इतना अधिक मतभेद था कि वे किसी भी बात पर सहमत होने के लिए तैयार नहीं थे। अरब अपनी स्वतन्त्रता तथा यहूदी आप्रवास को रोकने की मांग कर रहे थे और यहूदी लोग बालफोर-घोषणा को कार्यान्वित करने की माँग कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार के समझौता कराने के सारे प्रयास निष्फल हुए और कुछ सप्ताहों के प्रयत्न के बाद सम्मेलन भंग हो गया। फिलिस्तीन की समस्या में कोई सुधार नहीं हुआ और अरब तथा यहूदियों में परस्पर संघर्ष होता रहा।

1939 का श्वेत-पत्र : ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने फिलिस्तीन पर अपना समाधान लादने का निश्चय किया। 17 मई, 1939 को ब्रिटिश सरकार ने एक दूसरा श्वेत-पत्र जारी किया। इस श्वेत-पत्र का आशय यह था कि दस वर्षों में फिलिस्तीन एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया जायगा। यहूदियों के आप्रवास को सीमित करने की बात भी इसमें कही गयी। पाँच वर्षों तक केवल साढ़े सात हजार यहूदी ही फिलिस्तीन आ सकते थे। इसके बाद उनका आप्रवास बिल्कुल बन्द हो जाता। इस दस वर्ष की अवधि में भूमि की खरीद-बिक्री पर प्रतिबंध लगाने की भी व्यवस्था की गयी थी। इसके बाद यदि दोनों जातियों में कोई समझौता हो जाता तो ब्रिटेन फिलिस्तीन को स्वतन्त्र कर देने के लिए तैयार हो जाता। यहूदियों और अरबों ने इस प्रस्ताव को भी नामंजूर कर दिया और अपने विरोध को बल देने के लिए हिंसात्मक कार्रवाइयाँ शुरू कर दीं। इसी बीच सितम्बर, 1939 को द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हो गया और ब्रिटिश सरकार ने फिलिस्तीन के मामले को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया। फिलिस्तीन में बहुत बड़ी संख्या में अंगरेजी फौंज लाकर रख दी गयीं जिससे वहाँ कोई विद्रोह नहीं हो।

द्वितीय विश्वयुद्ध और फिलिस्तीन की समस्या : द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में फिलिस्तीन की समस्या शांत रही। इस समय अरबों ने सहायता पाने के लिए इंगलैंड का अरबों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख रहा लेकिन युद्धकाल में यहूदी लोग अपना आन्दोलन चलाते रहे। युद्ध के समय यहूदी लोग जर्मनी के विरोध के नाम पर अपना एक सैनिक संगठन बनाना चाहते थे, लेकिन ब्रिटिश सरकार इस पर राजी नहीं हुई। 1940 में फिलिस्तीन के हाई कमिश्नर ने जमीन खरीदने की रोक लगा दी। इस समय जर्मनी और इटली में यहूदियों पर घोर अत्याचार हो रहा था और वे वहाँ से भागकर फिलिस्तीन आना चाहते थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उन पर प्रतिबंध लगा दिया था।

युद्धोपरान्त यहूदी समस्या : 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध खत्म हुआ। ब्रिटेन में आम चुनाव हुआ और मजदूर दल उसमें विजयी रहा। इससे यहूदियों को प्रसन्नता हुई। वे यह आशा करने लगे कि नयी सरकार उनकी माँगों पर उचित विचार करेगी। लेकिन जब मजूदर सरकार ने इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया तो यहूदी व्यग्र हो उठे और फिर उपद्रव मचाने लगे। कई जगह उन्होंने रेल की लाइनें उखाड़ दीं। हैफा-स्थित तेलशोध कारखानें में आग लगा दी गयी। यहूदी लोग फिलिस्तीन में ब्रिटिश शासन को अव्यवस्थित बना देना चाहते थे। वे चाहते थे कि अंगरेज फिलिस्तीन छोड़कर चले जाए और तव वे अरबों से लोहा ले लेंगे।

इसी समय अमेरिका में राष्ट्रपति-पद का चुनाव शुरू हुआ। वहाँ यहूदी वोटरों की संख्या बहुत अधिक है, इसलिए राष्ट्रपति-पद के उम्मीदवारों ने यहूदियों का वोट प्राप्त करने के लिए उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएँ दीं। चुनाव में ट्रूमैन विजय रहे। वादे के अनुसार उन्होंने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि वह यहूदियों को फिलिस्तीन में जाकर बसने की आज्ञा दें। ट्रूमैन के आग्रह को टालना बड़ा मुश्किल था। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि फिलिस्तीन की समस्या को सुलझाने के लिए अमेरिका और ब्रिटेन की संयुक्त समिति का निर्माण किया जायगा और इसी समिति के सुझाव पर फिलिस्तीन की समस्या का हल निकाला जायगा।

आंग्ल-अमेरिकी जाँच समिति : आंग्ल-अमेरिकी समिति ने फिलिस्तीन आकर अपना काम शुरू किया और एक लम्बा-चौड़ा प्रतिवेदन पेश किया। इसमें ब्रिटेन की संरक्षणता के अन्त करने की बात मानी गयी। इस रिपोर्ट की कुछ धाराएँ यहूदियों के पक्ष में थीं। अतएव उन लोगों ने इसका स्वागत किया, लेकिन अरबों ने इसका कड़ा विरोध किया। अतएव योजना को स्थगित कर दिया गया। इस पर यहूदी उतावले होने लगे। उन्होंने पुन: आतंकवादी कार्य शुरू कर दिया। जून, 1946 में उन्होंने फिलिस्तीन के आठ पुलों को उड़ा दिया। कुछ दिनों के बाद पाँच लम्बी सड़कों को भी बरबाद कर दिया गया। 22 जुलाई को एक होटल को बारूद से उड़ा दिया गया जिसमें कई ब्रिटिश सैनिक अफसर मारे गये।

लन्दन सम्मेलन : इसी बीच ब्रिटिश और अमेरिकी प्रतिनिधियों ने फिलिस्तीन के सम्बन्ध में एक योजना तैयार की। इसमें फिलिस्तीन को एक संघ राज्य का रूप देने का सुझाव था। इस संघ में दो राज्य होते— अरब राज्य और यहूदी राज्य। दोनों को स्वशासन का अधिकार होता। ब्रिटिश सरकार ने इस योजना पर विचार करने के लिए लन्दन में पुन: एक सम्मेलन का आयोजन किया लेकिन शुरू में ही इस सम्मेलन की सफलता संदिग्ध थी, क्योंकि दोनों दल पहले ही यह आश्वासन पा लेना चाहते थे कि उनके हितों पर किसी तरह का आघात नहीं किया जायगा और इसमें उसकी सुरक्षा पर विचार किया जायगा।

आंग्ल-अमेरिकी रिपोर्ट पर विचार करने के लिए लन्दन में सम्मेलन शुरू हुआ, लेकिन इसमें फिलिस्तीन के अरब तथा यहूदी प्रतिनिधियों ने भाग नहीं लिया। इसमें पड़ोसी राज्यों के प्रतिनिधियों ने ही भाग लिया। अरबों ने फिलिस्तीन की पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की। उन्होंने यहूदियों के आप्रवास को रोकने और उनके द्वारा भूमि खरीदने पर रोक लगाने की माँग की। यहूदियों ने भी सम्मेलन का विरोध किया। उन्हें अरबों की योजना मान्य न थी। अतएव यह सम्मेलन भी व्यर्थ रहा। यहूदियों ने हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन किया। सैकड़ों लोग यहूदी आतंक के शिकार हुए। इस स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश नागरिकों को विशेषकर बच्चों और स्त्रियों को फिलिस्तीन से बाहर निकल आने का आदेश दिया। यहूदियों के आतंकवादी कारनामों का मुकाबला करने में ब्रिटिश सरकार अपने को असमर्थ महसूस करने लगी थी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में फिलिस्तीन की समस्या : ऐसी कठिन परिस्थिति में 1947 में ब्रिटेन फिलिस्तीन के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले गया। अभी संयुक्त राष्ट्रसंघ में इस विषय पर विचार हो ही रहा था कि ब्रिटेन ने फिलिस्तीन पर से अपने संरक्षण-राज्य का अन्त कर दिया और मई, 1948 में यहूदियों तथा अरबों को उसके भाग्य पर छोड़कर स्वयं फिलिस्तीन छोड़कर चला गया। सरकार के अभाव में सारे फिलिस्तीन में अराजकता फैल गयी।

इजराइल का जन्म : जिस दिन अंगरेज फिलिस्तीन छोड़ रहे थे उसी दिन यहूदियों ने तेल अबीब में अपना एक अधिवेशन किया और इजराइल नाम से एक पृथक यहूदी राज्य की घोषणा कर दी। इसी दिन से फिलिस्तीन के अन्दर यहूदियों का अपना इजराइल नामक राज्य का निर्माण हो गया। फिलिस्तीन के बचे हुए भाग पास के अरब राज्य ट्रांसजोर्डन में मिला दिये गये। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कुछ अन्य पश्चिमी राज्यों ने तुरन्त ही नवीन यहूदी राज्य को कूटनीतिक मान्यता प्रदान की। तीन दिनों के बाद उसे सोवियत संघ की मान्यता भी प्राप्त हो गयी। इस तरह इजराइल ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी पृथक स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली और यहूदियों ने फिलिस्तीन में अपना 'राष्ट्रीय घर' बना लिया। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ने इस नवीन राज्य को तुरन्त ही राजनयिक मान्यता प्रदान कर दी।

लेकिन इजराइल के निर्माण से ही फिलिस्तीन की समस्या का समाधान नहीं हुआ। अरब देश इस राज्य को कतई पसन्द नहीं कर सकते थे। उन्होंने इसका विरोध किया और मिलकर इजराइल पर हमला कर दिया। दोनों पक्षों में खूब लड़ाई हुई। लेकिन यहूदी अरबों से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए। युद्ध के फलस्वरूप उन

लोगों ने उन प्रदेशों पर अधिकार जमा लिया जो पहले इजराइल राज्य में सम्मिलित नहीं किये गये थे। अरब लोग कुछ नहीं कर सके। उनकी सेना बुरी तरह से पराजित हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने बीच-बचाव करके फिलिस्तीन युद्ध को बन्द कराया और एक विरामसंधि हो गयी। नये इजराइल राज्य को अरब खत्म नहीं कर सके।

फिलिस्तीन-समस्या के इस सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि यहाँ अंगरेजों की नीति शुरू से ही ढुलमुल और दोरंगी रही है। उन्होंने अनेक आयोगों की रिपोर्टों के बावजूद वस्तुस्थिति की उपेक्षा की। वे इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुए कि अरबों तथा यहूदियों में मेल-मिलाप असम्भव है। उसने दिमाग में यह नहीं आया कि यहूदी यदि फिलिस्तीन में आ गये तो वहाँ पहले से बसे हुए अरबों का क्या होगा। यह ठीक है कि यहूदियों को एक राष्ट्रीय आवास की आवश्यकता थी लेकिन यह भी सही है कि फिलिस्तीन में सदियों से रहनेवाले अरब कहीं उड़कर आसमान में नहीं जा सकते थे। या शुरू से ही सारे इलाके को बाँटकर यहूदियों को एक अलग क्षेत्र दिया जाता और वहाँ से हटाये हुए अरबों को कहीं और मुआवजा देकर बसाया जाता या उनके लिए किसी और प्रदेश की व्यवस्था की जाती। फिलिस्तीन के मामले को जिस लापरवाही के साथ उलझाया गया उससे पश्चिमी एशिया में हमेशा के लिए झंझट का खड़ा होना अनिवार्य था।

FOOT NOTES

1. आजकल इसे पार्ती सोसियाल पोपुलेर कहते हैं। यह दल साम्यवाद और नासिरवाद दोनों का विरोधी है।
2. मैंडेट लागू होने से 1932 तक औसतन नौ हजार यहूदी प्रतिवर्ष फिलिस्तीन आते थे। 1933 में तीस हजार आये, 1934 में बयालीस हजार, 1935 में बासठ हजार। इनके अलावा हजारों चोरी से आये।

अध्याय 27

दो विश्वयुद्धों के बीच पूर्वी एशिया
(East Asia between the two World Wars)

पेरिस शान्ति-सम्मेलन और पूर्वी एशिया : जब 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा तो 1902 की आंग्ल-जापानी सन्धि की शर्तों के अनुसार जापान भी ब्रिटेन का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हो गया। 15 अगस्त, 1914 को जापान की सरकार ने जर्मनी को यह सलाह दी कि 'क्याऊ-चाऊ' से वह अपना सैनिक अड्डा हटा ले और शातुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं वे जापान को हस्तांतरित कर दिये जाएँ, ताकि वह उन्हें चीन की सरकार को वापस लौटा देने की व्यवस्था कर सके। यह था जापान का युद्ध अन्तिमेथम् जिसका जवाब जर्मनी से सात दिनों के भीतर ही माँगा गया था। जब 22 अगस्त तक जर्मनी की सरकार की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो अगले दिन 23 अगस्त को जापान ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी और क्याऊ-चाऊ पर आधिपत्य जमा लिया। इसके बाद जनवरी, 1915 में जापान ने चीन के सामने प्रसिद्ध इक्कीस मांगें पेश कीं। विवश होकर चीन ने जापान के अधिकांश मांगों को स्वीकार कर लिया। वास्तव में पूर्वी एशिया का रास्ता जापान के लि ए बिल्कुल साफ था, क्योंकि यूरोपीय राज्य युद्ध में बँधे हुए थे और इस अवसर से लाभ उठाकर जापान ने इस क्षेत्र में अपना प्रभाव खूब फैलाया।

14 अगस्त, 1917 को चीन ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध में चीन का प्रवेश जापान को एकदम पसन्द नहीं पड़ा; क्योंकि इससे युद्ध के बाद चीन को भी प्रादेशिक तथा अन्य फायदे प्राप्त हो सकते थे। चीन को युद्ध से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। उसे विश्वास था कि विल्सन के 'चौदह सूत्रों' के लागू होने से चीन को भी फायदा होगा तथा यूरोपीय राज्य अपने विशेषाधिकार का परित्याग कर देंगे और उससे स्वशासन का अधिकार प्राप्त हो जायगा। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में चीन ने अपनी मांगें पेश कीं। उसकी प्रमुख मांगें निम्नलिखित थीं - (1) शातुंग प्रदेश उसे लौटा दिया जाय; (2) चीन से विदेशी विशेषाधिकार तथा अन्य असमान सुविधाओं एवं सन्धियों का अन्त कर दिया जाय। पर, चीन के भाग्य में निराशा ही लिखी हुई थी। जहाँ तक शातुंग का प्रश्न था ब्रिटेन, फ्रांस और इटली पहले से ही इस प्रदेश को जापान को हस्तांतरित करने को वचनबद्ध थे। केवल राष्ट्रपति विल्सन ने ही इस मोल-तोल का विरोध किया। लेकिन जब जापानी प्रतिनिधिमंडल ने राष्ट्रसंघ का बहिष्कार करने की धमकी दी तो वे भी इस प्रश्न पर शान्त हो गये। शान्ति-सम्मेलन में चीन को कुछ न मिला। शातुंग पर जापान का अधिकार कायम रहा। चीनी की सरकार ने विरोध में शान्ति-सन्धियों पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया।

वाशिंगटन-सम्मेलन

सम्मेलन की पृष्ठभूमि : वर्साय-सन्धि के बाद पूर्वी एशिया के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के इतिहास में एक दूसरा अध्याय शुरू हुआ। 1894-95 के चीन-जापान युद्ध के समय जापान का जो साम्राज्यवादी जीवन प्रारम्भ हुआ था उसका प्रथम चरण बड़ी सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। जापान की साम्राज्यवादी भूख बहुत अंश तक

शान्त हो चुकी थी। पर वह साम्राज्यवाद के मीठे फल को एक बार चख चुका था। अब उसके लिए यह असम्भव था कि वह फिर इसको दुबारा चखने का प्रयास न करे। जापान का कहना था कि शान्ति-सम्मेलन में उसके साथ पूर्ण न्याय नहीं हुआ है। वह अपने को, जर्मनी और इटली की तरह 'अतृप्त' राज्यों की कोटि में रखता था। शान्ति-सम्मेलन में अमेरिका के दवाब के कारण जापान को अपनी अनेक मांगों का परित्याग करना पड़ा था। जापान के शासक यह अनुभव करने लगे कि संसार में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त ही प्रबल है। जबतक जापान अपनी सैन्यशक्ति नहीं बढ़ा लेता तबतक पश्चिम के महान राष्ट्र उसकी अवहेलना ही करते रहेंगे। जापान समझता था कि उसका सबसे कट्टर विरोधी संयुक्त राज्य अमेरिका है। अतएव अमेरिका से लोहा लेने के लिए वह आवश्यक तैयारी करने लगा।

पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति : संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान के सम्बन्ध निरन्तर खराब हो रहे थे, इसके कई कारण थे। इस क्षेत्र में जापान की शक्ति दिनों-दिन बढ़ रही थी जिसके कारण अमेरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। प्रथम विश्व-युद्ध में जापान पर नियन्त्रण रखनेवाली दो शक्तियाँ थीं—जर्मनी और रूस। लेकिन युद्ध के बाद इन दोनों शक्तियों का पतन हो गया। जर्मनी पस्त पड़ा था और रूस में क्रान्ति की धूम मची थी। इससे इस प्रदेश में जापान का प्रभाव बहुत बढ़ रहा था। वस्तुतः प्रथम विश्व-युद्ध के समय में ही जापान ने अपना प्रभाव बढ़ाने का काम शुरू कर दिया था। जब संसार के सभी देशों का ध्यान युद्ध-प्रयत्नों में लगा हुआ था, उसी समय जापान ने स्थिति से लाभ उठाकर चीन के समक्ष अपनी प्रसिद्ध 'इक्कीस मांगें' (Twenty One Demands) रखी थीं। इसका उद्देश्य चीन में जापान की स्थिति को सुरक्षित बनाना था। ये मांगें पाँच भागों में विभक्त थीं और चीन इनको पूरी तरह मान लेता तो उसकी स्थिति जापान के संरक्षित राज्य जैसी हो जाती। तो भी चीन को कई मांगों को विवश होकर स्वीकार करना पड़ा।

इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका पूर्वी एशिया में खुला दरवाजा की नीति का अनुसरण कर रहा था और 'इक्कीस मांगों' से इसका स्पष्ट खंडन हो रहा था। इसलिए अमेरिका ने इन मांगों का विरोध किया। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार के अमरीकी विदेश मन्त्री बिअन ने जापान को चेतावनी देते हुए कहा, "ऐसे किसी समझौते को स्वीकार नहीं कर सकता जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका के सन्धियों द्वारा प्राप्त अधिकारों का चीन की राजनीति अथवा प्रादेशिक अखंडता का तथा "खुला दरवाजा" की नीति का हनन होता हो"। कुछ दिनों तक जापान अमेरिका की चेतावनी को टालता रहा, लेकिन, 9 नवम्बर, 1917 को उसने एक समझौता कर लेना ही ठीक समझा। इस समझौते के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान की सरकारों ने यह स्वीकार किया कि "प्रादेशिक समीपता देशों में विशेष सम्बन्ध उत्पन्न कर देती है। अतएव संयुक्त राज्य अमेरिकी की सरकार यह स्वीकार करती है कि चीन में जापान के विशेष स्वार्थ हैं।" इस प्रकार अमेरिका ने चीन में जापान के विशेष स्वार्थ को मान मिला। जापान के लिए यह बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ।

फिर भी जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच मनमुटाव का अन्त नहीं हुआ। जापान चीन तथा प्रशान्त महासागर में जर्मनी के इलाकों तथा उपनिवेशों पर अधिकार करना चाहता था। अमेरिका इसके पक्ष में नहीं था।

याप द्वीप का झगड़ा : जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका का मतभेद पेरिस शान्ति सम्मेलन में उग्र रूप से प्रकट हुआ। मतभेद का एक कारण प्रशान्त महासागर में स्थित याप था। यह टापू पश्चिमी कौरवोलाइन द्वीप था। युद्ध के समय जापान ने इसे जर्मनी से छीन लिया था। इस छोटे से टापू का एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्व था। गुआम से मनीला जानेवाली तथा हिन्देशिया से शंघाई जानेवाली समुद्री तारों का यह केन्द्र था। अमेरिका नहीं चाहता था की टापू पर जापान का अधिकार कायम रहे। अतएव पेरिस शान्ति-सम्मेलन में राष्ट्रपति ने यह प्रस्ताव रखा कि याप द्वीप का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। लेकिन विल्सन का प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ और यह द्वीप जापान की संरक्षता में रख दिया गया। अमेरिका के लिए इस स्थिति को कबूल करना बड़ा कठिन सिद्ध हुआ। अतएव दोनों देशों के बीच तनाव बना रहा।

आंग्ल-जापान सन्धि : जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका में तनाव का एक और कारण आंग्ल- जापानी सन्धि थी। 1902 में यह सन्धि पूर्वी एशिया में रूस और जर्मनी के प्रसार को रोकने के उद्देश्य से की गयी थी। इसमें इंगलैंड ने जापान को आश्वासन दिया था कि यदि वह किसी देश से युद्ध में फँस जाय तो इंगलैंड उसकी सहायता करेगा। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अमेरिका को यह सन्धि एकदम पसन्द नहीं आ रही थी। उसको भय था कि यदि जापान और अमेरिका के बीच युद्ध छिड़ गया तो उसमें इंगलैंड संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध जापान की सहायता करेगा। 1920 में इस सन्धि का नवीनीकरण हुआ। अमेरिका ने आपत्ति की। इस पर अमरीकी सरकार को ब्रिटेन ने यह आश्वासन दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान के बीच लड़ाई होने पर सन्धि को लागू नहीं किया जायगा। लेकिन अमरीकी सरकार को इस पर विश्वास नहीं हुआ। अमेरिका को यह विश्वास था कि अब यह सन्धि उसके खिलाफ की जा रही है, क्योंकि युद्ध के बाद जर्मनी और रूस दोनों की शक्ति समाप्त हो चुकी थी। इंगलैंड पर भी तरह-तरह के दबाव डाले जा रहे थे कि वह इस सन्धि को रद्द कर दे। इस हालत में पूर्वी एशिया के लिए एक नयी व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की जा रही थी।

नौसैनिक होड़ : प्रशान्त महासागर पर प्रभुत्व कायम करने के मार्ग में जापान संयुक्त राज्य अमेरिका को अपना प्रबल विरोधी समझता था। अतएव यह अमेरिका का मुकाबला करने के लिए अपनी नाविक शक्ति में वृद्धि करना चाहता था। इसके लिए जापान में संगठित प्रयास होने लगा। जापान के इस प्रयास को देखकर अमेरिका के शासक घबड़ा गये। अतएव इस नौ-सैनिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने तथा पूर्वी एशिया की अन्य समस्याओं को हल करने के लिए वाशिंगटन में 11 अगस्त, 1921 को एक सम्मेलन बुलाया गया। अमरीकी राष्ट्रपति ह्वार्डिज ने इसके लिए ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान, चीन बेल्जियम, हालैंड और पुर्तगाल को निमंत्रित किया।

वाशिंगटन सम्मेलन : संसार की प्रमुख 9 शक्तियों का एक सम्मेलन वाशिंगटन में 12 नवम्बर 1921 से 6 फरवरी, 1922 तक हुआ। इस सम्मेलन में जो समझौते हुए उनको हम सात भागों में बाँट सकते हैं।

(1) नौसैनिक सन्धि : यह सन्धि ग्रेट ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, इटली तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच में हुई थी। इसको पंचशक्ति नौसैनिक सन्धि कहते हैं (The Five Power Naval Treaty)। इसका उद्देश्य नाविक होड़ का अन्त करना था और इसका विस्तृत अध्ययन हम पहले ही कर चुके हैं।

(2) पहली चतुर्राष्ट्र सन्धि : 13 दिसम्बर, 1921 को जापान, अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच एक सन्धि हुई। इसके द्वारा तय किया गया कि हस्ताक्षरकर्ता प्रशान्त महासागर में स्थित एक दूसरे के अधिकृत प्रदेशों में प्राप्त अधिकारों का परस्पर सम्मान करेंगे और यदि इन अधिकारों के सम्बन्ध में उनमें कोई मतभेद हो गया या अन्य किसी राज्य की आक्रमणात्मक कार्रवाई के कारण उन्हें किसी प्रकार का खतरा हुआ तो वे आपस में परामर्श करेंगे। सन्धि करनेवाले देशों को यह अधिकार होगा कि किसी महाशक्ति की आक्रामक कार्रवाई द्वारा उनके अधिकारों को क्षति पहुँचाने की सम्भावना हो तो वे एक-दूसरे से इस विषय में पूरा पत्र-व्यवहार कर सकते हैं। इस सन्धि का महत्व इस बात में था कि इसके फलस्वरूप 1902 को आंग्ल-जापानी सन्धि का अन्त हो गया। कहना न होगा कि यह सन्धि ब्रिटिश-डोमीनियन और अमेरिका में काफी बदनाम हो चुकी थी। कनाडा और ऑस्ट्रेलिया जैसे देश ब्रिटिश-सरकार पर बराबर इस सन्धि का अन्त करने के लिए दबाव डाल रहे थे, पर बिना कोई अन्य व्यवस्था किये ब्रिटिश-सरकार इस सन्धि का अन्त करना नहीं चाहती थी। वाशिंगटन-सम्मेलन से उत्पन्न इस सन्धि के द्वारा यह व्यवस्था हो गयी और अन्ततोगत्वा आंग्ल-जापानी सन्धि को 'शानदार तरीके से दफना' दिया गया। इस सन्धि के फलस्वरूप यूद्धोत्तर-काल में अमेरिका का पहली बार सामान्य हित के मामलों पर अन्य बड़े राष्ट्रों से कुछ बातों पर परामर्श करने तथा अपना सहयोग देने के लिए तैयार हो गया।

(3) प्रथम नवराष्ट्र-सन्धि : तीसरी सन्धि नवराष्ट्र-सन्धि (Nine-Power Treaty) कहलाती है और इसका सम्बन्ध चीन से था। सन्धि के अनुसार सम्मेलन में शामिल हुए सभी राष्ट्रों ने वादा किया कि वे चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखंडता का आदर करेंगे। इसके अतिरिक्त हस्ताक्षरकर्ताओं ने यह वचन भी दिया कि वे चीन की वर्तमान स्थिति से लाभ उठाकर उससे ऐसा कोई भी विशेषाधिकार या सुविधाएँ प्राप्त नहीं करेंगे, जिससे अन्य राज्यों के अधिकार में किसी प्रकार की कमी हो। यह सन्धि चीन के हितों की रक्षा करने के लिए नहीं, अपितु, जापान के प्रसार को रोकने के लिए की गयी थी। चीन में "खुले दरवाजे" की नीति को कायम रखा गया और पश्चिमी राज्यों के बहुत-से विशेषाधिकार कायम रहे।

अमेरिका में इस सन्धि को बहुत महत्व दिया गया। वे इसे "खुले दरवाजे" की नीति की विजय तथा 'चीन का मैग्नाकार्टा' मानते थे, किन्तु इस सन्धि में कई कमियाँ थीं। इसको क्रियान्वित करना मुख्य रूप से महाशक्तियों की सद्भावना पर छोड़ दिया गया था। इसके पालन कराने के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। **बस (BUSS)** ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि "यह सामूहिक सुरक्षा का समझौता नहीं था किन्तु महाशक्तियों द्वारा स्वयंमेव कुछ अधिकार छोड़ने की घोषणा मात्र थी।" **ग्रिसवोल्ड** के शब्दों में यह सन्धि सूदूरपूर्व के विरोधी स्वार्थों में वहीं तक शान्ति स्थापित रख सकती थी, जहाँ तक स्याही और कलम द्वारा शान्ति बनाये रखना सम्भव था।

(4) दूसरी नवराष्ट्र-सन्धि : वाशिंगटन-सम्मेलन में सम्मिलित नौ राष्ट्रों के बीच एक और सन्धि हुई जिसके द्वारा चीन को अपने देश में आनेवाली वस्तुओं पर कर लगाने के पहले से अधिकार दिये गये।

(5) षड्शक्ति सन्धि : ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, जापान, इटली तथा चीन के बीच एक सन्धि हुई। इसके द्वारा जर्मनी के समुद्री तारों को आपस में बाँटने का निश्चय किया गया।

(6) दूसरी चतुर्राष्ट्र सन्धि : इस सन्धि के द्वारा ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस तथा जापान से प्रशान्त महासागर में स्थित टापुओं में विभिन्न शक्तियों के अधिकारों के सम्मान और सुरक्षा का निश्चय किया गया।

(7) अमेरिका और जापान का समझौता : याप द्वीप के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान के बीच एक सन्धि हुई। पेरिस शान्ति-सम्मेलन द्वारा इस टापू पर जापान का संरक्षण स्वीकार किया गया था, लेकिन अमेरिका इस स्थिति को कबूल करने के लिए तैयार नहीं था। अतएव वांशिगटन-सम्मेलन में इन दोनों देशों के बीच एक सन्धि हुई जिसके द्वारा इस द्वीप समूह में अमेरिका को जापान के तुल्य समानाधिकार और स्वतन्त्र प्रवेश का अधिकार मिल गया।

चीन जापान समझौता : इन सन्धियों के अतिरिक्त वाशिंगटन-सम्मेलन के बाहर चीन और जापान के बीच एक दूसरी विशेष सन्धिं हुई जिसके द्वारा जापान ने शातुंग प्रदेश चीन को लौटा देने का वचन दिया। 1922 के दिसम्बर में यह प्रदेश चीन को वापस मिल गया। लेकिन जापान को चीन के कुछ रेल लाइनों (Tsian-Tsingtas Railway) पर पंद्रह वर्ष तक नियंत्रण रखने का अधिकार दिया गया।

वाशिंगटन-सम्मेलन के परिणाम

महत्व : पूर्वी एशिया के इतिहास में वाशिंगटन-सम्मेलन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इसका महत्व इस बात में है कि इसने इस क्षेत्र की विविध समस्याओं को हल करने के लिए एक निश्चित कदम उठाया। इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि पेरिस का शान्ति-सम्मेलन जिस समस्या को नहीं सुलझा सका उसको वाशिंगटन-सम्मेलन ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। उस सम्मेलन को यूरोपीय व्यवस्था स्थापित करने में अवश्य सफलता मिली, लेकिन पूर्वी एशिया की समस्या की ओर उसने विशेष ध्यान नहीं दिया। वाशिंगटन-सम्मेलन के मुख्य काम पूर्वी एशिया की समस्या का समाधान करना था। इसके दो उद्देश्य थे - (1) इंगलैंड, जापान,

अमेरिका के नौ-सैनिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना तथा (2) जापान की शक्ति पर अंकुश लगाना ताकि चीन की अखंडता बनी रहे तथा सभी देशों को चीन में व्यापार करने का समान अधिकार रहे। वाशिंगटन- सम्मेलन में जो संधियाँ हुईं उनसे दोनों उद्देश्य पूरे हो गये। नौ-सैनिक सन्धि ने पहले उद्देश्य को तथा चतुर्राष्ट्र सन्धि ने दूसरे उद्देश्य को पूरा किया। ई० एच० कार ने इस सम्मेलन के प्रभाव का विवेचन करते हुए लिखा है कि इससे प्रशान्त महासागर में चीन की प्रादेशिक अखण्डता को तथा भारत-अमेरिकी नौ-सैनिक प्रभुता को चुनौती देने वाला जापान का संकट दूर हो गया। जापान को बाध्य किया गया कि यह चीन की मुख्य भूमि में युद्ध के समय प्राप्त किये हुए लाभों का परित्याग कर दे तथा महाशक्तियों ने संयुक्त रूप से चीन की प्रादेशिक अखंडता तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाये रखने का समझौता किया। इससे चीन को अपनी स्थिति सम्हालने का एक अवसर प्राप्त हुआ। इस सम्मेलन के समझौते ने अस्त्र-शस्त्र पर होनेवाले विशाल व्यय में भारी बचत की। इसने आंग्ल-जापानी सन्धि को समाप्त कर इस क्षेत्र में राजनीतिक स्थिरता ला दी और तनाव को कम किया। इससे अगले दस वर्षों के लिए पूर्वी एशिया में शान्ति बनी रही।

वांशिगटन सम्मेलन के दोष : इन अच्छे परिणामों के अतिरिक्त वाशिंगटन की सन्धियों में कुछ दोष भी थे। इसकी सबसे बड़ी त्रुटि थी कि इसमें शस्त्रास्त्रों का नियंत्रण बहुत सीमित रूप से किया गया था। बड़े युद्धपोतों पर पाबन्दी तो लगा दी गयी लेकिन छोटे-छोटे जहाजों पर कोई नियंत्रण नहीं लगा।

इन सन्धियों के द्वारा चीन में राज्यों को समान अवसर प्राप्त हुआ। लेकिन इस बात में एक त्रुटि थी। इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने का कोई उपाय नहीं निकाला गया। पिछले सौ वर्षों में चीन के साथ इन राज्यों की कई संधियाँ की गयी थीं जिनके अनुसार उन्हें कई विशेषाधिकार मिले थे। इन विशेषाधिकारों को रद्द नहीं किया गया। चीन की प्रादेशिक अखंडता और राजनीतिक स्वतन्त्रता पर तो बहुत जोर अवश्य दिया गया, लेकिन इसका वास्तविक उद्देश्य जापान के प्रभाव के प्रसार को रोकना था। यदि ऐसा नहीं होता तो ये राज्य चीन में प्राप्त अपने विशेषाधिकारों का परित्याग अवश्य कर देते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अतएव चीन और जापान दोनों वाशिंगटन में स्थापित व्यवस्था से असन्तुष्ट थे।

इन समझौतों से जापान विशेष रूप से रुष्ट था। इस समय ज़ापान नौसैनिक प्रतिस्पर्धा से बचना चाहता था। इसीलिए उसने नौ-सेना पर लगाये गये प्रतिबन्ध को स्वीकार कर लिया। लेकिन जापान में ऐसे जंगखोरों की कमी नहीं थी जो इस सन्धि को अत्यन्त अपमानजनक तथा अन्यायपूर्ण मानते थे। फिलहाल जापान ने विवश होकर इन बातों को मान लिया, लेकिन उसने दिल से कभी इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। जापान के इस प्रबल रोष का भीषण विस्फोट बाद में मंचूरिया और पर्ल हार्बर में हुआ।

चीनी की राजनीति : वाशिंगटन-सम्मेलन के तुरन्त बाद चीन में भयानक गृह-युद्ध भड़क उठा। 1911 में सनयात सेन के नेतृत्व में जो चीन की क्रान्ति हुई थी उससे चीन का राष्ट्रीय हित नहीं हो सका था और वी-पी-कु के नेतृत्व में मध्य चीन एक दूसरा ही राज्य बन चुका था। शेष चीन में सनयात सेन की कोमिन्तांग-पार्टी की प्रधानता थी, जिसका केंद्र कैंटन था। कोमिन्तांग पार्टी ने सारे चीन को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया, पर उसको अनेक दिक्कतों का सामना करना पड़ा। पहली बात कि स्वयं चीनियों में राष्ट्रीय भावना का अभाव था। सैकड़ों वर्षों की परम्परा ने चीनी जनता को एक राष्ट्र के रूप में सोचने के बजाय कुटुम्ब और बस्ती के रूप में ही सोचना सिखाया। इसके अतिरिक्त विदेशी हस्तक्षेप का प्रश्न था। आर्थिक दृष्टि से चीन वस्तुतः विदेशी राज्यों का उपनिवेश था। इन विदेशी राज्यों का हित इसी बात में था कि चीन सदा के लिए असंगठित और आपसी कलह का शिकार बना रहे। चीनी राष्ट्रीय आन्दोलन और एकता को बढ़ाने के लिए डॉ० सेन ने विदेशी सहायता पाने की आवश्यकता महसूस की। अमेरिका और ब्रिटेन से उन्हें बड़ी आशाएँ थीं, मगर दोनों ने या और भी किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र ने उन्हें सहायता नहीं दी। चीन के शोषण में सबका स्वार्थ था। 1923 में डॉ० सेन सोवियत-संघ की तरफ मुड़े। सोवियत-संघ से सहायता मिलने की उन्हें

विशेष आशा थी। क्रान्ति के बाद सोवियत संघ ने अपने को साम्राज्यवाद-विरोधी घोषित किया था और चीन में अपने सारे अधिकार छोड़ दिये थे। सोवियत-संघ चीन को यथासम्भव सहायता देने के लिए भी उद्यत था। अतः 1923 में दोनों देशों के बीच समान स्तर पर एक सन्धि हुई और डॉ० सेन ने अपने यहाँ कुछ रूसी सलाहकारों को रख दिया। इसमें सबसे अधिक प्रसिद्ध बोरोडिन था। 1923 में वह कैंटन आया और रूसी कम्युनिस्ट-पार्टी के ढंग पर कोमिन्तांग पार्टी को ऐसे शक्तिशाली राष्ट्रीय आधार पर संगठित करना शुरू किया, जिससे वह सर्वसाधारण की पार्टी हो सके। कोमिन्तांग को एक राष्ट्रीय मोर्चा बनाने का प्रयत्न किया, जिसमें कम्युनिस्ट, गैर-कम्युनिस्ट सभी सम्मिलित होकर ऐसे जबरदस्त जन आन्दोलन का सूत्रपात कर सके जिससे जीन को साम्राज्यवादी और सामन्ती आधिपत्य से मुक्ति मिल जाय और उसका राजनीतिक एकीकरण हो जाय।

चीन के सम्मुख केवल राष्ट्रीय एकता का ही प्रश्न नहीं था, उसे विदेशी गुलामी से मुक्त होना था। उन्नीसवीं सदी से ही चीन में साम्राज्यवादियों को विशेष क्षेत्राधिकार प्राप्त था और सारा देश 'प्रभाव क्षेत्र' में बाँट लिया गया था। चीन की शिक्षित और तरूण पीढ़ी इन विशेष सुविधाओं का उग्र विरोध करती थी। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जर्मनी और रूस चीन में विशेष सुविधाओं से वंचित हो गये, तो अन्य 'असमान सन्धियों' को रद्द कराने का आन्दोलन और भी व्यापक रूप धारण करने लगा। मार्च, 1925 में सनयात सेन की मृत्यु हो गयी। पर, यह आन्दोलन तीव्र गति से बढ़ता ही गया। साम्राज्यवादी हस्तक्षेपों को रोकने के लिए मजदूरों और छात्रों के जबरदस्त प्रदर्शन हुए। जब कैंटन के मजदूरों पर विदेशी बस्ती में गोली चलायी गयी तो हांगकांग मजदूरों ने ऐसी हड़ताल की, जो मजूदर-हड़ताल के इतिहास में अभूतपूर्व थी। परन्तु यह बात यहीं तक सीमित नहीं रही। चीन के मामले में हस्तक्षेप करने की दिशा में ब्रिटेन सबसे आगे रहता था। 1925 में शंघाई की मिलों में एक हड़ताल हुई और इसमें एक हड़ताली मजदूर मार डाला गया। इसके विरुद्ध चीनी विद्यार्थियों ने एक विशाल साम्राज्यवाद-विरोधी प्रदर्शन किया। यह प्रदर्शन बिल्कुल शान्तिपूर्ण था, पर ब्रिटिश-पुलिस अफसर इस पर गोली बरसाने से बाज नहीं आये, जिसके फलस्वरूप बहुत से छात्र मारे गये। ब्रिटिश-पुलिस की इतनी कठोर कार्रवाई के लिए सम्भवतः कोई औचित्य नहीं था। इसके बाद भी ब्रिटिश-अधिकारियों ने ऐसा रूख अपनाया, जिससे साम्राज्यवाद-विरोधी उत्तेजना और भी बढ़ गयी। जून, 1935 में कैंटन की ब्रिटिश बस्ती में छात्रों की भीड़ पर मशीनगन चलायी गयी और अंग्रेज हत्यारों ने बावन व्यक्तियों को मार डाला। सारे चीन में क्रोध की लहर भड़क उठी। ब्रिटिश-विरोधी भावना इतनी तीव्र थी कि चीनियों ने ब्रिटिश माल बहिष्कार का आन्दोलन शुरू किया, जिसके फलस्वरूप कई महीनों तक हांगकांग का व्यापार बन्द हो गया और अंग्रेज पूंजीपतियों को काफी नुकसान उठाना पड़ा।

इतने बड़े पैमाने पर जन-जागृति को देखकर साम्राज्यवादी घबड़ा गये और उन्होंने राष्ट्रवादी चीन के साथ किसी प्रकार का समझौता कर लेना ही श्रेयस्कर समझा। चीन की राष्ट्रीय सरकार ने घोषणा की कि असमान सन्धियों की अवधि पूरी हो जाने के बाद चीन उसका अन्त कर देगा। इस स्थिति से बचने के लिए 1928 में अमेरिका ने चीन के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार उसने वचन दिया कि 1 जनवरी, 1929 से चीन को अपनी चुंगी निर्धारित करने का पूरा अधिकार रहेगा। इसके बाद ब्रिटेन, फ्रांस आदि ग्यारह देशों ने भी अमेरिका का अनुसरण करते हुए चुंगी निर्धारण करने के अधिकार का परित्याग कर दिया पर चीन में अभी विदेशियों के लिए विशेष सुविधा बनी हुई थी। सितंबर, 1928 में चीन के विदेश-मन्त्री ने विदेशी सरकारों को यह सूचित किया कि वे चीन में प्राप्त अपनी विशेष सुविधाओं का अन्त करने के लिए जल्द-से-जल्द कदम उठाएं। इटली, डेनमार्क, पुर्तगाल और बेल्जियम ने तो इन सुविधाओं का परित्याग कर दिया; लेकिन तथाकथित बड़े राष्ट्र अभी इसके लिए तैयार नहीं थे। इसका एक प्रमुख कारण स्वयं चीन का घरेलू कलह था। डॉ० सनयात सेन की मृत्यु के बाद कोमिन्तांग पार्टी का नेता च्यांग-काई-शेक हुआ। उसमें राष्ट्रीयता की भावना तो थी; पर वह पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली था और तुरन्त ही राष्ट्रीय प्रतिक्रान्ति

(counter revolution) का नेता हो गया। कोमिन्तांग-पार्टी वामपंथी और दक्षिण-पंथी दो दलों में बंट गयी। वामपंथी दल, जिसमें साम्यवादियों की प्रधानता थी, रूसी मित्रता का समर्थक था और चाहता था कि बोरोडिन के सहयोग से पार्टी की क्रान्तिकारी परम्पराएँ जारी रखी जायं। दक्षिण-पंथी च्यांग-काई-शेक था और इस दल पर ब्रिटेन का प्रभाव था। यह दल साम्राज्यवादियों से समझौता करके चीन की मुक्ति का पक्षपाती था। च्यांग को न तो साम्यवाद से कोई सहानुभूति थी और न रूसी सलाहकारों का चीन में रहना ही पसन्द था। साम्राज्यवादियों का समर्थन पाकर च्यांग का प्रभाव बढ़ने लगा और आसानी से उसने चीन की राज़सत्ता को हड़प लिया। बोरोडिन और अन्य रूसी सलाहकार मास्को वापस भेज दिए गये और चीनी कम्यूनिस्टों को जेल में ठूँस दिया गया। इसके बाद चीनी सामन्तवाद और विदेशी साम्राज्यवाद में गठबन्धन हो गया और कोमिन्तांग सरकार की अनुमति से ही अब चीन का शोषण होने लगा। चीन के उद्योगों को प्रोत्साहन न देकर च्यांग विदेशी उद्योगों को प्रोत्साहित करने लगा, जिसके फलस्वरूप देश के आर्थिक जीवन पर विदेशी साम्राज्यवाद ने अपना पूरा आधिपत्य जमा लिया। चीनी मजदूर और किसान की अवस्था दयनीय हो गयी और मध्यवर्ग लोगों का जीवन-स्तर दिनोंदिन गिरता गया। सम्पूर्ण चीन विदेशी शोषण का क्षेत्र बन गया।

ऐसी स्थिति में जाग्रत चीन में च्यांग के विरुद्ध विद्रोह होना अवश्यम्भावी था। विदेशियों के सम्मुख सामन्तवादी च्यांग ने आत्मसमर्पण कर दिया था। इसके विरुद्ध चीन में जन-आन्दोलन जड़ पकड़ने लगा। कम्युनिस्टों के नेतृत्व में च्यांग कई शेक शासन के विरुद्ध एक जबरदस्त जन-आन्दोलन शुरू हुआ, जो पीछे चलकर एक गृह-युद्ध के रूप में परिवर्तित हो गया। 1927 से 1936 तक चीन में यह गृह-युद्ध चलता रहा।

जापानी साम्राज्यवाद का पुनरोद्भव और मंचूरिया कांड

वर्तमान शताब्दी की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जापानी साम्राज्य शिथिल पड़ गया था। इसके अनेक कारण थे। 1921 के वाशिंगटन समझौते ने जापान के मनसूबों पर एक प्रकार से नियंत्रण लगा दिया था। संसार के अन्य प्रमुख राष्ट्रों के साथ जापान ने भी वचन दिया था कि वह चीन की स्वतन्त्रता और अखंडता पर कोई अतिक्रमण नहीं करेगा। युद्धोत्तर-काल में राष्ट्रसंघ की स्थापना हो चुकी थी और जापान इसका सदस्य था। इस स्थिति में दूसरे देश पर आक्रमण करना अब खतरे से खाली नहीं था। इसके अतिरिक्त स्वयं जापान की सरकार में इस समय उदारवादियों की प्रधानता थी, उग्रवादियों की नहीं, पर जापानी साम्राज्यवाद की यह शिथिलता क्षणिक थी। वस्तुतः जापानी साम्राज्यवाद के जीवन में यह 'ठहरो और स्थिति का अध्ययन करो' का काल था। बीसवीं शताब्दी की तृतीय दशाब्दी के अन्तिम वर्षों में जापान का यह 'अध्ययन' समाप्त हो गया और इसके बाद जापान साम्राज्यवाद का पुनरोद्भव एक नये जोश के साथ हुआ।

इस पुनरोद्भव का सबसे जबरदस्त कारण 1930 का विश्वव्यापी आर्थिक संकट था। जापान की आबादी में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। यह लगभग नौ लाख प्रतिवर्ष की भीषण गति से बढ़ रही थी। इस बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए जापान को जगह चाहिए थी। विदेशों में प्रवास इस समस्या का समाधान हो सकता था। अमेरिका और आस्ट्रेलिया महादेशों के प्रवास-नियमों के द्वारा जापानी अप्रवास को एकदम बन्द कर दिया था। कोई भी जापानी इन विदेशों के किसी भी महादेश में जाकर नहीं बस सकता था। व्यावहारिक दृष्टिकोण से जापानी लोग चीन में भी जाकर नहीं बस सकते थे; क्योंकि जापानियों की अपेक्षा चीनी मजदूरों का जीवन-स्तर निम्न था; वे कम मजदूरी पर काम कर सकते थे और इस प्रतिस्पर्धा में जापानी लोग टिक नहीं सकते थे। जापानी नेता कहा करते थे कि यदि मंचूरिया पर कब्जा हो जाय तो यह समस्या बहुत अंशों में हल की जा सकती है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी ज़ापान दिन-प्रतिदिन विदेशी आयात-निर्यात पर आश्रित होता जा रहा था। उसे प्रायः सभी महत्वपूर्ण कच्चे माल का आयात करना पड़ता था। इसलिए

विदेशी बाजार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जापान के लिए जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। जापानी माल का निर्यात सामान्यतया दो मुख्य दिशाओं में होता था। उसके कच्चे रेशम का बाजार अमेरिका और सूती कपड़े का बाजार चीन था। रेशम विलास की वस्तु है और अमेरिका में जब आर्थिक प्रलय शुरू हुआ तो किसी व्यक्ति के पास विलास की वस्तु खरीदने की क्षमता नहीं रह गयी। जापान के व्यापार पर इसका घातक प्रभाव पड़ा। दूसरी ओर चीन में बराबर जापानी विरोधी भावना बनी रहती थी जिसके कारण वहाँ बार-बार जापानी मालों का बहिष्कार-आन्दोलन होता रहता था। इसके अतिरिक्त आर्थिक संकट के कारण दुनिया का प्रत्येक राज्य आर्थिक क्षेत्र में संरक्षण-नीति का अनुसरण कर रहा था। इससे जापानी माल बिकने में दिक्कत हो रही थी। जापान अनुभव करता था कि उसका आर्थिक क्षेत्र बहुत ही सीमित है। अपने मालों को खपाने के लिए जापान विस्तृत आर्थिक क्षेत्र (larger economic area) की आवश्यकता महसूस करता था, जहाँ उसे आयात करों और संरक्षण नीति का डर न हो।

मंचूरिया का महत्व : इन परिस्थितियों में जापान के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह मंचूरिया के विस्तृत उपजाऊ प्रदेश पर अपना नियंत्रण कायम करे। वास्तव में इस क्षेत्र पर 1894 से ही जापान की आँखें गड़ी हुई थीं और उस समय से लेकर प्रथम विश्व-युद्ध तक जापान मंचूरिया में अपना पैर पूरी तरह जमा चुका था। मंचूरिया की रेलवे लाइनें जापान के ठेके में थीं और जापानियों ने करोड़ों रुपये लगाकर वहां अनेक कल-कारखानों का विकास किया था। 1915 की 'इक्कीस माँगों' के द्वारा मंचूरिया स्थित पट्टेवाले क्षेत्र और रेलवे पर जापान के कब्जे की अवधि बढ़ाकर 99 वर्ष तक कर दी गयी थी और जापानी लोगों को वहाँ जाकर बसने तथा कारोबार करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। चीन ने कभी भी इन शर्तों को दिल से नहीं माना और इनके विरुद्ध बराबर आपत्ति करता रहा। वाशिंगटन सम्मेलन में यह प्रश्न उठाया गया किन्तु, जापानियों ने मंचूरिया में प्राप्त अधिकारों का परित्याग करने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। मंचूरिया में जापानी लोगों को बसा कर आबादी की समस्या का हल किया जा सकता था। मंचूरिया का बाजार जापान के लिए सुरक्षित हो सकता था और यहाँ पर आयात-कर का झमेला भी नहीं उठ सकता था। इसके अतिरिक्त मंचूरिया में परमावश्यक कच्चे माल, लोहा, कोयला, तेल आदि बहुमूल्य खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे, जो जापानी उद्योग के लिए काफी महत्वपूर्ण थे। साम्यवादी रूस के उत्कर्ष से इसका सामरिक महत्व भी अधिक बढ़ गया था। इन कारणों के अतिरिक्त कम्युनिस्ट प्रचार और कोमिन्तांग का विरोध इस प्रकार की परिस्थिति का सृजन कर रहे थे, जिससे जापान मंचूरिया को अलग स्वतन्त्र राज्य के रूप में ही चाहता था।

इसके विपरीत राष्ट्रवादी चीन मंचूरिया को चीन में मिलाकर चीन की राजनीतिक एकता के एक अध्याय को समाप्त करना चाहता था। मई, 1917 में राष्ट्रवादी सेना उत्तर की ओर बढ़ी और कुछ ही दिनों में वह पीली नदी तक पहुँच गयी। अब जापान सरकार की आँखें खुलीं। मंचूरिया को राष्ट्रवादी चीन से बचाने के लिए उसने कुछ सैनिक टुकड़ियाँ शान्तुंग के इलाके में उतार दीं और कुछ महत्वपूर्ण स्थलों पर कब्जा कर लिया, ताकि राष्ट्रवादियों को आगे बढ़ने से रोका जा सके। सैनिक कार्रवाई कर लेने के बाद जापान ने मंचूरिया को चीन में शामिल करने के विरुद्ध कूटनीतिक विरोध प्रकट किया। जब मंचूरिया के तत्कालीन शासक चांगत्सोलीन ने अप्रैल, 1928 में राष्ट्रवादी सरकार से समझौता कर लेने का विचार प्रकट किया तब एक रहस्यपूर्ण बम के फटने से उसकी मृत्यु हो गयी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह बम दुर्घटना जापानी षडयन्त्र का ही परिणाम था। चांगत्सोलीन का पुत्र चोंग सुनेह लियांग पहले से ही राष्ट्रीय सरकार के साथ एकीकरण चाहता था। जब वह मंचूरिया की गद्दी पर बैठा तो 18 जुलाई, 1928 को जापानियों ने उसे चेतावनी दी कि मंचूरिया को चीन में मिला लेने से हमारे हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है, पर जापानी चेतावनी का कोई नतीजा नहीं निकला और दिसम्बर, 1918 के अन्त में मंचूरिया विधिवत चीन का एक अभिन्न अंग बन गया।

मंचूरिया-विजय की तैयारी : मंचूरिया में राजनीतिक परिवर्तन होने के परिणामस्वरुप जापान के सैनिक और असैनिक अधिकारियों में प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गयी। मंचूरिया पर कोमिन्तांग का झंडा फहराया गया और जापान के शासकगण चुपचाप देखते रह गये। इसको रोकने के लिए कोई सैनिक कार्रवाई नहीं की गयी। असैनिक राजनीतिक नेता भी मंचूरिया की परिवर्तित स्थिति का विरोध करते थे, किन्तु उनका तरीका उग्रवादी नहीं था। इसके विपरीत स्थल और जल सेना के उच्चाधिकारीगण मंचूरिया पर आक्रमण करके उसे चीन से छुड़ा लेना चाहते थे। सैनिक अफसरों में फासिज्म की भावना प्रबल थी और जैसा प्रायः होता है, उन्हें जापान के उद्योगपतियों और कुलीनों का समर्थन प्राप्त था। सैनिक अफसर जापान की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे। यह क्रम 1919 में शुरू हुआ और इसके बाद से सैनिक अफसरों ने असैनिक अधिकारियों पर अपनी इच्छाएँ थोपनी शुरू कीं। वे अपने इच्छानुसार मंत्रिमंडल बनाने और हटाने लगे। जो-जो राजनेता उसका विरोध करते उसकी सीधे हत्या कर दी जाती थी।[1] सैनिकों का कहना था कि चीन के विरुद्ध जबरदस्ती का उपाय अपनाया जाना चाहिए और उग्र विदेश-नीति का अवलम्बन करना चाहिए।[2] आर्थिक संकट के कारण निराश और चीनी बहिष्कारों की पुनरावृत्ति से सैनिकवादियों को जापानी जनता का समर्थन प्राप्त करने में देर नहीं लगी। सैनिकवाद का तारा तभी बुलंद रहता है जब तक दूसरे देशों के साथ युद्ध चलता रहे। इसलिए अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाये रखने के लिए जापानी सैनिक अफसर एक युद्ध करने की तैयारी करने लगे। चीन युद्ध के लिए एक अच्छा क्षेत्र था और मंचूरिया एक सर्वोत्तम बहाना भी। अगर जापान मंचूरिया पर आक्रमण कर देता है तो जापान की राजनीति में से सैनिक अधिकारियों की स्थिति सुरक्षित रहेगी। पश्चिम के राष्ट्रों की तरफ से मंचूरिया-विजय का विरोध हो सकता था। पर, सैनिक अफसरों ने अनुभव किया कि उनको यह कहकर आसानी से शान्त कर दिया जा सकता है कि जापान का अन्तिम उद्देश्य चीन नहीं; बल्कि सोवियत संघ है और चीन के विरुद्ध जो कार्रवाई हो रही है उसका असल ध्येय 'एशिया को साम्यवाद से बचाना' है। यह बात सुनकर पश्चिम के 'उदार' देश केवल प्रसन्न ही नहीं होंगे, अपितु जापान के 'पवित्र कार्य' में सहायता भी देंगे। जापानी सैनिकवादियों का यह तर्क पीछे चलकर सत्य भी सिद्ध हुआ।

जब मंचूरिया पर आक्रमण करने का निर्णय ले लिया गया तो उसके लिए तैयारी होने लगी। 17 अगस्त, 1921 को जापान में सैनिक विमानों से पर्चे गिराये गये, जिसमें कहा गया था कि सारा राष्ट्र मंचूरिया में जापानी सुविधाओं पर अतिक्रमण से उत्पन्न खतरों से सचेत रहे। चीन के अधिकारी इन तैयारियों के उद्देश्य को अच्छी तरह समझ रहे थे। वे लोग भी सतर्क हो गये और मुकडेन-स्थित चीनी सेना को संघर्ष से बचाने के लिए सतर्कता और धीरज रखने का आदेश दिया गया, पर 1931 की नाटकीय घटनाओं के लिए रास्ता तैयार हो चुका था। सितम्बर तक सैनिकवादियों ने पूर्णतया शासन पर कब्जा कायम कर लिया था। उधर सारा संसार आर्थिक प्रलय में डूबा हुआ था। सब अपने ही घर को सम्हालने में व्यस्त थे। जापान साम्राज्यवादियों को मंचूरिया पर आक्रमण करने के लिए इससे बढ़कर अच्छा मौका कौन मिल सकता था।

मंचूरिया काण्ड

18 सितम्बर, 1931 की रात को मुकडेन नामक स्थान में एक रहस्यमयी घटना घट गयी। मुकडेन में पंद्रह हजार जापानी सैनिक रहते थे। उक्त तिथि को एक जोर का विस्फोट हुआ और उसके बाद कुछ गोलियाँ चलीं। इस घटना के कुछ दिन पूर्व से ही जापानी सैनिक युद्ध का अभ्यास कर रहे थे जिसके क्रम में रायफल और मशीनगन की बहुत-सी गोलियाँ चलायी गयी थीं। अतः उक्त रात्रि की घटना ने लोगों का ध्यान खास तौर से आकृष्ट नहीं किया, पर सवेरे जब मुकडेन के निवासी जगे तो उन्होंने अपने को जापानी सैनिकों के कब्जे में पाया। जापानी सैनिक अधिकारियों द्वारा इस कार्रवाई का कारण यह बतलाया गया कि चीनी सेना की एक टुकड़ी उस रात मुख्य रेलवे लाइन को उड़ा देने का प्रयत्न कर रही थी, इस पर तुरन्त

ही जापानी रक्षक बुलाये गयें और चीनी सैनिकों के साथ छोटी-सी मुठभेड़ हो गयी। इसके बाद दस हजार चीनी सैनिकों को, जो अपने बैरकों में सो रहे थे, तितर-बितर करके निःशस्त्र कर दिया गया और समूचे क्षेत्र में जापानी सेना तैनात कर दी गयी। इतनी बड़ी घटना बिना किसी खास हो-हल्ला किए ही समाप्त हो गयी। मुकडेन शान्तिपूर्वक जापानियों के कब्जे में चला गया।

इसमें अब कोई शक नहीं रह गया कि मुकडेन की सारी घटनाएँ एक योजना-बद्ध घटना थी, जिसकी तैयारी जापानी सैनिकवादियों ने सोच-समझकर की थी। चार दिनों के भीतर ही मुकडेन के उत्तर में 290 मील के घेरे में स्थित सभी चीनी नगरों पर जापानियों ने कब्जा कर लिया। किन्तु जापान की साम्राज्यवादी भूख इतने से ही शान्त नहीं हुई। 'चीनी लुटेरों-से जापानी जान-माल की रक्षा' करने के नाम पर आधिपत्य का क्षेत्र और बढ़ा दिया गया। ये सब काम स्थायी जापानी सैनिक अधिकारियों के आदेश पर ही हो रहे थे। टोकियो सरकार सम्भवतः इससे बिल्कुल अनभिज्ञ थी। मुख्य जापानी सेनापति के आदेश पर प्रान्तीय चीनी सरकार, जिसका प्रधान सुए हलियांग था, खदेड़ दी गयी। नवम्बर के मध्य तक उत्तरी मंचूरिया का विशाल भू-भाग जापानियों के कब्जा में आ चुका था। इसके बाद जापानी सेना दक्षिण की ओर बढ़ी। 8 अक्टूबर को जापानी विमानों ने चीनचोप पर बम गिराये और 3 फरवरी, 1932 को उस पर कब्जा कर लिया। 4 जनवरी को जापानी चीन की महान् दीवार के संगम पर स्थित शानहाई क्वान में पहुँच गये और इस प्रकार सारे दक्षिणी मंचूरिया पर उनका पूर्ण आधिपत्य कायम हो गया।

चीन में मंचूरिया पर आक्रमण की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। जगह-जगह पर दंगे हुए और जापान बहिष्कार आन्दोलन जोर-शोर से चलाया गया। प्रत्येक स्थान में जापान-विरोधी राष्ट्रीय संघ की स्थापना हुई। जो लोग जापानियों के साथ सम्बन्ध रखते हुए पाये गये उनका केवल सामाजिक बहिष्कार ही नहीं हुआ, अपितु कैद, जुर्माना और कुछ मामलों में मौत की सजा भी दी गयी। इसके अतिरिक्त जापानी हस्तक्षेप के फलस्वरूप चीन में राजनीतिक एकता भी हो गयी।

मंचूरिया-कांड की प्रतिक्रिया सारे संसार में हुई। जापानी आक्रमण का समाचार सुनते ही सारा संसार स्तब्ध हो गया। जापानी-सरकार कह रही थी कि जापान चीन के प्रदेश को साम्राज्य में मिलाने का कोई विचार नहीं रखता है और चीनी लुटेरों से जापानियों की रक्षा करने के लिए ही सैनिक कार्रवाई की गयी है। जापान के प्रचारक गला फाड़-फाड़ कर कह रहे थे कि मंचूरिया में उनकी कार्रवाई युद्ध नहीं बल्कि एक 'पुलिस कार्रवाई' है। परन्तु सरकार के लोग इतने बेवकूफ नहीं थे। अधिकांश लोगों के लिए घटना उन सारे प्रयासों के लिए जो दुनिया के नेतागण शान्ति को सुरक्षित बनाने के लिए 1919 से ही करते आ रहे थे, एक जबरदस्त धक्का था। यह कांड केवल राष्ट्रसंघ के विधान का ही उल्लंघन नहीं था, अपितु इससे पेरिस पैक्ट और वाशिंगटन में की गयी नौ-राष्ट्रों की सन्धि का घोर अतिक्रमण होता था। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धान्त खतरे में था। किन्तु, कोई इस अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को रोकने के लिए सक्रिय रूप से तैयार नहीं था। चीन को अकेले ही इसका सामना करना था। वहाँ शुरू से ही उत्तेजना फैली हुई थी। 18 जनवरी को शंघाई में एक प्रतिशोधात्मक घटना हो गयी। उस दिन जापानी बौद्ध भिक्षुओं पर शंघाई के नागरिकों ने हमला कर दिया, जिनमें से एक की मृत्यु हो गयी। जापान के सैनिक अधिकारियों को चीन को सबक देने का एक अच्छा बहाना मिल गया। जापान से तुरन्त एक अन्तिमेत्थम् रवाना किया गया और 29 तारीख से जापान ने शंघाई में भी सैनिक कार्रवाई शुरू कर दी। एक बड़ी सेना शंघाई में उतारी गयी और बम वर्षा करके एक बड़ी सेना शंघाई में उतारी गयी और बम वर्षा करके नगर के एक भाग को बिल्कुल जला दिया गया। किन्तु जापान अभी स्थायी रूप से शंघाई पर आधिपत्य रखना नहीं चाहता था। ब्रिटेन की मध्यस्थता के कारण मई के महीने तक उसको अपनी सारी सेना शंघाई से वापस बुला लेनी पड़ी।

शंघाई से जो सेना हटायी गयी उसको जापान वापस न भेजकर जापानी आधिपत्य को मजबूत करने के लिए मंचूरिया भेज दिया गया। इसके साथ-ही-साथ जापानियों ने अपने अधीन मंचूरिया के लिए एक प्रान्तीय सरकार स्थापित करने की नीति भी अपना ली थी। 19 फरवरी, 1932 को यह निश्चित किया गया कि चीन के पदच्युत प्राचीन राजवंश के अन्तिम राजा पूयी के राष्ट्रपतित्व में 'मंचूकुओ' नाम का एक गणतन्त्र स्थापित किय जाय। 9 मार्च को वह राज्य स्थापित हुआ और सितम्बर में जापान में इसको एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में सरकारी तौर पर मान्यता दे दी। मंचूकुओ नाममात्र का एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य था। वस्तुतः यह पूर्ण रूप से जापानियों के हाथ की कठपुतली था। जापान को इतना कहने का मौका अवश्य मिल गया कि उसने मंचूरिया के लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार दे दिया है। पर; सारी दुनिया वास्तविकता को समझती थी।

राष्ट्रसंघ और मंचूरिया कांड : मंचूरिया पर आक्रमण होते ही.नानिकिंग-सरकार ने तुरन्त इसका विरोध किया और उसने तीन दिनों के बाद 21 सितम्बर, 1931 को राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार सारा चीन-जापान विवाद कौंसिल के सम्मुख रखा। राष्ट्रसंघ ने इस सम्बन्ध में क्या किया, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं।

जिस समय राष्ट्रसंघ-एसेम्बली अपने अधिवेशन में व्यस्त थी उस समय जापान चीन के एक दूसरे प्रदेश जिहोल पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। 25 फरवरी को जापानी सेना ने इस प्रदेश पर आधिपत्य जमा लिया। इसके बाद अप्रैल में जापानी सेना चीन की दीवार पार करके पेकिंग पर हमला करने की तैयारी करने लगी। चीन ने देखा की अकेले जापान का विरोध करना व्यर्थ है। फलस्वरूप 3 मई, को तांगकू में एक विराम सन्धि हो गयी। इसके अनुसार चीन की दीवार के पाँच हजार वर्गमील क्षेत्र को सैन्यविहीन कर दिया गया। जापानी साम्राज्यवाद का एक दूसरा परिच्छेद इस तरह समाप्त हो गया।

मंचूरिया काण्ड का महत्व : प्रोफेसर कार के शब्दों में मंचूरिया काण्ड प्रथम विश्व-युद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। वाशिंगटन-सम्मेलन द्वारा जिस सम्भावना को टालने की कोशिश की गयी थी, वह टली नहीं और प्रशान्त महासागर में शक्ति संघर्ष प्रारम्भ हो गया। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद पहली बार आक्रमणात्मक कार्रवाई का आश्रय लिया गया था और इसमें आक्रमणकारी को अपूर्व सफलता मिली। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि दुनिया के सब राष्ट्र मिल-जुलकर कार्य करते और जापान की कार्रवाइयों का विरोध करते तो जापान् कुचल दिया जा सकता था। लेकिन यूरोप के बड़े राष्ट्र ऐसा नहीं करना चाहते थे; क्योंकि उनमें यह अटूट विश्वास पैदा हो गया था कि जापान का अन्तिम लक्ष्य सोवियत संघ है। इसके अतिरिक्त 1931-32 में यूरोप के राज्य मंचूरिया को लेकर एक दूसरा विश्व-युद्ध आरम्भ करना नहीं चाहते थे। प्रथम विश्व-युद्ध की याद अभी बिल्कुल ताजा थी और उसको ध्यान में रखकर कोई देश दूसरा युद्ध मोल लेने के लिए तैयार नहीं था। फिर चीन एक एशियाई देश था और यदि उसपर आक्रमण हो ही रहा था; तो बुरा क्या हुआ। पश्चिमी देश बदनीयती के कारण यह भूल गये कि जापानी आक्रमण एक रोग का लक्षण है जो यूरोप में भी फैल सकता है। ये जापान के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी करने को भी तैयार नहीं थे। इसका कारण यह था कि उस समय सारा संसार आर्थिक संकट के चंगुल में फँसा हुआ था और इस तरह की नाकेबन्दी का अर्थ उस संकट को और तीव्र बनाना था। इन चार प्रमुख कारणों से जापान को कोई दण्ड नहीं दिया गया। उसके सारे अपराध माफ कर दिये गये। परन्तु, इसका दूरगामी परिणाम अत्यन्त भयंकर हुआ। एक अपराधी को क्षमा करने का अर्थ दूसरे अपराधी को प्रोत्साहित करना होता है और अन्तोगत्वा इसका परिणाम भी यही हुआ। मंचूरिया काण्ड ने घटनाओं की उस शृंखला का सूत्रपात किया, जिसके परिणामस्वरुप द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। इथोपिया-कांड, चेकोस्लोवाकिया-कांड, पोलिश-कांड आदि सभी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को मंचूरिया काण्ड से प्रेरणा मिली थी।

चीन-जापान-युद्ध

'साम्यवाद का खतरा' : मई, 1936 में चीन और जापान के बीच तांगकू में विराम सन्धि हुई थी। इसके बाद कुछ दिनों के लिए दोनों देशों के बीच लड़ाई बन्द रही। किन्तु जापान केवल मंचूरिया पर कब्जा करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। मंचूरिया-कांड के अवसर पर राष्ट्रसंघ इसके विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता था। जापान भली-भांति समझ गया था कि राष्ट्रसंघ उसके मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। चीन का विशाल भू-भाग उसके सामने था। वह इन भू-भागों को हड़पकर साम्राज्यवाद की अपनी भूख को निर्विरोध शान्त कर सकता था। चीन की आन्तरिक दशा ऐसी दयनीय हो गयी थी कि जापान उससे आसानी से नाजायज फायदा उठा सकता था। इस समय चीन के राजनीतिक नभमंडल में च्यांग-काई-शेक का सितारा बुलन्द था। वह जापानियों के साथ मेल-जोल कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना चाहता था। उधर जापान च्यांग की इस कमजोरी को समझता था और आये दिन नयी-नयी मांगें रखता जाता था। चीन में च्यांग की इस नीति का विरोध होने लगा। यद्यपि चीन की साम्यवादी पार्टी अवैध घोषित थी और उसके साथ केन्द्रीय सरकार का युद्ध चल रहा था, तो भी बहुत से लोग लाल झण्डे के नीचे इकट्ठे होने लगे। जापान के विरुद्ध चीन में प्रतिरोध की भावना बढ़ने लगी। जापान-विरोधी तत्वों का नेतृत्व चीनी कम्युनिस्ट पार्टी करती थी। उसका कहना था कि गृह-युद्ध का अन्त करके जापानियों के विरुद्ध एक संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा का निर्माण किया जाय। किन्तु च्यांग-काइ-शेक कम्युनिस्टों से किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं था। वह जापान से बढ़कर कम्युनिस्ट को अपना शत्रु समझता था। उसका कहना था कि 'जापानी चर्म रोग है और कम्युनिस्ट हृदय-रोग'। एक से छुटकारा मिल सकता है, लेकिन दूसरे से नहीं।" वह जापानियों के सामने आत्मसमर्पण करने को तैयार था। लेकिन राष्ट्रीय मुक्ति के लिए साम्यवादियों से समझौता करने को तैयार नहीं था। वह जापानी आक्रमण को बिल्कुल भूल गया। उसको यह बात याद ही नहीं रही कि चीन के एक भू- भाग पर जापानियों का कब्जा है और वहाँ से उनको हटाना उसका पुनीत राष्ट्रीय कर्तव्य है। इसके विपरीत वह अपनी सारी शक्ति साम्यवादियों के विरुद्ध लगा रहा था। सारा चीन एक विचित्र कुचक्र में फँस गया था। जापानी कहते थे कि चीन पर आक्रमण साम्यवाद के विरुद्ध की गयी कार्रवाई की दिशा में प्रथम कदम है। पश्चिम के साम्राज्यवादी राष्ट्र जापान के इस अपराध को इसीलिए क्षमा करते जा रहे थे कि जापान की ऐसी कार्रवाई से अन्ततोगत्वा साम्यवादियों को क्षति पहुँचेगी। च्यांग-काई-शेक भी साम्यवादी विरोधी भावना से प्रेरित हो रहा था। साम्यवाद के विरोध के नाम पर समूचे चीन का बलिदान किया जा रहा था।

'एशिया एशियाईयों का' : उधर जापान चीन पर दूसरी चढ़ाई करने की पृष्ठभूमि तैयार करने में व्यस्त था। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार आवश्यक था। वह पराधीन एशिया के पश्चिम-विरोधी भावनाओं को भड़काकर एशिया के लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने की चाल चलने लगा। जापान ने एशिया 'एशियाइयों के लिए' का नारा बुलन्द करके तथाकथित 'एशियाई-मुनरो सिद्धान्त' को प्रतिपादित किया। जिस प्रकार 1823 में राष्ट्रपति मुनरो ने यह घोषणा की थी कि यूरोप के राज्यों की अमरीकी महादेशों की राजनीति में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है उसी प्रकार ज़ापान ने भी यह घोषणा की कि एशिया की राजनीति से यूरोपीय हस्तक्षेप समाप्त हो जाना चाहिए। लेकिन, 'एशियाई-मुनरो-सिद्धान्त' का लक्ष्य भी वही था जो मूल मुनरो-सिद्धान्त का था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने मुनरो सिद्धान्त का प्रयोग लैटिन-अमेरिका के देशों पर अपना साम्राज्यवाद लादने के लिए किया था। 'जापानी-मुनरो-सिद्धान्त' का भी यही लक्ष्य था। पश्चिम के विरुद्ध एशियाई भावनाओं को भड़काकर जापान पश्चिमी साम्राज्यवाद को उखाड़ कर एशिया में अपना साम्राज्यवाद लादना चाहता था। इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार कर और जापानी जनता पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाल लेने के बाद जापानी शासक उस युद्ध की तैयारी करने लगे, जो द्वितीय विश्व-युद्ध का भाग बनने वाला था।

चीनी राष्ट्रीयता : जब कोई देश लड़ाई छेड़ने के लिए तुला हुआ हो, तो उसके लिए कारण ढूँढ़ निकालना कोई कठिन काम नहीं होता। जापान चीन के विरुद्ध जल्द-से-जल्द युद्ध आरम्भ करना चाहता था; क्योंकि चीन की राजनीतिक परिस्थिति में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा था। 1936 में उत्तर-पश्चिम में कम्युनिस्टों को

सर्वनाश करने के लिए च्यांग-काई-शेक स्वयं एक सेना लेकर उस प्रदेश में गया। वहाँ कम्युनिस्टों ने च्यांग के सेनापतियों की सहायता से ही उसे (च्यांग) नियान नामक स्थान पर कैद कर लिया। कम्युनिस्टों ने वादा किया की वे च्यांग को अपने नेता मानकर जापान के विरुद्ध लड़ने को तैयार हैं। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि गृह-युद्ध बन्द करके जापानियों के विरुद्ध च्यांग के नेतृत्व में एक संयुक्त मोर्चा कायम किया जाय। च्यांग-काई-शेक इस प्रस्ताव को मानने के लिये तैयार नहीं था। जापान सारे चीन को हड़प जाय; लेकिन वह कम्युनिस्टों के साथ किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं हो सकता था। कई दिनों तक कम्युनिस्ट नेता च्यांग को समझाते-बुझाते रहे। अन्त में वे उसको प्रभावित करने में सफल हो गए। च्यांग- काई-शेक इस बात पर राजी हो गया कि उनके साथ मिलकर वह जापान से युद्ध करे। कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यवाही पर से रोक हटा दी गयी। गृह-युद्ध बन्द हो गया। राजनीतिक कैदी रिहा कर दिये गये। प्रेस और सभाओं पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गये। कोमिन्तांग शासन में जनता को पहली बार राजनीतिक स्वतन्त्रता मिली। देश में एक नये जीवन का संचार हुआ। जापान के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना बलवती हो गयी। सारा चीन राष्ट्रीय मुक्ति की भावना से ओत-प्रोत हो गया।

चीन-जापन युद्ध : जिस घटना के फलस्वरूप चीन-जापान का दूसरा युद्ध शुरू हुआ, वह लूकाओचियाओ की घटना थी। सामरिक दृष्टिकोण से वह स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण था और जापान इस स्थान पर अपना अधिकार जमाना चाहता था। इस क्षेत्र में चीनियों को उत्तेजित करने के लिए जापानी सेनां बराबर युद्धाभ्यास किया करती थी किन्तु, चीन सरकार की ओर से चीनी सैनिकों को सख्त हिदायत थी कि वे कोई ऐसा उत्तेजनापूर्ण काम नहीं करे, जिससे स्थिति खराब हो। एक दिन जापानियों ने एक लापता आदमी को खोजने के लिए लूकाओचियाओ के पास वाम्पिंग में घुसने की इजाजत माँगी। इजाजत मिलने में कुछ देर हो गयी और एकाएक जापानी सेना ने उस स्थल पर आक्रमण कर दिया। चीनी सैनिकों ने इसका विरोध किया और इस प्रकार 8 जुलाई, 1937 को चीन और जापान के बीच युद्ध का दूसरा चरण प्रारम्भ हो गया। स्टालिन ने एक बार कहा था कि "आधुनिक युग में युद्ध घोषित नहीं किये जाते, वे केवल शुरू कर दिये जाते हैं।" उसके इस कथन को जापान की इस कार्यवाही ने अक्षरशः सत्य साबित कर दिया। जापान की तरफ से युद्ध की सरकारी घोषणा नहीं की गयी, पर व्यवहारतः युद्ध शुरू हो गया।

द्वितीयतः, चीन-जापान युद्ध का विस्तारपूर्वक उल्लेख कोई आवश्यक नहीं है, क्योंकि चीनी सेना जापान का मुकाबला नहीं कर सकती थी। जापानी सेना आगे बढ़ती गयी और 1937 के अन्त होने के पहले ही नानकिंग पर जापान का अधिकार हो गया और सारा पूर्वी चीन ज़ापान के कब्जे में चला गया। चीन दो भागों में बँट गया। स्वतन्त्र चीन और जापान द्वारा अधिकृत क्षेत्र। चीन ने एक बार फिर राष्ट्रसंघ में अपील की, पर इस समय तक राष्ट्रसंघ एक बिल्कुल शक्तिहीन संस्था हो चुकी थी। एसेम्बली ने एक प्रस्ताव पास करके जापान की कार्रवाइयों की निन्दा की। किन्तु, प्रस्ताव मात्र से चीन की रक्षा होनेवाली नहीं थी। जापान ने चीन के विरुद्ध युद्ध जारी रखा। उसकी सेना निरन्तर आगे बढ़ती गयी। चीनियों ने गुरिल्ला-युद्ध के तरीकों का अवलम्बन किया और युद्ध जारी रखा। जापान के विरुद्ध चीन का संघर्ष जारी रहा और जब 1939 में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया तो यह संघर्ष उस विश्वव्यापी युद्ध का ही एक अंग बन गया जिसका अन्त 1945 में हुआ। यूरोप के किसी बड़े राष्ट्र ने चीन की कोई मदद नहीं की, उल्टे ब्रिटिश सरकार ने बर्मा-चीन सड़क को, जिससे चीन को कुछ सहायता पहुँच जाती थी, बन्द कर दिया।

FOOT NOTES

1. उदाहरण के लिए, 14 नवम्बर, 1930 को प्रधानमंत्री हेमागुशी उसके बाद प्रधानमंत्री इनकाई 26 फरवरी, 1936 को वित्तमंत्री ताकाहाशी राजमोहर की रक्षक सैटो तथा जनरल बाटनोव की हत्या कर दी गयी।
2. *Schuman, International politics*, 5th Ed. pp., 443-444.

अध्याय 28

जर्मनी में नात्सी क्रान्ति

(Nazi Revolution in Germany)

जर्मनी का पुनरोद्भव : 1871 में अपनी राजनीतिक एकीकरण के बाद से जर्मनी यूरोपीय राजनीति की सबसे गम्भीर समस्या रहा है। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व एक महान् शक्तिशाली राज्य के रूप में जर्मनी का प्रादुर्भाव यूरोपीय कूटनीति का केन्द्र-बिन्दु बना रहा। युद्ध की समाप्ति के बाद भी विश्व की राजनीति मुख्यत: जर्मनी के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटती रही। युद्धोत्तर विश्व की अधिकांश समस्याएँ जर्मनी से ही सम्बन्धित थीं। लेकिन दो विश्व-युद्ध के बीच के काल (1933) में जर्मनी के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सनसनीपूर्ण घटना नात्सी पार्टी का उत्थान और हिटलर का उत्कर्ष थी जिसने समस्त संसार को, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रेक्षकों को महान् आश्चर्य में डाल दिया।

वर्साय-सन्धि द्वारा जर्मनी को पूर्णतया कुचल दिया गया था जिससे वह निकट भविष्य में एक शक्तिशाली राष्ट्र नहीं बन सके, पर प्रारम्भ से ही प्रत्येक व्यक्ति इस बात को मानते थे कि जर्मनी से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह वर्साय की सन्धि की शर्तों को बराबर मानता रहेगा। जर्मन-जाति एक स्वाभिमानी जाति है और अधिक दिनों तक अपने देश का पतन नहीं देख सकती है। वर्साय सन्धि पर हस्ताक्षर होने के तुरन्त ही बाद जिस तरह इस सन्धि का विरोध हुआ, वह इस बात का द्योतक था कि जर्मनी ने स्वेच्छा से कभी इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया है और जैसे ही अनुकूल परिस्थिति में उसको पहला मौका मिलेगा वैसे ही वह इसको अस्वीकार कर देगा। अतएव जर्मनी का पुनरोत्थान अवश्यम्भावी था। परन्तु, 1928-29 में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति था जो यह कल्पना कर सके कि वह उत्थान हिटलर के नेतृत्व और राष्ट्रीय समाजवाद की देख-रेख में होगा। प्रोफेसर टायनवी—जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञ भी इस भावी घटना का अनुमान नहीं कर सके और उनकी भविष्यवाणी गलत हो गयी। इस वर्ष दिसम्बर के महीने में उन्होंने यह राय प्रगट की थी कि "यह बात स्पष्ट है कि नात्सी पतन की ओर है।" प्रोफेसर टॉयनवी के इस गलत अनुमान का एकमात्र कारण यह था क़ि उस समय तक नात्सी पार्टी और हिटलर जर्मनी राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सके थे और उनके उत्थान की कल्पना की ही नहीं जा सकती थी। यहाँ तक कि हिटलर के प्रधानमंत्री बनने के कुछ ही दिन पूर्व हिडण्नवर्ग ने जार्ज स्ट्रासेर को यह आश्वासन दिया था कि "मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि वह वेहेमियन सिपाही (हिटलर) कभी जर्मनी का चांसलर नहीं बन सकता है। मैं उसे एक पोस्टमास्टर बना दूँगा।" फिर भी जनवरी, 1933 में जर्मनी में नात्सी क्रान्ति सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई और हिटलर एक पोस्टमास्टर बनने के बदले जर्मन रीह का प्रधानमंत्री बन गया। इस घटना को आकस्मिक और आश्चर्यपूर्ण कहने का यही कारण है। यह कोई असाधारण घटना नहीं थी और इसका महत्व केवल जर्मनी के लिए ही नहीं था। हिटलर का उत्कर्ष एक ऐसी साधारण घटना थी जिसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में परिवर्तन अवश्यम्भावी बना दिया। इस घटना का महत्व बतलाते हुए प्रो० शूमां ने लिखा है—जिस प्रकार

1918 के पूर्व की पाँच शताब्दियों में यूरोप तथा विश्व की राजनीति कैसर द्वितीय के जर्मन साम्राज्य के चारों ओर घूमती थी उसी प्रकार 1931 में हिटलर के बाद वह तृतीय जर्मन साम्राज्य के चारों ओर परिभ्रमण करती रही।"

नात्सी क्रान्ति के कारण

वर्साय की सन्धि : वर्साय सन्धि को नात्सियों के उत्थान का प्रमुख कारण बतलाया जाता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद प्रत्येक दृष्टिकोण से जर्मनी की स्थिति इतनी दयनीय हो गई थी कि सारा देश निराश हो गया था। जर्मन लोगों के होठों पर मुस्कान नहीं थी, उनकी आँखों में आँसू थे। युद्ध में पूर्ण उत्साह के साथ शामिल हुए थे और जमकर उन्होंने शत्रु का मुकाबला किया था। पर, अन्त में उनकी हार हो गयी और उनपर एक कठोर सन्धि लाद दी गयी जिसका ध्येय सदा के लिए जर्मनी को कुचल देना था। वर्साय-सन्धि के फलस्वरूप जर्मनी को तरह-तरह की यातनायें भोगनी पड़ीं - राष्ट्रीय अपमान सहना पड़ा। ऐसी स्थिति में यदि सम्पूर्ण जर्मनी में निराशा का राज्य रहा हो तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। जर्मनी की इस निराशापूर्ण स्थिति की झलक हमें जर्मनी के दार्शनिक इतिहासकार **ओस्वाल्ड स्पेन्गलर** की प्रसिद्ध पुस्तक **'पश्चिम का पतन'** (Decline of the West) में मिलती है। इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने पश्चिमी सभ्यता के पूर्ण विनाश की भविष्यवाणी की थी। जर्मनी के प्रायः सभी लोग पहले से ही निरुत्साह थे। स्पेन्गलर की पुस्तक ने उन्हें और भी निरुत्साह बना दिया और उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि जर्मनी के लिए अपनी वर्तमान स्थिति से निकलना असम्भव है।

पर यह निराशा पुराने लोगों तक ही सीमित थी। जर्मनी का युवक वर्ग राष्ट्रीय संकट से पूर्णरूपेण भिज्ञ होते हुए अपनी पितृभूमि के पुनरोद्भव के लिए व्याकुल थे। वे अनुभव करते थे कि जर्मनी के दुखों का एकमात्र कारण वर्साय की सन्धि है जिससे जर्मन राष्ट्र का घोर अपमान और उसके साथ महान् अन्याय हुआ था। वर्साय-सन्धि जर्मनी के माथे पर काले धब्बे के समान थी। जर्मन लोग अपने गौरव को पुनः प्राप्त करना चाहते थे और वे एक नेता की खोज में थे, जो देश के अपमान को धोकर उसके राष्ट्रीय गौरव का पुनरोत्थान कर सके। हिटलर के व्यक्तित्व में उसको एक ऐसा व्यक्ति मिल गया जो उनका 'फ्यूरर' (further Prinzip) बन सकता था। हिटलर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह एक बहुत बड़ा प्रभावशाली वक्ता था। उसकी वाणी में जादू थी और भावुक जर्मन की सत्ता पर अधिकार जमा लिया, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। आवेश में गरज कर जब वह कहता था कि हमें वर्साय-सन्धि का अन्त करना है, सारी जर्मन जाति को एक सूत्र में बाँधकर विशाल जर्मन-राष्ट्र का निर्माण करना है तो भावुक जर्मन श्रोता खुशी से पागल हो जाती थे। जर्मनी के युवक समझते थे कि जर्मनी का पुनरोद्धार फ्यूरर और उसकी नात्सी-पार्टी ही कर सकती है। वर्साय सन्धि की खिल्ली उड़ाना हिटलर के भाषणों का प्रमुख लक्ष्य होता था। अगर हम प्रोफेसर लिप्सन के तर्कों पर विचार करें तो इस बात में कि वर्साय-सन्धि के विरोध के कारण हिटलर सत्तारूढ़ हुआ, कोई सार नहीं दिखलाई पड़ता। इसका कारण यह है कि स्ट्रेस्मैन के शासनकाल में जर्मनी की स्थिति बहुत अच्छी हो गयी थी। राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करके जर्मनी राष्ट्रों के परिवार में समानता के स्तर पर आ चुका था, उसकी भूमि पर से विदेशी सेना हट चुकी थी, अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध में अन्य राज्यों के साथ उसकी समानता का दावा स्वीकार हो चुका था और क्षतिपूर्ति का दायित्व भी प्रायः समाप्त हो चुका था। जिस समय हिटलर का उत्थान हुआ उस समय तक जर्मनी अपनी बेड़ी के अन्तिम कड़ियों को काट चुका था। ऐसी हालत में वर्साय-सन्धि को हिटलर के उत्थान का कारण बताना ठीक प्रतीक नहीं होता, पर यह मानना ही होगा कि किसी एक व्यक्ति की स्मरण-शक्ति कमजोर हो सकती है, सम्पूर्ण राष्ट्र की नहीं। जर्मन जनता की अनेक माँगें तो पूरी हो गयीं, लेकिन वह अपनी पराजय, अपमान और वर्साय के अन्याय को ठीक उसी तरह नहीं भुला सका, जिस प्रकार फ्रांस अपने 1871 के अपमान को नहीं भुला सका था। उसके हृदय में क्रोध की अग्नि धधकती रहती थी और हिटलर जब भाषण देने लगता

था तो उन्हें कुछ शान्ति मिलती थी और साथ-ही-साथ प्रतिशोध की भावना भी तीव्र हो उठती। हिटलर ने अपनी पुस्तक **'मीन कैम्फ'** में लिखा था—'वर्साय-सन्धि का उपयोग किया जा सकता है ? इसकी प्रत्येक बात को जर्मन जाति के दिमाग और दिल में उस तरह भर दिया जा सकता है कि अन्ततः छः करोड़ नर-नारियों के दिल में घृणा उत्पन्न हो जाय। इसका परिणाम यह होगा कि सबके मुख से एक आवाज निकलेगी - "हम हथियार लेंगे।"

जातीय परम्परा : हिटलर के उत्थान का दूसरा कारण स्वयं जर्मन जाति की परम्परा थी। जर्मन जनता में सैनिक मनोवृत्ति स्वाभाविक रूप से विद्यमान होती है। यह हमेशा अनुशासन तथा एक वीर नायक के अनुकरण करने के लिए तैयार रहती थी। जैसा कि प्रोफेसर शूमां का कहना है जर्मनी का इतिहास एक राष्ट्रीय नेता की देख-रेख में ही समाप्त हुआ। वे नायक हर्मन, होहेनस्टोफेन, हुप्सवर्ग, होहेनजोर्लन और हिटलर थे। जर्मन जनता ने हिटलर को भी एक राष्ट्रीय नायक के रूप में देखा और स्वीकार किया। दूसरे, जर्मन-जनता में प्रजातान्त्रिक भावनाओं का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में जो वेमर रिपब्लिक कायम की गयी, वह इसलिए नहीं कि जर्मन जनता को गणतन्त्र में विश्वास था। सभी लोग उस समय सोचते थे कि यदि जर्मनी ने गणतन्त्र के सिद्धान्त को अपना लिया तो उससे राष्ट्रपति विल्सन की सहानुभूति प्राप्त हो जायगी। अतः हिटलर के अधिनायकत्व को स्वीकार कर लेना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं था। हिटलर ने जर्मन जनता के सामने कोई नया कार्यक्रम या राजनीतिक दर्शन नहीं रखा। उसने वही कहा जो हिगल, कान्ट, नोवेलिस, फ्रेड्रिक, बिस्मार्क, कैसर इत्यादि कह चुके थे। सच तो यह है कि नात्सी विचारधारा सम्पूर्ण जर्मन विचारधारा की निचोड़ है और इसलिए जर्मन जनता इसको स्वीकार करने के लिए तैयार थी।

आर्थिक संकट : इतना होने पर भी नात्सी-पार्टी को वैसी सफलता नहीं मिलती, यदि जर्मनी में आर्थिक संकट, जो वर्साय-सन्धि का ही एक परिणाम था, नहीं हुआ होता। वास्तव में, घोर आर्थिक संकट नात्सियों के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण था। जर्मनी में आर्थिक संकट सब जगहों में अधिक तीव्र था और जर्मन जनता जितनी तबाह थी उतना शायद किसी अन्य देश के निवासी नहीं। हिटलर कहता था कि जर्मन जनता की इस दुर्दशा का कारण वह सरकार है, जो साम्राज्यवादी देशों के सामने घुटने टेक चुकी है। इसके मूल में हिटलर ने जर्मनी के पूँजीपतियों और यहूदियों को दोषी ठहराया था। मध्यमवर्ग में विद्यमान पूंजीपति-विरोधी भावना को हिटलर ने बड़ी खूबी के साथ उभाड़ा और उनका सहयोग प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त 1930 में जर्मनी में लगभग पचास लाख व्यक्ति बेकार थे। वे सीधे हिटलर के अनुयायी होना ही पसन्द करते थे। उसी वर्ष नात्सी पार्टी की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई। यदि आर्थिक संकट नहीं आया होता तो नात्सियों को इतनी बड़ी सफलता नहीं मिलती। जर्मनी के मध्यमवर्ग तथा बेकार लोग कट्टर यहूदी-विरोधी थे; क्योंकि उनमें यह भावना घर कर गयी थी कि जर्मनी की पराजय यहूदियों के कारण ही हुई है। महायुद्ध के समय जर्मनी के बड़े-बड़े कल-कारखाने यहूदियों के हाथ में थे। बड़े-बड़े पूंजीपति यहूदी लोग ही थे। राज्य पर भी उनका प्रभाव कुछ कम नहीं था। सर्वसाधारण जर्मन जनता उन्हें शोषकवर्ग में शामिल करके उनके घृणा करती थी। हिटलर जनता की इस यहूदी विरोधी भावना से अच्छी तरह परिचित था और इसको उभाड़कर अपना काम निकालना चाहता था। उसने कहा कि इन यहूदियों को देश से निकाल देना चाहिए, ताकि जर्मन जाति अपने देश में समुचित आर्थिक स्थान प्राप्त कर सके। जर्मनी के आर्थिक संकट तथा अन्य संकट के मूल में यहूदी ही हैं और जितना जल्द उन्हें जर्मनी से निकाल दिया जाय उतना ही जर्मनी के हक में अच्छा होगा।

साम्यवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव : राजनीतिशास्त्र की परिभाषा देते हुए एक विद्वान ने कहा है कि यह कला है जिसके द्वारा कुशल राजनीतिज्ञ गरीबों से वोट और धनिकों से चुनाव जीतने के लिए पैसे इस वादा पर लेते हैं कि सत्तारूढ़ होने पर वे एक-दूसरे के विरुद्ध रक्षा करेंगे। हिटलर इस कला में निपुण था। पूंजीपतियों के विरुद्ध उसने साधारण जनता की भावनाओं का उभाड़ा। उनका वोट उसके लिए सुरक्षित थी,

पर चुनाव में विजय प्राप्त करने के लिए पूंजीपतियों के समर्थन की भी आवश्यकता थी। साम्यवाद के विरुद्ध उनकी भावना को उभाड़कर वह उनके समर्थन को आसानी से प्राप्त कर सकता था। इसलिए नात्सियों की सफलता का एक कारण जर्मनी में साम्यवाद का बढ़ता हुआ खतरा बतलाया जाता है। रूस में साम्यवाद की जो लहर प्रारम्भ हुई थी उसका प्रभाव जर्मनी पर भी पड़ रहा था और जर्मन साम्यवादी पार्टी दिन-प्रतिदिन तरक्की कर रही थी। 1930 के चुनाव में 89 साम्यवादी जर्मन संसद (रीहस्टॉग) में निर्वाचित हुए। अगले चुनाव में उसकी संख्या और भी बढ़ गयी। हिटलर जानता था कि साम्यवादी पार्टी उसके रास्ता का सबसे पड़ा रोड़ा है। किन्तु यह रोड़ा केवल पूँजीवादियों के समर्थन से ही नहीं हटाया जा सकता था; इसके लिए जनसाधारण का समर्थन भी आवश्यक था। हिटलर साम्यवाद के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की बातें करके जर्मन जनता के दिलों में डर बैठाता रहता था। वह उनसे कहा करता था कि साम्यवाद का अंतर्राष्ट्रीयता का सिद्धान्त जर्मन राष्ट्रीयता के लिए सबसे अधिक खतरनाक है। यदि नात्सी पार्टी का अभ्युदय नहीं हुआ तो साम्यवादियों की शक्ति बढ़ जायगी, वे राज्य पर अपना कब्जा जमा लेंगे और जर्मनी के सारे राष्ट्रीय मनसूबे धूल में मिल जाएँगे। इन बातों का प्रभाव जर्मनी की जनता पर काफी पड़ता था और झूठी राष्ट्रीयता के नाम पर वह नात्सी पार्टी का समर्थन करने को तैयार रहती थी।

संसदीय परम्परा का अभाव : जर्मन-जनता का संसदीय शासन-पद्धति से घोर असंतोष था। रीहस्टाग में पार्टियों की भरमार हो जाने से संसदीय मामलों में गतिरोध उत्पन्न होने लगा। यह स्थान व्यर्थ बकवाद, विलम्ब, राजनीतिक झगड़ों और षडयन्त्रों का अखाड़ा बन गया। बहुत-से लोगों को वे पुराने दिन याद आते थे जब रीहस्टाग में अनुशासन रहता था और व्यवस्थित ढंग से काम होता था। जनतान्त्रिक व्यवस्था में जब लोगों का विश्वास घट जाता है तो तानाशाही के लिए रास्ता साफ हो जाता है। जर्मनी के साथ भी यही बात हुई। उस समय तक इटली में फासिज्म का पूर्व विकास हो चुका था और फासिस्ट नेता मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली तेजी से साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा था। कहा गया कि जैसे इटली में फासिज्म की विजय हुई है वैसे ही जर्मनी में नात्सीवाद की विजय होगी और वही जनता को तरक्की के रास्ते पर ले जायगी। जर्मनी की जनता भी चाहती थी कि उनके सामने कोई एक कर्मठ व्यक्ति आये जो संसदीय गतिरोध का अन्त कर सुव्यवस्था कायम करे और जर्मनी की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करे। नात्सी-पार्टी इस तरह की व्यवस्था कायम करने का कार्यक्रम रखती थी और हिटलर के व्यक्तित्व में मुसोलिनी की तरह वह एक नेता देने के लिए भी तैयार थी।

जर्मनी की सैनिक प्रवृत्ति : नात्सी लोग जनता की मानसिक प्रवृत्ति से सुपरिचित थे। वे जानते थे कि जर्मन लोग स्वभाव से वीर होते हैं और सैनिक जीवन में उनकी अत्यधिक रुचि होती है। किन्तु वर्साय-सन्धि के द्वारा उनकी इस रुचि पर नियन्त्रण लगा दिया गया था। इस सन्धि के द्वारा जर्मनी की सैन्य-संस्था बहुत कम कर दी गयी थी। जर्मनी के असंख्य युवक बेकार हो गये। आर्थिक संकट के कारण यह भी सम्भव नहीं था कि वे किसी अन्य पेशे से अपना गुजर कर सकें। वे स्वभाव से और परिस्थिति से विवश होकर सैनिक होने के लिए उत्सुक थे। नात्सी लोगों ने जर्मनी युवकों की इस इच्छा की पूर्ति के लिए एक स्वयंसेवक सेना का संगठन किया। इस सेना के दो अंग थे। एक भाग के सैनिक भूरे रंग की कमीज पहनते थे और उनकी बाँह पर लाल पट्टी रहती थी, जिस पर स्वस्तिका का चिन्ह रहता था। इसको एस. ए. (Sturm Anbteitungen) कहा जाता था। इसका काम प्रचार के लिए प्रदर्शन करना, नात्सी पार्टी की सभाओं की रक्षा करना तथा विरोधी पार्टी की सभाओं को बलपूर्वक भंग करना था। दूसरे भाग को एस. एस. (Schuiz Sctafflen) कहा जाता था। इसके सदस्य काले रंग की कमीज पहनते थे। उनका काम पार्टी के नेताओं की अंग रक्षा करना और उनके आदेश को पूर्णतया पालन करना होता था। जर्मन लोग बड़े उत्साह के साथ इस सेना में भर्ती हुए। उन्हें यह अनुभव हुआ की नात्सी पार्टी के उत्कर्ष से उन्हें फिर से सैनिक जीवन प्राप्त करने का

अवसर मिलेगा और तत्कालीन बेकारी की समस्या भी हल हो जायगी। इस सेना से नात्सियों को सत्ता प्राप्त करने और अपने शत्रुओं के दमन में बड़ी सहायता मिली। जिस समय हिटलर अपनी इस सेना का संगठन कर रहा था उस समय की जर्मनी की सरकार ने इसकी तरफ कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। अगर आरम्भ में ही इस संगठन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया होता, तो सम्भव था कि हिटलर उतना शक्तिशाली नहीं हो पाता। लेकिन सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी की सरकार इस संगठन की उपेक्षा करती रही। इसका एक कारण वर्साय की सन्धि थी, जिसके द्वारा जर्मनी की सैन्य संस्था सीमित कर दी गयी थी। सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने देखा कि हिटलर के प्रयास से परोक्ष रीति से जर्मनी में एक वर्साय-सन्धि का उल्लंघन किये बिना ही सेना तैयार हो रही है। इस प्रकार जर्मनी के तत्कालीन नेताओं ने एक महान निर्बलता और अदूरदर्शिता का परिचय देकर हिटलर के रास्तों को और भी सुगम बना दिया।

हिटलर का व्यक्तित्व : हिटलर की सफलता का मुख्य कारण स्वयं उसका व्यक्तित्व था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि हिटलर एक बहुत अच्छा वक्ता था और बड़ी-बड़ी भीड़ों के सामने भाषण के जादू से मुग्ध कर सकने की क्षमता रखता था। फ्यूरर (नेता) बनने के सभी गुण उसमें मौजूद थे। वह अपने काम को संगठित रूप से करता था। आधुनिक युग की राजनीति में प्रचार का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रचार वह साधन है, जो सभी चीजों को, यहाँ तक कि आत्महत्या को भी लोकप्रिय बना सकता है और हिटलर प्रचार के इस महत्व को खूब अच्छी तरह समझता था। सौभाग्य से उसको एक ऐसा व्यक्ति भी मिल गया जो प्रचार की कला में निपुण था। वह था हिटलर का प्रचार मंत्री डॉ० गोबुल्स। "झूठी बात को इतना दुहराओ की सत्य ही बन जाय—" यह था डॉ० गोबुल्स के प्रचार का सिद्धान्त। जर्मनी की अन्य पार्टियाँ यह कला नहीं जानती थीं और इसलिए प्रचार के माध्यम से जर्मन जनता के दिल पर कब्जा कर लेना नात्सियों के लिए एक सहज काम हो गया।

हिटलर का अभ्युदय : पेंटर से चांसलर : जर्मनी की ऐसी स्थिति में हिटलर का अभ्युदय और शक्ति की प्राप्ति एकाएक नहीं हुई। उसकी शक्ति का विकास और उत्थान धीरे-धीरे हुआ। 1889 में आस्ट्रिया के एक गाँव में हिटलर का जन्म हुआ था। उसके पिता गरीब थे; इसलिए बचपन से ही उसे उचित शिक्षा नहीं मिल सकी। पिता के मरने के कुछ ही महीनों बाद वह वियना में एक शिल्पी का काम करने लगा, परन्तु वियना में वह अधिक दिनों तक नहीं रहा। 1912 में वह म्युनिख चला आया और चित्रकारी करके अपना जीवन निर्वाह करने लगा। इसी बीच प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। हिटलर के लिए यह ईश्वर प्रदत्त अवसर था। यह तुरन्त जर्मन सेना में भर्ती हो गया। लड़ाई में उसने अपूर्व योग्यता दिखलाई जिसके लिए उसे 'आयरन क्रास' भी प्राप्त हुआ। लड़ाई के मैदान में घायल होकर जिस समय वह पामरेनिया के एक अस्पताल में पड़ा हुआ था उसी समय विराम-सन्धि की सूचना मिली। यह सुनकर वह आपे से बाहर हो गया। उसका खून खौलने लगा। उसका कहना था कि जर्मन सेना न तो पराजित ही हुई और न पराजित की जा सकती है। उसकी पराजय का कारण उसके नेताओं की बुजदिली है। इस कारण हिटलर के हृदय में प्रतिशोध की भंयकर ज्वाला जल रही थी। उसने राजनीति में प्रवेश करने का निश्चय किया।

अगले पांच वर्ष तक वह म्युनिख की सड़कों पर घूमता-फिरता रहा। यहाँ पर वह साम्यवादियों के ऊपर जासूस का काम भी करता था। इसी क्रम में उसकी नये-नये लोगों से जान-पहचान हुई। म्युनिख में उसके पुराने दोस्त भी थे। उन लोगों के साथ वह जर्मन वर्कस-पार्टी का एक सदस्य बन गया और उस पार्टी को संगठित करने का उसने संकल्प कर लिया। हिटलर के प्रवेश से उस पार्टी की प्रगति होने लगी। म्युनिख में उसने एक कमरा किराये पर लिया और वहाँ अपने साथियों एवं अनुयायियों की एक सभा करके जर्मन-वर्कस-पार्टी का नाम बदलकर एक नयी पार्टी को जन्म दिया, जिसका नाम राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी रखा गया। इस पार्टी का एक समाचार पत्र भी प्रकाशित होने लगा। पार्टी के कार्यक्रम में पच्चीस बातें थीं।

इस कार्यक्रम में निम्नलिखित बातों को प्रमुख स्थान दिया गया - (1) वर्साय-सन्धि की निन्दा करके उसको रद्द करने की मांग की जाय। (2) समस्त जर्मन भाषा-भाषियों को एकसूत्र में बाँधकर एक विशाल जर्मनी राज्य की स्थापना हो। (3) जर्मन से जो उपनिवेश छीन लिये गये थे, उन्हें वापस लौटा देने तथा सैनिक उन्नति के मार्ग में वर्साय-सन्धि द्वारा जो प्रतिबंध लगा दिये गये थे, उनको रद्द करने की माँग की जाय। (4) यहूदी लोग विदेशी हैं और उनके कारण जर्मनी को अपार नुकसान उठाना पड़ा है। अतः उन्हें केवल जर्मनी की नागरिकता से ही वंचित नहीं किया जाय, वरन् देश से बाहर भी निकाल दिया जाय। साम्यवाद, उदारतावाद तथा संसदीय शासन-पद्धति जर्मनी की राष्ट्रीय उन्नति के लिए हानिकारक है; अतः इसका अन्त हो। हिटलर की नयी पार्टी के यही प्रमुख कार्यक्रम थे और वह स्वयं उसका फ्यूरर था। उसके जोशीले भाषण और संगठन के तरीके से नात्सी पार्टी का उत्थान शीघ्रता से होने लगा।

रूर-आधिपत्य के समय इस पार्टी की शक्ति काफी बढ़ गयी। जर्मनी की निकम्मी सरकार जो राष्ट्रीय अपमान को सहती रही, के विरुद्ध बबेरिया में ल्यूडेनडार्फ से मिलकर उसने एक विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। हिटलर का यह प्रयत्न असफल रहा। वह पकड़ लिया गया और उसे पाँच वर्ष की सजा हो गयी। कारागार में अपने अवकाश का उसने पूर्ण उपभोग किया और जेल में वहीं पर उसने विश्वविख्यात पुस्तक **"मीनकैम्फ"** (मेरा संघर्ष) की रचना की जो पीछे चलकर नात्सियों के लिए बाइबिल बन गयी। इस पुस्तक में जर्मन जाति को एक सूत्र में बाँधकर एक विशाल जर्मनी साम्राज्य की स्थापना करने का विचार प्रकट किया गया था। यूरोप के नये राज्यों में जर्मन लोग बहुत बड़ी संख्या में रहते थे। हिटलर के इस विचार को कार्यान्वित करने का अर्थ था उन देशों की प्रादेशिक अखंडता पर प्रहार करना। 'मीन-कैम्प' में फ्रांस की चर्चा की गयी थी और उस देश को जर्मनी का अनन्तकालीन घातक शत्रु बतलाया गया था। इसके अतिरिक्त उसने पुस्तक से एक शाश्वत न्याय के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया, जिसका अर्थ 'जर्मनी के लिए रहने का स्थान' था। इस सिद्धान्त का अर्थ था कि जर्मनी का, अन्य देशों के समान, प्रादेशिक विस्तार हो। इस विस्तार के लिए उपयुक्त स्थान पूर्व की ओर था जिसका अर्थ सोवियत संघ होता था। अतः मीन कैम्प में फ्रांस, सोवियत संघ, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया इत्यादि सभी देशों पर लक्ष्य किया गया था। इन लक्ष्यों की पूर्ति निरस्त्रीकरण से नहीं अपितु हथियारबन्दी से ही हो सकती थी। हिटलर राष्ट्रसंघ को तंग करने का एक यन्त्र समझता था। मीन कैम्प के प्रकाशन के बाद यह स्पष्ट था कि यदि हिटलर जर्मनी में सत्तारूढ़ हुआ तो युद्धोत्तर काल की सारी व्यवस्थाएँ चौपट हो जायेगी और जर्मनी पुनः विश्व-शान्ति के लिए खतरा बन जायगा, किन्तु उस समय किसी को यह विश्वास ही नहीं था कि हिटलर कभी जर्मनी में सत्तारूढ़ हो सकेगा।

हिटलर को पाँच वर्ष के लिए सजा हुई थी, किन्तु 1924 के अन्त में ही वह मुक्त कर दिया गया। 1925 से 1926 तक की अवधि में वह अपनी पार्टी को संगठित करता रहा। सब जगह नात्सी पार्टी की शाखाएँ स्थापित की गयीं और सारे देश में उसका जाल-सा बिछ गया। 1925 में पार्टी की स्वयंसेवक सेना स्थापित की गयी और पार्टी के सदस्यों की संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। आर्थिक संकट से पार्टी की प्रगति में और अधिक सहायता मिली। 1925 में इसके सत्ताईस हजार सदस्य थे। 1929 में यह संख्या बढ़कर एक लाख अठहत्तर हजार हो गयी। किन्तु रीहस्टाग में इस पार्टी के अधिक सदस्य नहीं थे। 1924 से 1928 के बीच में तीन आम चुनाव हुए थे और इन चुनावों में नात्सी पार्टी का प्रतिनिधित्व क्रमशः 32, 14 और 12 था। यह लोकार्नो का युग था और क्षतिपूर्ति के क्षेत्र में भी डावस-योजना लागू हो चुकी थी। जर्मनी की स्थिति कुछ अच्छी हो गयी थी। लेकिन साथ-साथ नात्सी पार्टी का उत्थान भी हो रहा था। इसी बीच अक्टूबर, 1919 में प्रगति और शान्ति का प्रतीक स्ट्रेस्मैन की मृत्यु हो गयी और जब यंग योजना लागू करने की बात चली तो नात्सी पार्टी ने इसका घोर विरोध किया। इस योजना पर जनमत लिया गया और अन्ततः रीहस्टाग ने 224 के विरुद्ध 226 वोट से यंग योजना का समर्थन कर दिया, ध्यान देने की बात यह है कि योजना के पक्ष में

दो ही वोट अधिक मिले। यह नात्सियों के बढ़ते हुए प्रभाव को सूचित कर रहा था।

1929-30 का आर्थिक संकट नात्सियों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। जर्मनी में यह संकट काफी भयंकर रूप में उपस्थित हुआ था। बहुत से कल-कारखाने बन्द हो गये और पचास लाख के लगभग मजदूर बेकार हो गये थे। इन बेकारों में नात्सियों ने अपने सिद्धान्त का खूब प्रचार किया। 1930 के चुनाव में नात्सी पार्टी के 17 सदस्य रीहस्टाग के लिए निर्वाचित हुए। नात्सी पार्टी को बीस प्रतिशत स्थान प्राप्त हुआ। एक नयी पार्टी के लिए यह बहुत बड़ी बात थी। हिटलर का हौसला बढ़ा। 1932 में राष्ट्रपति का चुनाव होने वाला था। हिन्डेनबर्ग के मुकाबले में हिटलर भी इस पद के लिए उम्मीदवार खड़ा हुआ और यद्यपि वह हार जाता, किन्तु हिन्डेनवर्ग जैसे प्रतिष्ठित और सर्वमान्य व्यक्ति के मुकाबले में उसे सैंतीस प्रतिशत वोट मिले। यह नात्सी-पार्टी के बढ़ते हुए प्रभाव का प्रमाण था। 1932 में रीहस्टाग के लिए चुनाव हुआ और इसमें नात्सी पार्टी ने 230 स्थान प्राप्त किये। यद्यपि संसद में उसकी बहुसंख्या अब भी नहीं हुई थी, पर अन्य पार्टियों के मुकाबले में नात्सी लोग सबसे अधिक निर्वाचित हुए। अब हिटलर को 'पोस्टमास्टर' बनाना असम्भव था। वैधानिक रीति से आगे बढ़ते हुए वह ऐसी स्थिति में आ पहुँचा कि हिन्डेनवर्ग को उसे प्रधानमंत्री बनाने के लिए आमंत्रित करना पड़ा, पर हिटलर ने यह शर्त रखी की उसे संसद के बिना ही शासन करने का अधिकार मिले। हिन्डेनवर्ग इसके लिए तैयार नहीं हुआ और हिटलर ने भी प्रधानमंत्री बनने से इन्कार कर दिया, किन्तु अधिक दिनों तक वह शक्ति के लोभ को नहीं रोक सका और जनवरी, 1936 में उसने प्रधानमंत्री बनना स्वीकार कर लिया। हिटलर संयुक्त मंत्रिमंडल का चांसलर नियुक्त किया गया। इस सरकार में तीन नात्सी और आठ 'राष्ट्रवादी' थे। हिटलर का प्रिय मित्र हरमन गोरिंग गृह मंत्री बना। 30 जनवरी को उसने रेड़ियो से जर्मन जनता को सूचित किया कि राष्ट्रीय अपमान के दिन अब समाप्त हो चुके हैं। उसी रात मसालबत्तियों से सुसज्जित नात्सियों का एक बहुत बड़ा जुलूस बर्लिन की सड़कों से गुजरा। हिन्डेनवर्ग अपने राष्ट्रपति भवन के झरोखे से खड़ा होकर इन नजारों को चुपचाप देख रहा था। म्युनिख की वह साधारण-सा पेंटर जो गरीबी से अपना दिन काटा करता था, अब जर्मनी का चांसलर बन चुका था। नात्सियों का फ्यूरर अब जर्मनी का सर्वसर्वा था।

जर्मन गणतन्त्र का विनाश : हिटलर केवल प्रधानमंत्री बनकर ही संतुष्ट नहीं हुआ। वह चाहता था कि रीहस्टाग में उसका कोई विरोध नहीं हो। वह संसद में पूर्ण बहुमत प्राप्त करना चाहता था। इस कारण हिटलर ने रीहस्टाग को बर्खास्त करके नये निर्वाचन की व्यवस्था की, परन्तु यह कोई निश्चित नहीं था कि निर्वाचन में हिटलर को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो ही जाय। नयी संसद में 600 के लगभग सदस्य चुने जाने वाले थे। हिटलर का अनुमान था कि इसमें 250 नात्सी पार्टी को और 100 साम्यवादी पार्टी को मिल जाएँगे, पर इससे हिटलर का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता था। अगर साम्यवादी पार्टी का दमन कर दिया जाय तो उसके 100 स्थान में नात्सी पार्टी को अनेक स्थान प्राप्त हो जा सकते हैं। हिटलर इसी अनुमान के आधार पर पूर्ण बहुमत प्राप्त करने के लिए षड़यंत्र करने लगा। 27 फरवरी को जब चुनाव भी नहीं हो पाया था, रीहस्टाग के भवन में रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में आग लग गयी। इसमें कोई संदेह नहीं कि रीहस्टाग-भवन में आग लगाने का सारा षड़यंत्र नात्सियों का ही था और इसको बहाना बनाकर वे जर्मन कम्युनिस्टों को कुचल देना चाहते थे, जिससे आगामी चुनाव में उनका रास्ता साफ हो जाय। हिटलर ने, रीहस्टाग अग्नि-कांड के लिए साम्यवादियों को जिम्मेवार ठहराया। इस घटना को बहाना बना कम्युनिस्टों और उससे सहानुभूति रखनेवालों की बड़े पैमाने पर धर-पकड़ की गयी। उनके साथ-साथ यहूदियों और सोशल-डेमोक्रेटों को भी बहिष्कृत करके कम्युनिस्टों के साथ नजरबन्द कर दिया गया। कम्युनिस्ट-पार्टी को गैर-कानूनी घोषित करके उस पर प्रतिबंध लगा दिया गया और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को आदेश दिया गया कि वह अपने समाचार-पत्रों का प्रकाशन और चुनाव प्रचार शीघ्र बन्द कर दे। इस पृष्ठभूमि में आमचुनाव हुआ, जिससे नात्सी प्रतिनिधियों

की संख्या बढ़ गयी; किन्तु उन्हें फिर पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हो सका। हिटलर को अब इसका भय नहीं था, क्योंकि 81 निर्वाचित कम्युनिस्ट सदस्यों को अयोग्य घोषित करके निकाल दिया गया था। हिटलर रीहस्टाग का मालिक बन बैठा। रीहस्टाग अग्नि-कांड से संसद का सम्पूर्ण भवन तो नहीं जला, किन्तु जर्मनी गणतन्त्र जलकर राख हो गया। गणतन्त्र के राष्ट्रीय झंडा को हटाकर उसके स्थान पर पुराने जर्मन साम्राज्य के झंडे तथा नात्सी दल के स्वस्तिक चिह्न को उस पर प्रतिष्ठित किया गया। 1933 के मध्य तक सभी गैर नात्सी पार्टियों को जबरदस्ती विघटित कर दिया गया। अब रीहस्टाग का केवल यही काम रह गया था कि भूले-भटके जब भी उसका अधिवेशन हो तब वह प्रधानमंत्री की नीति की घोषणाओं को सहर्ष स्वीकार कर ले। जर्मनी का नया नाम तृतीय रीह या साम्राज्य रखा गया और इस तरह गणतन्त्र का अन्त हो गया। 2 अगस्त, 1934 को जब राष्ट्रपति हिन्डेनवर्ग की मृत्यु हो गयी तब राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के पद को मिलाकर एक कर दिया गया। नात्सी फ्यूररं अब राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री दोनों ही था। उसके हाथ में इतनी शक्ति आ गयी, जितनी कैसर के हाथ भी नहीं थी।

विश्व-राजनीति पर नात्सी-क्रान्ति का प्रभाव

रोम में प्रतिक्रियाएँ : नात्सी-क्रान्ति की सफलता और हिटलर का सत्तारूढ़ होना ही जर्मन के आन्तरिक इतिहास के विषय है, पर ये घटनाएँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं और यहाँ पर इनका विशद् वर्णन आवश्यक है। जर्मनी की नात्सी क्रान्ति को एक राष्ट्रीय घटना नहीं मानी जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसका प्रभाव उतना ही क्रांतिकारी साबित हुआ जितना जर्मनी की राष्ट्रीय राजनीति पर। सत्तारूढ होने के बाद हिटलर ने विदेश-नीति के क्षेत्र में शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन करने का आश्वासन दिया और उसने जोर के साथ यह अस्वीकार किया कि वह शान्ति-समझौते को बल-प्रयोग करके अन्त करने की इच्छा रखता है। परन्तु दुनिया को 'मीन कैम्फ' के लेखक के विचारों और कार्यक्रम का पता 1924 में ही लग चुका था। जर्मनी में हथियारबन्दी का कार्य तेजी से चलने लगा था और अक्टूबर 1933 में जर्मनी केवल निरस्त्रीकरण-सम्मेलन से ही अलग नहीं हो गया, बल्कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने की सूचना भी उसने दे दी। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि सारे सभ्य संसार में नात्सी-क्रान्ति के प्रति प्रतिक्रिया हो। दूसरे शब्दों में, नात्सी-क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों की विदेशनीति में परिवर्तन अवश्यम्भावी हो गया।

चेकोस्लावाकिया और लघुमंत्री संघ के देश : यह स्वाभाविक ही था कि नात्सी क्रान्ति की प्रतिक्रिया सर्वप्रथम जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्रों में हो। चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और रूमानिया जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्र थे और वर्साय-सन्धि के द्वारा उनका सृजन हुआ था। यथास्थिति के बने रहने में ही उनका हित था और उधर हिटलर वर्साय-सन्धि का अन्त करके नयी व्यवस्था स्थापित करना चाहता था। इन देशों में सबसे अधिक खतरा चेकोस्लोवाकिया को था, जिसकी भूमि में हजारों की संख्या में जर्मन लोग निवास करते थे। 'मीन कैम्फ' में जर्मनी की वर्तमान सीमाओं के बाहर यहाँ-वहाँ रहनेवाले सभी जर्मन अल्पसंख्यकों को जर्मनी में शामिल कर लेने का वादा किया गया था। लघुमैत्री-संघ के देशों के लिए हिटलर का अभ्युदय एक बहुत बड़े संकट के रूप में आ उपस्थित हुआ। उसी समय उपर्युक्त तीनों देशों के विदेश मन्त्री निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में भाग लेने के लिए जेनेवा गये हुए थे। वहाँ तीनों मन्त्रियों ने परस्पर मिलकर एक 'एकता समझौता' किया, जिसके अनुसार यह तय हुआ कि दोनों देश के विदेश मंत्रियों की एक कौंसिल बने और समय-समय पर इसकी बैठकें करके सामान्य हितों की बातों पर विचार किया जाय।

हंगरी : इस क्षेत्र में एक और देश हंगरी था। प्रारम्भ में हंगरी की प्रतिक्रिया स्पष्ट नहीं हो सकी। यह तो निश्चित ही था कि जर्मनी के उत्थान से यूरोप के किसी देश को लाभ होनेवाला नहीं था और हंगरी भी इसका अपवाद नहीं था, पर हंगरी और जर्मनी में एक बात की समानता थी कि दोनों वर्साय सन्धि द्वारा सताये

गये देश थे। इसके अतिरिक्त हंगरी लघुमैत्री संघ के देशों से जर्मनी की तरह ही घृणा करता था। ऐसी स्थिति में जर्मनी और हंगरी एक दूसरे के निकट आने लगे। हंगरी में नात्सीवाद से सहानुभूति रखनेवाला जुलियस गोम्बस प्रधानमंत्री था और दोनों देशों के नेता एक दूसरे देश में भ्रमण करने लगे। यद्यपि दोनों देशों के बीच विधिवत कोई समझौता नहीं हुआ, फिर भी ये भ्रमण और मेल-मिलाप काफी महत्वपूर्ण थे। इस बात की सम्भावना दिखने लगी कि यदि दूसरा महायुद्ध छिड़ गया तो शायद हंगरी जर्मनी का साथ दे।

पोलैंड : 1919 के बाद पोलैंड और जर्मनी के बीच जितनी कटुता थी उतनी सम्भवत: यूरोप के किसी अन्य देशों के बीच न थी। पोलिश गलियारे को लेकर वर्साय-सन्धि के विरुद्ध जर्मनी की सबसे बड़ी शिकायत थी। इससे जर्मनी का अंगभंग हो गया था; क्योंकि पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से अलग हो गया था। ऐसी स्थिति में एक देश के अखबार दूसरे देश पर आग उगलते थे और यह निश्चित था कि जर्मनी जब भी शक्तिशाली होगा, पोलिश गलियारे का अन्त करने का प्रयास करेगा। पोलैंड के जर्मन अल्पसंख्यक राष्ट्रसंघ से बराबर शिकायत किया करते थे और डान्जिंग को लेकर दोनों देशों के बीच झगड़ा बना रहता था। नात्सी क्रान्ति की सफलता के कारण यह सम्भावना और बढ़ गयी। इसके अतिरिक्त नात्सियों के कार्यक्रम को देखकर यह भी निश्चित था कि सोवियत संघ और जर्मनी में संघर्ष अवश्यम्भावी है और इस संघर्ष में पोलिश भूमि का रणभूमि के रूप में सहयोग निश्चित था। पोलैंड ने सर्वप्रथम फ्रांस के साथ अपने गठबन्धन को और मजबूत करके जर्मनी के खतरे को रोकने का प्रयास किया। संसार को जर्मन खतरा की गम्भीरता का पता चलाने के लिए नात्सी क्रान्ति के दूसरे ही दिन सौ पोलिश सैनिकों को बिना किसी अधिकार के डान्जिंग बन्दरगाह के एक स्थान पर उतारा गया, पर यह झंझट काफी वाद-विवाद के बाद शांत हो गया। पोलिश के प्रधानमंत्री ने फ्रांसीसी प्रधानमंत्री को निमंत्रित किया और जर्मन खतरे को बढ़ने के पूर्व ही दमन करने के उद्देश्य से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का सुझाव रखा। पर, फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं था। उल्टे, वह चार देशीय संधि का एक हस्ताक्षरकर्ता बन गया। यह सन्धि मुसोलिनी ने अनुरोध पर की गयी थी और इसका उद्देश्य यह था कि नात्सी-जर्मन को शांत करने के लिए वर्साय-सन्धि की कुछ कठोर शर्तों में परिवर्तन कर दिया जाय। जून, 1933 में यह सन्धि ब्रिटेन, इटली, फ्रांस और जर्मनी में हुई। पोलैंड को इस संधि से काफी दुख हुआ। वर्साय-सन्धि में परिवर्तन से सबसे अधिक घाटा पोलैंड को ही था। पोलैंड के लिए जर्मनी का खतरा अब राष्ट्रीय जीवन-मरण का प्रश्न हो गया। ऐसी स्थिति में उसने जर्मनी के साथ किसी प्रकार का समझौता कर लेना ही श्रेयस्कर समझा और 26 जनवरी, 1934 को पोलैंड और जर्मनी के बीच समझौते की घोषणा से संसार चकित हो गया। इस समझौते के अनुसार दोनों देशों ने वादा किया कि वे एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार नहीं करेंगे। जर्मन अल्पसंख्यकों तथा डांजिंग-सम्बन्धी विवाद भी राष्ट्रसंघ से वापस ले लिये गये।

जर्मन पोलिश समझौता के कारण पूर्व यूरोप की कूटनीतिक स्थिति में आमूल परिवर्तन आ गया। दो पड़ोसी, जो 1919 से ही एक दूसरे के कट्टर दुश्मन थे, आपस में कम-से-कम दस साल के लिए मिल गये। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह हिटलर की पहली कूटनीतिक विजय थी। सत्ता प्राप्त करने के पूर्व ही हिटलर अपने भाषणों तथा तरीकों से पश्चिमी यूरोप के देशों को भयभीत कर अपना शत्रु बना लिया था। सोवियत संघ भी हिटलर के मनसूबों से परिचित था। पूर्वी और पश्चिमी दोनों सीमाओं पर उनके दुश्मन मौजूद थे। ऐसी स्थिति में अपने पूर्वी पड़ोसी से मित्रता कर लेना सभी दृष्टियों से उपयुक्त था। इसलिए जब हिटलर ने रीहस्टाग को इस समझौते की सूचना दी तो उसके सदस्य अपने फ्यूरर की इस कूटनीतिक सफलता पर फूले न समाये।

सोवियत संघ : नात्सी जर्मनी के अभ्युदय से सोवियत संघ में जितना आश्चर्यपूर्ण नीति-परिवर्तन हुआ उतना किसी अन्य देश में नहीं। इसका एक दूसरा कारण था पूर्वी एशिया में जापानी साम्राज्यवाद का नग्न नृत्य। इस तरह सोवियत संघ दो तरफ के खतरों से घिरा हुआ था और संसार का कोई राष्ट्र उसकी मदद करने को तैयार नहीं था। ऐसी स्थिति में सोवियत विदेश-नीति में आमूल परिवर्तन आवश्यक हो गया।

वर्साय की सन्धि के बाद जर्मनी और सोवियत संघ का सम्बन्ध बहुत ही अच्छा था। राष्ट्रों की मंडली में दोनों देशों के साथ अछूत-जैसा व्यवहार किया जाता था। अतएव दोनों देशों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति स्वाभाविक थी। 1921 की रैपेलो की सन्धि इसी परस्पर सहानुभूति का परिणाम था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सोवियत संघ जर्मनी का पक्ष लेता रहा। निरस्त्रीकरण-सम्मेलन के प्रारम्भिक आयोग में जब वह भाग लेने आया था तो उसका प्रमुख प्रयास विजेता शक्तियों के शस्त्रास्त्रों में प्रचुर मात्रा में कमी करना था। वह 'पहले सुरक्षा और तब निरस्त्रीकरण' के फ्रांसीसी विचार का सबसे अधिक खरी आलोचना करता रहा। सोवियत संघ की भाषा और रवैया राष्ट्रसंघ के प्रति और भी कटुतापूर्ण थी। इसको वह विश्व के पूँजीवादियों का एक घृणित और खतरनाक संघ समझता था। किन्तु वर्तमान शताब्दी की चौथी दशाब्दी में दो ऐसी घटनाएँ घटीं जिससे सोवियत नीति में परिवर्तन आवश्यक हो गया। हिटलर का जर्मनी में सत्तारूढ़ होना और पूर्वी एशिया में जापानी साम्राज्यवाद का पुनरोद्भाव होना, दो ऐसी घटनाएँ थीं जिनकी समुचित प्रतिक्रिया मास्कों में हुई। जर्मनी के सामान्य खतरों को रोकने के लिए फ्रांस और सोवियत संघ के बीच मित्रता बढ़ने लगी। सोवियत समाचारपत्रों में अनेक जर्मन-विरोधी और सन्धि-संशोधन विरोध लेख प्रकाशित हुए। पूर्वी एशिया के खतरे को रोकने के लिए सोवियतसंघ ने अमेरिका से मेल-जोल बढ़ाना शुरू किया और अमेरिका को समुचित आश्वासन देकर उसकी मान्यता प्राप्त कर ली। अब जर्मनी के विरुद्ध यूरोप में एक मित्र को खोजना था। निश्चय है कि महान् राष्ट्रों से इस संकट के समय में फ्रांस ही सोवियत संघ का मित्र बन सकता था। निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में सोवियत प्रतिनिधि लिटविनोव का रूख बिल्कुल बदल गया। जो व्यक्ति पहले सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों पर प्रतिबंध लगाने की माँग करता था, वह राष्ट्रसंघ के सदस्यों को कुछ 'ठोस और व्यावहारिक कदम' उठाने के लिए आग्रह करने लगा। जो देश पहले निरस्त्रीकरण समस्या पर फ्रांस के विचारों की कटु आलोचना करता था, उसका प्रतिनिधि अब फ्रांसीसी प्रतिनिधि से मिल-जुलकर संयुक्त योजना पर वार्तालाप करने लगा। उधर मास्को और पेरिस में कूटनीतिक तरीकों से दोनों देशों के बीच में सहयोग स्थापित करने के लिए कदम उठाये जा रहे थे। 1931 से ही दोनों देशों के वीच एक व्यापारिक समझौता हो चुका था। 1932 में दोनों देशों के बीच एक आक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर हुआ। फ्रांस सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लेना चाहता था। जेनेवा में इसके लिए प्रयास होने लगा। मई, 1933 में दोनों देश एक दूसरे के और निकट आ गये। राष्ट्रीय सुरक्षा के सामने सैद्धान्तिक मतभेद गौण पड़ गया। जैसा कि श्री हेरियों ने कहा था— "याद कीजिये कि किस तरह फ्रांसीसी प्रथम ने सारे ईसाई राज्यों का साथ छोड़कर तुर्की का साथ दिया था, क्योंकि यही फ्रांस के हित में था।" उस महीने फ्रांस और सोवियत-संघ में पारस्परिक सहायता-सम्बन्धी एक सन्धि हुई। इसके अनुसार यह तय हुआ कि दोनों में से किसी पर वाह्य आक्रमण होने पर वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे। यह संधि पाँच वर्षों के लिए की गयी। इस प्रकार फ्रेंकों-सोवियत समझौता, जो युद्ध के बाद लुप्त हो चुका था, पुनर्जीवित हो उठा। यह एक बहुत बड़ी कूटनीतिक क्रान्ति थी। फ्रेंकों सोवियत संधि के ढंग पर ही एक पखवारे बाद सोवियत-संघ ने चेकोस्लोवाकिया के साथ भी एक पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि कर ली।

अब केवल राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत संघ के पुराने रुख का नष्ट होना ही शेष रह गया था। जिस प्रकार 1907 में फ्रांस ने ब्रिटेन और रूस को मिलाने का प्रयत्न किया था ठीक उसी प्रकार जर्मनी के खतरे से भयभीत होकर फ्रांस रूस को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान कराने के लिए प्रयत्न करने लगा। जुलाई, 1934 में फ्रांस ने इटली और ब्रिटेन को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ में प्रवेश दिलाने के लिए अन्य देशों का समर्थन प्राप्त करने में उसका साथ दें। सितम्बर, 1934 में फ्रांस, ब्रिटेन और इटली के प्रस्ताव पर सोवियतसंघ को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया और कौंसिल में भी उसे स्थायी जगह मिल गयी। जर्मन खतरे को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रसंघ का स्वरूप अब सोवियत संघ के लिए बदल चुका था। सोवियत संघ उस विश्व संस्था का सबसे जबरदस्त समर्थक हो गया और लिटविनोव जोर शोर से सामूहिक सुरक्षा की बातें करने लगा।

आस्ट्रिया और इटली : नात्सी क्रान्ति का प्रभाव आस्ट्रिया की आन्तरिक राजनीति पर ही अधिक पड़ा। सत्तारूढ़ होने के तुरन्त बाद हिटलर ने आस्ट्रिया को अपनी विदेश-नीति का प्रथम लक्ष्य बनाया। हिटलर का कहना था कि सम्पूर्ण जर्मन जाति को एक सूत्र में बाँधना नात्सी पार्टी का मुख्य ध्येय है। आस्ट्रिया के निवासी भी मूलत: जर्मन थे। आस्ट्रिया में अपना कार्यक्रम पूरा करने के लिए नात्सी लोग षड़यन्त्र करने लगे। आस्ट्रिया की नात्सी पार्टी को प्रोत्साहित करके उसकी जड़ मजबूत की गयी, पर हिटलर आसानी से आस्ट्रिया को अपने प्रभाव में नहीं ला सका, क्योंकि वहाँ बहुत ऐसे लोग थे जो जर्मन का विरोध करते थे। आस्ट्रिया-जर्मन सम्बन्ध पर हम आगे के पृष्ठों में पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक है कि आस्ट्रिया में जर्मन षड़यंत्र की प्रतिक्रिया इटली में हुई, जिसके प्रभाव से जर्मनी और इटली के सम्बन्ध में एक नया अध्याय शुरू हुआ।

इटली की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया नात्सी-क्रान्ति के पक्ष में ही हुई। मुसोलिनी को इससे बढ़कर खुशी क्या हो सकती थी कि उसके फासिज्म से मिलती-जुलती एक दूसरी व्यवस्था जर्मनी में कायम हो गयी है। वास्तव में फासिज्म और जर्मन नात्सीवाद में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। मुसोलिनी की सहानुभूति हिटलर के साथ थी और तृतीय रीह की वर्साय के कठोर उपबन्धों से मुक्त करने के लिए मुसोलिनी ने शुरू में कुछ सक्रिय कदम उठाये। 1933 की चार-देशीय सन्धि इसी सहानुभूति का परिणाम था। इसके अनुसार इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी ने समझौता किया कि वे शान्तिपूर्ण तरीकों से वर्साय-सन्धि में आवश्यक परिवर्तन करेंगे। इसके एक साल बाद 24 जून को मुसोलिनी ने वेनिस में हिटलर से मुलाकात की। डूचे और फ्यूरर यहाँ पर गले मिले। भविष्य में उनके बीच सहयोग की नींव पड़ गयी, पर दो तानाशाहों की मित्रता में धीरे-धीरे खाई पड़ने लगी। आस्ट्रिया में फ्यूरर षड़यंत्र से डूचे सशंकित होने लगा। मुसोलिनी चाहता था कि आस्ट्रिया पर इटली का प्रभाव बना रहे। उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था। आस्ट्रिया और जर्मनी एक साथ मिल जाते हैं तो दक्षिणी टायोल नामक जर्मन-आस्ट्रियन प्रान्त के लिए जो वर्साय-सन्धि द्वारा इटली को प्राप्त हुआ था, खतरा पैदा हो सकता था। आस्ट्रिया और जर्मनी का संघ स्थापित हो जाने से इटली जर्मनी से निकट सम्पर्क में आ जाता था। मुसोलिनी इस सम्भावना से बचना चाहता था। अतएव नात्सी-क्रान्ति के फलस्वरूप इटली की विदेश-नीति भी सोवियत-विदेश नीति की तरह ही नाटकीय ढंग से बदलने लगी। आस्ट्रियन ने नात्सी-विरोधियों को इटली हर प्रकार से मदद देने लगा और जब जुलाई, 1934 में आस्ट्रिया के प्रधानमंत्री डाल्फस की हत्या नात्सियों ने कर दी तो मुसोलिनी ने आस्ट्रिया की सीमा पर अपने सैनिकों को तैनात कर दिया, पर इतने ही से इटली का काम चलनेवाला नहीं था। युद्ध के बाद युगोस्लाविया के दावों का समर्थन करने के कारण फ्रांस और इटली का सम्बन्ध निरन्तर खराब ही होता गया। अफ्रीका और नौसेना सम्बन्धी विषयों को लेकर दोनों का झगड़ा और भी गम्भीर हो गया था। किन्तु, आस्ट्रिया पर हिटलर की गिद्ध दृष्टि से एक खतरा था जिससे वे दोनों ही देश सामान्य रूप से भयभीत थे। अत: मुसोलिनी ने फ्रांस के साथ समझौता करना ही श्रेयस्कर समझा और जनवरी, 1925 में फ्रांस और इटली के बीच एक समझौता हो गया।

फ्रांस और युगोस्लाविया : फ्रांस और इटली के बीच जो समझौता हुआ, वह आसानी से नहीं हो सका। फ्रांस के बाल्कन-साथी इटली से जलते थे और वे नहीं चाहते थे कि फ्रांस और इटली के बीच किसी प्रकार का समझौता हो। दोनों देशों के बीच समझौता होने के पूर्व यह आवश्यक था कि फ्रांस पहले अपने साथी देशों को इटालियन मित्रता का उपादेयता पर राजी कर ले। फरवरी, 1934 में बार्थो फ्रांस का विदेश-मंत्री हुआ। बार्थो जर्मनी का कट्टर विरोधी था। वह पोआन्कारे की नीति और रूर आधिपत्य का सबसे बड़ा समर्थक था। जिस समय वह फ्रांस के विदेश-मंत्रालय में घुसा, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति काफी बदल चुकी थी। जर्मनी में हिटलर का सितारा बुलन्द था, जो फ्रांस को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझता था। उस समय

जर्मनी निरस्त्रीकरण के सम्मेलन से अलग हो गया था और फ्रांस के नीति के निर्धारक उसको वापस बुलाने के लिए वार्ताएँ कर रहे थे। विदेश मंत्रालय में आते ही बार्थों ने वार्ताएँ बन्द कर दीं और अपने देश की मौजूदा प्रतिरक्षा- व्यवस्थाओं को दृढ़ करने और नयी प्रतिरक्षा-व्यवस्थाएँ निर्मित करने की दिशा में कठोर प्रयत्न करने के लिए यूरोपीय राजधानियों के भ्रमणार्थ निकल पड़ा। सबसे पहले वह वारसा पहुँचा। हाल ही में पोलैंड और जर्मनी के बीच समझौता हो चुका था। बार्थों इस समझौता को रद्द कर देना चाहता था। किन्तु उसे निराश होकर वारसा छोड़ना पड़ा। इसके बाद वह प्राग, बुखारेस्ट और बेलग्रेड गया। इस भ्रमण के फलस्वरूप लघुमंत्री संघ पुनः जी उठा। इसके पूर्व ही एक बाल्कान- मैत्री संघ कायम हो चुका था। तुर्की, युगोस्लाविया, रूमानिया और यूनान इस संघ के सदस्य थे। बार्थों जब पेरिस पहुँचा तो उसने गर्वपूर्वक यह घोषणा की कि 'प्राग से अन्कारा तक एक शान्ति- क्षेत्र का सृजन हो गया है।' फ्रांस निःसन्देह ही इस 'शान्ति क्षेत्र' (pace area) का नेता था। बार्थों इतने से ही सन्तुष्ट नहीं था। उसने सोवियत-संघ को भी अपने पक्ष में करने का सफल प्रयास किया और उसके प्रयास से सोवियत-संघ और फ्रांस दोनों एक दूसरे के काफी निकट आ गये। सोवियत-संघ को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दिलाने में उसी ने जी-जान से कोशिश की थी।

फ्रांस की सुरक्षा व्यवस्था से अब केवल इटली ही बाहर रह गया था। नात्सी क्रान्ति के फलस्वरूप जर्मनी का खतरा इतना बढ़ गया था कि नयी सुरक्षा-प्रणाली में इटली को सम्मिलित करना आवश्यक हो गया। किन्तु फ्रेंकों-इटालियन मेल-मिलाप का कट्टर विरोधी युगोस्लाविया था। युगोस्लाविया डेन्यूब क्षेत्र में फ्रांस और इटली की प्रभुता की अपेक्षा जर्मन प्रभुत्व को अच्छा समझता था। यदि जर्मनी आस्ट्रिया को अपने में मिला भी ले, तो युगोस्लाविया को अधिक भय नहीं था। किन्तु यदि इटली का प्रभाव आस्ट्रिया पर जम जाय तो यह युगोस्लाविया के हक में अच्छा नहीं था। वह दो बुराइयों में छोटी बुराई को ही पसन्द करता था, 'अतएव फ्रांस और इटली की मैत्री उसे पसन्द नहीं आयी, किन्तु नयी व्यवस्था के सफल बनाने के लिए युगोस्लाविया को राजी करना अति आवश्यक था। इसी भावना से प्रेरित होकर बार्थों ने युगोस्लाविया के शासक एलेक्जेडर को फ्रांस के लिए निमंत्रित किया। 9 अक्टूबर को एलेक्जेंडर मार्शल्स के बन्दरगाह पर उतरा। मि० बार्थों उससे मिले और ज्यों ही वे दोनों एक मोटर से रवाना हुए कि एक आतंकवादी क्रीट ने उन दोनों की हत्या कर दी।

यूरोप के लोगों में सरोजेवो-हत्याकांड की स्मृति एक बार पुनः जाग्रत हो उठी और कुछ निराशावादी इस आतंकपूर्ण कार्य में यूरोपीय शान्ति को खतरे में पड़ा देखने लगे। कुछ लोगों ने जर्मन नात्सियों को इसके लिए जिम्मेवार ठहराया। उनका कहना था कि बार्थों जर्मनी के खिलाफ एक बहुत बड़ा यूरोपीय गुट कायम करने में व्यस्त था और इसलिए नात्सियों ने उसका काम ही तमाम करवा दिया है। जर्मनी के अतिरिक्त मार्शेल्स-हत्याकांड ने इटली और हंगरी को भी समेट लिया। सभी जानते थे कि इटली और हंगरी दोनों ही असंतुष्ट यूगोस्लावों को शरण और सहायता देते थे, ताकि उन लोगों का उपयोग किसी दिन विद्रोह उभाड़ने में किया जा सके। इटली, युगोस्लाविया और फ्रांस का गुट कायम करने के बार्थों के सभी मनसूबे उनके जीवन के साथ ही समाप्त हो गये। मार्शेल्स-हत्याकांड से जोश पैदा हुआ उससे युगोस्लाविया, हंगरी तथा इटली के बीच गम्भीर तनाव पैदा हो गया। युगोस्लाविया इस मामले को राष्ट्रसंघ में ले गया। फ्रांस ने युगोस्लाविया को शान्त करने के लिए अनेक प्रयास किया, पर सब बेकार साबित हुआ। सौभाग्य से खतरे की गम्भीरता शीघ्र ही अनुभव कर ली गयी। एनथोनी ईडन ने स्थिति को संकटपूर्ण होने से बचा लिया, सम्बन्धित राज्यों के बीच एक गुप्त सौदा कर लिया गया जिसके अनुसार युगोस्लाविया ने वादा किया कि जेनेवा में वह इटली का नाम हत्याकांड के सिलसिले में उल्लेख नहीं करेगा और हंगरी कम-से-कम इतनी निन्दा स्वीकार कर लेगा, जितनी युगोस्लाविया के गुस्से को शान्त करने के लिए आवश्यक था। इसी आधार पर राष्ट्रसंघ कौंसिल ने एक प्रस्ताव पास कर दिया, पर इटली के प्रति युगोस्लाविया का संदेह बना ही रहा। इसके कारण युगोस्लाविया

और फ्रांस में अनबन बढ़ने लगी। बार्थों की मृत्यु के बाद लावाल फ्रांस का विदेश मन्त्री बना। वह इटली की दोस्ती का जबरदस्त समर्थक था। जनवरी, 1935 में लावाल रोम गया। मुसोलिनी और लावाल में फ्रांस और इटली से सम्बन्धित सभी विषयों पर बहुत दिनों तक वार्ताएँ होती रहीं और इसके बाद दोनों में अनेक समझौते हुए, जिससे फ्रांस और इटली का लम्बे अरसे से चला आ रहा वैर-विरोध समाप्त हो गया। इस समझौते के द्वारा जर्मनी, मध्य यूरोप तथा अफ्रीका इत्यादि से सम्बन्धित सभी समस्याएँ परस्पर तय कर ली गयीं। लावाल ने मुसोलिनी को यह आश्वासन दिया कि अगर इटली को अबीसीनिया में कोई सुविधा प्राप्त हो तो फ्रांस उनका विरोध नहीं करेगा। डचे बहुत दिनों से इस तरह के आश्वासन की ताक में था। इसके प्राप्त होते ही वह अपने इथोपियाई अभियान की तैयारी करने लगा। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि 1935 में इटली द्वारा अबीसीनिया पर किया गया आक्रमण जर्मनी की नात्सी-क्रान्ति का एक परोक्ष परिणाम था।

ब्रिटेन : नात्सी-क्रान्ति के प्रति प्रारम्भ में ब्रिटिश प्रतिक्रिया कुछ अस्पष्ट थी। नात्सी-प्रचार और राजनीतिक तरीकों को तथाकथित ब्रिटिश उदारतावादी नापसन्द करते थे (यद्यपि उसी समय भारत और चीन में स्वयं नात्सी भी अधिक कठोर नीति का अवलम्बन कर रहे थे) किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नात्सी-क्रान्ति से वे उतना सशंकित नहीं हुए जितना यूरोप के अन्य राज्यों से हुए थे। इसका एक कारण यह था कि ब्रिटेन जर्मनी का पुनरुत्थान चाहता था। दूसरे ब्रिटेन का विरोध करने के लिए तबतक तक तैयार नहीं था, जबतक जर्मनी द्वारा उनकी नाविक शक्ति को चुनौती न दी जाय। हिटलर ने ब्रिटेन की नाविक शक्ति के साथ प्रतिद्वंद्विता करने के प्रयत्न की हर पुनरावृत्ति का दृढ़ विरोध किया। ऐसी स्थिति में नात्सी-क्रान्ति के बाद ब्रिटिश राजनीतिक क्षेत्रों में कोई खलबली नहीं मची और ब्रिटेन कुछ दिनों के लिए अपनी पुरानी नीति का अनुसरण करता रहा। हिटलर के अभ्युदय का ब्रिटिश राजनीति पर केवल इतना ही प्रभाव पड़ा कि ब्रिटेन अब शस्त्रीकरण की दिशा में कदम उठाने लगा। यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। हथियार-बन्दी की होड़ में इसके कारण काफी गम्भीरता आ गयी और निरस्त्रीकरण की रही-सही उम्मीद भी धूल में मिल गयी।

अतएव हिटलर के सत्तारूढ़ होने के फलस्वरूप यूरोपीय कूटनीतिक स्थिति में जो उथल-पुथल हुई, उसको अब संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—पोलैंड और युगोस्लाविया फ्रांस के खेमे से अलग हो गये। फ्रांस के साथ समझौता करके इटली जर्मन-विरोधी मोर्चे में सम्मिलित हो गया। सोवियत-संघ अपनी पुरानी विदेश-नीति को त्याग कर फ्रांस के गुट में आ गया और फ्रांस के नेतृत्व में अन्य बाल्कन-देशों का संगठन और मजबूत बन गया। इन सब बातों को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जर्मनी में हिटलर का सत्तारूढ़ होना विश्व राजनीति के इतिहास में एक वर्तन-बिंदु है।

अध्याय 29

दो विश्व-युद्धों के बीच इटली की विदेश-नीति

(Italian Foreign Policy between the Two World Wars)

विदेश नीति के उद्देश्य : प्रथम महायुद्ध में इटली ने मित्रराष्ट्रों का साथ दिया था। यह प्रादेशिक विस्तार के लोभ में मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हुआ था। युद्ध के समय 23 अप्रैल, 1915 को लन्दन में इटली और मित्रराष्ट्रों के बीच एक गुप्त सन्धि हुई थी जिसके अनुसार ट्रेन्तिनों, ट्रीस्ट, टिरोल प्रदेश, उत्तरी डाल्मेशिया के अनेक प्रदेश उसको देने के वादे किये गये थे। जब युद्ध खत्म हुआ तो इटली ने अपने को विजेताओं की पंक्ति में खड़े पाया। इटली का तत्कालीन प्रधानमंत्री ओरलैंडों पेरिस शान्ति-सम्मेलन में एक महान् राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुआ था। वहाँ उसने इटली के दावे को पेश किया, लेकिन राष्ट्रपति विल्सन ने उसका घोर विरोध किया। अतएव शान्ति-सम्मेलन में इटली को कुछ भी महत्वपूर्ण लाभ नहीं हुआ। अफ्रीका में साम्राज्य-विस्तार की उसकी कामना अधूरी रह गयी। इसी कारण विजयी पक्ष में होते हुए भी इटली युद्ध से पराजित अवस्था में ही निकला। इटली में घोर निराशा व्याप्त हो गयी और वह अपने को 'अतृप्त राज्यों' की कोटि में गिनने लगा। इटली के लोग समझने लगे कि काम निकल जाने के बाद मित्रराष्ट्रों ने उसे धोखा दिया है। देशभक्तों तथा राष्ट्रवादियों ने इसको राष्ट्रीय अपमान समझा और इसके लिए अपनी कमजोर सरकार को जिम्मेवार ठहराया जो शान्ति-सम्मेलन में इटली के दावे को पूरी शक्ति के साथ पेश नहीं कर सकी।

फासिज्म का उत्कर्ष : इटली की इस दुर्दशा का प्रभाव उसकी आन्तरिक और बाह्य दोनों नीतियों पर पड़ा। वहाँ की जनता अनुभव करती थी कि मित्रराष्ट्रों ने उन्हें धोखा दिया है। युद्ध में काफी खर्च करने पड़े थे, जिसके परिणामस्वरुप उसकी आर्थिक व्यवस्था एकदम खराब हो गयी थी। हजारों लोग भूखे मर रहे थे। सारे देश में असन्तोष था। इस असन्तोष से लाभ उठाकर मुसोलिनी नामक एक व्यक्ति ने एक फासिस्ट पार्टी की स्थापना करके 1922 में इटली की सत्ता पर कब्जा जमा लिया। मुसोलिनी के उत्थान की कहानी और फासिस्ट व्यवस्था का वर्णन करना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के इतिहास का विषय नहीं हो सकता था। यहां पर हम केवल इटली की विदेश नीति पर ही प्रकाश डालेंगे।

मुसोलिनी की विदेश-नीति फासिस्ट सिद्धान्त पर ही आधारित थी। फासिस्ट-सिद्धान्त संख्या की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व देता था। यदि हजार मूर्ख एक बात कहते हों तो वह मान्य नहीं हो सकती। एक ज्ञानी आदमी जो बात कहे, वही मान्य होनी चाहिए। इटली की विदेश-नीति के मूल में वह एक महत्वपूर्ण बात थी। फासिस्ट होने के नाते डूचे को राष्ट्रसंघ में विश्वास नहीं था; क्योंकि वह राष्ट्रों की समता के सिद्धान्त पर आधारित था। मुसोलिनी की राय में राष्ट्रसंघ इस कारण कोई कार्रवाई करने में पंगु था कि उसे पचास से अधिक सदस्य राज्यों के मतैक्य की आवश्यकता थी। अपने इथोपियन अभियान के समय उसने कहा था—"चिर-शान्ति की कामना एक बेतुकी बात है। इसका हमारे सिद्धान्त और प्रवृत्ति से मेल नहीं खाता। सामूहिक सुरक्षा

का सिद्धान्त न कभी कायम रहा है और न भविष्य में कभी कायम रहेगा। राष्ट्रसंघ एक व्यर्थ की संस्था है। हमें अपने जीवन के लिए स्वयं तैयार रहना चाहिए।" । वह अन्तर्राष्ट्रीय मत्स्यन्याय में विश्वास करता था, राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सहजीवन में नहीं।

विदेश-नीति के क्षेत्र में हिटलर की तरह मुसोलिनी के भी कुछ महत्वपूर्ण उद्देश्य थे। महायुद्ध में इटली की सेनाओं ने कोई विशिष्ट वीरता प्रदर्शित नहीं की थी। इटली वाले अपनी सैनिक निर्बलता को समझते थे और उनमें एक विशेष प्रकार का हीन-भाव उत्पन्न हो गया था। महायुद्ध के उपरान्त पेरिस के शांति सम्मेलन में भी इटली के साथ उपेक्षा का बर्ताव हुआ था और इटली वाले समझते थे कि इसका कारण उसकी दुर्बलता ही था। मुसोलिनी ने जिस समय सत्ता अपने हाथ में ली उस समय इटली में यह हीन भावना सर्वत्र व्याप्त हो रही थी और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी बहुत ऊँची नहीं थी। मुसोलिनी की विदेश-नीति का प्रधान उद्देश्य इस दुर्बलता एवं हीन-भावना का अन्त करके इटली के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संसार में सम्मानपूर्ण पद प्राप्त करना और संसार की महान् शक्तियों में इसे स्थान दिलाकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाना था। इसके साथ ही उसका दूसरा उद्देश्य इटली के लिए एक साम्राज्य का निर्माण करना था। महायुद्ध के फलस्वरूप इटली का बाल्कन प्रायद्वीप, पश्चिमी एशिया तथा अफ्रीका में साम्राज्य-विस्तार का जो स्वप्न था वह भंग हो गया था। मित्रराष्ट्रों ने उसे धोखा दिया था। उसे इसका प्रतिकार करना था और वर्साय की सन्धि का संशोधन करना था। इसके अतिरिक्त मुसोलिनी का सत्तारूढ़ बना रहना इसी असफलता पर आधारित था। तानाशाही को सुदृढ़ बनाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय होता है - युद्ध के द्वारा साम्राज्य विस्तार करके राष्ट्रीय सम्मान में वृद्धि करना। इससे जनता का ध्यान विदेशी घटनाओं को ओर आकर्षित रहता है और तानाशाही स्वच्छंद रहती है।

भूमध्य सागर पर प्रभुत्व स्थापना का प्रयास : पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में जब मित्रराष्ट्रों के मध्य लूट का बंटवारा किया जा रहा था, तो उस समय इटली की ओर से भूमध्यसागर के पूर्व भाग में स्थित रोहडस तथा डोडिकानीज-द्वीप समूहों को प्राप्त करने की मांग प्रस्तुत की गयी। लेकिन वहाँ इसको अस्वीकृत कर दिया गया। सेब्रेज की सन्धि के अनुसार इटली को इन द्वीपसमूहों पर से अपने दावे का परित्याग करना पड़ा। किन्तु मुसोलिनी भूमध्यसागर में पूरी प्रभुता स्थापित कर उसे "रोमन झील" के रूप में परिवर्तित करने का इरादा रखता था। अतएव अधिकार प्राप्त करने के तुरन्त ही बाद मुसोलिनी ने इस द्वीप-समूह पर कब्जा कर लिया। वहाँ किलाबन्दी की गयी और अच्छे नौसैनिक अड्डे स्थापित किये गये।

कोर्फू-कांड : 1923 के अगस्त-सितम्बर में कोर्फू को लेकर यूनान के साथ इटली का झगड़ा हो गया। इसके सम्बन्ध में हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि कोर्फू का मामला राष्ट्रसंघ में पेश हुआ और काफी कठिनाई के बाद इसका समाधान हो पाया।

फ्यूम की प्राप्ति : पेरिस-शान्ति-सम्मेलन में फ्यूम बन्दरगाह में तथा यूनान के प्रश्न पर इटली तथा यूगोस्लाविया के बीच घोर मतभेद हो गया था। मित्रराष्ट्रों में 1920 में दोनों देशों में समझौता कराकर फ्यूम को एक स्वतन्त्र बन्दरगाह बना दिया। लेकिन 1924 में मुसोलिनी ने युगोस्लाविया के साथ समझौता करके फ्यूम का उपनगर पोर्टबेरिस उसे दे दिया और फ्यूम पर स्वयं अधिकार जमा लिया।

रूस से मित्रता : इस प्रकार मुसोलिनी ने इटली की प्रतिष्ठा बढ़ाने तथा भूमध्यसागर में अपनी स्थिति को सुधारने के प्रयत्न शुरू किये। 1922 में वाशिंगटन की सन्धि के द्वारा नाविका स्थित में इटली को फ्रांस के साथ समानता का स्तर मिल चुका था। इसके बाद भी वह अपना पक्ष सबल बनाने के लिए मित्रता प्राप्त करना चाहता था, पर उस समय यूरोप में एक मित्र देश को प्राप्त कर लेना बड़ा ही कठिन कार्य था। यूरोप के अधिकांश देश यथास्थिति के समर्थक और सन्धि-संशोधन के विरोधी थे। केवल आस्ट्रिया, हंगरी और बुल्गेरिया ही ऐसे राज्य थे जो सन्धि में संशोधन चाहते थे। ये राज्य इटली की ओर आकर्षित होने लगे और

इटली से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने लगा, परन्तु ये सब राज्य छोटे थे। बड़े राज्यों में जर्मनी की दशा क्षीण हो रही थी। केवल रूस बचा था. वह भी सन्धि के संशोधन के पक्ष में था। अतः उसने फरवरी 1924 में रूस की सोवियत सरकार को वैध मान्यता प्रदान करके उनके साथ व्यापारिक संधि कर ली। वह सोवियत रूस को राष्ट्रसंघ में सम्मिलित करने का प्रयत्न करने लगा और दोनों में घनिष्ठता बढ़ने लगी। इसके बाद अप्रैल, 1927 में हंगरी के साथ, सितम्बर, 1928 में यूनान के साथ और फरवरी,1930 में आस्ट्रिया के साथ इटली की मित्रता की सन्धियाँ हुईं।

टिराना की सन्धि : मुसोलिनी एड्रियाटिक सागर पर पूरा अधिकार जमाना चाहता था। इसके लिए औटैंटी के जलडमरू-मध्य पर नियन्त्रण पाना आवश्यक था। मुसोलिनी ने अब इस पर अपनी दृष्टि जमाया, पर इसके लिए अल्बेनिया से समझौता करना आवश्यक था। अतएव 27 नवम्बर, 1926 को अल्बेनिया की राजधानी टिराना में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार अल्बेनिया इटली का संरक्षित राज्य बन गया। मुसोलिनी धीरे-धीरे अल्बेनिया पर अपना प्रभुत्व बढ़ाता रहा और 1939 में उस पर कब्जा कर लिया।

हिटलर का उदय तथा फ्रांस-ब्रिटेन के सहयोग : 1933 के आरम्भ में जर्मनी में हिटलर सत्तारूढ़ हुआ। इससे मुसोलिनी बड़ा भयभीत हुआ। इसका कारण था कि हिटलर आस्ट्रिया को जर्मनी में सम्मिलित कर लेना चाहता था। लेकिन मुसोलिनी चाहता था कि आस्ट्रिया पर इटली का प्रभाव बना रहे। इटली की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था। अगर आस्ट्रिया और जर्मनी एक साथ मिल जाते तो दक्षिण ट्रायरोल नामक जर्मनी आस्ट्रियन प्रान्त के लिए, जो वर्साय सन्धि द्वारा इटली को प्राप्त हुआ था, खतरा पैदा हो सकता था। आस्ट्रिया और जर्मनी का संघ स्थापित हो जाने से इटली जर्मन के निकट सम्पर्क में आ जाता था। मुसोलिनी इस संभावना से बचना चाहता था। अतएव नात्सी-क्रान्ति के फलस्वरूप इटली की विदेश-नीति नाटकीय ढंग से बदलने लगी। इटली आस्ट्रिया के नात्सी विरोधियों को हर प्रकार से मदद देने लगा और जब जुलाई, 1934 में आस्ट्रियन प्रधानमंत्री डाल्फस की हत्या नात्सियों ने कर दी तो मुसोलिनी ने आस्ट्रिया की सीमा पर अपने सैनिकों को तैनात कर दिया, पर इतने से ही इटली का काम चलने वाला नहीं था। युद्ध के बाद युगोस्लाविया के दावों का समर्थन करने के कारण फ्रांस और इटली का सम्बन्ध निरन्तर खराब ही होता गया। अफ्रीका और नौ-सेना सम्बन्धी विषयों को लेकर दोनों का झगड़ा और भी गम्भीर हो गया था। किन्तु, आस्ट्रिया पर हिटलर की गिद्ध-दृष्टि एक ऐसा खतरा था, जिससे ये दोनों ही देश सामान्य रूप से समझौता ही श्रेयस्कर समझते थे और जनवरी, 1935 में फ्रांस और इटली के बीच समझौता हो गया। इस अवसर पर फ्रांस का विदेश मंत्री लावाल रोम आया था। सम्भवतः इसी भेंट में मुसोलिनी ने लावाल से अबीसीनिया पर अधिकार करने की अपनी आकांक्षा प्रकट की और ऐसा विश्ववास किया जाता है कि लावाल ने मुसोलिनी को यह आश्वासन दिया कि अबीसीनिया में फ्रांस का कोई हित नहीं है अर्थात उसे छूट दे दी। इस तरह की सन्धि उसने चेकोस्लोवाकिया के साथ भी की। 1934 में इटली राष्ट्रसंघ का सदस्य भी हो गया।

1935 में अब हिटलर ने वर्साय-सन्धि की धाराओं को तोड़ा तो इटली, फ्रांस और इंगलैंड के प्रतिनिधि स्ट्रेसा नामक स्थान पर मिले और एक समझौता किया जिसके अनुसार हिटलर के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा कायम किया गया।

अबीसीनिया का युद्ध

अबीसीनिया पर आक्रमण के कारण : देश का गौरव बढ़ाने के लिए मुसोलिनी अभी तक कोई चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं कर पाया था। लेकिन यह काम उसे करना था और इसके लिए उसने अबीसीनिया को चुना। अबीसीनिया का छोटा-सा राज्य उत्तर-पूर्व अफ्रीका में स्थित है। इस देश में इटली की दिलचस्पी की कहानी काफी पुरानी है। 1866 में ही इटली ने अबीसीनिया पर हमला करके उसे अपने साम्राज्य में मिला

लेने का प्रयास किया था, पर अड़ोवा की लड़ाई में उसे बुरी तरह पराजित होना पड़ा था। मुसोलिनी इसको भूला नहीं था और वह उपयुक्त अवसर की ताक में था जब अड़ोवा की पराजय का प्रतिशोध अबीसीनिया से लिया जाय, पर इस काम को वह धोखा देकर करना चाहता था। इसलिए 1928 में इटली ने अबीसीनिया के साथ एक सन्धि की थी जिसके अनुसार, अन्य बातों के अतिरिक्त इटली ने यह वादा किया था कि वह अबीसीनिया की 'स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता पर अतिक्रमण नहीं करेगा। फिर भी 1935 में मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर चढ़ाई कर दी। इसके कई कारण थे। इसका पहला कारण यह था कि साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता में इटली बहुत देर से शामिल हुआ था और इस समय तक अबीसीनिया ही एक ऐसा देश बच रहा था, जहाँ इटली का साम्राज्यवादी प्रसार हो सकता था। इटली अपने को ऐसी ताकत समझता था, जिसका विस्तार होना अति-आवश्यक था। इरिट्रिया, सोमालीलैंड और लीबिया में उसके साम्राज्य पहले से ही स्थापित थे। अगर अबीसीनिया भी उसमें सम्मिलित हो जाता है तो अफ्रीका में इटली का एक विशाल साम्राज्य बन सकता था। इसके अतिरिक्त मुसोलिनो संसार में अंपना यश और ख्याति फैलाना चाहता था। अन्य तानाशाहों की तरह उसे भी कुछ करना चाहिए। हिटलर का नाम प्रतिदिन संसार के अखबारों में मोटे-मोटे अक्षरों में छपा करता था। इस क्षेत्र में मुसोलिनी क्यों पीछे रहता ? उग्र साम्राज्यवादी विदेश-नीति का अनुसरण करके ही तो वह अपना शासन सुरक्षित रख सकता था। 1930-32 के आर्थिक संकट के कारण इटली की आर्थिक स्थिति खराब हो गयी थी और देश में करीब ढाई लाख लोग बेकार हो गये थे। इसके अतिरिक्त अबीसीनिया में तरह-तरह के खनिज पदार्थ उपलब्ध थे जिससे इटली का औद्योगिक विकास हो सकता था। फिर, इटली की बढ़ती हुई आबादी को बसाने का प्रश्न था। इसके लिए अबीसीनिया एक अच्छा प्रदेश हो सकता था। अतः मुसोलिनी अबीसीनिया पर आक्रमण करने का मनसूबा बाँधने लगा।

जैसा कि मार्शल डी बोनो की जीवनी से प्रकट है, इटली ने 1932 में ही अबीसीनिया पर आक्रमण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। इटली के प्रसार की आवश्यकता फासिस्ट नीति का एक आधारभूत तत्व थी और मुसोलिनी इस दशा में प्रयत्नशील था। 1931 में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और उस अवसर पर राष्ट्रसंघ की निर्बलता स्पष्ट हो गयी। इससे मुसोलिनी का हौसला बढ़ा। इसके बाद जर्मनी में 1933 के बाद प्रारम्भ में नात्सी क्रान्ति हो गयी। नात्सी खतरे के अभ्युदय के कारण मुसोलिनी अपने लक्ष्य की पूर्ति जल्द-से-जल्द करना चाहता था। इसके अतिरिक्त नात्सी क्रान्ति से मुसोलिनी को बहुत बड़ी प्रेरणा भी मिली। सत्तारूढ़ होने के तुरन्त ही बाद हिटलर ने वर्साय-सन्धि को अमान्य घोषित कर दिया था और उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती थी। यह देखकर मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया।

युद्ध का प्रारम्भ : काफी पैंतरेबाजी के बाद वालवाल की एक छोटी-सी घटना को लेकर इटली ने 1935 में अबीसीनिया पर आक्रमण शुरू कर दिया। अबीसीनिया राष्ट्रसंघ का एक सदस्य था। अतएव उसने राष्ट्रसंघ में अपील की। राष्ट्रसंघ बहुत दिनों तक इस समस्या के समाधान की कोशिश करता रहा, पर उसे सफलता नहीं मिली। राष्ट्रसंघ ने किस तरह अबीसीनिया काण्ड की समस्या पर विचार किया इसे हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

परिणाम : अबीसीनिया कांड दो विश्व-युद्ध के बीच के काल की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसने राष्ट्रसंघ की कमजोरी को प्रदर्शित कर दिया कि प्रबल राष्ट्रों के आक्रमण से छोटे और निर्बल राष्ट्रों की रक्षा करने में वह असमर्थ है। इस प्रकार इस घटना ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता और आक्रामक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। बर्लिन और टोकियो में इस बात पर विशेष रूप से गौर किया गया था।

अबीसीनिया-युद्ध और इटली के प्रति अन्य राष्ट्रों के दब्बू रुख को देखकर हिटलर ने वर्साय-सन्धि की शर्तों को अस्वीकार करना शुरू कर दिया। इस सन्धि की कुछ शर्तों को वह पहले ही अस्वीकृत कर चुका था। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से लाभ उठाकर मार्च, 1936 में हिटलर ने सेना भेजकर राइनलैंड पर अपना अधिकार कायम कर लिया। एक तरह से अब लोकार्नों सन्धियों का अन्त प्रारम्भ हो गया। आक्रमणकारी को दण्ड नहीं देने का अर्थ आक्रमणकारी प्रवृत्ति को बढ़ावा देना ही होता है। मुसोलिनी ने खुलेआम राष्ट्रसंघ-विधान का उल्लंघन किया था और सामूहिक रूप से उसको कोई दण्ड नहीं दिया गया।

रोम-बर्लिन-धुरी : अबीसीनिया-कांड का प्रभाव जर्मनी और इटली के परस्पर सम्बन्ध पर पड़े बिना नहीं रह सका। अभी तक मुसोलिनी और हिटलर विविध कारणों से एक दूसरे से वहुत दूर थे। ब्रिटेन और फ्रांस ने मुसोलिनी की नीति का विरोध किया था। इसके विपरीत हिटलर संकट के आदि से अन्त तक तटस्थ बना रहा। हिटलर की तटस्थता मुसोलिनी के लिए बहुत बड़ी नैतिक सहायता साबित हुई। इसके फलस्वरूप दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने लगा। हिटलर और मुसोलिनी का मेल-मिलाप और 'रोम-बर्लिन-धुरी' की स्थापना अबीसीनिया-कांड के प्रत्यक्ष परिणाम थे। अक्टूबर,.1936 में जर्मनी और इटली में एक समझौता हुआ जिसके आधार पर धुरी की नींव पड़ी और जो 1944 तक कायम रही।

रूस का विरोध : मुसोलिनी इंगलैंड, फ्रांस और रूस से अधिक रुष्ट हो गया था। इसका कारण यह था कि तुर्की बॉस्फोरस तथा डार्डेनेलीज के जल-संयोजकों का पुन: सैनिकीकरण (Remilitarization) करना चाहता था और इसी दृष्टि से उसने महान सत्ताओं को इस प्रश्न पर विचार करने के लिए आमंत्रित किया था। जून-जुलाई 1936 में मांत्रों (Montreun) सम्मेलन हुआ, परन्तु इटली उसमें सम्मिलित नहीं हुआ और इंगलैंड, फ्रांस, रूस तथा तुर्की ने इटली के सहयोग के बिना ही समझौता कर लिया। इससे इटली को बहुत बुरा लगा और वह रूस के विरुद्ध नवम्बर, 1936 में जर्मनी ने जापान से जो सन्धि (Anti-Commintern Pact) की थी, उनमें शामिल हो गया (1937)।

स्पेन का गृह-युद्ध

इस प्रकार इटली और जर्मनी में मैत्री आरम्भ हुई और उसे सुदृढ़ बनाने का मौका भी साथ-ही-साथ स्पेन में मिल गया। कहा जाता है कि अबीसीनिया के युद्ध ने इटली और जर्मनी का वैमनस्य दूर किया था, किन्तु स्पेन के गृह-युद्ध ने दोनों को प्रगाढ़ मित्र बना दिया।

गृह-युद्ध की पृष्ठभूमि : स्पेन का गृह-युद्ध यद्यपि एक राज्य की आंतरिक स्थिति का विषय है, फिर भी इसे विश्व-युद्ध का पूर्वाभिनय माना जाता है। इसकी महत्ता इस बात में है कि इसके द्वारा यूरोपीय शक्तियों के शक्ति संगठन (group-alignment) का आभास पहले मिल गया। इस गृह-युद्ध में शक्ति-संगठन कुछ उसी प्रकार का हुआ था जिस प्रकार पीछे चलकर द्वितीय-युद्ध में। इसका कारण सारा यूरोप दो गुटों में विभाजित हो गया।

प्रथम विश्व-युंद्ध में स्पेन तटस्थ रहा। अतएव महायुद्ध के समय उसकी अपूर्व उन्नति हुई पर युद्ध के बाद इस प्रकार की स्थिति कायम नहीं रह सकी। युद्ध के समाप्त हो जाने के तुरन्त बाद स्पेन में भयंकर आर्थिक संकट उपस्थित हो गया और बेकारी की समस्या गम्भीर हो गयी। इस पर मजदूरों में असन्तोष बढ़ा, हड़तालें शुरू हुईं, दंगे-फसाद होने लगे। 1921 में स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि हड़तालियों ने वहाँ के प्रधानमंत्री की हत्या तक कर दी। स्पेन में बराबर विद्रोह और हड़ताल का एक कारण यह भी था कि जनता सरकार के कुशासन से काफी परेशान रहती थी। नाम के लिए तो स्पेन में वैध राजसत्ता थी; पर वास्तव में वहाँ का राजा अलफान्सो पूर्णरूप से तानाशाही करता था। इसलिए स्पेन में शासक के विरुद्ध सदा विद्रोह होते रहते थे। 1921 में मोरक्को में, जिसके एक भाग पर स्पेन का अधिकार था, एक भयंकर विद्रोह हो गया। इस विद्रोह

से मोरक्कों के राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवादी सेना को बुरी तरह परास्त कर दिया। इससे स्पेन में बड़ी बेचैनी फैली। जनता ने समझा कि अलफान्सो के कुप्रबंध के कारण ही मोरक्को में स्पेन की हार हुई है। जनता इस कुप्रबंध के विरुद्ध आवाज उठाने लगी। अलफान्सो ने देखा कि जनता में विद्रोह की भावना इतनी बढ़ रही है कि निकट भविष्य में उसे राजगद्दी से हाथ धोना पड़ेगा। अत: सितम्बर, 1923 में उसने प्रीमो दी रिवेरा नामक एक सेनापति की मदद से विद्रोह को कुचल दिया। मन्त्रिमंडल तथा संसदीय शासन का अन्त कर शासन-विधान को रद्द कर और देश में सैनिक शासन लागू करके रिवेरा स्वेच्छाचारी शासन करने लगा। वह इटली की फासिस्ट-व्यवस्था का अनुसरण करके स्पेन का मुसोलिनी बनना चाहता था। 1923 से 1930 तक स्पेन पर वह अपना स्वेच्छाचारी शासन करता रहा। उदार और प्रजातान्त्रिक विचार के सभी लोगों को कैद कर लिया गया। पर, इस तरह की व्यवस्था होने पर भी स्पेनियों में विद्रोह की भावना बलवती ही होती रही। देश में साम्यवाद भी जड़ पकड़ने लगा। समय-समय पर दंगे, विद्रोह और हड़तालें होती रहती थीं। इन विद्रोहों का स्वरूप राजतन्त्र-विरोधी भी होने लगा। इसको देखकर अलफान्सो घबड़ा गया। उसने देखा कि प्रीमो दी रिवेरा के शासन से जनता इतनी असंतुष्ट हो गयी है कि उसके कारण उस पर भी खतरा उपस्थित हो गया है। अत: रिवेरा को हटाने के लिए वह षड़यंत्र करने लगा। रिवेरा ने जब देखा कि उसका साथ देने वाला अब कोई नहीं रह गया है जनवरी, 1930 में उसने पद त्याग कर दिया।

दी रिवेरा के पद त्याग के बाद राजा अलफान्सो ने स्पेन में पुन: वैधानिक शासन स्थापित करने की घोषणा की। वह संसद के चुनाव की व्यवस्था करने लगा। पर जनता ने एक विधान-परिषद की माँग की। अलफान्सो विधान-परिषद् नहीं चाहता था। वह किसी-न-किसी बहाने विधान परिषद की माँग टालता रहा। इसी बीच स्पेन में गणतंत्रीय भावना काफी प्रगति कर रही थी। जमोरा नामक एक व्यक्ति के नेतृत्व में दिसम्बर, 1930 में गणतान्त्रिक और साम्यवादी पार्टियों ने मिलकर राजतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अलफान्सो इस विद्रोह को दबाने में सर्वथा असमर्थ था। वह स्पेन छोड़कर फ्रांस भाग गया। उसके बाद स्पेन में एक गणतान्त्रिक सरकार की स्थापना हो गयी। नयी सरकार ने स्पेन की अवस्था सुधारने के लिए तुरन्त ही महत्वपूर्ण कदम उठाये और उसे काफी सफलता भी मिली। पर जमोरा की सरकार से सभी स्पेनवासी खुश नहीं थे। एक तरफ कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो स्पेन में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना चाहते थे। इस दल में सामन्त, पादरी और कुछ अन्य प्रतिक्रियावादी थे, जिनका विशेष स्वार्थ और एकाधिकार क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना के फलस्वरूप नष्ट हो गया था। दूसरी तरफ उग्र समाजवादी और साम्यवादी थे जिनके विचार में जमोरा की सरकार ने स्पेनिश जनता के हित में कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया था। इस प्रकार स्पेन दो विरोधी वादों का संघर्ष क्षेत्र बन गया और गणतन्त्र पर अधिकार प्राप्त करने के लिए दक्षिण पंथियों और वामपंथियों ने दाव-पेंच लगाना शुरू कर दिया। 1931 से 1933 तक स्पेन की राजनीति इसी आन्तरिक संघर्ष की कहानी है।

स्पेन की आन्तरिक उथल-पुथल का वर्णन इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। यहां पर उसका संक्षिप्त विवरण ही सम्भव है। 1933 में स्पेनिश संसद का एक चुनाव हुआ। इसमें वामपंथियों को अधिक सफलता नहीं मिली। चुनाव के बाद रिपब्लिक दल के नेता लेरू ने एक मंत्रिमंडल बनाया। किन्तु लेरू सरकार प्रतिक्रियावादी सरकार साबित हुई। उसने पहले की सरकार की सभी प्रगतिशील योजनाओं को स्थगित कर दिया। इसके विरोध में स्पेन में पुन: छिटपुट बलवे होने लगे। स्पेन के वामपंथियों जिसमें रेडिकल समाजवादी और साम्यवादी सम्मिलित थे, ने अनुभव किया कि यदि वे अपनी आपसी कलह को भूलकर संगठित नहीं होते हैं, तो स्पेन कि गतिशील शक्तियों को जबरदस्त धक्का पहुँचेगा। अत: उन लोगों ने मिलकर एक 'लोकमोर्चा' का संगठन किया। 1936 में स्पेनिश संसद का नया चुनाव हुआ। इस चुनाव के 'लोकमोर्चा' में सम्मिलित सभी पार्टियों ने सम्मिलित रूप से चुनाव में भाग लिया और उनके उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में संसद के सदस्य निर्वाचित हुए। चुनाव के फलस्वरूप स्पेन में 'लोकमोर्चा' दल का मन्त्रिमंडल कायम हुआ।

लोकमोर्चा दल की सरकार तो कायम हुई पर स्पेन के भाग्य में कुछ और ही लिखा था। हिंसा और विद्रोह की जो प्रवृत्ति स्पेन में वर्षों से चली आ रही थी, वह लोकमोर्चा की सरकार कायम हो जाने से ही शान्त नहीं हुई। स्पेन में फिर से अराजकता छा गयी और सारी व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो गयीं। 1936 के चुनाव और जनरल फ्रांको का विद्रोह शुरू होने के बीच 201 चर्च जला दिये गये थे। 334 अखबारों के दफ्तर, क्लब और निजी मकान हमले के शिकार हुए थे। 331 हड़तालों हो चुकी थीं, डकैती का बोलबाला था और असंख्य व्यक्ति मारे और घायल किये जा चुके थे। इन हत्याओं में 12 जुलाई 1936 को काल्वा माटेली की हत्या सबसे महत्वपूर्ण थी; क्योंकि इस हत्या के कारण स्पेन में गृह-युद्ध भड़क उठा।

गृह-युद्ध : जिस प्रकार सम्पूर्ण स्पेन में एकाएक गृह-युद्ध की आग भड़क उठी, उसको देख कर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सैनिक अफसरों द्वारा निर्देशित यह विद्रोह पूर्णतया योजनाबद्ध था और इसकी तैयारी बहुत पहले से ही हो रही थी। वास्तव में स्पेनिश सरकार को सम्भावित सैनिक विद्रोह की भनक पहले ही मिल चुकी थी और देश को इस विद्रोह से बचाने के लिए वह कुछ कदम भी उठा चुकी थी। उदाहरण के तौर पर वैसे सैनिक अफसर जिनकी वफादारी संदिग्ध थी, को हटाने का प्रयास किया गया। अप्रैल के महीने में एक अध्यादेश जारी करके उन सैनिक अफसरों को अनिवार्य रूप से अवकाश ग्रहण कराया गया, जो राजनीति में काफी दिलचस्पी लेते थे। कुछ अफसरों की बदली कर दी गयी। स्पेन का प्रमुख सैनिक अधिपति जनरल फ्रांको भी इन अफसरों में एक था। जुलाई, 1936 में कुछ और सैनिक अफसर अपने पद से हटा दिये गये या उनका तबादला कर दिया गया। इस प्रकार सैनिक मामलों में बार-बार हस्तक्षेप करने के कारण सैनिक अफसरों में तहलका मच गया और उन्होंने सरकार को उलट देने का विचार किया। उसको इस बात का पता था कि सैनिक विद्रोह की अवस्था में देश की पूँजीपतियों, प्रतिक्रियावादियों तथा सामन्तों की और विदेश से नात्सी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली से सब तरह की सहायता मिल सकती है।

17 जुलाई, 1936 को मोरक्को स्थिति स्पेनिश सेना की टुकड़ियों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का नेता जनरल फ्रांको हुआ। उसने मोरक्को से सेना लेकर स्पेन के लिए प्रस्थान किया। स्वयं स्पेन में सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और फ्रांको के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। विद्रोहियों के पक्ष में लगभग नब्बे प्रतिशत अफसर और दो-तिहाई सिपाही थे। इसके अतिरिक्त कुछ ही दिनों के बाद स्वयंसेवकों के रूप में उन्हें विदेशी सहायता भी मिलने लगी। स्पेन के गृह-युद्ध में यह दल 'राष्ट्रवादी' कहलाया। स्पेन के गणतान्त्रिक सरकार को किसान, मजदूर तथा कुछ सैनिक अफसरों और सिपाहियों का समर्थन प्राप्त था। सितम्बर, 1936 में फ्रांसिस्को लारगो केवालेरी स्पेन का प्रधानमंत्री बना और उसके मन्त्रिमंडल में समाजवादी और साम्यवादी नेता भी सम्मिलित हुए। ट्रेड यूनियन के समर्थन से फ्रांको का मुकाबला करने के लिए एक 'लोक सेना' का संगठन किया गया; पर वह 'लोक-सेना' फ्रांको की सुसज्जित सेना के सामने नहीं के बराबर थी। आसानी से उसने दक्षिण स्पेन पर अधिकार कर लिया तथा पश्चिम स्पेन की तरफ से बढ़ने लगा। फ्रांको निरन्तर आगे बढ़ता गया और नवम्बर में स्पेन की राजधानी मैड्रिड तक पहुँच गया। स्पेनिश सरकार हटकर बेलेन्शिया चली गयी तथा राजधानी का पतन निकट प्रतीत होने लगा। ऐसा लगता था कि शीघ्र ही मैड्रिड पर फ्रांको का कब्जा हो जायगा। ऐसी स्थिति में जर्मनी और इटली के महान नेता हिटलर और मुसोलिनी शान्त बैठनेवाले नहीं थे। उन्होंने तुरन्त ही फ्रांको की 'असली' और 'वैध सरकार' को कूटनीतिक मान्यता प्रदान कर दी। इसके बाद जर्मनी और इटली के सैनिक सेवा के सदस्य और सिपाही 'स्वयंसेवक' के रूप में बाजप्ता फ्रांको की मदद के लिए पहुँचने लगे। इसी तरह यूरोप के अन्य उदारवादी देशों खासकर सोवियत संघ में बहुत-सी स्वयंसेवक सेनाएँ इसी उद्देश्य के संगठित की जाने लगीं कि वे स्पेन में जाकर गणतान्त्रिक सरकार को मदद दें। इस तरह की स्थिति में एक ऐसा वातावरण

तैयार हो गया था, जिससे लगता था कि यूरोप भर में एक प्रकार का गृह-युद्ध हो गया है, जो स्पेन की भूमि पर लड़ा जा रहा है। रूस की सहायता से गणतान्त्रिक सरकार की स्थिति कुछ सम्हल गयी और फ्रांको के विरुद्ध सरकारी सेना भारी पड़ने लगी। मैड्रिड का पतन होने से बच गया।

विदेशी प्रतिक्रिया : संसार के लिए स्पेनिश गृह-युद्ध का समाचार एक बहुत ही दुखद घटना थी। 1898 के बाद इस देश का समाचार शायद ही कभी अखबारों के प्रथम पृष्ठ पर छापा हो। ऐसे वहाँ समय-समय पर विद्रोह, हड़ताल, खून-खराबी इत्यादि होते रहते थे, पर विश्व राजनीति की दृष्टि से वे महत्वपूर्ण नहीं होते थे। लेकिन, इस बार का स्पेनिश-संघर्ष काफी महत्वपूर्ण था और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखकर यह स्पष्ट था कि स्पेन की घटना विश्व-राजनीति की घटना रहेगी। इसके दो कारण थे—एक था भूमध्यसागर का सामरिक महत्व। अबीसीनिया विजय के बाद पूर्वी भूमध्यसागर में इटली का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। मुसोलिनी अब पश्चिमी भूमध्यसागर पर भी इसी तरह का अपना प्रभाव स्थापित कर लेना चाहता था। उसने अनुभव किया कि अगर फ्रांको के नेतृत्व में स्पेन में भी फासिस्ट-प्रणाली की स्थापना हो जाय तो वह शासन अवश्य ही इटली का समर्थक रहेगा और इस प्रकार पश्चिमी भूमध्यसागर पर उसका प्रभाव कायम हो जायगा। दूसरा कारण सैद्धान्तिक था। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से यह एक विचारधारा चल पड़ी थी कि एक देश को दूसरे देश से ऐसे राजनीतिक संगठन कायम करने में सहायता करनी चाहिए जो उसके सदृश हो। सर्वप्रथम सोवियत-संघ ने इस नीति को अपनाया था और आगे चलकर अन्य देश भी इसका अनुसरण करने लगे। जर्मनी के नात्सी और इटली के फासिस्ट यह समझते थे कि स्पेन में भी यदि उनकी-जैसी शासन-प्रणाली स्थापित हो जाय तो उसकी सहानुभूति सदा उनके साथ रहेगी। अतः फ्यूरर तथा डूचे ने स्पेनिश गृह-युद्ध को फासिस्टवाद और साम्यवाद के बीच संघर्ष माना तथा विद्रोहियों की सहायता करना अपना कर्तव्य समझा। फ्रांको की सहायता करने में हिटलर को दो और लाभ भी थे। एक यह था कि फ्रांस के 'उस तरफ' भी एक फासिस्ट-शासन की स्थापना हो जायगी। दूसरे स्पेनिश गृह-युद्ध में जर्मनी को लड़ने के नये तरीकों का प्रयोग करने का अवसर भी प्राप्त होगा। इन वास्तविक उद्देश्य पर पर्दा डालने के लिए स्पेनिश गृह-युद्ध में फासिस्ट हस्तक्षेप को साम्यवाद के विरुद्ध धर्म-युद्ध का नाम देना लाभदायक था। फासिस्टों के हाथ में एक ऐसा उपाय था जिसके द्वारा तथाकथित प्रजातान्त्रिक देशों की जनता की बहुत बड़ी संख्या में सहानुभूति प्राप्त की जा सकती थी।

जिस तरह स्पेन के गृह-युद्ध का स्वरूप बदल रहा था, उसको देखकर यह अनुमान किया जाता था कि दुनिया की प्रगतिशील शक्तियों की सहानुभूति और समर्थन गणतान्त्रिक स्पेन को अवश्य ही प्राप्त होगी और इसमें कोई शक नहीं कि गणतान्त्रिक स्पेन को इस तरह की कुछ सहायता मिली भी। गणतान्त्रिक स्पेन का सबसे बड़ा सहायक सोवियत संघ था। फासिस्टवाद के विरुद्ध गणतान्त्रिक स्पेन को मदद करना सोवियत संघ अपना कर्तव्य समझता था और मैड्रिड में स्थित अपने दूतावास के जरिये उस साम्यवादी देश ने गणतान्त्रिक स्पेन को हर तरह की मदद दी। सोवियत-संघ के मजदूरों ने एक बहुत बड़ी रकम चन्दा के रूप में इकट्ठी की। सोवियत-नागरिक और सिपाही स्वयंसेवकों के रूप में युद्ध-स्थल पर लड़ने भी गये। उस समय सोवियत-संघ उतना शक्तिशाली नहीं था। दूसरे स्पेन और सोवियत-संघ की समस्याएँ मिली-जुली नहीं थीं। ऐसी हालत में वह स्पेन को उस मात्रा में मदद नहीं कर सकता था; जिस मात्रा में फ्रांको को हिटलर और मुसोलिनी से सहायता प्राप्त हो रही थी। फिर भी सोवियत-संघ ने यथासम्भव उस परिस्थिति में जो भी हो सकता था, किया।

अपने को प्रजातान्त्र के रक्षक कहने वाले ब्रिटेन और फ्रांस ने स्पेनिश गृह-युद्ध के प्रति क्या रूख अपनाया ? इन दोनों देशों का इस समय भी वही रुख रहा जो अबीसीनिया-कांड के समय था। फासिस्ट-आन्दोलन को सहारा देकर उसको बढ़ाना और फिर उसको साम्यवादी रूस के विरुद्ध उभाड़ देना ब्रिटेन और फ्रांस के उदारवादी शासकों की निश्चित नीति थी। अतः वे हिटलर और मुसोलिनी के सभी कुकृत्यों को माफ करने को तैयार थे। इस समय नैवाइल चेम्बर-लेन ब्रिटिश विदेश-नीति का कर्णधार था और उसकी सहानुभूति इटली के प्रति थी।

जिस समय यह ब्रिटेन का वित्त-मन्त्री था उसी समय ब्रिटेन और इटली के बीच एक 'भद्र परुष करार' (gentleman's agreement) हुआ था जिसके अनुसार दोनों देशों ने भूमध्यसागर में एक-दूसरे के हित को मान लिया था। मई, 1937 में चेम्बरलेन ब्रिटेन का प्रधानमंत्री भी हो गया और अप्रैल, 1938 में उसके प्रयास के फलस्वरूप ब्रिटेन और इटली में एक सन्धि भी हो गयी। सम्पूर्ण ब्रिटिश मन्त्रिमंडल में ईडन ही एक ऐसा व्यक्ति था जो इटली का विरोधी समझा जाता था; इसलिए चेम्बरलेन से उसकी कभी नहीं पटती थी। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार का रुख स्पेनिश गृह- युद्ध के प्रति क्या होता, यह स्पष्ट है। ब्रिटेन में कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जिनकी सहानुभूति गणतान्त्रिक स्पेन के प्रति थी। मजदूर-दल और उनके समर्थक इस कोटि में आते थे। पर, ब्रिटेन की अधिकांश जनता उदासीन ही थी। उन्हें रूस के गृह-युद्ध में विदेशी हस्तक्षेप का परिणाम याद था और अनुदार तथा पूँजीवादी अखबारों से वे अत्यधिक प्रभावित थे। अत: वे कुछ कर सकने में असमर्थ थे।

फ्रांस में उस समय 'लोकमोर्चा दल' की सरकार थी और ल्याँ ब्लूम फ्रांस के प्रधानमंत्री थे। स्पेन की सरकार भी इस प्रकार के 'लोकमोर्चा' से बनी थी। ऐसी हालत में उम्मीद की जा सकती थी कि फ्रांस गणतान्त्रिक स्पेन को हर प्रकार से सहायता करेगा। फ्रांस के वामपंथियों का भी यही विचार था, पर वहाँ के दक्षिणपंथी फासिस्टवाद से साम्यवाद को ही अधिक खतरनाक समझते थे और गणतान्त्रिक स्पेन को वे साम्यवादी स्पेन ही समझते थे। इतना होने पर भी ब्लूम की हार्दिक इच्छा थी कि वह गणतान्त्रिक स्पेन को सहायता करे, पर लाचार था। अन्य सभी फ्रांसीसियों की भाँति वह भी यही सोचता था कि फ्रांस का मुख्य हित ब्रिटेन के साथ कदम मिलाने से ही है। फ्रांस अकेले कोई कदम उठाकर सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। उसको ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त करके ही आगे बढ़ना था। इस तरह के तर्क से यह निष्कर्ष निश्चित था कि फ्रांस भी ब्रिटेन की तरह गणतान्त्रिक स्पेन को उसके अपने भाग्य पर छोड़े दे। इससे यह भी निश्चित हो गया कि गृह-युद्ध में प्रगतिवादी स्पेन को फासिस्ट के सामने अन्ततः घुटने टेकने पड़ेंगे।

अहस्तक्षेप समिति : स्पेन में संघर्ष प्रारम्भ होने के समय से ही यह भय होने लगा था कि कहीं वह गृह-युद्ध यूरोपीय महायुद्ध का रूप न धारण कर ले। फासिस्ट देश फ्रांको की विजय के लिए कटिबद्ध थे और यदि दूसरे देशों ने इसका विरोध किया तो महायुद्ध का हो जाना असम्भव नहीं था, पर फ्रांस अभी यूरोपीय महायुद्ध के लिए तैयार नहीं था। अत: 1 अगस्त, 1936 को ल्यां ब्लूम ने फ्रांस की तरफ से ब्रिटेन और इटली की सरकारों के समक्ष एक प्रस्ताव पेश किया, जिसका आशय था कि उपरोक्त तीनों देश स्पेनिश गृह-युद्ध के किसी भी दल को युद्धोपयोगी सामान न दें। ब्रिटिश-सरकार इस प्रकार के एक प्रस्ताव की ताक में थी ही। उसने तुरन्त इसको मंजूर कर लिया और साथ-ही-साथ यह प्रस्ताव भी रखा कि स्पेनिश गृह-युद्ध में अहस्तक्षेप के लिए जो व्यवस्था हो, उसमें अन्य देशों को भी शामिल किया जाये। बेल्जियम, पोलैंड और सोवियत संघ से इसका अनुकूल उत्तर मिला और पुर्तगाल, इटली और जर्मनी ने इस नीति को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया। अगस्त के अन्त तक मुख्य यूरोपीय शक्तियों ने, जिनमें जर्मनी, इटली और सोवियत-संघ भी थे; अहस्तक्षेप समझौता (non-intervention agreement) पर हस्ताक्षर कर दिया। समझौते को तुरन्त कार्यान्वित करने के लिए लन्दन में 'अहस्तक्षेप समिति' की स्थापना की गयी और 9 सितम्बर से समिति अपना काम भी करने लगी।

इटली और जर्मनी ने अहस्तक्षेप की नीति को इसलिए स्वीकार कर लिया था कि इसका विश्वास था कि कुछ ही दिनों में स्पेन की सरकार का पतन हो जायगा और फ्रांको विजय के रूप में मैड्रिड में प्रवेश कर जायगा। जबतक जनरल फ्रांको को जीतने की आशा थी तबतक उसके समर्थकों का हित इसी में था कि वे स्पेनिश सरकार को मिलवानेवाले विदेशी सहायता को बन्द कर दें। विदेशी सहायता नहीं मिलने पर गणतान्त्रिक सरकार अवश्य ही हार जायगी, फासिस्टों का ऐसा ही विश्वास था; पर यह आशा निर्मूल साबित हुई। समय

मिल जाने से स्पेनिश सरकार अधिक सतर्क हो गयी और जनरल फ्रांको का डटकर मुकाबला करने लगी। जनरल फ्रांको के लिए विजय का मार्ग उतना सुगम नहीं रहा जितना उसके समर्थक समझते थे। ऐसी स्थिति में हिटलर और मुसोलिनी अपने साथी फ्रांको को विकट स्थिति में नहीं छोड़ सकते थे। नवम्बर 1936 में उन्होंने फ्रांको की सरकार को मान्यता भी दे दी और फिर उसको मदद देने का निश्चय किया। अहस्तक्षेप समिति में पुर्तगाल, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधियों द्वारा यह आरोप बराबर लगाया जाने लगा कि सोवियत संघ गणतान्त्रिक स्पेन को समझौते के विरुद्ध मदद कर रहा है। इस प्रकार के आरोप सोवियत संघ द्वारा पुर्तगाल, इटली और जर्मनी पर भी लगाये गये। वास्तव में बात यह थी कि दोनों पक्षों का आरोप सही था। अहस्तक्षेप समझौते का किसी ने आदर नहीं किया और अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दोनों पक्ष स्पेनिश गृह-युद्ध के एक या दूसरे का पक्ष लेकर मदद करते रहे। दोनों पक्ष से बहुत बड़ी मात्रा में युद्धोपयोगी सामग्रियाँ और स्वयंसेवक आते ही रहे। लंदन में इन चीजों को रोकने के लिए 'अहस्तक्षेप समिति' के तत्वावधान में वार्ताएँ चलने लगीं। 'अहस्तक्षेप-समिति' ने एक नौ-सैनिक गश्त और सीमान्त निगरानी की प्रणाली स्थापित करने का समझौता किया और 19 अप्रैल से यह गश्त और निगरानी शुरू हो गयी। काम सुचारु रूप से चलता रहा, पर इसी समय फ्रांको की नौसैनिक नाकेबन्दी को तोड़ने के लिए स्पेनिश सरकार ने बमबारी शुरू की। इसी क्रम में 29 मई को जर्मनी लड़ाकू जहाज 'डयूटशलैंड' बमबारी के कारण बर्बाद हो गया। इसका बदला लेने के लिए दो दिनों के बाद जर्मन नौ सेना ने स्पेन के एलमेरिया नामक नगर पर बम बरसाया। जून में जर्मनी और इटली गश्ती के कार्य से अलग हो गये। सीमान्तों की निगरानी भी बन्द हो गयी और अहस्तक्षेप समिति का सारा कार्य ठप्प पड़ गया।

इसी समय ये खबरे आने लगीं कि सरकार तथा तटस्थ देशों के जहाजों पर भूमध्यसागर में अज्ञात देश की पनडुब्बियों द्वारा क्रूरतापूर्ण हमले किये जा रहे हैं। सभी जानते थे कि जनरल फ्रांको के पास इस प्रकार की पनडुब्बियाँ नहीं थीं और इसलिए सब का शक इटली पर था। स्पेन और सोवियत-संघ की सरकारों ने तो सार्वजनिक तौर पर इटली को इसके लिए दोषी ठहराया। इस स्थिति पर विचार करने के लिए 10 सितम्बर को नियोज में भूमध्यसागरीय शक्तियों का एक सम्मेलन हुआ, पर जर्मनी और इटली ने इस सम्मेलन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। सम्मेलन ने भूमध्यसागर में पनडुब्बियों के हमले पर विचार किया और इसको रोकने का प्रबन्ध किया। उसके बाद इस तरह के हमले तुरन्त बन्द हो गये।

जहाँ तक जनरल फ्रांको को विदेशी सहायता मिलने का प्रश्न था, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं हुई और जर्मनी तथा इटली यथापूर्व उसकी सहायता करते रहे। अक्टूबर में स्पेन में चालीस हजार इटालियन सैनिकों की उपस्थिति सरकारी तौर से स्वीकार की गयी। इटालियन हस्तक्षेप का और भी अधिक प्रामाणिक रूप तब सामने आया जब 29 अक्टूबर को मुसोलिनी ने स्पेन में मारे गये सैनिकों के सम्बन्धियों को स्वयं अपने हाथ से पुरस्कार दिये और उसी समय हताहतों की एक सूची प्रकाशित की गयी। इस प्रकार स्पेनिश गृह-युद्ध की स्थिति इस प्रकार होती जा रही थी जिसमें फ्रांको को ही लाभ प्राप्त हो रहा था। इस स्थिति में ब्रिटेन और फ्रांस को अपनी अदूरदर्शितापूर्ण अहस्तक्षेप की नीति का त्याग कर स्पेनिश सरकार की सहायता करनी चाहिए थी। गणतान्त्रिक सरकार भी बार-बार यह माँग कर रही थी कि कपटपूर्ण अहस्तक्षेप नीति का अन्त करके विदेशी सरकारों से दैनिक सामग्री खरीदने का उसे मौका दिया जाय, पर लन्दन की अहस्तक्षेप नीति का अन्त करके विदेशी सरकारों से सैनिक सामग्री खरीदने का उसे मौका दिया जाय, पर लन्दन की अहस्तक्षेप-समिति अपना काम करती रही। इसके सामने प्रमुख प्रश्न था विदेशी स्वयं-सेवकों को स्पेन की भूमि से हटाना, पर इसका कोई परिणाम नहीं निकला। गृह-युद्ध का परिणाम अन्ततः फ्रांको के पक्ष में हुआ। 28 मार्च, 1939

को मैड्रिड पर फ्रांको का कब्जा हो गया और तीन साल की निरन्तर लड़ाई के बाद स्पेन का गृह-युद्ध समाप्त हुआ। इसके तीन सप्ताह बाद अहस्तक्षेप-समिति को विघटित कर दिया गया। फ्रांको द्वारा मेड्रिड पर कब्जा होने के एक दिन पहले 27 मार्च को ही ब्रिटेन और फ्रांस फ्रांको की सरकार को मान्यता प्रदान कर चुके थे।

इटली का प्रभाव : जर्मनी और इटली में प्रगाढ़ दोस्ती स्पेनिश गृह-युद्ध का एक महत्वपूर्ण कूटनीतिक परिणाम थी। इस दोस्ती का वातावरण अबीसीनिया युद्ध के समय से ही तैयार हो रहा था जब सारे संसार में इटली के प्रति सहानुभूति प्रकट करने वाला एकमात्र देश जर्मन ही था। स्पेनिश गृह-युद्ध शुरू होने के तुरन्त बाद इस दोस्ती को एक समझौते के द्वारा पुष्ट कर दिया गया जिसे रोम-बर्लिन धुरी (अक्टूबर 1936) कहते हैं। इसके बाद 6 नवम्बर, 1937 को इटली, जर्मनी और जापान के मध्य हुए कामिनटर्न-विरोधी पैक्ट में भी शामिल हो गया। इसके कुछ ही दिनों बाद 12 दिसम्बर को डूचे अपने प्रिय मित्र फ्यूरर का अनुकरण करते हुए राष्ट्रसंघ से भी अलग हो गया। स्पेन गृह-युद्ध में फासिज्म की विजय इसी मित्रता और संयुक्त मोर्चे का परिणाम थी। 22 मई, 1939 को एक और अनाक्रामक तथा पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि करके इस मित्रता को पक्का कर दिया गया। इसके अनुसार यह तय हुआ कि दूसरे देश द्वारा हस्ताक्षरकर्ताओं पर किसी प्रकार के आक्रमण की स्थिति में वे एक-दूसरे की मदद करेंगे।

इटालियन साम्राज्य में अल्बेनिया का मिलाया जाना स्पेनिश गृह-युद्ध का एक और दूसरा परिणाम था। स्पेन में फ्रांको की विजय से मुसोलिनी को कम लाभ नहीं हुआ। इससे पश्चिमी भूमध्यसागर में इटली विरोधी गुट बन जाने से मुसोलिनी का भय मिट गया और फ्रांस के विरुद्ध पश्चिम में एक मित्र भी मिल गया। परन्तु रोम के नये सीजर मुसोलिनी को कुछ घाटा भी हुआ। स्पेन में फासिज्म को विजय तो अवश्य मिली, पर इटली को कुछ भी प्रादेशिक लाभ नहीं हुए। इटालियन साम्राज्य में एक वर्गमील की भी वृद्धि नहीं हुई, यद्यपि अबीसीनिया युद्ध से भी अधिक इटालियन सिपाही स्पेनिश गृह-युद्ध में मारे जा चुके थे। इसके अतिरिक्त फ्रांको पर डूचे से अधिक प्रभाव फ्यूरर का ही था। इन सब परिणामों को देखकर मुसोलिनी शांत नहीं बैठ सकता था। इसका असर उसकी तानाशाही पर भी पड़ सकता था। अतएव इस घाटे की पूर्ति उसने दूसरी तरह से करने की सोची। अल्बेनिया पर इटली बहुत दिनों से आँखें गड़ाये हुए था। राष्ट्रसंघ की निर्बलता और फ्रांस तथा ब्रिटेन की दब्बू नीति का उस समय तक पूर्ण परिचय मिल चुका था। ऐसी स्थिति में अप्रैल, 1939 में इटली ने अल्बेनिया पर हमला करके उसे अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया।

अध्याय 30

दो विश्व-युद्धों के बीच फ्रांस की विदेश-नीति

(Foreign Policy of France between the two World Wars)

सुरक्षा की खोज : दो विश्व-युद्धों के बीच के काल में फ्रांस की विदेश-नीति जर्मनी के आतंक से निरन्तर प्रभावित रही। 1919 से 1933 तक फ्रांस की विदेश-नीति का एकमात्र लक्ष्य जर्मनी को सदा के लिए कुचलकर रखना था। उस वर्ष जब जर्मनी में हिटलर का उत्कर्ष हुआ तो फ्रांस के सामने जर्मनी के एक अन्य हमले से बचाव की समस्या उपस्थित हो गयी। वस्तुतः फ्रांस की विदेश-नीति उधेड़बुन में पड़ी रही।

युद्ध के तुरन्त बाद फ्रांस के सामने सबसे प्रमुख समस्या सुरक्षा की थी। लैंगसम ने ठीक ही लिखा है "मनुष्य की जीवित याद में दो बार जर्मन सैनिकों के बूटों की आवाज फ्रांस की भूमि पर सुनाई पड़ी थी और तृतीय फ्रांसीसी गणराज्य के नागरिकों को भय था कि कहीं दूसरा आक्रमण फिर न हो जाय!" अतएव युद्ध के बाद फ्रांसीसी विदेश-नीति का मुख्य उद्देश्य इसी सुरक्षा को प्राप्त करना था। इसके लिए फ्रांस ने किस तरह यूरोप में गुटबन्दियों का जाल बिछा दिया, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं।

राष्ट्रसंघ के प्रति फ्रांस का रूख : फ्रांस अपनी सुरक्षा का साधन राष्ट्रसंघ को मानता था। अतएव शुरू में फ्रांस ने राष्ट्रसंघ का खूब समर्थन किया और उसके साथ अधिक सहयोग किया। राष्ट्रसंघ को सुरक्षा का शक्तिशाली साधन बनाने के उद्देश्य से उसने जेनेवा प्रोटोकोल का निर्माण करवाया, पर जेनेवा प्रोटोकोल की अकाल मृत्यु हो गयी। आगे चलकर फ्रांस ने राष्ट्रसंघ को धोखा देना शुरू किया। इटली की अबीसीनिया-आक्रमण के समय यह बात स्पष्ट हो गयी। फ्रांस के विदेश मंत्री लावाल ने मुसोलिनी का पक्ष लेकर राष्ट्रसंघ को कितना दुर्बल बना दिया, इसका अध्ययन हम कर चुके हैं। ऐसा करके फ्रांस ने स्वयं अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार ली, क्योंकि उसने राष्ट्रसंघ, जो जर्मन आक्रमण के विरुद्ध संसार की समस्त शक्तियों को एकत्र कर सकता था, निर्बल पड़ गया।

जर्मनी के प्रति फ्रांस की नीति : जैसा कि हम कह चुके हैं, युद्ध के तुरन्त बाद के वर्षों तक फ्रांस ने जर्मन के प्रति बड़ी कड़ी नीति का अवलम्बन किया। वह जर्मन को सदा के लिए कुचल कर रखना चाहता था। क्षतिपूर्ति में जर्मन के साथ अत्यधिक कड़ाई का बर्ताव इसी नीति का परिणाम था। क्षतिपूर्ति से संबंधित फ्रांस और जर्मन के सम्बन्ध का अध्ययन भी हम इस पुस्तक में अन्यत्र कर चुके हैं।

ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध : जर्मन के प्रति कड़ी फ्रांसीसी नीति के कारण युद्ध के बाद फ्रांस और ब्रिटेन के बीच मतभेद हो गया। अतएव ब्रिटेन के साथ भी फ्रांस का सम्बन्ध अच्छा नहीं रहा। इस मतभेद के कारणों का अध्ययन भी हम पहले ही कर चुके हैं।

1925 में विदेश नीति में परिवर्तन : युद्ध के बाद जर्मनी के भय से फ्रांस अत्यन्त व्याकुल रहता था। जर्मन संकट का अन्त करने के लिए वह विविध उपाय करता रहा, लेकिन न तो उसे शान्ति मिली और न जर्मनी समस्या का समाधान ही हुआ। अतएव, परेशान होकर उसने जर्मनी के साथ एक समझौता कर लेना ही अच्छा

समझा। लोकार्नो समझौता इसी का परिणाम था। लोकार्नो समझौता के बाद फ्रांस को कुछ राहत मिली। यूरोप में शान्ति का वातावरण स्थापित हुआ और फ्रांस में बाधित सैनिक सेवा की अवधि में एक वर्ष की कमी कर दी गयी।

पेरिस पैक्ट : लेकिन फ्रांस के लिए जर्मनी का भय कोई साधारण भय नहीं था। लोकार्नो समझौता के बाद भी फ्रांस सुरक्षा के उधेड़-बुन में पड़ा रहा। केलौंग ब्रियां पैक्ट इसका एक दूसरा परिणाम हुआ।

राष्ट्र के अन्तर्गत यूरोपीय संघ बनाने का असफल प्रयत्न : पेरिस पैक्ट के बाद फ्रांसीसी विदेश मंत्री ब्रियां ने यूरोप में शान्ति कायम रखने के लिए राष्ट्रसंघ के यूरोपीय सदस्यों का एक उपसंघ निर्माण करने का प्रस्ताव किया और भविष्य में उसके आधार पर यूरोप के संयुक्त राष्ट्र का निर्माण करने का आशा प्रकट की। यह प्रस्ताव बिल्कुल निर्दोष मालूम होता था परन्तु उसमें कई आपत्तियाँ थीं। इंगलैंड को उसमें एक बड़ी आपत्ति दिखाई देती थी। इस उपसंघ में फ्रांस के तो अनेक मित्र होते—बेल्जियम, पोलैंड तथा लघुमैत्री के तीनों राज्य परन्तु इंगलैंड के डोमीनियन उसके सदस्य नहीं हो सकते थे। इस प्रकार उसमें फ्रांस के छह मत होते जबकि इंगलैंड का मत एक ही रहता। इसके अतिरिक्त रूस और तुर्की को गैर यूरोपीय राज्य कहकर अलग रखने से यह सम्भावना थी कि यह उपसंघ सदस्य के लिए वर्साय-व्यवस्था में संशोधन रोकने के लिए फ्रांस के एक षडयन्त्र का रूप ले लेता है। अतः ब्रियां का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ और फ्रांस अपनी सेना की शक्ति बढ़ाने, अपनी पूर्वी सीमा की किलेबन्दी करने और सैनिक ऋण देकर अपने मित्रों की सीमाओं को दृढ़ करने की अपनी पुरानी नीति का अनुसरण करने लगा।

फ्रांस और निरस्त्रीकरण : युद्ध के बाद व्यापक निरस्त्रीकरण के लिए प्रयास होने लगा था। इसके लिए राष्ट्रों के जो भी सम्मेलन हुए फ्रांस उसमें भाग लेता रहा। किन्तु इन सभी सम्मेलनों में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत 1932 का जेनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन काफी महत्वपूर्ण था। लेकिन फ्रांस के रवैये के कारण ही यह सम्मेलन असफल रहा। इस असफलता के मूल में फ्रांस तथा जर्मनी का परस्पर विरोधी दृष्टिकोण था। इसका विस्तृत अध्ययन भी हम पहले ही कर चुके हैं।

हिटलर के उदयोपरान्त फ्रांस की विदेश-नीति

रूस और इटली से मित्रता : प्रोफेसर शूमां ने लिखा है—"1933 से फ्रांसीसी कूटनीति में एक नवीन तथा विनाशकारी युग का प्रारम्भ हुआ। फ्रांस द्वारा जर्मनी को अधिक सुविधाएँ देने से इन्कार करने के फलस्वरूप हिटलर का उदय हुआ।" वस्तुतः फ्रांस की कठोर नीति हिटलर के उत्कर्ष में बहुत सहायक सिद्ध हुई। हिटलर के उदय के साथ यूरोप की राजनीतिक स्थिति में घोर परिवर्तन हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय संकट का युग आरम्भ हुआ। अब तक तो यूरोप में फ्रांस का प्राधान्य बना हुआ था, परन्तु अब उसे जर्मनी की ओर से अपनी सुरक्षा का खतरा दिखाई देने लगा। देश के अन्दर भी यह समय बड़ा संकट का था। इंगलैंड के प्रति उसे शंका थी और इटली नाराज था। रूस से भी उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। छोटे-छोटे मध्य यूरोपीय राज्यों से उसकी मित्रता अवश्य थी, परन्तु जर्मनी के मुकाबले में उनकी सहायता का कोई विशेष मूल्य नहीं था। ऐसी स्थिति में उसे किसी बड़ी शक्ति से मित्रता करना आवश्यक मालूम होता था। अतः अब फ्रांस ने रूस और इटली से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न आरम्भ किया। उसने 1934 में रूस को राष्ट्रसंघ में प्रवेश करने में सहायता दी और अगले वर्ष उससे एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार युद्ध के समय दोनों ने एक दूसरे की सहायता का वचन दिया।

आरम्भ में इटली को भी जर्मनी से भय था। अतएव फ्रांस और इटली एक-दूसरे के निकट आने लगे। 1934 इटली और ब्रिटेन से मिलकर उसने आस्ट्रिया को स्वतन्त्रता की गारण्टी दी और 1935 में 'स्ट्रेसा गुट' का निर्माण किया। इटली को प्रसन्न रखने के लिए उसने अबीसीनिया के मामले में राष्ट्रसंघ का पूरा-

पूरा साथ नहीं दिया जिससे वह इटली के विरुद्ध कोई कड़ी कार्रवाई नहीं कर सका और इटली ने अबीसीनिया पर विजय प्राप्त कर ली। उससे राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। उसकी निर्बलता अच्छी तरह से प्रकट हो गयी और फ्रांस की सुरक्षा का एक साधन राष्ट्रसंघ द्वारा सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था नष्ट हो गयी। इसके परिणामस्वरूप उसकी सुरक्षा का दूसरा साधन छोटे राज्यों से मैत्री सम्बन्ध भी नष्ट हो गया। छोटे राज्यों को अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ का ही भरोसा था। परन्तु जब उन्होंने देखा कि राष्ट्रसंघ इटली जैसे सशक्त राष्ट्र से अबीसीनिया की रक्षा नहीं कर सका तो उन्हें उसका भरोसा नहीं रहा. उन्होंने तटस्थता की नीति का परित्याग कर दिया और जर्मनी के डर से उनकी ओर झुकने लगे। फ्रांस का उनकी मित्रता के बल पर अब तक जो प्राधान्य था वह लुप्त हो गया। इतना ही नहीं, जिस इटली को प्रसन्न करने के लिए उसने यह सब किया था वह भी निराश हो गया। कारण, फ्रांस ने इस समय दुरंगी चाल चला था। वह इटली और ब्रिटेन दोनों को प्रसन्न करना चाहता था। एक तो भीतर-भीतर वह इटली का समर्थन कर रहा था और दूसरे उसके विरुद्ध कार्रवाई में भाग भी ले रहा था। इस कारण फ्रांस की सुरक्षा के सभी साधन नष्ट हो गये। राष्ट्रसंघ निर्बल हो गया। छोटे-छोटे राज्यों ने तटस्थता स्वीकार कर ली और ब्रिटेन भी नाराज हो गया। इस प्रकार फ्रांस की स्थिति बड़ी कठिन हो गयी।

फ्रांस की तुष्टीकरण नीति का विकास : हिटलर फ्रांस की दुर्दशा को गौर से देख रहा था। उसने स्थिति से पूरा-पूरा लाभ उठाया। 1936 में उसने सेना भेजकर राइन प्रदेश पर अधिकार कर लिया। वर्साय की सन्धि भंग हो गयी और फ्रांस की सीमा जर्मनी से बिल्कुल मिल गयी। हिटलर ने इस क्षेत्र की किलाबन्दी भी शुरू कर दी। फ्रांस का एक मौका खो गया। यदि इस समय वह बलपूर्वक हिटलर को रोक लेता तो उसके आक्रामक इरादे नहीं बढ़ते। जर्मनी अभी युद्ध के लिए तैयार नहीं था। यदि फ्रांस इस समय अपनी सेना हिटलर के विरुद्ध भेज देता तो उसे अवश्य पीछे हटना पड़ता। परन्तु दुर्भाग्यवश फ्रांस ऐसा नहीं कर सका। इस अवसर पर उसने ब्रिटेन का सहयोग प्राप्त करने का यत्न किया और उससे परामर्श किया। परन्तु ब्रिटेन में इस समय दूसरी ही बात थी। वहाँ के शासक हिटलर के साथ सहानुभूति रखते थे और उसे सन्तुष्ट करके रखना चाहते थे। तुष्टीकरण का युग वहां पूरी तरह आ चुका था। अतएव उसने फ्रांस के राईन प्रदेश में सेना भेजने से मना कर दिया। हिटलर के बढ़ते हुए हौंसलों पर रुकावट लगाने का अंतिम अवसर निकल गया। फ्रांस की इस कमजोरी से स्थिति उसके हाथ से निकल गयी और अब घटना-चक्र का निर्धारण फ्रांस की जगह जर्मनी और इंगलैंड के हाथों में पहुँच गया। वास्तव में अब फ्रांस की कोई विदेश-नीति न रही, वह इंगलैंड की विदेश-नीति में सम्मिलित हो गयी; क्योंकि अब फ्रांस अपनी विदेश-नीति में बिल्कुल इंगलैंड पर निर्भर रहने लगा।

स्पेन के गृह-युद्ध तथा चेकोस्लोवाकिया कांड के समय फ्रांस की तुष्टीकरण की नीति अपनी चरण सीमा पर पहुँच गयी। इन दोनों अवसरों पर फ्रांस की विदेश-नीति ब्रिटेन की विदेश-नीति में पूर्णतया विलीन हो गयी। फ्रांस की सरकार स्पेन के गृह-युद्ध में गणतन्त्रीय सरकार को सहायता देना चाहती थी, लेकिन ब्रिटेन के कारण वह हस्तक्षेप न करने की नीति का ही अवलम्बन करती रही। यही हालत उस समय हुई जब हिटलर ने चेकोस्लोवाक़िया को हड़पने का निश्चय किया। फ्रांस चेकोस्लोवाकिया की रक्षा के लिए सन्धि के द्वारा वचनबद्ध था। लेकिन ब्रिटेन के दवाब में आकर वह म्युनिख के समझौते में एक पार्टी बन गया।

जब हिटलर चेकोस्लोवाकिया को पूरी तरह निगल गया तो ब्रिटेन की आंखें खुलीं और उसने तुष्टीकरण की नीति का परित्याग कर दिया। अब हिटलर के प्रति कड़ा रुख अपनाया जाने लगा। फ्रांस ने भी इसका अनुकरण किया। लेकिन तबतक काफी देर हो चुकी थी। पोलैंड को आंग्ल-फ्रांसीसी गारन्टी के बावजूद द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। इस कारण फ्रांस की तुष्टीकरण की दब्बू नीति को भी द्वितीय विश्व-युद्ध का कारण माना जा सकता है।

फ्रांस की तुष्टीकरण-नीति के कारण

फ्रांस और ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति म्युनिख में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। म्यूनिख समझौता के बाद ब्रिटेन के एक सुप्रसिद्ध अखबार में एक कार्टून निकला था—दो व्यक्ति एक मैमने को भेड़िये के सम्मुख फेंक रहे हैं। भेड़िया था नात्सी जर्मनी, मेमना था चेकोस्लोवाकिया और दो व्यक्ति थे चेम्बरलेन और दलादिये। इस निन्द्य-कार्य में फ्रांस के प्रधानमंत्री बलादिये की भूमिका उतनी ही निन्दनीय थी जितनी ब्रिटिश प्रधानमंत्री की। 1935 के बाद से जर्मनी की शक्ति निरन्तर बढ़ रही थी और उसी अनुपात में फ्रांस की शक्ति खोखली होती जा रही थी। ऐसी स्थिति में फ्रांस के सामने एक ही मांग थी—इटली और जर्मनी के तानाशाहों को तुष्ट किया जाय। फलतः फ्रांस ने भी वही किया जो ब्रिटेन अभी तक करता चला आ रहा था। इन दोनों देशों के कर्णधार ने प्रत्येक कदम पर तानाशाहों के सामने अपने सिर झुकाये और इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के सर्वनाश को प्रस्तुत करने में उनकी हिम्मत बढ़ाई। फ्रांस की तुष्टीकरण-नीति के अनेक कारण थे—

(1) तुष्टीकरण की नीति फ्रांस की आंतरिक दुर्बलता का परिणाम थी। प्रत्येक दृष्टि से फ्रांस जर्मनी से कमजोर पड़ता था। प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस यद्यपि विजयी हुआ, तो भी वह अपनी आंतरिक दुर्बलता को भलीभांति समझता था। जनसंख्या, प्राकृतिक साधन, सामरिक शक्ति सभी दृष्टियों से फ्रांस जर्मनी की अपेक्षा कमजोर पड़ता था। इस स्थिति के कारण फ्रांस के लोगों में किसी तरह का मनोबल (morale) नहीं रह गया था।

(2) फ्रांस की राजनैतिक जीवन परम्परा फूट और वैमनस्य से विषाक्त था। इस काल में फ्रांस में प्रायः राजनैतिक गतिरोध बना रहा। आये दिन मन्त्रिमंडल टूटता और बनता था। ऐसी स्थिति में फ्रांस में फासिस्ट विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रांस का पूंजीपति वर्ग यह सोचने लगा कि देश का कल्याण जनतान्त्रिक पद्धति से नहीं वरन् सर्वाधिकारवादी पद्धति से ही हो सकता है। फलस्वरूप ये लोग इटली और जर्मनी की शासन-प्रणाली को अनुकरणीय आदर्श बताने लगे। निराशा और पराजय के इस वातावरण में जब फ्रांस के लोग फासिस्टवाद की ओर आकर्षित हुए तो देश के आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में प्रतिक्रियावादी नीतियों का पालन होने लगा। यह वर्ग हिटलर का बहुत बड़ा समर्थक हो गया। इस प्रकार फ्रांस में हिटलर को एक पांचवा दस्ता (fifth column) मिल गया। हिटलर ने इस स्थिति से पूरा लाभ उठाया। यही पांचवा दस्ता का असल नीति-निर्धारक था। ऐसे लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती थी वे जर्मनी का विरोध दृढ़तापूर्वक करें। फ्रांस की नीति के इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए प्रोफेसर शूमां ने लिखा है—"उन्होंने विदेश मंत्रालय को पूर्ण रूप से चेम्बरलेन के अधीन कर दिया। वे युद्ध अथवा युद्ध की धमकी से चेकोस्लोवाकिया को बचाने में बहुत डरते थे, क्योंकि इस प्रकार का भी युद्ध फासिस्टवाद के विरुद्ध प्रजातन्त्र तथा जनता के मोर्चे के नाम पर तथा मास्को के साथ सम्बद्ध होकर, जिसका नाम भी भयंकर था, लड़ा जा सकता था।"

(3) फ्रांस के समाचार-पत्रों का पार्ट भी बड़ा निन्दनीय रहा। वास्तव में तुष्टीकरण की नीति के वे बड़े समर्थक थे। एक तो सभी समाचार-पत्र फासिस्टवादी पूंजीपतियों के हाथ में थे। दूसरे फ्रांस के पत्रकार धुरी राष्ट्रों से रूप में धन प्राप्त करते थे। ऐसी हालत में जर्मनी के विरुद्ध कड़ी नीति के अवलम्बन की मांग कैसे कर सकते थे ? वे बराबर जर्मनी के साथ सहयोग करते रहे। घूस द्वारा वशीभूत पत्रकारों ने प्राग तथा मास्को की निन्दा की तथा मदोन्मत जनता के सामने बार-बार शोर किया कि "चेकोस्लोवाकिया के लिए युद्ध नहीं होना चाहिए।"

(4) फ्रांस का शासक वर्ग (जिसमें पूंजीपति प्रतिक्रियावादियों का प्राधान्य था) सोवियत संघ और साम्यवाद से अत्यधिक आतंकित था। वे फ्रांस को साम्यवाद से बचाना ही नहीं चाहते थे वरन् साम्यवाद की प्रयोगशाला सोवियत रूस को खत्म करने का सुख स्वप्न भी देखा करते थे। हिटलर और मुसोलिनी खुलेआम सोवियत रूस को गालियाँ देते थे। इस हालत में फ्रांस के अन्धे शासक सोचने लगे कि रूस का प्रतिरोध करने तथा

फ्रांस को साम्यवाद से बचाने के लिए फासिस्ट अधिनायकों का समर्थन करना चाहिए। यद्यपि 1935 में फ्रांस ने सोवियत रुस के साथ एक सन्धि कर ली थी; पर इस सन्धि को कार्यान्वित करने का कोई उपाय नहीं किया गया। वास्तविक बात यह थी कि फ्रांस के शासक सोवियत-संघ के साथ किसी प्रकार का सहयोग नहीं करना चाहते थे। इस प्रकार फ्रांस के शासकों ने अपने वर्गहित की रक्षा के लिए अपने राष्ट्रीय हितों को कुर्बान कर दिया। वस्तुतः पूंजीपति वर्ग के लिए अपने वर्गहित से बढ़कर कोई प्रिय वस्तु नहीं है। हर देश में संकट के समय उनका यही पार्ट रहता है।

(5) जर्मनी ने हिटलर के बाद इटली मैत्री को हर कीमत पर खरीदने को तैयार था। इसी कारण उसने अबीसीनिया और फिर बाद में स्पेन के गृह-युद्ध में इटली को पूरी तरह छूट दे दी। इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति का अवलम्बन करने के मूल में यही बात थी । लेकिन इससे फ्रांस को कोई लाभ नहीं हुआ वरन् उसकी सुरक्षा के सभी आधार नष्ट हो गए।

(6) फ्रांस की साधारण जनता युद्ध से बहुत भयभीत थी। प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस को काफी क्षति हुई थी और फ्रांस के लोगों पर युद्ध का घोर आतंक छाया था। इस आतंक के कारण फ्रांस के लोग यह सोचते थे कि बुरा-से-बुरा अन्तर्राष्ट्रीय समझौता अच्छे-से-अच्छे युद्ध की अपेक्षा श्रेष्ठ है। फ्रांसीसियों के इस मनोवृत्ति का प्रभाव देश के नीति-निर्धारण पर पड़ना आवश्यक था।

इन्हीं परिस्थितियों में फ्रांस ने जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति (policy of appeasement) का अवलम्बन किया। वस्तुतः फ्रांस का राष्ट्रीय मनोबल इतना गिर चुका था कि जब जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया तो बोने (Bonnet) ने उस समय भी कहा कि इस समस्या के समाधान के लिए राष्ट्रीय सम्मेलन करना चाहिए। फ्रांस के शासक तुष्टीकरण की नीति के इतने वशीभूत हो गये थे की जब 3 दिसम्बर, 1939 को फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तो वह भी बड़ी अनिच्छा के साथ।

अध्याय 31

दो विश्व-युद्धों के बीच ब्रिटेन की विदेश-नीति

(British Foreign Policy between the Two World Wars)

विषय-प्रवेश : दो विश्व युद्ध के बीच के काल में ब्रिटेन की विदेश-नीति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस काल में ब्रिटेन ने परराष्ट्र क्षेत्र में जिस नीति का अवलम्बन किया उसको "तुष्टीकरण की नीति" (policy of appeasement) कहते हैं। इसका उद्देश्य जापान और इटली जैसे अतृप्त एवं असंतुष्ट राष्ट्रों को उनकी मांगें पूरी करते हुए सन्तुष्ट रखना और इस प्रकार शान्ति बनाये रखना था। 1929 से ही इस नीति का प्रारम्भ हो गया लेकिन यह अपनी चरम सीमा पर 1938 में पहुँची जब चेकोस्लोवाकिया को लेकर म्युनिख समझौता हुआ। इंगलैंड में इस नीति के मुख्य समर्थक साइमन होर, हैलिफैक्स और चेम्बरलेन थे।

प्रथम विश्व-युद्ध के समय यूरोप में शान्ति कायम रखने का सबसे प्रमुख साधन शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त माना जाता था। ब्रिटेन के नीति-निर्धारण में इसी सिद्धान्त की प्रधानता थी। इसके अनुसार ब्रिटिश द्वीप तथा साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक ऐसी नीति का अवलम्बन किया जाय ताकि यूरोप का कोई राज्य बहुत अधिक शक्ति प्राप्त नहीं कर ले। यदि ब्रिटेन यह समझ जाता कि कोई राज्य बहुत शक्तिशाली हो रहा है जिसमें यूरोपीय शक्ति-संतुलन में गड़बड़ी का खतरा हो गया है तब वह उस राज्य के विरुद्ध गुटबन्दी कर लेता। कभी-कभी एक युद्ध के जीतने के बाद उसने अपने युद्ध-कालीन मित्रों का साथ छोड़कर अपने शत्रुओं के साथ मित्रता की है। इसलिए कहा जाता है कि ब्रिटेन का कोई स्थायी शत्रु या मित्र नहीं है; केवल स्थायी स्वार्थ है।

लेकिन प्रथम विश्व-युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि यूरोपीय शक्ति-संतुलन का सिद्धान्त अपर्याप्त है। इसलिए राष्ट्रों ने इस सिद्धान्त का परित्याग करके सामूहिक सुरक्षा को अपनाया और इसके लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की गयी। ऐसा अनुमान किया गया कि राष्ट्रसंघ के द्वारा सामूहिक आधार पर यूरोप में शान्ति कायम रखी जा सकती है।

वर्साय-सन्धि के बाद ब्रिटेन के सामने दो मार्ग थे—यूरोपीय शक्ति-संतुलन की नीति का परित्याग करके सामूहिक सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन करना या यूरोप में सबल राष्ट्र के विरुद्ध निर्बल राष्ट्रों की सहायता देने की परम्परागत नीति का अवलम्बन करना। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया और बदले में एक आत्मघाती नीति का अनुसरण शुरू किया।

दोनों युद्धों के बीच में कुछ वर्षों को छोड़ अनुदारदल के हाथ में ब्रिटेन की सत्ता रही। यद्यपि ब्रिटेन की जनता सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त में विश्वास रखती थी, लेकिन अनुदार दल को सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त में बिल्कुल विश्वास नहीं था। इसका कारण यह था कि यदि इस नीति का पालन किया जाय तो ब्रिटेन के कंधों पर भारी जिम्मेवारी आ जाती और इसके लिए वह तैयार नहीं था। बात यह थी कि प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ब्रिटिश विदेश-नीति के निर्माण में कई नवीन तत्वों का समावेश हो गया था। इसमें उपनिवेशों का प्रभाव सबसे प्रबल था। ब्रिटिश नीति को अब पहले की अपेक्षा उपनिवेशों का ख्याल रखना पड़ता था। इन उपनिवेशों

में कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा दक्षिण अफ्रीका काफी महत्वपूर्ण थे। यूरोपीय राजनीति की सरगर्मी से वे बहुत दूर थे। सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के नाम पर वे ऐसी कोई जिम्मेवारी लेने को तैयार नहीं थे जिनसे देश को क्षति पहुँचे।

दूसरी नीति के पालन में भी ब्रिटेन के लिए कठिनाइयाँ थीं। यदि वह निर्वल राष्ट्रों की सहायता देने की नीति का अवलम्बन करता तो उस हालत में वर्साय-सन्धि की सैनिक धाराओं पर अमल करवाना, जर्मनी के शस्त्रीकरण को रोकना और ऐसा सम्भव न होने पर फ्रांस तथा अन्य राष्ट्रों को पूर्ण सहायता देना तथा जर्मनी पर रुकावट न डालने के लिए रूस से सहयोग करना आवश्यक था। लेकिन ब्रिटेन इसके लिए तैयार नहीं था।

साम्यवादी रूस का खतरा : युद्धोत्तर ब्रिटिश-नीति में न तो शक्ति-संतुलन और न सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त ही प्रेरक तत्व थे। यदि इसमें कोई तत्व था तो वह साम्यवाद का तथाकथित खतरा था और इस काल में इस खतरे को दूर करना ही ब्रिटिश विदेश-नीति का मूलमंत्र था। ब्रिटेन की नीति-निर्धारकों की धारणा थी कि भविष्य में यूरोप में जर्मनी और रूस तथा एशिया में रूस और जापान ही संसार के बड़े राज्य होंगे। वह रूस के साम्यवाद को अपने तथा ब्रिटिश साम्राज्य के लिए बड़ा खतरनाक मानता था और चाहता था कि पश्चिम में जर्मनी (और इटली) और पूर्व में जापान रूस पर आक्रमण करके उसको समाप्त कर दें। अतएव दो युद्धों के बीच के काल में वह जर्मनी और जापान को सहायता देता रहा और पूर्व की ओर उसको मार्ग निष्कंटक बनाने के लिए फ्रांस को पूर्वी यूरोप के उसके मित्रों को सहायता देने से रोकता रहा। यह भी सम्भव था कि तीनों शक्ति रूस को परास्त करने के बाद ब्रिटेन के लिए खतरनाक बन जाय, लेकिन उसे यह खतरा साम्यवाद के खतरे के सामने नगण्य दिखाई पड़ता था।

जर्मनी के प्रति सहानुभूति : इस स्थिति में ब्रिटेन 1919 के प्रारम्भ से ही जर्मनी के प्रति सहानुभूति की नीति बरतने लगा। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में जर्मनी को खण्ड-खण्ड हो जाने से बचाने का प्रयत्न किया। जर्मनी के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करने के मूल में एक और बात थी। यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने की दृष्टि से इंगलैंड नहीं चाहता था कि फ्रांस यूरोप का एकमात्र शक्तिशाली राज्य रह जाय। इस कारण इंगलैंड जर्मनी के पुनरुत्थान का प्रबल समर्थक हो गया। इसको लेकर दोनों देशों के बीच घोर मतभेद उत्पन्न हो गया। इस मतभेद का वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र किया जा चुका है।

तुष्टीकरण नीति का ब्योरा : ब्रिटेन फासिस्टवाद को संसार का रक्षक समझता था। यह 1923 में ही कोर्फू विवाद के समय पहले-पहल स्पष्ट हो गया। इस मामले में जब इटली ने राष्ट्रसंघ की उपेक्षा की तो ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ का साथ नहीं दिया और जैसा कि हम देख चुके हैं, 'राजदूतों की समिति' द्वारा मामले का निर्णय करके उसने प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचायी। 1931 में मंचूरिया पर जापान का आक्रमण हुआ। चीन ने राष्ट्रसंघ के सामने इस मामले को रखा लेकिन ब्रिटेन के रुख के कारण ही राष्ट्रसंघ जापान के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं कर सका।

इसके बाद 1933 में जर्मनी के हिटलर का उदय हुआ। हिटलर के उदय से समस्त यूरोप में तहलका मच गया, लेकिन ब्रिटेन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसका क़ारण यह था कि हिटलर के "मीन कैम्फ" में ब्रिटेन के प्रति अच्छा व्यवहार का आदेश था। हिटलर ने लिखा था जर्मनी को ब्रिटेन के साथ झगड़ा नहीं मोल लेना चाहिए और इसका एकमात्र उपाय है नाविक प्रतिस्पर्द्धा में नहीं पड़ना। हिटलर ब्रिटेन के राष्ट्रीय और साम्राज्यवादी जीवन के मार्मिक स्थल को जानता था। वह थी नौ-सेना। ग्रेट ब्रिटेन चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है और उसका साम्राज्य विश्वव्यापी था। अपनी तथा साम्राज्य की सुरक्षा के लिए उसके पास सुदृढ़ नौ-सेना का होना परम आवश्यक था और तभी सम्भव था जब वह समुद्र की लहरों पर शासन

करे। जब कभी किसी शक्ति ने उसकी नौ-सेना को चुनौती दी, वह उसका कट्टर दुश्मन हो गया। प्रथम विश्व-युद्ध के पहले जर्मनी के साथ ब्रिटेन की शत्रुता का प्रधान कारण था, कैसर द्वारा जर्मनी के लिए शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण। हिटलर इसे एक महान् गलती मानता था और इस प्रकार के किसी प्रतिद्वंद्विता में नहीं पड़ना चाहता था। इस हालत में ब्रिटेन को हिटलर से कोई प्रत्यक्ष भय नहीं था। वह आसानी से तुष्टीकरण की नीति का अवलम्बन कर सकता था। इसीलिए आगे चलकर जब हिटलर ने राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध विच्छेद किया और जर्मनी का शस्त्रीकरण करने की घोषणा करके वर्साय-सन्धि को भंग् कर दिया तब भी ब्रिटेन ने उसका कोई विरोध नहीं किया।

बात यहीं तक सीमित नहीं रही। जून, 1935 में ब्रिटेन ने जर्मनों कें साथ एक नाविक सन्धि करके जर्मनी को इस बात की छूट दे दी कि वह जिस प्रकार के समुद्री जहाज बनाना चाहे इस शर्त पर बना ले कि जर्मनी जहाजों का वजन अंगरेजी जहाजों के वजन् के पैंतीस प्रतिशत से अधिक न हो। इसी समय ब्रिटेन ने जर्मनी का एक और प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार जर्मनी को न केवल वायुसेना रखने की छूट मिल गयी बल्कि उसे अपने निकट पड़ोसियों की वायुसेना की बराबरी पर आने की अनुमति भी प्राप्त हो गयी।

जर्मनी के साथ ब्रिटेन की यह सन्धि तुष्टीकरण नीति के विकास में एक महत्वपूर्ण कदम था। इसने एक प्रकार से वर्साय-सन्धि का अन्त ही कर डाला। इसके बाद मित्रराष्ट्रों को जर्मनी से वर्साय-सन्धि को भंग करने की शिकायत करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं रहा। साथ ही इसने वाशिंगटन सन्धि तथा लन्दन सन्धि को नष्ट कर डाला। राष्ट्रसंघ को भी बड़ी भारी चोट पहुँची।

इस प्रकार जब 1934 में हिटलर आस्ट्रिया की सरकार को पलटने का प्रयास किया तो ब्रिटेन की सरकार उसको चुपचाप देखती रही।

आस्ट्रिया पर हिटलर के आक्रमण के बाद ब्रिटेन के रुख में थोड़ा परिवर्तन हुआ और अप्रैल, 1935 में हिटलर के विरुद्ध वह स्ट्रेसा मोर्चा में शामिल हुआ। इसके बाद मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया। इसके कुछ दिन पूर्व में शान्ति के प्रश्न पर एक जनमत संग्रह हुआ जिससे यह स्पष्ट हो गया कि वहाँ की अधिकांश जनता राष्ट्रसंघ की ओर सामूहिक सुरक्षा का समर्थक थी। इससे कुछ दिनों के बाद ब्रिटेन में चुनाव हुआ। अपने पक्ष में बहुमत प्राप्त करने के लिए वाल्डविन ने कहा कि ब्रिटिश सरकार जी-जान से राष्ट्रसंघ का समर्थन करेगी। इस आधार पर वह चुनाव में विजय हुआ। जब अबीसीनिया का मामला राष्ट्रसंघ में पेश हुआ तो ऊपर से दिखाने के लिए ब्रिटेन ने इटली का जोरदार विरोध किया। लेकिन किस प्रकार सर सैम्युअल होर ने लावाल के साथ समझौता किया और इटली के विरुद्ध कार्रवाई करने में ब्रिटिश सरकार ने शिथिलता दिखायी, इसका अध्ययन हम पहले ही कर चुके हैं। तुष्टीकरण की नीति अब एक स्पष्ट रूप धारण कर चुकी थी।

हिटलर ब्रिटेन की कमजोरी को भलीभांति समझ चुका था। इस हालत में निर्भय होकर उसने अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति करना शुरू किया। उसने राइन प्रदेश पर आधिपत्य कायम किया। बलपूर्वक आस्ट्रिया पर अधिकार जमाया, पर अन्त में चेकोस्लावाकिया को हड़प लिया। इसमें हिटलर को ब्रिटेन का पूर्ण समर्थन मिला।

चेकोस्लोवाकिया की हत्या के बाद इंगलैंड का भ्रम दूर हुआ। अब तुष्टीकरण की नीति का खोखलापन स्पष्ट होने लगा। इस हालत में वह इस नीति का परित्याग करने लगा। अब उसने पोलैंड, रूमानिया, यूनान, तुर्की की सहायता की गारन्टी दी और रूस से सन्धि करने का प्रयास किया। लेकिन उस समय तक काफी देर हो चुकी थी और किसी भी राष्ट्र को ब्रिटेन में विश्वास नहीं रह गया था। ब्रिटेन को तुष्टीकरण की नीति

का मोह अन्त तक घेरे रहा। हिटलर को रोकने का अब एक ही उपाय बच रहा था—सोवियत रूस के साथ सन्धि करना। इसके लिए वार्ताएँ शुरू हुईं, लेकिन कुछ ही समय बाद स्पष्ट हो गया कि ब्रिटेन का दिल साफ नहीं है। उन्हीं दिनों वह छिपे-छिपे हिटलर से भी समझौता करने का प्रयत्न कर रहा था। अतएव रूस से सन्धि नहीं हो सकी और द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। यदि ब्रिटेन तुष्टीकरण की नीति का अवलम्बन नहीं किये रहता और समय पर हिटलर का विरोध किये रहता तो उसका हौसला नहीं बढ़ता और संसार एक विनाशकारी युद्ध से बच जाता।

ब्रिटिश तुष्टीकरण-नीति के प्रमुख विचार

साम्यवादी रूस का आतंक : तुष्टीकरण की नीति का प्रमुख आधार साम्यवादी रूस का आतंक था। रूस की साम्यवादी क्रान्ति ने ब्रिटेन के पूंजीपति शासक वर्ग को बहुत आतंकित कर दिया था। इस कारण वे सोवियत संघ और साम्यवाद को अपना प्रधान शत्रु समझने लगे। सोवियत संघ के विरुद्ध घृणा और विद्वेष का रुख बरतने का एक कारण तो सैद्धान्तिक मतभेद था, लेकिन इससे भी बढ़कर एक और कारण था। उस समय ब्रिटेन दुनिया में सबसे बड़ा साम्राज्यवादी देश था और सोवियत संघ उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का प्रबल विरोधी था। इस हालत में ब्रिटेन का साम्राज्य तभी सुरक्षित रह सकता था जब उसके उपनिवेशों में साम्यवादी विचारधारा का प्रचार न हो। अतएव ब्रिटेन ने साम्यवादी रूस को अपना 'शत्रु नम्बर एक' माना। इस कारण ब्रिटेन में इस समय साम्यवाद के प्रति इतनी अधिक घृणा थी कि इसका लाभ उठाते हुए कोई भी शक्ति उसको बेवकूफ बना सकती थी और रूस विरोधी होने की घोषणा करके उनका सहयोग और समर्थन पा सकती थी। धुरी राष्ट्रों ने इससे पूरा लाभ उठाया। इसी तर्क के आधार पर ब्रिटेन के नीति निर्धारक आक्रमणों को माफ करते गये। चीन पर ज़ापानी आक्रमण की उपेक्षा इसी आधार पर की गयी। तत्कालीन ब्रिटिश विदेश सचिव सर जॉन साइमन का ख्याल था कि जापान चीन से नहीं वरन् सोवियत साम्यवाद से लड़ने की तैयारी कर रहा है। जर्मनी ने जब वर्साय-सन्धि का उल्लंघन करना शुरू किया तो चुपचाप इसलिए तमाशा देखता रहा कि हिटलर साम्यवाद का कट्टर दुश्मन था। इसी प्रकार मुसोलिनी के साम्यवाद् विरोधी होने के कारण अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण को माफ किया। चेकोस्लोवाकिया की हत्या के समय में वह सोवियत विरोधी भावना तो अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इस प्रकार ब्रिटेन के शासक वर्ग अपने सोवियत विरोधी दृष्टिकोण के कारण न केवल अधिनायकों का हौंसला बढ़ाया अपितु सोवियत संघ के विरुद्ध उनका समर्थन भी किया। वास्तव में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का यह विचार था कि सोवियत-संघ के विनाश के लिए जर्मनी का पूरा समर्थन किया जाना चाहिए। 28 नवम्बर, 1934 को ब्रिटिश लोक सभा में बोलते हुए लायड ज़ार्ज ने कहा था - 'बहुत थोड़े समय में इस देश के अनुदान तत्व जर्मनी को यूरोप में साम्यवाद के विरुद्ध रक्षा की दीवार समझेंगे। यह यूरोप के केन्द्र में है और यदि साम्यवादियों के विरुद्ध उनकी रक्षा-पंक्ति भंग होती है तो यूरोप में साम्यवाद फैलने की आशंका है। ....हमें जर्मनी की निन्दा नहीं करनी चाहिए बल्कि उसको अपने मित्र की भांति स्वागत करना चाहिए।" ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि 1939 में ब्रिटेन लम्बी बातचीत के बाद भी सोवियत-संघ के साथ फासिस्ट विरोधी मोर्चा बनाने में असमर्थ रहा।

शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त : ब्रिटेन की तुष्टीकरण-नीति का दूसरा मुख्य आधार शक्ति संतुलन का परम्परागत पुराना विचार था। ब्रिटेन नहीं चाहता था कि फ्रांस यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य बन जाय। फ्रांस की बढ़ती हुई शक्ति को संतुलित करने के लिए जर्मनी का पुनरोत्थान आवश्यक माना जाता था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन के नीति-निर्धारकों का यह अनुमान था कि एशिया में जापान और सोवियत-संघ तथा यूरोप में जर्मनी और सोवियत-संघ भविष्य के वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी हैं। अगर इन शक्तियों का आपस में लड़ाता रहा जाय और इस तरह वे एक दूसरे पर रूकावट डालते रहे तो ब्रिटेन निर्विरोध अपने विश्वव्यापी साम्राज्य

को कायम रखे रह सकता है। ब्रिटेन की नीति यह थी कि फ्रांस के साथ असहयोग करके, उस पर दबाव डालकर मुसोलिनी और हिरोहितों को साम्यवादी रूस के खिलाफ उभाड़ा जाय और उसकी सहायता करके साम्यवादी रूस का नाश करवा दिया जाय। इसमें शक्ति संतुलन का कोई सिद्धान्त काम नहीं कर रहा था; क्योंकि सोवियत-संघ अभी बहुत कमजोर शक्ति का था। हाँ, इस नीति से एक भय अवश्य था। उस हालत में क्या होगा, जब फासिस्ट शक्तियां संगठित होकर सोवियत-संघ पर चढ़ बैठे और उसका सत्यानाश कर दें। उस समय जर्मनी, इटली और जापान का त्रिगुट तो काफी शक्तिशाली हो जायगा और उससे भी ब्रिटिश साम्राज्य को खतरा पहुँच सकता है लेकिन ब्रिटिश-नीति निर्धारकों की निगाह में फासिस्ट खतरा साम्यवादी खतरा से अधिक भयानक नहीं था। ब्रिटेन के शासक वर्ग में यह विचार काफी प्रबल था। इसका सबूत हमें उन प्रकाशित पुस्तकों और समाचार पत्रों के लेखों में मिलता है, जो उन व्यक्तियों द्वारा लिखे गये थे, जिनका उस समय ब्रिटेन की सरकार में काफी बोलबाला था।

लेकिन यह नीति ब्रिटेन के लिए बड़ी महंगी पड़ी। धुरी राष्ट्रों ने उन सुविधाओं, जो ब्रिटेन से उन्हें प्राप्त हो रही थीं, से पूरा लाभ उठाकर अपनी शक्ति में खूब वृद्धि की और ब्रिटेन ने उसके विरुद्ध किसी प्रकार की गुटबन्दी नहीं की। कारण ऐसी गुटबन्दी रूस के साथ मिलकर तैयार की जा सकती थी, लेकिन ब्रिटेन के शासक साम्यवादी हौआ से भयभीत होकर ऐसा करने को तैयार नहीं थे। फलतः जिस शक्ति-संतुलन को कायम रखने के लिए संतुष्टीकरण की नीति का अवलम्बन किया गया था, वह लक्ष्य ही विफल हो गया।

ब्रिटेन और फ्रांस में मतभेद : पिछले पृष्ठों में हम कह आये हैं कि अनेक कारणों को लेकर युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन और फ्रांस में घोर मतभेद उत्पन्न हो गया था। इस मतभेद के फलस्वरूप भी तुष्टीकरण की नीति का विकास हुआ। ब्रिटेन में जर्मनी के लिए सहानुभूति थी और वह उसका पुनरुत्थान चाहता था। लेकिन, फ्रांस ने इस विचार का हमेशा विरोध किया। इस प्रकार इन देशों के पारस्परिक विरोध के कारण वे तानाशाहों के विरुद्ध संयुक्त कदम उठाने में असमर्थ थे। जर्मनी और इटली ने इन विरोधों से पूरा लाभ उठाया। हिटलर ने बड़ी खूबी के साथ फ्रांस के विरुद्ध ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने का प्रयास किया और इसमें उसे पूरी सफलता भी मिली।

ब्रिटिश नेताओं की अक्षमता : यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है कि उस ब्रिटेन ने जिसकी कूटनीतिक प्रौढ़ता जगत-प्रसिद्ध है, इतिहास के एक ऐसे युगान्तरकारी पक्ष में इस नीति का अनुसरण क्यों किया ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यह है कि उस समय ब्रिटेन की नीति-निर्धारण का काम कुछ अनुभवहीन तथा कट्टर साम्यवादी-विरोधी व्यक्तियों के हाथ में था। कर्नल ब्लिम्प, वाल्डविन, चेम्बरलेन, बैंक ऑफ इंगलैंड के गवर्नर, मान्टेग्यू, नारमन, लाईवेभर, ब्रूक, जेकोव अस्टर (लन्दन टाइम्ज) तथा गारविन (आवजर्वर) जैसे पत्रकार, डीन इन्ग जैसे लेखक, केन्टबरी के आर्चबिशप तथा अनेक पूंजीपति, सामन्त जमींदार और प्रतिक्रियावादी इस दल के प्रमुख स्तम्भ थे और इन्हीं लोगों के हाथों में ब्रिटेन के भाग्य-निर्धारण का काम था। जिस देश का नीति-निर्धारण में ऐसे लोगों के हाथों हों वहाँ की नीति साम्यवाद विरोधी नहीं तो और क्या हो सकती थी ? चेम्बरलेन इस दल का नेता था, इन लोगों के हाथ की कठपुतली था। इंगलैंड के पब्लिक स्कूलों में शिक्षित ब्रिटिश शासक वर्ग का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण और अनुदार हो चुका था और वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविक परिस्थितियों को समझने में बिल्कुल असमर्थ थे। चेम्बरलेन को विश्वास था कि हिटलर का अभीष्ट केवल वर्साय-सन्धि द्वारा निर्मित अन्यायों को दूर करना है। इसी कारण वह बहुत समय तक हिटलर के शान्तिवाद पर झूठी आस्था करता रहा।

ब्रिटिश जनता के विचार : ब्रिटेन की जनता अत्यन्त जागृत मानी जाती है। इसलिए इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न किया जा सकता है। वहाँ की जागरूक जनता ने अपने शासकों की तुष्टीकरण की नीति का विरोध क्यों नहीं किया। इसके मूल में भी एक महत्वपूर्ण बात थी। ब्रिटेन के लोगों में यह सामान्य विश्वास

था कि वर्साय की सन्धि अत्यन्त कठोर और अन्यायपूर्ण है और यूरोप में स्थायी शान्ति तभी कायम हो सकती है जब इन अन्यायों को दूर करके जर्मनी को उपयुक्त स्थान दे दिया जाय। हिटलर ब्रिटेन के निवासियों के इस विचार से पूर्ण परिचित था और उसने प्रचार करके ब्रिटेन के निवासियों को अपने पक्ष में बनाये रखने का भरपूर यत्न किया। इसमें उसको सफलता भी काफी मिली।

ब्रिटेन की दुर्बलता : ब्रिटेन की आन्तरिक और सैनिक दुर्बलता भी संतुष्टीकरण की नीति का एक कारण था। 1930 के बाद ब्रिटेन की आर्थिक व्यवस्था एकदम चौपट हो गयी थी, उपनिवेशों में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ गया था। ऐसी हालत में ब्रिटेन की स्थिति बहुत खराब हो चली थी। चेकोस्लोवाकिया कांड के समय जब तुष्टीकरण की नीति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची तो उस समय ब्रिटेन ने म्यूनिख का समझौता इसलिए कर लिया कि उसकी सैनिक शक्ति कमजोर थी। ऐसा समझा जाता है कि उस समय ब्रिटेन के पास हिटलर के आक्रमण को रोकने की सामर्थ्य नहीं थी।

चेम्बरलेन का व्यक्तित्व : तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री चेम्बरलेन तुष्टीकरण की नीति का प्रतीक था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्ध में इस व्यक्ति के कुछ अपने विचार थे। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए वह सम्मेलनों और समझौतों पर अधिक जोर देता था और युद्ध से बचना चाहता था। उसने बार-बार सम्मेलनों द्वारा सभी समस्याओं का हल करने पर बल दिया। हार्डी साहब चेम्बरलेन के इस धारणा को म्यूनिख समझौता का वास्तविक कारण मानते हैं। उसका विश्वास था कि यदि हिटलर और मुसोलिनी की कुछ शिकायतें दूर कर दी जायें तो वे संतुष्ट हो जायेंगे और सभी समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल निकल आवेगा। लेकिन यह उसकी गलती थी। उसकी सबसे बड़ी भूल इस विश्वास का भ्रान्तिपूर्ण होना था कि हिटलर और मुसोलिनी की तृष्णा और आकांक्षा को शान्त भी किया जा सकता है। वह तथा उसके साथियों का यह भ्रांत विश्वास था कि "छोटे राष्ट्रों को भेड़ियों के आगे ड़ालने से उसको संतुष्ट किया जा सकता है; पर वे यह नहीं समझ सके कि एक लहू का स्वाद लग जाने पर तृष्णा कभी पूर्ण नहीं होती। जितना तुष्टीकरण किया जायगा उतना ही असन्तोष बढ़ेगा।"

अध्याय 32

दो विश्व-युद्धों के बीच संयुक्त राज्य अमेरिका

(U.S.A. between the two World Wars)

पार्थक्यवाद : 1776 ई० के अमेरीकी स्वातन्त्र्य के फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका का एक राष्ट्र के रूप में जन्म हुआ था। 1783 के अन्त तक इस नये राज्य को संसार के सभी राज्यों की मान्यता प्राप्त हो गयी, जिसके फलस्वरूप अमेरिका राष्ट्रों के परिवार का एक सदस्य बन गया। अमेरिका के इतिहास की मुख्य विशेषता यह है कि जन्म लेकर आज तक वह बिना रोक-टोक के प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है। 1812 में ब्रिटेन के साथ युद्ध और 1861 के गृह-युद्ध को छोड़कर अमेरिका की भूमि पर विध्वंसकारी युद्ध नहीं हुआ है; फलस्वरूप अमेरिका की प्रगति में कोई बाधा नहीं पड़ी है और उसकी उन्नति दिन-दूनी रात चौगुनी होती जा रही है। अमेरिका के साथ सोवियत-संघ की प्रगति की तुलना करते समय हमें इस तथ्य पर ध्यान रखना चाहिए।

जन्म-काल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से मजबूर होकर अमेरिका के इस नये रिपब्लिक को तटस्थता की नीति का सहारा लेना पड़ा। इस नीति का जन्मदाता थोमस जैफर्सन था। 'शान्तिपूर्ण व्यापार सबके साथ, पर झंझट पैदा करनेवाली संधियां किसी के साथ भी नहीं' इस नीति का मुख्य आधार था। इसका मतलब यह था कि अमेरिका यूरोपीय देशों के साथ व्यापार करे; लेकिन यूरोपीय राजनीति के फन्दें में नहीं फंसे। फ्रांसीसी क्रान्ति होने तक यह अमरीकी विदेशनीति का मुख्य स्तम्भ बना रहा।

मुनरो-सिद्धान्त : 1823 ई० में मुनरो-सिद्धान्त के प्रतिपादन से अमरीकी विदेश-नीति के इतिहास में एक दूसरा अध्याय शुरू हुआ। यह सिद्धान्त यूरोपीय राज्यों के लिए चेतावनी था जिसके अनुसार तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति मुनरो ने उनकी अमरीकी महाद्वीप के मामलों में हस्तक्षेप करने की मनाही की थी। "हम यह बता देना चाहते हैं कि यदि उन्होंने (यूरोपीय राज्यों) अपनी प्रणाली को इस गोलार्द्ध में फैलाने का कोई यत्न किया तो उनके इस यत्न को हमारी शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा समझा जायगा.......यदि किसी यूरोपीय राष्ट्र द्वारा हस्तक्षेप किया गया तो हम उसे संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति अमित्रतापूर्ण रुख के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं समझ सकेंगे।" दूसरे शब्दों में यूरोपीय राज्यों को अमरीकी गोलार्द्ध की राजनीति से दूर रहने को कहा गया। इस सिद्धान्त का यह भी मतलब था कि यूरोपीय लोग चाहें तो अमरीकी देशों के साथ व्यापार कर सकते हैं; पर उसकी राजनीति में दखल नहीं दे सकते।

अमरीकी साम्राज्यवाद : जैफर्सन-सिद्धान्त और मुनरो-सिद्धान्त को ध्यान में रखकर यह कहा जाता है कि अमेरिका विश्व-राजनीति में पृथकता (isolation) की नीति का अनुसरण करता रहा। मुनरो-सिद्धान्त का असल ध्येय लैटिन अमेरिका के देशों पर से यूरोपीय साम्राज्यवाद को हटाकर अमरीकी साम्राज्यवाद कायम करना था। अमेरिका में यूरोप का हस्तक्षेप नहीं हो, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अमरीकी प्रजातन्त्रों में संयुक्त राज्य अमेरिका का हस्तक्षेप नहीं हो। वास्तव में मुनरो सिद्धान्त के द्वारा अमेरिका के साम्राज्यवादी जीवन की नींव पड़ी और सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में अमरीकी विदेश-

नीति का मुख्य लक्ष्य साम्राज्यवादी प्रसार था। इसी सिद्धान्त के अनुसार उसने लैटिन-अमेरिका के प्रजातन्त्रों पर अपना प्रभाव जमाया और इस प्रभाव को सुदृढ़ करने के लिए पनामा नहर खुदवायी। उसने पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया। 1834 में मेक्सिको के साथ युद्ध करके उसने कैलिफोर्निया, नवेडा, उटा, अरीजौना और न्यू मैक्सिको पर अपना अधिकार जमाया। 1898 में उसने स्पेन से युद्ध करके उससे फिलिपाइन द्वीपसमूह, प्यूटोरिको और क्यूबा छीन लिये। उसी वर्ष हवाई के कुछ अमरीकी निवासियों के अनुरोध का बहाना कर उसने हवाई द्वीप समूह को अपने साम्राज्य में मिला लिया। 1900 में उसने पनामा नहर के इलाके पर अपना आधिपत्य कर लिया और इसके बाद यह घोषित किया कि उसे पड़ोस के लैटिन अमरीकी देशों में शान्ति सुव्यवस्था कायम करने का अधिकार है। लैटिन अमेरिका के देशों में बराबर गड़बड़ी मची रहती थी और संयुक्त राज्य अमेरिका इन अव्यवस्थाओं से नाजायज लाभ उठाता रहा। व्यवस्था के नाम पर उसने निकारगुवा, हायटी आदि राज्यों पर अपना राजनीतिक प्रभाव कायम किया। यह बात ठीक है कि वे देश संयुक्त राज्य अमेरिका में नहीं मिलाये गये, पर इन पर उसका आर्थिक प्रभाव कायम हो गया। व्यावहारिक दृष्टिकोण से उनकी स्थिति पूर्णतया अमेरिका के संरक्षित राज्यों जैसी थी। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अमेरिका का इतिहास उतना ही साम्राज्यवादी है जितना फ्रांस या ब्रिटेन का।

अमेरिका ने जापान पर भी अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयास किया, यद्यपि इसमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। वास्तव में जापान का दरवाजा खोलने का श्रेय अमेरिका को ही प्राप्त है। 1583 में अमेरिकी नौ सेना के एक कमडोर पेरी ने जापान को डरा-धमकाकर कर उसके साथ कुछ सन्धियां कीं और अनेक सुविधाएं प्राप्त कीं। अमेरिका चीन का शोषण करने में भी पीछे नहीं रहा। लेकिन, जिस समय अमेरिका चीन के रंगमंच पर उपस्थित हुआ उस समय तक यूरोप के विभिन्न राज्य उसके शोषण में जुट चुके थे। अतएव अमेरिका को इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए एक नयी नीति का आश्रय लेना पड़ा जिसे 'खुले दरवाजे की नीति' कहते हैं। इसका अर्थ था कि सभी विदेशियों को समान रूप से चीन का शोषण करने की सुविधा मिले और किसी के साथ कोई खास रियायत नहीं हो। इस नीति को कार्यान्वित करने से अमेरिका को काफी लाभ हुआ। जब शोषण के विरुद्ध चीन में 1900 का बोक्सर विद्रोह हुआ तो इसको दबाने में अमेरिका भी पीछे नहीं रहा। बोक्सर जैसे राष्ट्रीय विद्रोह को क्रूरता से दबाने में अमेरिका का उतना ही हाथ रहा जितना किसी अन्य यूरोपीय साम्राज्यवादी देश का। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में विश्वराजनीति के क्षेत्र में अमेरिका का जबरदस्त हिस्सा रहा। इन सब बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि अमेरिकी विदेशनीति के लिए 'पृथकता' शब्द का प्रयोग करना उस शब्द का दुरुपयोग करना है। कहने के लिए तो वह विश्व-राजनीति के भँवर जाल से अलग रहा, किन्तु वास्तविकता इससे कोसों दूर है। राष्ट्रीय स्वार्थ की रक्षा सफल विदेश नीति की एक कसौटी मानी जाती है और इस कसौटी पर अमरीकी विदेशनीति काफी सफल सिद्ध हुई। जिस समय अमेरिका के स्वार्थ पर खतरा पहुँचा तो वह विश्व-राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगा और उस स्वार्थ की पूर्ति हो जाने के बाद वह विश्व-राजनीति से सन्यास लेकर एकान्तवास करने लगा। अमरीकी 'पृथकता' की नीति का वास्तविक अर्थ यही है।

विश्व-राजनीति में दिलचस्पी : बीसवीं सदी के प्रारम्भ से अमेरिका विश्व-राजनीति में महत्वपूर्ण भाग लेने लगा। 1901 में थियोडोर अमेरिका का राष्ट्रपति हुआ और उसी समय से अमेरिका संसार में अपना हाथ-पाँव फैलाने लगा। इस समय अमेरिकी सरकार ने एकाएक यह अनुभव किया कि संयुक्त राज्य वास्तव में विश्व की एक महान शक्ति है और उसे विश्व की समस्याओं में दिलचस्पी लेनी चाहिए। इस अनुभव के प्रथम शिकार लैटिन अमेरिका के पड़ोसी देश ही हुए। लेकिन, इसके साथ-साथ अमेरिका अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में भी दिलचस्पी लेता रहा। 1905 में रूस- जापान-युद्ध का अन्त करने के लिए राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया जिसके फलस्वरूप इस युद्ध का अन्त हुआ। कुछ इतिहासकारों का कहना

है कि उसका यह हस्तक्षेप युद्ध का अन्त कराकर शांति-स्थापित करने के पवित्र उद्देश्य से नहीं हुआ, बल्कि एशिया के एक देश जापान की विजय की महत्ता कम करने के उद्देश्य से हुआ था। 1906 ई० में मोरक्को को लेकर फ्रांस जर्मनी का झगड़ा शुरू हुआ। संयुक्त राज्य ने इस मामले में भी मध्यस्थता की और फ्रांस और जर्मनी में बीच-बचाव कराकर यूरोपीय शांति को भंग होने से बचाया। इसके अतिरिक्त रूजवेल्ट ने हेग-पंचायती न्यायालय का समर्थन किया और वहाँ दो बड़े अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमें भेजे। किन्तु इतना होने पर भी अमेरिका अपने को यूरोप के झगड़ों से दूर रखकर तटस्थता की नीति पर डटा रहना चाहता था।

अमेरिका और विश्व-युद्ध : जिस समय अमेरिका मेक्सिको के साथ एक झगड़ा में फँसा हुआ था उसी समय यूरोप में विश्व-युद्ध छिड़ गया। अमेरिका में बहुत बड़ी संख्या में जर्मन जाति निवास करती थी। उनकी सहानुभूति जर्मनी के पक्ष में थी लेकिन अधिकांश अमेरिकी ब्रिटेन और फ्रांस के पक्षपाती थे और युद्ध में फ्रांस और ब्रिटेन की विजय की कामना करते थे। उस समय अमेरिका का राष्ट्रपति उडरो विल्सन था। वह अमेरिका को यूरोपीय युद्ध में फँसने से ढाई वर्षों तक बचाये रखा। इस बीच अमेरिका के पूँजीपति यूरोपीय युद्ध से अधिक लाभ उठाते रहे। अमेरिकियों ने फ्रांस, ब्रिटेन तथा जर्मनी को बड़ी-बड़ी रकम कर्ज में दे दी। अमेरिका के कल-कारखाने युद्धोपयोगी सामग्री बनाते रहे और युद्धोत्तर देशों के हाथ इन चीजों को बेचकर उनलोगों से खूब मुनाफा कमाया। किन्तु बात यहीं तक सीमित नहीं रही। 1915 में जर्मन पनडुब्बियों ने एक ब्रिटिश जहाज को डूबो दिया, जिसके कारण सैकड़ों अमरीकियों की जानें चली गयीं। सारे अमेरिका में क्रोध का तूफान उमड़ पड़ा। इतना होने पर भी विल्सन ने अमेरिका को युद्ध में सम्मिलित नहीं होने दिया। किन्तु 1917 के प्रारम्भ में जब जर्मनी ने अनियन्त्रित पनडुब्बी युद्ध की घोषणा की तो अमेरिका का युद्ध में प्रवेश अवश्यंभावी हो गया। अब अमरीकी जहाज बेरोकटोक डुबोए जाने लगे तो विल्सन ने कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया और 6 अप्रैल, 1917 को अमेरिका मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में प्रवेश कर गया। युद्ध में उसने मुस्तैदी के साथ काम किया और विजय प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी। अमेरिका अपने प्रयास में सफल हुआ और उसकी मदद से मित्रराष्ट्र युद्ध में विजयी हुए।

एक ओर जहाँ युद्ध जीतने के लिए अमेरिका द्वारा मुस्तैदी से कार्रवाइयाँ की जा रही थीं वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रपति विल्सन शान्ति के लिए प्रयास भी कर रहे थे। वास्तव में विल्सन ने 1918 में ही शान्ति-स्थापना के लिए प्रयास किये थे। परन्तु, जर्मनी ने उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। 1918 के आरम्भ में उसने अमेरिका की काँग्रेस के सम्मुख शान्ति-स्थापना का वह अपना कार्यक्रम पेश किया, जिसके आधार पर वह युद्धोत्तर संसार का निर्माण करना चाहता था, वह विल्सन का प्रसिद्ध चौदह सूत्र था और इसी सूत्र के आधार पर युद्ध का अन्त भी हुआ।

शान्ति सम्मेलन में विल्सन : 1918 ई० के अन्तिम दिनों में विल्सन यूरोप की जनता में सबसे अधिक लोकप्रिय राजनेता था। वह एक ऐसे राज्य का प्रधान था, जिसकी मदद से प्रथम विश्व-युद्ध सम्भव हो सका था। इसके अतिरिक्त विल्सन का अपना व्यक्तित्व भी था। युद्ध से तंग आकर जनता शान्ति चाहती थी और विल्सन उस समय शान्ति के अग्रदूत का काम कर रहा था। इन सब कारणों से युद्धोत्तर काल से राजनीतिज्ञों में विल्सन का स्थान एक नायक के सदृश था। एक बहुत बड़े अवसर पर असीमित जिम्मेवारी लेकर शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए यूरोप रवाना हुआ।

एक सुसंगठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को कायम करना विल्सन की सबसे बड़ी अभिलाषा थी। राष्ट्रसंघ वास्तव में विल्सन का सृजन था और इनको विश्व-शांति का प्रभावशाली तन्त्र बनाने की दिशा में उसने कोई कसर नहीं उठा रखी। उसी के जोर पर राष्ट्रसंघ को वर्साय-सन्धि का एक अभिन्न अंग बनाया गया। पेरिस शान्ति-सम्मेलन में उसके "चौदह सूत्रों" की खिल्ली उड़ायी गयी। लेकिन, आदर्शवादी विल्सन एक ऐसा युग पुरुष था, जो अपने आदर्शों से डिगनेवाला नहीं था। इसकी स्थापना के लिए वह अन्त तक लड़ता रहा, पर दुर्भाग्य की बात थी कि उसके आदर्शों की इज्जत स्वयं अमेरिका में ही नहीं हुई।

पार्थक्यवाद का पुंनरावर्तन : युद्ध के बाद अमेरिका के प्रमुख राजनीतिज्ञ पुनः पृथकता की नीति का समर्थक बन गये। यूरोपियन राजनीति में अमरीकी हस्तक्षेप 'फिर कभी नहीं हो' उनका सिद्धान्त था। नवम्बर, 1918 में अमेरिका में आम चुनाव हुआ, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रपति विल्सन की डिमोक्रेटिक पार्टी को सिनेट और काँग्रेस में बहुमत प्राप्त नहीं हो सका। अमरीकी जनता ने युद्ध में बड़ी मुस्तैदी से भाग लिया था; किन्तु युद्धोत्तर समस्या को सुलझाने में वह अन्यमनस्कता दिखलाने लगी। पेरिस शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए विल्सन स्वयं पेरिस गया था। इससे बहुत-से अमरीकी उनके बिगड़े हुए थे। उनके विचार में इससे अमेरिका की प्रतिष्ठा पर बट्टा लग रहा था। कांग्रेस में रिपब्लिक पार्टी का बहुमत था। वे राष्ट्रपति से अत्यधिक बिगड़े हुए थे; क्योंकि पेरिस-सम्मेलन में अमरीकी प्रतिनिधिमंडल में एक भी रिपब्लिकन प्रतिनिधि को नहीं सम्मिलित किया गया था। अतः उन्होंने डटकर विल्सन की विदेशनीति का विरोध किया। कांग्रेस वर्साय-सन्धि तथा राष्ट्रसंघ का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं हुई। विल्सन की सबसे बड़ी अभिलाषा थी कि कम-से-कम अमेरिका राष्ट्रसंघ को मानकर उसका सदस्य बन जाय। राष्ट्रसंघ उसके राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी सफलता थी और अमेरिका द्वारा इसका ठुकराया जाना वह नहीं देखना चाहता था। कांग्रेस से निराश हो वह अमेरिकी जनता की तरफ मुड़ा। उसने रेडियो से अपील की और समूचे देश का दौरा करके राष्ट्रसंघ के प्रश्न को सीधे जनता के समक्ष रखा। किन्तु उसके इस अथक प्रयत्न का कोई फल नहीं निकला। मार्च, 1920 में सिनेट ने वर्साय-सन्धि और राष्ट्रसंघ की योजना को बिल्कुल नामंजूर कर दिया। लगभग दो वर्ष तक विल्सन सिनेट के विरोध में लड़ता रहा। जब उसकी विजय की कोई आशा नहीं रही तो उसका दिल टूट गया। यह सदमा इतना जबरदस्त था कि विल्सन उसको सह नहीं सका और उसकी मृत्यु के बाद झगड़ा समाप्त हुआ। नवम्बर, 1920 के चुनाव में विल्सन के एक समर्थक की हार हो गयी और सिनेट रिपब्लिकन सदस्य वारेन हार्डिज अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। मार्च,1961 में नये राष्ट्रपति ने घोषणा की कि राष्ट्रसंघ के कार्यों में अमरीकी सरकार कोई भाग नहीं लेगी। वर्साय-सन्धि के साथ अन्य संधियों को भी रद्द कर दिया और उसकी जगह पर अमेरिका ने जर्मन, आस्ट्रिया और हंगरी से पृथक-पृथक् शान्ति सन्धियां कीं। आरम्भ से ही अमेरिका द्वारा भाग न लेने से राष्ट्रसंघ को बड़ी क्षति पहुँची, क्योंकि इससे राष्ट्रसंघ को एक बड़े राष्ट्र का नैतिक समर्थन और सहयोग प्राप्त नहीं हो सका।

पुनरावर्तन के कारण : इस प्रकार विल्सन के आदर्शवादी राजनीतिक जीवन का दुर्भाग्यपूर्ण अन्त हुआ। बीसवीं शताब्दी का ईसामसीह, शान्ति के मन्दिर का सर्वोच्च पुजारी, संसार के नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का प्रवक्ता, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और न्याय की प्रतिमूर्ति, मानवता का पथ-प्रदर्शक और धर्म का अवतार राष्ट्रपति विल्सन, जिसका सारा जीवन राजनीतिशास्त्र के अध्यापन में व्यतीत हुआ था, वह थोड़े से व्यक्तियों के स्वार्थ के सम्मुख शक्तिहीन हो गया। मानव-सभ्यता के इतिहास में यह बहुत बड़ी दर्दनाक घटना थी। अमेरिका ने अपने इतने बड़े चरित्रवान और आदर्शवादी राष्ट्रपति के सिद्धान्तों को अस्वीकृत क्यों कर दिया ? इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये जाते हैं। पहली बात यह कही जाती है कि अमेरिका परम्परा से ही पृथकता की नीति का अवलम्बन करता रहा है। परिस्थिति से बाध्य होकर अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ था और एक बार जब युद्ध समाप्त हो गया तो विश्व राजनीति में दिलचस्पी लेना अमेरिका के लिए कोई आवश्यक नहीं रह गया। यूरोपीय राजनीति में दिलचस्पी लेने का अर्थ था तरह-तरह के झंझटो में अमेरिका को फंसाये रखना, पर अमरीकी जनता इस बात के लिए तैयार नहीं थी; क्योंकि इससे अमरीका की प्रगति में बाधा पड़ सकती थी। इसीलिए अमरीकी ज़नता ने विल्सन के उम्मीदवार को आम चुनाव में अस्वीकृत कर दिया।

राष्ट्रसंघ-विधान की दसवीं धारा के सम्बन्ध में अमेरिका में जबरदस्त विरोध था। यह धारा सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को प्रतिपादित करती थी, जिसके अनुसार आक्रमणकारी के खिलाफ सैनिक और आर्थिक कार्रवाई भी की जा सकती थी। राष्ट्रसंघ के विरोधियों का कहना था कि इस धारा के अनुसार अमेरिका को

अन्य देशों के झंझटों में व्यर्थ ही फंसना पड़ेगा। इस तरह अनेक कारण युद्धोत्तर अमेरिका की पृथकतावादी नीति के पक्ष में दिये जाते हैं और वे बहुत अंश में ठीक भी हैं, पर विल्सन के किये-कराये कामों से अपना नाता तोड़ने का वास्तविक कारण कुछ और भी था। विल्सन अपने युग का सबसे बड़ा आदर्शवादी था। वह संसार से युद्ध का अन्त कर देना चाहता था। प्रथम विश्व-युद्ध को वह मानवता का अन्तिम युद्ध समझता था। उसी के शब्दों में यह युद्ध, युद्ध का अन्त करने के लिए लड़ा गया था। दूसरी तरफ अमेरिका में युद्ध के फलस्वरूप एक ऐसे वर्ग की उत्पत्ति हो चुकी थी जिसका स्वार्थ युद्ध होने पर ही सधता था। युद्धोपयोगी सामग्री बनानेवाला यह उद्योगपति-वर्ग अमेरिका के राजनीतिक जीवन में काफी प्रभावशाली वर्ग था और इन लोगों ने जानबूझकर ऐसा षडयन्त्र रचा, जिससे विल्सन के सिद्धांत और विश्व-शान्ति का प्रतीक राष्ट्रसंघ सफल नहीं हो सके— संसार शान्ति के लिए संरक्षित नहीं हो सके। वास्तविक बात यह थी कि अमेरिका में विल्सन-जैसे व्यक्ति के लिए उपयुक्त स्थान था ही नहीं।

पूर्वी एशिया में दिलचस्पी : यूरोपीय राजनीति के सम्बन्ध में अमेरिका भले ही पृथकता की नीति का अनुसरण करे पर पूर्वी एशिया में अमेरिका गम्भीर उदासीनता की नीति पर स्थिर नहीं रह सकता था। युद्ध समाप्त होने के बाद जापान प्रशान्त महासागर का बहुत शक्तिशाली राष्ट्र बन चुका था। उसके पास बड़े-बड़े समुद्री बेड़े थे और संसार में वह तीसरे नम्बर का सामुद्रिक शक्ति हो गया था। जापान इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाने की कोशिश कर रहा था। इससे अमरीकी लोगों को बड़ी चिन्ता हो रही थी। उन्होंने पृथकता की नीति का कुछ समय के लिए परित्याग कर देना ठीक समझा और नवम्बर, 1921 में प्रशान्त महासागर की समस्याओं तथा नौ-सेना को सीमित करने के उद्देश्य से वाशिंगटन सम्मेलन का आयोजन किया। इसके सम्बन्ध में हम आगे पढ़ेंगे।

राष्ट्रसंघ से सहयोग : 1927 ई० में वह जेनेवा नौ-सेना सम्मेलन में शामिल हुआ। 1928 में उसने पेरिस-पैक्ट को लागू करने में अपना जबरदस्त समर्थन दिया। साथ ही राष्ट्रसंघ के कामों में जहाँ-तहाँ सहयोग किया। राष्ट्रसंघ के बहुत-से सम्मेलनों में उसने कितने निरीक्षकों और प्रतिनिधियों को भेजा। 1931 में वह राष्ट्रसंघ की कौंसिल के साथ मंचूरिया-संकट पर अपना सहयोग दिया। राष्ट्रसंघ निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में अमेरिका ने भाग लिया। जब 1930 में रूजवेल्ट राष्ट्रपति बना और कार्डल हल विदेश-सचिव तो राष्ट्रसंघ के साथ अमेरिका का सहयोग और भी बढ़ गया। 1934 में अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ का सदस्य बन गया।

यूरोपीय समस्याएं और अमेरिका : प्रथम विश्व-युद्ध से उत्पन्न आर्थिक समस्याओं को हल करने में अमेरिका ने दिलचस्पी दिखायी। डावस योजना के अन्तर्गत उसने क्षतिपूर्ति अदा करने के लिए वह अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सम्मिलित हुआ। जब संसार बहुत आर्थिक संकट के चंगुल में फँस गया तो अमेरिका ने हुवर-मुहलत की घोषणा की। वह 1930 के विश्व-अर्थ-सम्मेलन में भी सम्मिलित हुआ। इस तरह युद्धोत्तर काल में किसी-न-किसी रूप में अमेरिका विश्व-राजनीति में दिलचस्पी लेता ही रहा।

तटस्थता कानून : अन्य क्षेत्रों में संयुक्त राज्य अमेरिका बिल्कुल पृथकता की नीति को अपनाए रहा। 1920 से 1929 तक के वीच में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न संयुक्त राज्य में वाहर से आकर बसनेवालों का प्रश्न था। वीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यूरोप और एशिया से बहुत से लोग आकर अमेरिका में बसने लगे थे। विदेशियों की इस बाढ़ को रोकने के लिए 1921 और 1924 के वीच अमरीकी काँग्रेस ने दो कानून पास किये। इसमें वाहर से आनेवाले लोगों की संख्या निश्चित कर दी गयी और एशिया के लोगों पर विशेष प्रकार का प्रतिबंध लगाया गया। वारह वर्षों तक अमेरिका के प्रत्येक राष्ट्रपति इस वात का प्रयास करते रहे कि अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का सदस्य वन जाय। इस पर अमेरिका में काफी वहस हुई और तरह-तरह की योजनाएँ उपस्थित की गयीं। किन्तु, 1935 में सिनेट ने इस प्रस्ताव को सदा के लिए नामंजूर कर दिया। इसके पहले 1933 में अमेरिका ने सोवियत संघ को कूटनीतिक मान्यता प्रदान करके एक बहुत बड़ा काम किया। इसके बाद अमेरिका सोवियत-संघ को विकास योजनाओं में अपना योगदान देने लगा।

1930 के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वातावरण दूषित होने लगा। ऐसी स्थिति में रिपब्लिकन पार्टी ने कठोर तटस्थता की नीति का अनुसरण किया। यूरोप के बहुत राज्य अमेरिका के लिए युद्धकालीन कर्ज नहीं चुका रहे थे। भविष्य में इस तरह की घटना को रोकने के लिए 1934 में कांग्रेस ने जॉन्सन ऐक्ट पास किया, जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि कोई भी सरकार जिसने अमेरिका के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को नहीं निभाया है उसे आगे कर्ज नहीं दिया जा सकता। जब युद्ध के काले बादल मँडराने लगे तो भावी युद्ध से बचने के लिए काँग्रेस ने 1934-37 के बीच अनेक तटस्थता कानून पास किये, जिसके अनुसार यह तय किया गया कि किसी युद्धरत देश के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायगा, अमेरिका से युद्ध सामग्री नहीं भेजी जायगी और कोई अमरीकी नागरिक युद्धरत देशों के जहाज पर नहीं चलेगा।

तटस्थता की नीति के परिणाम : तटस्थता की नीति का परिणाम अच्छा नहीं हुआ; क्योंकि इससे आक्रमणकारी प्रवृत्तियों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। चीन पर जापानी आक्रमण का राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा कड़ी आलोचना तथा मंचुकाओं की सरकार को स्वीकार नहीं करने से ही काम चलनेवाला नहीं था। फासिस्ट शक्तियों के पक्ष में सबसे बड़ी बात यह थी कि अपने को जनतन्त्र का हामी भरनेवाला अमेरिका चुपचाप बैठा हुआ था और फासिस्ट आक्रमणों के खिलाफ उँगली भी नहीं उठा रहा था। अत: 1935 में इटली ने इथोपिया पर हमला किया। 1936 में स्पेन में गृह-युद्ध शुरू हुआ और स्पेन गणतान्त्रिक समर्थकों को उससे कोई मदद नहीं मिली। उधर यूरोप में निरस्त्रीकरण-सम्मेलन हो चुका था और प्रशान्त महासागर में जापान का प्रभुत्व दिनों-दिन बढ़ रहा था। ऐसी स्थिति में अमेरिका चुप बैठनेवाला नहीं था। हो सकता है कि कभी ऐसा दिन भी आये जब अमेरिका का राष्ट्रीय स्वार्थ भी खतरे में पड़ जाय। धीरे-धीरे अमेरिका का जनमत यूरोप में हस्तक्षेप करने के पक्ष में होने लगा। बहुत लोगों ने समझा कि फासिस्ट शक्तियों की प्रगति नहीं रोकने से आक्रमणकारियों को सहायता मिल रही है। अमरीकी सरकार अब इस बात की चेष्टा करने लगी कि मौका पड़ने पर यूरोप के मामलों में सक्रिय भाग लिया जाय। अमेरिका को सबसे अधिक भय जापान की बढ़ती हुई शक्ति से था। अतएव सुरक्षा के लिए बजट में बड़ी-बड़ी रकमों की व्यवस्था की गयी। स्थल-सेना, नौ-सेना और वायु-सेना में अत्यधिक वृद्धि की गयी। रूजवेल्ट बार-बार हिटलर और मुसोलिनी से आक्रमण न करने तथा छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता कायम रखने की अपील करता रहा; पर हिटलर ने जर्मन संसद में भाषण करते हुए रूजवेल्ट की अपील को मजाक में उड़ा दिया। 1937 की तटस्थता कानून जो 'दाम चुकाओ और माल ले जाओ' के सिद्धांत पर बना था, उसकी अवधि मई, 1939 में समाप्त होने वाली थी। अमेरिकी सिनेट ने इस ऐक्ट को फिर से नया जीवन दिया; पर अंतर्राष्ट्रीय स्थिति खराब होने पर अमेरीका में बहुत लोग थे जो अभी भी तटस्थता की नीति के घोर पक्षपाती थे। अमेरिका अभी अपनी स्थिति को निश्चित भी नहीं कर सकता था कि 1 सितंबर 1939 को हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया और द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हो गया।

लैटिन अमेरिका के साथ सम्बन्ध

यद्यपि अमेरिका, यूरोप तथा सूदूरपूर्व के बखेड़ों से अपने-आपको पृथक रखने का प्रयत्न करता रहा; किन्तु इसके साथ-ही-साथ वह अन्य अमरीकी देशों के अधिकाधिक निकट आने का प्रयत्न भी करता रहा; लैटिन अमेरिका के कुछ देशों ने राष्ट्रसंघ का स्वागत इसलिए किया था कि इससे अनेक देशों में संयुक्त राज्य का हस्तक्षेप कम हो जायगा। बहुत-से अमरीकी देशों ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया और उसकी कमजोरी स्पष्ट होती गयी, वैसे-वैसे वे राष्ट्रसंघ की ओर से विमुख होते गये। 1926 में ब्राजील और 1936 में गुआटेमाला, होन्डुरोस और निकारागुआ, संयुक्त राज्य का अनुकरण करते हुए, राष्ट्रसंघ से अलग हो गये, पर लैटिन-अमेरिका के देश अमेरिका के 'लाडर साम्राज्यवाद' से काफी डरते थे। इन देशों पर अपना आर्थिक नियन्त्रण कायम करना संयुक्त राज्य की परम्परा की नीति

थी। मुनरो सिद्धान्त का यह अर्थ लगाया जाता था कि आवश्यकता पड़ने पर अमरीकी गोलार्द्ध के मामलों में हस्तक्षेप करना संयुक्त राज्य का अधिकार है। 1903 में संयुक्त राज्य और क्यूबा में एक सन्धि हुई थी। इस सन्धि के अनुसार संयुक्त राज्य को यह अधिकार दिया गया था कि वह उस देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है। हैटो और निकारागुआ में अमरीकी जहाज युद्ध के पूर्व से ही रहते थे। इसी तरह लैटिन अमेरिका के अन्य देशों पर भी संयुक्त राज्य का आधिपत्य कायम रहा। कोई भी राज्य उसकी इच्छाओं के विरुद्ध किसी प्रकार का महत्वपूर्ण काम नहीं कर सकता था, पर 1939 के बाद इस क्षेत्र में अमरीकी नीति में कुछ परिवर्तन होने लगे। 1933 के प्रारम्भ में निकारगुआ से अमरीकी समुद्री बेड़े हटा लिये गये और तथाकथित 'अच्छे पड़ोसी की नीति' (good neighbour policy) का श्रीगणेश किया गया। विश्वव्यापी आर्थिक संकट और फासिज्म के उत्थान के कारण अमरीकी नीति में आवश्यक परिवर्तन जरूरी हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका इन देशों की सहानुभूति प्राप्त करके एक अपना अलग गुट बनाना चाहता था। 1936 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अपने एक भाषण के सिलसिले में कहा कि "यह राष्ट्र लैटिन अमेरिका के देशों के साथ अच्छे पड़ोसी की तरह बर्ताव रखना चाहता है।" इन शब्दों का अर्थ यह लगा कि संयुक्त राज्य अपने अभी तक के रुख को बदल कर नयी नीति का अवलम्बन करना चाहता है। इसी वर्ष मोन्टेविड़ो में सातवीं अखिल अमरीकी महासभा हुई। संयुक्त राज्य के विदेश सचिव ने इसमें भाग लिया और समझौतापूर्ण शब्दों में एक भाषण किया। 1934 में 1903 की क्यूबा से की गयी सन्धि को रद्द कर दिया गया और हैटी संयुक्त राज्य का जहाजी बेड़ा अन्तिम रूप से हटा लिया गया। 1936 में, अपने पुनर्निर्वाचन के तुरन्त बाद ही, राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने शान्ति को सुरक्षित करने के लिए, एक अन्तर-अमरीकी सम्मेलन के लिए लैटिन अमेरिका के देशों को आमन्त्रित किया। दिसम्बर, 1936 में ब्युनोएयर्स में वह सम्मेलन हुआ और राष्ट्रपति रूजवेल्ट स्वयं इसमें सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में एक सन्धि स्वीकार कि गयी, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि 'यदि किसी भी अमरीकी गणतन्त्र की शान्ति को कोई खतरा उत्पन्न हुआ तो हस्ताक्षरकर्ता शान्तिपूर्ण सहयोग के कदम उठाने पर परामर्श करेंगे।'

पर संयुक्त राज्य और लैटिन-अमेरिका के देशों के बीच अधिकाधिक मेल-जोल होना आसान बात नहीं थी। लैटिन-अमेरिका के देश संयुक्त राज्य के आर्थिक नियंत्रण से अत्यन्त असन्तुष्ट थे। उनकी आर्थिक व्यवस्था संयुक्त राज्य के द्वारा इस तरह नियन्त्रित की जाती थी कि जिससे उनको अत्यधिक घाटा उठाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य और लैटिन-अमेरिका में राजनीतिक संगठनों में भी भेद था। स्पेन में फ्रांको की विजय की खुशीं लैटिन अमेरिका के बहुत से देशों में मनायी गयी। नात्सी और फासिस्ट लोगों के एजेन्ट लैटिन-अमेरिका के देशों से अमेरीकी विरोधी प्रचार करते थे। इन सब बातों के बावजूद द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ने के पूर्व अमरीकी महाद्वीप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मित्रतापूर्ण बने रहे।

अध्याय 33

दो विश्व-युद्धों के बीच सोवियत विदेश-नीति

(Foreign Policy of U.S.S.R. between the two World Wars)

सोवियत विदेश नीति का निर्धारण : लिखित इतिहास में सम्भवतः किसी भी राज्य की विदेश-नीति के क्षेत्र में उतनी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है जितना जन्म के समय सोवियत संघ को करना पड़ा था। सोवियत व्यवस्था की स्थापना के कुछ ही महीनों के अन्दर पूँजीवादी राज्यों ने मिलकर रूस का गला घोटने और उसका नामोनिशान मिटाने का यत्न किया, पर इसमें वे सफल नहीं हो सके।

सोवियत संघ में साम्यवादी व्यवस्था की नींव डालने के बाद बोल्शेविकों की सबसे बड़ी कामना यही थी कि संसार के अन्य देश उनका अपने इच्छानुसार अपने देश का निर्माण करने के लिए स्वच्छंद छोड़ दें। इस आशा के साथ-साथ उनको यह भय भी था कि पूँजीवादी राज्यों को जब भी मौका मिलेगा वे परस्पर मिलकर या अकेले ही सोवियत संघ को परेशान करने से बाज नहीं आयेंगे। प्रारम्भ में ही लेनिन ने बोल्शेविकों को यह चेतावनी दी थी कि पूँजीपति शक्तियाँ साम्यवादी रूस पर कभी भी धावा बोल सकती हैं। नवम्बर, 1940 में विद्यार्थियों के समक्ष भाषण करते हुए राष्ट्रपति कालीनिन ने कहा था - "हमारी स्थिति शत्रु द्वारा घिरे हुए किले के समान है। इसमें कोई शक नहीं कि यह किला विशाल है, अजेय है; पर यह चारों तरफ से शत्रुओं द्वारा घिरा हुआ है।" इस कथन की सत्यता 1918-20 में ही सिद्ध हो चुकी थी।

पूँजीवादी 'हस्तक्षेप' : 1918 से 1920 तक सोवियत संघ पर ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और अमेरिका द्वारा जो आक्रमण होते रहे उनको केवल 'हस्तक्षेप' कहना अनुचित है। रूस में सोवियत व्यवस्था कायम होते ही मित्रराष्ट्रों को इस निष्कर्ष पर पहुँचते देर नहीं लगी कि वहाँ के नये साम्यवादी शासक बहुत खतरनाक व्यक्ति हैं और इन व्यक्तियों को अधिकारच्युत करना उनका कर्तव्य है। अंत में रूस से क्रांति विरोधियों को, जिनमें कुलीन-वर्ग के सामन्त, पादरी, जार के अनुयायी इत्यादि प्रतिक्रियावादी थे, साम्यवादी सरकार के विरुद्ध भड़काने और प्रोत्साहित करने लगे। मित्रराष्ट्रों का प्रोत्साहन और सक्रिय सहायता पाकर इन क्रान्ति-विरोधियों ने साम्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और बोल्शेविकों को लगभग तीन वर्षों तक इनके साथ भीषण संघर्ष करना पड़ा। धर्मसुधार-आन्दोलन के बाद यूरोप के राज्य स्वयं अपने को और अन्य राज्यों को प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य मानते थे। एक राज्य को दूसरे राज्य की व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। दूसरे राज्य की जनता में असंतोष फैलाकर किसी राज्य की सुरक्षा को खतरे में डालना एकदम गलत बात मानी जाती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय नियम के इस सिद्धान्त के उल्लंघन का दोष सोवियत-संघ पर भी लगाया जा सकता है। सोवियत नेता विश्व-क्रान्ति की बातें कर रहे थे। उनके विचार में सोवियत-संघ एक राष्ट्रीय इकाई नहीं था। उसके अनुसार हर सच्चे साम्यवादी का कर्तव्य था कि वह सारे विश्व में उस क्रान्ति का प्रचार करे जो रूस में सफल हो चुकी थी। जबतक शेष संसार से पूँजीवाद का अन्त नहीं हो जाता तबतक रूस की क्रान्तिकारी सरकार टिक नहीं सकेगी। साम्यवादी सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए मार्च, 1919 में सोवियत नेताओं

ने कामिन्टर्न नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की। इसका मुख्य कार्यालय मास्को में रहा। यह एक स्वतन्त्र संस्था थी और इसमें सभी देशों के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। कामिन्टर्न में रूसी साम्यवादियों की प्रधानता थी और संसार के प्रायः सभी पूँजीवादी राष्ट्र उसे रूस के वैदेशिक विभाग की शाखा समझते थे। इसकी स्थापना समस्त वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उलट कर विश्वव्यापी साम्यवादी समाज की रचना के लिए हुई थी। इसलिए सभी उसे और उसके साथ को शक की दृष्टि से देखते थे। ऐसी स्थिति में पूँजीवादी राज्य और साम्यवादी रूस में शत्रुता स्वाभाविक और अवश्यम्भावी थी।

इसके अतिरिक्त मित्रराष्ट्र अनेक अन्य कारणों से भी नाराज थे। क्रान्ति के बाद रूस युद्ध से अलग हो गया और जर्मनी के साथ सन्धि के लिए वार्तालाप करने लगा। जब मित्रराष्ट्रों ने इस वार्तालाप में भाग लेने से इन्कार कर दिया तो सोवियत नेताओं ने वे सारी गुप्त संधियाँ प्रकाशित कर दीं जिनसे मित्रराष्ट्रों के वास्तविक युद्ध-उद्देश्य का भेद खुल गया। मार्च, 1918 में रूस ने जर्मनी के साथ ब्रेस्ट लिटोव्स्क की सन्धि कर ली। इसके परिणामस्वरुप जर्मनी पूर्वी मोर्चा से निश्चिन्त होकर अपनी सारी शक्ति पश्चिमी और दक्षिणी मोर्चा पर लगा रहा था। लेनिन ने जार द्वारा लिए गये सारे विदेशी ऋणों को अस्वीकार कर दिया और सारी विदेशी संपत्तियों को जब्त कर लिया। इसके अतिरिक्त सोवियत सरकार ने संसार के सभी मजदूरों को युद्ध का विरोध करने को कहा। इन कारणों से रंज होकर मित्रराष्ट्र बोल्शेविकों का दमन करके जर्मनी के विरुद्ध फिर से पूर्वी मोर्चा खोलना चाहते थे। उन्होंने रूस की सोवियत-सरकार को मानने से इन्कार कर दिया और उसके विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी करके सेना, धन तथा युद्ध सामग्री से क्रान्ति-विरोधियों की सहायता करनी शुरू कर दी। मित्रराष्ट्रों की सहायता से प्रतिक्रियावादियों ने कई जगह 'श्वेत' सरकारें कायम कर लीं।

मित्रराष्ट्र क्रान्तिकारियों को केवल भड़काकर ही संतुष्ट नहीं हुए, सोवियत संघ का अन्त करने के लिए उन्होंने स्वयं उस पर धावा बोल दिया। लेकिन, रूस पर आक्रमण करने के लिए कोई बहाना चाहिए था। उस समय आर्केजिल तथा मुरमन्सक में युद्ध सामग्रियां प्रचुर मात्रा में पड़ीं थीं और मित्रराष्ट्रों को भय था कि कहीं ये सामग्रियां जर्मनी के हाथ में न पड़ जाये। अतः इन सामग्रियों को जर्मनी से बचाने के लिए रूस पर आक्रमण करना आवश्यक समझा गया और मित्रराष्ट्रों ने रूस पर बाजाप्ता आक्रमण कर दिया। फ्रांस ने ओडेसा, ब्रिटेन ने वाकू, जापान ने पूर्वी साइबेरिया, अमेरिका ने आर्केजिल तथा ब्लाडीवास्टक तथा रूमानिया पर बेसेरेविया पर अपना-अपना अधिकार कायम कर लिया। उधर ऐस्थोनिया, लिथुआनिया, फिनलैंड तथा काकेशस के पार के प्रान्तों ने स्वतंन्त्रता की घोषणा कर दी। आंतरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से सोवियत-सरकार की हालत शोचनीय थी।

ऐसी स्थिति में रूस की रक्षा करने के लिए ट्राटस्की के नेतृत्व में 'लाल सेना' मैदान में कूद पड़ी। मित्रराष्ट्र वर्षों से लड़ते-लड़ते इतने थक गये थे कि उनमें रूस के विरुद्ध अपनी पूरी शक्ति लगाने की सामर्थ्य नहीं थी। इनके अतिरिक्त रूस एक विशाल देश था। मित्रराष्ट्रों के लिए रूसियों का डटकर मुकाबला करना आसान नहीं था। शीघ्र ही उनके पांव उखड़ गये और अन्त में बोल्शेविकों की विजय हुई। मित्रराष्ट्र की सहायता मिलने के बावजूद क्रान्ति-विरोधी प्रतिक्रियावादी अधिक दिनों तक नहीं टिक सके। बोल्शेविकों ने बड़ी क्रूरता से उनका दमन कर दिया।

1920 में पोलैंड ने रूस पर आक्रमण कर दिया। शुरू में पोलैंड को विजय मिली लेकिन पीछे चलकर वह हारने लगा और 'लाल सेना' उसका पीछा करते-करते वारसा तक पहुँच गयी। अगर पोलैंड को फ्रांस और ब्रिटेन की मदद नहीं मिली रहती तो वारसा का पतन भी हो गया रहता; पर युद्ध ने एक बार फिर पलटा खाया और पोलैंड की सेना एक बार आगे बढ़ी। अन्त में दोनों में विराम-सन्धि हो गयी और रिगा की सन्धि (1921), के अनुसार तथाकथित 'कर्जन रेखा' को दोनों देशों के सीमान्त के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार सोवियत संघ को विदेशी आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोह से त्राण मिला।

सोवियत संघ का बहिष्कार : ट्राटस्की की कुशलता से रूस को विदेशी 'हस्तक्षेप' और आन्तरिक विद्रोह से मुक्ति मिल गयी; लेकिन बोल्शेविकों की निगाह में मूल मतभेद का अभी फैसला नहीं हो सका। यह मतभेद अगर युद्ध के मैदान में नहीं तो समाचार-पत्रों के पृष्ठों और पूंजीवादी राज्यों की व्यावहारिक कार्रवाई में ज्यों-का-त्यों बना रहा। मित्रराष्ट्रों ने रूस का आर्थिक बहिष्कार करके उसका व्यापार बन्द कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उसको नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़े और उसके उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस के साथ अछूत जैसा व्यवहार होता था। सोवियत-संघ को जान-बूझकर 1921 के वाशिंगटन-सम्मेलन में नहीं बुलाया गया, यद्यपि प्रशान्त महासागर में उसके भी हित थे। 1921 में जेनेवा में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमे सोवियत-प्रतिनिधि के साथ जिस प्रकार का दुर्व्यवहार किया गया, वह उचित नहीं था, सोवियत संघ को मान्यता देने के लिए कोई भी पूंजीवादी देश तैयार नहीं था और न उसको राष्ट्रसंघ का सदस्य ही बनाने के लिए इच्छुक था। इसलिए सोवियत संघ भी राष्ट्रसंघ को पूंजीवादी व्यवस्था का एक साधन-मात्र समझता था, जिसका मुख्य उद्देश्य साम्राज्यवादी व्यवस्था कायम रखना था। लोकार्नो पैक्ट को लेकर भी सोवियत संघ में काफी आशंका थी। लाकार्नो-सम्मेलन में सोवियत संघ को आमन्त्रित नहीं किया गया था और न इसके द्वारा जर्मनी को पूर्वी सीमाओं की गारन्टी ही दी गयी थी। सोवियत-संघ के लोगों को सन्देह पैदा हुआ कि भविष्य में रूस के विरुद्ध पूर्वी सीमा पर अवश्य कोई गड़बड़ी होगी। इसी समय फ्रांस और ब्रिटेन में अनुदारदलीय सरकार सत्तारूढ़ हुई, पोलैंड और लिथुआनिया में प्रतिक्रियावादी तानाशाही आरम्भ हुई, चीन में च्यांग-काई-शेक का जमाना आ गया और जापान में बैरन टॉक प्रधानमंत्री बना। लन्दन में सोवियत-व्यापारिक एजेन्सी के दफ्तर की तलाशी ली गयी। इस दफ्तर पर यह आरोप लगया गया कि यह सभी बातों का पता लगाकर मास्को भेजता है। यह दोषारोपण बिल्कुल निराधार था जिसको ब्रिटिश-सरकार साबित नहीं कर सकती थी। सोवियत-संघ में इन सब घटनाओं का अर्थ यही लगाया जाता था कि पूंजीवादी राज्य उनको धक्का देने के लिए मौके की ताक में है। 1927 में युद्ध-मंत्री **वोरोशिलोव** ने कहा : "हमें सतर्क रहना चाहिए। हमलोग चारों तरफ से दुश्मनों से घिरे हुए हैं।" सोवियत-संघ की शंका इतनी जबरदस्त थी कि प्रारम्भ में 1928 के पेरिस-पैक्ट को सोवियत संघ को पृथक् करने और अन्ततोगत्वा उसके साथ युद्ध छेड़ने का एक 'साधन' बतलाया गया। यह कहना कोई निर्मूल न होगा कि अपने जन्मकाल से ही सोवियत-संघ बराबर संकट की स्थिति में रहा और इसलिए अगर शक या शंका उसकी विदेश-नीति का एक तत्व बन गया तो वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सोवियत-संघ की विदेशी और आन्तरिक नीतियों का अध्ययन करते समय हमें इस 'संकट की स्थिति' बराबर ख्याल रखना चाहिए।

नीति परिवर्तन : 1921 में सोवियत-संघ को परराष्ट्र और आन्तरिक नीतियों ने एक दूसरी दिशा में मोड़ लिया। आन्तरिक कलह और विदेशी आक्रमण के कारण रूस एकदम पस्त हो गया। 1921-26 में वहां भयंकर अकाल पड़ा, जिससे कोई पचास लाख आदमी मर गये। इन सब घटनाओं का प्रभाव रूस की बाह्य और आन्तरिक नीतियों पर पड़ना अवश्यम्भावी था। लेकिन एक कदम आगे बढ़ने के लिए दो कदम पीछे हटने की नीति का अवलम्बन करते हुए तथाकथित 'नयी आर्थिक नीति' (N.E.P.) को प्रारम्भ किया, जिसका अर्थ कुछ दिनों के लिए पूंजीवादी व्यवस्था की ओर वापस लौटना था। 'नयी आर्थिक नीति' का अवलम्बन करने से विदेश नीति में परिवर्तन की सम्भावना भी दिखाई देने लगी। पूंजीवादी देश अभी तक रूस का बहिष्कार कर रहे थे, पर लेनिन रूस के पुनर्निर्माण के लिए विदेशी पूंजी की सहायता चाहता था। जबतक पूंजीपती राज्यों का अस्तित्व कायम है तबतक व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए यह आवश्यक था कि सोवियत-संघ और इन देशों में किसी-न-किसी प्रकार सम्बन्ध स्थापित हो जाय। किन्तु कोई भी राष्ट्र रूस से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने की बात तबतक नहीं सुनना चाहता था जबतक रूस कामिन्टर्न संसारव्यापी साम्यवादी प्रचार को रोकने का वचन न दे दे। लेनिन ने इस प्रकार आश्वासन दे दिया और यूरोप के व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग खुल गया।

विदेशों से सम्पर्क स्थापना : सोवियत-संघ के सामने प्रमुख प्रश्न राष्ट्रों की मान्यता (recognition) प्राप्त करना था। 1918 में सभी राज्यों ने रूस के साथ अपने दौत्य सम्बन्ध विच्छेद कर लिये थे। क्रान्ति के बाद रूसी नेता इस सम्बन्ध को पुर्नस्थापित करने की कोशिश करते रहे। लेकिन, 1921 तक फिनलैंड, लैटिविया, एस्थोनिया तथा लिथुआनिया को छोड़कर किसी राज्य ने सोवियत संघ को मान्यता प्रदान नहीं की। सोवियत-संघ कम-से-कम व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित करने को तैयार था। 1921 के आरम्भ में सोवियत-संघ ने तुर्की, फारस और अफगानिस्तान से मित्रता की सन्धियां कीं, परन्तु ये सभी राज्य छोटे-छोटे राज्य थे और इनके साथ सम्पर्क स्थापित होने से सोवियत-संघ का काम नहीं चलता था। सोवियत-संघ इसी समय बड़े राष्ट्रों के साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहता था। मई, 1920 में एक व्यापारिक शिष्टमंडल क्रासिन के नेतृत्व में ब्रिटेन गया। युद्ध के बाद ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार सिकुड़कर बहुत छोटा हो गया था। इसलिए ब्रिटेन रूस के साथ किसी प्रकार का व्यापारिक समझौता कर लेना चाहता था। रूसी व्यापारिक शिष्टमंडल के आगमन के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ। उसी वर्ष ब्रिटेन से एक व्यापारिक शिष्टमंडल भी मास्को भेजा गया, पर आंग्ल-रूसी व्यापारिक समझौते से दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई; क्योंकि ब्रिटेन ने सोवियत-संघ को विधिवत् मान्यता (De-jure recognition) प्रदान नहीं की, पर सोवियत-संघ को ताथ्यिक मान्यता (De-facto recognition) मिल गयी।

जेनोआ-सम्मेलन : अन्य देशों के साथ रूस का कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित होने के मार्ग में सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि रूस ने सभी विदेशी ऋणों को अस्वीकार कर दिया था। 1921 में सोवियत-संघ ने कर्जदार राज्यों को यह सूचित किया कि यद्यपि वह जारशाही शासन द्वारा लिये गए कर्जों को वापस करने के लिए बाध्य नहीं है फिर भी वह इस समस्या को सुलझाने के लिए इच्छुक है। रूस ने प्रस्ताव रखा कि उसको मान्यता प्रदान करने, उसके आर्थिक पुनर्निर्माण करने तथा विदेशी कर्जों पर समझौता करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होना चाहिए। सोवियत-संघ के आर्थिक पुनर्निर्माण में ब्रिटेन भी दिलचस्पी ले रहा था। अत: जब जनवरी, 1922 में कैनीज (Cannes) में मित्रराष्ट्रों का एक सम्मेलन हो रहा था तो लायड जार्ज के प्रयत्न से अन्य राज्यों ने यह मान लिया कि आगामी जेनोआ सम्मेलन में रूस को भी आमन्त्रित किया जाय।

अप्रैल, 1922 में जेनोआ (Genoa) सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इसमें सोवियत-संघ और जर्मनी के प्रतिनिधियों को मिलकार चौंतीस राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। वर्साय-सम्मेलन के बाद यह सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था। रूस का प्रतिनिधित्व उसका विदेश मंत्री चिचरिन (Chicherin) कर रहा था। लायड जार्ज को यह आशा थी कि इस सम्मेलन के द्वारा सोवियत-संघ और अन्य राष्ट्रों के बीच समझौता कराया जा सकेगा। किन्तु फ्रांसीसी और बेल्जियम के प्रतिनिधियों के दुराग्रह के कारण इस आशा पर भी पानी फिर गया। उनकी यह मांग थी कि सोवियत सरकार किसी प्रकार की वार्ताएँ चलने के पूर्व लिये गये विदेशी कर्ज को चुकाना स्वीकार कर ले। चिचरिन सभी ऋणों को स्वीकार करने तथा विदेशियों की जब्त की गयी सम्पत्ति को वापस लौटाने या उसका मुआवजा देने को तैयार था। किन्तु, इसके बदले में वह तीन बातें चाहता था -(1) मित्रराष्ट्रों के 'हस्तक्षेप' से सोवियत-संघ को जो नुकसान पहुँचा है उसका मुआवजा दिया जाय; (2) सोवियत सरकार को तुरन्त विधिवत् मान्यता प्रदान की जाय; और (3) रूस के पुनर्निर्माण के लिए ऋण दिया जाय। इस प्रकार के दावा और प्रतिदावा से जेनोआ में किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सका और सम्मेलन भंग हो गया।

रैपोलो-समझौता : जेनोआ-सम्मेलन को असफलता का परिणाम कुछ ऐसा हुआ जिसकी आशा उसके संयोजकों ने नहीं की थी। जब दो 'अछूत' एक जगह एक दूसरे से मिलते हैं तो उनमें पारस्परिक सहानुभूति का उत्पन्न होना बिल्कुल स्वाभाविक है। जेनोआ में जर्मनी और सोवियत-संघ के साथ ऐसी ही घटना घटी।

रूस-जर्मन-मित्रता एक ऐतिहासिक परम्परा की बात थी। बिस्मार्क की विदेश-नीति का यह एक मुख्य उद्देश्य था। केवल कैसर के जमाने में ही जर्मनी ने रूस को ठुकरा दिया था, पर युद्ध के बाद उन दोनों देशों में पुनः निकट सम्पर्क स्थापित होना आवश्यक हो गया। यह बात ठीक है कि जर्मनी और साम्यवादी रूस में कोई सैद्धान्तिक समता नहीं थी। एक साम्यवाद था और दूसरा कट्टर पूंजीवादी। तो भी दोनों को एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता थी। स्टालिन ने कहा भी था कि "प्रथम महायुद्ध में पराजित राज्यों के बीच मेल-मिलाप होना परमावश्यक है; नहीं तो विजयी राष्ट्र उनका गला ही घोंट देंगे।" उधर जर्मनी भी युद्ध के बाद पूर्व की ओर ही देख रहा था। युद्ध के बाद मित्रराष्ट्रों द्वारा उसके साथ जो दुर्व्यवहार हुआ था उससे खीझकर जर्मनी रूस के साथ मैत्री स्थापित करना चाहता था। जर्मनी का आर्थिक पुनर्निर्माण भी रूस के साथ व्यापारिक समझौता करके सम्भव था। वर्साय-सन्धि और रूस-आधिपत्य के अवसर पर सोवियत-संघ ने खुले तौर से जर्मनी के प्रति सहानुभूति प्रकट की थी। इस प्रकार दोनों देशों के बीच मेल-मिलाप का वातावरण तैयार हो रहा था।

इस स्थिति में जेनोआ सम्मेलन के एक सप्ताह बाद सोवियत और जर्मन प्रतिनिधि जेनोआ से कुछ मील की दूरी पर स्थित रेपोलो नामक एक समुद्रतटीय आमोद स्थान पर गुप्त रूस से मिले और उन्होंने दोनों देशों के बीच एक मित्रता की सन्धि कर ली। ऊपर से देखने में रूस तथा जर्मनी के बीच यह सन्धि व्यर्थ प्रतीत होती थी। इसके अनुसार जर्मनी ने सोवियत-संघ को विधिवत् मान्यता प्रदान कर दी, दोनों ने क्षतिपूर्ति तथा युद्ध-पूर्व ऋणों के दावों को छोड़ दिया। दोनों के बीच सामान्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। किन्तु इसका दूरगामी परिणाम काफी महत्वपूर्ण था। जैसा प्रोफेसर कार कहते हैं, 'सन्धि की शर्तों का इतना महत्त्व नहीं था जितना सन्धि होने का।' यूरोप के दो 'अछूत' राज्य आपस में मिल गये। सोवियत-संघ को पहली बार एक बड़े राष्ट्र द्वारा कूटनीतिक मान्यता प्राप्त हुई। फ्रांस को बराबर रूसी-जर्मन मेल-मिलाप का जो भय बना रहता था वह पूरा होकर रहा। मित्रराष्ट्रों ने इस सन्धि पर अपनी नाराजगी प्रकट की किन्तु इसके लिए स्वयं वे ही दोषी थे। जर्मनी और रूस को वे महत्वहीन देश मानते हुए उनका बहिष्कार करते चले आ रहे थे। प्रोफेसर कार के शब्दों में ''यह स्वाभाविक ही था कि दोनों बहिषकृत राष्ट्र आपस में गठबन्धन कर लें।''

अन्य देशों की मान्यताए : जब एक बड़े राष्ट्र द्वारा सोवियत-संघ को मान्यता मिल गयी तब अन्य देश अधिक दिनों तक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। जर्मनी ने रूस के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करके अन्य राज्यों के लिए भी मार्ग खोल दिया। 1924 में ब्रिटेन की विदेशनीति में परिवर्तन हुआ। वह रूस के साथ ब्रिटेन का कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में था। इसी समय फ्रांस में भी समाजवादी दल की जीत हुई और यूरोपीय देशों तथा रूस के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का अनुकूल वातावरण उत्पन्न होने लगा। 11 फरवरी, 1924 को ब्रिटेन ने रूस को विधिवत् मान्यता प्रदान कर दी। इसके बाद इटली, नार्वे, आस्ट्रिया, स्वेडन, चीन, डेनमार्क, मेक्सिको और फ्रांस के द्वारा भी उसे मान्यता प्राप्त हो गयी। 1924 के समाप्त होते-होते सोवियत-संघ को पन्द्रह यूरोपीय राज्यों की मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। अगले वर्ष संसार के अधिकांश मुख्य राज्यों की मान्यता भी उसे मिल गयी। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका ही एक ऐसा देश बचा रहा जिसने 1933 तक सोवियत-संघ को अपनी मान्यता प्रदान नहीं की।

रूस-अमेरिका-सम्बन्ध : बहुत दिनों तक अमेरिका सोवियत-संघ का बहिष्कार किये रहा। लेकिन, बीसवीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी में अमरीकी नीति में कुछ परिवर्तन होने लगा। इस काल में दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्पर्क स्थापित हुआ। कुछ अमरीकी पत्रकारों और यात्रियों ने रूस का भ्रमण भी किया। अमरीकी इंजीनियरों को रूस में नौकरी भी मिली, पर इन सब बातों के बावजूद अमरीकी सरकार सोवियत-संघ के साथ कूटनीतिक संम्बन्ध स्थापित करने को तैयार नहीं थी। चौथी दशाब्दी के प्रारम्भ में स्थिति कुछ इस तरह

बदल रही थी कि अमेरिका अधिक दिनों तक रूस की उपेक्षा नहीं कर सकता था। आर्थिक संकट, मंचूरिया पर जापानी आक्रमण, जर्मनी में नात्सी पार्टी का उत्थान इत्यादि घटनाओं ने अमेरिका को रूस के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए बाध्य किया। इसके अतिरिक्त स्वयं सोवियत-संघ में अब कोई साधारण शक्ति नहीं रह गयी थी। अत: जब रूजवेल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति हुआ तो वह सोवियत-संघ को मान्यता प्रदान करने की दिशा में प्रयास करने लगा। लन्दन में विश्व-अर्थ सम्मेलन (1933) के अवसर पर सर्वप्रथम अमरीकी प्रतिनिधि विलियम बुलिट और रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव की मुलाकात हुई। इसके बाद अक्टूबर में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सोवियत-राष्ट्रपति कालीनिन को एक पत्र भेजकर दो प्रतिनिधियों को वार्ता करने के लिए वाशिंगटन भेजने का आग्रह किया। नवम्बर में लिटविनोव वाशिंगटन आ पहुँचा और सोवियत-संघ तथा अमेरिका के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध विधिवित् स्थापित हो गया।

रूस, सामूहिक सुरक्षा और राष्ट्रसंघ : 1915 का लोकार्नो-पैक्ट सामूहिक सुरक्षा की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम माना गया था। इसके पहले लन्दन में एक अप्रिय घटना घट चुकी थी। ब्रिटेन के अनुदार-दल को मजदूर-दल द्वारा सोवियत-संघ की राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक सहायता देना बिल्कुल पसन्द नहीं था। वे सोवियत सरकार और कामिन्टर्न को एक ही चीज समझते थे। वे लोग आंग्ल-रूसी सम्बन्ध को बिगाड़ने पर तुले हुए थे। अनुदार दल के नेता कामिन्टर्न की गतिविधि से काफी चिन्तित थे। अक्टूबर 1924 में ब्रिटेन में आम चुनाव होनेवाला था। चुनाव में जीतने के लिए आंग्ल-रूसी सम्बन्ध खराब करने के लिए अनुदार-दल के नेताओं ने एक ब्रिटिश-समाचारपत्र में एक जाली पत्र प्रकाशित करा दिया। उस समाचारपत्र में एक ऐसी चिट्ठी छपी जिसको कामिन्टर्न के अध्यक्ष जिनोविव ने ब्रिटिश-साम्यवादियों को लिखा था। इसमें यह बतलाया गया था कि ब्रिटिश साम्यवादी पार्टी को आम-चुनाव में किस प्रकार काम करना चाहिए। इस जाली पत्र के प्रकाशन से ब्रिटेन में तहलका मच गया और चुनाव में अनुदार-दल जीत गया। उसके सत्तारूढ़ होने के कारण हाल में किये गये आंग्ल-रूसी समझौते का अनुमोदन नहीं हो सका। सोवियत-संघ और ब्रिटेन के सम्बन्धों में एक बार पुनः तनाव आ गया।

इस घटना के पृष्ठाधार में लोकार्नो-पैक्ट हुआ जिसमें जर्मनी ने पूर्वी सीमा को कोई गारन्टी नहीं दी। इस पर सोविय-संघ में आशंका और भय का उत्पन्न होना बिल्कुल स्वाभाविक था। बोल्शेविक नेताओं का यह भय बिल्कुल स्वाभाविक था कि मित्रराष्ट्र जर्मनी से समझौता करके रूस के विरुद्ध उसको भड़काने का प्रयास कर रहे हैं। उधर लोकार्नो-समझौते से जर्मनी भी संतुष्ट नहीं था। समझौते के अनुसार जर्मनी की बेशर्त राष्ट्रसंघ की एसेम्बली और कौंसिल की सदस्यता प्राप्त हो जानी चाहिए थी। लेकिन जर्मनी को सदस्यता से वंचित करने के लिए राष्ट्रसंघ में जो चाल चली गयी उससे जर्मनी काफी क्षुब्ध हुआ। ऐसी स्थिति में अप्रैल, 1926 में दोनों देशों के बीच बर्लिन में एक अनाक्रमण समझौता हुआ जिसके द्वारा दोनों में तटस्थता कायम रखने और एक दूसरे पर आक्रमण न करने के परस्पर वचन दिये। हस्ताक्षर के समय इस सन्धि को कोई महत्व नहीं दिया गया। दोनों देशों का कहना था कि इस सन्धि पर हस्ताक्षर करके केवल लोकार्नो प्रणाली को पूर्वी सीमा पर लागू किया गया है। लेकिन, यह पहला अवसर नहीं था जब सोवियत संघ और जर्मनी ने परस्पर सन्धि करके दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया हो। 1939 का मास्को-पैक्ट जिसने संसार को एक बार फिर चकित कर दिया, उसकी एक पृष्ठभूमि थी जो रेपोलो और बर्लिन-सन्धियों द्वारा दृढ़ हो रही थी।

एक रूसी नेता का कहना था कि "रूस के लिए शान्ति उनती ही आवश्यक है जितनी एक व्यक्ति के लिए हवा।" 1930 के बाद रूस में पुनर्निर्माण का कार्य बड़े जोर-शोर से चल रहा था। पुनर्निर्माण का कार्य तभी सम्भव था जब संसार में शान्ति बनी रहे। अतः इस युग में रूस विदेश-नीति का मुख्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना करना था। 1928 में पेरिस-पैक्ट पर हस्ताक्षर हुआ जिसके द्वारा राष्ट्रीय नीतिं के साधन

के रूप में युद्ध के परित्याग की घोषणा की गयी। प्रारम्भ में सोवियत-संघ में इस पर हस्ताक्षर करने पर कुछ हिचकिचाहट पैदा हुई और इसको पूंजीवाद की उपज बताया गया। लेकिन सोवियत-संघ में शान्ति के लिए उत्साह इतना प्रबल था कि पेरिस-पैक्ट पर हस्ताक्षर करने के पहले ही उसने समझौते को परस्पर लागू करने के लिए अपने पड़ोसी देशों से विशेष समझौता सम्पन्न किया। विदेश मन्त्री के पद पर आने के तुरन्त बाद लिटविनोव ने पेरिस-समझौते की शर्तों को स्थानीय रूप से लागू करने के लिए कुछ तत्काल कदम उठाये। उसने एक स्वतन्त्र प्रोटोकोल जारी किया जिसको **लिटविनोव प्रोटोकोल** कहते हैं। फरवरी, 1929 में रूस, पोलैंड, रुमानिया लैटविया, एस्थोनिया, लिथिआनिया, तुर्की और फारस ने इस समझौतों पर हस्ताक्षर कर दिया। सबों ने पेरिस-पैक्ट की शर्तों को मानने का वादा किया।

राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत-संघ के रूख का निर्धारण उसने इन पूंजीवादी राज्यों के साथ सम्बन्ध पर आधारित था जो राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। आरम्भ में बोल्शेविक लोग राष्ट्रसंघ को साम्यवाद के विनाश के लिए पूंजीवादी राष्ट्रों का एक षड़यन्त्र समझते थे। परन्तु, 1927 से अमेरिका की तरह सोवियत सरकार ने राष्ट्रसंघ की विविध गतिविधियों में सहयोग देना प्रारम्भ किया। राष्ट्रसंघ का सदस्य न होते हुए भी सोवियत-प्रतिनिधि ने एक सामान्य आर्थिक सम्मेलन में भाग लिया। इसी वर्ष निरस्त्रीकरण प्रारम्भिक आयोग में भाग लेने के लिए लिटविनोव के नेतृत्व में सोवियत प्रतिनिधिमंडल जेनेवा गया। आयोग की कार्यवाही में लिटविनोव ने सक्रिय भाग लिया और अपने प्रभावपूर्ण ढंग से उसने यह अपील की कि तुरन्त ही व्यापक और पूर्ण निरस्त्रीकरण कर लिया जाय।

सितम्बर, 1934 में फ्रांस के जबरदस्त समर्थन के कारण रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया और उसे कौंसिल की स्थायी सदस्यता भी प्राप्त हो गयी। उस समय से सोवियत संघ राष्ट्रसंघ का सबसे बड़ा समर्थक रहा। लिटविनोव यहां से बराबर सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का समर्थन करता रहा। राष्ट्रसंघ को सफल बनाने के लिए जितना प्रयास सोवियत-संघ ने किया उतना प्रयास किसी दूसरे देश ने नहीं किया।

अनाक्रमण सन्धियां : जिस समय सोवियत-संघ राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करने में लगा हुआ था उस समय दुनिया के दूसरे-दूसरे भागों में दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ घट रही थीं। 1931 में जापान ने मंचूरिया पर हमला कर दिया और मंगोलिया की तरफ बढ़ने की सोचने लगा। इधर यूरोप से वेमर रिपब्लिक का अन्त हो चुका था और उसकी जगह पर हिटलर के नेतृत्व में नात्सी शासन स्थापित हो चुका था। स्टालिन को हिटलर के विषय में कोई भ्रम नहीं था। **हिटलर** ने लिखा था - "यदि हम आज यूरोप में नयी भूमि और नये प्रदेश की बातें करते हैं तो हम मुख्यतः रूस तथा उसके समवर्ती अधीनस्थ राज्यों के बारे में ही सोच सकते हैं।" स्टालिन के सामने विकट समस्या थी। वह अभी युद्ध के लिए तैयार भी नहीं हो सका था कि दो तरफ से (जापान और जर्मनी) युद्ध के बादल मंडराने लगे। सोवियत-संघ के रक्षार्थ उसे आदर्शवादी विदेश-नीति का परित्याग करना आवश्यक प्रतीक होने लगा। इस हालत में सोवियत विदेश-नीति में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो गया।

संसार भर में लोकमोर्चा (Front Populaire) स्थापित करना इस नीति-परिवर्तन का प्रथम लक्षण था। जर्मन साम्यवादी पार्टी रूस की साम्यवादी पार्टी को छोड़कर यूरोप में सबसे बड़ी पार्टी थी। हिटलर ने इसका नामोनिशान मिट दिया। फासिज्म की बाढ़ को अगर रोका न गया तो संसार के सभी साम्यवादी पार्टियों का यह हाल हो सकता है और अन्ततोगत्वा सोवियत-संघ का भी अन्त हो सकता है। कामिन्टर्न के सामने यह एक विकट समस्या थी। इसने संसार भर की साम्यवादी पार्टियों से प्रगतिशील पार्टियों को मिलाकर लोक-मोर्चा कायम करने की अपील की।

फ्रांस के साथ सन्धि : केवल लोक-मोर्चा कायम करने से ही काम नहीं चल सकता था। सोवियत-संघ की रक्षा के लिए कोई व्यावहारिक कदम उठाना आवश्यक था। अतः, 1932 के 'राष्ट्रसंघ के अधिवेशन' में लिटविनोव का रूख बदल गया। निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में बोलते हुए उसने कहा कि केवल निरस्त्रीकरण ही सुरक्षा के लिए पर्याप्त नहीं है। राष्ट्रसंघ को अपने सदस्यों की सुरक्षा के लिए अन्य उपायों का भी अवलम्बन

करना चाहिये। किन्तु, राष्ट्रसंघ से अन्य उपायों की आशा नहीं की जा सकती थी। अतः लिटविनोव फ्रांसीसी विदेश मंत्री लुई बार्थो से वार्ता करने लगा और 1935 में दोनों देशों के बीच एक अनाक्रमण-समझौता हो गया, जिसके अनुसार दोनों ने पूर्वी यूरोप की रक्षा के लिए सहयोग करने का वचन दिया। इसके दो सप्ताह बाद इसी प्रकार की दूसरी सन्धि चेकोस्लोवाकिया से भी की गयी। परन्तु इस सन्धि के अनुसार रूस चेकोस्लोवाकिया को सहयता तभी दे सकता था जब फ्रांस भी पूर्व सन्धि के अनुसार उसकी सहायता करता।

कुछ समय के लिए यूरोप की कूटनीतिक परिस्थिति सोवियत-संघ के पक्ष में हो गयी। लेकिन, पूर्वी एशिया का जापानी खतरा अभी भी मौजूद था। पर चीन को मदद देकर जापान के प्रगति को रोका जा सकता था। पर चीन में उस समय प्रतिक्रियावादी च्यांग-काई-शेक का जमाना था; जो साम्यवादियों को देखना नहीं चाहता था। अतः लिटविनोव जापान के साथ भी एक अनाक्रमण-समझौता करने के लिए प्रयास करने लगा। जापान को खुश करने के लिए सोवियत संघ ने मंचूरिया स्थित पूर्वी चीन रेलवे को जापान के हाथ सस्ते दामों में ही बेच दिया। इसके अतिरिक्त जापानी मछुओं को अनेक सुविधाएँ दी गयीं। जापानी आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए मार्च, 1936 में मंगोलिया के साथ एक अन्य अनाक्रमण समझौता कर लिया। इस वर्ष के नवम्बर में जापानी और जापान के बाच कामिन्टर्न-विरोधी एक समझौता हुआ। इसको कुंठित करने के लिए अगस्त, 1937 में चीन और रूस के बीच एक और अन्य अनाक्रमण समझौता हुआ।

पराधीन राज्यों के प्रति सोवियत-संघ का रुख : बोल्शेविक-क्रान्ति का महत्व केवल इसी बात में नहीं है कि इससे संसार में सर्वप्रथम मजदूर और सर्वहारा वर्ग का अपना राज्य स्थापित हुआ, बल्कि इससे पराधीन राज्यों के इतिहास में भी एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। बोल्शेविक-रूस ही यूरोप का पहला देश था जिसने स्वेच्छा से साम्राज्यवाद को अस्वीकार कर अपने अधीन के पराधीन राज्यों को मुक्त कर दिया। लिखित इतिहास में यह अपने ढंग का पहला उदाहरण था। इसके अतिरिक्त सोवियत-संघ ने पराधीन राष्ट्रों से स्वातन्त्र्य-संग्राम के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करके उन्हें हर तरह की मदद का वादा भी किया। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत जहां तक सम्भव था सोवियत-संघ ने पराधीन राष्ट्रों और हाल में स्वतन्त्र हुए राष्ट्रों की मदद की। युद्ध के बाद पश्चिम के साम्राज्यवादी राज्य तुर्की का खात्मा कर देना चाहते थे। लेकिन सोवियत संघ के ऐसे संकट के मौके पर तुर्की को मान्यता प्रदान करके उसे यथा-सम्भव मदद की। चीन के लोग डॉ० सनयात सेन के नेतृत्व में अपनी पूर्ण स्वतंन्त्रता के लिए भीषण संघर्ष कर रहे थे। सोवियत-संघ ने उनकी भी यथासम्भव मदद की। इसके अतिरिक्त सोवियत-संघ बराबर साम्राज्यवाद विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन करता रहा। इस सम्मेलनों से दुनिया के विभिन्न पराधीन राष्ट्रों के राष्ट्रवादी नेताओं को परस्पर सम्पर्क स्थापित कराने का मौका मिलता रहा। इसके फलस्वरूप इन राष्ट्रों के राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सका। राष्ट्रों के मुक्ति-संग्राम में सोवियत संघ की देन अद्वितीय है।

रूस-जर्मन समझौता : 1934 में सोवियत नीति-निर्धारकों को पूर्ण विश्वास हो गया कि एक-न-एक दिन उन्हें जीवन-मरण का युद्ध लड़ना पड़ेगा। अतः अपनी आत्मरक्षा के लिए वे तैयारी करने लगे। यह तैयारी दो तरह की थी – सैनिक और कूटनीतिक। सैनिक तैयारी के अन्तर्गत सोवियत-संघ विविध उपायों से अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने लगा। 2 मई, 1935 का फ्रैंको-रूसी अनाक्रमण-समझौता कूटनीतिक तैयारी की दिशा में पहला कदम था। फ्रांस और रूस के बीच सन्धि तो अवश्य हो गयी; किन्तु उनके पूर्ण सहयोग के मार्ग में काफी कठिनाई थी। फ्रांस के रूढिवादी अभी भी रूस से घृणा करते थे। यही हालत ब्रिटिश-पूंजीपतियों की थी। वे समझते थे कि फासिज्म और साम्यवाद में संघर्ष 'अवश्यम्भावी' है और वे उस दिन की ताक में थे जब हिटलर भूखे शेर की तरह रूस पर जा धमकेगा और उसको दबाकर ही दम लेगा। ब्रिटेन के नीति-निर्धारक जो वहां

के पूंजीपति वर्ग के हाथों की कठपुतली थे, सोवियत-संघ के साथ सहयोग करने के पक्ष में नहीं थे। इस हालत में फ्रांस चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता था, क्योंकि हिटलर के विरुद्ध उसको ब्रिटेन का सहयोग प्राप्त नहीं था।

उधर हिटलर भी रूस के विरुद्ध तैयारी करने में व्यस्त था। अक्टूबर, 1936 में जर्मनी तथा इटली के बीच मित्रता स्थापित हो चुकी थी, जिसको 'रोम-बर्लिन धुरी' कहते हैं। इसी वर्ष नवम्बर में जर्मनी और जापान के बीच कामिन्टर्न-विरोधी सन्धि हुई और 1937 में इटली भी इस सन्धि में शामिल हो गया। इस तरह सोवियत-संघ के विरुद्ध तथा कथित 'रोम-बर्लिन टोकियो-धुरी' की स्थापना हुई। हिटलर अपने उद्देश्य को छिपा कर रखनेवाला व्यक्ति नहीं था। वह बराबर यही बात कहा करता था कि उसके जवीन का एकमात्र लक्ष्य साम्यवाद की जड़ पृथ्वी से उखाड़ फेंकवाना है। यह सुनकर ब्रिटेन और फ्रांस की नीति-निर्धारक खुशी से फूले नहीं समाते थे। इसी स्थिति में स्टालिन अकेले हिटलर या मुसोलिनी का सामना नहीं कर सकता था। अक्टूबर, 1935 में मुसोलिनी ने इथोपिया पर आक्रमण कर दिया। सोवियत-संघ ने ाष्ट्रसंघ द्वारा इटली के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने की मांग की। लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस इसके विरुद्ध और इसलिए मुसोलिनी को मनमानी करने के लिए छोड़ दिया गया। जुलाई, 1936 में स्पेन में गृह-युद्ध छिड़ा। जर्मनी और इटली में स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार के खिलाफ जनरल फ्रैंको की मदद देनी शुरू की। रूस चाहता था कि ब्रिटेन और फ्रांस स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार की मदद करें। पर ये दोनों देश हस्तक्षेप न करने की नीति का अवलम्बन कर रहे थे। सोवियत-संघ ने गणतन्त्रीय सरकार की कुछ मदद की। लेकिन उससे क्या होता ? ब्रिटेन फ्रास तटस्थता की आड़ में चुप बैठकर स्पेन ने गणतन्त्र के विनाश में सहायता करते रहे। 1938 में जर्मनी ने आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। लिटविनोव ने हिटलर के भावी आक्रमण को रोकने के लिए एक सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा लेकिन फ्रांस और ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसी वर्ष हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया को भी हड़पने का प्रयत्न किया। लिटविनोव ने चेकोस्लोवाकिया की रक्षा के लिए मिलजुल कर तैयारी करने की अपील की। फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया में पहले से सन्धि थी। रूस के साथ भी उसकी सन्धि थी; परन्तु वह उसकी सहायता तभी कर सकता था जबकि फ्रांस पहले पहुँचता। पर ब्रिटेन हिटलर को नाराज नहीं करना चाहता था और फ्रांस ब्रिटेन के सहयोग के बिना कोईं कदम नहीं उठा सकता था। ऐसी हालत में रूस कुछ नहीं कर सका। फ्रांस और ब्रिटेन ने सोवियत-संघ को बिना शामिल किये ही हिटलर के साथ म्यूनिख का समझौता कर लिया। जिसके फलस्वरूप चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग हो गया। मार्च, 1939 में हिटलर ने अविशिष्ट चेकोस्लोवाकिया को भी हड़प लिया। इन सब घटनाओं से स्टालिन को पूरा विश्वास हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र हिटलर को प्रोत्साहित करके सोवियत-संघ पर आक्रमण करवाना चाहते हैं। म्यूनिख-सम्मेलन में भाग लेने के लिए सोवियत-संघ को बुलाया तक नहीं गया था। रूस को पश्चिमी देशों से सहयोग करने की नीति की व्यर्थता अच्छी तरह प्रकट हो गयी।

मार्च, 1936 में जब हिटलर समूचे चेकोस्लोवाकिया को निगल गया तो ब्रिटेन और फ्रांस की आंखें खुलीं। अब वे जर्मनी के खिलाफ एक गुट कायम करने की बात सोचने लगे। इस गुट में सोवियत-संघ को सम्मिलित करना आवश्यक था। पर सोवियत-संघ साफ-साफ शब्दों में अपने लिए और बाल्टिक सागर के तटीय राज्यों के लिए गारन्टी चाहता था, ब्रिटेन इसके लिए तैयार नहीं था। चेकोस्लोवाकिया के बाद पोलैंड की बारी थी। ब्रिटेन पोलैंड को गारण्टी दे चुका था और वह चाहता था कि रूस भी इसको इस तरह गारन्टी दे दे पर रूस बिना उपयुक्त गारन्टी लिए कुछ करने को तैयार नहीं था और ब्रिटेन भी इस तरह की कोई गारन्टी नहीं देना चाहता था। इसका स्पष्ट अर्थ था यदि जर्मनी बाल्टिक-सागर के तटीय देशों पर आक्रमण करते हुए रूस पर चढ़ बैठता तो ब्रिटेन और फ्रांस उसनी सहायता के लिए बाध्य नहीं थे। स्टालिन बेवकूफ नहीं था। मई में लिटविनोव ने विदेश मन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया और मोलोटोव उसके पद पर आया।

इस घटना से पश्चिमी राष्ट्र कोई सबक नहीं ले सके। लिटविनोव कट्टर फासिस्टविरोधी था और वह किसी भी हालत में जर्मनी के साथ सन्धि करने को तैयार नहीं होता। इसलिए स्टालिन ने उसे हटा देना ही ठीक समझा। रूस-जर्मन वार्तालाप शुरू हो चुका था।

रूस-जर्मन अनाक्रमण सन्धि : 23 अगस्त को जर्मन विदेशमंत्री रिबनट्रोप मास्को पहुँचा। इसी समय साम्यवादियों के 'लोक मोर्चा' का नारा भी बन्द हो गया। मोलोटोव और रिबन ट्रोप बहुत समय तक गुप्त वार्ताएँ करते रहे। उस दिन एक अनाक्रमण-सन्धि पर दोनों ने हस्ताक्षर किया। सन्धि के अनुसार यह निश्चय हुआ कि दोनों में से कोई भी एक दूसरे पर अकेले या किसी से मिलकर आक्रमण नहीं करेगा।[1] अगस्त में सुप्रीम सोवियत ने सन्धि का अनुमोदन कर दिया।

समझौते के कारण : रूस के साथ अनाक्रमण समझौता कर लेना हिटलर की महान् कूटनीति सफलता था। इसके कारण पूर्वी मोर्चे पर रूस के आक्रमण की आशंका का अन्त हो गया। फलस्वरूप अब हिटलर अपनी समूची शक्ति को पश्चिमी मोर्चों पर मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लगा सकता था। हिटलर अभी तक साम्यवाद का कट्टर विरोधी बना हुआ था। अभी तक उसका सारा जीवन सोवियत-संघ का विरोध करने और कम्युनिस्टों को कुचलने में लगा था। कामिन्टर्न विरोधी पैक्ट इसी नीति का परिणाम था। लेकिन 1939 के समझौते ने सारी स्थिति को बदल दिया और कट्टर शत्रु एकाएक एक-दूसरे के मित्र बन गये। इसके क्या कारण थे ? इस महान् कूटनीतिक परिवर्तन का एक कारण यह था कि इस समझौते से दोनों पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त से पूरी तरह परिचित थे। कूटनीति का मूल आधार अवसरवादिता होता है। इसमें कोई स्थायी शत्रु या मित्र नहीं होता; परिस्थितियों के अनुसार इसमें बराबर परिवर्तन होता रहा। एक वार्ता ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के बीच में तथा दूसरी जर्मनी और रूस के बीच में थी। उस समय पोलैंड पर जर्मनी का आक्रमण की सम्भावना बढ़ गयी थी और इसलिए जर्मनी, फ्रांस तथा ब्रिटेन दोनों ही रूस का सहयोग प्राप्त करना चाहते थे। ब्रिटेन और फ्रांस की ओर से रूस के साथ सन्धि कर लेने के बड़े प्रयास हुए, लेकिन इसमें सबसे बड़ी बाधा पोलैंड था। रूस की ओर से यह शर्त रखी गयी थी कि आक्रमण की दशा में रूसी सेना को घुसने का अधिकार मिले। लेकिन पोलैंड किसी भी दशा में यह नहीं चाहता था कि उसके किसी भी भू-भाग में रूसी सैनिकों का प्रवेश हो। पौलेंड के इस रूख के कारण सन्धि-वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया और रूस जर्मनी की ओर झुकने लगा।

पोलैंड से भी बढ़कर रूस-जर्मन समझौते के कारण बाल्टिक राज्यों की स्थिति थी। 1917 के रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद बाल्टिक सागर के तीन राज्य इस्टोनिया, लैटविया, लिथुएनिया तथा फिनलैंड स्वतन्त्र राज्य बन गये थे। रूस की सुरक्षा के लिए इन राज्यों की स्थिति बड़े महत्व की थी। जब तक यूरोप की कूटनीतिक स्थिति शान्त थी तब इन राज्यों को कोई भय नहीं था। लेकिन हिटलर के युद्धोपरान्त स्थिति बदल गयी और 1939 के आते-आते हिटलर का खतरा बहुत बढ़ गया था। हिटलर बार-बार रूस के विध्वंश की बातें किया करता था। इस नवीन परिस्थितियों में बाल्टिक राज्यों को असाधारण सामरिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। जर्मन के साथ संघर्ष की स्थिति में यदि ये राज्य जर्मनी का साथ दे देते, तो रूस के लिए भयंकर स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। अतः आत्मरक्षा की दृष्टि से रूस इन राज्यों की सुरक्षा की गारन्टी चाहता था। जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस से मिलकर संघ बनाने में रूस ने यह शर्त रखी कि या तो बाल्टिक राज्यों और फिनलैंड को जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा की गारन्टी दी जाय अथवा युद्ध छिड़ने पर इन राज्यों में रूस को अपनी सेना ले जाने की सुविधा दी जाय। लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं हुए। अतएव सोवियत रूस के साथ सन्धि-वार्ता को भंग कर देना पड़ा। स्टालिन को छोटे राज्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर इस प्रकार का कोई ठोस प्रादेशिक लाभ देने को चेम्बरलेन या दलादिये तैयार नहीं थे। अतः उनके साथ रूस का समझौता नहीं हो सका।

रूस-जर्मन-समझौता ब्रिटेन और फ्रांस के लिए अनभ्र वज्रपात था। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि स्टालिन अपने जन्मजात शत्रु और कट्टर विरोधी हिटलर से कोई समझौता कर सकेगा। लेकिन सोवियत-संघ के सामने इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं था। साम्यवादी रूस के प्रति ब्रिटेन और फ्रांस की ओर घृणा थी उसके विकास में वे सदा सहायता देते रहते थे। म्यूनिख समझौते के समय तो उनकी नीति चरम सीमा पर पहुँच गयी। ऐसी हालत में जर्मनी से किसी तरह का समझौता कर लेना ही उचित था। इसके अतिरिक्त जर्मनी से सन्धि करके रूस को कुछ ठोस लाभ प्राप्त हो रहा था जो उसकी सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्कयक थे। रूस भावी आक्रमण से भयभीत होकर अपनी सुरक्षा के लिए बाल्टिक राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। लेकिन पश्चिमी राष्ट्र इसके लिए तैयार नहीं थे, पर जर्मनी इसके लिए तुरन्त तैयार हो गया; क्योंकि इसमें उसे पूर्वी मोर्चे की सुरक्षा का तात्कालिक लाभ था और यह विश्वास था कि पश्चिमी राष्ट्रों को हराने के बाद वह रूस से लड़कर ये प्रदेश पुनः प्राप्त कर लेगा।

नात्सी जर्मन के साथ प्रगतिशील साम्यवादी राज्य सोवियत-संघ के इस सन्धि की कहीं-कहीं बड़ी-कड़ी आलोचना हुई है। कुछ लोग इसे सोवियत विदेश-नीति के इतिहास में एक 'काला-धब्बा' मानते हैं। सोवियत-संघ से उस समय सहानुभूति रखने वाले एशिया के कुछ प्रगतिशील राष्ट्रवादियों ने भी इसकी आलोचना की है। वास्तव में जर्मन और सोवियत रूस में गठबन्धन एक अजीब बात लगती है। पर यदि हम उस समय की कूटनीतिक स्थिति की तह में जाकर विषय का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि स्टालिन ने जर्मनी के साथ समझौता करके एक महान् दूरदर्शिता का परिचय दिया। राष्ट्रीय सुरक्षा सफल विदेश-नीति की कसौटी मानी जाती है और इस दृष्टि से रूस-जर्मन समझौता बिल्कुल उचित था। यह सोवियत विदेश-नीति की सबसे बड़ी विजय और स्टालिन के तूफानी राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी सफलता थी। स्टालिन ने उस समय की अत्यन्त भीषण परिस्थिति में रूस को युद्ध की ज्वाला से दूर रखने का प्रयत्न किया। जब सितम्बर, 1939 में जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया और द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ तो रूस उसमें तटस्थ रहा।

FOOT NOTES

1. अनाक्रमण सन्धि के अतिरिक्त दोनों पक्षों में एक गुप्त समझौता भी हुआ था जिसके अनुसार जर्मनी, रूस को फिनलैंड, इस्टोनिया, लैटविया, पोलैंड का पूर्वी भाग और रूमानिया का बेसरेविया प्रदेश देना स्वीकार किया।

अध्याय 34

जर्मनी की विदेश-नीति और द्वितीय विश्वयुद्ध
(Foreign Policy of Germany and Second World War)

जर्मन विदेश-नीति के उद्देश्य : जर्मनी में सर्वसत्ता सम्पन्न होने पर हिटलर ने अपनी पुस्तक 'मीन कैम्फ' प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर अपनी विदेश-नीति का निर्धारण किया। इसके अनुसार हिटलर की विदेश-नीति के तीन मुख्य उद्देश्य थे : (1) वर्साय-सन्धि को नष्ट करना, (2) द्वितीय रीह के अन्तर्गत सारी जर्मन जाति को एक सूत्र में संगठित करना तथा (3) जर्मन साम्राज्य का विस्तार करना। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वह किसी भी तरीके को अपना सकता था। इस बात को स्पष्ट करते हुए हिटलर ने स्वयं एक बार कहा था - "इसकी प्राप्ति के लिए समझौता और यदि सम्भव न हो सका तो युद्ध का आश्रय लेना हमारी विदेश-नीति की ओर हमारा पहला लक्ष्य होगा।" पर हिटलर अपने लक्ष्य की पूर्ति दूसरों से बातचीत करके और समझौता करने की जगह स्वयं अपनी ओर से धौंस के बल पर करना अधिक अच्छा समझता था। इस धौंस की नीति में उसे उसी प्रकार की सफलता प्राप्त हुई जिस प्रकार आन्तरिक राजनीति में प्राप्त हुई।

हिटलर और वर्साय की सन्धि : हिटलर का प्रमुख लक्ष्य वर्साय-सन्धि था। सत्तारूढ़ होने के पूर्व वर्साय-सन्धि की निन्दा करके उसने लोकप्रियता प्राप्त की थी और जर्मन जनता को वर्साय सन्धि का अन्त करने का वचन दिया था। सत्ता हाथ में आने पर वह अधिकांश राजनीतिज्ञों की तरह अपने वादों को नहीं भूला, बल्कि तुरन्त ही उसको कार्यान्वित करने का प्रयत्न भी शुरू कर दिया। हिटलर कोई जल्दबाजी में नहीं था। वह अपने कार्यक्रम और उसे कार्यान्वित करने के तरीकों के सम्बन्ध में पूरा सजग था। राष्ट्रसंघ की सदस्यता, हिटलर के अनुसार, जर्मनी के माथे पर एक कलंक का टीका था। अतः वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए धीरे-धीरे कदम उठाने लगा। हिटलर का पहला हमला 'घृणित वर्साय-सन्धि' की प्रथम 26 धाराओं पर हुआ। राष्ट्रसंघ की सदस्यता, हिटलर के अनुसार, जर्मनी के माथे पर एक कलंक का टीका था। अतः इस कलंक को मिटाने के लिए वह धीरें-धीरे काम करने लगा। उसके सत्तारूढ़ होने के पहले से ही जर्मनी राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में भाग ले रहा था। हिटलर ने अक्टूबर, 1933 में जर्मन प्रतिनिधियों को जेनेवा से वापस बुला लिंया और उसी समय राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने की सूचना भी दे दी। जर्मन वोटरों ने बहुत बड़े बहुमत से अपने फ्यूरर के इस निर्णय का स्वागत किया।

इसी बीच सार प्रदेश का भाग्य-निर्णय जनमत द्वारा होना था। वर्साय-सन्धि के द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि पंद्रह साल बाद वहाँ इस प्रश्न पर लोकमत लिया जायगा कि वह प्रदेश किसके अन्तर्गत रहे। पंद्रह वर्षों की अवधि 1937 में समाप्त हो गयी और अगली जनवरी में वहाँ लोकमत लिया गया। इसमें नब्बे प्रतिशत मतदाताओं ने जर्मनी के साथ मिलने के पक्ष में मत दिये। 1, मार्च, को यह क्षेत्र जर्मनी को वापस लौटा दिया गया। हिटलर ने कहा कि अब जर्मनी ने पश्चिम में और अधिक क्षेत्रीय महत्वकांक्षाएं नहीं हैं। पर पूर्व में तो अभी हाडीन्जग, मेमल—जैसे प्रदेश थे ही, जहाँ जर्मनी लोग निवास करते थे। इन्हें भी जर्मनी के साथ सम्मिलित हो जाना चाहिए। सार की सफलता से प्रोत्साहित होकर हिटलर अन्य राज्यों में बसे हुए जर्मनों में प्रचार करने लगा।

इसके बाद वर्साय-सन्धि के अन्य कलंकों को भी धोना था। उस सन्धि के द्वारा जर्मनी को प्रथम विश्व-युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया था और उसी आधार पर जर्मनी पर एक बहुत बड़ी रकम क्षतिपूर्ति के नाम पर लाद दी गयी थी। हिटलर ने क्षतिपूर्ति और युद्ध-अपराध के दोष को मानने से इन्कार कर दिया। मित्रराष्ट्र देखते ही रहे और हिटलर ने आसानी से क्षतिपूर्ति की जटिल समस्या का हल कर दिया। वर्साय-सन्धि का पंचम भाग जर्मनी के लिए एक दूसरा कलंक था। इस भाग के द्वारा जर्मनी की सैन्य-शक्ति को सीमित कर दिया गया था। तृतीय रीह के लिए यह बहुत बड़े अपमान की बात थी। हिटलर ने इसको मानने से इन्कार कर दिया। मार्च, 1935 में उसने यह घोषणा की कि निरस्त्रीकरण की दिशा में मित्रराष्ट्र ने कोई ठोस कदम नहीं उठाया। इसलिए वर्साय-सन्धि की निरस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराएँ अब जर्मनी के लिए किसी भी दृष्टि में बन्धनकारी नहीं हैं। इस घोषणा के बाद उसने जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा आरम्भ की और जर्मनी की सैनिक शक्ति बढ़ने लगी। कुछ दिनों के बाद उसने स्पष्ट शब्दों में यह भी घोषित कर दिया कि वह वर्साय की किसी भी शर्त को मानने के लिए तैयार नहीं है और भविष्य में जर्मनी अपने को इस सन्धि से मुक्त समझेगा। हिटलर की विदेश-नीति का एक उद्देश्य इस तरह पूरा हो गया।

पोलैंड के साथ समझौता : हिटलर ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई जल्दबाजी नहीं की। अपनी पुस्तक में तो उसने विष वमन किया था, परन्तु सत्ता ग्रहण करने के बाद उसके भाषण बड़े सौम्य रहे और वह यूरोप में शान्ति की कामना प्रकट करता रहा। उसकी इच्छा केवल इतनी ही थी कि अन्य राष्ट्र जर्मनी से छेड़छाड़ न करें। मुसोलिनी के प्रस्ताव पर उसने 1933 में इटली, फ्रांस और इंगलैंड के साथ पारस्परिक हितों के मामलों में सीधे राजनयिक परामर्श करने के लिए एक समझौता (for power peace pact) किया। उसने अपने सहकारी रूडाल्फ हस के द्वारा 1934 में फ्रांस से शान्ति के लिए जर्मनी के साथ सहयोग करने का प्रस्ताव रखा। जनवरी, 1934 में उसने पोलैंड से दसवर्षीय अनाक्रण-सन्धि द्वारा दोनों देशों के बीच मनोमालिन्य और तनाव कम करके अपनी शान्तिप्रियता का परिचय दिया।

आस्ट्रिया को हड़पने का यत्न : जनवरी, 1933 में जर्मनी का शासन-सूत्र हिटलर के हाथों में आने के बाद आस्ट्रिया की राजनीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो गया। हिटलर ने सत्ता पर अधिकार जमाते ही आस्ट्रिया को जर्मनी में सम्मिलित करने का प्रयत्न शुरू कर दिया। हिटलर के चान्सलर बनने के पूर्व 1930 में हीं आस्ट्रिया में एक नात्सी पार्टी का संगठन हो चुका था, पर इसकी शक्ति कोई अधिक नहीं थी। जर्मनी में नात्सी शासन स्थापित हो जाने पर आस्ट्रिया के नात्सियों को बहुत बल मिला। जर्मनी नात्सी-पार्टी ने आस्ट्रिया नात्सी-पार्टी की सहायता दिल खोलकर करने लगी। थियो हाविच नामक एक नात्सी को हिटलर ने आस्ट्रिया के लिए विशेष निरीक्षक बहाल किया। जर्मन प्रेस और रेडियो से आस्ट्रिया के नात्सी-पार्टी को सहायता मिलने लगी। जर्मन वायुयान आस्ट्रिया की भूमि पर नात्सी-पर्चे गिराने लगे। आस्ट्रिया पर आर्थिक दबाव डालने के लिए हिटलर जर्मनी के नागरिकों पर आस्ट्रिया जाने पर एक तरह से रोक लगा दी। जर्मनी यात्रियों से आस्ट्रिया को काफी आर्थिक लाभ होते थे, पर अब उनका आना-जाना ही बन्द हो गया। इस तरह का बल पाकर आस्ट्रियन नात्सी पार्टी अपना प्रभाव बढ़ाने लगी। इन लोगों की यही कोशिश थी कि अगले चुनाव में नात्सी पार्टी को किसी तरह जिताया जाय, जिससे जर्मन और आस्ट्रिया को मिलाकर एक करने में कोई बाधा नहीं पड़े। इन सब बातों को देखकर आस्ट्रिया के प्रधानमंत्री डाल्फस का चिन्तित होना स्वाभाविक था। नात्सी-पार्टी की शक्ति के बढ़ जाने के कारण वह तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि आस्ट्रिया में लोकतन्त्रवाद की सफलता नहीं हो सकती है। उसने मुसोलिनी की तरह आस्ट्रिया में फासिस्ट-प्रणाली स्थापित करने का निश्चय किया।

डाल्फस के इस निर्णय के प्रथम शिकार सोशल डेमोक्रेट हुए। वह संसद की उपेक्षा करके सम्पूर्ण राज्य-शक्ति को अपने हाथ में ले लेना चाहता था। नात्सी-पार्टी के विरुद्ध उसने एक दूसरी पार्टी का संगठन किया, जिसको 'राष्ट्रीय पार्टी' (Fatherland front) कहा जाता था। एक आदेश के द्वारा डाल्फस ने राष्ट्रीय

पार्टी को छोड़कर सभी राजनीतिक पार्टियों को भंग कर दिया। सोशल-डेमोक्रेटिक लोगों ने इसका घोर विरोध किया। 'हाइमबेहर' के सहयोग से डाल्फस ने इस पार्टी को पूरी तरह कुचल दिया। इसके प्रमुख नेता और कार्यकर्ता या तो मार डाले गए अथवा आस्ट्रिया छोड़कर भाग गये। सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी ही एक ऐसी थी जो नात्सियों की प्रगति रोकने में डाल्फस को काफी सहायता कर सकती थी। लेकिन, डाल्फस ने पहले इस दल को ही कुचल दिया। सम्भवत: वह उसकी भयंकर भूल थी। इसके बाद आस्ट्रियन नात्सी-पार्टी को भी उसने अन्य कई तरीकों से खत्म कर दिया।

डाल्फस की इन कार्रवाइयों के बावजूद नात्सी-पार्टी इतनी आसानी से खत्म होने वाली नहीं थी। इसको जर्मनी से समर्थन मिलता था। कहा जाता है कि तीस हजार से पचास हजार के लगभग आस्ट्रियन नात्सी डाल्फस के दमन से बचने के लिए जर्मनी भाग गये। इन नात्सियों को संगठित कर हिटलर ने एक 'आस्ट्रियन लिजन' की स्थापना कर दी। जिसका काम आस्ट्रो-जर्मन सीमान्त पर गड़बड़ी पैदा करना था। जुलाई, 1934 में नात्सी लोगों ने डाल्फस का काम तमाम करके आस्ट्रिया में अपनी सरकार को कायम करने का षडयन्त्र किया। 22 जुलाई को जर्मन में रहने वाले 'आस्ट्रियन लिजन' के नात्सियों में अभूतपूर्व हलचल दिखाई पड़ने लगी। सशस्त्र आस्ट्रियन से भरी हुई लारियाँ प्रत्येक रात सीमान्त की ओर जाती थीं और खाली म्यूनिख लौटती थीं। 25 जुलाई को आस्ट्रियन मन्त्रिमंडल की एक बैठक होनेवाली थी; पर साजिश की कुछ खबर मिलने के कारण बैठक स्थगित कर दी गयी। फिर भी चान्सलर डाल्फस अपने एक अन्य सहयोगी के साथ सचिवालय में पहुँच ही गया। दोपहर के समय आस्ट्रियन पुलिस और सेना की पोशाक धारण किये हुए नात्सियों का एक सशस्त्र दल सचिवालय में पहुँचा और उसने सरकारी भवन में घुसकर सभी कर्मचारियों को कैद कर लिया और डाल्फस की हत्या कर दी। उसी समय नात्सियों का एक दूसरा दल वियना के रेडियो स्टेशन में घुस गया और यह एलान कर दिया कि डॉ० डाल्फस ने त्यागपत्र दे दिया है। इसी तरह का एलान कुछ इसी समय म्यूनिख रेडियो से भी हुई। सम्भवत: यह देश के अन्य भागों में व्यापक उपद्रव के लिए इशारा था पर विद्रोहियों को जनता का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। शाम होते-होते वियना में पूर्ण शान्ति कायम हो गयी। सभी नात्सी-षडयन्त्रकारी पकड़ लिये गये।

इसमें कोई शक नहीं कि डाल्फस की हत्या की पूरी जिम्मेवारी जर्मनी नात्सियों और खासकर उसके फ्यूरर पर थी। उन्होंने सोचा था कि षडयन्त्र सफल हो जायगा और सीमान्त पर खड़े 'आस्ट्रियन लिजिन' की मदद से वे आस्ट्रिया पर अधिकार जमा लेंगे। पर उनकी यह मनोकामना पूर्ण नहीं हो सकी। इटली का कड़ा रुख इसका एकमात्र कारण था। उस समय डुचे और फ्यूरर एक दूसरे से बहुत दूर थे। इटली शुरू से आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य का विरोध करता रहा था। वह अनुभव करता था कि आस्ट्रिया और जर्मनी के मिल जाने से शक्तिशाली जर्मनी राष्ट्र की सीमा इटली में आ मिलेगी और यह बात इसके अपने लिए बहुत हानिकारक हो सकती है। अत: जब डाल्फस की हत्या का समाचार मुसोलिनी को मिला तो उसने अपनी सेना ब्रेनर के दर्रे में भेज दी और चेतावनी दी कि यदि हिटलर आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयत्न करेगा तो इटली से युद्ध छिड़ जायगा। हिटलर डर गया। अधिक दूर तक जाने का साहस उसमें नहीं हुआ। यदि मुसोलिनी इस अवसर पर डटकर काम नहीं करता तो आस्ट्रिया अवश्य ही जर्मन का शिकार हो गया होता। असफलता देखकर हिटलर ने भी आस्ट्रिया के प्रति अपनी नीति में कुछ दिनों के लिए परिवर्तन कर दिया। उसने घोषणा की कि जुलाई की घटना में उसका बिल्कुल हाथ नहीं था। उसने अनेक बार यह स्वीकार किया कि आस्ट्रिया स्वतंत्रता पर खतरा पैदा करने या घरेलू मामले में हस्तक्षेप करने का कोई विचार था। उसने वियना स्थिति जर्मन राजदूत के कार्यों को अस्वीकृत करके उसे वापस बुला लिया और थियोहाविच को भी बर्खास्त कर दिया। यह नीति दो वर्षों तक जारी रही। इस प्रकार हिंसा के द्वारा आस्ट्रो-जर्मन ऐक्य का प्रयास असफल रहा। आस्ट्रिया को हड़पने के पहले मुसोलिनी को खुश करना और उसका समर्थन पाना आवश्यक था। अत: हिटलर अब मुसोलिनी से मेल-मिलाप करने का यत्न करने लगा।

ब्रिटेन के साथ समझौता : 'मीन कैम्फ' के लेखक ने लिखा था कि फ्रांस जर्मन का कट्टर दुश्मन है। अत: जब 16 मार्च, 1935 को हिटलर ने पुनर्शस्त्रीकरण की अपनी योजना घोषित की, तो फ्रांस में काफी चिन्ता फैल गयी। हिटलर जानता था कि मित्र राष्ट्रों की मंडली में जर्मन के पुनर्शस्त्रीकरण का समाचार सुनकर ही खलबली मच जायगी। वह मित्रराष्ट्रों में फूट डालकर अपना काम निकालना चाहता था। इस समय फ्रांस और सोवियत संघ में एक सन्धि हो चुकी थी। ब्रिटेन को यह बात अच्छी नहीं लगी; क्योंकि यूरोप में फ्रांस काफी शक्तिशाली हो रहा था। हिटलर ब्रिटेन की इस मानसिक दशा को अच्छी तरह जानता था। वह यह भी जानता था कि ब्रिटेन जर्मनी के स्थल और वायु सेना को अपने हितों के लिए घातक नहीं मानता। हिटलर ब्रिटेन की इस बात पर समझौता करने के लिए तैयार था कि जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति नहीं बढ़े। जून, 1935 में दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया जिसके अनुसार ब्रिटेन ने फ्रांस से छिपकर यह स्वीकार कर लिया कि जर्मनी अपनी शैन्य शक्ति (स्थल और वायु) में वृद्धि कर सकता है, बशर्ते वह अपनी नौ-सेना को ब्रिटेन की नौसेना से पैंतीस प्रतिशत से अधिक न बढ़ावे। यह हिटलर की एक बड़ी कूटनीतिक विजय थी। इस सन्धि के बाद मित्रराष्ट्रों को जर्मन से वर्साय की सन्धि को भंग करने की शिकायत करने का कोई नैतिक आधार नहीं रहा।

स्ट्रेसा सम्मेलन : ब्रिटेन के साथ जर्मन का समझौता हो जाने से यूरोपीय सुरक्षा की समस्या हल नहीं हो रही थी। जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकराण से अन्य देशों में बड़ा भय उत्पन्न हुआ। फ्रांस तो भयभीत था ही। अत: जर्मन की कार्रवाई पर विचार करने के लिए फ्रांस ने अप्रैल में राष्ट्रसंघ कौंसिल का विशेष अधिवेशन बुलाने की मांग की। इसके पूर्व मुसोलिनी के प्रयास से ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के राजनयिक स्ट्रेसा नामक स्थान पर जर्मनी के खतरे पर विचार करने के लिए एकत्र हुए। स्ट्रेसा में तीनों के प्रतिनिधियों द्वारा वर्साय-व्यवस्था की रक्षा करने में परस्पर सहयोग करने की सम्मिलित घोषणा की गयी, साथ ही साथ वर्साय-सन्धि के अन्तर्गत अपने कर्तव्यों को स्वीकार करने के कारण जर्मनी की निन्दा भी की गयी। किन्तु स्ट्रेसा-घोषणा केवल धमकी मात्र ही थी। इसको लागू करने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की गयी। उल्टे जर्मनी में बहुत रोष फैला। हिटलर खास कर ब्रिटेन से बहुत अधिक रुष्ट हुआ, क्योंकि एक तरफ तो जर्मनी से समझौता कर रहा था और दूसरी तरफ उसकी भर्त्सना। जर्मन पुनर्शस्त्रीकरण अब एक निष्पादित तथ्य था। इसको कोई रोक नहीं सकता था। फ्रांस जानता था कि स्ट्रेसा घोषणा से उसका काम नहीं चलेगा। अत: मई, 1935 में उसने रूस के साथ एक पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि कर ली। इसी तरह की एक दूसरी सन्धि चेकोस्लोवाकिया के साथ भी हुई।

राइनलैंड का पुनः सैनिकीकरण : 1936 के प्रारम्भ में युरोप में यह अफवाह बड़े जोरो से फैली कि जर्मन राइनलैंड पर कब्जा करने की तैयारी कर रहा है। वर्साय-सन्धि के अनुसार जर्मनी राइनभूमि में न तो सशस्त्र सेना ही रख सकता था और न किलाबन्दी ही कर सकता था। लोकार्नो-सन्धि द्वारा भी इस बात की गारन्टी नहीं दी गयी थी, पर हिटलर लोकार्नो-सन्धि का उल्लंघन करने के लिए भी तैयार था। 1935 में इटली ने अबीसीनिया पर हमला कर दिया। ब्रिटेन ने इसका विरोध किया और विवश होकर फ्रांस को ब्रिटेन का साथ देना पड़ा। राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी का आदेश दिया। हिटलर ने इस स्थिति से लाभ उठाया। उसने इटली के साथ सहानुभूति प्रकट की और उसे युद्ध सामग्री भी दी। हिटलर इथोपिया-कांड को अच्छी तरह देखता रहा। ब्रिटेन और फ्रांस बुरी तरह इस कांड में फँस गये थे। 7 मार्च, 1946 को जर्मन रीहस्टाग में भाषण देते हुए फ्यूरर ने यह घोषणा की कि जर्मनी राइलैंड को तृतीय रीह में सम्मिलित करने को तैयार है। इसी समय जर्मन विदेश मन्त्री ने ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और बेल्जियम के राजदूतों को बुलाकर यह सूचित किया कि चूँकि फ्रांस ने सोवियत संघ से समझौता करके ऐसे कर्तव्यों को

स्वीकार कर लिया है, जो लोकार्नो-सन्धि की शर्तों के विरुद्ध है, इसलिए जर्मनी राइनभूमि पर पुनः कब्जा कर लेना चाहता है। इस घोषणा के थोड़ी देर बाद लगभग पैंतीस हजार जर्मन-सैनिकों ने राइनलैंड में प्रवेश कर उस पर अपना अधिकार जमा लिया।

जर्मनी द्वारा राइनलैंड पर अधिकार करने के फलस्वरूप फ्रांस में तहलका मच गया। लेकिन फ्रांस अकेले कोई कदम उठाने से डरता था। फ्रांसीसी प्रधानमंत्री ने ब्रिटेन से जर्मनी के विरुद्ध संयुक्त सैनिक कार्रवाई करने की अपील की। परन्तु ब्रिटेन फ्रांस का साथ देने से इन्कार कर दिया। उसको राइनलैंड से अधिक चिन्ता इथोपिया की थी। अतः उसने फ्रांस को राष्ट्रसंघ में अपील करने की सलाह दी। लन्दन में राष्ट्रसंघ-कौंसिल का अधिवेशन विशेष रूप से बुलाया गया और वहाँ यह निर्णय हुआ कि जर्मनी असैनिकृत क्षेत्र में सेना भेजकर तथा वहाँ उन्हें स्थायी रूप से रखकर वर्साय-सन्धि का उल्लंघन किया है। पर केवल प्रस्ताव मात्र से राइनलैड का संकट सुलझने वाला नहीं था। हिटलर उस भूमि पर जम चुका था। फ्रांस इसको रोक नहीं सकता था; क्योंकि वहाँ उन दिनों शान्तिवादियों का जोर था और अन्य देश इस मामले में उदासीन थे। इथोपिया-कांड में इटली का विरोध करके वह मुसोलिनी की नाखुश कर चुका था और सोवियत संघ अभी सैनिक कार्यवाही करने के लिए तैयार नहीं था।

आज राइनलैंड-कांड पर पुनर्विचार करने पर सार कांड हिटलर का जबरदस्त कूटनीतिक धौंस के समान प्रतीत होता है। अगर फ्रांस चाहता तो अपनी मजबूत सैनिक तैयारी की बदौलत राइनलैंड में अपनी सेना भेजकर हिटलर को वापस लौटने पर बाध्य कर सकता था। आगे चलकर आस्ट्रिया के चान्सलर शुशनिग से भेंट करते हुए हिटलर ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया था। वास्तव में जर्मन सेनापतियों को यह लिखित आदेश था कि अगर फ्रांस बलपूर्वक राइनलैंड के अधिकार का विरोध करे तो जर्मन सेना को वापस लौट जाना चाहिए। पर फ्रांस का दुर्भाग्य यह था कि उसको आत्मबल पर विश्वास नहीं था। इस समय यदि पोआन्कारे फ्रांस का भाग्य-विधाता रहता तो शायद ऐसी स्थिति नहीं आती।

बेल्जियम की तटस्थता : राइनलैंड पर जर्मनी का अधिकार, सामूहिक सुरक्षा की असफलता और जर्मनी की शक्ति में वृद्धि का प्रभाव बेल्जियम पर बहुत गहरा पड़ा। इन घटनाओं से बेल्जियम बहुत डर गया। उसने अनुभव किया कि यूरोपीय सुरक्षा-पद्धतियों से बचाव के बजाय खतरा ही पैदा हो सकता है। 9 अक्टूबर, 1936 को बेल्जियम के राजा लियोपोल्ड ने अपने भाषण में कहा कि "हमें नीति पर चलना चाहिए जो अन्ततः और पूर्णतः बेल्जियम के हित में हो।" इसका अर्थ यह था कि बेल्जियम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति अपनाये और पड़ोसियों के वाद-विवाद में नहीं पड़े। फ्रांस के साथ उसकी जो सैन्य सन्धियाँ हुई थीं, वे रद्द कर दी गई। 24 अप्रैल, 1937 को फ्रांस और ब्रिटेन ने बेल्जियम की तटस्थता को मान लिया।

रोम-बर्लिन धुरी और कामिन्टर्न-विरोधी समझौता

हिटलर की कार्यवाहियों ने अनेक देशों को जर्मनी का दुश्मन बना दिया। यूरोप के राज्य उसकी उग्र नीति से इतना डर गए कि वे परस्पर मिलकर जर्मनी के विरुद्ध गुटबन्दी करने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी अकेला पड़ा हुआ था। इस स्थिति का अन्त कर जर्मन के लिए मित्र प्राप्त करना हिटलर की विदेश-नीति में दूसरा कदम था। हिटलर अब पश्चिम यूरोप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं चाहता था। उसने वर्साय-सन्धि की धज्जी-धज्जी उड़ा दी थी। अब उसको अपनी विदेश-नीति के दूसरे ध्येय को, जिनका अर्थ "पूर्व की ओर धक्का दो" पूरा करना था। शब्दों में हिटलर की आँखें सोवियत संघ पर गड़ी हुई थी। मीन कैम्फ में उसने लिखा था "यदि अपार सम्पत्ति से युक्त यूराल पर्वत विस्तृत और मूल्यवान साइबेरिया के वन और अन्न का भंडार युक्रेन जर्मनी को मिल जाये तो नात्सी-नेतृत्व में जर्मनी समृद्ध हो जायगा।" इसके अतिरिक्त

साम्यवादी रूस को धक्का देने से एक और लाभ था। ब्रिटेन और हिटलर के इस पवित्र धार्मिक कार्य पर अत्यधिक खुश होंगे और उसकी सभी गलतियों को क्षमा कर देंगे। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हिटलर मित्रों की तलाश करने लगा।

इटली और जर्मनी आसानी से एक दूसरे के मित्र हो सकते थे। साम्यवाद डूचे और फ्यूरर दोनों का सामान्य शत्रु था। दोनों एक ही सिद्धान्त में विश्वास करते थे और राज्य व्यवस्था की दृष्टि से ये दोनों राज्य एक सदृश थे। मुसोलिनी ने शुरू में हिटलर का विरोध किया था, पर यह उसकी गलती थी। इटली पहले वर्साय-व्यवस्था का समर्थक था और इसको रखने में वह फ्रांस का सहयोगी राज्य था। जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष का स्वागत मुसोलिनी ने कभी नहीं किया था। हिटलर शुरू से ही आस्ट्रिया पर आधिपत्य करना चाहता था। लेकिन इटली ने विरोध के कारण 1934 में ऐसा नहीं कर सका। इटली आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का बहुत बड़ा समर्थक था; क्योंकि उसे यह सह्य नहीं था कि उसकी उत्तरी सीमा ब्रेनर दर्रे पर आस्ट्रिया जर्मनी के साथ मिलकर उसके लिए नया संकट उत्पंन्न करे। लेकिन इटली अधिक दिनों तक फ्रांस के पक्ष में नहीं रह सकता था। कुछ मौलिक बातों पर फ्रांस के साथ भी उसका मतभेद था। वह भूमध्यसागर को "इटली की विनोद स्थली" पर "रोमन झील" बना लेना चाहता था। इस कारण फ्रांस और इंगलैंड दोनों से उसका विरोध था। उत्तरी अफ्रीका के फ्रांसीसी साम्राज्य के बन्दरगाहों बिजटी, अल्जियर्स के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखने के लिए और यहाँ से सेनाएँ प्राप्त करने के लिए फ्रांस पश्चिमी भूमध्यसागर पर अपना पूरा प्रभुत्व चाहता था। किन्तु मुसोलिनी इसे "रोमन झील" बनाना चाहता था वह ट्यूनिस आदि उपनिवेशों को हस्तगत करना भी चाहता था। स्पेन में फ्रेंकों की सफलता के बाद उसे स्पेन से बेलियारिक टापू प्राप्त हो सकता था। अतएव फ्रांस और इटली के बीच शत्रुता उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक प्रतीत हो रहा था।

इसी प्रकार ब्रिटेन भी नहीं चाहता था कि भूमध्यसागर पर इटली का एकाधिकार हो जाय क्योंकि उसके पूर्वीय विशाल साम्राज्य के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाला मार्ग भूमध्यसागर से होकर ही गुजरता था। इस मार्ग की रक्षा के लिए ब्रिटेन ने नौ-सैनिक अड्डे बनाये थे और उनकी रक्षा परम आवश्यक थी। उधर मुसोलिनी इस महत्वपूर्ण मार्ग को किसी तरह तोड़ देना चाहता था। 1936 में स्पेन के गृहयुद्ध में उसने फ्रेंकों का साथ दिया ताकि उसकी सहायता से वह जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य को नियन्त्रित कर सके। माल्टा के ब्रिटिश अड्डे को व्यर्थ बनाने के लिए उसने सिसली में तथा ट्यूनिस के निकट पान्टेलेरिया टापू में किलेबन्दी शुरू कर दी। मध्यपूर्व ब्रिटेन के प्रभुत्व के लिए यह बड़ी खतरनाक बात थी। मुसोलिनी ने अरबों को ब्रिटिश शासन के खिलाफ भी भड़काना शुरू किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फ्रांस और ब्रिटेन के साथ इटली का सम्बन्ध बहुत दिनों तक अच्छा नहीं रह सकता था। कभी-कभी जर्मनी की ओर झुकना ही था।

अबीसीनिया के युद्ध के कारण जर्मनी और इटली का सम्बन्ध सुधरने लगा और वे एक दूसरे के निकट पहुँचने लगे। इसके कारण जर्मनी और इटली के सम्बन्धों में एक नया अध्याय शुरू हुआ। जर्मनी-इटालियन गठबन्धन के लिए अबीसीनिया का युंद्ध एक वरदान सिद्ध हुआ। इस युद्ध के समय अबीसीनिया के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाया था और इसमें ब्रिटेन तथा फ्रांस का मुख्य भाग था। यद्यपि भीतर-ही-भीतर फ्रांस और इंगलैंड को प्रभावशाली न होने देने में कोई कसर नहीं उठा-रखा, लेकिन मुसोलिनी उनके कार्यों से कतई संतुष्ट नहीं था। इटली के विरुद्ध राष्ट्रसंघ ने जो प्रतिबन्ध लगाये थे उसका सफल प्रतिरोध करने के लिए जर्मनी जो राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था, अतएव वह आर्थिक प्रतिबन्ध में राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता था। अबीसीनिया युद्ध के समय इटली को जर्मनी से कई प्रकार की सहायताएँ मिलीं। इस बदली हुई परिस्थिति में इटली ने भी जर्मनी को आस्ट्रिया पर प्रभुत्व स्थापित करने की स्वीकृति दे दी। मुसोलिनी अब हिटलर को अपना घनिष्ठ मित्र बना लेना चाहता था। उसका यह कहना था कि वह जर्मनी के साथ मिलकर साम्यवाद के खिलाफ संघर्ष करना चाहता था।

4 जुलाई, 1936 को इटली पर से आर्थिक प्रतिबन्ध उठा लिया गया। अब हिटलर को यह चिन्ता थी कि इटली के सम्बन्ध में फ्रांस और ब्रिटेन के साथ पुनः मैत्रीपूर्ण न हो जाय। लेकिन भाग्य ने पुनः उसका साथ दिया। 17 जुलाई, 1936 को स्पेन में गृहयुद्ध छिड़ गया। इसमें मुसोलिनी ने जनरल फ्रांकों का साथ दिया और शुरू से ही फ्रांस तथा ब्रिटेन की नीति का विरोध किया। हिटलर ने इस अवसर पर मुसोलिनी का पूरा-पूरा साथ दिया और हथियारों से विद्रोहियों की बड़ी सहायता की। इस गृह-युद्ध ने जर्मनी और इटली का सम्बन्ध घनिष्ठ बना दिया। सहयोग के इस वातावरण में एक देश के राजनेता दूसरे देश में भ्रमण करने लगे और 25 अक्टूबर, 1936 को इटली के विदेश मन्त्री चिआनों तथा जर्मन विदेश मन्त्री न्यूरथ ने एक गुप्त समझौता किया इसके द्वारा जर्मनी ने अबीसीनिया पर इटली के अधिकार को मान्यता दी। यह भी निश्चय हुआ की डैन्यूब घाटी में यथास्थिति कायम रखने, स्पेन में जनरल फ्रैंकों के आन्दोलन का समर्थन करने तथा साम्यवादी रूस का विरोध करने में वे परस्पर सहयोग करते रहेंगे। इटली ने यह स्वीकार किया कि लोकार्नों के ढंग का कोई समझौता ही उसे पश्चिम यूरोप तक सीमित रखा जाय, राष्ट्रसंघ के विधान में सोलहवीं धारा निकाल दी जाय। इटली ने आस्ट्रिया पर जर्मनी के आधिपत्य को भी स्वीकार कर लिया।

यह समझौता राजनीति के लिए बड़ा महत्वपूर्ण था इसके परिणामस्वरुप जर्मनी को एक विश्वासपात्र मित्र मिल गया और इस प्रकार उसके एकाकी जीवन का अन्त हो गया। इस समझौते के बाद 1 नवम्बर को मुसोलिनी ने बर्लिन रोम-धुरी (Berlin-Rome Axis) के निर्माण की चर्चा की। जर्मनी और इटली को अब धुरी शक्तियाँ (Axis Powers) कहा जाने लगा जिनका मुख्य उद्देश्य वर्साय-व्यवस्था का उन्मूलन था।

कामिन्टर्न-विरोधी-समझौता : संसार में जर्मनी का एक और मित्र हो सकता था वह था जापान। दोनों की अन्तर्राष्ट्रीय नीति एक सुदृश थी। रूसी साम्यवाद से दोनों डरते थे। दोनों के साम्यवादी आकांक्षाओं पर सोवियत-संघ एक बहुत-बड़ी रुकावट थी। इस रुकावट का मुकाबला करने के लिए नवम्बर 1936 में साम्यवाद के विरुद्ध दोनों (जर्मन और जापान) ने एक समझौता (Anti- Comintern pact) कर लिया। इसमें यह कहा गया था कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले देश थर्ड इन्टरेनेशनल के कार्यों को एक दूसरे से परिचित कराते रहेंगे; इससे रक्षा के उपाय पर परस्पर परामर्श करेंगे और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सहयोग करेंगे। 1937 में इटली भी इस सन्धि में शामिल हो गया। रोम-बर्लिन-धुरी अब इटली-रोम-बर्लिन-धुरी में परिणत हो गयी थी। तीन फासिस्ट तानाशाहों का मिलना युद्धोत्तरकाल के कूटनीतिक इतिहास का एक तर्कसंगत परिणाम था। 24 फरवरी, 1939 को हंगरी तथा मंचु-काओ तथा 26 मार्च, 1939 को स्पेन भी इस समझौते में शामिल हो गया।

हिटलर के उत्थान और उसकी विदेश-नीति के परिणामस्वरूप संसार एक बार फिर उस कुचक्र में आ गिरा, जिसमें वह प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व गिरा था। संसार के विभिन्न राज्य एक बार फिर दो शक्तिशाली एवं परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त हो चुके थे। एक गुट में फ्रांस, लघुमैत्री-संघ के देश, बाल्कन के राज्य, सोवियत-संघ और कुछ अंशों में ब्रिटेन और दूसरे गुट में जर्मनी, जापान और इटली थे। निरस्त्रीकरण का प्रयास असफल हो चुका था और संसार के राज्य दूसरे महाभारत की तैयारी करने में जुट गये थे। बारूद सुलग रही थी उसे केवल एक चिंगारी की आवश्यकता थी। अन्तर्राष्ट्रीय संकटों ने चिंगारी का काम किया और सारे संसार में महायुद्ध की आग भड़क उठी।

आस्ट्रिया का जर्मनी में विलियन : अबीसिनिया पर इटली के सफल आक्रमण के फलस्वरूप राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गयी। 'सामूहिक सुरक्षा' के लिए जिस व्यवस्था का निर्माण किया गया था, वह उसके निर्माताओं की भूल के कारण ही नष्ट हो गयी। वे भूल गये कि 'शान्ति अविभाज्य' होती है। एक जगह आक्रमण की उपेक्षा करने से अन्यत्र भी आक्रमण की सम्भावना रहती है और शान्ति कायम नहीं रह सकती। राष्ट्रसंघ को हिटलर पहले से ही तुच्छ समझता था, परन्तु अबीसीनिया के दुर्भाग्य ने उसके सामने

राष्ट्रसंघ की दुर्बलता प्रकट कर दी और उसके सामने यह स्पष्ट हो गया कि यूरोप के राज्य उसके विरुद्ध एक नहीं हो सकते। अब निर्भय होकर हिटलर ने मध्य तथा दक्षिणी पूर्वी यूरोप पर प्राधान्य जमाने और इसी प्रकार जर्मनी को पूर्व की ओर आगे बढ़ने (Damae Nach Osten) की परम्परा एवं आकांक्षा की पूर्ति के लिए कदम बढ़ाया।

आस्ट्रिया को हड़पने की तैयारी : हिटलर का अगला कदम आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाना था। यह नात्सियों का प्रमुख कार्यक्रम था। हिटलर वर्साय-सन्धि की धज्जी-धज्जी उड़ा कर सम्पूर्ण जर्मनी जाति को एक सूत्र में बाँधना चाहता था। अतएव आस्ट्रिया को हड़पना हिटलर के लिए अति आवश्यक था। डॉ० डाल्फस की हत्या के समय ही यह कार्यक्रम पूरा होनेवाला था पर मुसोलिनी के विरोध के कारण वह सफल नहीं हो सका। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हिटलर ने कुंछ दिनों के लिए आस्ट्रिया के प्रति अपने रवैये को बदल दिया और उपयुक्त अवसर की ताक में लगा रहा। सबसे पहले उसने मुसोलिनी को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयास किया। अबीसीनिया युद्ध के समय केवल जर्मनी में ही इटली के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की थी। मुसोलिनी इस बात को भूल नहीं सकता था। अक्टूबर, 1936 में दोनों देशों के बीच सन्धि हो गयी, जिसके परिणामस्वरुप 'रोम-बर्लिन-धुरी' की नींव पड़ी। 1937 में वह 'कामिन्टर्न विरोध पैक्ट' में भी शामिल हो गया। इन समझौतों के कारण फ्यूरर को अब डूचे की तरफ से कोई भय नहीं रहा गया। वह आस्ट्रिया में मुसोलिनी का समर्थन पाकर अब कुछ भी कर सकता था। आस्ट्रिया को अब इटली की संरक्षता प्राप्त नहीं रही क्योंकि इटली जर्मनी का मित्र हो चुका था।

मुसोलिनी को अपने पक्ष में कर लेने के बाद हिटलर आस्ट्रिया को हड़पने की तैयारी करने लगा। डॉ० डाल्फस के मरने के बाद आस्ट्रिया का चान्सलर शुशनिग हुआ था। डाल्फस की तरह वह भी नात्सी-विरोधी था और अपने देश की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखना चाहता था। पर आस्ट्रिया की नात्सी-पार्टी की गतिविधि उग्र होती चला जा रही थी। जर्मन और आस्ट्रिया की सीमा पर नात्सियों का प्रधान केन्द्र था, जहाँ से निकलकर वे आस्ट्रिया के सरकारी अफसरों और पुलिस पर आक्रमण करते थे। स्थिति शुशनिग के काबू के बाहर होती जा रही थी। 1938 के प्रारम्भ से यह स्थिति और भी अधिक बिगड़ने लगी। नात्सी लोग बराबर प्रदर्शन करते थे। अन्त में विवश होकर आस्ट्रिया सरकार को नात्सी पार्टी पर एक बार फिर से प्रतिबन्ध लगाना पड़ा, पर यह प्रतिबन्ध कभी सच्चे अर्थ में लागू नहीं हुआ।

इस समय हिटलर अपनी सरकार और सैनिक विभाग के पुनर्संगठन में व्यस्त था। 4 फरवरी, 1983 को उसने प्रधान सेनापति फ्रिच को पद त्यागने के लिए बाध्य किया और जर्मन सेना का सर्वोच्च सेनापति स्वयं बन गया। न्यूरथ के स्थान पर रिवीनट्रोप को विदेश मन्त्री बना दिया गया। इसके बाद आस्ट्रिया पर आक्रमण की तैयारी होने लगी। वियना स्थिति जर्मन राजदूत पापेन को 6 फरवरी को बर्लिन बुलाया गया और फ्यूरर ने घंटों तक उसके साथ आस्ट्रिया के विषय में विचार-विमर्श किये। 8 फरवरी को वह वियना लौटा। वह अपने साथ हिटलर का एक पत्र भी लेता आया था। इस पत्र द्वारा हिटलर ने शुशनिग को मुलाकात करने के लिए बेर्शटेस-गार्डेन में बुलाया था। 12 फरवरी को वह बेर्शटेसगार्डेन के लिए चल पड़ा और वहाँ हिटलर से उसकी मुलाकात हुई। इस मुलाकात में क्या वार्ताएँ हुईं और हिटलर ने किस तरह शुशनिग को डराया-धमकाया, यह आज सर्वविदित है। बगल के एक दूसरे कमरे में जर्मन अफसर आस्ट्रिया पर आक्रमण करने की योजना बना रहे थे। हिटलर ने शुशनिग के सामने निम्नलिखित माँगें रखी—(1) आस्ट्रियन नात्सी पार्टी को वैध घोषित कर दिया जाय। (2) डाल्फस-हत्याकांड में जो नात्सी पकड़े गये हैं उन्हें मुक्त किया जाय। (3) नात्सी-नेता से इन्क्वार्वर्ट को आस्ट्रिया का सुरक्षा-मन्त्री नियुक्त किया जाय। हिटलर ने शुशनिग को यह चेतावनी भी दी की यदि तीन दिनों के अन्दर ये सभी बातें नहीं मान ली जाती हैं तो जर्मन सेना आस्ट्रिया में प्रवेश कर जायगी। शुशनिंग के सामने कोई चारा नहीं रहा। काँपते हुए हाथ से उसने इन बातों पर हस्ताक्षर कर दिये।

वियना लौटने पर तीन दिनों तक शुशनिग को नींद नहीं आयी। वह विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं से विचार-विमर्श करता रहा और अन्त में उसने हिटलर की सभी शर्तें मान लीं। पर हिटलर की आकांक्षा पूरी नहीं हुई। वह तो इस अनुमान में था कि शुशनिग उसके अन्तिमेत्थम् अस्वीकार कर लेगा और तब इस बहाने आस्ट्रिया पर आक्रमण कर देगा। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। अब हिटलर किसी तरह आस्ट्रिया पर आक्रमण करने का बहाना ढूँढ़ने लगा। आस्ट्रिया की सीमा पर जर्मन सेना एकत्र की जाने लगी। शुशनिग भावी खतरे को ताड़ गया। 19 फरवरी, 1938 को उसने घोषणा की कि इस प्रश्न पर आस्ट्रिया जर्मनी के साथ शामिल हो या नहीं लोकमत लिया जायगा। यदि लोकमत द्वारा यही तय हुआ कि आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिल जाना चाहिये तो वह इसे सहर्ष स्वीकार कर लेगा। आस्ट्रिया में अधिकांश लोग ऐसे थे जो अपने देश का अस्तित्व बनाये रखना चाहते थे। शुशुनिग को उम्मीद थी कि लोकमत 60 से 80 प्रतिशत का बहुमत आस्ट्रों जर्मनी ऐक्य के विरुद्ध होगा। पर हिटलर इसके लिए तैयार नहीं था। वह अपनी योजना को एक अनिश्चित कोठी पर लाने के लिए कभी भी राजधानी नहीं हो सकता था। अतएव 11 मार्च को हिटलर ने शुशनिग के पास एक दूसरा अन्तिमेत्थम् भेजा, जिसमें जनमत-संग्रह स्थगित करने की माँग की गयी थी। छः बजे शाम को एक एलान के द्वारा जनमत-संग्रह स्थगित कर दिया गया। इसके बाद जर्मन की दूसरी माँग आयी कि प्रधानमंत्री शुशनिग त्याग पत्र दें अन्यथा जर्मनी आस्ट्रिया पर हमला कर देगा। लगभग उसी समय यह भी पता चल गया कि जर्मनी सैनिक सीमा पर इकट्ठे हो रहे हैं। शुशनिग ने विवश होकर अपना त्यागपत्र दे दिया। साढ़े सात बजे संध्या रेडियो पर उसने अन्तिम भाषण दिया। उसने कहा - "मुझे धमकी दी गयी है कि यदि मैं और मेरी सरकार दोनों त्यागपत्र नहीं देंगे और यदि राष्ट्रपति जर्मनी द्वारा मनोनीत व्यक्ति को प्रधानमंत्री नहीं नियुक्त करेंगे तो सात बजे जर्मन सेना आस्ट्रिया में प्रवेश कर जायगी। इस भयंकर स्थिति में राष्ट्रपति रक्त बहाने को तैयार न थे; इसलिए उन्हें बल के सामने झुकना पड़ा। उन्होंने आस्ट्रियन सेना को बिना प्रतिरोध पीछे हट आने का आदेश दे दिया ....मैं आस्ट्रियन जनता से विदा ले रहा हूँ। ईश्वर आस्ट्रियन की रक्षा करें।"

आस्ट्रिया पर आधिपत्य : शुशनिग के बाद नात्सी डॉ० सेइस इन्कावर्ट ने प्रधानमंत्री का पद ग्रहण किया और हिटलर के पास एक तार भेजा, जिसमें कहा गया था कि आस्ट्रिया में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए जर्मन सेनाओं की सहायता की तुरन्त आवश्यकता है। यह बिल्कुल गलत बात थी। उस समय वियना में कहीं भी शान्ति-व्यवस्था को खतरा नहीं था। यह तो जर्मन सेना के प्रवेश को एक वैधानिक रंग देने का बहाना मात्र था। वास्तव में जर्मन सेना पहले से ही प्रवेश करना शुरू कर चुकी थी। अगले दिन लगभग एक हजार जर्मन सैनिकों ने राजधानी पर आधिपत्य कर लिया। 13 मार्च को संध्या समय स्वयं हिटलर लिंज पहुँचा और वहाँ से इस इन्कवार्ट ने उसका अपूर्व स्वागत किया। स्वागत को स्वीकार करते हुए उसने कहा "जब मैं इस नगर में पहली बार चला था तब मैंने यह अनुभव किया था कि नियति ने मुझे यह काम सौंपा कि मैं अपनी जन्मभूमि को महान जर्मन रीह में वापस लाऊँ। मैंने इसको अपना कर्तव्य माना है और इसे पूरा किया गया है।" दूसरे दिन सुबह श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए हिटलर अपने माता-पिता की कब्र पर गया। सारे वियना में नात्सियों का स्वस्तिका झंडा फहरा रहा था।

जिस समय हिटलर आस्ट्रिया की हत्या कर रहा था उस समय यूरोप के महान राष्ट्र क्या कर रहे थे ? डाल्फस-हत्याकांड के समय ब्रिटेन, फ्रांस और इटली संयुक्त रूप से विश्व को यह आश्वासन दे चुके थे कि आस्ट्रिया पर खतरा पहुँचने की स्थिति में वे मिल-जुल कर उसका विरोध करेंगे। पर जब अवसर आया थे वे चुपचाप बैठे रहे। ब्रिटेन के सरकारी क्षेत्रों में इसका कोई विरोध नहीं हुआ और फ्रांस में उस समय एक मन्त्रिमंडलीय संकट खड़ा हुआ था। इटली, जो आस्ट्रियन स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा समर्थक था, इस समय तक जर्मनी का मित्र बन चुका था। डाल्फस- हत्याकांड के समय जिस मुसोलिनी ने आस्ट्रिया

की रक्षा के लिए ब्रेनर दर्रे में इटली की सेना भेजी थी वही मुसोलिनी इस बार चुपचाप बैठा रह गया। यहाँ तक कि इस दर्रे में जर्मन और इटालियन सेनाओं ने विजय की खुशी में एक दूसरे का अभिवादन किया। "मैं तुम्हारी इस सहायता के लिए हमेशा कृतज्ञ रहूँगा।" फ्यूरर ने ड्यूचे को इस आशय का एक तार भी भेज दिया।

आस्ट्रिया पर अधिकार करने के बाद जर्मन अधिकारियों ने वहाँ की राष्ट्रीय भावनाओं को संतुष्ट करने का कोई यत्न न किया। इसके विपरीत आस्ट्रिया के साथ एक विजित देश-सा व्यवहार किया गया। सभी राजनीतिक पार्टियों को अवैध घोषित कर दिया गया और उसके सब प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिये गये। सैकड़ों लोग या तो मार डालें गये या नजरबन्दी-शिविरों में भेज दिये गये। यहूदियों पर घोर अत्याचार किया गया। कुछ दिनों तक सारे वियना में हाहाकार मचा रहा। हजारों लोगों ने आत्महत्या करके घोर अपमान से रक्षा की। अपने विरोधियों को कुचलने के साथ-साथ आस्ट्रो-जर्मन एकता को विधिवत पूर्ण करने की तैयारी होने लगी। हिटलर का कहना था कि ऐक्य के प्रश्न पर लोकमत लेने का उपयुक्त समय अब है। 10 अप्रैल, 1938 को लोकमत लिया गया और 99 प्रतिशत बहुमत से जनता ने ऐक्य का समर्थन किया। यह लोकमत केवल आस्ट्रिया में ही नहीं हुआ, अपितु सम्पूर्ण रीह में हुआ। इसलिए आस्ट्रियन लोकमत हर तरह से दब गया था। फिर भी 180 वोट ऐक्य के विरुद्ध आये। जैसी स्थिति थी उसमें एक वोट भी नात्सियों के विरुद्ध आना एक आश्चर्य की बात थी । एक सरकारी घोषणा द्वारा आस्ट्रिया को जर्मन रीह में सम्मिलित कर लिया गया। बीस वर्ष के जीवन के बाद आस्ट्रिया गणराज्य संसार के नक्शे से लुप्त हो गया और 'मीन कैम्फ' का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम पूर्ण हो गया।

आस्ट्रिया-कांड का महत्व : अनेक दृष्टियों से आस्ट्रिया की हत्या एक अभूतपूर्व और महत्वपूर्ण घटना थी। युद्ध के बाद यह पहला मौका था जब एक शक्तिशाली देश ने एक छोटे कमजोर देश को डरा-धमकाकर और धौंस देकर उसपर अपना अधिकार कायम कर लिया हो। वास्तव में आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिलाने के लिए कोई लड़ाई नहीं हुई। केवल अन्तिमेत्थम् देकर ही हिटलर ने अपना काम निकाल लिया। छोटे-छोटे राज्यों पर इसका प्रभाव बहुत ही बुरा पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'जिसका लाठी उसी भैंस' का युग पहले प्रारम्भ हो चुका था। आस्ट्रिया इस युग का एक दूसरा शिकार हुआ जिसके परिणामस्वरुप यूरोप के अन्य राज्यों में बेचैनी फैल गयी। भावी भयंकर युद्ध के चिह्न सबको स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगे। सबसे अधिक खतरा चेकोस्लोवाकिया के सामने उपस्थित हो गया। उसकी सीमा बहुत ही विस्तृत थी और जर्मनी की सीमा उसकी सीमा से बिल्कुल छूती थे । इसमें कोई संदेह नहीं रह गया कि अब जर्मनी का दूसरा शिकार नहीं होगा।

जर्मनी में आस्ट्रिया के मिल जाने से वह बहुत शक्तिशाली देश हो गया। उसकी जनशक्ति साठ लाख के लगभग तो बढ़ ही गयी, पर इसके साथ-साथ दक्षिण-पूर्व यूरोप से सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से भी उसकी धाक जम गयी। इटली के साथ उसका सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया। इसके अतिरिक्त यह हंगरी और यूगोस्लाविया के निकट आ गया। जर्मनी को आस्ट्रिया से भारी मात्रा में मेगनेसाइड भी हाथ लगा, जिसका प्रयोग विमान बनाने में हो सकता था। इसके अतिरिक्त लोहे, लकड़ी इत्यादि भी जर्मनी को काफी मात्रा में मिल गये। आस्ट्रिया के बैंक से उसे दो करोड़ नकद रुपये प्राप्त हुए, जिससे जर्मनी के विदेश-विनिमय की समस्या भी बहुत हद तक हल हो गयी। आस्ट्रिया-कांड पर ब्रिटिश लोकसभा में बोलते हुए चर्चिल ने ठीक ही कहा था कि "वियना पर आधिपत्य से नात्सी-जर्मनी का दक्षिण-पूर्व यूरोप के यातायात पर कब्जा हो गया।" आस्ट्रिया-कांड का यह सबसे महत्वपूर्ण पहलू था।

चेकोस्लोवाकिया का विनाश और म्यूनिख का समझौता

चेकोस्लोवाकिया का सामरिक महत्व : आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य (आनश्लूश) के बाद सब लोग समझने लगे कि नात्सीवाद का दूसरा शिकार चेकोस्लोवाकिया होगा। 1938 के प्रारम्भिक दिनों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुशल प्रेक्षक कहा करते थे कि 'अगला नम्बर चेकोस्लोवाकिया का है।' आस्ट्रो-जर्मन-ऐक्य के बाद सबसे विचित्र स्थिति डेन्यूब क्षेत्र में स्थित इसी छोटे राज्य की थी । उसका सारा सीमान्त जर्मनी की तरफ से खुल गया था और उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी हो गयी थी मानों "एक अनन्त टयूटोनिक महासागर में एक छोटा-सा चेक द्वीप" स्थित हो। विशेषकर चेकोस्लावाकिया के बोहेमिया और मोरेविया के जिले जर्मनी द्वारा बिल्कुल घिर गये थे और उनकी रक्षा करना असम्भव-सा प्रतीत होने लगा था। वास्तव में चेकोस्लोवाकिया यूरोप का सबसे गम्भीर खतरे का स्थान हो गया था।

प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में जिन नये राज्यों की स्थापना हुई थी , चेकोस्लोवाकिया उनमें प्रमुख था। मध्य यूरोप में सामरिक दृष्टिकोण से इसकी स्थिति बहुत महत्वपूर्ण थी । डेन्यूब के क्षेत्र में जर्मनी-विस्तार को रोकने के लिए चेकोस्लोवाकिया एक ढाल समझा जाता था। सम्भवतः इसीलिए फ्रांस और सोवियत-संघ इस देश को बहुत महत्व देते थे और युद्धोत्तर काल में उनके द्वारा जो गुटबन्दियाँ कायम की गईं, उनमें चेकोस्लोवाकिया को प्रमुख स्थान दिया गया था। वह फ्रांसीसी सोवियत सहयोग में एक महत्वपूर्ण कड़ी था और पूर्व जर्मनी के मुंख्य केन्द्रों पर वायुमार्ग से चारों ओर आक्रमण करने के लिए एक अमूल्य केन्द्र था। यही कारण था कि फ्रांस चेकोस्लोवाकिया की अखंडता और स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए तत्पर रहता था। अपने समय में बिस्मार्क कहा करता था "जिसके पास बोहेमिया है, वही यूरोप का स्वामी है।" बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ में भी इस बात को इसी तर्क के साथ दुहराया जा सकता था। चेकोस्लोवाकिया के इस महत्व को हिटलर भली-भाँति समझता था।

जर्मन अल्पसंख्यकों की समस्या : आस्ट्र-हंगरी-साम्राज्य के खँडहरों में युद्ध के बाद शान्ति-सन्धियों द्वारा चेकोस्लोवाकिया का निर्माण हुआ था। इसमें भिन्न-भिन्न जातियां निवास करती थीं। प्रोफेसर हार्डी के शब्दों में, "यह युद्ध पूर्व के आस्ट्रो-हंगरी साम्राज्य को अनेक जातियों की पीटरी का लघु रूप था।".1931 की जन-गणना के अनुसार इस देश में विविध जातियों की जनसंख्या इस प्रकार थी—चेक चौहत्तर लाख सैंतालीस हजार, जर्मनी बत्तीस लाख इकतीस हजार छह सौ, स्लोवाक तेईस लाख नौ हजार; मगयार छह लाख एक्यानवे हजार नौ सौ, रूचीनियन पाँच लाख उन्चास हजार और पोल एक्यासी हजार सात सौ। चेकोस्लोवाकिया के जीवन के प्रारम्भिक दिनों में चेक और स्लोवाक लोगों का झगड़ा सिर दर्द का विषय बना रहा। ये दो जातियाँ विशाल स्लाव-जाति की दो शाखाएँ थीं। जाति-दृष्टि से बहुत निकट होने पर भी उसकी ऐतिहासिक परम्परा एक दूसरे से सर्वथा पृथक थी । 1920 के बाद चेक लोग आस्ट्रिया साम्राज्य के अन्दर थे और स्लोवाक लोग हजारों वर्षों से हंगरी के अधीन। हंगरी की अपेक्षा आस्ट्रिया प्रगतिशील देश था और इसलिए चेक पहले से ही काफी उन्नत थे। मुकाबले में स्लोवाक लोग काफी पिछड़े हुए थे। इसी स्थिति में वह स्वाभाविक था कि स्वतन्त्र और नये चेकोस्लोवाकिया में चेक लोगों की प्रधानता होती। यह बात स्लोवाक लोगों को पसन्द नहीं थी। आर्थिक दृष्टि से उनका हंगरी में मिलना अच्छा होता। अतः कुछ स्लोवाक लोगों ने यह आन्दोलन शुरू किया कि स्लोवाकिया का पृथक राज्य होना चाहिए। युद्ध के समय में चेक-प्रोफेसर मैसेरिक ने स्लोवाकों को स्वायत्त-शासन देने का वचन दिया था। पर जब पीछे चलकर इस प्रकार का पार्थक्यवादी आन्दोलन चलने लगा तो इसका गला घोंटने के लिए चेक-सरकार ने अनेक कदम उठाये। स्लोवाक लोग इससे और अधिक रंज हुए, पर उनका यह आन्दोलन सफल नहीं हो सका। धीरे-धीरे दोनों जातियों में एकता की भावना का विकास होने लगा।

चेकोस्लोवाकिया की सबसे अधिक कठिन समस्या बत्तीस लाख से भी अधिक जर्मनी अल्पसंख्यकों की थी । चेकोस्लोवाकिया की यह सबसे बड़ी कमजोरी थी । जिस राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर चेक लोगों ने अपने नये राष्ट्र का निर्माण किया उसमें इतनी अधिक संख्या में उग्र जर्मनी-जाति के लोगों को शामिल करके उन्होंने बहुत बड़ी गलती की। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को चेकोस्लोवाकिया पर लागू किये जाने पर उनका टुकड़ा-टुकड़ा हो जाना अनिवार्य था और जर्मनी लोग चुपचाप बैठने वाले नहीं थे। वे सम्पूर्ण देश में फैले हुए थे, पर उनका मुख्य निवास स्थान सुडेनेटेनलैंड था। युद्ध के पहले यह प्रदेश आस्ट्रिया साम्राज्य के अन्तर्गत था। आस्ट्रिया के लोग स्वयं जर्मन-जाति के थे और इसलिए इस क्षेत्र पर शासन भी जातीय भावना से ही होता था। आस्ट्रिया की सरकार इस क्षेत्र पर शासन करने के लिए मुख्यतः जर्मन अधिकारियों को बहाल करती थी, पर युद्ध के बाद वह स्थिति समाप्त हो गयी और उस पर चेक लोगों का शासन हो गया। जर्मन लोग चेकों से काफी उन्नत थे और इसलिए अपने को चेकों के मुकाबले में बहुत ऊँचा समझते थे, पर अब वे अनुभव करने लगे कि चेक-शासन के अन्तर्गत उनका स्थान बहुत ही हीन हो गया है।

चेक सरकार जर्मनों की इस भावना को समझती थी और जहाँ तक सम्भव था उनके साथ अच्छा बर्ताव करने की कोशिश करती थी। कहा जाता है कि चेक-लोग जिस प्रकार का अच्छा बर्ताव जर्मनों के साथ करते थे उस प्रकार का बर्ताव किसी दूसरे देश में अल्पसंख्यकों के साथ नहीं होता था। चेक सरकार हमेशा उनको संतुष्ट रखने का प्रयास करती थी । उसके अपने विद्यालय और विश्वविद्यालय थे जहाँ जर्मन-भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी । स्वयं चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में उनका अपना पृथक विश्वविद्यालय था। सुडेटेनलैंड का शासन यन्त्र पर भी उनका काफी नियंत्रण था, पर इतना होने पर भी जर्मन लोग चेकों से घृणा करते थे। वास्तव में यह घृणा परम्परा से चली आ रही थी । चेकोस्लोवाकिया के निर्माण होने के बाद यह और तीव्र हो गयी। जर्मन-लोगों का खास विरोध 1920 के चेक-संविधान से था। इसके अतिरिक्त वे चेकोस्लोवाकिया की विदेश-नीति से भी काफी क्षुब्ध थे। चेकोस्लोवाकिया फ्रांस के गुट में शामिल था और लघु मैत्री-संघ का एक सदस्य था। वे गुटबन्दियां जर्मनी के विरुद्ध की गयी थीं और यह स्वाभाविक था कि चेकोस्लोवाकिया में बचें हुए जर्मन लोग इसको नापसन्द करें।

जर्मन में नात्सी-पार्टी के उत्कर्ष के फलस्वरूप चेकोस्लोवाकिया के जर्मन अल्प-संख्यकों की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच पर आ धमकी। जर्मनी के साथ सुडेटेनलैंड को मिलाने के लिए वहाँ एक पार्थक्यवादी आन्दोलन चलाना आवश्यक था। इसके लिए नात्सी-पार्टी की एक शाखा चेकोस्लोवाकिया में भी कायम की गयी। इसका नेता कोनार्ड हैनलीन था। 1936 में ओलम्पिक खेल-कूद के अवसर पर बर्लिन में उसकी मुलाकात हिटलर से हुई और उसके बाद से वह चेकोस्लोवाकिया में फ्यूरर का एक वफादार एजेन्ट हो गया। नात्सी स्वयं-सेवक-सेना और सुडेटेन-जर्मनी पर नात्सीवाद का प्रभाव बढ़ाने लगा। चेक सरकार पर नात्सी आन्दोलन का काफी असर पड़ा। उस समय चेकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपति वेनेस था। वह उदार विचार का व्यक्ति था और जर्मनों को खुश करके रखना चाहता था। 1937 में एक घोषणा के द्वारा उसने सुडेटेन-जर्मनों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करने और उसकी शिकायतों को दूर करने के लिए उन्हें सुविधाएँ प्रदान कीं। सरकारी नौकरियों में अनुपात के अनुसार जर्मनी को स्थान, जर्मन भाषा को एक सरकारी भाषा की मान्यता और जर्मन संस्थाओं को सरकारी सहायता देने का वचन दिया गया, पर इस घोषणा में भी सुडेटेन-जर्मनों को सन्तोष नहीं हुआ। हिटलर के इशारे पर वे 'पूर्ण स्वायत्त शासन' की माँग करने लगे।

मार्च, 1938 में आस्ट्रिया पर जर्मनी का आधिपत्य हो चुका था। आस्ट्रो-जर्मन ऐक्य के बाद ऐसा मालूम होता था कि हिटलर तुरन्त ही चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर देगा, पर ब्रिटेन की चेतावनी के कारण वह आक्रमण उस समय रुक गया। 24 मार्च को ब्रिटिश लोकसभा में भाषण करते हुए चेम्बरलेन ने

चेकोस्लोवाकिया की तरफ संकेत करते हुए यह कह दिया कि 'यदि युद्ध छिड़ गया तो वह सीमित नहीं रहेगा' कुछ समय के लिए हिटलर को अपनी नीति बदलनी पड़ी। आक्रमण करने की जगह उसने चेकोस्लोवाकिया के अन्दर उपद्रव करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करनें का निश्चय किया। जर्मन समाचार-पत्र 'चेकोस्लोवाकिया में जर्मनों पर अत्याचार' का जहर उगलने लगे। उसी समय 23 अप्रैल, 1938 को कार्ल्सवाद में भाषण करते हुए सुडेटन जर्मन पार्टी के नेता हैनलीन ने चैक सरकार से आठ माँगें माँगीं। इसमें जर्मन इलाके के लिए पूर्ण स्वायत्तशासन और जर्मन राजनीतिक सिद्धान्त और आदर्श अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की गयी थी । चेक विदेश-नीति से, विशेषकर रूस के साथ मैत्री के मामले में, आमूल परिवर्तन करने की माँग भी इसमें सम्मिलित थी ।

अन्तर्राष्ट्रीय संकट की ओर : हिटलर ने हैनलीन की माँगों का जबरदस्त समर्थन किया। चेकोस्लोवाकिया को डराने-धमकाने के लिए सीमान्तों पर सैनिक अभ्यास करने की आज्ञा जारी कर दी गयी। हिटलर अपने सैनिक सलाहकारों से विचार-विमर्श करता रहा और विदेशी राजदूत से मुलाकात करना, उनसे तरह-तरह की वार्ताएँ करना इत्यादि प्रतिदिन की साधारण बात हो गयी। 22 मई, 1938 को चेकोस्लोवाकिया के नगरपालिकाओं का चुनाव होने वाला था। जानकार सूत्रों को विश्वास था कि चुनाव के अवसर पर ही कोई गड़बड़ी पैदा होगी और चेकोस्लोवाकिया में एक क्रान्ति हो जायगी। उधर सीमान्तों पर जर्मनों की सैनिक गतिविधि जारी थी । चेक सरकार ने भी आंशिक युद्धबन्दी की आज्ञा दे दी। युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा। ब्रिटिश राजदूत हन्डर्सन बर्लिन से ब्रिटिश नागरिकों को हटाने का प्रबन्ध करने लगे। 31 मई की एक घटना से तनाव और भी बढ़ गया। उस दिन दो सुडेटेन जर्मनों को, जो आज्ञा के विरुद्ध सीमा पार करना चाहते थे, गोली से उड़ा दिया गया। इस घटना के बाद संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। एक विराट सभा में भाषण करते हुए डॉ० गोबुल्स ने कहा कि 'हम पैंतीस लाख जर्मनी के साथ दुर्व्यवहार होते ज्यादा देर तक नहीं देख सकते। हमने आस्ट्रिया में देखा कि एक जाति को दो देशों में विभक्त नहीं किया जा सकता और यह बात भी शीघ्र ही कहीं और भी देखेंगे। यूरोपीय युद्ध की सम्भावनाएँ नजर आने लगीं क्योंकि फ्रांस और सोवियत संघ चेकोस्लोवाकिया की सहायता करने के लिए वचनबद्ध थे और शायद ब्रिटेन भी फ्रांस की सहायता करता हो, पर चेकोस्लोवाकिया की आंशिक युद्धबन्दी और आंग्ल-फ्रांसीसी चेतावनी के फलस्वरूप संकट किसी तरह टल गया। हिटलर की हिम्मत नहीं हो सकी कि वह अपनी सेना को सीमा पार करने की आज्ञा दे दे। चुनाव शान्तिपूर्वक समाप्त हो गया। यूरोप में एक बार फिर युद्ध से बच गया और सबों ने शान्ति की साँस ली। यूरोप के कुछ समाचार-पत्रों ने चेक सरकार को बधाई देते हुए यह लिखा कि एक छोटे-से राज्य ने समय पर युद्ध बन्द करके हिटलर को शान्त कर दिया। इटली और जर्मन को छोड़कर प्रायः सभी देशों में इसकी खुशी मनायी गयी। इस पर हिटलर बहुत क्रुद्ध हुआ। हिटलर के लिए सर हण्डर्सन ने लिखा, "यह अत्यधिक मानसिक पीड़ा का समय था। यूरोप की खुशी देखकर उसी समय उसने यह निश्चय कर लिया कि वेनेस और चेक लोगों से इसका बदला लेना है।"

रन्सीमन मिशन : मई संकट के समाप्त हो जाने के बाद भी चेकोस्लोवाकिया यूरोपीय राजनीति का प्रमुख प्रश्न रहा। राष्ट्रपति वेनेस अपने देश की रक्षा के लिए हिटलर से लोहा लेने के लिए तैयार था। इस कार्य में उसको फ्रांस, सोवियत संघ, रूमानिया तथा यूगोस्लाविया का सहयोग प्राप्त था। हिटलर को हिम्मत नहीं थी कि वह विशाल गुट की अपेक्षा करके चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर दे, पर उसे तुरन्त ही ज्ञात हो गया सोवियत संघ को छोड़कर कोई भी देश चेकोस्लोवाकिया को सक्रिय मदद देने के लिए तैयार नहीं है। फ्रांस में लयां ब्लूम की सरकार का पतन हो चुका था। इसके बाद अप्रैल, 1938 मि० दलादिये का मंत्रिमंडल बन चुका था और मि० बोने इस मन्त्रिमंडल में विदेश मन्त्री थे। ये दोनों व्यक्ति 'तुष्टिकरण की नीति' के बहुत बड़े समर्थक थे और जर्मनी के विरुद्ध उग्र नीति का अवलम्ब नहीं करना चाहते थे। चेम्बरलेन और

लार्ड हैलिफेक्श का भी वही रुख था। एक अवसर पर चेम्बरलेन ने कहा - "जरा नक्शा उठा कर देखिए चेकोस्लोवाकिया तीन तरफ से जर्मनी द्वारा घिरा हुआ है। ऐसी स्थिति में उसका बचाना कैसे सम्भव होगा ?" महान चेम्बरलेन के अनुसार चेकोस्लोवाकिया को जर्मन आक्रमण से बचाना असम्भव था, पर उसी समय सभी (चेम्बरलेन सहित) जानते थे कि चेकोस्लोवाकिया को बड़ी आसानी के साथ बचाया जा सकता है यदि सोवियत संघ के 'संयुक्त सुरक्षा' के प्रस्ताव को मान लिया जाता। लेकिन, आंग्ल-फ्रांसीसी शासनगण इस प्रस्ताव को मानने के लिए कतई तैयार नहीं थे। वे तो इस अनुमान में थे कि चेकोस्लोवाकिया पर जर्मन आधिपत्य हो जाने के बाद हिटलर का तीसरा शिकार साम्यवादी रूस ही होगा और उस शुभ घड़ी को देखने के लिए वे चेकोस्लोवाकिया की आहुति करने को तैयार थे।

जर्मनी को प्रोत्साहित करने के इस वातावरण में ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों के बीच एक ऐसी योजना पर बात चलने लगी जिसके आधार पर सुडेटेन जर्मनों को आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त हो जाय। ब्रिटेन और चेकोस्लोवाकिया के बीच किसी प्रकार की सन्धि या समझौता नहीं था और इस तटस्थता के हैसियत से वह सुडेटेन प्रश्न में मध्यस्थता कर सकता था। अतएव अगस्त 1938 में चेम्बरलेन ने लार्ड रन्सीमन को जर्मन-अल्पसंख्यकों के विवाद को सुलझाने के लिए 3 अगस्त, 1938 को प्राग भेजा। ब्रिटिश प्रधानमंत्री का कहना था कि चेक सरकार ने स्वयं ही ब्रिटिश-मध्यस्थता की इच्छा प्रदर्शित की थी। लेकिन, वास्तविक बात यह थी कि चेक-सरकार से यह इच्छा करवायी गयी थी। प्राग पहुँचकर रन्सीमन चेक सरकार से हैनलीन के बीच समझौता करने का प्रयास करने लगा। भीतर-ही-भीतर राजनियक सूत्रों से चेक-सरकार पर ब्रिटेन और फ्रांस यह दबाव डालने लगे कि वह सुडेटेन-जर्मनों को अधिक-से-अधिक सुविधा देने के लिए राजी हो जाय।

सुडेटेन-जर्मनों को खुश करने के लिए चेक-सरकार अधिकाधिक सुविधा देने को तैयार थी लेकिन हैनलीन उसको मानने के लिए तैयार नहीं था; क्योंकि हिटलर किसी प्रकार का समझौता करना नहीं चाहता था। सर अलफ्रेड जिर्मन ने ठीक ही लिखा है कि "सूडेटन-प्रश्न कभी मुख्य समस्या नहीं था। जर्मन-अल्पसंक्यकों की शिकायतें निरा बहाना थीं। यदि वे न होते तो उन्हें किसी तरह पैदा करना पड़ता।" ऐसी स्थिति में रन्सीमन कुछ नहीं कर सकता था। उधर जर्मनी में नात्सी-अखबार चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध जहर उगल रहे थे। सीमान्तों पर सैनिक अभ्यास जारी थे। 12 सितम्बर, 1938 को नूरेम्बर्ग में नात्सी-पार्टी की रैली के अवसर पर हिटलर ने भाषण देते हुए कहा - "पैंतीस लाख जर्मनों पर चेक लोग घोर अत्याचार कर रहे हैं। सुडेटेन-जर्मन को अन्य जातियों की तरह आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यदि सुडेटेन-जर्मनों को अपनी ताकत से अपना यह अधिकार प्राप्त कर सकते हैं तो हम उनको मदद करने को तैयार हैं।" हिटलर के भाषण से सुडेटन-जर्मनों को काफी प्रोत्साहन मिला। यह भाषण उपद्रव के लिए एक संकेत था और इधर-उधर उपद्रव भी होने लगे। चेक-सरकार ने इन उपद्रवों का दमन करना शुरू किया। उस पर हेनलीन ने समझौता-वार्ता भंग कर दी। उसने चेक-सरकार को दमनकारी कार्रवाइयों को बन्द करने के लिए अन्तिमेत्थम् दिया और अपने जर्मन अनुयायियों को यह आदेश दिया कि वे जर्मन सरकार को अपनी असल सरकार समझें और चेकोस्लोवाकिया के प्रति कोई भक्ति नहीं रखें। कोई भी सरकार इस प्रकार की चुनौती बर्दाश्त नहीं कर सकती है। चेक सरकार ने भी उस पार्थक्यावादी आन्दोलन को कुचल देने का दृढ निश्चय किया। थोड़ी लड़ाई हुई और हेनलीन जर्मनी भाग गया। लार्ड रन्सीमन ने भी यह फैसला किया कि मध्यस्थ के रूप में उसका कार्य समाप्त हो गया है और वह लन्दन वापस आ गया। कुछ दिनों के बाद उसने एक रिपोर्ट पेश की जो चेक-सरकार के बिल्कुल विरोध में थी।

वर्शटेसगार्डेन का प्रस्ताव : इन घटनाओं के कारण यूरोपीय शान्ति की सम्भावना अत्यधिक संदिग्ध हो गयी। सीमान्त की सैनिक गतिविधियों में तेजी आ गयी और ऐसा लगता था कि युद्ध छिड़ कर ही रहेगा। वातावरण में एक बेचैनी-सी पैदा हो गयी। ऐसा प्रतीत होता था कि हिटलर की सेनाएँ शीघ्र ही चेकोस्लोवाकिया

पर चढ़ाई कर देगी और तब सन्धि के अनुसार फ्रांस और सोवियत संघ चेकोस्लोवाकिया की मदद करने को पहुँच जाएँगे। यूरोप में युद्ध का ज्वालामुखी फिर एक बार आग उगलने को तैयार हो गया। हिटलर ने अपने अफसरों को युद्ध की तैयारी की आज्ञा दे दी परन्तु हिटलर एक ऐसे मौके की ताक में भी था जिसके बिना युद्ध लड़े ही उसके उद्देश्य की पूर्ति हो जाय। 13 सितम्बर को उसे ब्रिटिश प्रधानमंत्री चेम्बरलेन का एक तार मिला—"मैं आपसे मिलना चाहता हूँ कृपया जल्द-से-जल्द जगह और समय निर्धारित कर सूचित करें।" हिटलर ने तुरन्त इसको मान लिया। 15 सितम्बर को चेम्बरलेन विमान से जर्मनी गया और वर्शटेसगार्डेन में हिटलर से भेंट की। वार्ता में हिटलर ने स्पष्ट कर दिया कि यदि सुडेटेन-जर्मनी को आत्मनिर्णय का अधिकार तुरन्त नहीं दे दिया जाता तो जर्मनी चेकोस्लोवाकिया पर शीघ्र ही आक्रमण कर देगा। चेम्बरलेन इस माँग को मान लेने के लिए तैयार था। वह अपने मंत्रिमंडल, चेक फ्रांसीसी सरकारों से इस समाधान पर विचार के लिए लन्दन वापस आया। 18 सितम्बर को दलादिये और बोने भी लन्दन पहुँचे। चेम्बरलेन और दलादिये ने मिलकर एक योजना बनायी, जिसे वे संयुक्त रूप से चेकोस्लोवाकिया के सामने रखना चाहते थे। इसके अनुसार सम्पूर्ण सुडेटेनलैंड जर्मनी को सौंप दिया जानेवाला था। 19 सितम्बर को यह योजना चेक-सरकार के सामने रखी गयी। इसमें चेक-सरकार से आग्रह किया गया था कि वह इस प्रस्ताव को अविलम्बन मान ले। प्रस्ताव मान लेने पर ब्रिटेन और फ्रांस ने चेक-सरकार को यह आश्वासन दिया कि उसके बचे हुए सीमान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय गारन्टी दी जायगी। चेक-सरकार ने इस योजना पर आपत्ति उठायी। फ्रांसीसी प्रधानमंत्री से पूछा गया कि जर्मन-आक्रमण की स्थिति में फ्रैंच चेक सन्धि के अन्तर्गत फ्रांस चेकोस्लोवाकिया की सहायता करने को तैयार है या नहीं। दलादिये ने इस प्रश्न का उत्तर ही नहीं भेजा। 21 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया को एक दूसरा अन्तिमेत्थम् भेजा। इसके साथ चेक-सरकार को यह धमकी भी दी गयी कि यदि इस बार चेकोस्लोवाकिया प्रस्ताव के तीन दिनों के अन्दर मंजूर नहीं करता है और जर्मनी उसपर चढ़ाई कर देता है तो ब्रिटेन और फ्रांस उसकी कोई मदद नहीं करेंगे। रात को दो बजे राष्ट्रपति वेनेस को सोते से जगाया गया। सुबह होने से पहले मन्त्रिमंडल की बैठक बुलायी गयी। चेक सरकार के सामने दूसरा उपाय ही क्या था। जिन मित्रों की सहायता का वह भरोसा कर सकती थी वे ही उससे इस योजना को नामंजूर करने के लिए विवश कर रहे थे। उसने आंग्ल-फ्रांसीसी योजना को स्वीकार कर लिया। इसके बाद योजना के विरोध में चेक-प्रधानमंत्री डॉ० होजा ने त्यागपत्र दे दिया और उसके स्थान पर जनरल मिरोवी प्रधानमंत्री बना।

चेकोस्लोवाकिया के साथ उसके मित्र राज्यों पर इस तरह का व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से कोसों दूर था। परन्तु, शान्ति कायम रखने के लिए चेम्बरलेन ने इसे 'आवश्यक शल्य-क्रिया' बतलाया। फ्रांसीसी लोकमत ने भी इसे 'एक लज्जाजनक आवश्यकता' बताकर स्वीकार कर लिया। कहा जाता है कि दलादिये मन्त्रिमंडल के तीन सदस्य इस योजना से असंतुष्ट होकर अपना त्यागपत्र दे दिये थे और एक फ्रांसीसी सेनापति ने इसके विरोध में अपनी फ्रांसीसी नागरिकता भी त्याग दी थी, पर चेम्बरलेन और दलादिये अपनी सफलता पर फूले नहीं समा रहे थे। वे सोच रहे थे कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर अपना आधिपत्य कायम कर लेगा और तब फिर साम्यवादी रुस का काम भी तमाम कर देगा। केवल सोवियत-सरकार ही चेकोस्लोवाकिया की मदद करने को तैयार थी। सोवियत-संघ और चेकोस्लोवाकिया के बीच एक सन्धि हुई थी, जिसके अनुसार सोवियत सरकार ने वादा किया था जर्मन-आक्रमण की स्थिति में वह चेकास्लोवाकिया की सहायता करेगी, यदि फ्रांस भी चेक लोग की मदद करे। फ्रांस इस समय सन्धि के अनुसार चेकोस्लोवाकिया की मदद करने को तैयार नहीं था; लेकिन तो भी सोवियत सरकार ने चेक-सरकार को मदद करने का वादा किया। वेनेस ने सोवियत सरकार के इस प्रस्ताव पर विचार किया। लेकिन चेक विरोधी नेता रुडोल्फ वेरान ने यह धमकी दी कि अगर वेनेस-सोवियत मदद को मंजूर कर लेगा तो वह चेकोस्लोवाकिया में गृहयुद्ध शुरू करा देगा। अतः बाध्य होकर वेनेस को मिली हुई सोवियत मदद भी ठुकरा देनी पड़ी।

गोडेसवर्ग का प्रस्ताव : चेक-सरकार द्वारा स्वीकृत योजना को लेकर चेम्बरलेन एक बार फिर हिटलर से मिलने जर्मनी गया। 22 सितम्बर को गोडेसवर्ग में हिटलर से उसकी दूसरी मुलाकात हुई। हिटलर की धौंस काम कर गयी थी। वह दूसरी धौंस देकर अपना बचा-खुचा काम निकालना चाहता था। स्वीकृत योजना से ही वह संतुष्ट नहीं था। इस बार चेम्बरलेन के सामने उसने इतनी आश्चर्यजनक माँगें रखीं कि बेचारा ब्रिटिश प्रधानमंत्री स्तब्ध रह गया। चेम्बरलेन इन मांगों पर विचार करने से लाचार था। 24 सितम्बर को निराश होकर वह लन्दन लौट आया। हिटलर की माँगों की तालिका उसने प्राग भेज दी। चेक-सरकार ने इन माँगों को 'सर्वथा और बिना शर्त अस्वीकार्य' कहकर ठुकरा दिया। गोडेसवर्ग में हिटलर ने चेम्बरलेन को सूचित कर दिया कि 26 और 28 दिसम्बर के बीच में चेकोस्लोवाकिया का संकट एक बार पुनः अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। ब्रिटेन और फ्रांस इस बार निश्चय कर चुके थे कि यदि जर्मन ने हमला किया तो वे चेकोस्लोवाकिया की सहायता करेंगे। चेकोस्लोवाकिया ने पूर्ण युद्धबन्दी की आज्ञा दे दी। फ्रांस ने भी आंशिक युद्धबन्दी कर दी। ब्रिटेन भी युद्ध की तैयारी करने लगा। समुद्री बेड़ों को इकट्ठा किया गया। लन्दन में पार्कों में खाइयाँ खुदने लगीं। हवाई हमले के विरुद्ध जल्दी-जल्दी कदम उठाये गये। सारे यूरोप में सनसनी फैल गयी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब युद्ध की आग भड़काने ही वाली है।

27 सितम्बर को चेम्बरलेन ने रेडियो पर कहा कि यदि समझौता होने की सम्भावना हो तो मैं तीसरी बार जर्मनी जाने को तैयार हूँ। यही नहीं, बल्कि चेम्बरलेन ने हिटलर को एक पत्र लिखा जिसमें पुनः समझौता वार्ता के लिए अनुरोध किया गया था। लेकिन हिटलर समझौता करने के पक्ष में नहीं था। वह आग उगल रहा था—"यदि इस समस्या का समाधान हो जाता है तो जर्मनी के लिए यूरोप में कोई प्रादेशिक दावा नहीं कर रह जायगी। लेकिन, यह ऐसा दावा है जिसको हमलोग छोड़ नहीं सकते हैं। हमलोग किसी चेक को नहीं चाहते हैं और जहाँ तक सुडेटेनलैंड का प्रश्न है यह असह्य हो चुका है। हम लोग कृत संकल्प हैं। डॉ० वेनेस अपना निर्णय स्वयं कर लें। यूरोप में यह मेरा अन्तिम दावा है।"

फ्रांस और ब्रिटेन समझ रहे थे कि अब हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर बिना चढ़ाई किये नहीं रहेगा। चेम्बरलेन की सारी योजनाएँ धूल में मिल रही थीं । वह चाहता था कि अभी भी समझौता से यह मामला तय हो जाय। उसको आश्चर्य हो रहा था कि एक ऐसे देश के लिए जो ब्रिटेन में बहुत दूरी पर स्थित है और जिसके बारे में अंग्रेज लोग कुछ भी नहीं जानते हैं उसके लिए ब्रिटेन में खाइयाँ खोदी जाय और गैसों से बचाव के लिए उपाय किया जाय।[1] चेम्बरलेन ने मुसोलिनी से आग्रह किया कि वह अपने दोस्त हिटलर को एक सम्मेलन के लिए राजी कर ले और कम-से-कम चौबीस घंटे के लिए जर्मन आक्रमण को स्थगित करा दे। मुसोलिनी की मध्यस्थता से हिटलर सम्मेलन के लिए राजी हो गया। 28 सितम्बर को ढाई बजे ब्रिटिश लोकसभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। चेम्बरलेन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर प्रकाश डाल रहा था। इसी समय एक संदेशवाहक दौड़ता हुआ सदन में पहुँचा। उसने चेम्बरलेन को एक तार दिया। गौर से पढ़ने और कुछ सोचने के बाद चेम्बरलेन ने सदन को यह सूचित किया कि दूसरे दिन सुबह हिटलर ने सम्मेलन के लिए उसे म्यूनिख बुलाया है। 29 सितम्बर को म्यूनिख में चार राष्ट्रों (जर्मनी, इटली, ब्रिटेन और फ्रांस) का सम्मेलन होगा। यह जानकर संसार के लोगों को विश्वास हो गया कि अन्तिम क्षणों में युद्ध होने से बच गया।

म्यूनिख का समझौता : म्यूनिख के ब्राउन-हाउस में चार राष्ट्रों का 'शिखर-सम्मेलन' हुआ जिसमें भाग लेनेवाला चेम्बरलेन, दलादिये, हिटलर और मुसोलिनी थे। सम्मेलन में सोवियत संघ को शामिल नहीं किया गया था, हालाँकि चेकोस्लोवाकिया के भविष्य में उसका भी महत्वपूर्ण हित था। इसका कारण यह था कि हिटलर सोवियत प्रतिनिधि के साथ बात करना नहीं चाहता था और चेम्बरलेन तथा दलादिये रूसी प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर हिटलर को नाखुश नहीं करना चाहते थे। सोवियत संघ की बात तो दूर रही, यहाँ तक कि

स्वयं चेकोस्लोवाकिया को भी सम्मेलन में शामिल नहीं किया गया था। उसके प्रतिनिधि बगल के एक दूसरे कमरे में बैठे रहे। जब सभी बातों पर फैसला हो गया तब उन्हें बुलाकर फैसला सुना दिया गया। म्यूनिख में जो समझौता हुआ उनकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(1) चेक लोग 1 से 10 अक्टूबर तक सुडेटेनलैंड को खाली कर दें। (2) एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग सीमा-निर्धारण तथा जनमत-संग्रहवाले क्षेत्रों का निरीक्षण करे। (3) ब्रिटेन और फ्रांस के द्वारा चेकोस्लोवाकिया की परिवर्तित सीमा की गारंटी दी गयी। (4) पोल और हंगरियन अल्पसंख्यकों के प्रश्न हल हो जाने पर जर्मनी और इटली ने भी इसी तरह की गारन्टी देने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त 20 सितम्बर को हिटलर और चेम्बरलेन ने एक संयुक्त घोषणा पर हस्ताक्षर किये जिसमें कहा गया था कि जर्मनी और ब्रिटेन एक दूसरे के खिलाफ कभी युद्ध नहीं करेंगे। चेम्बरलेन अपनी 'सफलता' पर खुश होकर लन्दन के लिए रवाना हुए। म्यूनिख समझौता अविलम्ब लागू हो गया। सुडेटेनलैंड पर जर्मनी का कब्जा हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय आयोग ने चेकोस्लोवाकिया की नयी सीमा को निर्धारित कर दी। कुछ दिनों के बाद पोलैंड और हंगरी ने भी चेकोस्लोवाकिया के उन प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया जिन पर वे दावा करते थे। ब्रिटेन और फ्रांस की गारन्टी 'एक कागज का टुकड़ा' रह गया। 5 अक्टूबर को वेनेस ने त्यागपत्र दे दिया और देश छोड़कर बाहर चला गया। उसकी जगह पर इमिल हाचा चेकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपति नियुक्त हुआ।

म्यूनिख-समझौता की समीक्षा

चेकोस्लोवाकिया को छोड़कर म्यूनिख-समझौते का सर्वत्र स्वागत हुआ। ऐसा मालूम हुआं कि मानों युद्ध की आशंका टल गयी और भविष्य में यूरोपीय राष्ट्र शान्तिपूर्वक सहयोग करते रहेंगे। चेम्बरलेन एक विजयी के रूप में लन्दन लौटे। हवाई अड्डे पर उनका अपूर्व स्वागत हुआ। विशाल जनसमूह के सामने भाषण देते हुए उसने कहा - 'यह दूसरा अवसर है जब हमलोग बर्लिन से प्रतिष्ठायुक्त शान्ति (Pace with honour) लेकर लौटे हैं। यह हमलोगों के समय की शान्ति है। एक अग्रलेख में लंदन 'टाइम्स' ने दूसरे दिन लिखा था - "रणक्षेत्र से विजय करके घर लौटनेवाले किसी विजेता ने ऐसी कीर्ति का कार्य नहीं किया, जितना कल म्यूनिख से लौटे चेम्बरलेन ने किया है।" ब्रिटेन में शायद ही कोई ऐसा समाचार-पत्र रहा हो जो लन्दन 'टाइम्स'. के इस विचार से सहमत नहीं हुआ हो। बर्लिन-स्थिति ब्रिटिश राजदूत सर हण्डरसेन ने चेम्बरलेन को लिखा - "संसार की करोड़ों माताएँ आज आपको आशीर्वाद दे रही हैं कि आपने उसके बच्चों को युद्ध के मुख से बचा लिया है। कल से आपकी सफलताओं की प्रशंसा में स्याही का समुद्र उमड़ पड़ेगा।" स्याही का यह समुद्र उमड़ा, लेकिन सफलताओं का गुणगान करने के लिए नहीं, बल्कि चेम्बरलेन को कोसने के लिए। ब्रिटिश-संसद में भाषण देते हुए चर्चिल ने कहा—"हमलोगों की बहुत बड़ी हार हुई है। सब काम तमाम हो गया और चेकोस्लोवाकिया अँधेरे में विलीन हो गया। ब्रिटेन और फ्रांस के दबाव से चेकोस्लोवाकिया का विभाजन नात्सी धमकी के आगे पश्चिमी जनतन्त्र के झुकने के बराबर है।" लार्ड एमरी ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये, "म्यूनिख समझौता दबाव से हुई जीत का प्रतीक है जो इतिहास में सबसे सस्ती समझी जा सकती है।" ब्रिटिश नौसेना के मंत्री एल्फ्रेड कूपर ने म्यूनिख समझौते के विरोध में अपना त्यागपत्र दे दिया। ब्रिटिश-संसद में बोलते हुए उसने कहा—"1914 में हमलोग युद्ध में इसलिए सम्मिलित हुए थे कि भविष्य में कोई एक बड़ा एवं शक्तिशाली राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करते हुए किसी छोटे और कमजोर राष्ट्र पर अपना आधिपत्य न जमा ले। हमने म्यूनिख की शर्तों को निगलने का प्रयास किया है। लेकिन वे मेरे गले में ही अटक गयी है। शायद पदत्याग करके हमने अपने राजनीतिक जीवन को बर्बाद कर लिया है। लेकिन, मैं आज भी संसार में अपना सर ऊँचा करके घूम सकता हूँ।" पर इन प्रक्रियाओं का किसी पर कोई असर नहीं पड़ा और एक जबरदस्त बहुमत से ब्रिटिश लोक-सभा ने चेम्बरलेन

की 'सफलताओं' का अनुमोदन कर दिया। "केवल एक सप्ताह के सांसारिक जीवन के लिए" भारत में महात्मा गांधी चिल्ला पड़े, "यूरोप ने अपनी आत्मा बेच डाली है।" वास्तव में म्यूनिख हिटलर के कूटनीतिक जीवन की सबसे बड़ी विजय और चेम्बरलेन की सबसे बड़ी पराजय थी। चेम्बरलेन की शान्ति के स्वरूप को 12 अक्टूबर, 1938 के 'पंच' (Punch) के एक कार्टून में अच्छी तरह व्यक्त किया गया था। कार्टून में दिखलाया गया था कि रेलवे-स्टेशन पर सैनिक भर्ती सम्बन्धी पर्चे टँगे हैं। एक पुत्र अपने पिता को इन पर्चों को दिखाकर पूछ रहा है - "पिताजी, आप इस महान शान्ति में कौन-सा कार्य करनेवाले हैं।"

चेकोस्लोवाकिया के लिए म्यूनिख का समझौता 'इतिहास का सबसे महान विश्वासघात' था। उसके लिए यह मृत्युदंड की व्यवस्था थी। उसकी पराजय किसी कमजोरी के कारण नहीं बल्कि उसके साथियों के विश्वासघात के कारण हुई थी। सम्पूर्ण मध्य यूरोप में वही एक ऐसा देश था, जहाँ युद्ध के बाद प्रजातान्त्रिक विचारों की कुछ प्रगति हुई थी। लेकिन, अपने को प्रजातन्त्र का रक्षक कहने वाले ब्रिटेन और फ्रांस को उसका बलिदान करते हुए जरा भी संकोच नहीं हुआ। पीछे चलकर इसका फल उन्हें भी भुगतना पड़ा। म्यूनिख समझौता के बाद हिटलर को डेन्यूब और बाल्कन क्षेत्रों पर आर्थिक और सैनिक अधिकार जमाने का अच्छा मौका मिल गया। चेकोस्लावाकिया के महत्वपूर्ण व्यावसायिक केन्द्रों और खानें, सैनिक सामग्री और मार्ग जर्मनी को प्राप्त हो गया। जर्मनी की शक्ति इतनी बढ़ गयी कि यूरोप में कोई उसको चुनौती नहीं दे सकता था।

म्यूनिख समझौता एक महान कूटनीतिज्ञ क्रान्ति भी था। इसने युद्धोत्तर-काल की कूटनीतिक स्थिति में आमूल परिवर्तन कर दिया। वर्साय-सन्धि के बाद जिस व्यवस्था की स्थापना की गयी थी वह पूर्णतया नष्ट हो गयी। कोई भी राज्य अब अपने बचाव के लिए ब्रिटेन और फ्रांस-जैसे धोखेबाज देशों की मित्रता पर आश्रित नहीं रह सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस की युद्धोत्तर गुटबन्दी-प्रणाली सर्वथा व्यर्थ हो गयी। लघुमैत्री-संघ का कोई मूल्य नहीं रह गया। डेन्यूब-क्षेत्र के देशों का अस्तित्व अब हिटलर की दया पर निर्भर था। पोलैंड पर जर्मन आक्रमण अनिवार्य हो गया।

परिवर्तित कूटनीतिक स्थिति की सबसे जबरदस्त प्रतिक्रिया सोवियत संघ में हुई। म्यूनिख में सोवियत प्रतिनिधि को सम्मिलित नहीं किया गया। इससे पूँजीवादी राज्यों पर उसका शक होना स्वाभाविक था। वास्तव में म्यूनिख समझौता हिटलर द्वारा रूसी साम्यवाद के विरुद्ध किये गये प्रचारों का फल था। हिटलर कहा करता था कि उसका अन्तिम उद्देश्य साम्यवाद को मिटाना है। पश्चिम के पूंजीवादी देश इससे काफी प्रभावित हुए। वे हिटलर को संतुष्ट करके इस कार्य में सहायता देने लगे। संकट के समय रूस अनेक बार चेकोस्लोवाकिया की सहायता देने के लिए तैयार हुआ था। लेक़िन ब्रिटेन और फ्रांस में इस सहायता का कभी स्वागत नहीं हुआ। म्यूनिख-समझौते ने केवल 1935 की फ्रैंकों सोवियत-सन्धि को ही भंग नहीं कर दिया, बल्कि सोवियत-चेक समझौते का भी अन्त कर दिया। रूस को अब बाध्य होकर नये साथियों को ढूँढ़ना पड़ा। अतएव 1939 का बर्लिन मास्को-पैक्ट म्यूनिख के धोखेबाजी का ही परिणाम था। दिसम्बर, 1939 का भ्रमोत्पादक फ्रेंकों जर्मनी-समझौता भी म्यूनिख-पैक्ट का एक दूसरा परिणाम था। रूस की सच्ची मित्रता खोकर फ्रांस ने जर्मनी की ऐसी नकली मित्रता हासिल कर ली, जिसका वास्तविक महत्व किसी से छिपा नहीं था।

म्यूनिख-समझौता राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के प्रति एक घोर अविश्वास था। डेविस थाम्पसन के शब्दों में मित्रराष्ट्रों ने इस मामले में चेकोस्लोवाकिया को सामूहिक सुरक्षा प्रदान करने के बदले उसके प्रदेश पर सामूहिक डकैती (collective blackmail) की। उसे जबरदस्ती अपना प्रदेश जर्मनी को सौंपने पर बाध्य किया। इसने यह सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रों के झगड़ों का निपटारा पाश्विक बल और तलवार से ही हो सकता है।

म्यूनिख समझौता चेम्बरलेन की सन्तुष्टीकरण की नीति की विफलता था। कहा जाता है कि जर्मनी विदेशमन्त्री रिबनट्रार ने इस सम्मेलन के बाद चेम्बरलेन के बारे में कहा था कि "बूढ़े आदमी ने अपनी मृत्यु के आज्ञापत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। अब हमें केवल उस पर उसकी तिथि को लिखना है"। शूमाँ ने लिखा है - "म्यूनिख का समझौता संतुष्टिकरण की नीति का सर्वोच्च विकास तथा पश्चिमी लोकतंत्रों का मरणाज्ञापत्र था। यह सामूहिक सुरक्षा-पद्धति के विनाश का प्रतीक था। यह हिटलर की आतंक की रणनीति की अबतक की सबसे बड़ी विजय थी।"[2] उस समय चेम्बरलेन को यह विश्वास था कि हिटलर की माँगें पूरी कर देने से वह संतुष्ट हो जायगा, लेकिन म्यूनिख के बाद पता चला कि हिटलर की प्रादेशिक भूख बड़ी तेज है और उसकी माँगों की कोई सीमा नहीं है, उस समय चर्चिल ने ठीक ही कहा था - "एक छोटे राज्य को भेड़िये के आगे फेंककर सुरक्षा पाने की आशा घातक भ्रांतिमात्र है।" चेम्बरलेन का यह दावा कि वह बर्लिन में "प्रतिष्ठायुक्त शान्ति" (peace with honour) लेकर लौटा है. वह एक भ्रम के सिवा कुछ नहीं था। इस "प्रतिष्ठायुक्त शान्ति" पर चर्चिल की उक्ति अधिक यथार्थ थी। उसने कहा था - "ब्रिटेन और फ्रांस को इस समय युद्ध और अपमान में चुनाव करना पड़ा है। उन्होंने अपमान को चुना है और शीघ्र ही उन्हें युद्ध करना पड़ेगा।"

म्यूनिख का समझौता जर्मनी और विशेषकर हिटलर की बहुत बड़ी विजय थी। खतरनाक दुश्मन (चेकोस्लोवाकिया) को महत्वहीन बना दिया गया। वर्साय-सन्धि के एक बहुत बड़े अन्याय का अन्त हुआ और तृतीय रीह की शक्ति का परिचय सबको मिल गया। प्रादेशिक लाभ के अतिरिक्त पोलैंड पर जर्मनी के हमले का मार्ग खुल गया। बाल्कन प्रायद्वीप में जर्मनी के लिए हावी होना आसान हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्रों में इंगलैंड और फ्रांस की प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। कोई भी राष्ट्र अब उन पर भरोसा नहीं कर सकता था। फलतः पूर्वी यूरोप में जर्मनी के विरुद्ध बुने फ्रांसीसी गुटबन्दियों का जाल छिन्न-भिन्न हो गया। सोवियत रूस और पश्चिमी गुटों का मनमुटाव और भी गहरा हो गया। वास्तव में म्यूनिख में हिटलर को इतनी सफलता मिल गयी जिसकी आशा वह स्वयं नहीं करता था।

ब्रिटेन द्वारा समझौता करने के कारण

म्यूनिख समझौता के विरोध में ब्रिटिश मन्त्रिमंडल से त्यागपत्र देते हुए डफ कूबर ने कहा था - "हमारे प्रधानमंत्री को हिटलर की सद्भावना और वचन पर विश्वास है। यद्यपि हिटलर ने जब वर्साय की सन्धि तोड़ी तो यह कहा कि यूरोप में उसकी कोई प्रादेशिक मांग नहीं है। जब आस्ट्रिया में बलपूर्वक प्रविष्ट हुआ तो उसने कहा कि वह चेकोस्लोवाकिया के मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा छह महीने पहले की बात है। फिर भी हमारे प्रधानमंत्री का विश्वास है कि वह हिटलर पर विश्वास और भरोसा रख सकते हैं।" लेकिन म्यूनिख में विश्वास और भरोसा का कोई प्रश्न नहीं था। ऐसी बात नहीं थी कि चेम्बरलेन से हिटलर परिचित नहीं था। यह संभव है कि चेम्बरलेन को कुछ समय के लिए हिटलर पर विश्वास हो गया हो और उसने मान लिया हो कि यह हिटलर की अन्तिम प्रादेशिक माँग थी, लेकिन म्यूनिख समझौते के मुख्य प्रेरक तत्वों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री और फ्रांस के शासक वर्ग को इस बात पर पूरा विश्वास था कि हिटलर का प्रधान लक्ष्य भी सोवियत संघ का विनाश है। चेकोस्लोवाकिया में संतुष्ट हो जाने के बाद वह अपनी पूरी शक्ति साम्यंवाद के विध्वंस में लगाएगा जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद और पूंजीवाद दोनों के लिए लाभदायक था।

समझौता करने के अन्य प्रेरक तत्वों में युद्ध से किसी तरह बचना भी एक था। अभी यूरोप में शान्तिवाद की प्रकृति की प्रबलता थी। लोग अभी तक प्रथम विश्व-युद्ध के विनाशकारी घटनाओं को नहीं भूले थे। युद्ध

का आतंक उस पर पूरा छाया हुआ था और वे इससे बचने चाहते थे। ब्रिटेन और फ्रांस के सामने इसके सिवा कोई चारा भी नहीं था। इन देशों में युद्ध की तैयारी पूरी नहीं हुई थी। वायुसेना के क्षेत्र में वे जर्मनी से अभी बहुत पिछड़े हुए थे। इस हालत में समझौता कर लेना की उचित समझा गया।

इसके अतिरिक्त यह भी एक तथ्य था कि चेकोस्लोवाकिया के ब्रिटेन फ्रांस के लिए शासक वर्ग युद्ध नहीं छेड़ना चाहते थे। चेम्बरलेन के लिए यह "हास्यापद, भयास्पद तथा अविश्वसनीय" था ही। एक ऐसे "दूरवर्ती देश जिसके बारे में हम कुछ नहीं जानते" के लिए लड़ाई लड़ना वह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं समझता था। अतएव उसने हिटलर से म्यूनिख में अपमानपूर्ण समझौता कर लिया।

चेकोस्लाविया का अन्त : 26 सितम्बर, 1938 को बोलते हुआ फ्यूरर ने कहा था - "मैंने चेम्बरलेन को आश्वासन दिया है और अब भी इस पर जोर देता हूँ कि जब यह (सुडेटेन) समस्या हल हो जायगी तब यूरोप में जर्मनी की और कोई प्रादेशिक समस्या नहीं रह जायगी। चेक-राज्य में मुझे और कोई रुचि नहीं रह जायगी तथा मैं उसको गारन्टी दे सकता हूँ। हम और अधिक चेक नहीं चाहते।" लेकिन कुछ ही दिनों के अन्दर यह पता चलने लगा कि यह हिटलर का 'अन्तिम दावा' नहीं था।

म्यूनिख समझौते के बाद चेकोस्लोवाकिया का राज्य घटकर बहुत छोटा रहा गया था। चेकोस्लोवाकिया के बोहेमिया और मोरेविया प्रदेश में अभी भी हजारों जर्मन रह गये थे। उनको 'मुक्त' करना भी हिटलर का कर्तव्य था। 19 नवम्बर को चेकोस्लोवाकिया को एक संघीय गणंतन्त्र में परिवर्तित कर दिया गया, जिसमें स्लोवाकिया और रूथेनिया की विधानसभाओं को पूर्ण स्वायत्तता दी गयी। इन दो प्रान्तों के प्रधानमंत्री संघीय राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हुए। विदेशनीति और सुरक्षा विभाग केंद्रीय शासन के अन्तर्गत रखे गये। जब जर्मन-सरकार रूथेनिया और स्लोवाकिया की सरकार को पार्थक्यवादी आन्दोलन चलाने के लिए प्रोत्साहित करने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राग स्थित केन्द्रीय सरकार तथा दो इकाइयों के बीच तनाव बढ़ गया। स्लोवक प्रधानमंत्री फादर टीसो संविधान की अवहेलना करते हुए अपना अलग विदेश नीति बनाने और सरकारों, खासकर जर्मन-सरकार से सम्पर्क स्थापित करने लगा। 9 मार्च, 1939 को संकट काफी गंभीर हो गया। प्रधानमंत्री टीसो ने स्लोवाकिया के लिए पृथक विदेशनीति और सेना की माँग कर दी। अगले दिन राष्ट्रपति हाचा ने टीसो को पदच्युत कर दिया। टीसो पर आरोप लगाया कि वह पार्थक्यवादी आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहा था, जिससे राज्य की एकता खतरे में पड़ गयी थी। टीसो जर्मनी भाग खड़ा हुआ। 15 मार्च को राष्ट्रपति हाचा को बर्लिन बुलाया गया। हिटलर ने उसपर म्यूनिख समझौते को भंग करने का आरोप लगाया। उसके सामने एक समझौता-पत्र रखा गया, जिसमें कहा गया था कि बोहेमिया और मोरेविया के प्रान्त जर्मन संरक्षता में रख दिये जाते हैं। सैनिक कार्रवाई की धमकी देकर हाचा को उस समझौता-पत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। हिटलर ने हाचा को सूचित कर दिया कि उसने जर्मन सेना को चेक-प्रदेश पर हमला करने की आज्ञा दे दी है। हाचा ने इसका विरोध किया। इस पर उसको इतना डराया-धमकाया गया कि वह बेहोश हो गया। दवा देकर उसको होश में लाया गया। नात्सी-अफसर उसको चारों तरफ से घेरे खड़े थे। रिबनट्रोप जबरदस्ती हाचा का हाथ पकड़कर समझौता-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य कर रहा था। सत्तर वर्ष के बूढ़े राष्ट्रपति के लिए स्थिति असह्य हो गयी और साढ़े चार बजे सुबह में बाध्य होकर उसको हस्ताक्षर कर देना पड़ा। "मैं पूर्ण विश्वास के साथ चेक-जनता और देश का भविष्य जर्मन रीह के फ्यूरर की संरक्षता में सौंपता हूँ।" दो दिनों के बाद चेकोस्लोवाकिया भी जर्मनी में शामिल कर लिया गया और जर्मनी के इशारे पर रूथेनिया के प्रदेश पर हंगरी ने अधिकार कर लिया। तीस वर्ष की आयु में ही स्वतन्त्र चेकोस्लोवाकिया का नामोनिशान मिट गया।

हिटलर को लाभ : म्यूनिख समझौते के द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया की प्रादेशिक अखण्डता को कायम रखने की गारन्टी दी थी, पर चेकोस्लोवाकिया के अन्तिम विनाश के समय भी वे चुपचाप बैठे रहे और वादा के अनुसार उसके मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया। रूस के विरुद्ध हिटलर को

प्रोत्साहित करने की सन्तुष्टिकरण-नीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। बोहेमिया और मोरेविया पर अधिकार हो जाने से जर्मनी की शक्ति और बढ़ गयी। हिटलर को अठारह हजार वर्गमील जमीन, लगभग सत्तर लाख की आबादी, स्कोडा का प्रसिद्ध शस्त्र-कारखाना और नेशनल बैंक का सोना प्राप्त हो गया। स्लोवाकिया के मिल जाने से जर्मनी को और फायदा हुआ।

चेकोस्लोवाकिया के विनाश के बाद मेमेल पर जर्मनी और अल्वेनिया पर इटली ने अधिकार जमा लिया। लिथुआनिया को धमकाकर 22 मार्च को हिटलर ने मेमेल पर आधिपत्य कर लिया। इसके बाद मुसोलिनी ने देखा की जर्मनी आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा कर चुका है और यूरोप के अन्य राज्य उसके सम्मुख सर्वथा असहाय है, तो उसकी भी हिम्मत बढ़ी। उसकी निर्बलता से प्रोत्साहित होकर उसने अप्रैल, 1939 में अल्बेनिया को इटली में शामिल कर लिया। अन्तर्राष्ट्रीय मत्स्यन्याय और मर्यादा विहीन फासिज्म का नग्न-नृत्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

रूस-जर्मन समझौता तथा पोलैंड पर आक्रमण

पोलैंड का संकट : चेकोस्लोवाकिया के बाद हिटलर का अगला लक्ष्य पोलिश गलियारा और डान्जिंग के जर्मन नगर पर अधिकार करना था। यद्यपि पोलैंड के साथ जर्मनी की मैत्री सन्धि थी किन्तु हिटलर अब सन्धियों के बंधन से ऊपर उठ चुका था। चेकोस्लोवाकिया के विनाश के समय उसने कहा कि "यह मेरा अन्तिम दावा है।" उस समय किसी एक परिहास लेखक ने कहा था कि यह वाक्य हिटलर के मकबरे पर खोदा जाना उचित होता, जहाँ वह पहली बार सत्यपूर्ण कथन होता। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सभी कुशल प्रेक्षक अब यह समझ गये थे कि हिटलर की प्रादेशिक भूख बड़ी तीव्र है और यह तबतक शान्त नहीं होगी जबतक वह सम्पूर्ण संसार को न निगल जाय। आस्ट्रिया के नाश के बाद सब एक स्वर से स्वीकार करते थे कि 'अगला नम्बर चेकोस्लोवाकिया का है।' चेकोस्लोवाकिया में विनाश के बाद वह पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि इस बार पोलैंड की बारी है। चेकोस्लोवाकिया को हड़पने के दूसरे ही दिन से जर्मनी अखवारों में पोलैंड के 'जर्मनी-अल्पसंख्कों पर अत्याचार' का दोषारोपण शुरू हो गया।

वर्साय-सन्धि के द्वारा पूर्वी साइलेसिया और पश्चिमी प्रशा का अधिकांश भाग पौलेंड को प्राप्त हुआ था। युद्ध के समय पोलैंड वालों ने अनेक ऐसा प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था जिनके बहुसंख्य निवासी जर्मन थे। समुद्र तक पहुँचने के लिए पोलैंड को जर्मनी के भू-भाग से मार्ग भी दिया गया। पोलैंड के हितों की रक्षा के लिए ही डान्जिंग के प्रसिद्ध बन्दरगाह का अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के अन्दर एक स्वतन्त्र नगर का रूप दिया गया था। डान्जिंग तक पहुँचने के लिए पोलैंड को जर्मनी के बीच से एक गलियारा भी दिया गया था। इस गलियारे के कारण पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से बिल्कुल अलग हो गया था। इस प्रकार पोलैंड के कारण वर्साय-सन्धि के द्वारा जर्मनी का अंग-भंग हुआ था। नात्सी परराष्ट्र नीति का मुख्य उद्देश्य वर्साय-सन्धि को नष्ट करके सम्पूर्ण जर्मन-जाति को एक सूत्र में बाँधना था। ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव था कि नात्सी-जर्मनी और पोलैंड में कोई झगड़ा नहीं हो। वास्तव में जर्मन-पोलिश झगड़ा वर्साय-सन्धि का तर्क संगत परिणाम था। शान्ति सम्मेलन के बाद पोलैंड और जर्मन के बीच कभी भी अच्छा सम्बन्ध नहीं रहा। दोनों देशों के सीमान्तों पर कोई-न-कोई घटना घटती ही रहती थी। पोलैंड में जर्मनों पर अत्याचार के और जर्मनी में पोलों पर अत्याचार के दोषारोपण हमेशा सुने जाते थे। प्रायः प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय घटना पर पोलैंड और जर्मनी में मतभेद होना स्वाभाविक था। पोलैंड जर्मनी की प्रत्येक कार्रवाई का विरोध करता रहता था। जर्मनी में नात्सी पार्टी के उत्कर्ष से दोनों देशों के बीच मनमुटाव और भी बढ़ गया। पोलैंड अनुभव करने लगा कि नात्सी-जर्मनी ऊपरी साइलेसिया, डान्जिंग और गलियारे का प्रश्न अवश्य ही उठायेगा और वह दिन दूर नहीं जब पोलैंड को उनका परित्याग करना पड़े। इसलिए पोलैंड नहीं चाहता था कि जर्मनी के

साथ उसका सम्बन्ध सदा के लिए बिगड़ा ही रहे। उसने जर्मनों से मित्रता कर लेना ही उचित समझा। अत: 1934 में पोलैंड और जर्मनी के बीच एक दसवर्षीय अनाक्रमण-सन्धि हो गयी, जिसके फलस्वरूप दोनों देशों के बीच का मनोमालिन्य और तनाव बहुत कम हो गया।

पोलैंड और जर्मनी की यह मित्रता बिल्कुल कृत्रिम थी। अबीसीनिया, राइनलैंड, स्पेनिश, गृह-युद्ध आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया संकटों के समय यह अस्वाभाविकता स्पष्ट होने लगी और जर्मनी उद्देश्यों पर पोलैंड का संदेह बढ़ने लगा। इसका एक और कारण था। पोलैंड में, और खासकर डान्जिग में, जर्मनी के ढंग पर एक नात्सी-पार्टी का संगठन हो चुका था। फरवरी, 1935 में डान्जिग में एक चुनाव हुआ। उसमें नात्सी-पार्टी को अपूर्व सफलता मिली। कुछ दिनों के बाद वहाँ का नात्सी-नेता फोर्स्टर खुले आम घोषणा करने लगा कि वह फ्यूरर के अतिरिक्त किसी के प्रति जिम्मेवार नहीं है। पोलैंड के शासकों का सिर दर्द बढ़ने लगा। उस समय पोलैंड का विदेश मन्त्री कर्नल बेक था। अक्टूबर, 1938 में रिबनट्रोप बर्लिन स्थित पोलिश राजदूत लिप्सकी से यह मांग की कि डान्जिंग को जर्मनी को लौटा दिया जाय। जनवरी, 1939 में जब रिबनट्रोप वारसा गया तो इस मांग को फिर दुहराया गया। चेकोस्लोवाकिया के विनाश और मेमेल पर आधिपत्य के बाद यह मांग जोर-शोर से होने लगी। 21 मार्च को रिबन्ट्रोप में लिप्सी के सामने बाजाप्ता यह प्रस्ताव रखा कि डान्जिंग जर्मनी को लौटा दिया जाय और पोलिश गलियारे से होकर जर्मनी को पूर्वी प्रशा तक रेल और सड़क बनाने के लिए भूमि दी जाय। दूसरे शब्दों में 'जर्मनी गलियारे के अन्दर एक गलियारा चाहता था। इसके बदले में डान्जिंग में पोलैंड के आर्थिक अधिकार सुरक्षित रखने, पोलैंड जर्मनी-सीमा को स्थायी रूप से स्वीकार करने और उसके साथ पंद्रह वर्षों के लिए एक अनाक्रमण सन्धि करने को तैयार था। पोलैंड ने इन माँगों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इसके बाद पोलैंड के विरुद्ध एक संगठित प्रचार शुरू हुआ। जर्मन समाचार-पत्रों में पोलैंड में जर्मनी की कथित हत्या की खबर प्रकाशित होने लगी। 3 अप्रैल को ब्रिटिश लोकसभा में डॉ० डाल्टन ने प्राग से हाल में आये एक प्रामाणिक व्यक्ति के आधार पर सदन को सूचित किया कि प्राग स्थित जर्मनी सैनिक कह रहे थे कि हम बहुत देर तक वहाँ नहीं रहेंगे। 'हम शीघ्र ही आगे पोलैंड आयेंगे।' वास्तव में जर्मन-आन्दोलन को भड़काने और समुद्र की राह से पूर्वी प्रशा में सेना भेजने का काम शुरू हो चुका था। जर्मन अखबारों में पोलैंड के विरुद्ध प्रचार जारी थे। इन प्रचारों के उद्देश्य से दुनिया अब सुपरिचित हो चुकी थी; इसको दूसरे नये हमले की भूमिका समझना कोई कठिन काम नहीं था। सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया जाने लगा कि पोलैंड पर जर्मन आक्रमण होने ही वाला है।

ब्रिटिश-नीति में परिवर्तन : ब्रिटेन को अब वास्तविकता का ज्ञान हुआ। चेकोस्लोवाकिया एक ऐसा देश था, जो ब्रिटेन से 'बहुत-बहुत दूर' पर स्थित था। पोलैंड ब्रिटेन से बहुत नजदीक था और उसकी रक्षा ब्रिटिश-सुरक्षा का एक अभिन्न अंग था। बहुत देर के बाज चेम्बरलेन ने अनुभव किया कि म्यूनिख का समझौता 'अपने जमाने की शान्ति' नहीं वरन् युद्ध का निमन्त्रण था। उनकी सारी प्रोत्साहनवादी नीतियाँ मिट्टी में मिल चुकी थीं। ब्रिटेन के समाचार-पत्र, जिन्होंने कुछ ही दिन पूर्व चेम्बरलेन को 'विजेता' के रूप में स्वीकार किया था, अब उसकी सारी नीतियों को कोसने लगे। ब्रिटिश नीति में आमूल परिवर्तन करने की मांग संसद के बाहर और भीतर जोर-शोर से होने लगी। 17 मार्च को चेम्बरलेन की आँखों के सामने से धुंधलापन दूर हो गया। उन दिनों बरमिंघम में उसने जो भाषण दिया उससे ब्रिटिश-नीति में परिवर्तन के सारे लक्षण झलक रहे थे। उसने कहा - "जर्मनी के आश्वासनों पर कैसे विश्वास किया जाय ? हाल में उसने ऐसा घृणित काम किये हैं जिससे संसार का लोकमत क्षुब्ध है, पर प्रत्येक मौका पर हमलोगों ने उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। लेकिन, इस सप्ताह प्राग में जो कुछ हुआ है वह उन आदर्शों के विरुद्ध है जिसका प्रतिपादन स्वयं जर्मनी ने किया था। क्या वह पुराने उपक्रम का अन्त है या नये का आरम्भ ? क्या .... यह तथ्यतः संसार पर बल-प्रयोग द्वारा अधिकार करने की दिशा में उठाया गया कदम है ?"

चेम्बरलेन के भाषण देने और निन्दा करने से हिटलर डरनेवाला नहीं था। यदि पोलैंड की रक्षा करनी हो तो उसकी प्रादेशिक अखंडता की गारन्टी करना अत्यन्त आवश्यक था। 21 मार्च को पोलैंड के सामने हिटलर अपना प्रस्ताव रख चुका था। पोलैंड पर तुरन्त ही खतरा पैदा होनेवाला था। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन चुपचाप नहीं बैठा रह सकता था। ब्रिटिश और फ्रांसीसी सरकारों में विचार-विमर्श होने लगा। 21 मार्च, 1939 को चेम्बरलेन ने ब्रिटिश लोकसभा में एक भाषण देकर ब्रिटेन की नयी नीति का श्रीगणेश किया। "यदि ऐसी कोई कार्रवाई की गयी जिससे पोलैंड की स्वतन्त्रता को स्पष्टतः खतरा हुआ और पोलिश सरकार अपनी राष्ट्रीय नेताओं से मुकाबला करना आवश्यक समझे तो ब्रिटेन अपनी शक्ति के अनुसार सभी प्रकार की सहायता पोलैंड को देगा। फ्रांसीसी संरकार ने भी मुझे यह कहने का अधिकार दिया है कि वह भी इसी प्रकार की प्रतिज्ञा करती है।" यह पोलैंड की स्वाधीनता के लिए आंग्ल-फ्रांसीसी गारन्टी थी। 6 अप्रैल को जब बेक लन्दन आया तो इस गारन्टी का बाजाप्ता अनुमोदन कर दिया गया। रूमानिया, यूनान और तुर्की को भी इस प्रकार की गारन्टी दी गयी।

हिटलर का जवाब : हिटलर इन धमकियों से भयभीत होने वाला व्यक्ति नहीं था। यह पोलैंड पर आक्रमण करने की तैयारी करता रहा। लेकिन, पोलैंड पर आक्रमण करने के पहले सोवियत-संघ को अपने पक्ष में करना अति आवश्यक था। सोवियत-संघ बहुत पहले से जर्मनी के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा तैयार करने का प्रस्ताव रखता आ रहा था। किन्तु ब्रिटेन और फ्रांस बराबर किसी-न- किसी बहाने प्रस्ताव को टालते रहे। उनका ख्याल था कि जर्मनी की आक्रमणकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना ही उनके हक में अच्छा है; क्योंकि इससे हिटलर एक-न-एक दिन साम्यवादी रूस पर आक्रमण करके उसका विनाश कर देगा, पर चेकोस्लोवाकिया के विनाश के बाद उसकी आँखें खुलीं। ब्रिटेन और फ्रांस के शासक अब अनुभव करने लगे कि हिटलर उसकी स्वतन्त्रता के लिए भी खतरा साबित हो सकता है। अतः संयुक्त मोर्चा कायम करने के लिए वे स्टालिन से वार्ताएँ करने लगे।

रूस से अनाक्रमण सन्धि : इसी समय हिटलर गुप्त रूप से स्टालिन और हिटलर में भी सन्धि के लिए वार्ता चल रही थी, क्योंकि हिटलर पोलैंड पर आक्रमण करने के पूर्व सोवियत-संघ का समर्थन प्राप्त कर लेना चाहता था। अतएव 23 अगस्त, 1939 को सोवियत-अनाक्रमण-सन्धि हो गयी। इंगलैंड और फ्रांस देखते ही रह गये। इस सन्धि द्वारा दोनों ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दिया, परन्तु इसके साथ ही कुछ गुप्त धाराओं द्वारा पोलैंड के बंटवारे की व्यवस्था हुई, जर्मनी ने रूस को बाल्टिक राज्यों में स्वतन्त्रता दे दी और रूस ने जर्मनी को खाद्यान्न, पेट्रोल तथा युद्ध की अन्य सामग्रियाँ देने का वचन दिया। यह सन्धि निर्णायक रही। हिटलर पोलैंड पर आक्रमण करना चाहता था, परन्तु उसे रूस की ओर से भय था और वह दो मोर्चों पर लड़ने से हिचकिचाता था। इस सन्धि से उसका यह भय केवल दूर ही नहीं हो गया, उसे यह भी विश्वास हो गया कि उसे पूर्व में विरोध की जगह सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

यूरोप की राजनीतिक स्थिति दिनोंदिन खराब होती जा रही थी। युद्ध के बादल मंडरा रहे थे। संयुक्त राज्य अमेरिका अभी भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से तथाकथित पृथकता की नीति का अवलम्बन कर रहा था। स्थिति को बिगड़ते देख अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने शान्ति के कुछ प्रयास करना ठीक समझा। 15 अप्रैल को उसने हिटलर और मुसोलिनी को अलग-अलग पत्र लिखे, जिनमें उसने अनुरोध किया गया था कि वे कोई ऐसी कार्रवाई नहीं करें, जिससे विश्व की शान्ति खतरे में पड़ जाय। जर्मनी और इटली के समाचार-पत्रों ने अपशब्दों और कटुवचनों से राष्ट्रपति के पत्र का स्वागत किया। 28 अप्रैल का जर्मन रीहस्टाग के एक अधिवेशन को अमरीकी राष्ट्रपति के पत्र पर हिटलर का उत्तर सुनने के लिए बुलाया गया। हिटलर

ने सार्वजनिक रूप से जर्मनी के लिए डान्जिंग की मांग की। "डान्जिंग एक जर्मन नगर है और जर्मनी से मिलना चाहता है। इस प्रश्न को आज या कल हल करना ही होगा।" उसने पोलैंड को आंग्ल-जर्मनी गारंटी की घेरेबन्दी की नीति बतलाते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि वह इन धौंसों से डरनेवाला नहीं है। "यूरोप में यह मेरा अन्तिम प्रादेशिक दावा और शान्ति के लिए इसको मान लेना चाहिए। फ्यूरर ने एक बार फिर अपनी चाल दुहराई।"

अन्तिम संकट : फ्यूरर के भाषण के बाद जर्मन-अखबार पोलैंड पर आग उगलने लगे। पोलैंड में 'जर्मन पर अत्याचार' की कहानियाँ विस्तारपूर्वक छपने लगीं। डॉ० गोबुल्स द्वारा प्रतिदिन नयी-नयी कहानियाँ गढ़ने का कार्य शुरू हो गया। इन आरापों की स्वयं हिटलर भी और अधिक अतिरंजित शब्दों में दुहराने लगा। वास्तव में गत एक महीने से डान्जिंग में नात्सियों के घोर आन्दोलन चल रहे थे। सुडेटेनलैंड की कहानी डान्जिंग में दुहराया जा रही थी। स्थिति को बिगड़ते देख चेम्बरलेन ने एक बार फिर हिटलर से अपील की। चेम्बरलेन ने सोचा कि जिस तरह सुडेटेनलैंड को लेकर विश्वयुद्ध मोल लेना अच्छा नहीं था, उसी तरह डान्जिंग को लेकर विश्वयुद्ध आरम्भ करना ठीक नहीं होगा। वह एक बार फिर संतुष्टिकरण की नीति अपनाना चाहता था। बर्लिन स्थिति ब्रिटिश-राजदूत सर हण्डरसन ने चेम्बरलेन के आदेश पर फ्यूरर के समक्ष एक प्रस्ताव रखा कि डान्जिंग के प्रश्न को पोलैंड और जर्मनी वार्ता द्वारा तय कर लें। हिटलर ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और 'पोलिश अत्याचार' के सम्बन्ध में अपने विचार दुहराते हुए यह घोषणा की कि 'डान्जिंग और गलियारे का प्रश्न हल होकर रहेगा और हल करना पड़ेगा।" हिटलर ने हण्डरसन से यह भी कह दिया कि डान्जिंग को लेकर यदि युद्ध भी छिड़ जाय तो वह उसके लिए तैयार है। मेरी उम्र पचास वर्ष की हो गयी है। हम आज ही युद्ध का हो जाना पसन्द करेंगे, न कि पाँच या दस साल के बाद। जब मैं पचपन या साठ वर्ष का हो जाऊँगा। मैं एक कलाकार हूँ और सम्पूर्ण जर्मन जाति को एक सूत्र में बाँधकर अवकाश ग्रहण कर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ।" वास्तव में बात यह थी कि हिटलर कभी भी डान्जिंग पर समझौता नहीं चाहता था। इसमें शक नहीं कि डान्जिंग मुख्यतः एक जर्मन नगर था और वर्साय सन्धि द्वारा जर्मन से उसे अलग करना एक महान गलती थी। इस तथ्य के वावजूद पोलैंड के लिए भी डान्जिंग आवश्यक था, पर हिटलर के लिए डान्जिंग का कुछ और महत्व था। इसका मतलब यूरोप में एक दूसरी कूटनीतिक विजय थी। दूसरे शब्दों में डान्जिंग का महत्व पोलैंड के लिए वही था जो चेकोस्लोवाकिया के लिए सुडेटेनलैंड का। यह गलियारे, साइलेसिया और अनन्तः सम्पूर्ण पोलैंड का दरवाजा हिटलर के लिए खोल देता। अतएव अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए फ्यूरर युद्ध करने के लिए बिल्कुल तैयार था।

25 अगस्त को हिटलर ने हण्डरसन से यह कहा कि यदि जर्मनी की जायज माँगों के कारण जर्मनी और ब्रिटेन में युद्ध छिड़ गया तो यह बहुत दुखद घटना होगी और उसकी जिम्मेवारी पूर्णतया ब्रिटेन पर होगी। उसने हण्डरसन को सुझाव दिया कि ब्रिटेन और जर्मनी को समझौता कर लेना चाहिए। समझौते के इस प्रस्ताव को लेकर हण्डरसन वायुयान से उसी दिन लन्दन गया। 28 अगस्त को एक जवाब के साथ वह बर्लिन वापस आ गया। ब्रिटिश सरकार का विचार था कि "ब्रिटेन और जर्मनी में तबतक कोई समझौता नहीं हो सकता, जबतक पोलैंड और जर्मनी के झगड़ों का शान्तिपूर्ण निबटारा नहीं हो जाय। अतएव, जर्मन सरकार पहले पोलिश सरकार से समझौता कर ले। पोलिश सरकार जर्मनी से वार्ता करने के लिए तैयार है।" हण्डरसन ने अपनी सरकार के विचार हिटलर और रिबनट्रोप को बतला दिये। उन लोगों ने हण्डरसन को सूचित किया कि उसकी सरकार पोलिश सरकार से वार्ता के लिए तैयार है; पर एक शर्त पर कि पोलैंड

एक प्रतिनिधि-मंडल जिसको समझौता शर्तों को तत्काल स्वीकार करने का पूर्ण अधिकार हो, 30 अगस्त को बर्लिन भेजे। हण्डरसन ने इसका विरोध किया और कहा कि यह एक चुनौती की तरह प्रतीत होता है; क्योंकि एक पोलिश प्रतिनिधि को बिना उसे यह सूचित किये वार्ता के प्रस्तावों का आधार क्या है, वार्ता के लिए बुलाना नितान्त अनुचित है। हिटलर ने इसको चुनौती समझना गलत बतलाया। उसने कहा कि स्थिति बहुत खतरनाक हो गयी है। जर्मनी पर घोर अत्याचार हो रहे हैं। उनकी रक्षा के लिए शीघ्र ही कोई कदम उठाना है।

यह निश्चित था कि बुधवार, 30 अगस्त को भी पोलिश प्रतिनिधि बर्लिन नहीं आ सकता था। बेक को शुशनिंग और हाचा की याद आने लगी और उसने बर्लिन जाने से इन्कार कर दिया। 30 अगस्त की आधी रात को हण्डरसन पुनः रिबनट्रोप से मिलने गया। जर्मनी विदेशमन्त्री ने उसको बतलाया कि अब कुछ करना बेकार है, क्योंकि निर्धारित समय तक पोलिश प्रतिनिधि बर्लिन नहीं पहुँचा है। लेकिन, वह अपनी नेकनीयती बता देना चाहता था। उसने अपनी जेब से एक चिट्ठी निकाली और 'बहुत तेजी' से उसको पढ़ने लगा। इसमें सोलह प्रस्ताव थे जिन्हें जर्मन-सरकार ने पोलिश प्रतिनिधि के सामना के लिए तैयार किया था। इसकी शर्तों बहुत ही संतोषजनक थीं। इनमें कहा गया था कि डान्जिंग शीघ्र ही जर्मनी को वापस लौटा दिया जाय। पोलिश गलियारे को एक साल के लिए अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में रखा जाय और इस अवधि के समाप्त होने पर वहाँ लोकमत लिया जाय। अगर लोकमत जर्मनी के पक्ष में हुआ तो गलियारा-क्षेत्र में जर्मनी पोलैंड को सुविधा प्रदान करे और लोकमत यदि पोलैंड के पक्ष में हुआ तो जर्मनी को इस क्षेत्र में सुविधा प्राप्त हो। ये सब प्रस्ताव काफी अच्छे थे और इसके आधार पर समझौता हो सकता था। हण्डरसन ने इस प्रस्ताव की एक प्रति माँगी, पर रिबनट्रोप ने उसको देने से इन्कार कर दिया कि निर्धारित समय तो पोलिश प्रतिनिधि नहीं पहुँचा है और इसके आधार पर अब वार्ता करना ही बेकार है। हण्डरसन ने पूछा कि पोलिश-राजदूत लिप्सकी को बुलाकर उसके सामने इन प्रस्तावों को क्यों नहीं रखा गया है ? रिबनट्रोप ने जवाब दिया—"मैं पोलिश-राजदूत को नहीं बुला सकता। हाँ, अगर राजदूत मिलने के लिए स्वयं अनुरोध करे तो यह दूसरी बात होगी।" हण्डरसन लिखता है—"उस रात मैं निराश होकर दूतावास लौटा। शान्ति की अन्तिम आशाएँ समाप्त हो चुकी थीं।"

दूतावास लौटकर सुबह में हैण्डरसन पर लिप्सकी से बातचीत की और रात की घटनाओं से उसको अवगत कराया। उसने लिप्सकी से अनुरोध किया वह वह जर्मनी के विदेशमंत्री से मिलने का प्रयास करे। 31 अगस्त को सुबह आठ बजे लिप्सकी ने रिबनट्रोप से अनुरोध किया कि वह उससे मिलना चाहता है। 6 बजे संध्या को लिप्सकी को जर्मनी परराष्ट्र मंत्रालय में बुलाया गया। इसके पूर्व लिप्सकी को अपनी सरकार से यह आदेश मिल चुका था कि यदि सोलह-सूत्री प्रस्ताव अन्तिमेत्थम के रूप में न हो तो वह उन्हें स्वीकार कर ले। रिबनट्रोप ने इन प्रस्तावों की एक प्रति लिप्सकी को दे दी। इस पर विचार-विमर्श करने के लिए लिप्सकी अपने परराष्ट्र मन्त्री से टेलीफोन से बातचीत करना चाहता था; लेकिन इस समय तक बर्लिन और वारसा के बीच टेलीफोन की लाईन कट चुकी थी। अपनी सरकार के साथ सम्पर्क स्थापित करने में लिप्सकी असफल रहा। 9 बजे रात को जर्मन रेड़ियो ने सोलह सूत्री प्रस्ताव को जर्मनी की नेकनीयती जताने के लिए प्रसारित कर दिया। 1 सितम्बर को खूब सवेरे बिना विधिवत युद्ध की घोषणा किये ही जर्मनी सेनाओं ने पोलैंड पर अपना आक्रमण आरम्भ कर दिया। यह द्वितीय विश्वयुद्ध का श्रीगणेश था।

आक्रमण से पोलैंड की रक्षा करने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस वचनबद्ध थे और जिस समय हिटलर का हमला शुरू हुआ उसी समय उनको युद्ध के मैदान में कूद पड़ना चाहिए था; लेकिन मुसोलिनी के हस्तक्षेप के कारण ब्रिटेन और फ्रांस की युद्ध-घोषणा दो दिनों तक रुक गयी। उनका कहना था कि यदि अभी भी

पोलैंड से जर्मन सेना वापस लौट आयी तो वे युद्ध घोषित नहीं करेंगे। ब्रिटिश-सरकार ने 3 सितम्बर को ग्यारह बजे दिन तक जर्मन सेना को पोलैंड से वापस बुला लेने के लिए अन्तिमेत्थम् दे दिया। उस समय तक जर्मन सेना वापस नहीं लौटायी गयी और ब्रिटेन ने युद्ध की घोषणा कर दी। उसके कुछ घण्टों बाद फ्रांस ने भी युद्ध के शंख बजा दिये।

FOOT NOTES

1. "How horrible, fantastic, incredible it is that we should be digging trenches and trying of gas masks here because of a quarrel in a far away country between people of whom we know nothing."
2. "The peace of Munich was the greatest triumph to date of Hitler's strategy of terror. It was the culmination of appeasement and the warrant of the death for Western powers"

—***Schuman,*** *International Politics, p. 698*

अध्याय 35

द्वितीय विश्व-युद्ध
(Second World-War)

लगभग बीस साल की 'शांति' के बाद 1 सितंबर, 1939 के दिन युद्ध की अग्नि ने फिर सारे यूरोप को अपनी लपटों में समेट लिया और कुछ ही दिनों में यह संघर्ष विश्वव्यापी हो गया। विगत दो दशाब्दियों के इतिहास के अध्ययन के बाद यह प्रश्न पूछना स्वाभाविक है कि शांति स्थापित रखने के अथक प्रयास के बाद भी द्वितीय विश्व-युद्ध क्यों छिड़ गया ? क्या संसार के लोग और विविध देशों के शासक यह चाहते थे ? नहीं; बात बिल्कुल ऐसी नहीं थी। समूचे संसार में शायद कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसा नहीं था जो युद्ध की कामना करता हो। बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष तथा सभी वर्ग की जनता शांति चाहती थी। इसी तरह यूरोप की कोई भी सरकार युद्ध नहीं चाहती थी। यहां तक कि जर्मन सरकार भी युद्ध से बचना चाहती थी। स्वयं हिटलर भी युद्ध नहीं चाहता था। अंतिम समय तक हिटलर का यही विचार था कि संकट पैदा करके, धौंस देकर, डरा-धमकाकर पोलैंड से डान्जिंग छीन लिया जाय। वह जानता था कि युद्ध से उसका सर्वनाश हो जायगा। बिना युद्ध किये ही विजय हासिल कर लेना उसकी चाल थी। वास्तव में युद्ध के बिना विजय के सिद्धांत पर ही उसकी सारी मान-मर्यादा निर्भर थी, पर ऐसा नहीं हो सका। किसी की इच्छा नहीं होने पर भी युद्ध छिड़ गया। ऐसा क्यों हुआ और इसके लिए कौन जिम्मेवार था ?

वर्साय-व्यवस्था की त्रुटियां : 1919 के पेरिस शांति-सम्मेलन में शांति का महल नहीं खड़ा किया जा सकता था। उस समय यह आम विश्वास था कि वर्साय संधि के द्वारा एक ऐसे विष-वृक्ष के बीज का आरोपण किया गया है जो कुछ ही समय में एक विशाल संहारक वृक्ष के रूप में खड़ा हो जायगा और उसका कटु फल सबों को बुरी तरह चखना पड़ेगा। कहा जाता था कि विलसन के आदर्शवादी सिद्धांत के आधार पर वर्साय व्यवस्था की स्थापना हुई थी लेकिन यह बात सर्वथा गलत है। विलसन के आदर्शों को किसी भी स्थान पर नहीं अपनाया गया था। पराजित राज्यों के सम्मुख 'आरोपित संधियों' को स्वीकार करने के सिवा कोई चारा नहीं था। उसके लिए यही बुद्धिमानी थी कि वे आंख मींचकर कठोर संधि के कड़वे घूंट को चुपचाप कंठ के नीचे उतार लें। लेकिन, यह स्थिति अधिक दिनों तक टिकनेवाली नहीं थी। यह निश्चित था कि कभी-न-कभी वह समय अवश्य आयगा जब जर्मनी एक शक्तिशाली राज्य बनेगा और वर्साय के घोर अपमान का बदला अपने शत्रुओं से लेगा। विजय के मद में चूर मित्रराष्ट्रों ने इस बात पर जरा भी ध्यान नहीं दिया कि जर्मनी के साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार करके वे भविष्य के लिए कितने खतरनाक कांटे बो रहे हैं।

वर्साय-व्यवस्था की दूसरी कमजोरी भी थी। इसके द्वारा यूरोप में अनेक 'खतरा के केन्द्रों' का निर्माण हुआ था। कहा जाता है कि इस व्यवस्था के कारण यूरोप का 'बाल्कनीकरण' (balkanization) हो गया था। झूठी राष्ट्रीयता के नाम पर यूरोप का टुकड़ा-टुकड़ा कर दिया गया था और पुराने साम्राज्यों के स्थान पर असंख्य छोटे-छोटे राज्य पैदा हो गये थे। प्रायः ये सब राज्य भविष्य के खतरे के तूफानी केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त वर्साय व्यवस्था के द्वारा सुडेटेन लैंड, डान्जिंग, पोलिश गलियारे जैसे असंख्य ऐल्सस-लोरेन पैदा

हो गये थे। यह निश्चित था कि उपयुक्त समय आने पर इन खतरनाक केन्द्रों में संकट उपस्थित होंगे और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर उनका बहुत बुरा असर पड़ेगा, लेकिन 1919 के राजनेता शायद इसकी कल्पना नहीं कर सके। हिटलर के उत्कर्ष में इस बात से बड़ी मदद मिली थी। अतएव यदि वर्साय-व्यवस्था को युद्ध का कारण माना जाय तो कुछ गलत न होगा।

ब्रिटिश नीति : इसमें कोई शक नहीं कि जमाने से शक्ति-संतुलन का सिद्धांत ब्रिटिश विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण तत्व रहता आया है, पर युद्धोत्तर काल की ब्रिटिश विदेश नीति में इस तत्व पर अधिक जोर देना इतिहास के साथ अन्याय करना होगा। वास्तव में इस काल को ब्रिटिश विदेश नीति में शक्ति संतुलन का सिद्धांत उतना प्रबल नहीं था जितना रूसी साम्यवाद के प्रसार को रोकने का प्रश्न था। जिस ब्रिटिश नीति को तुष्टीकरण (appeasement policy) की नीति कहा जाता है, वह वास्तव में 'प्रोत्साहित करो की नीति' थी। साम्राज्यवादी ब्रिटेन की सबसे बड़ी समस्या जर्मनी नहीं, वरन् साम्यवादी प्रसार को रोकना था। इस काल में ब्रिटेन में नीति-निर्धारकों का यह अनुमान था कि एशिया में जापान और सोवियत संघ तथा यूरोप में जर्मनी और सोवियत संघ भविष्य के वास्तविक प्रतिद्वंद्वी हैं। अगर इन शक्तियों को आपस में लड़ाता रहा जाय और इस तरह एक दूसरे पर रुकावट डालते रहें तो ब्रिटेन निर्विरोध अपने विश्वव्यापी साम्राज्य को कायम रखे रह सकता है। ब्रिटेन की नीति यह थी कि फ्रांस के साथ असहयोग करके उसपर दबाव डालकर हिटलर, मुसोलिनी और हिरोहितो को साम्यवादी रूस के खिलाफ उभाड़ा जाय और उसकी सहायता करके साम्यवादी रूस का विनाश करवा दिया जाय। इसमें शक्ति संतुलन का कोई सिद्धांत काम नहीं कर रहा था; क्योंकि सोवियत संघ अभी बहुत कमजोर था।

ब्रिटिश शासकों की यह नीति गलत तर्क पर आधारित थी। इसका कारण यह था कि उस समय ब्रिटेन की नीति का निर्धारण कुछ अनुभवहीन तथा साम्यवाद विरोधी व्यक्तियों के हाथ में था। कर्नलब्लिम्प, चेम्बरलेन, बैंक ऑफ द इंग्लैंड के गवर्नर मांटेग्यू नारमन, लार्ड वेभरब्रूक, जेकोव अस्टर (लंदन टाइम्स) तथा गार जैसे पत्रकार, डीन इक जैसे लेखक, कैन्टरबरी के आर्कविशप तथा अनेक पूंजीपति तथा जमींदार और प्रतिक्रियावादी इस गुट के प्रमुख सदस्य थे और लोगों के हाथों में भाग्य-निर्धारण का काम था। जिस देश के नीति-निर्धारण में ऐसे लोगों का हाथ हो वहां की नीति साम्यवादी विरोधी नहीं तो और क्या हो सकती थी ? चेम्बरलेन इस दल का नेता था, इन लोगों के हाथ की कठपुतली। मई, 1937 में चेंबरलेन ब्रिटेन का प्रधानमंत्री बना। तथाकथित तुष्टीकरण की नीति का वह प्रतिमूर्ति ही था। चेकोस्लोवाकिया का विनाश भी इसी उद्देश्य से कराया कि इससे हिटलर प्रोत्साहित होकर सोवियत संघ पर चढ़ाई कर देगा। इसी भावना से प्रेरित होकर वह पोलैंड के विनाश में भी अपना सहयोग देने को तैयार था। किन्तु हिटलर की ज़िद के कारण वह अपने इस कुकार्य में सफल नहीं हो सका। उसकी इसी नीति का परिणाम सारे संसार को भुगतना पड़ा।

वचन विमुखता : हॉब्स ने लिखा है कि जब मनुष्य अपने दिए हुए वचनों का पालन नहीं करते, संधि की शर्तों को पूरा करने में हिचकिचाते हों तो वैसी स्थिति में हम युद्ध की स्थिति और 'प्राकृतिक अवस्था' में रहते हैं। अपने द्वारा दी गयी प्रतिज्ञाओं पर नहीं टिकना सबसे बड़ा अपराध है। ऐसा करके मनुष्य केवल अपने ही प्रति नहीं बल्कि उस व्यक्ति के प्रति भी अन्याय करता है, जिसके साथ वह कुछ प्रतिज्ञा किये रहता है। राष्ट्रसंघ के विधान पर हस्ताक्षर करके सभी सदस्य-राज्यों ने वादा किया था कि वे सामूहिक रूप से सब की प्रादेशिक अखंडता और राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा करेंगे। लेकिन जब मौका आया तब सब-के-सब पीछे हट गए। जापान चीन पर बलात्कार करता रहा, इटली अबीसीनिया को रौंदता रहा। दोनों आक्रांत देश राष्ट्रसंघ के सदस्य थे; पर किसी ने कुछ नहीं किया। इसके बाद चेकोस्लोवाकिया की बारी आयी। फ्रांस चेकोस्लोवाकिया की रक्षा करने के लिए वचनबद्ध था। लेकिन, जब समय आया तो वह अपने मित्र

को बचाने तो नहीं ही गया, उल्टे उसके विनाश में सहायक हो गया। म्यूनिख समझौते के द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस परिवर्तित चेक-सीमा को गारन्टी दिये हुए थे, पर जब हिटलर बचे हुए प्रदेश को भी हड़पने लगा तो किसी ने उसका विरोध नहीं किया। इससे बढ़कर विश्वासघात और क्या हो सकता था? इस नीति का परिणाम यह हुआ कि छोटे-छोटे राज्यों का विश्वास जो अपनी सुरक्षा के लिए बड़े राष्ट्रों पर ही निर्भर थे, बड़े राष्ट्रों पर से उठने लगा। इससे भी बढ़कर इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि धोखेबाजी की नीति से आक्रामक प्रवृत्तियों को काफी प्रोत्साहन मिला। जापान ने चीन पर आक्रमण किया और उसे कोई दण्ड नहीं मिला। मुसोलिनी को इससे प्रोत्साहन मिला और उसने अबीसीनिया पर चढ़ाई कर दी। अबीसीनिया पर आक्रमण करनेवाले को कोई दण्ड नहीं मिला। इसलिए हिटलर ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को हड़प लिया। आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण का भी कोई विरोध नहीं हुआ। इस कमजोरी से फिर लाभ उठाकर हिटलर ने पोलैंड पर चढ़ाई कर दी। अगर सभी राष्ट्र अपने दिये गये वचनों का पालन करते रहते और आक्रमण के अवसर पर सन्धि के अनुसार अपने साथियों की मदद करते रहते तो आक्रामक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिलता और दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने से बच जाता।

गुटबन्दी : आधुनिक युग में दुनिया के अधिकतर लोगों के मन में यह एक अंधविश्वास जम गया है कि सैन्य-सन्धि गुटबन्दी से विश्व-शान्ति कायम रखी जा सकती है। शान्ति बनाये रखने के नाम पर यूरोपीय राज्यों के बीच विविध सैन्य संधियाँ हुईं; जिसके फलस्वरूप यूरोप फिर से दो विरोधी गुटों में बंध गया। एक गुट का नेता जर्मनी था और दूसरे का फ्रांस। इस गुटबन्दियों पर पहले ही काफी प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ पर यह कह देना अनुचित नहीं कि इन गुटों के मूल में दो बातें थीं—एक सैद्धान्तिक समानता और दूसरी हितों की एकता। इटली जापान और जर्मनी एक सिद्धान्त (फासिस्टवाद) में विश्वास करते थे। वर्साय-सन्धि से उनको समान रूप से शिकायत थी और उसका उल्लंघन करके अपनी शक्ति को बढ़ाने में उनका एक समान हित था। इसके विपरीत फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड इत्यादि देशों का एक हित था। वर्साय-व्यवस्था से उन्हें काफी लाभ पहुँचा था और इसलिए यथास्थिति बनाये रखने में ही उनका हित था। बहुत दिनों तक ब्रिटेन इस गुट में शामिल नहीं हुआ, पर अधिक दिनों तक ब्रिटेन गुट से अलग नहीं रह सका। परिस्थिति से बाध्य होकर उसे भी इस गुट में सम्मिलित होना पड़ा। उधर रूस की हालत कुछ दूसरी ही थी। साम्यवादी होने के कारण पूंजीवादी और फासिस्टवादी दोनों गुट उससे घृणा करते थे और कोई उसको अपने गुट में सम्मिलित करना नहीं चाहता था। पर, जब यूरोप की स्थिति बिगड़ने लगी तो दोनों गुट उसे अपने-अपने गुट में शामिल करने के लिए प्रयास करने लगे। अन्त में जर्मनी को इस प्रयास में सफलता मिली और सोवियत संघ उसके गुट में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार युद्ध आते-आते यूरोप दो स्पष्ट विरोधी गुटों में फिर से विभक्त हो गया। इसके फलस्वरूप यूरोप का वातावरण दूषित होने लगा तथा राष्ट्रों के बीच मनमुटाव पैदा होने लगा। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के गुट को अपने सीने पर तनी हुई कटार की भाँति समझने लगे और उससे बचने के उपाय करने लगे। राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध बिगाड़ने में इन गुटबन्दियों का कम हाथ नहीं था। इस दृष्टि से गुटबन्दियां द्वितीय विश्व-युद्ध का बहुत बड़ा कारण थीं।

हथियारबन्दी : जब राष्ट्र के बीच मनमुटाव पैदा होने लगता है, एक देश दूसरे देश से सशंकित होने लगता है तो वे अपनी सुरक्षा के प्रबन्ध में जुट जाते हैं। इस अवस्था में सुरक्षा का एकमात्र उपाय हथियारबन्दी समझा जाता है। जो राष्ट्र जितना अधिक शक्तिशाली होगा, जिसके पास जितनी अधिक सेना रहेगी, वह अपने को उतना ही अधिक शक्तिशाली समझता है। इस सिद्धान्त में यूरोप के सभी राज्य विश्वास करते थे। युद्ध के बाद जर्मनी यद्यपि बिल्कुल पस्त पड़ा हुआ था, फिर फ्रांस को जर्मनी से काफी भय था। इसलिए वह हथियारबन्दी में हमेशा लगा रहता था। युद्ध के बाद भी वह सैनिक शक्ति में सर्वप्रथम स्थान

रखता था। हर वर्ष उसका सैनिक बजट बढ़ता ही जाता था। प्रथम महायुद्ध में फ्रांस की सीमा को जर्मनी बड़ी आसानी से पार कर गया था। अतः भावी जर्मन आक्रमण से बचने के लिए फ्रांस ने 1937 में स्विट्जरलैंड की सीमा से डेनकर्क तक किलों की एक शृंखला तैयार की जिसको मैगिनों (Magiono) लाइन कहते हैं।

1935 में जब संसार की स्थिति काफी बिगड़ गयी तो ब्रिटेन में भी हथियारबन्दी शुरू हो गयी। फ्रांस के साथी देशों में यह पहले से ही जारी था। ब्रिटेन का अनुकरण करते हुए वे देश भी हथियारबन्दी करने लगे, जो अभी तक चुप बैठे थे। इस समय तक जर्मनी में नात्सी क्रान्ति हो चुकी थी। हिटलर ने वर्साय की सन्धि की उस शर्त को जिसके द्वारा जर्मनी पर सैनिक पाबन्दियां लगी दी गयी थीं, सबसे पहले मानने से इन्कार कर दिया और जोर-जोर से हथियारबन्दी करने लगा। कुछ ही दिनों में जर्मनी की सैन्य-शक्ति भी काफी बढ़ गयी। उसका 'वेहरमक्टे' (थलसेना) और 'लुफ्टवाफै' (वायु-सेना) संसार की सबसे शक्तिशाली सैन्य-शक्ति थी। फ्रांस की मैगिनों-लाईन के जवाब में उसने भी एक समानान्तर सीगफीड लाइन बनायी, जो किसी भी हालत में फ्रांस की किलाबन्दी से कम नहीं थी। इस प्रकार देखते-देखते सारा यूरोप एक शस्त्रागार हो गया। सभी देशों में सैनिक-सेवा अनिवार्य कर दी गयी। राष्ट्रीय बजट का अधिकांश सेना पर खर्च होता था। वर्षों तक राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में इस बात का प्रयास होता रहा कि हथियारबन्दी की होड़ रुक जाय। लेकिन, राष्ट्रसंघ को सफलता नहीं मिली और यूरोप में शस्त्रीकरंण की दौड़ होती रही। इस सैनिक तैयारी को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जाने लगा कि युद्ध अब अवश्यम्भावी है और उसके लिए तैयार रहना ही ठीक है।

राष्ट्रसंघ की भ्रामक शक्ति : प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी थी कि वह संसार में शान्ति कायम रखेगा। लेकिन, जब समय बितने लगा और परीक्षा का अवसर आया तो राष्ट्रसंघ एक बिल्कुल शक्तिहीन संस्था साबित हुआ। जहां तक छोटे-छोटे राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों का प्रश्न था, राष्ट्रसंघ को उनमें कुछ सफलता मिली; लेकिन जब बड़े राष्ट्रों का मामला आया तो राष्ट्रसंघ कुछ भी नहीं कर सका। जापान ने चीन पर चढ़ाई कर दी और इटली ने अब सीसिनिया पर हमला किया, पर राष्ट्रसंघ उसको रोकने में बिल्कुल असमर्थ रहा। अधिनायकों को पता चला कि राष्ट्रसंघ बिल्कुल शक्तिहीन संस्था है और वे जो चाहे कर सकते हैं। पर, राष्ट्रसंघ की असफलता के लिए उस संस्था को दोष देना ठीक नहीं है। **चर्चिल** ने ही कहा था कि "राष्ट्रसंघ की असफलता के लिए राष्ट्रसंघ दोषी नहीं है, वरन् उसके सदस्य दोषी हैं।" राष्ट्रसंघ राज्यों की एक संस्था थी और उनका कर्तव्य था कि वे उस संस्था को सफल बनायें। राष्ट्रसंघ ने अबीसीनिया पर आक्रमण करने के अपराध में इटली को दण्ड दिया। उसके विरुद्ध आर्थिक पाबन्दियां लगाई गयीं लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस ने इसमें राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग नहीं किया। राष्ट्रसंघ की निष्क्रियता के जो भी कारण हों लेकिन उस पर से लोगों का विश्वास जाता रहा और जिस उद्देश्य से इसकी स्थापना हुई थी उसकी पूर्ति करने में वह सर्वथा असफल रहा।

युद्ध की लपटो में

नात्सी विद्युत प्रहार : 1 सितम्बर, 1939 को उस विध्वंसकारी द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ जिससे बचने के लिए विगत दो दशाब्दियों से यूरोप के राजनीतिज्ञ प्रयास करते आ रहे थे। यह हिटलर की आक्रामक नीति तथा ब्रिटेन और फ्रांस की तुष्टिकरण नीति का तार्किक परिणाम था। सितम्बर, 1939 में जो द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हुआ वह अगस्त, 1945 तक चलता रहा। छह वर्षों तक चलने वाले इस युद्ध ने अनेक चढ़ाव-उतार देखे। 1942 के मध्य तक हिटलर की सेनाएँ यूरोप को रौंदती रहीं, एक के बाद दूसरे देश को कुचलती रहीं। इतनी छोटी अवधि में लगभग सारा यूरोप उसके पांवों पर लौटने लगा था। वह इतने बड़े भू-भाग का स्वामी बन चुका था जिसकी कल्पना सिकन्दर और नेपोलियन जैसे विजेता भी नहीं कर सके थे।

अटलान्तिक से वोल्गा तक और भूमध्यसागर से काकेशश तक उसकी तूती बोलने लगी थी। किन्तु, 1942 के अन्तिम दिनों में स्थिति ने पलटा खाया और हिटलर का सितारा कमजोर पड़ने लगा। इस समय तक महायुद्ध केवल यूरोपीय युद्ध ही नहीं रह गया था। युद्ध में जापान, अमेरिका और सोवियत संघ के प्रवेश के कारण इसका स्वरूप विश्व-व्यापी युद्ध के रूप में परिवर्तित हो चुका था। द्रुतगति से घटनेवाली इन घटनाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

पोलैंड का युद्ध : पोलैंड पर हिटलर का आक्रमण द्वितीय विश्वयुद्ध का तात्कालिक कारण था। मार्च, 1939 में चेकोस्लोवाकिया के पूर्ण विनाश के तुरन्त ही बाद हिटलर ने निर्णय कर लिया कि उसका दूसरा प्रहार पोलेंड पर होगा लेकिन इसमें कुछ दिक्कतें थीं। चेकोस्लोवाकिया पर आधिपत्य के बाद ब्रिटेन और फ्रांस पोलैंड की प्रादेशिक अखंडता की गारंटी दे चुके थे। पहले की अपेक्षा अब उसका रुख कड़ा हो चुका था। उधर सोवियत संघ भी पोलैंड के विनाश को चुपचाप बैठे नहीं देख सकता था। यह ठीक है कि पोलैंड के शासक कट्टर सोवियत विरोधी थे और इसलिए हिटलर के हाथों उनका विनाश होते देख सोवियत संघ को खुशी ही होती, पर स्वयं सोवियत संघ का राष्ट्रीय हित इस बात में था कि वह पोलैंड पर जर्मनी का आधिपत्य कायम न होने दे। मीनकैम्प में हिटलर ने स्पष्ट कर दिया था कि उसका अन्तिम उद्देश्य सोवियत संघ को हड़पना और साम्यवाद का जड़मूल से विनाश करना है। सोवियत संघ के नेता हिटलर के इन विचारों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। अत: यह सम्भव था कि पोलैंड में हिटलर का विरोध स्टालिन भी करे। ब्रिटेन और फ्रांस पहले ही पोलैंड को गारन्टी दे चुके थे। इस परिस्थिति में पोलैंड पर हमला करने पर हिटलर को दो मोर्चा - पूर्व और पश्चिम पर युद्ध करना पड़ता। हिटलर इस सम्भावना से बचना चाहता था। अत: उसने सोवियत संघ से समझौता कर लेना ही ठीक समझा। 21 अगस्त, 1939 को रूसी-जर्मन अनाक्रमण सन्धि हिटलर के इन्हीं विचारों का परिणाम था। सोवियत संघ से समझौता करके हिटलर पूर्वी मोर्चा की तरफ से निश्चिन्त हो गया और पोलैंड पर हमला करने की तैयारी करने लगा। डान्जिंग और पोलिश गलियारे को लेकर युद्ध का बहाना भी मिल गया और 1 सितम्बर को पोलैंड को बिना विधिवत सूचित किये, बिना अन्तिमेत्थम दिये हुए जर्मनी ने पोलैंड पर चढ़ाई कर दी। यह द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारम्भ था।

शुक्रवार, पहली सितम्बर के चार बजे सुबह, में जब सारा यूरोप अभी सोया हुआ था कि हिटलर की सेना पोलैंड की सीमा पार कर गयी। यह असल विद्युत प्रहार (blitzkrieg) था। बिजली की तड़क की तरह विशाल जर्मन सेना पोलैंड पर एकाएक टूट पड़ी। एक तरफ से जर्मन लुफ्तयाफ (Luftwaffe) ने पोलैंड पर गोलाबारी करके उसके यातायात के साधन जैसे रेलवे, हवाई मैदान और बड़े-बड़े फैक्ट्रियों को नष्ट कर दिया। हवाई हमले के साथ-साथ जर्मनी बेहरमक्ट (Wehrmacht) पोलैंड को रौंदती हुई आगे बढ़ने लगी। बहुत दिनों से सारी दुनिया इन सेनाओं की सामरिक साधनों के विषय में सुनती आ रही थी। लेकिन उस दिन पोलैंड को पहले-पहल इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। पोलिश सेना की आंखें चकाचौंध हो गयीं। यहां तक कि पोलैंड के सैनिक अफसर ठीक से अपनी सेना की युद्धबन्दी भी नहीं कर सके। टैंकों, ट्रकों और लारियों पर सवार जर्मन सेना पोलैंड में इतनी द्रुतगति से घुसी कि पोलिश सेना को उसका मुकाबला करने का मौका ही नहीं मिला। 27 सितम्बर तक पोलैंड का काम तमाम हो चुका था। उस दिन पोलैंड ने जर्मनी के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया।

इसी बीच 3 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस अपने वादे के अनुसार जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर चुके थे। ब्रिटिश युद्ध उद्घोषणा के बाद कामनवेल्थ के राज्यों (आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रिका तथा कनाडा) ने भी जर्मनी के खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया। नयी दिल्ली से एक घोषणा निकालकर वायसराय ने भारत को भी युद्ध में सम्मिलित कर लिया। पोलैंड का ब्रिटेन और फ्रांस के द्वारा सैनिक मदद भेजने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था, क्योंकि वहां के सभी यातायात के साधन और हवाई मैदानों पर जर्मनी

का अधिकार हो चुका था। यूरोप के अन्य भागों में ऐसी घटनाओं को घटते देख सोवियत संघ चुपचाप नहीं बैठ सकता था। सम्पूर्ण पोलैंड पर जर्मनी का अधिकार हो जाने से जर्मनी और सोवियत संघ की सीमाएँ मिल जाती थीं। इससे सोवियत सुरक्षा को खतरा था। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह आवश्यक था कि पोलैंड के पूर्वी हिस्से पर सोवियत संघ अपना आधिपत्य कायम कर ले। अत: 17 सितम्बर को सोवियत संघ ने भी पोलैंड पर आक्रमण करके उसके पूर्वी क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमा लिया। 28 सितम्बर को जर्मनी और सोवियत संघ में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार पोलैंड को जर्मन और सोवियत क्षेत्रों में विभाजित कर लिया गया। यह पोलैंड का चौथा विभाजन था। जिसके फलस्वरूप पोलैंड एक बार फिर से दुनिया के नक्शे से विलीन हो गया।

पोलिश युद्ध के समय सबसे मार्के की बात यह थी कि पोलैंड ने अपने बचाव के लिए कभी भी राष्ट्रसंघ से अपील नहीं की। राष्ट्रसंघ अभी भी जीवित था और पोलैंड जर्मनी के विरुद्ध अपना मामला उसके पास ले जा सकता था लेकिन राष्ट्रसंघ को एक बेकार संस्था बनाने में पोलिश नेताओं ने स्वयं योगदान दिया था और उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचते देर न लगी कि राष्ट्रसंघ से अपील करना व्यर्थ है। ब्रिटेन और फ्रांस ने भी इसकी आवश्यकता नहीं समझी।

रूसी आक्रमण : पोलैंड के एक हिस्से पर आधिपत्य जमा लेने से ही सोवियत सुरक्षा की समस्या का समाधान नहीं हो रहा था। भावी खतरे से बचने के लिए सोवियत संघ के लिए यह अति आवश्यक था कि वह इस्तोनिया, लैटविया और लिथुएनिया पर अपना प्रभाव क्षेत्र कायम कर ले। जर्मनी उस समय पश्चिमी मोर्चो पर ब्रिटेन और फ्रांस के साथ व्यस्त था। इस मौके से लाभ उठाकर सोवियत संघ ने बाल्टिक के उपरोक्त तीन राज्यों के विदेश मन्त्रियों को मास्को बुलाया गया और तीनों के साथ सोवियत संघ ने पारस्परिक सहयोग की सन्धियां कर लीं। इन सन्धियों के अनुसार सोवियत संघ को उपरोक्त तीनों राज्यों में सेना रखने की अनुमति मिल गयी। बदले में सोवियत संघ ने इन राज्यों को प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखने का वादा किया। लिथुएनिया को विलना का प्रदेश, जिस पर वह वर्षों के आंखें गड़ाए हुए थे, प्राप्त हो गया। सन्धि की शर्तों को देखकर किसी को इस बात में संदेह नहीं रह गया कि वह समय दूर नहीं जब ये राज्य पूर्ण रूप से सोवियत संघ में मिला लिये जायेंगे। ब्रिटेन और जर्मनी ने इस व्यवस्था को मानने से इन्कार किया, पर जर्मनी ने मान्यता दे दी और इस क्षेत्र के जर्मन निवासियों को वहां से हटा लिया गया।

तीन बाल्टिक देशों में सोवियत सैनिक अड्डों के कायम हो जाने से सोवियत सुरक्षा की समस्या बहुत हद तक हल हो गयी। फिर भी सोवियत नेता यह अनुभव करते रहे कि लेनिनग्राड की रक्षा तबतक ठीक से नहीं हो सकती है जबतक इसके इर्द-गिर्द के भू-भाग और समुद्र पर सोवियत प्रभाव न कायम हो जाय। इसके लिए फिनलैंड को सोवियत प्रभाव क्षेत्र में लाना आवश्यक था। अक्टूबर से सोवियत सरकार फिन सरकार से वार्ताएँ करने लगी। उसका विचार था कि बाल्टिक राज़्यों की तरह फिनलैंड भी सोवियत सरकार को विशेष सुविधा प्रदान करे। फिनलैंड ने सोवियत सरकार की सभी मांगों को स्वीकार कर लिया। किन्तु उसने हैगो के बन्दरगाह को देने से इन्कार कर दिया, क्योंकि इसी स्थान पर फिन सरकार की सारी सुरक्षा-व्यवस्थाएँ केन्द्रीभूत थीं। हैगो के प्रश्न को लेकर सोवियत फिन वार्तालाप ठप्प पड़ गया। 26 नवम्बर को मोलोतोव ने फिनलैंड पर यह आरोप लगाया कि उसके सीमान्त सन्तरियों ने सोवियत सैनिकों पर गोली चलायी है। सोवियत-फिन वार्तालाप भंग हो गया और मास्को ने 1932 के सोवियत-फिन समझौते को तोड़ कर फिनलैंड पर चढ़ाई कर दी।

आक्रमण होने पर फिनलैंड ने पश्चिमी राज्यों तथा राष्ट्रसंघ में सोवियत संघ के विरुद्ध अपील की। फ्रांस, इटली, स्पेन और ब्रिटेन से फिनलैंड की मदद करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में "स्वयंसेवक" भेजे गये। ब्रिटिश और फ्रांसीसी सरकारों ने फिनलैंड में सेना भेजने के लिए स्वेडन और नार्वे की सरकारों से

रास्ता मांगा। लेकिन तटस्थ होने के नाते इन देशों ने आंग्ल-फ्रांसीसी मांग को अस्वीकार कर दिया। इसी बीच 2 दिसम्बर को फिनलैंड की शिकायत जेनेवा पहुँची। 14 दिसम्बर को राष्ट्रसंघ कौंसिल ने फिनलैंड पर रूसी आक्रमण की शिकायत पर विचार किया। मास्को ने इस समस्या पर बात करने से इन्कार कर दिया। अर्जेन्टाइना ने सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ से निकाल देने की मांग की और कौंसिल ने उसके प्रस्ताव को मान कर सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ से निकाल दिया। जब जापान, इटली और जर्मनी आक्रमण के बाद आक्रमण कर रहे थे, तो किसी को इस तरह का प्रस्ताव लाने की हिम्मत नहीं हुई थी। लेकिन कौंसिल के अधिकांश सदस्य साम्यवाद को फासिस्टवाद से अधिक खतरनाक समझते थे और इसलिए "आक्रामक साम्यवाद" को दण्ड देने के लिए उत्सुक थे। राष्ट्रसंघ विधान को कायम रखने और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की रक्षा करने में जितनी दिलचस्पी सोवियत-संघ ने दिखलायी थी उतनी शायद किसी अन्य राज्य ने नहीं। फिर भी, सोवियत-संघ को राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया लेकिन फिनलैंड को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचा। उसके प्रति यह केवल एक बनावटी सहानुभूति थी। सोवियत-संघ के विरुद्ध कोई पाबन्दी नहीं लगायी गयी। उसका आक्रमण जारी रहा।

जहां तक युद्ध का प्रश्न था छोटा-सा फिनलैंड ने जमकर शक्तिशाली सोवियत-संघ का मुकाबला किया। युद्ध के प्रारम्भिक दिनों नें उसने "लाल सेना" के छक्के छुड़ा दिये। लेकिन स्थिति बदली और फरवरी, 1940 में सोवियत-संघ ने सेना को सुसंगठित कर फिनलैंड पर जोर का धावा बोल दिया। फिनलैंड इस हमले का जवाब नहीं दे सका और 12 मार्च को उसने आत्मसमर्पण कर दिया। उसी दिन फिनलैंड और सोवियत-संघ में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार साम्यवादी रूस को वे सारी सैनिक सुविधाएँ प्राप्त हो गयीं जिनको वह आवश्यक समझता था। फिनलैंड के सोवियत प्रभाव-क्षेत्र में आ जाने से सोवियत-संघ की सुरक्षा की समस्या बहुत अंशों में हल हो गयी। लेकिन फिनलैंड को हराने में जितना समय लगा था और जितनी दिक्कतें उठानी पड़ी थीं, उसके कारण संसार में एक महान् भ्रम फैल गया। लोगों ने समझा कि सोवियत-संघ देखने में ही एक विशाल देश है, पर भीतर से वह खोखला है क्योंकि एक छोटे राज्य को हराने में उसको अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। इसी भ्रम में पड़कर जर्मनी ने पीछे चलकर सोवियत-संघ पर चढ़ाई कर दी।

पश्चिमी मोर्चा : 3 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस के द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा हुई थी। इसके तुरन्त ही बाद ब्रिटिश सेना के 1,58,000 सैनिक फ्रांस भेज दिये गये। ब्रिटेन और फ्रांस की संयुक्त सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति फ्रांसीसी जनरल गामेली बनाया गया। लेकिन अगले छह महीनों तक पश्चिमी मोर्चे के युद्ध में कोई सरगर्मी नहीं रही। इसीलिए एक अमेरिकी पत्रकार ने इस युद्ध को 'ध्वनि-युद्ध' (phony war) कहा था। गामेली ने जर्मनी पर जोरदार आक्रमण नहीं किया यद्यपि उसको ऐसा करना चाहिए था। जर्मनी ने भी मैगिनों लाइन पर प्रहार नहीं किया। हवाई युद्ध की भी यही स्थिति रही। जर्मनी के हवाईबाज, फ्रांस और ब्रिटेन के हवाईबाज भी काम कर रहे थे। कुछ ब्रिटिश विमानों ने जर्मनी पर पर्चे भी गिराये। बात यह थी कि कोई भी युद्धरत देश (beligerent) गोलाबारी करने में पहला कदम उठाना नहीं चाहता था। दोनों इस फेरे में थे कि पहले शत्रु हवाई गोलाबारी करे और तब उसका जवाब दिया जाय। लेकिन, इस समय असल युद्ध समुद्रों पर हो रहा था। ब्रिटेन और फ्रांस का विचार था कि मैगिनों लाइन से फ्रांस और समुद्र से घिरे रहने के कारण ब्रिटेन की सुरक्षा निश्चित है। इन दो देशों पर जर्मनी का हमला सफल नहीं हो सकता। अतएव जर्मनी पर दबाव डालने के लिए उसकी आर्थिक नाकेबन्दी (blockade) को ही आवश्यक समझा गया। नाकेबन्दी को लागू करने के फलस्वरूप समुद्र में जमकर लड़ाई हुई और दोनों पक्षों के बहुत-से जहाज डुबाये गये।

हिटलर के विविध "शान्ति प्रस्तावों" के कारण भी पश्चिमी राष्ट्र इस समय निष्क्रिय हो गये थे। 6 अक्टूबर को पोलैंड की विजय की खुशी मनाते हुए **हिटलर** ने कहा—"जर्मनी को ब्रिटेन और फ्रांस पर कोई दावा नहीं है। इसलिए पश्चिम में युद्ध क्यों जारी रखा जाय ? क्या पोलैंड के लिए ? वर्साय-सन्धि द्वारा स्थापित पोलैंड अब कभी भी अपना सिर नहीं उठा सकेगा।" यह भीषण युद्ध को बन्द कर शान्ति स्थापित करने की तरफ एक संकेत था। लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस हिटलर के झूठे वादों से इतना परिचित हो चुके थे कि उसकी बातों पर विश्वास करना असम्भव था। चेम्बरलेन और दलादिये दोनों ने "शान्ति प्रस्तावों" को अस्वीकार कर दिया।

इटली का रुख : मुसोलिनी जर्मनी और इटली के समझौतों को "लौह सन्धि" (iron pact) कहा करता था, लेकिन जब जर्मनी लड़ाई में फँस गया तो मुसोलिनी ने हिटलर की कोई मदद नहीं की। वह तटस्थ बना रहा। वह सोवियत संघ के प्रति जर्मनी से नये रूख को देखकर चिन्तित हो रहा था। फिनलैंड के युद्ध में इटली की सरकार ने फिन सरकार को कुछ सैनिक मदद भी दी, पर जर्मनी चाहता था कि इटली अपनी इस नीति को बदले और जर्मनी की सहायता करे। 10 मार्च, 1940 को जर्मनी विदेश-मन्त्री रिबनट्रोप रोम गया, लेकिन वह इटली के नेताओं को प्रभावित नहीं कर सका। मुसोलिनी को छोड़कर किसी ने उससे ठीक से बात भी नहीं की। इस पर 18 मार्च को मुसोलिनी से मुलाकात करने के लिए स्वयं हिटलर इटली आया, लेकिन इस मुलाकात के परिंणामस्वरुप भी इटली की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मुसोलिनी की सारी सहानुभूति हिटलर के पक्ष में थी, पर मुसोलिनी की इस नीति को उसके अन्य साथियों का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका।

नार्वे और डेनमार्क पर आक्रमण : ब्रिटेन और फ्रांस के विरुद्ध जोरदार लड़ाई छिड़ने के पहले हिटलर नार्वे ओर डेनमार्क पर अधिकार कर लेना चाहता था। सामरिक दृष्टिकोण से यह आवश्यक भी था। ब्रिटिश नौ-सेना पर आक्रमण करने के लिए इन देशों में महत्त्वपूर्ण सैनिक अड्डे थे। इसके अतिरिक्त इन देशों के अपार प्राकृतिक साधन, लोहे की खान तथा खाद्य सामग्री को भी हथियाया जा सकता था। इसलिए 1939 के शीतकाल में जर्मनी नार्वे और डेनमार्क पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगा। नार्वे में पहले से ही एक नात्सी पार्टी थी। जर्मनी नात्सी नेताओं ने नार्वे के नात्सी नेता मेथर क्विसलींग (Quisling) से सम्पर्क स्थापित किया। क्विंसलींग दिसम्बर के महीने में हिटलर से मिलने स्वयं बर्लिन गया, पर इन देशों पर आक्रमण करने में कुछ दिक्कतें थीं। स्केनडेवियाई देश परम्परा से तटस्थ देश रहते आये थे और स्वयं हिटलर कई बार उनकी तटस्थता की रक्षा करने का वादा कर चुका था। इसके अतिरिक्त डेनमार्क और जर्मनी के बीच एक अनाक्रमण सन्धि भी थी। इन देशों पर आक्रमण करने के लिए हिटलर को शीघ्र बहाना मिल गया। जिस समय फिनलैंड पर सोवियत आक्रमण हुआ था उस समय फिनलैंड को मदद पहुँचाने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस नार्वे और स्वेडन की सरकारों से रास्ता प्राप्त करने के लिए बातचीत कर रहे थे। यद्यपि नार्वे और स्वेडन ने इस मांग को अस्वीकार कर दिया तो भी हिटलर को एक बहाना मिल गया। इन देशों को ब्रिटिश आधिपत्य से बचाने के लिए जर्मनी ने अपना आक्रमण शुरू कर दिया।

9 अप्रैल, 1940 को जर्मन सेना ने एकाएक नार्वे पर धावा बोल दिया। दूसरे दिन डेनमार्क पर भी लड़ाई हो गयी। डेनिश सरकार ने तुरन्त आत्मसमर्पण कर दिया और सारा डेनमार्क जर्मनी संरक्षणता में ले लिया गया। लेकिन नार्वे ने जर्मनी का विरोध करने का निश्चय किया। विद्युत गति से जर्मनी की सेना नार्वे में घुस पड़ी। देश के अन्दर असंख्य धोखेबाज नात्सी थे और यहां वहां विद्रोह करके उन्होंने जर्मनी की मदद करनी शुरू की। इस स्थिति से लाभ उठाकर जर्मनी सेना आगे बढ़ती गई, पर देशभक्त नार्वे वासियों ने डटकर जर्मनी का मुकाबला किया। ब्रिटेन ने भी नार्वे को सहायता भेजी किन्तु यह सहायता पर्याप्त नहीं

थी। परिणाम यह हुआ कि विरोध के बाद नार्वे की सामरिक शक्ति टूट गयी। वहां का राजा और सरकार भागकर ब्रिटेन चले गये और जर्मनों ने अपने मददगार क्विंस्लींग के नेतृत्व में नार्वे के लिए कठपुतली सरकार संगठित कर ली। तब से क्विंस्लींग शब्द राष्ट्र के प्रति गद्दारी की पर्याय बन गया।

चर्चिल प्रधानमंत्री बना : हिटलर की नार्वे विजय का तात्कालिक प्रभाव ब्रिटेन की राजनीति पर पड़ा। उस समय चेम्बरलेन की नीति का सबसे बड़ा आलोचक विन्सटन चर्चिल था। प्रथम विश्वयुद्ध के समय वह ब्रिटेन का नौ-सैनिक मन्त्री था। उसके बाद कुछ दिनों के लिए उसका राजनीतिक जीवन मन्द पड़ गया। अनुदारदल का सदस्य होते हुए भी वह चेम्बरलेन की तुष्टिकरण की नीति का कट्टर विरोधी था। सितम्बर में जल-युद्ध छिड़ा तो वह फ़िर ब्रिटिश मन्त्रिमंडल में अपने पुराने पद (नौसैनिक मन्त्री) पर ले लिया गया। इसके बाद नार्वे का युद्ध छिड़ा और नार्वे हार गया। नार्वे की हार ब्रिटिश सैनिक नीति की पराजय थी। ब्रिटेन में हो-हल्ला मचना शुरूं हुआ। लोगों ने समझा कि चेम्बरलेन के नेतृत्व में यह जीतना सम्भव नहीं है। स्थिति पर विचार करने के लिए ब्रिटिश लोकसभा का अधिवेशन हुआ। स्वयं अनुदार दल के सदस्यों ने उसके इस्तीफे की मांग की। स्थिति काफी नाजुक थी। हिटलर का दूसरा जबरदस्त आक्रमण शुरू होने ही वाला था। अत: 10 मई, 1940 को चेम्बरलेन ने पद त्याग कर दिया और चर्चिल उसकी जगह पर प्रधानमंत्री नियुक्त हुआ। उसने मजदूर दल के नेता एटली और ग्रीनवुड को भी अपने मन्त्रिमंडल में सम्मिलित कर एक "राष्ट्रीय सरकार" का संगठन किया। चेम्बरलेन भी इस मन्त्रिमंडल में एक सदस्य के रूप में रहा। 3 अक्टूबर को बीमारी के कारण उसने पदत्याग कर दिया और 9 नवम्बर को उसकी मृत्यु हो गयी।

द्वितीय महायुद्ध के भीषण प्रलय से ब्रिटेन को बचाकर निकालने का श्रेय यदि किसी को मिलना चाहिए तो चर्चिल को ही। उसमें नेता बनने की अपूर्व योग्यता थी। प्रधानमंत्री बनते ही सारा देश जोश और उमंग से उमड़ पड़ा, पर चर्चिल ने कहा - "साथियों ! खून, आंसू, मेहनत और पसीना के सिवा मैं आपको कुछ नहीं दे सकता हूं। आप पूछेंगे -हमारी नीति क्या है ?" हमारी नीति उस शत्रु के विरुद्ध जल, थल और नभ में भीषण युद्ध चलाना है जिसके पैशाचिक कारनामों का सम्पूर्ण मानव इतिहास में कहीं उदाहरण नहीं है। आप पूछेंगे-"हमारा उद्देश्य क्या है ? हमारा उद्देश्य किसी भी मूल्य पर विजय प्राप्त करना है। बिना विजय प्राप्त किये हमारा जीना मुश्किल है।"

हालैंड और बेल्जियम : चर्चिल के प्रधानमंत्री बनने के एक दिन पहले हिटलर का आक्रमण हालैंड और बेल्जियम पर भी शुरू हो गया था। इन दोनों देशों पर भी हिटलर ने यह दोषारोपण किया कि वे ब्रिटेन और फ्रांस से सहयोग करके अपनी तटस्थता को स्वयं भंग कर रहे हैं। अत: विवश होकर जर्मनी को उनपर आधिपत्य करना पड़ रहा है। 10 मई, 1940 को प्रात:काल जर्मनी की सेना हालैंड, बेल्जियम और लुक्सेम्बर्ग में घुस गयी। 5 दिनों के अन्दर हालैंड का काम तमाम हो गया और 14 मई को इस देश पर हिटलर का कब्जा हो गया। लुक्सेम्बर्ग में तो आक्रमणकारियों का कहीं विरोध ही नहीं हुआ, पर बेल्जियम में जर्मन सेना को विरोध का सामना करना पड़ा। इस समय तक बेल्जियम को मदद देने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस से सेना की कुछ टुकड़ियां पहुँच गयीं थी। लेकिन जर्मन विद्युत प्रहार के सामने उनकी एक न चली और 28 मई को बेल्जियम के राजा ने बेशर्त आत्मसमर्पण कर दिये।

डन्कर्क का शून्यन : बेल्जियम के पतन के बाद मित्रराष्ट्रों को एक बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। ब्रिटिश सेना के 3,35,000 सैनिक डन्कर्क बन्दरगाह के आसपास जर्मन सेना से घिर गये थे। जर्मन सेना के हाथों उनका पूर्ण विनाश निश्चित था। ब्रिटिश सरकार के सामने उनको वहां से हटाना सबसे बड़ी समस्या थी। सब तरह के जहाज और नाव इकट्ठे किये गए और दिन-रात मेहनत करके 3 जून तक ब्रिटिश सेना को वहां से हटा दिया गया। डन्कर्क का यह शून्यन कन (evacuation) इतिहास में "डन्कर्क के चमत्कार" के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

फ्रांस पर आक्रमण : बेल्जियम पर आक्रमण करने का अर्थ ही यह था कि जर्मनी अब फ्रांस पर विद्युत-प्रहार करने को तैयारी कर रहा है। इसलिए फ्रांस अपने बचाव की पूरी तैयारी करने लगा। 19 मार्च, 1940 को ही दलादिये प्रधानमंत्री के पद से इस्तीफा दे चुका था और पाल रेनां उसकी जगह पर आ गया था, पर दलादिये उसके मन्त्रिमंडल में भी सुरक्षामन्त्री के पद पर बना रहा। दलादिये जनरल गामेली का बहुत बड़ा समर्थक था, पर जनरल गामेली से फ्रांस की रक्षा नहीं हो सकती थी। 18 मई को रेनां ने अपने मन्त्रिमंडल का पुनः संगठन किया। नवें मंत्रिमंडल में मार्शल पेंता को उसने उप-प्रधानमन्त्री और दीगाल को उपसुरक्षा मन्त्री बनया। 80 वर्ष का बूढ़ा मार्शल पेंता फ्रांस का एक बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ था। दीगाल उस समय सेना का एक छोटा अफसर था जो बहुत दिनों से कहता आ रहा था कि मैगिनो लाइन फ्रांस की सुरक्षा के लिए पर्याप्त नहीं है पर उस समय किसी ने उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। 19 मई को रेनां ने जनरल गामेली को फ्रांस के प्रधान सेनापति के पद से हटाकर जनरल वेगां को उसकी जगह पर बहाल किया। वेगां प्रथम विश्वयुद्ध में मार्शल फांच के मातहत प्रधान सैनिक अधिपति (chief of staff) का काम कर चुका था, लेकिन उसकी उम्र 75 साल की हो चली थी और इस दृष्टिकोण से फ्रांस की रक्षा करने में वह असमर्थ था।

इटली का युद्ध में प्रवेश : 5 जून, 1940 को जर्मन बेहरमक्ट और लुफ्तवाफे ने मिल-जुलकर फ्रांस पर बिजली के वेग से आक्रमण शुरू कर दिये। जर्मन विद्युत-प्रहार के सामने मैगिनो लाइन बालू की भीत की तरह गिर गया। फ्रांस की रक्षा करना असम्भव था। हिटलर की सेना निर्विरोध आगे बढ़ती चली जा रही थी। फ्रांस का पलायन देखकर इटली ने भी 10 जून को उसके विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया। इटली के युद्ध में प्रवेश करने से फ्रांस की स्थिति और नाजुक हो गयी। पहले फ्रांस अपनी पूरी शक्ति के साथ केवल जर्मनी का ही मुकाबला करता लेकिन अब उसको दो मोर्चों पर युद्ध करना पड़ा।

फ्रांस का खात्मा : युद्ध में फ्रांस की हार अवश्यम्भावी थी। सारे देश में बेचैनी फैली थी। फ्रांस की राजधानी पेरिस से हटा दी गयी। 12 जून को वेगां ने कबूल कर लिया कि फ्रांस को बचाना अब सम्भव नहीं है। मार्शल पेतां उसके विचारों से सहमत था। उसने आत्मसमर्पण कर देने का विचार प्रकट किया, पर रेनां इनसे सहमत नहीं हुआ। उसका कहना था कि फ्रांस का भाग्य उसके साथी राज्यों के साथ बंधा हुआ है और शत्रु से अलग सन्धि करना ठीक नहीं है, पर फ्रांस का पतन निश्चित था। 15 जून को रेनां ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट से मदद करने की अपील की, पर राष्ट्रपति अभी कुछ करने को तैयार नहीं हुए। अन्त में लाचार होकर रेनां ने पदत्याग कर दिया। मार्शल पेंतां उसकी जगह पर प्रधानमंत्री बना। वह एक कट्टर प्रतिक्रियावादी था। उसने यह कहना शुरू किया कि कम्युनिस्ट लोग बलवा कर रहे हैं और "फ्रांस को साम्यवाद से बचाने" के लिए आवश्यक है कि वह आत्मसमर्पण कर दे। पेंतां का यह दोषारोपण बिल्कुल गलत था। वास्तविक बात यह थी कि समूचे फ्रांस में साम्यवादी पार्टी ही एक मात्र ऐसी पार्टी थीं जो नात्सियों से डटकर लोहा ले रही थी। फ्रांसीसी सरकार ने अनुरोध किया कि वह उसको सन्धियों के बन्धन से मुक्त करके अलग सन्धि करने की स्वतन्त्रता दे दे। 16 जून को चर्चिल ने फ्रांसीसी सरकार के नाम पर एक तार भेजा। उसने सुझाव दिया कि वह फ्रांस और ब्रिटेन का संघ बनाने के लिए तैयार है। फ्रांस अपनी नौ-सेना को तुरन्त ब्रिटिश बन्दरगाहों पर भेज दे। लेकिन फ्रांसीसी सरकार इस क्रान्तिकारी सुझाव को मानने के लिए तैयार नहीं थी। इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया गया। इसके बाद फ्रांस और जर्मनी अफसरों के बीच विराम-सन्धि की वार्ताएँ चलने लगीं। 22 जून को उसी जगह और उसी गाड़ी पर यह विराम-सन्धि हुई जहां 1918 में मार्शल फांच ने पराजित जर्मनी के साथ सन्धि की थी। समूचा फ्रांस जर्मनी के पैरों पर लोट रहा था। हिटलर पेरिस की गलियों का भ्रमण कर रहा था।

फ्रेंको-जर्मन विराम-सन्धि की शर्तों के अनुसार नात्सी सेना को स्विटजरलैंड के उत्तर-पश्चिम के फ्रांस के समूचे भू-भाग पर अधिकार करने का अधिकार मिला। स्वायत्त शासन के अतिरिक्त फ्रांसीसियों के हाथ में शासन का कोई अधिकार नहीं रहा। फ्रांसीसी सेना निःशस्त्र कर दी गयी और उनकी सभी सैनिक-सामग्रियों पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार फ्रांस को अपने नौ-सैनिक बेड़ों को भी जर्मनी को समर्पित करना पड़ा। फ्रांस में स्थित जर्मनी सैनिकों का खर्च फ्रांसीसियों को देना पड़ा। सभी जर्मन युद्ध कैदी रिहा कर दिये गये और फ्रांसीसी युद्ध कैदियों को जर्मनी रवाना कर दिया गया।

24 जून को फ्रांस और इटली के बीच एक दूसरी विराम-सन्धि हुई। इसके अनुसार फ्रांस के कुछ भू-भाग पर इटली का आधिपत्य हो गया।

फ्रांस का यह अपमानजनक आत्मसमर्पण फ्रांसीसी इतिहास में एक बहुत बड़ा काला धब्बा है जो कभी धोया नहीं जा सकता है। जर्मनी फ्रांस का एक घृणित दुश्मन था। वर्षों के फ्रेंकों-जर्मनी सम्बन्ध को देखकर यह कहा जा सकता था कि समूचा फ्रांस मर मिटेगा, पर किसी भी हालत में वह जर्मनी के सामने हथियार नहीं डालेगा, लेकिन ऐसा नहीं हो सका। तथाकथित "बोल्शेविक खतरे" से फ्रांस को बचाने के लिए फ्रांस के नेता हिटलर के पैरों पर गिर पड़े। यह उनके नैतिक पतन का द्योतक था। वास्तव में जर्मन विद्युत-प्रहार के कारण समूचे फ्रांसीसी राष्ट्र का नैतिक पतन हो चला था। हारने के बाद विसी नामक स्थान में मार्शल पेंतां ने एक सरकार का संगठन किया। हर दृष्टि से यह सरकार जर्मनी की कठपुतली सरकार थी। पेंतां की सरकार ने फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र का अन्त करके अपना अधिनाकयवादी शासन कायम किया। हिटलर के साथ सहयोग करना इस सरकार की नीति थी और साम्यवादियों को छोड़कर किसी ने इस सरकार का विरोध नहीं किया।

उस समय समूचे फ्रांस में केवल एक ही व्यक्ति था जो पेंता की नीति का समर्थन करने को तैयार नहीं था। वह था दीगाल। जिस समय फ्रांस का पतन हो रहा था उस समय वह एक सैनिक संदेश लेकर लन्दन गया हुआ था। जब उसने सुना कि फ्रांस की सरकार आत्मसमर्पण करने जा रही है तो उसके गुस्से का ठिकाना नहीं रहा। वह जर्मनी के साथ किसी भी मूल्य पर युद्ध जारी रखना चाहता था। लन्दन से उसने रेडियो पर बोलते हुए फ्रांसीसियों से युद्ध जारी रखने की अपील की। उसी जगह उसने एक फ्रांसीसी राष्ट्रीय समिति का संगठन किया। ब्रिटिश सरकार ने शीघ्र ही इस समिति की सभी स्वतन्त्र फ्रांसीसियों का नेता स्वीकार कर लिया। जबतक युद्ध चलता रहा तबतक वह राष्ट्रीय धैर्य और साहस का प्रतीक बना रहा और बहुत-से फ्रांसीसियों को अपने पक्ष में करने में सफल रहा।

ब्रिटेन की कठिनाई : फ्रांस की पराजय से ब्रिटेन की स्थिति डावांडोल हो गयी। उसके सभी सैनिक हथियार और जहाजी बेड़े जर्मनी को प्राप्त हो गये थे। ब्रिटेन के समक्ष एक बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित हो गयी थी। अब सम्भावना इस बात की थी कि फ्रांस, इटली और जर्मनी के सामुद्रिक बेड़ा एक साथ मिलकर ब्रिटेन पर आक्रमण कर देंगे। चर्चिल इस खतरे को झेलने के लिए तैयार नहीं था। अतः उसने फ्रांसीसी बेड़ों को जहां तक सम्भव था, बर्बाद करने का आदेश दे दिया। फ्रांस के विरुद्ध नाकेबन्दी लागू कर दी गयी। नाराज होकर पेतां सरकार ब्रिटेन के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों को तोड़ दिया।

फ्रांस के पतन का एक परिणाम यह हुआ कि नात्सी खतरे ने अमेरिका के लोगों को सतर्क कर दिया। हिटलर ने अनेक तटस्थ यूरोपीय राज्यों पर कब्जा कर लिया था। अमेरिका भी एक तटस्थ राज्य था। इस हालत में असंख्य अमेरिकन अनुभव करने लगे कि हिटलर का खतरा उनके देश पर भी उपस्थित हो सकता है। अतः अमेरिका ने ब्रिटेन को मदद करने का निश्चय किया। बहुत तायदाद में अमेरिकी युद्ध सामग्री, हवाई जहाज, हथियार आदि जल्दी-जल्दी ब्रिटेन पहुँचाये गये।

कुछ ही समय में हिटलर प्रायः समूचे पश्चिम यूरोप का स्वामी बन गया था। उसकी आंखों का कांटा फ्रांस उसके कब्जे में था। वह पूरी तरह से वर्साय के अपमान का बदला ले चुका था। अब पश्चिमी यूरोप में उसकी केवल एक ही आक्रांक्षा थी, वह थी ब्रिटेन पर स्वस्तिका झंडा फहराना। फ्रांस को पराजित करने के बाद ब्रिटेन पर आक्रमण करना एक तर्क संगत सामरिक कदम था।

ब्रिटेन का युद्ध : नात्सी विद्युत प्रहार से अभी तक ब्रिटेन का सबसे कम नुकसान पहुँचा था। इसमें कोई शक नहीं कि हिटलर का उद्देश्य ब्रिटेन को पूरी तरह कुचल देना था। एक अन्य कारण से भी वह हिटलर से बड़ा रंज था। यूरोप के जिन-जिन देशों पर हिटलर ने आधिपत्य जमा लिया था उनके भागे हुए नेताओं ने लन्दन में "निष्कासित सरकारें" (Government in exile) का संगठन कर लिया था। ये "सरकारें" अपने-अपने देश के नागरिकों के लिए आदेश निकालती थीं और जर्मनी के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए अपने देशवासियों को भड़काती थीं। हिटलर की योजना के अनुसार ब्रिटेन पर जर्मनी का आक्रमण 15 अगस्त, 1940 से शुरू होनेवाला था। लेकिन उसका अनुमान कुछ गलत हो गया। नात्सी नेताओं ने सोचा था कि फ्रांस की लड़ाई कुछ दिनों तक चलेगी। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि अपूर्व शक्तिशाली फ्रांस इतना जल्द हथियार डाल देगा। 22 जून को फ्रांस ने विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। अब ब्रिटेन पर हमला प्रारम्भ करने के लिए 15 अगस्त तक ठहरना सामरिक दृष्टि से गलत काम होता। अतः हिटलर ने अपनी योजना में संशोधन किया और ब्रिटेन पर आक्रमण की तारीख 25 जुलाई, 1940 निश्चित की गयी। पीछे चलकर इस तिथि को 15 सितम्बर कर दिया गया। 22 जून और 15 सितम्बर के बीच में भी बहुत दिन होते हैं। आधुनिक युद्ध में समय महत्वपूर्ण होता है और हिटलर ने देर लगाकर बहुत-सा समय बेकार खो दिया, पर अनेक कारणों से वह लाचार था। सामुद्रिक बेड़े की कमी, आबोहवा की खराबी और जर्मन जासूसों की निष्क्रियता के कारण हिटलर शीघ्रतापूर्वक कोई निर्णय नहीं कर सका। इसके अतिरिक्त हिटलर का अनुमान था कि नात्सी विद्युत-प्रहार से डर कर ब्रिटेन स्वयमेव आत्मसमर्पण कर देगा। लेकिन चर्चिल अपने दृढ़ निश्चय पर डटा रहा। 14 जुलाई को बोलते हुए कहा—"यदि आक्रमणकारी ब्रिटेन में आये तो हमलोग चुपचाप हथियार नहीं डाल देंगे। हमलोग एक-एक गांव, एक-एक शहर की रक्षा करेंगे। लन्दन का नाश हो जाय, वह राख में परिवर्तित हो जाय, लेकिन शत्रु के सामने हम झुकेंगे नहीं। ऐसी गम्भीर स्थिति में कोई राष्ट्र इसी तरह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकता है।"

ब्रिटेन पर लुफ्तवाफे का छिट-पुट आक्रमण फ्रांस के पतन के तुरन्त बाद ही शुरू हो गया था, पर 10 जुलाई, के पहले ब्रिटेन का असल युद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ। उस दिन से ब्रिटेन पर गोलाबारी करने का काम नियमित रूप से शुरू हुआ। जर्मनी से प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में बमबाज रवाना होते और ब्रिटेन पर भारी बमबारी करके लौट आते। मार्शल गोरिन्ग स्वयं इस वायुयुद्ध का संचालन कर रहा था। ब्रिटेन का शायद ही कोई ऐसा शहर हो जो जर्मनी गोलाबारी का शिकार नहीं हुआ हो। हजारों की संख्या में ब्रिटेन के नागरिक मौत के घाट उतार दिये गये। नागरिकों के घर, बच्चों के स्कूल, ऐतिहासिक भवन, खाद्यान्न गृह, नाविक अड्डे, हवाई अड्डे, सरकारी दफ्तर, संसद भवन, बंकिघम महल, चर्च, खेत, कल-कारखाने इत्यादि सब-के-सब जर्मनी लुफ्तवाफे के लक्ष्य थे। इस संकट की घड़ी में ब्रिटिश वायुसेना ने बड़े धैर्य से काम किया। सितम्बर से दिसम्बर 1940 तक सहस्रों जर्मन हवाईबाजों ने ब्रिटेन पर आक्रमण किये। कहा जाता है कि इस अवधि में जर्मनी ने ब्रिटेन पर 19,000 बम गिराये, 43,000 व्यक्तियों को मार डाला और 50,000 व्यक्ति घायल किये गये। शाही वायुसेना ने डट कर जर्मनी लुफ्तवाफे का मुकाबला किया। इसने लगभग 5220 जहाजों को मार गिराया। इतनी बर्बादी और हत्यायों के बाद भी ब्रिटिश नागरिकों का धैर्य और साहस कायम रहा। फ्रांसीसियों की अपेक्षा उनका मनोबल काफी ऊँचा था और शत्रु से डरने के बजाय उन्होंने डटकर मुकाबला किया। हिटलर भयभीत करके ब्रिटेन से आत्मसमर्पण नहीं करा सका। शाही वायुसेना

की तत्परता तथा ब्रिटिश नागरिकों के उच्च मनोबल के सामने "जर्मन बमबारों का अर्माडा" कुछ न कर सका। लुफ्तवाफे की शक्ति और संख्या घटने लगी। हिटलर ने अनुभव किया कि तत्काल के लिए ब्रिटेन का युद्ध जारी रखना व्यर्थ है। 17 सितम्बर को हिटलर ने ब्रिटेन पर आक्रमण को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर देने की आज्ञा दे दी। इसके बाद से ब्रिटेन पर जर्मन वायु हमला केवल रात को ही होने लगा। अक्टूबर के अन्त तक यह हमला भी मन्द पड़ गया। हिटलर ने विचार किया कि ब्रिटेन पर कब्जा करने के पहले पूर्वी यूरोप को जर्मनी साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया जाय और तब सारे यूरोप की ताकत ब्रिटेन के खिलाफ लगायी जाय। बिना ऐसा किये ब्रिटेन पर आधिपत्य जमाना असम्भव था। अतः ब्रिटेन पर स्वस्तिका फहराने का हिटलर का स्वप्न पूरा नहीं हो सका।

जर्मन वायुसेना का सफलतापूर्वक प्रतिरोध कर लेना ब्रिटेन की बहुत बड़ी कामयाबी थी। इसमें जर्मन ने भी गलती की थी। उसको ब्रिटेन के उन कारखानों पर बमबारी करना चाहिए था जहां पर वायुयानों का उत्पादन होता था, पर गोरिंग ने ऐसा नहीं किया। उसने सोचा कि जिस तरीके से पोलैंड और फ्रांस पर कब्जा जमा लिया गया है उसी तरीके से ब्रिटेन को भी पस्त कर दिया जा सकता है। जर्मनी को ब्रिटेन के युद्ध-कारखानों का पता था। लेकिन वे अंग्रेजों को त्रस्त करके ही अपना काम निकाल लेना चाहते थे। इसलिए युद्ध कारखानों पर जोर-शोर से बमबारी नहीं की गयी। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन की उत्पादन-शक्ति बढ़ती गयी और पीछे चलकर जर्मनी के लिए उसको दबाना असम्भव हो गया।

ब्रिटेन पर जर्मन-आक्रमण को स्थगित करने के साथ-साथ नात्सी विद्युत-प्रहार का पहला अध्याय समाप्त हो गया था। इस छोटी-सी अवधि में हिटलर समूचे पश्चिमी यूरोप का स्वामी बन चुका था। उत्तर में नार्वे से लेकर दक्षिण में स्पेनिश सीमा तक तृतीय रीह का विस्तार हो चुका था। अब हिटलर की आकांक्षा पूर्वी यूरोप की तरफ हुई। उधर इटली भी युद्ध में शामिल हो चुका था। वह भी युद्ध से लाभ उठाना चाहता था। इस स्थिति में सोवियत संघ की हालत काफी खराब थी। हिटलर की प्रगति को देखकर स्टालिन का दिल दहल रहा था। सामरिक स्थिति को ध्यान में रखकर अन्य क्षेत्रों में युद्ध की लपटों का फैलना अवश्यम्भावी था। पश्चिम मोर्चों पर केवल युद्ध बन्द हो गया; पर बाल्कन प्रायद्वीप, पूर्वी यूरोप, भूमध्यसागर के इर्द-गिर्द के भू-भागों तथा पश्चिमी एशिया तुरन्त ही लपटों में समा गया।

बाल्कन प्रायद्वीप में युद्ध : पश्चिम में जर्मनी की इन सफलताओं को ध्यान में रखते हुए संघ को अपनी सुरक्षा के लिए कुछ करना आवश्यक था। अतएव 26 जून, 1940 को सोवियत परराष्ट्र मन्त्री मोलोतोव ने रूमानिया के समक्ष एक 24 घंटे की अंतिमेत्थम रखा जिसमें बेसरेबिया और बुकोविना के कुछ भू-भागों की मांग की गयी। रूमानिया की सरकार के सामने कोई चारा नहीं रहा। उसने तुरन्त सोवियत मांगों को स्वीकार कर लिया और उपरोक्त दोनों प्रदेश सोवियत संघ में मिला लिये गये। अगस्त के महीने में बाल्टिक तटवर्ती देश - इस्तोबिया; लैटविया और लिथुएनिया सोवियत संघ में सम्मिलित कर लिये गये।

रूमानिया की भूमि पर हंगरी और बुल्गेरिया भी आंख गड़ाए हुए थे। वे लोग भी रूमानिया की सीमान्त पर अपनी फौज जमा करने लगे, पर हिटलर और मुसोलिनी बाल्कन क्षेत्र में इस तरह के किसी भी युद्ध के विरोधी थे। वे हंगरी और बुल्गेरिया को अपने पक्ष में करना चाहते थे। 30 अगस्त, 1940 को उपरोक्त तीन बाल्कन देशों को हिटलर ने वियना में एक सम्मेलन पर बुलाया और रूमानिया को बाध्य किया कि वह बुल्गेरिया को दोब्रुजा और हंगरी का ट्रांसिलवेनिया का प्रदेश दे दे। रूमानिया का राजा केरोल इस पर बहुत नाखुश हुआ। हिटलर एक जर्मनी विरोधी राजा को कभी भी रूमानिया की गद्दी पर नहीं देखना चाहता था। अतः रूमानिया के फासिस्ट पार्टी को प्रोत्साहित करके केरोल को गद्दी से से हटा दिया गया और उसकी जगह पर मांइकेल रूमानिया का राजा बना। माइकेल का शासन पूर्णतया फासिस्टवादी था। उसकी विदेश-नीति बर्लिन के इशारे पर निर्धारित होने लगी।

बाल्कन प्रायद्वीप में दूसरा आक्रमणकारी कदम मुसोलिनी के द्वारा उठाया गया और इस कदम का शिकार यूनान हुआ। 1923 के कोर्फू घटना के बाद से इटली को यूनान के खिलाफ शिकायत थी। 28 अक्टूबर, 1940 को उसने यूनान पर हमला करने की आज्ञा दे दी, पर यूनान में विजय के बदले इटली को पराजय ही मिली। यूनानियों ने डटकर शत्रु का मुकाबला किया और मुसोलिनी की सेना को अपनी भूमि से मार गिराया।

हिटलर इस समय तक सोवियत संघ पर आक्रमण करने का फैसला ले चुका था। इसके लिए वह बाल्कन प्रायद्वीप के देशों का समर्थन प्राप्त कर लेना चाहता था। 27 सितम्बर, 1940 को जर्मनी, इटली और जापान में एक त्रिदलीय समझौता हो चुका था। इस समझौते के अनुसार तीनों हस्ताक्षरकर्ताओं ने अपने-अपने क्षेत्र में एक दूसरे के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था। यह समझौता "यूरोप में नयी व्यवस्था" और "वृहत पूर्वी एशिया" कायम करने की योजना थी। हंगरी और रूमानिया को इस समझौते के सिद्धान्तों को मानने के लिए बाध्य किया गया और नवम्बर 27, 1940 को इन देशों ने एक समझौता पर हस्ताक्षर करके इसको कबूल कर लिया। अब बुल्गेरिया और यूगोस्लाविया इस व्यवस्था से बाहर रह गये थे। हिटलर ने रूमानिया से अपनी सेना एकत्र करना शुरू कर दी। उसका ख्याल था कि सैनिक गतिविधि करके यूगोस्लाविया और बुल्गेरिया को डरा-धमकाकर नात्सी व्यवस्था में शामिल कर लिया जा सकता है। बुल्गेरिया हिटलर की धौंस में आ गया। 1 मार्च, 1941 को बुल्गेरिया धुरीराष्ट्रों के साथ एक समझौता करके "नयी व्यवस्था" में सम्मिलित हो गया। यूगोस्लाविया कुछ समय के लिए प्रतिरोध करता रहा, पर बाद में वहां की सरकार ने भी अनुभव किया कि हिटलर का विरोध करना व्यर्थ है और 25 मार्च को जर्मनी के साथ एक समझौता करके सभी नात्सी मांगों को स्वीकार कर लिया। इस तरह का आत्मसमर्पण यूगोस्लाविया के सैनिक अफसरों को पसन्द नहीं आया। 27 मार्च को उनलोगों ने यूगोस्लाविया की सरकार को उलटकर नयी सरकार का संगठन किया और 25 मार्च के समझौते को अस्वीकार कर दिया। यूगोस्लाविया की इस धृष्टता को हिटलर नहीं सह सकता था। 6 अप्रैल को उसने यूगोस्लाविया पर आक्रमण कर दिया। 17 अप्रैल को यूगोस्लाविया का अन्त हो गया और वह जर्मनी साम्राज्य में मिला लिया गया।

हिटलर यूगोस्लाविया पर शान्तिपूर्ण शासन नहीं कर सकता था। यूगोस्लाव कम्यूनिस्ट पार्टी के नेता जोसिफ ब्रीज, जो पीछे चलकर टीटो के नाम से प्रसिद्ध हुए, के नेतृत्व में यूगोस्लाविया के अन्दर एक बहुत बड़ा जर्मनी विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ। पहाडियों के लुक-छिपकर वे लोग तकतक गुरिल्ला युद्ध चलाते रहे जबतक हिटलर के एक-एक सैनिक यूगोस्लाविया को छोड़कर (1945) नहीं चले गये।

6 अप्रैल को ही हिटलर का प्रहार यूनान पर भी हुआ। ब्रिटेन ने यूनान की कुछ मदद भी दी, पर वह 'बहुत कम और बहुत देर से' आयी। यूनान जर्मनी वेहरमक्ट के प्रहार का प्रतिरोध नहीं कर सका। 27 अप्रैल, 1941 को यूनान पूरी तरह परास्त कर दिया गया और वहां का राजा अपनी सरकार के साथ क्रीट भाग खड़ा हुआ। यूनान भी, यूगोस्लाविया की तरह, जर्मन साम्राज्य का एक अंग बन गया। 20 मई को हिटलर ने क्रीट पर भी आक्रमण कर दिया। डन्कर्क की तरह ब्रिटिश सेना को वहां से हटाना पड़ा और हिटलर ने आसानी से क्रीट पर अपना अधिकार जमा लिया। यूनान की "सरकार" इसके बाद क्रीट से भागकर मिस्र चली गयी। सफलता हिटलर के पांवों पर लोट रही थी। उसके साम्राज्य का अपूर्व विस्तार हो रहा था। सम्पूर्ण बाल्कन प्रायद्वीप उसके प्रत्यक्ष कब्जे में था।

पश्चिम एशिया में युद्ध : द्वितीय विश्व-युद्ध के सभी युद्धरत देश पश्चिम एशिया के सामरिक महत्व को समझते थे। इस क्षेत्र में सभी राज्यों के हित अलग-अलग थे। स्वेज नहर ब्रिटेन के लिए 'जीवन रेखा' के समान थी। पूर्वी एशिया और खासकर मिस्र की रक्षा करना ब्रिटेन के लिए उतना ही आवश्यक और महत्वपूर्ण था जितना स्वयं ब्रिटिश द्वीपकुंज की रक्षा। उधर मुसोलिनी के अपने अलग मनसूबे थे। बहुत दिनों से वह

भूमध्यसागर को एक इटालियन झील के रूप में परिवर्तित करने का स्वप्न देख रहा था। विश्व-युद्ध से लाभ उठाकर वह अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति कर लेना चाहता था। इस इरादे को पूरा करने के लिए मिस्र पर अधिकार करना आवश्यक था। हिटलर भी अपने हित को ध्यान में रखकर पश्चिम एशिया के विविध देशों पर अपना प्रभाव जमाना चाहता था। मोसुल की तेल-खानों और स्वेज नहर पर अधिकार जमाना उसके लिए भी जरूरी था।

मित्रराष्ट्र समझ रहे थे कि पश्चिम एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने से हिटलर बाज नहीं आयगा। पश्चिम एशिया की स्थिति दिनोंदिन नाजुक होती चली जा रही थी। सीरिया और लेबनान में फ्रांसीसी संरक्षण कायम था और वहां का फ्रांसीसी हाई कमिश्नर पेंतां सरकार का समर्थक था जो हिटलर के साथ सहयोग करने की नीति का अनुकरण कर रही थी। ईराक में ब्रिटिश संरक्षणता थी। अप्रैल, 1941 में वहां एक विद्रोह हो गया। वहां कि ब्रिटिश-समर्थ सरकार उलट दी गयी और उसकी जगह पर एक ऐसी सरकार कायम हुई जिसका झुकाव जर्मनी की ओर था। ब्रिटेन के लिए यह एक खतरनाक बात थी। तुरन्त ही गल्बपासा के सेनापतित्व में ट्रांसजोर्डन से एक ब्रिटिश सेना भेजी गयी। ईराकी सरकार ने हिटलर से अपील की। हिटलर ने थोड़ी सहायता भी भेजी, पर उसके पहुँचने के पूर्व ही ईराक पर ब्रिटेन का कब्जा हो गया। इसके बाद ब्रिटिश सेना ने सीरिया पर आक्रमण करके उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इस तरह फिलिस्तीन, ट्रांसजोर्डन, ईराक, सीरिया और लेबनान पर ब्रिटेन का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित रहा। पश्चिम एशिया में केवल फारस ही एक ऐसा देश बचा रहा जो ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र में अभी तक नहीं आया। लेकिन जब हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया और ब्रिटेन तथा रूस एक साथ मिलकर युद्ध लड़ने लगे तब फारस पर आधिकार कर लेना भी बहुत जरूरी हो गया। उस स्थिति में ब्रिटेन और रूस की सम्मिलित सेना ने फारस पर आक्रमण करके उसको अपने हाथ में ले लिया।

भूमध्य-सागर का युद्ध : भूमध्य-सागर में युद्ध का प्रारम्भ मुसोलिनी की आक्रमणकारी नीति से प्रारम्भ हुआ। हमला करके उसने सूडान, केन्या और ब्रिटिश सोमालीलैंड पर अधिकार कर लिया। पर इस क्षेत्र में ब्रिटेन की सैनिक तैयारी बहुत काफी थी। 1941 के अन्त होते-होते ब्रिटेश सेना ने इस क्षेत्र से इटालियन प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। ईरीट्रिया और इटालियन सोमालीलैंड पर ब्रिटेन का कब्जा हो गया। अबीसीनिया से भी इटली को भाग जाना पड़ा।

1940 के नवम्बर में इटली की सेना ने लीबिया से मिस्र पर आक्रमण करना शुरू किया और आठ मील तक वे मिस्र में घुस भी आयी। लेकिन 15 दिसम्बर से स्थिति ने पलटा खाना शुरू किया। सर आर्चिवाल्ड बेवल ने इटालियन सेना को मिस्र से खडेड़ भगाया और आगे चढ़कर लीबिया पर भी अपना अधिकार जमा लिया। मुसोलिनी की हालत बहुत खराब थी। किसी भी युद्ध में उसको सफलना नहीं प्राप्त हो सकी। इधर उसके एक साथी को यूरोप में सब जगह विजय मिल रही थी। पूर्वी एशिया और भूमध्य सागर में इस तरह की पराजयों की क्षतिपूर्ति करने के लिए ही उसने अक्टूबर, 1940 में यूनान पर हमला कर दिया था, पह वहां भी उसकी हार ही हुई।

रूस और जर्मन युद्ध

रूस-जर्मन सम्बन्ध : अगस्त, 1939 के मास्को पैक्ट के द्वारा नात्सीवाद और साम्यवाद में जो गठबन्धन हुआ था, उसका कोई स्थायी महत्व नहीं था। यह एक कामचलाऊ गठबन्धन था जिसको लेकर हिटलर को मोर्चों पर युद्ध से बचना चाहता था। स्टालिन भी यही मानता था कि इस सन्धि से सोवियत-संघ कुछ दिनों के लिए हिटलर के आक्रमण से बचा रहेगा। इसके अतिरिक्त मास्को समझौते का कोई महत्व नहीं था। स्टालिन नात्सीवाद और हिटलर के उद्देश्यों से परिचित था। मीन कैम्प के लेखक के विचारों का पता

सबको था और स्टालिन भी भली-भांति जानता था कि हिटलर का अन्तिम उद्देश्य सोवियत-संघ और साम्यवादी व्यवस्था को पूर्णतया नष्ट करना है। अतएव मास्को समझौते पर दस्तखत हो जाने से ही बर्लिन और मास्को का मनमुटाव कम नहीं हो सका। दोनों "मित्र" एक दूसरे पर शक करते रहे और किसी ने एक दूसरे पर विश्वास नहीं किया। वास्तव में हिटलर पर विश्वास करना एक बेवकूफी था। इस समय के रूस-जर्मन सम्बन्ध की तुलना हम उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशक के फ्रेंको-रूसी सम्बन्ध से और हिटलर की तुलना नेपोलियन से कर सकते हैं। 1807 में नेपोलियन और रूसी जार में तिलसित की सन्धि हुई थी जिसके अनुसार यह तय हुआ था कि पूर्वी यूरोप पर रूस का और पश्चिमी यूरोप पर फ्रांस का प्रभाव रहे। 1939 के मास्को पैक्ट की गुप्त शर्तों द्वारा सोवियत संघ और जर्मनी में कुछ ऐसी ही बातें तय हुई थीं। तिलसित सन्धि के बाद दोनों देश एक दूसरे पर शक करते थे। मास्को समझौता के बाद भी यही स्थिति थी। फ्रांस की आर्थिक मांगों के कारण, जिसकी पूर्ति जार नहीं कर सकता था, तिलसित सन्धि का अन्त होने लगा था। मास्को सन्धि के अन्त होने का कारण भी यही था। तिलसित सन्धि तब रद्द की गयी जब नेपोलियन युद्ध में ब्रिटेन को नहीं हरा सका। मास्को समझौता भी इसी स्थिति में रद्द हुआ। यहां तक कि हिटलर ने नोपोलियन के तरीकों को ही अपने मास्को अभियान में अपनाया और नेपोलियन की तरह हिटलर भी रूस के द्वारा ही हराया गया।

ऊपर कहा जा चुका है कि मास्को समझौता एक कामचलाऊ गठबन्धन था और इसके फलस्वरूप सोवियत-संघ तथा जर्मनी का पारस्परिक अविश्वास दूर नहीं हो सका। फ्रांस के पतन के बाद दोनों देशों में मनमुटाव बढ़ने लगा। ऐसे मित्रराष्ट्रों की पराजय से स्टालिन को आंसू बहाने की आवश्यकता नहीं थी। जिस तरह का बर्ताव लोग उसके साथ करते आ रहे थे उससे उसको खुश ही होना चाहिए था। लेकिन हिटलर की आश्चर्यजनक सफलता से बड़ा चिन्तित था। मीन कैम्फ का लेखक धीरे-धीरे समूचे यूरोप का स्वामी बन रहा था और यह देखकर स्टालिन चैन की बांसुरी नहीं बजा सकता था। अत: हिटलर के भावी प्रहार से बचने के लिए वह तैयारी करने लगा। वह बात ठीक है कि मास्को समझौता द्वारा हिटलर ने बाल्टिक क्षेत्र को सोवियत प्रभाव क्षेत्र मान लिया था, पर जिस तरीके से इन क्षेत्रों को उस प्रभाव क्षेत्र में लाया गया उससे हिटलर बहुत नाखुश था। बाल्टिक अड्डों पर सोवियत अधिकार, जर्मनी बासिन्दों को वहां से निकाला जाना तथा सोवियत-चीन युद्ध को देखकर हिटलर भीतर-ही-भीतर बहुत रंज हो रहा था। जिस समय फ्रांस का युद्ध जोरों पर चल रहा था उस समय सोवियत-संघ ने इस्तोनिया, लैटिविया और लिथुएनिया पर अपना कब्जा पूरा कर लिया था। फ्रांस के साथ विराम-सन्धि होने के तुरन्त बाद सोवियत-संघ ने रूमानिया, बेसरेविया और बुकेविना भी छीन लिया था। उधर स्टालिन को जर्मनी से रंज होने के भी अनेक कारण थे। 19 अगस्त, 1940 के वियना समझौते के द्वारा हिटलर ने रूमानिया के बहुत बड़े भू-भाग को हंगरी और बुलगेरिया को दिलवाकर उन्हें अपना समर्थक बना लिया था। इसके बाद रूमानिया में एक ऐसी सरकार का संगठन कराया गया जो सब दृष्टि से नात्सियों का गुलाम था। स्टालिन इन घटनाओं को सोवियत सुरक्षा के लिए खतरनाक समझता था।

जर्मनी और सोवियत संघ का सम्बन्ध दिनोंदिन खराब होता जा रहा था। हिटलर ने स्टालिन को धोखा में रखने के लिए वार्ताओं का बहाना बनाकर मोलतोव को जर्मनी आने के लिए आमन्त्रित किया। 12 से 14 नवम्बर (1940) तक मोलोतोव बर्लिन में रहा। इन दिनों में उसका वहां काफी स्वागत हुआ। प्रीति भोजों और स्वागत समारोहों में जर्मन-रूस मित्रता पर आवश्यकता से अधिक भाषण हुए। हिटलर ने प्रस्ताव रखा कि सोवियत-संघ, जर्मनी, इटली और जापान के साथ एक सन्धि कर ले। लेकिन् प्रस्तावित सन्धि की शर्तें सोवियत संघ के मनोनुकूल नहीं थीं। इसलिए मोलोतोव ने इसको स्वीकार नहीं किया। 25 नवम्बर को मास्को से एक पत्र बर्लिन आया जिसमें उन शर्तों को स्पष्ट कर दिया गया जिनके आधार पर सोवियत सरकार जर्मनी, इटली और जापान से सन्धि करने को तैयार थी।

इस समय तक जर्मनी के दृष्टिकोण से ब्रिटेन का युद्ध असफल हो चुका था और उसको स्थगित करने का निर्णय भी हो चुका था। नेपोलियन की तरह हिटलर ने यह तय कर लिया कि ब्रिटेन को हराने के पहले सोवियत संघ को हराया जाय और सिर्फ सम्पूर्ण यूरोप के साधनों को प्राप्त करके ब्रिटेन को हराया जाय। जिस समय वह मोलोतोव से वार्ताएँ कर रहा था उसी समय वह अपने सैनिक अफसरों को सोवियत संघ पर चढ़ाई करने के लिए योजना तैयार करने का आदेश भी दे रहा था। मोलोतोव के मास्को लौटेने के केवल दस दिनों के बाद ही हंगरी, रूमानिया और चेकस्लोवाकिया में जर्मनी के इच्छानुसार एक समझौता हुआ। इस समझौते के फलस्वरूप ये देश जर्मनं प्रभाव-क्षेत्र में आ गये। ये सारी बातें सोवियत सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त खतरनाक थीं। 17 जनवरी, 1941 को मोलोतोव ने चेतावनी दी कि यदि नात्सी फौज बुल्गेरिया में प्रवेश करेगी तो यह सोवियत हित के विरुद्ध होगा, पर हिटलर ने इस पर ध्यान नहीं दिया और मार्च में बुल्गेरिया जर्मन प्रभाव क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया। 4 अप्रैल मोलतोव ने जर्मन-सरकार को सूचित किया कि यूगोस्लोवाकिया और सोवियत संघ में शीघ्र ही एक मैत्री और अनाक्रमण सन्धि होने वाली है और वह आशा करता है कि "जर्मनी इस क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के कार्य में सहयोग देगा।" लेकिन 6 अप्रैल को नात्सियों ने यूगोस्लाविया पर हमला करके उसको जीत लिया। मोलोतोव ने इसको "अत्यन्त दुःखद घटना" कहा। सोवियत-जर्मनी सम्बन्ध अब निश्चित ही बहुत खराब हो चुका था।

जर्मनी की गतिविधियों को देखकर स्टालिन को अब इस बात पर सन्देह ही नहीं रह गया कि जर्मनी का दूसरा शिकिर सोवियत संघ ही होगा। अतः वह अपने देश की सुरक्षा की तैयारी करने लगा। सोवियत-जर्मन सीमान्त पर तथाकथित "स्टालिन राइन" तैयार की गयी, पर स्टालिन को भी दो मोर्चों पर युद्ध का भय था। जर्मनी के आक्रमण के साथ-साथ सोवियत संघ पर जापान का आक्रमण भी हो सकता था। इसी समय जापान संयुक्त राज्य अमेरिका पर चढ़ाई करने की योजना बना रहा था। इस कार्य को शुरू करने के पहले यूरोपीय स्थिति का अध्ययन कर लेना जरूरी था। अतएव जापानी सरकार ने जापानी विदेश मन्त्री मात्सोका को इस कार्य के लिए यूरोप भेजा। जब वह बर्लिन आया तो रिब्नट्रोप ने जापानी योजना का समर्थन किया। लेकिन उसने यह भी कह दिया कि अमेरिका के बदले में यदि सिंगापुर पर जापान चढ़ाई करे तो वह ज्यादा अच्छा रहेगा। रिब्नट्रोप ने जापानी विदेश मन्त्री को यह संकेत भी दे दिया कि "जर्मनी के साथ रूस का व्यवहार अच्छा नहीं हो रहा है।" मात्सोका बर्लिन से यह निष्कर्ष लेकर मास्को पहुँचा कि जर्मन-सोवियत युद्ध अवश्यम्भावी है। इस युद्ध का प्रभाव पूर्वी एशिया पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। दूसरे शब्दों में, जर्मनी और सोवियत संघ के बीच युद्ध के फलस्वरूप जापान और सोवियत संघ में युद्ध भी हो सकता था। इस दशा में अमेरिका पर आक्रमण जापानी योजना में कठिनाइयां उपस्थित हो सकती थीं। जिन कारणों से सोवियत संघ दो मोर्चों पर युद्ध से बचना चाहता था उन्हीं कारणों से जापान भी दो मोर्चों पर युद्ध नहीं चाहता था। इस स्थिति में जापान और सोवियत संघ के बीच एक अनाक्रमण सन्धि का हो जाना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं थी। 13 अप्रैल, 1941 को सोवियत संघ और जापान के बीच जो सन्धि हुई उसके पीछे यही रहस्य था। सोवियत दृष्टिकोण से पूर्व में इसका उतना ही महत्व था जितना महत्वपूर्ण 1939 को मास्को पैक्ट पश्चिम में साबित हो चुका था। स्टालिन के कूटनीतिक जीवन की यह एक दूसरी महान सफलता थी।

सोवियत संघ पर आक्रमण करने का निर्णय अगस्त, 1940 को लिया जा चुका था और स्टालिन को पता चल गया था कि जनवरी, 1941 के लगभग सोवियत-संघ पर जर्मनी का विद्युत् प्रहार होगा। हिटलर समूचे वेहरमक्ट और लुफ्तवाफे को सोवियत सीमा पर सुसज्जित कर रहा था। उधर स्टालिन भी चुप नहीं बैठा रहा "स्टालिन लाइन" को जल्दी-जल्दी पूरा किया गया। युद्ध व्यवसाय में उत्पादन बढ़ा दिया गया।

बड़े-बड़े कल-कारखानों को पश्चिमी सीमा से हटाकर यूराल के सुरक्षित प्रदेश में कायम किया गया और अन्त में युद्ध की सम्भावना को ध्यान में रखकर मई 1941 में स्टालिन स्वयं सोवियत संघ का प्रधानमंत्री बन गया।

इस समय तक सोवियत-जर्मन सीमान्त के दोनों तरफ सैनिक अभ्यास जोर-शोर से चलने लगे थे। लेकिन इन अभ्यासों को तरह-तरह से छिपाने की कोशिश की जाती थी। सोवियत समाचार एजेन्सी "तास" ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कराकर उन "अफवाहों" का खण्डन किया जिसके द्वारा यह प्रचार हो रहा था कि "सोवियत संघ और जर्मनी के सम्बन्ध बिगड़ रहे हैं और उनमें युद्ध छिड़ने की सम्भावना पैदा हो गयी है।" पर उद्देश्यों को छिपाने के इन प्रयासों के बावजूद सभी लोग इस समय तक जान गये थे कि हिटलर सोवियत संघ पर प्रहार करने ही वाला है। मास्को स्थित ब्रिटिश राजदूत सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने यहां तक भविष्यवाणी कर दी कि 22 जून को जर्मनी का आक्रमण होगा। वस्तुतः उसी दिन जर्मनी का आक्रमण शुरू भी हुआ।

सोवियत संघ पर आक्रमण करने के पूर्व हिटलर यह चाहता था कि ब्रिटेन से जर्मनी का समझौता हो जाय। इस तरह के समझौते से जर्मनी का प्रत्यक्ष लाभ था। वह पश्चिमी मोर्चा पर निश्चित हो जाता और अपनी पूरी ताकत सोवियत संघ के विरुद्ध लगा सकता था। ब्रिटेन में भी ऐसे बहुत व्यक्ति थे जो हिटलर के साथ समझौता करके शान्ति-स्थापना करना चाहते थे। हेमिल्टन का डयूक इस विचार का बहुत बड़ा समर्थक था। जर्मनी नात्सी नेता रुडोल्फ हेस (Hess) व्यक्तिगत रूप से डयूक के साथ बातचीत करना चाहता था। वह अकेले एक वायुयान से ब्रिटेन चल पड़ा और छतरी के सहारे ग्लासगो के निकट नीचे उतरा, पर डयूक के साथ सम्पर्क स्थापित करने के पूर्व ही वह पकड लिया गया और युद्ध कैदी बनाकार जेल में रख दिया गया। जर्मन की यह कूटनीति भी असफल रही।

अमेरिकी रूख के कारण भी सोवियत संघ पर आक्रमण करने के लिए हिटलर को जल्दीबाजी करनी पड़ी। अमेरिका में जर्मनी के विरुद्ध भावना बढ़ रही थी। 27 मई, 1941 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने एक भाषण दिया जिन्होंने तानाशाहों की भर्त्सना की और अमेरिकी जनता को युद्ध के लिए तैयार रहने का अनुरोध किया। हिटलर अमेरिकी जनता की एक ही तरीके से खुश कर सकता था। अमेरिकी शासकगण साम्यवाद का कट्टर विरोधी थे। यदि हिटलर साम्यवादी रूस पर आक्रमण कर देता है तो बहुत सम्भव था कि वे उसकी नीति का समर्थन करने लगे। शक्तिशाली अमेरिका को युद्ध में प्रवेश करने से रोकने के लिए साम्यवादी रूस पर तुरन्त आक्रमण कर देना बहुत जरूरी था। 22 जून, 1941 को इसी वातावरण में जर्मनी ने सोवियत संघ पर हमला कर दिया।

युद्ध का पहला सोपान : यह वही विद्युत प्रहार था जिनका अनुभव यूरोप के अनेक देशों को हो चुका था। सोवियत संघ के पास कोई अन्तिमेत्थम् नहीं भेजा गया। हिटलर का विचार सोवियत संघ का पूर्ण विनाश करना था। यदि उसने अन्तिमेत्थम् दिया और स्टालिन ने उसे मान लिया तब यह ध्येय कैसे पूरा किया जा सकता था ? चुनौती देकर हिटलर यह जोखिम नहीं मोल लेना चाहता था। सोवियत फिन-युद्ध को ध्यान में रखकर हिटलर का अनुमान था कि कुछ ही सप्ताह में सोवियत संघ घुटने टेक देगा। तीन तरफ से जर्मन सेना सोवियत संघ में घुसी—एक लेनिन ग्राड, दूसरा मास्को और तीसरा खारकोव, रोसतोव और कोकेशश की ओर से। हिटलर और रिब्नट्रोप ने इसको साम्यवाद के खिलाफ "धर्मयुद्ध" (crusade) बतलाया। इटली, रुमानिया, स्लोवाकिया, फिनलैंड और हंगरी ने भी रूस के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। विसी फ्रांस और डेनमार्क ने मास्को से अपना कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और साम्यवाद विरोधी स्वयंसेवक भरती करने लगे। हिटलर को मदद पहुँचाने के लिए फ्रांकों ने भी एक सेना की टुकड़ी भेजी दी। इस प्रकार सम्पूर्ण फासिस्ट यूरोप का सम्मिलित रूप से सोवियत संघ पर हमला शुरू हुआ। वेहरमक्ट का हमला इस

बार जिस निर्दयता और क्रूरता से हुआ उतना पहले कभी नहीं हुआ था। सोवियत सेना और जनता ने जिस धैर्य और साहस से इसका मुकाबला किया वह अद्वितीय था और संसार के इतिहास में इस तरह का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। बहुत दिनों से संसार को कहा जाता था कि बोल्शेविकों ने सोवियत जनता को कुचलकर गुलाम बना रखा है। जब भी उन्हें मौका मिलेगा वे साम्यवादी व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह कर देंगे। यदि सोवियत जनता सचमुच में साम्यवादी व्यवस्था से घृणा करती तो स्टालिन के विरुद्ध विद्रोह करने का इससे बढ़कर अच्छा मौका नहीं मिल सकता था। लेकिन "जबरदस्ती गुलाम बनाई गयी सोवियत जनता" ने कोई विद्रोह नहीं किया। हिटलर को समूचे सोवियत संघ में एक भी क्विलिंग या मार्शल पेंतां नहीं मिला। यह सोवियत व्यवस्था की दृढ़ता का प्रमाण था।

रूस पर जर्मन आक्रमण का प्रभाव अन्य देशों पर तत्काल पड़ा। चर्चिल ने कहा कि "यद्यपि साम्यवाद के प्रति मेरे विचारों में कोई परिवर्तन नहीं आया है, फिर भी नात्सीवाद के विरोधी किसी भी देश की सहायता हम करेंगे।" 13 जुलाई, 1941 को ब्रिटेन और सोवियत संघ में एक सन्धि हो गयी। उसी महीने ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि मास्को पहुँचे। सोवियत संघ को मदद देने के प्रश्न पर विचार किया गया और यह तय हुआ कि ब्लाडिवोस्टक तथा फारस के रास्ते से सोवियत संघ को हर प्रकार से मदद दी जाय। फारस में जर्मनी का प्रभाव था। इस प्रभाव को खत्म करना बहुत आवश्यक था। अतः सितम्बर में ब्रिटेन तथा सोवियत संघ की एक सम्मिलित फौज ने फ्रांस पर अधिकार कर लिया।

सोवियत संघ की भूमि पर दोनों पक्षों में भीषण युद्ध चल रहा था। हिटलर का वेहरमक्ट आगे बढ़ता चला जा रहा था और रूसी सेना पीछे हटती जा रही थी। अक्टूबर के शुरू होते ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि मास्को पर नात्सी कब्जा हो जायगा। 3 अक्टूबर, 1941 को हिटलर ने दावा किया कि "शत्रु की कमर टूट चुकी है, वह फिर कभी उठकर खड़ा नहीं हो सकता।" मास्को से सोवियत राजधानी क्यूबिसेव ले जाया गया, पर स्वयं स्टालिन ने मास्को छोड़ने से इन्कार कर दिया। ऐसा प्रतीत होता था कि कुछ ही दिनों में सोवियत संघ का संसार से नामोनिशान मिट जायगा।

अक्टूबर के प्रारम्भिक दिनों में जर्मनी की विजय अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगी। लेकिन हिटलर का सुख-स्वप्न नेपोलियन की तरह पूरा नहीं हो सका। नेपोलियन को तो क्रेमलिन के राजप्रासाद में सोने का मौका भी मिला था, लेकिन हिटलर को वह भी नसीब नहीं हुआ। अक्टूबर के पहले सप्ताह में रूसियों ने डटकर शत्रु का मुकाबला किया। इस समय तक जाड़ा पड़ना शुरू हो गया था। हिटलर का अनुमान था कि जाड़ा आने के पहले ही वह सोवियत संघ का काम तमाम कर देगा, इसलिए गर्म कपड़ों का पर्याप्त इन्तजाम नहीं किया गया था। रूसी ठंडक में जर्मनी फौज का दिवाला निकलने लगा। रूसियों ने एक-एक सड़क और एक-एक कमरे में नात्सियों से लोहा लिया। उसने पैर उखड़ने लगे। युद्ध के इतिहास में इस तरह का युद्ध पहले कभी नहीं लड़ा गया था। अक्टूबर और नवम्बर के बीच में वेरमक्ट की प्रगति बिल्कुल रूक गयी। नास्ती अफसरों ने यह दोषारोपण करना शुरू किया कि सोवियत सेना साम्यवाद के द्वारा बहुत "क्रूर बना दी गयी है," वे युद्ध नियमानुसार नहीं लड़ रहे हैं, मार्क्सवाद के कारण उनका नैतिक पतन हो गया है कि वे डराये-धमकाये नहीं जा सकते हैं, और वे इतने नालायक बना दिये गये हैं कि अनुभव ही नहीं कर पाते कि वे वास्तव में हार गये हैं। अपनी पराजय पर पर्दा डालने के लिए जर्मनी द्वारा यह कहकर कि "सामरिक दृष्टिकोण से सोवियत संघ खत्म हो गया।" 8 दिसम्बर, 1941 को युद्ध का काम कुछ दिनों के लिए बन्द कर दिया गया। हिटलर ने इस पराजय का गुस्सा अपने कुछ सैनिक अफसरों पर निकाला। 1942 के प्रारम्भ में सेना के कुछ अधिकारी पदच्युत कर दिये गये और वह स्वयं वेहरमक्ट का प्रधान सेनापति बन गया। हिटलर की असफलता का प्रधान कारण बहुत अंशों में अमरीकी मदद थी। इसका बदला हिटलर

ने पर्ल हार्बर में 11 दिसम्बर, 1941 को अमेरिका के विरुद्ध युद्ध घोषित करके लिया। रीहस्टाग में बोलते हुए हिटलर ने कहा, "रूजवेल्ट हमको लूटेरा कहता है, पर मैं उसके द्वारा अपमानित नहीं हो सकता। विल्सन की तरह मैं उसको भी पागल समझता हूं।" उसी दिन 26 सितम्बर, 1940 में त्रिदलीय समझौते के आधार पर जर्मनी, इटली और जापान के बीच एक दूसरा समझौता हुआ जिसके अनुसार हस्ताक्षरकर्ताओं ने एक साथ मिलकर युद्ध लड़ने का और शत्रु से अलग सन्धि नहीं करने का वादा किये।

अन्तलान्तिक का युद्ध : जिस समय पूर्व में सोवियत संघ के साथ जर्मनी का युद्ध चल रहा था उसी समय अतलान्तिक महासागर में भी एक महत्वपूर्ण युद्ध चल रहा था। यह युद्ध मुख्यतः ब्रिटेन के साथ था और 3 सितम्बर, 1939 को ही शुरू हुआ। सोवियत संघ पर जर्मनी आक्रमण के कारण 1941 के मध्य में इस युद्ध ने उग्र रूप धारण कर लिया। हवाई युद्ध में जर्मन ब्रिटेन को नहीं हरा सका। सोवियत संघ पर आक्रमण करने के लिए उसको सभी लड़ाकू जहाजों को वापस बुलान पड़ा। पर यदि ब्रिटेन हवाई हमले से नहीं पस्त किया जा सका तो वह दूसरे तरीकों से पस्त किया जा सकता था। युद्ध और खाद्य-सामग्री के लिए ब्रिटेन विदेशों पर आश्रित था। इस समय तक उधार पट्टी बिल के अन्तर्गत ब्रिटेन को अमेरिका से काफी मदद मिल रही थी। इसी प्रकार उसके विश्वव्यापी साम्राज्य से बहुत बड़ी मात्रा में सामान पहुँच रहे थे। जर्मनी ने सोचा कि यदि पनडुब्बी जहाजों की मदद से सामान जाने वाले जहाजों को डुबो दिया जाय तो ब्रिटेन को कुछ भी नहीं मिलेगा और ऐसी हालत में वह घुटने टेक देगा। एक बार निर्णय कर लेने के बाद जर्मनी की पनडुब्बियों ने उन व्यापारिक जहाजों को डुबोना शुरू किया जो सामान लेकर ब्रिटेन जाते थे। इस क्रम में अमेरिका के बहुत से जहाज डुबा दिये गये। अमेरिका अभी तक युद्ध में तटस्थ था और नियमानुसार वह किसी देश के साथ व्यापार कर सकता था, पर हिटलर अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करनेवाला व्यक्ति नहीं था। अमेरिका के जहाज डुबाये जाते रहे। उसके फलस्वरूप जर्मनी और अमेरिका के सम्बन्ध खराब होने लगे। ऐसा लगने लगा कि प्रथम विश्व-युद्ध की तरह इस बार भी अमेरिका युद्ध में सम्मिलित होने पर बाध्य किया जायगा। अमेरिका ने जर्मनी के इस कार्रवाई का घोर विरोध किया। जर्मनी और इटली दोनों की वाणिज्य दूतावास बन्द कर दिये गये। जर्मनी और इटली में भी अमेरिकी वाणिज्य दूतावास बन्द कर दिये गये।

यह स्पष्ट था कि अमेरिका ब्रिटेन को हर प्रकार से मदद करना चाहता था। नात्सीवाद की प्रगति से अमेरिका को भी खतरा था। अमेरिका की जनता नात्सीवाद के खिलाफ थी पर वह भी जानना चाहती थी कि नात्सीवाद की पराजय के बाद संसार में किस प्रकार की व्यवस्था कायम की जायगी। वस्तुतः समस्त संसार इस बात को जानने के लिए उत्सुक था। इस स्थिति में 14 अगस्त, 1941 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट और प्रधानमंत्री चर्चिल अतलान्तिक महासागर में मिले और युद्धोत्तर संसार की व्यवस्था पर एक विज्ञप्ति निकाले जिसको 'अतलान्तिक चार्टर" कहते हैं। अतलान्तिक चार्टर विल्सन के चौदह सूत्रों से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इसमें आत्म-निर्णय के सिद्धान्त, समुद्रों की स्वतन्त्रता, निरस्त्रीकरण, विश्व-शान्ति के लिए व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आदर इत्यादि बातों पर बल दिया गया था।

अतलान्तिक चार्टर के प्रकाशन के बाद जर्मनी और अमेरिका का सम्बन्ध और भी बिगड़ने लगा। जर्मन पनडुब्बियां प्रतिदिन अमेरिका के जहाजों से भिड़ जाती थी। इसके विरोध में संयुक्त राज्य अमेरिका कड़ी प्रतिरोधात्मक कार्रवाई करने लगा। ऐसा मालूम पड़ने लगा कि अतलान्तिक में सैनिक कार्रवाइयों के कारण जर्मनी और अमेरिका के बीच युद्ध छिड़ जायगा। युद्ध में अमेरिका का प्रवेश अवश्यम्भावी हो गया, पर यह अतलान्तिक के युद्ध के कारण उतना सम्भव नहीं हो सका जितना प्रशान्त महासागर के युद्ध के कारण हुआ। वस्तुतः प्रशान्त महासागर की घटनाओं के कारण ही अमेरिका द्वितीय युद्ध में प्रवेश कर सका।

पूर्वी एशिया में युद्ध

जिस समय 'उधार पट्टा अधिनियम' पास किया गया था, उस समय अमेरिका एक तटस्थ देश था। उसके युद्ध में प्रविष्ट होने का कारण पूर्वी एशिया में घटनेवाली घटनाएँ और विशेषतया जापान के साथ उसके सम्बन्ध थे। 1941 में ये सम्बन्ध निरन्तर कटु और कलहपूर्ण होते गये। 1 दिसम्बर, 1941 में जापान के विदेश मन्त्री ने घोषणा की कि जापान की विदेश-नीति "त्रि शक्ति पेक्ट पर आश्रित रहेगी" और दूसरे वर्ष के आरम्भ में यह स्पष्ट हो गया कि जापान युद्ध में प्रविष्ट होने की तैयारी कर रहा है। जुलाई, 1941 में उसने फ्रांस की विसी सरकार से फ्रेंच हिन्द-चीन में अड्डे प्राप्त कर लिये थे। अक्टूबर तक उसने समस्त हिन्द-चीन को हड़प लिया था, यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ उसकी सन्धि-वार्ता अब भी चल रही थी। सन्धि की यह वार्ता सहसा 7 दिसम्बर को समाप्त हो गयी। बिना कोई चेतावनी दिये या युद्ध की घोषणा किये जापान ने हवाई द्वीप समूह में पर्ल हार्बर पर हवाई आक्रमण कर दिया और एक ही प्रहार में प्रशान्त महासागर में अमेरिका की नौ सैनिक सर्वाच्चता का अन्त कर दिया। इसके तुरन्त पश्चात् जापान ने अमेरिका और ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 11 दिसम्बर को जर्मनी और इटली ने भी अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। पर्ल हार्बर पर आक्रण के साथ ही जापान ने अपनी सेनाएँ थाईलैंड (श्याम) और उत्तरी-पूर्वी मलाया में भी उतार दीं। दूसरी ही दिन थाईलैंड का प्रतिरोध समाप्त हो गया और जर्मनी की सेना को मलाया जाने के लिए निर्बाध मार्ग मिल गया। इसके अतिरिक्त प्रशान्त महासागर में वेकद्वीप और ग्वास के अड्डे तथा फिलिपाइन द्वीपसमूह के अधिकांश भाग पर भी जापान का कब्जा हो गया, यद्यपि फिलिपाइन में कोरेचिडोर पर अभी तक उसका अधिकार नहीं हुआ था।

पूर्वी एशिया में मित्र-राष्ट्रों की पराजय 1941-42 : इसके पश्चात् आठ महीने तक पूर्वी एशिया में मित्र-राष्ट्रों को लगातार एक के बाद दूसरी घटना का सामना करना पड़ा। 10 दिसम्बर को ब्रिटेन में दो प्रसिद्ध युद्धपोत, 'प्रिंस ऑफ वेल्स' तथा 'रिपल्स' वायु आक्रमण के द्वारा डुबा दिए गये। 27 फरवरी, 1942 को मित्रराष्ट्रों की नौ-सेना, जो अब तक बहुत क्षीण हो चुकी थी, और अधिक कमजोर कर दी गयी जब एक सक्वेड्रन ने जावा के समुद्र में शक्तिशाली जापानी नौ सेना का मुकाबला किया। तीन दिन युद्ध के पश्चात् मित्रराष्ट्रों के बेड़े को जिसमें पांच क्रूजर और छह विध्वंसक थे, नष्ट कर दिये गये। इन विजयों के कारण प्रशान्त महासागर तथा पूर्वी एशियाई समुद्र में जापान की सामुद्रिक शक्ति सर्वोच्च हो गयी थी। वायुशक्ति के दृष्टिकोण से भी उसकी स्थिति सर्वोच्च थी। अपनी इस सर्वोच्च शक्ति का जापान ने ब्रिटेन, अमेरिका और हॉलैंड के अधीन प्रदेशों के विरुद्ध पूरा लाभ उठाया। हांग-कांग में 25 दिसम्बर, 1941 को, तथा डच ईस्ट इन्डीज ने मार्च, 1942 को आत्म-समर्पण कर दिया। मलाया में जापानी सेना ने बड़ी तीव्र प्रगति की, क्योंकि वह प्रतिरक्षा पंक्ति के पीछे निर्बाध रूप से उतरने में सफल हो गयी। जनवरी के आरम्भ में क्वालालम्पूर पर कब्जा कर लिया। इस महीने के अन्त तक जापानी सेना गेहोरे में प्रविष्ट हो चुकी थी और ब्रिटिश सेना ने मलाया के मुख्य प्रदेश को पूर्णतया खाली कर दिया था। 15 फरवरी को सिंगापुर का पतन हुआ। मलाया पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् जापानी सेना ने बर्मा की ओर रुख किया, जहां पर मित्र राष्ट्रों की सेना के दृढ़ विरोध के सामने उसी प्रगति धीमी पड़ गयी थी। मित्र राष्ट्रों की ओर से इस समय अमरीकी जनरल स्टिलवे के नेतृत्व में चीनी दस्ते भी युद्ध में भाग ले रहे थे। जनरल स्टिलवेल, चीनी राष्ट्रपति च्यांग-काई-शेक का अमरीकी चीफ-ऑफ-स्टॉफ था। जापानी सेना शीघ्र ही ब्रिटिश सेना को सितांग नदी के पार पीछे हट जाने को बाध्य करके मर्तमान की खाड़ी पर जा पहुँची। 7 मार्च, को रंगून और 1 मई को मांडले खाली कर दिया गया और एक सप्ताह पश्चात् जापानी सेना बंगाल की खाड़ी तक पहुँची। इस समय आशंका थी कि जापान भारतवर्ष पर भी आक्रमण करेगा, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। जापान की सेना बंगाल की खाड़ी पर पहुँच कर रूक गयी, संभवत: मानसून के कारण और पिछले पांच महीने में जीते हुए प्रदेश की व्यवस्था करने के लिए।

प्रशान्त महासागर में भी जापान ने ऐसी ही गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की थी। मार्च में उसने न्यूगिनी और सोलोमन द्वीप समूह पर सफल आक्रमण किया और 8 अप्रैल को, अन्तिम रूप से एडमिरेल्टी द्वीप समूह में उतरने में सफल हो गयी। अब तक उसने बर्मा, डच, ईस्ट इण्डीज, न्यूगिनी और सोलोमन द्वीपों में अपनी शक्ति स्थापित कर ली थी और अब वह ऐसी स्थिति में थी कि न केवल भारतवर्ष पर, अपितु आस्ट्रेलिया पर भी आक्रमण कर सकती थी। परन्तु जापान अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और अब मित्रराष्ट्रों ने यूरोपीय आवश्यकता के बावजूद प्रचुर मात्रा में सैनिक सहायता, जिसमें वायुयान भी सम्मिलित थे, पूर्वी एशिया की ओर भेजना आरम्भ किया। भारतवर्ष को दक्षिण-पूर्वी युद्ध क्षेत्र का हेड क्वार्टर बनाया गया। मई के आरम्भ में कोरल समुद्रों के युद्ध में अमरीकी विजय, जिसमें सोलोमन द्वीप समूह के निकट जल और नभ के युद्ध में जापान को प्रथम बार पराजय का मुंह देखना पड़ा। इसके एक महीने पश्चात् अमेरिका ने जापान को दूसरी बार मिडवे द्वीप (Midway Island) के युद्ध में परास्त किया। इस युद्ध में जापान को सोलह युद्ध पोतों की हानि उठानी पड़ी जिनमें चार वायुयान ले जानेवाला जहाज भी शामिल थे। अगस्त के आरम्भ में अमरीकी सेना सोलोमन द्वीपों के ग्वाडलकेनाल (Guadalcanal) क्षेत्र में उतरने में सफल हो गयी और इस वर्ष का अन्त होते-होते अन्य युद्ध-क्षेत्रों की भांति पूर्वी एशिया में युद्ध के भाग्य ने पलटा खाया।

एल अलमीन : उत्तरी अफ्रीका का शत्रु के पंजे से मुक्त करने के लिए योजना तैयार करने में मित्रराष्ट्रों से पूरे सात महीने (अक्टूबर 1942 से लेकर 1943 तक) लगाये। एक प्रकार से इस योजना के तैयार करने में इससे भी अधिक समय लगा, क्योंकि यह योजना दिसम्बर में चर्चिल की राष्ट्रपति रूजवेल्ट के साथ हुई वार्ता तथा उसके पश्चात छह महीने तक चलते रहे वाद-विवाद का परिणाम था। इस समय जो निर्णय किये गये थे उनको अगस्त, 1942 में डीप्पे के कीमती हमले के पश्चात् सुदृढ़ कर दिया गया था। यह निश्चय किया गया कि फ्रेंच उत्तरी अफ्रीका पर ऐंग्लो-अमरीकी संयुक्त आक्रमण किया जाय और उसी समय मिस्र से ब्रिटिश सेना पश्चिम की ओर कूच करे। जनरल आइसनहावर को उत्तरी अफ्रीका में और जनरल अलेक्जेण्डर को मध्यपूर्व में कमाण्डर इन-चीफ नियुक्त किया गया और जनरल मोन्टगोमरी को ब्रिटिश आठवीं सेना का कमाण्डर नियुक्त किया गया।

23 अक्टूबर (1942) की रात को आठवीं सेना ने आक्रमण आरम्भ किया। आठवी सेना 'एल अलमीन' पर मुख्य जर्मन रक्षा की पंक्ति में प्रविष्ट होने में सफल हो गयी। इसका नेतृत्व रोमल के हाथ में था। रोमल ने प्रत्याक्रमण भी किया, परन्तु इसको परास्त कर दिया गया। 12 नवम्बर को यह सेना तोबरुक में प्रवेश कर गयी। तीन सप्ताह से कुछ अधिक समय में रोमल को एल-अघीला तक वापस हटने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसके पश्चात् तीन सप्ताह तक शान्ति रही और इस बीच में बेन्गाजी नष्ट-भ्रष्ट बन्दरगाह के द्वारा युद्ध सामग्री के नये मार्ग की व्यवस्था करके फिर युद्ध आरम्भ कर दिया गया। 14 दिसम्बर को एल-अधीला का पतन हो गया और शत्रु सेना को ढाई सौ मील पीछे हटकर बेरुत में पड़ाव डालने के लिए बाध्य होना पड़ा। जनवरी, (1943) के आरम्भ में उसको इस स्थान से पीछे हटना पड़ा और 23 जनवरी को ट्रिपोली को आठवीं सेना के सामने हथियार डालने पड़े। 82 दिनों में रोमल का सेना का 1350 मील तक पीछा किया गया। अब वह टयूननिशिया को सीमा के भीतर मरेथ लाइन पर जा रहा था। मरेथ लाइन वह क्षेत्र था जिसकी फ्रांसीसियों ने इटालियनों से रक्षा करने के लिए किलेबन्दी की थी।

8 नवम्बर को ब्रिटिश-अमरीकी सेना फ्रेंच उत्तरी अफ्रीका में कैसाब्लेंका, औरान तथा एल्जियर्स के निकट आकर उतरी। अलजीरिया पर फ्रांसिसियों द्वारा थोड़ा-सा विरोध किये जाने के पश्चात् अधिकार हो गया। एल्जियर्स के पतन के कुछ समय पश्चात ही औरान और कैसाब्लेंका का भी पतन हो गया। चार दिन के भीतर एल्जियर्स से पश्चिम की ओर लड़ाई सर्वथा समाप्त हो गयी, परन्तु मित्र राष्ट्रों को यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि फ्रांसीसियों ने सहयोग के स्थान पर उनका विरोध किया। इसका कारण फ्रांसीसियों

के आपसी व्यक्तिक एव राजनैतिक मतभेद थे। जेनरल डी गाल और जनरल जिरीद में से किसी को भी पर्याप्त समर्थन प्राप्त नहीं था। एडमिरल दार्ला विसी सरकार का एक प्रभावशाली सदस्य तथा उत्तरी अफ्रीका में उसका प्रतिनिधि था। उसने मित्र राष्ट्रों के पक्ष में फ्रांसीसी सेना को इकट्ठा किया, परन्तु उसके ऐसा करने का कारण अब तक पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। दार्ला की हत्या कर दी गयी जिसके पश्चात जिरौद ने उसका स्थान ग्रहण किया, परन्तु इस समय तक मुख्य उद्देश्य को प्राप्त किया जा चुका था और फ्रेंच दल का अधिकांश भाग मित्र-सेना से आ मिला था।

मित्र-सेनाओं के उत्तरी अफ्रीका में उतरने के उत्तर में जर्मनी ने केवल ट्यूनीशिया में अपनी सेनाएँ ही नहीं भेजीं, अपितु अनधिकृत फ्रांस पर भी कब्जा कर लिया। 11 नवम्बर को तुलों के अतिरिक्त समस्त अनधिकृत फ्रांस पर कब्जा कर लिया गया। दो सप्ताह पश्चात् जर्मन सेना तुलों में फ्रेंच बेड़े पर कब्जा करने के उद्देश्य से प्रविष्ट हुई, परन्तु उसने देखा कि स्वयं फ्रांसीसियों ने अपने बेड़े को डुबो दिया है।

उत्तरी अफ्रीका में मित्र राष्ट्रों की विजय : उत्तरी अफ्रीका में मित्र-राष्ट्रों का मुख्य प्रतिरोध रोमल ने किया। पूर्व में मरेथ लाइन के पीछे जर्मन सेना के सामने ब्रिटिश आठवीं सेना तैनात थी, और पश्चिम की ओर ब्रिटिश पहली सेना, अमरीकी दूसरी कोर तथा जनरल जिरौद के नेतृत्व में फ्रेंच सैनिक उसको घेरे खड़े थे। फरवरी, 1943 में सभी जर्मन सेनाओं ने पूरी शक्ति लगाकर दक्षिण ट्यूनीशिया में मित्र सेना की पंक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया, परन्तु कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इसी प्रकार मार्च के आरम्भ में किया गया आक्रमण भी विफल रहा। इसके पश्चात 20 मार्च की रात को आठवीं सेना ने आक्रमण करके मरेथ लाइन को तोड़ दिया, 6 अप्रैल को इसने रोमल की दूसरी रक्षा पंक्ति को भी तोड़ डाला और दूसरे दिन दूसरी कोर के अमरीकी सैनिक भी आठवीं सेना से आ मिले। उधर पश्चिम में भी मित्र सेना ने मार्च के अन्त में आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था और अप्रैल के आरम्भ में बिसर्टा से पश्चिम की ओर केप सेरोट पर अधिकार कर लिया। 5 मई को अन्तिम आक्रमण आरम्भ हुआ और दो दिन पश्चात् अमीरीकी दूसरी कोर विसर्टा में प्रविष्ट हो गयी और ब्रिटिश सेना ने ट्यूनिश पर कब्जा कर लिया। एक सप्ताह में अफ्रीका स्थित सब 'धुरी' सेनाओं ने हथियार डाल दिया। इस युद्ध में ढाई लाख जर्मन और इटालियन सैनिक बन्दी बनाये गये और उनकी युद्ध-सामग्री प्रचुर मात्रा में हाथ लगी।

उत्तरी अफ्रीका की विजय तीन दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण थी। प्रथम, युद्ध क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग के कारण ऐंग्ला-अमरीकी उद्देश्य की एकता को बल मिला। दूसरे, इस विजय के परिणामस्वरूप फ्रेंच भूमि पर अन्तरकालीन स्वतन्त्र फ्रेंच शासन की स्थापना हुई तथा फ्रांस की सैनिक प्रतिष्ठा के पुनर्जन्म का आरम्भ हुआ। तीसरे, उत्तरी अफ्रीका के युद्ध ने इटली की युद्ध करने की शक्ति तथा साहस को तोड़ दिया और यह मुसोलिनी की तानाशाही के पतन की भूमिका सिद्ध हुआ।

भूमध्यसागर का युद्ध : जनवरी, 1943 में कैसाब्लेंका में ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल तथा अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट का एक सम्मेलन हुआ जिसमें युद्ध का भावी कार्यक्रम निश्चित किया गया, परन्तु इस कार्यक्रम को क्रियारूप में परिणत करने से पहले भूमध्यसागर को साफ करना आवश्यक था जिससे मित्र-राष्ट्रों के जहाज स्वतन्त्रतापूर्वक इसमें होकर आ-जा सकें। वास्तव में, भूमध्यसागर के लिए संघर्ष का कभी पूर्णतया परित्याग नहीं किया गया था। जैसा कि नवम्बर 1940 में टारण्टो में इटालियन बेड़े पर ब्रिटिश वायु सेना के आक्रमण तथा मार्च 1941 में मातापान अन्तरीप के निकट ब्रिटिश विजय से प्रकट है। एक महीने पश्चात एक कुमुक जो माल्टा के लिए अत्यन्त आवश्यक सामान ले जा रही थी, तीन दिन तक शत्रु के साथ युद्ध करने के पश्चात् अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकी। मध्यपूर्व के लिए सामान ले जाने वाले जहाजों को इतनी भयंकर हानि सहन करनी पड़ती थी कि आखिरकार ब्रिटिश जहाजों को केप अन्तरीप का चक्कर काट कर मध्यपूर्व को जाने के लिए बाधय होना पड़ा।

जुलाई, 1943 के आरम्भ में लेम्पेदूसा ओर पेन्टेलौरिया नामक द्वीपों पर अधिकार करने के साथ भूमध्यासागर पर आक्रमण किया गया। ये टापू यद्यपि छोटे थे परन्तु इनकी किले-बन्दी बड़ी सुदृढ़ ढंग से की गयी थी। एक महीने पश्चात् ब्रिटिश और अमरीकी सेनाएँ सिसली में उतर गयीं। ब्रिटिश आठवीं सेना ने कनाडा के एक डिवीजन के साथ इस टापू के पूर्वी किनारे पर आक्रमण किया और अमेरिका की सातवीं सेना ने पश्चिमी किनारे पर जर्मन सेनाएँ उत्तरी भाग में केन्द्रित की गयीं और उन्होंने जाने वाले मार्ग को रोक दिया। अमरीकी सेना ने दो दिशा से आगे बढ़ना आरम्भ कर दिया। पश्चिम में मार्शली की ओर तथा उत्तर में पालेर्मो की ओर जिस पर 22 जुलाई को कब्जा कर लिया गया। आठवीं सेना ने आरम्भ में तो बड़ा आश्चर्यजनक प्रगति की, परन्तु बाद में उसको केटेनिया के मैदान में शत्रु के कठोर विरोध ने रोक दिया और अगस्त से पहले ब्रिटिश सेना इस मैदान में प्रविष्ट नहीं कर सकी। 17 अगस्त को मेसीना का पतन हो गया।

मुसोलिनी का पतन : मेसीना के पतन से पहले इटली में नाटकीय घटनाएँ घटित हो रही थीं। 25 जुलाई को मुसोलिनी ने त्याग-पत्र दे दिया और उसके स्थान पर मार्शल बादोगलियो को नियुक्त किया गया, जिससे मित्र-राष्ट्रों के साथ सन्धि करने के उद्देश्यों से नयी सरकार का निर्माण किया। मित्र-राष्ट्रों के हाई कमाण्डर के साथ सन्धि की गुप्त बातचीत आरम्भ की गयी। मुसोलिनी को स्वयं उसी की पार्टी ने बन्दी बना ली थी। बाद में जर्मनों ने उसको मुक्त कर दिया था। परन्तु फिर उसको बन्दी बना लिया गया और 28 अप्रैल, 1945 को इटालियनों में उस पर अत्यन्त अपमानजनक ढंग से अभियोग चला कर उसका अन्त किया। 3 सितम्बर, 1943 को इटली ने युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर किया, परन्तु पांच दिनों तक इसकी घोषणा इसलिए नहीं की गयी जिससे कि इस बीच में मित्र सेनाएँ इटली की मुख्य भूमि पर अपने पैर जमा लें। युद्ध-विराम सन्धि की शर्तें इटली के लिए अत्यन्त अपमानजनक थीं। इटली को बिना शर्त आत्मसमर्पण करने, तुरन्त युद्ध बन्द कर देने, अपना समस्त बेड़ा तथा हवाई बेड़ा मित्र राष्ट्रों को देने तथा अपने सब सैनिक अड्डों को प्रयोग करने देने की गारन्टी देने के लिए विवश होना पड़ा। 10 सितम्बर को इटालियन बेड़ा माल्टा चला गया। परन्तु, यद्यपि इटालियन सशस्त्र सेना ने युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर होने से पहले ही लड़ना बन्द कर दिया था, परन्तु अभी तक इटली की भूमि पर जर्मन सेनाएँ शेष थीं। 10 सितम्बर को इन जर्मन सेनाओं ने रोम पर कब्जा कर लिया तथा इटली के एक बड़े भाग पर विषेषकर उत्तर में जर्मन नियन्त्रण स्थापित कर लिया गया। इन परिस्थितियों में मार्शल बादोगलियो तथा उसकी सरकार भागकर मित्र-राष्ट्रों के कैम्प में पहुँची और उसने जर्मनों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। इस प्रकार इटली ने मित्र पक्ष की ओर से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में भाग लेना आरम्भ कर दिया।

इटली का युद्ध : इटली में सर्वप्रथम ब्रिटिश सेना 3 सितम्बर को रेगियों में उतरी। इसके छह दिन पश्चात् अमरीकी पांचवीं सेना नेपुल्स के दक्षिण में सलेर्नो में सफलतापूर्वक उतर गयी। जर्मनों ने अपने सैन्यबल को सलेर्नो क्षेत्र में केन्द्रित करके प्रत्याक्रमण कर दिया। बड़ी भंयकर लड़ाई हुई, परन्तु अमरीकी सेना अपने स्थान पर दृढ़ बना रही। इस लड़ाई में अमरीकी सेना की सहायता में युद्धपोत समुद्र के जर्मन सेना पर अग्नि वर्षा कर रहे थे। इतने ही में दक्षिण से ब्रिटिश सेना सहायता के लिए आ पहुँची और उसने जर्मनी सेना का दवाब को कम कर दिया। दक्षिण में आठवीं सेना की टुकड़ियाँ पहले ही टारन्टों, ब्रिन्डसी तथा बारी में प्रविष्ट हो चुकी थीं। अब इस सेना के मुख्य भाग ने फोगिया के महत्वपूर्ण हवाई अड्डे पर कब्जा करने के विचार से सलेर्नो से पूर्व की ओर बढ़ना आरम्भ किया। यह इटली के युद्ध के प्रारम्भिक दो महत्वपूर्ण लक्ष्यों में एक था। दूसरा महान् लक्ष्य नेपुल्स था, जिसने अमरीका की पांचवी सेना के सामने पहली अक्टूबर को आत्मसमर्पण कर दिया। इसके पश्चात् जर्मनी सेना पीछे वोल्टूनो नदी तक हट गयी और पूर्व तथा पश्चिम में मित्र सेनाओं की प्रगति भी मन्द पड़ गयी। नवम्बर में ब्रिटिश सेना सेन्ग्रो नदी के मार्ग पर अधिकार करने

में सफल हो गयी और इस वर्ष के अन्त तक उसने मोरो नदी को पार कर लिया। पश्चिम में अमरीकी सेना ने अक्टूबर के मध्य में वोल्टून नदी पार किया और जर्मनों को गेरिगलियानों के पीछे ढकेल दिया। इस समय जनरल आइसन-हावर पश्चिमी यूरोप के आक्रमण की योजना का चार्ज लेने के लिए इंगलैंड गया। उसके पीछे इटली में मित्र सेनाओं का कमाण्डर अलेक्जेण्डर था।

अमेरिका की पांचवी सेना ने 1944 के आरम्भ में पश्चिम के गतिरोध को तोड़ने का प्रयत्न किया। 20 जनवरी को मित्र सेनाओं ने गेरिगलियानों नदी को पार किया और दो दिन पश्चात जर्मन सेना को पीछे से उसके आधार से पृथक कर देने के विचार से और उत्तर की ओर एन्जियों में मित्र सेनाओं को उतारा गया। इस कार्यवाही में केवल आंशिक सफलता मिली और जर्मन कमान्ड, फील्ड मार्शल, कैसलरिड्ग मित्र सेनाओं को आगे बढ़ने से रोकने में सफल हो गया। अगले महीने मित्र सेनाओं ने गेरिगलियानो नदी के पूर्व की ओर कैसिनों को चारों ओर से घेरनेवाले पहाड़ी क्षेत्र में एक बार फिर प्रयत्न किया, परन्तु इसमें भी उनको असफल होना पड़ा और मई से पहले वे शत्रु की स्थिति को तोड़ने के लिए पर्याप्त रूप से शक्तिशाली हो सके। तब आठवीं सेना के मुख्य अंग को पश्चिम में अमेरिका की पांचवीं सेना सहायता के लिए गुप्त रूप से भेजी गयी और फिर आक्रमण आरम्भ किया गया। इस बार मित्र सेनाएँ गेरिगलियानो तथा रेपिड़ो नदी पार जर्मनी रक्षा पंक्ति को तोड़ने में सफल हो गयीं और एन्जियों से मित्र सैन्य दल से आ मिलने के पश्चात् उन्होंने जर्मनी सेना को उत्तर की ओर बड़ी तेजी से खदेड़ना आरम्भ किया। 4 जून को पांचवीं सेना के सामने रोम का पतन हुआ। दो दिन पश्चात् मित्र सेना नार्मण्डी में उतर गयी। इसके पश्चात प्रगति कुछ धीमी हो गयी। जुलाई में सीना और लेघोर्न का तथा 11 अगस्त को फ्लोरेन्स का पतन हुआ। सितम्बर के आरम्भ में दोनों विरोधी सेनाएँ जर्मन की दूसरी रक्षा पंक्ति -'गोथिक लाइन' पर एक-दूसरे के सामने खड़ी थीं, जो उत्तरी एपेनाइन्स में इटली के आर-पार आर्नो नदी से रिमिनी तक फैली हुई थीं। सितम्बर के आरम्भ में ही पिसा का पतन हो गया और 22 तारीख को रिमिनो का। दिसम्बर के आरम्भ में रेवेना पर कब्जा कर लिया गया, परन्तु बुरे मौसम और कैसेलरिड्ग के योग्यतापूर्ण प्रतिरोध के कारण मित्र सेनाएं बोलोग्ना पर अधिकार नहीं कर सकीं। इटली के युद्ध का अन्तिम अध्याय, प्रायद्वीप के दोनों ओर से आक्रमणों द्वारा 10 अप्रैल, 1945 को खुला। बोलोग्ना ले लिया गया और उसके पश्चात स्पेजिया और जिनोआ भी। इस समय प्रतिरक्षा का सर्वथा अन्त हो चुका था और जर्मनी सेना विशाल संख्या में आत्म-समर्पण करने के लिए बाध्य हुई। इसके अतिरिक्त इटालियन देशभक्त उत्तर के औद्योगिक नगरों पर अधिकार कर रहे थे। 29 अप्रैल को दो जर्मन अफसर ने फील्ड मार्शल अलेक्जेण्डर के हेडक्वार्टर पर एक समझौते पर हस्ताक्षर किया जिसमें इटली में स्थित जर्मन सेना को बिना शर्त आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस समझौते के अनुसार इटली में लड़ने वाली समस्त जर्मन सेना ने 2 मई को हथियार डाल दिया।

जर्मनी की पराजय

स्टालिनग्राड का युद्ध : 1942 के ग्रीष्म में हिटलर ने सोवियत संघ पर अपना दूसरा धावा किया था। इस बार धुरी राष्ट्रों की दो सौ चालीस टुकडियाँ सोवियत संघ के विरुद्ध लगायी गयीं। हिटलर का ख्याल था कि इस बार सोवियत संघ में घुसकर बोल्गा नदी तक बढ़ जाया जाय और काकेशश की तेल खानों पर आधिपत्य कर लिया जाय। अगस्त 1942 तक नात्सी वेहरमक्ट तीव्र गति से आगे बढ़ती गयी और चारों तरफ से स्टालिनग्राड को भी घेर लिया। स्टालिनग्राड की रक्षा सोवियत संघ के जीवन-मरण का प्रश्न था। अतः किसी भी मूल्य पर इसकी रक्षा जरूरी थी। स्टालिनग्राड को बचाने और उस पर आधिपत्य जमाने के लिए जर्मनी और सोवियत संघ के बीच जो युद्ध हुआ वह युद्ध के इतिहास में अद्वितीय है। रूस में इस युद्ध को "इतिहास का सबसे महान युद्ध" कहा जाता है।

23 अगस्त, 1942 को जर्मन सेना ने स्टालिनग्राड को घेर लिया था। जर्मन सेना की संख्या 340,000 थी और जेनरल वान पौलस इसका सेनापतित्व कर रहा था। स्टालिनग्राड का युद्ध सितम्बर से नवम्बर तीन महीनों तक चला। सितम्बर के प्रारम्भ में हिटलर ने कहा कि "हमलोग स्टालिनग्राड पर हमला कर हैं और इसको वह जीतकर ही दम लेंगे।" लेकिन उसका यह स्वप्न कभी पूरा नहीं हुआ। स्टालिनग्राड को बचाने के लिए एक-एक सोवियत बच्चा अपने घर से निकल पड़ा। यह उनके जीवन-मरण का प्रश्न था। महीनों तक जर्मनी लुफ्तावाफे स्टालिनग्राड पर बम गिराते रहे और वेहरमक्ट आगे बढ़ती रही। लेकिन सोवियत सेना ने डटकर मुकाबला किया। प्रत्येक खण्ड, प्रत्येक गली, प्रत्येक घर और यहां तक कि प्रत्येक कमरे में उन्होंने शत्रु का मुकाबला किया। स्टालिनग्राड में महीनों तक आग लगी रही, सैकड़ों युवक मौत के घाट उतार दिये गये, पर सोवियत बहादुरों ने हथियार नहीं डाले। पचास दिनों की लड़ाई में उन्होंने 180,000 जर्मनों को मार डाला और जर्मनी के लगभग 1300 हवाई बेड़े मार गिराये। इसी समय तक शरद ऋतु आ चुकी थी। मौसम से लाभ उठाकर "लाल सेना" शत्रु को पीछे हटाने की तैयारी करने लगी। मार्शल पौलस ने हिटलर को पीछे हट जाने की अनुमति मांगी, पर उसका हुक्म हुआ कि वह डटा रहे और स्टालिनग्राड को जीत कर ही वापस आवे। इस समय तक सोवियत सेना तैयार हो चुकी थी। इसका नेतृत्व सोवियत संघ के योग्यतम सेनापति कर रहे थे। मार्शल जुकोव, रोकोसोवस्की, भेसुसिन जैसे सेनानायक सोवियत सेना का संचालन कर रहे थे। स्वयं स्टालिन सबकी निगरानी कर रहा था। इन लोगों ने वेहरमक्ट को दो तरफ से घेर लिया। मार्शल पौलस इसका जवाब देने में असमर्थ था। घिर जाने के कारण वह अपनी सेना के साथ भाग भी नहीं सकता था। अतएव अधिक दिनों तक वह युद्ध में नहीं टिक सका। 2 फरवरी, 1943 को उसने आत्मसमर्पण कर दिया। स्टालिनग्राड का युद्ध समाप्त हो गया। हिटलर को पहली बार महत्वपूर्ण पराजय का अनुभव हुआ।

स्टालिनग्राड का युद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध का वर्तन-बिन्दु है। हिटलर के वेहरमक्ट का बहुत हिस्सा सोवियत संघ के कब्जे में था। उसके सैनिक अब सोवियत संघ के युद्ध कैदी थे। यह जर्मनी की एक बहुत बड़ी पराजय थी और इसके बाद से उसकी अन्तिम पराजय निश्चित हो गयी। इन्हीं कारणों से स्टालिनग्राड की बर्डुन के युद्ध से तुलना की जाती है। सोवियत जनता और सोवियत सेना के सैनिकों ने अपूर्व वीरता का प्रदर्शन करके केवल स्टालिनग्राड को ही नहीं बचाया बल्कि संयुक्त राष्ट्र की विजय को भी निश्चित कर दिया। यदि स्टालिनग्राड का युद्ध सोवियत संघ हार गया रहता तो आज विश्व का इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

स्टालिनग्राड के युद्ध के बाद सोवियत सेना आगे ही बढ़ती गयी। 1943 के खत्म होते-होते सम्पूर्ण सोवियत भूमि जर्मन आक्रमणकारियों से मुक्त हो गयी और सोवियत सेना आगे बढ़ने लगी। जनवरी, 1944 में वह पूर्व पोलैंड पहुँच गयी। अप्रैल में रूमानिया और इसके बाद फिनलैंड और बुल्गेरिया में पहुँचते भी देर न लगी। सोवियत सेना पूर्वी यूरोप को उसी तरह रौंदने लगी जिस प्रकार तीन वर्ष पूर्व नात्सी सेना ने रौंदा था। प्रत्येक स्थान पर सोवियत संघ की विजय होती रही। बाल्टिक क्षेत्र के सम्पूर्ण देशों को नात्सीवाद से मुक्त करके सोवियत सेना जनवरी, 1945 में पोलैंड पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगी। इस आक्रमण का अन्त बर्लिन पर आधिपत्य के बाद ही हुआ।

पश्चिमी मोर्चा : जिस दिन जर्मनी ने सोवियत संघ पर अपना पहला आक्रमण किया था, उसी दिन से स्टालिन अपने साथी राज्यों से पश्चिम में एक दूसरा मोर्चा खोलने का अनुरोध कर रहा था। सोवियत संघ पर से युद्ध का भार कम करने के लिए यह आवश्यक था। अमेरिका स्टालिन के विचार से सहमत था, पर चर्चिल का दूसरा ही अनुमान था। उसका विचार था कि जर्मनी पर पश्चिम की तरफ से नहीं बल्कि पूर्व की ओर से बाल्कन प्रायद्वीप की तरफ से हमला किया जाय। उसका ख्याल यह था कि पूर्व से जर्मनी

पर आक्रमण करने से बाल्कन प्रायद्वीप पर सोवियत संघ का अधिकार नहीं हो सकेगा। वह एक ही युद्ध में सामरिक दृष्टि से जर्मनी को तथा कूटनीतिक दृष्टि से सोवियत संघ को हराना चाहता था। बाल्कन प्रायद्वीप की तरफ से हिटलर पर आक्रमण करने के लिए यह आवश्यक था कि भूमध्यसागर पर अंग्रेजों और अमेरिकियों का पूर्ण कब्जा हो जाए। इसके लिए अफ्रीका में धुरी राष्ट्रों को हराना आवश्यक था। अतः चर्चिल ने पहले उत्तरी अफ्रीका को फासिस्टों से मुक्त करने का प्रस्ताव किया और रूजवेल्ट भी इस विचार से सहमत हो गया। इस कारण पश्चिम में दूसरा मोर्चा 1943 के पहले कायम नहीं हो सका। ब्रिटेन और अमेरिका उत्तरी अफ्रीका तथा इटली के युद्ध में व्यस्त रहे। इन दोनों क्षेत्रों में उनकी विजय तो हुई, पर वे बाल्कन प्रयाद्वीप की तरफ से जर्मनी पर आक्रमण करने में सफल नहीं हो सके। जर्मन आक्रमणकारियों से छुड़ाकर उसने बाल्कन के प्रत्येक देश को जीतना शुरू किया।

पश्चिम में दूसरा मोर्चा खुलने में विलम्ब कुछ अवश्य हो गया, पर अप्रैल 1941 में ही यह निर्णय कर लिया गया कि जर्मनी के विरुद्ध एक दूसरा मोर्चा खोला जायगा। दिसम्बर, 1943 में इसकी तैयारी होने लगी। अफ्रीका में विजय प्राप्त करने के बाद जनरल आइसनहावर यूरोपीय कमान का सर्वोच्च सेनापति हुआ। पूरी तैयारी कर लेने के बाद 6 जून, 1944 को दूसरा मोर्चा बाजाप्ता खोल दिया गया। हिटलर को अब दो मोर्चों पर युद्ध करना था।

फ्रांस में जर्मनी की पराजय : जुलाई में जनरल पैटन के नेतृत्व में एक अमरीकी सेना जर्मन लाइन को तोड़ कर सेण्ट लो और एवेरन्शिन पर कब्जा करने में सफल हो गयी। 10 अगस्त को नाट्सं का पतन हुआ और एक सप्ताह पश्चात् पैटन की सेना चाट्रीज, आरलियन्स और शेटूडून को मुक्त करती हुई ड्रक्सजा पहुँची। इस बीच नार्मण्डी के युद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय होनी आरम्भ हो गयी। जब जर्मनों ने मार्टेन के निकट प्रत्याक्रमण किया तो जनरल माण्ट-गोमरी ने अमरीकी सेना के एक भाग को उत्तर की ओर घुसकर ब्रिटिश और कनाडियन सेना से जा मिलने का आदेश दिया। परिणामस्वरूप जर्मन सैनिक एक बड़ी संख्या में फैले क्षेत्र में घिर गये। जर्मनों ने अपने इन घिरे हुए सैनिक में से कुछ को निकालने का प्रयत्न किया, परन्तु जान और माल का भयंकर मूल्य चुकाना पड़ा। मित्र सेना ने जर्मनी की आठ पैदल डिवीजन और दो पेन्जर डिवीजनों को बन्दी बना लिया। अगस्त में जनरल पैटन की सेना पेरिस से नीचे सीन नदी पर मान्टीज में जा पहुँची। ब्रिटिश सेना सीन नदी को पार कर तेजी से सोम की ओर अग्रसर हुई। पेरिस के अन्दर काम करने वाले फ्रेंच प्रतिरोध आन्दोलन के सदस्यों ने 3 तारीख को पेरिस को मुक्त कर लिया और दो दिन पश्चात इस विजय को पूर्ण करने के लिए जनरल लेकलर्क की बख्तर बन्द डिवीजन आ पहुँची। उसी दिन जनरल दीगाल ने भी फ्रांस की राजधानी पेरिस में प्रवेश किया।

लगभग उसी समय जब मित्र सेनाएँ सीन नदी को पार कर रही थीं, तूलों और नीस के बीच फ्रांसीसी रिवीरा में मित्रराष्ट्रों ने अपनी सेनाएँ उतारीं। शत्रु की ओर से कोई कठोर प्रतिरोध नहीं हुआ और फ्रांसीसी-अमरीकन सेना अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने तथा जर्मनी सेना का पीछा करने में सफल हुई। कुछ ही दिनों में तूलों और मार्शेलिज पर क़ब्जा हो गया। अगस्त के अन्त तक अमेरिका की सातवीं सेना ने वालेन्स पर 3 सितम्बर को फ्रांसीसी और अमरीकी सैनिक ने लिनोन्स पर तथा कुछ दिन पश्चात् बीसनकान पर अधिकार कर लिया। सितम्बर के मध्य तक अतलांटिक के बन्दरगाहों और अंल्सस-लोरेन के अतिरिक्त अधिकांश फ्रांस मुक्त कर लिया गया था और मित्र सेनाएँ बेल्जियम होकर हॉलैंड की ओर बड़ी तेजी से बढ़ रही थीं। इससे कुछ ही पहले जनरल आइसनहावर को फ्रांस में समस्त थल सेना का सर्वोच्च सेनाध्यक्ष बना दिया गया था। मॉण्टगोमरी, जो अब फील्ड मार्शल बन चुका था, ब्रिटिश इक्कीसवीं सेना का और जनरल ब्रेडले अमरीका की बारहवीं सेना का कमाण्डर नियुक्त किया गया था।

नार्मण्डी में विजय प्राप्त करने के पश्चात् ब्रिटेन और कनाडा की सेनाओं ने आमीन्स पर कब्जा करके सोम नदी को पार किया तथा अर्रास पर अधिकार करके बेल्जियम की सीमा को पार किया और तीसरी और चौथी सितम्बर को क्रमशः ब्रूसेल्स तथा तामूर को मुक्त करके ब्रिटिश सेना ने अल्बर्ट नहर को पार कर लिया था और दूसरे सप्ताह एस्कौट नहर तथा डच सीम तक जा पहुँची थी। अब उसके और जर्मनी सीमा के बीच मास नदी तथा लोअर राइन (नदी) थी और यहाँ पर जर्मनों ने अपना अन्तिम मोर्चा लगाने का दृढ़ निश्चय किया था। इन दोनों नदियों को पार करने तथा सीगफ्रीड लाइन से आगे निकल जाने के विचार से मित्र राष्ट्रों ने वायुयानों से दक्षिण-पूर्वी हालैंड में सेना उतारी। परन्तु इस प्रयत्न में मित्र राष्ट्रों को सपलता प्राप्त न हो सकी, क्योंकि आर्नहेम में नदी पर जो किलेबन्दी की गयी थी, वह शत्रु के प्रतिरोध का सामना नहीं कर सकी, यद्यपि वाल नदी पर की गयी किलेबन्दी का सामना करने में सफल हुई। अक्टूबर के अन्त तक यूरोप पर किये गये आक्रमण का पहला अध्याय समाप्त हो चुका था। इस काल में फ्रांस, बेल्जियम और लुक्जमबर्ग होकर जर्मनी कीं सीमा तक मित्र राष्ट्रों की सोना को रसद पहुँचाने का काम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सफलता थी, जनरल आइसन हावर ने लिखा है कि इसने रूसी जनरलों को भी अत्याधिक प्रभावित किया था। परन्तु चार महीने की तीव्र प्रगति के पश्चात् रसद के रास्तों पर शत्रु का दवाब अनुभव होने लगा था और पेट्रोल तथा गोला-बारूद की कमी के कारण प्रगति मन्द पड़ गयी। परन्तु इस अवधि में ब्रिटिश सेना ने दक्षिणी हालैंड को मुक्त कर दिया था। फ्रांसीसी सेना मुल्हौसेन पर राइन नदी तक पहुँच चुकी थी और अमरीकियों ने स्ट्रासवर्ग पर कब्जा करके जर्मन सीमा को पार कर लिया था तथा सार की ओर तेजी से बढ़ रही थी।

रूस का पूर्व में आक्रमण : वास्तव में, 1944 में जर्मनी को अपने घर में ही दो मोर्चों पर लड़ना पड़ रहा था। पश्चिम में जब ऐंग्लो-अमरीकी सेना ने आक्रमण किया, उसी समय रूसी सेना ने भी बढ़ना आरम्भ कर दिया था। जून के आरम्भ में रूसी सेना ने करेलियन थल डमरूमध्य को पार किया और फिनलैंड की प्रसिद्ध मैनरहीम लाइन को तोड़कर विवार्ग पर कब्जा कर लिया। इससे उत्तर में लेडोगा और ओनेगा झीलों के बीच भी रूसियों ने सफलतापूर्वक आक्रमण किया। अगस्त का अन्त होने से पहले ही फिन लोग युद्ध बन्द करने के लिएं बाध्य हुए। 19 सितम्बर को युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, जिसके अनुसार फिन लोगों ने 1949 में निर्धारित सीमा के अन्दर लौट जाना, रूस को पेट्सामो प्रदान करना तथा तीस करोड पौंड हर्जाना देना स्वीकार किया। रूस ने हांगो प्रायद्वीप पर अपने पहले दावे का परित्याग कर दिया।

रूस की उपर्युक्त प्रगति के समानान्तर श्वेत रूस के मोर्चों पर भी ऐसी ही प्रगति जारी थी जहां पर जून का अन्त होने से पहले ही आक्रमण आरम्भ किया गया था। वाईटेब्सक का 26 जून को पतन हुआ और जर्मन सेना की पांच डिवीजन सेना घेर लिए गये जो या तो मार डाले गए या आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किए गये। इसी समय दक्षिण की ओर मध्य पोलैंड की दिशा में रूसियों ने शक्तिशाली आक्रमण किया। पहले मोगिलेव और उसके पश्चात श्वेत रूस की राजधानी मिन्स्क पर कब्जा कर लिया गया। इस समय रूसी सेना दो सौ मील लम्बे मोर्चे पर बढ़ रही थी और जर्मनी किसी भी क्षेत्र में अपनी सेना को अन्य किसी स्थान पर प्रयोग करने के लिए हटाने का साहस नहीं कर सकते थे। कुछ ही समय पश्चात् रूसी सेना के दल बाल्टिक राज्य और पोलैंड के बीच से उमड़ते हुए आने लगे। लुबनिन, ल्वाब, वियालिस्टॉक तथा ब्रेस्ट-लिटोब्सक पोलैंड के दुर्ग-नगरों पर एक के पश्चात् दूसरे पर कब्जा करता चला गया। रूसी सेना धावा करती हुई विस्चुला नदी तक पहुँच गयी और एक स्थान पर वारसा से केवल दस मील की दूरी पर थी। मार्शल रोकोसीवस्की के नेतृत्व में रूसी सेना वारसा पर धावा करने की तैयारी कर ही रही थी कि इसी बीच दुर्भाग्य से वहां पर पोलैंड की गुप्त शक्तियों ने विद्रोह कर दिया। आरम्भ में तो विद्रोहियों को कुछ सफलता मिली, परन्तु आखिरकार विद्रोह को कुचल दिया गया और अविशिष्ट नगर को निर्दयता के साथ

विनष्ट कर दिया गया। पोलैंड से उत्तर की ओर बाल्टिक राज्यों में रूसियों द्वारा बड़ी शीघ्रता के साथ फूकोव, नार्बा तथा डिवन्सक पर कब्जा कर लिया गया। पहली अगस्त को लिथूनिया की राजधानी कोनास का पतन हो गया। परन्तु पूर्वी प्रशा की सीमा पर जर्मनी ने संगठित होकर प्रत्याक्रमण किया और रूसी प्रगति को रोक दिया।

बाल्कन से जर्मनी का पीछे हटना : बाल्कन प्रदेश में नया आक्रमण आरम्भ किया गया। रूसी सेना ने जस्सी पर धावा करके आक्रमण आरम्भ किया। रूमानिया ने तुरन्त ही युद्ध-विराम सन्धि की शर्तों को स्वीकार करने की घोषणा कर दी और दो दिन पश्चात जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। युद्ध-विराम सन्धि पर 13 सितम्बर को मास्को में हस्ताक्षर किये गये। परन्तु इससे पहले ही रूसी सेना बुखारेस्ट में प्रविष्ट हो चुकी थी और डैन्यूब के किनारे-किनारे आगे बढ़ती हुई सितम्बर के आरम्भ में बुल्गारिया और युगोस्लाविया जा पहुँची। बुल्गारिया ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके तथा युद्ध-विराम सन्धि के लिए प्रार्थना करके रूनमानिया का अनुकरण किया। बेलग्रेड को मुक्त करा दिया गया और मार्शल टीटो के नेतृत्व में युगोस्लाव लोगों के साथ बुल्गारिया की सेना ने बाल्कन से भागती हुई जर्मन सेना को परेशान करना आरम्भ किया। पूर्वी यूरोप में जर्मनी के मित्रों में उसका साथ छोड़ने वाला हंगरी अन्तिम मित्र था; परन्तु रूमानिया के जर्मन पक्ष को त्याग देने के पश्चात् उसकी स्थिति असम्भव हो गयी थी। अक्टूबर के आरम्भ में रूसी सेना ने रूमानिया से हंगरी की सीमा को पार कर लिया और तेजी से बढ़ती हुई बुडापेस्ट से पैसठ मील की दूरी तक चली गयी। वहां पर जर्मनी और हंगरी की सेना ने उसका डटकर सामना किया, हंगरी की सेना का एक भाग तथा उसक़ा कमाण्डर-इन-चीफ शीघ्र ही रूसी सेना में आ मिले थे। 20 जनवरी, 1945 से पहले हंगरी के साथ युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये जा सके और तब भी उस समय जबकि हंगरी के शासक को पदच्युत कर दिया गया। इस बीच अक्टूबर, 1944 में ब्रिटिश सेना यूनान में पटरास के स्थान पर उतर चुकी थी, जर्मन सैनिकों ने शीघ्रता से यूनान छोड़कर भागना आरम्भ कर दिया था और भागते हुए उनको ब्रिटिश सेना तथा यूनानियों ने बड़ा परेशान किया। 1944 का अन्त होते-होते समस्त यूनान मुक्त किया जा चुका था।

इस प्रकार जर्मन सेनाएँ पश्चिम, पूर्व और दक्षिण से 1944 के अन्त में जर्मन राज्य की सीमाओं के भीतर वापस लौटने पर बाध्य की गयीं। यूरोप का युद्ध अपने अन्तिम रूप में प्रविष्ट हो रहा था और यद्यपि अभी जर्मनी में प्रभावी प्रतिरोध की क्षमता थी, युद्ध का अन्तिम परिणाम स्पष्ट हो चला था।

यूरोप में मित्र-राष्ट्रों की विजय : मित्र-राष्ट्रों की ओर से अन्तिम आक्रमण 1945 के आरम्भ में किया गया। जर्मन सेना ने दिसम्बर के मध्य में आर्डेनीज में भयंकर प्रत्याक्रमण किया, और अमरीकी सेना को कोलीन की ओर बढ़ने से रोक दिया तथा उनके क्षेत्र में 44 मील तक अन्दर घुस गयी। इस भयंकर प्रत्याक्रमण का लक्ष्य लीज पर कब्जा करना था, जहां पर मित्र-राष्ट्रों ने अपने अन्तिम आक्रमण की तैयारी में प्रचुर मात्रा में रसद इकट्ठा कर रखी थी। अत्यन्त भयंकर लडाई के पश्चात् जिसमें दोनों दलों को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी, दूसरे वर्ष के आरम्भ में जर्मन सेना को पीछे धकेल दिया गया। जर्मन सेना का यह प्रत्याक्रमण अन्तिम दाव था और यह भी असफल रहा। परन्तु, इसने न केलव मित्र सेना से भयंकर नर आहुति ली, अपितु सार पर मित्र सेना के आक्रमण को छः सप्ताह तक रोक रखा और उस सामान्य आक्रमण को भी जनवरी के आरम्भ में रूस के आक्रमण के साथ-ही-साथ जर्मनी के विरुद्ध होने वाला था।

8 फरवरी को ब्रिटिश और कनाडा की सेना ने निजमेगन के दक्षिण-पूर्व की ओर आक्रमण आरम्भ किया और इसके पश्चात् पश्चिमी मोर्चे पर आक्रमण आरम्भ हो गया। कुछ ही समय में ट्रायर, क्रेफेल्ड तथा कोलीन आदि नगरों पर कब्जा कर लिया गया। अमरीका की पहली सेना ने रेमोगेन पर राइन नदी को पार किया।

मार्च के मध्य में कोब्लेन्ज का पतन हुआ और इसके समय तक मोसेल से ऊपर राइन का पश्चिमी किनारा जर्मन सैनिकों से खाली हो गया। दक्षिण में फ्रांस और अमरीकी की सेना शत्रु के विरोध का सफल सामना करती हुई सार पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ रही थी तथा उसने अनेक नगरों पर कब्जा कर लिया था। 25 मार्च तक जर्मन के संगठित विरोध का राइन के पश्चिम में पूर्णताय अन्त हो गया था। उत्तर में फील्ड मार्शल मॉण्टगोमरी की अध्यक्षता में इक्कीसवीं सेना ने लोअर राइन को चार स्थानों पर पार किया और नदी-तट पर एक किलेबन्दी पर कब्जा करके ग्यारह दिन उत्तर-पूर्व की ओर एक सौ मील आगे बढ़ गयी। इस प्रगति का उद्देश्य रूर का पूर्ण घेरा था, जो अप्रैल के आरम्भ तक सफल हो गया था, यद्यपि इस क्षेत्र में जर्मन विरोध 18 अप्रैल तक समाप्त नहीं हुआ। अब राइन से पूर्व तीन स्थानों पर मित्र सेनाओं की स्थिति पूर्णतया सुदृढ़ थी। उत्तर में वेजेल पर, रेमागेन पर तथा मेन्ज के दक्षिण मे ओपनहीम पर। यहां से मित्र सेनाओं ने मध्य जर्मन पर आक्रमण करना आरम्भ किया। साथ ही वायुयानों ने भयंकर बम की वर्षा की, जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी में भयंकर गड़बड़ी मचने लगी। जर्मनी में अब तीन ओर से आक्रमण हो रहा था। एक उत्तर की ओर, दूसरा जर्मनी के बीच में होकर पूर्व की ओर और तीसरा दक्षिण-पूर्व की ओर से। उत्तर में डेनमार्क को जर्मनी से पृथक करने के लिए और दक्षिण-पूर्व में डैन्यूब घाटी में रूसी सेना से मिलकर दक्षिणी जर्मनी में भारी जमाव की सम्भावना का अन्त करने के लिए। इस समय तक जर्मनी का संगठित प्रतिरोध समाप्त हो चला था। इसके पश्चात जर्मनी के आत्मसमर्पण तक युद्ध जर्मन नगरों पर मित्रराष्ट्रों के अधिकार करने की कहानी मात्र रह जाता है।

जर्मनी का आत्मसम्पर्ण : पश्चिम में मित्र-सेनाओं के आक्रमण आरम्भ करने से पहले रूस ने आक्रमण आरम्भ कर दिया था। जनवरी के आरम्भ में वारसा पर कब्जा करके रूसी सेना पोलैंड को पार करती हुई जर्मनी में प्रविष्ट हुई। इसी बीच दक्षिण में रूसी सेना बुडापेस्ट में प्रविष्ट हो चुकी थी। उनसे मार्च के अन्त तक डैन्यूब के किनारे-किनारे बढ़ कर आस्ट्रिया में प्रवेश किया तथा 25 अप्रैल के मध्य तक आस्ट्रिया की राजधानी, वियना तक जा पहुँची। 16 अप्रैल को बर्लिन (जर्मनी की राजधानी) पर आक्रमण आरम्भ हुआ। पांच दिन पश्चात रूसी सेना ने बर्लिन के उपनगरों में पहुँच कर लड़ना आरम्भ कर दिया। पश्चिमी मित्र-राष्ट्र इस समय तक पहले ही एल्ब नदी तक पहुँच चुके थे, और दोनों सेनाएं पूर्व और पश्चिमी की ओर से बढ़ती हुई टोगो पर आ मिलीं। गली-गली और घर-घर के भयंकर युद्ध के पश्चात 2 मई को बर्लिन ने रूसी सेना के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। दो दिन पश्चात यह सूचना मिली कि हिटलर ने आत्महत्या कर ली है। अब तक लगभग सर्वत्र जर्मन प्रतिरोध का अन्त हो चुका था। जिस दिन बर्लिन पर कब्जा हुआ उसी दिन इटली में जर्मन सेनाओं ने हथियार डाल दिये। इसकें दो दिन पश्चात उत्तरी-पश्चिमी जर्मनी-हालैंड और डेनमार्क में भी जर्मनी सेनाओं ने आत्मसमर्पण कर दिया। 7 मई को पूर्ण एवं अन्तिम आत्मसमर्पण हुआ और समर्पण-पत्र पर जर्मनी की ओर से जनरल जोदल ने रोम्ज में जनरल आइसन हावर के हेडक्वार्टर में हस्ताक्षर किये।

जापान का आत्मसमर्पण

सितम्बर, 1941 में प्रथम वाशिंगटन सम्मेलन में चर्चिल और रूजवेल्ट ने यह निश्चय किया था कि पहले मित्र-राष्ट्रों की समस्त शक्ति लगाकर पश्चिमी यूरोप में जर्मनी को परास्त करने का प्रयत्न किया जायगा, और इसमें सफलता प्राप्त होने के पश्चात समस्त शक्ति को पूर्व में जापान के विरुद्ध केन्द्रित किया जायगा। जब मित्र-राष्ट्रों की शक्ति को जापान के विरुद्ध लगाने का समय आया उससे पहले ही सुदूर पूर्व-युद्ध में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की जा चुकी थी। 1942 के अन्त तक जापानी अपने उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे। अगले वर्ष पूर्व में ब्रिटिश सैनिक कार्यवाही का मुख्य क्षेत्र बर्मा था, जहां पर जापानियों को

अत्याधिक परेशान किया गया, विशेषकर उनके संचार-साधनों को काटकर। जब फरवरी 1944 के आरम्भ में, जापानियों ने आराकान मोर्चे पर आक्रमण किया तो उसको विफल कर दिया गया। एक महीने पश्चात जापानियों ने भारत पर आक्रमण करने के उद्देश्य से ब्रह्मपुत्र की घाटी में प्रवेश करने के विचार से आसाम पर भयंकर आक्रमण किया। तीन महीने की घमासान लड़ाई के बाद जापानियों में भगदड़ मच गयी और जब वे चिन्दबिन नदी को पार कर रहे थे तो ब्रिटेन की चौदहवीं सेना ने उनका पीछा किया। इसके पश्चात् छः महीने का घामासान युद्ध आरम्भ हुआ जो वर्षा काल में भी चलता रहा। पहली जनवरी, 1945 तक चौंदहवी सेना ने चिन्दबिन नदी को पारकर लिया था और इसी कारण ब्रिटिश सेनाएँ अराकान मोर्चे के साथ-साथ बढ़ रही थी। जनवरी में लेडो सड़क जो भारत से बर्मा-चीन को जाती थी, जापानी सेना से मुक्त घोषित कर दी गई और इस प्रकार चीन के लिए स्थलीय मार्ग खुल गया। दक्षिण की ओर लेशियो और मांडले पर मार्च में और रंगून पर मई के आरम्भ में अधिकार कर लिया गया। इस दीर्घकालीन संघर्ष के परिणामस्वरूप जापानी लोग बर्मा में निश्चयात्मक रूप में परास्त कर दिये गये। इसके पश्चात मित्र सेनाओं को मालाया में उतारने की तैयारी की गयी, परन्तु इन योजनाओं को क्रियान्वित करने से पहले ही जापान ने सामान्य रूप से आत्मसमर्पण कर दिया।

प्रशान्त महासागर में भी जापान की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। 1943 के उत्तरार्द्ध में मित्र सेनाओं ने, विशेषतया अमेरिका, न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया की सेनाओं ने, प्रशान्त महासागर के छोटे-छोटे टापुओं पर पुनः अधिकार करना आरम्भ कर दिया था। सितम्बर 1943 के आरम्भ में जनरल मेकार्थर ने न्यूगिनी में आक्रमण आरम्भ किया, जहां पर जापानियों का कब्जा होने के बावजूद आस्ट्रेलिया और हालैण्ड के सैनिकों ने दक्षिण-पूर्व में अपने पैर जमा लिये थे। इस आक्रमण के पश्चात् नवम्बर में गिलवर्ट टापुओं पर तथा 1944 के आरम्भ में मार्शल और एडिमिरल्टी टापुओं पर अधिकार कर लिया गया। आखिरकार मित्रराष्ट्र जल, थल और नभ में सर्वोच्चता प्राप्त करने में सफल हुए और अब ऐसी स्थिति में थे कि जापान की रसद और संचार-व्यवस्था को खतरे में डाल सकते थे। अक्टूबर 1944 में अमरीकी सेना फिलिपाइन द्वीप समूह के लीटी द्वीप में उतीरी। लूजों से जापानी बेड़े को खदेड़ दिया गया। इस द्वीप में जापानियों को पूर्णतया परास्त करने में दो महीने लगे, परन्तु वर्ष का अन्त होने से पहले अनेक द्वीपों में मित्र सेनाएं सफलतापूर्वक उतारी गयीं, और जनवरी 1945 के आरम्भ में मुख्य द्वीप, लूजो पर सफल आक्रमण किया गया। 4 फरवरी को अमरीकी सेना ने फिलिपाइन्स की राजधानी मनीला में प्रवेश किया। 5 जुलाई, 1955 को फिलिपाइन्स की पूर्ण मुक्ति की घोषणा की।

अब जापानी छः महीने से निश्चयात्मक रूप से रक्षात्मक युद्ध कर रहे थे। अमरीकी सेनाएँ धीरे-धीरे मुख्य जापानी द्वीपों के निकट पहुँच रही थीं। मार्च में इवोजीमा पर अधिकार करके अमरीकी सेना मुख्य जापानी द्वीप, होन्शु से 775 मील की दूरी पर रह गई थी। जून के मध्य में अमरीकियों ने फारमोसा और जापान के बीच रयूक्यू द्वीप में ओकीनावा पर विजय प्राप्त की। न्यूगिनी न्यू, ब्रिटेन, बोर्नियो तथा फिलिपाइन्स में जापानी सेनाएँ पीछे धकेली जा रही थी, यद्यपि वे उन्मत होकर प्रतिरोध कर रही थीं। उधर जापानी द्वीपों में अमरीकी बम-वर्षकों ने कोहराम मचा रखा था। याकोहामा का आधे से अधिक भाग नष्ट किया जा चुका था, और टोकिया, ओसका, नागोया, कोबे तथा अन्य जापानी नगरों को भी अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी थी। यूरोप में मित्र-राष्ट्रों की विजय के समय जापान की स्थिति संकटपूर्ण थी और यद्यपि वह अब भी मित्र सेनाओं से भयंकर नर-संहार करने की क्षमता रखता था, तभी युद्ध का अन्त स्पष्ट हो गया था। अप्रैल में रूस ने जापान के साथ अपनी तटस्थता की सन्धि को भंग कर दिया, जापान के विरुद्ध 8 अगस्त को युद्ध की घोषणा कर दी और तुरन्त ही मंचूरिया की सीमा पर अपनी सेना लड़ने के लिए भेज दी। जुलाई में अमेरिका, ब्रिटेन और चीन ने पोट्सडाम में से, जहां पर एक सम्मेलन हो रहा था, एक घोषणा प्रचारित की, जिसमें उन शर्तों

का उल्लेख किया गया था, जिन पर वे शान्ति समझौता करने के लिए तैयार थे। शर्त यह थी कि या तो जापान बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दे अन्यथा पूर्ण विनाश के लिए तैयार रहे। जापानियों ने इस चेतावनी की उपेक्षा की। परन्तु 6 अगस्त को उसको ज्ञात हुआ कि मित्र राष्ट्रों की उसका विनाश करने की धमकी सर्वथा कोरी नहीं थी, क्योंकि इस दिन हिरोशिमा पर प्रथम अणु बम गिराया गया। इस अणुबम ने जो विनाश किया वह अवर्णनीय है। चार वर्ग मील में नगर सर्वथा ध्वस्त हो गया और छह वर्ष के युद्ध में ब्रिटेन में हवाई हमलों के कारण जितने मनुष्य मारे गये थे, उसने अधिक नर-संहार इस अकेले अणुबम ने किया। फिर भी, जापानियों ने आत्मसम्पर्ण का निश्चय नहीं किया। तीन दिन पश्चात् दूसरा अणुबम नागासाकी पर डाला गया और इसका भी वैसा ही विनाशकारी प्रभाव हुआ। अगले ही दिन जापानियों ने पोट्सडाम घोषणा की शर्त को स्वीकार कर सन्धि के लिए प्रार्थना की, और 14 अगस्त को जापान ने मित्रराष्ट्रों की मांगों को स्वीकार कर लिया। समर्पणपत्र पर टोकियो की खाडी में अमरीकी युद्धपोत मियौरी में 2 सितम्बर को जापानी दूत ने हस्ताक्षर किये और द्वितीय विश्व-युद्ध पूरी तरह बन्द हो गया।